

[illegible] इति [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]परिव्राजक स्वामिश्रीभगवदाचार्येण

[illegible]

★ साम[illegible]संहिता ★

[illegible] [[illegible]

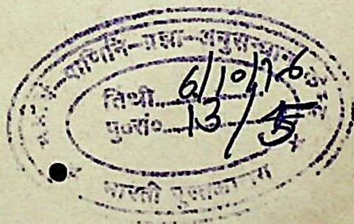


श्रीकाशी-पण्डितसभया प्रदत्तेन "पण्डितराजेति" इति "सारस्वत-सार्वभौम" इत्युपाधिद्वयेन, गुर्जरविद्वत्सभया प्रदत्तेन महा-महिमोपाध्यायेत्युपाधिना च समलङ्कृतेन

परमहंस-परिव्राजक स्वामिश्रीभगवदाचार्येण

प्रणीतेन सामसंस्कारभाष्येण समुपबृंहिता

★ सामवेदसंहिता ★



विक्रम संवत् : २०३१] [जून : १९७४

* प्रकाशिका :

अध्यापिका–श्रीचन्दनबहिन : माधवसिंह परमार

"मातृस्मृति" बँगला

काश्मीरा सोसाइटी : अहमदाबाद–७



मूल्य : बत्तीस रुपये पचास पैसे

* मुद्रक :

ज्वालाप्रसाद गुप्त,

न्यू ज्वाला प्रेस

ए० २/३१ त्रिलोचनघाट : वाराणसी–१

हार्दिक आभार

हिन्दूधर्मका मूल वेद है। कोई भी पदार्थ जगत्में एक ही रूप-रेखासे रह नहीं सकता यह व्यापक नियम है। धर्मके लिये भी यही बात है। वह भी सदा परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तन कभी स्वाभाविक होता है, कभी नैमित्तिक। नैमित्तिक परिवर्तनमें तत्कालीन महापुरुषोंका हाथ होता है। स्वाभाविक परिवर्वनमें महाकालकी अनन्त शक्ति कार्य किया करती है। नैमित्तिक परिवर्तनमें हिन्दूधर्मने कभी वेदोंकी उपेक्षा नहीं की है। पुराण आये और दर्शनशास्त्र आये। इन्होंने ही धर्मके देहको परिवर्तित किया है। परन्तु विशेषता यह है कि छोटे और बड़े सभी परिवर्तन वेदोंसे अलग होकर नहीं आये। सबमें श्रुति, वेद, निगम साथी ही बने रहे। ईश्वरका अङ्गीकार न करने-वाले सांख्यदर्शन और मीमांसादर्शनने भी वेदोंका अङ्गीकार किया है। हिन्दूधर्ममें महापरिवर्तन करनेवाले पुराणोंने वेदको अपने साथ रखा है। चार्वाक-धर्म, बौद्ध-धर्म वस्तुतः ये धर्म नहीं थे, तार्किक सिद्धान्त थे। वे पृथिवी, जल, वायु, तेज, आकाश आदि तत्त्वोंमेंसे निष्पन्न परिणाम थे, ऐसा भी कहना अनुचित न होगा। उनको धर्मका स्वरूप तो बहुत पीछेके कालमें प्राप्त हुआ। मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि जिसे आर्य-धर्म अथवा हिन्दू-धर्म कहते हैं उनका मूल वेद है। उसके चारों ओर वेदोंकी भित्ति खड़ी की गयी है। अतः हिन्दू-धर्म आजके वैज्ञानिक युगमें भी—भले निष्कम्परूपसे नहीं, निर्भयरूपसे नहीं,—टिक

सका है। हमारे धर्मका निर्माण वैदिक अक्षरों से और वैदिक अक्षरोंकी सहायतासे हुआ है, यह निर्विवाद है। अतः वेदोंके प्रति हिन्दुमात्रकी श्रद्धा आज सहस्त्रों वर्षोंसे लगभग समानरूपसे स्थिर है।

मैंने देखा कि वेदोंके उपलब्ध भाष्य, मुख्यतया सायणाचार्य और महीधराचार्यके भाष्य, यद्यपि अवश्य ही वे पाण्डित्यपूर्ण हैं, तथापि वेदोंके माहात्म्यकी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं। ऋग्, यजुः और सामके सभी मन्त्रोंको कर्मकाण्डमें विनियुक्त कर देना, और उस समयमें भी ऐसा करना जब वैदिक कर्मकाण्डके लिये कोई अवकाश नहीं रह गया और उस समयमें भी, जब शङ्कराचार्यने यज्ञादिके द्वारा मोक्षप्राप्तिके सिद्धान्तको इतने बलसे हिला दिया कि वह सर्वथा निर्बल और निस्तेज हो गया हो, बुद्धिमत्ता और भविष्यद्वेत्तृत्वसे दूरकी बात है। यदि वेद केवल कर्मार्थ ही आये हैं तो अवश्य ही वे आज निरर्थक हैं क्योंकि आज वैदिक कर्म सोम, अश्वमेध, गोमेध आदिके लिये अनुकूल समय नहीं है और भविष्यमें किसी अनुकूल समयकी आशा नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें वेद निरर्थक ग्रन्थ बनकर, अक्षत, पत्र, पुष्पसे पूजा प्राप्त करनेके अतिरिक्त कुछ कर नहीं सकते। अतः मैंने सामवेद पर भाष्य करनेका विचार किया।

मेरे इस भाष्यमें यज्ञादि कर्मोंका सम्बन्ध नहीं है। मेरी दृष्टिसे यज्ञादि कर्म मानवताकी रचना और युगरचना करनेकी क्षमता नहीं रखते। वेदमेंसे ऐसे सिद्धान्तोंका स्वरूप बाहर आना चाहिये जो सदा ही देश और कालसे अबाधित रहें। वेदोंमेंसे ऐसे सिद्धान्त स्थिर किये जाने चाहिये जो किसी वर्ण, किसी आश्रम, किसी भी मान-

वीय विभागसे परे हों। मेरा यह 'सामसंस्कारभाष्य' इसी प्रकारका है। ज्ञान के और चरित्र-संगठनके साधन सार्वभौम होने चाहियें। अमुक वर्णके लिये और अमुक जातिके लिये जीवनधारण करनेवाला ग्रन्थ अल्प समयमें ही निष्प्राण बन जाता है। मैंने, मेरे ज्ञानचक्षुसे सामवेदमें सार्वभौम तत्त्वोंका दर्शन किया। मानवताके जीवनसूत्रोंका मुझे उसमें दर्शन हुआ। मैंने अपनी दृष्टिको, अपने दर्शनको साक्षी बनाकर इस भाष्यका निर्माण किया।

सामवेद दो भागोंमें विभक्त है। एकको पूर्वार्चिक कहते हैं और दूसरेको उत्तरार्चिक। दोनों ही भाग गेय हैं। सामगान अत्यन्त मनोहर होता है। अच्छे गायक के मुखसे यदि साम गाये जायँ तो अवश्य ही हृदय मुग्ध हो सकते हैं। विद्वानोंने सामवेदको गानप्रधान मानकर ही इसके महत्त्वको स्वीकार किया है। छान्दोग्य उपनिषद्में 'सामवेद एव पुष्पम्' कहकर इसे वेदोंका पुष्प माना है। मेरी दृष्टि सबसे अलग है। सामवेद संगीतशास्त्र बनकर आया होगा, इस बातका स्वीकार तभी किया जा सकता है जब हम निर्भ्रमरूपसे यह मान लें कि याज्ञिकोंने यज्ञमण्डलमें नवीन प्रकाश उत्पन्न करनेके लिये, वातावरणको संगीतमय मधुर बनानेके लिये ऋग्वेदमेंसे अमुक-अमुक मन्त्रोंका संग्रह किया। परन्तु इसे न मानकर, यह मानें कि सृष्टिके आरम्भमें ईश्वरने ही सामवेदको केवल गानेके लिये ही उपदिष्ट किया तो रङ्ग फीका पड़ जाता है, वेद फीके पड़ जाते हैं, ईश्वर भी फीका पड़ जाता है। केवल गानके लिये वेद नहीं आये हैं, केवल यज्ञके लिये वेद नहीं आये हैं, यह मेरा अपना दृढ़ मत है। मैं वेदोंके अक्षरोंको अनियन्त्रित मानता

हूँ। ऐसा माननेसे ही निरुक्तकार यास्कके कथनानुसार वेदमन्त्रोंके अनेक अर्थ हो सकते हैं और तभी अनन्ता वै वेदाः का सार्थक्य हो सकता है। इसीलिये मैंने वेदमन्त्रोंके ऊपर लगे हुए स्वरोंकी उपेक्षाकी है। स्वरोंके साथ मैं चल नहीं सकता था। स्वर मेरे साथ चल नहीं सकते थे। मैंने उन्हें छोड़ा और मन्त्रोंको निर्बन्ध बनाकर उनमेंसे, भक्ति, ज्ञान, चारित्र, संयम आदि ढूंढ लिये। यह भाष्य किसी भी साम्प्रदायिक-भावनासे परे है। आग्रहसे और पूर्वग्रहसे विमुक्त मैंने इसे रखा है, इसीलिये इस भाष्यका नाम 'सामसंस्कारभाष्य' रखा गया है।

सामवेदसंहितामें कुल १८७५ मन्त्र हैं। पूर्वाचिकमें ५६ मन्त्र, उत्तरार्चिकमें ३१ मन्त्र और महानाम्नीके १० मन्त्र अर्थात् ५६ + ३१ + १० = ९७ मन्त्र ऋग्वेदके नहीं हैं। अतः १८७५ − ९७ = १७७८ मन्त्र ऋग्वेदके बचते हैं। इनमें २७२ मन्त्र पुनरुक्त हैं। अतः यदि इन्हें निकाल दें तो १७७८ − २७२ = १५०६ मन्त्र ऋग्वेदके हैं। ऋग्वेदके ९७ मन्त्रोंमेंसे ९ मन्त्र पुनरुक्त हैं। अतः ९७ − ९ = ८८ मन्त्र अऋग्वेदीय हैं। इनमेंसे १७ मन्त्र अथर्ववेदके और दो मन्त्र यजुर्वेदके हैं। तब १७ + २ = १९ मन्त्रोंको ८८ से पृथक् करें तो ८८ − १९ = ६९ मन्त्र बचते हैं। सामवेदके ६९ ही स्वतन्त्र मन्त्र हैं।

संख्याकी गणना बहुत कठिन, शुष्क और रूक्ष काम है। मुझे इसमें कष्ट हुआ है। जितनी बार गिनता रहा हूँ उतनी ही बार जोड़में न्यूनाधिक होते रहे हैं। अतः यह कहनेका मेरा साहस नहीं है कि यह गणित शुद्ध है। कुछ अन्तर अवश्य पड़ सकता है। परन्तु अधिकांशमें यह गणना शुद्ध होगी, ऐसा मेरा विचार है।

इस संहितामें आये हुए मन्त्रोंकी यदि आद्याक्षरोंसे गणना करें तो इस प्रकार होगी—

स्वर से	प्रारब्ध	होनेवाले	मन्त्र		६३२
'क' से	"	"	"		३९
'ग'	"	"	"	"	१७
'घ'	"	"	"	"	२
'च'	"	"	"	"	६
'ज'	"	"	"	"	११
'त'	"	"	"	"	१६८
'द'	"	"	"	"	२१
'ध'	"	"	"	"	६
'न'	"	"	"	"	४२
'प'	"	"	"	"	११०
'ब'	"	"	"	"	१८
'भ'	"	"	"	"	१३
'म'	"	"	"	"	४५
'य'	"	"	"	"	१२६
'र'	"	"	"	"	१३
'व'	"	"	"	"	७७
'श'	"	"	"	"	३४
'स'	"	"	"	"	१३६
'ह'	"	"	"	"	७
				कुल संख्या	१६०३

—भगवदाचार्य

एक प्रार्थना

मेरा यह शरीर ९४ वर्ष सात या आठ महीनेका हो चुका है। अतः मैं इस भाष्यकी इस आवृत्तिका प्रूफ नहीं देख सका हूँ। यह कार्य न्यू ज्वाला प्रेसके स्वामीको ही मैंने सौंप दिया था। संभव है कि इसमें कहीं भूल या भूलें रह गयी हो या रह गयी हों तो विद्वत्पाठक महानुभाव सुधार लेंगे।

राजनगर सोसाइटी
अहमदावाद–७
ता० २०-४-७४

निवेदक
भगवदाचार्य

* ओ३म् *

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंसपरिव्राजक-"पण्डितराज"

"सारस्वतसार्वभौम" स्वामिश्रीमद्भगवदाचार्यमहाराजप्रणीतेन

सामसंस्कारभाष्येण

समुपबृंहिता

सामवेद-संहिता

पूर्वार्चिकः (छन्दआर्चिकः)

आग्नेयं काण्डम् (पर्व)

—:०:—

प्रथमेऽध्याये प्रथमः खण्डः

प्रथमप्रपाठके प्रथमोर्धः

लालितोऽस्मि महाभाग्यो बाल्यादेवोरसा यया ।
वात्सल्यरूपया श्रुत्या मातरं तां नमाम्यहम् ॥ १ ॥
यस्य च्छायां समाश्रित्य परमां शान्तिमश्नुवे ।
वेदवृक्षं तमह्नाय तर्पये भाष्यवारिभिः ॥ २ ॥
भाष्यकारैश्च यैः पूर्वैर्वेदाः समुपबृंहिताः ।
भाष्याक्षरैरहं तेभ्यो धारयास्म्यावराद् बहु ॥ ३ ॥
अर्थमाध्यात्मिकं वक्तुं सामवेदस्य कृत्स्नशः ।
सामसंस्कारभाष्यं तु रचयामि सदर्थकम् ॥ ४ ॥

गुरूणां पादुके नत्वा स्मृत्वा तेषां वचांसि च।
वेदरत्नाकरं निर्भीः प्रविशामि तमोनुदः॥ ५॥

ब्रह्मसूत्राण्युपस्कृत्य व्याख्यायोपनिषद्गवीः।
वर्धयामि प्रयत्नेन सर्वपूज्यां श्रुतिश्रियम्॥ ६॥

अहं भगवदाचार्यो यतीनां विहरन्पथि।
रचयाम्यात्मतोषाय कृतिमेनामनुत्तमाम्॥ ७॥

दुर्धियां धीप्रकम्पाय सुधियामर्चनाय च।
शिवायाध्येतृवर्गस्य भूयादेषा कृतिर्मम॥ ८॥

❋ अथ सामसंस्कारभाष्यम् ❋

प्रथमा दशतिः

अनवधिकाघमर्षणकरुणामसृणमानसो भूतभावनो भगवानभिनवभवविभवसमारम्भेवतारयामास कृत्याकृत्यहेयोपादेयादिविचारचतुरांश्चतुरो वेदान्यौगपद्येन महामहिममहीमण्डल इति सर्वविद्वद्विदितः सम्प्रदायः। क्रमशः समये समये चत्वारो वेदाः सौभाग्यधराधरां वसुन्धरां पुपुवुरित्यपि विद्वत्सम्प्रदाय एव। ऋग्वेदः प्रथमः। द्वितीयश्च यजुर्वेदः। सामवेदस्तृतीयश्चतुर्थश्चाथर्ववेद इति वेदानां क्रमक्रमः। तथा चायं सामवेदस्तृतीयः। तृतीयत्वेप्येतस्य धन्यता सर्ववेदमूर्धन्यता च नोपहन्यते। वेदानां सामवेदोस्मीतिवासुदेवशिवसदनवदनवचनमेव मदुक्तमर्थं कृतार्थयति। यद्यपि नायमृग्वेदादतिरिच्यते कात्स्न्येन तथापि तस्य सारासारग्राहितया नूतनैरपि कैश्चन मन्त्रैर्विततततनुतया च स्वातन्त्र्येण भजत एव स्वस्यास्तित्वम्। अत एव माध्यन्दिनीयाः समामनन्ति "एष उ एव साम

वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वमि" ति (बृहदारण्यक १।३।२२)। अस्य ब्राह्मणवाक्यस्यायमर्थः—एतच्छब्देन पूर्वत उपक्रान्तः प्राणशब्दो ग्रहीतव्यः। प्राण एव साम। न केवलं प्राण एव सामापि तु अन्यदपि किञ्चिदिति सामेतिसंज्ञार्थावबोधार्थं सामशब्दं स्वयमेव निर्वक्ति ब्राह्मणश्रुतिः वाग्वै सेति। अत्र स्त्रीत्व-विशिष्टस्तच्छब्दो यावत्स्त्रीत्वविशिष्टशब्दाभिधेयं यत्किञ्चिदिह विद्यते तत्सर्वं व्याप्नोति। पुंस्त्वविशिष्टैतच्छब्दश्च यावत्पुंस्त्वविशिष्ट-शब्दाभिधेयं यत्किञ्चनेह विद्यते तत्सर्वं स्वकुक्षौ निक्षिपति। एवं च साशब्देन सर्वस्त्रीसमाजोनुगृह्यते। एषशब्देन चाखिल-पुंसमाजोनुगृह्यते। तथा च स्त्रीपुंसयोर्लतागुल्मनदीनदशुकशुकी-तारकातारकाधिपतिगोवृषभनरनारीस्त्रीपुरुषादिरूपयोः संग्राहकतया साम्नः सामत्वमिति। श्रुतौ श्रुतामशब्दः प्राणार्थकः प्राणविशेषणं वा। अमति सर्वत्र गच्छतीत्यम इतिव्युत्पत्तेः। यथा सर्वेषां चरा-चराणामाश्रयो भवति निराश्रयो भगवांस्तथैव ज्ञानगानतानादि-भिस्तन्वानः समेषामानन्दाम्भोधिमयमपि सामवेदः सर्वेषामाश्रय एव। अत एव वेदानां सामवेदोस्मीत्युक्तिः सङ्गच्छते। किंच ब्रह्मण इव साम्नः प्रजोत्पादयितृत्वमप्यभिहितमथर्ववेदे। तथा हि "अमो-हमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै॥" (अथर्व १४।२।७१) अनेन मन्त्रेण भार्यायां शक्तित्वक्त्वंपृथिवीत्वादि भर्तरि च प्राणार्थकामत्वसामत्व-द्युलोकत्वाद्यध्यारोप्य प्रजाप्रजननकर्मसम्पर्कः सूचितः। बृहदारण्य-कान्ते च "अथैनामभिपद्यतेमोहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोहं सामाह-मस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि संरभावहै सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तय इति" (बृह॰ ६।४।२०) अत्राथर्वणि पठितस्य मन्त्रस्य यत्किञ्चिद्विपर्यस्तस्य गार्हस्थ्यकर्मणि विनियोगो दृष्टो भवति। "उभे वाचौ वदति सामगा इव" (ऋ॰ २।४३।१)

"उद्गातेव शकुने साम गायसि" (ऋ० २।४३।२) इत्यनयोर्मन्त्रयोः साममाधुर्यं सामगानां प्राशस्त्यं च शकुन्तिशकुनी द्वारीकृत्य श्रूयेते। "यूयमृषिमवथ सामविप्रम्" (ऋ० ५।५४।१४) इत्यनेन सामविप्रस्य रक्षणसूचनेन साम्नो माहात्म्यमगम्यं दूरगामि च भवति।

एतादृशो मादृग्दृगविषयमहामहिम्नो भगवतः सामवेदस्यास्मिन्भाष्यप्रस्तावे स्वरो न निर्दिश्यते मया। यद्यपि शतपथीये वृहदारण्यके तृतीये ब्राह्मणे "तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वम्। तस्य वै स्वर एव स्वम्" (वृह० १।३।२५) इति श्रुत्या स्वर एव सामवेदस्य स्वमित्युच्यते; तथापि मया स्वरनिर्देशो नैव कृतः। अत्र श्रुतौ स्वरशब्देन कण्ठमाधुर्यमेवाभीष्टम्। मधुरेण कण्ठेन गीयमानमेवामानमपि साम शोभातिशयं पुष्णाति नान्यथेति सामगानां संवादः। स च स्वर उदात्तादिस्वरनिर्देशमन्तरेण न जीवितुं शक्नोति। तथापि मया स नैव निर्दिष्टः। गौण एव सः। प्राधान्यं हि वेदाक्षरार्थस्य। तथैव चाहुर्यास्काचार्याः "स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मे" ति "यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्" इति च निरुक्ते। "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति" रित्युक्तदिशा मुक्तौ भवापाराकूपारपारगमनरूपायां वेदाक्षरज्ञानसहकृततत्त्वज्ञानस्य कारणता न चोदात्तादिस्वरसमूहस्य कण्ठसौष्ठवस्य वा। "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥" (पाणिनि-शिक्षा ५२) इति पाणिनीयमतानुसारिशिक्षावचनं तु यागानुष्ठानकालविषयमिति न क्षतिः। यदि स्वरः प्रयुज्येत न मिथ्या प्रयुज्येतेत्येवैतस्य तात्पर्यम्। "हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्। ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधि-

गच्छति ॥" (पा. शि. ५५) इति बालविभीषिका तु याज्ञिकागाराङ्गनमधितिष्ठन्ती न तत्त्वज्ञानद्रविणमधिजिगमिषुमभितः समुत्सारितसकलभ्रमभ्रमिमभिपश्यतीति निष्कण्टकः पन्थाः। वेदानां सामवेदोस्मीतिश्रीकृष्णवचःस्वादादराद् भगवत्स्वरूपस्य भगवतः सामवेदस्य भगवत्स्वरूपानुरूपमाध्यात्मिकमर्थं न केनापि विदुषा भगवत्तत्त्वज्ञेन सम्पादितं विस्पष्टयितुं संक्षिप्ताक्षरमप्यक्षरवेदनसमर्थं समर्थमिति प्रस्तौमीदं भाष्यम्। स्वरपाठाग्रहिभिः स्वरपाठविद्याविशारदा उपसेवनीयाः। स्वरपाठपटीयोभिरपि स्वराग्रहाग्रहीतैश्च विद्वद्भिरत्र महोदारा दृङ्निक्षेपणीयेति।

इदानीमुपलभ्यमानासु जैमिनिकौथुमराणायनीयसामसंहितासु राणायनीयानां संहितामियमनुधावति संहिता। कौथुमानामपि नास्त्यत्र विरोधः। केवलं मन्त्रगणनावर्त्मविभेदः। राणायनीयाः प्रपाठकार्धप्रपाठकदशतिभिर्ग्रन्थविभागं मन्त्रगणनां च साधयन्ति-कौथुमाश्चाध्यायैः खण्डैश्चेति। अल्पीयानेवानयोः संहितयोः पाठभेदः। जैमिनीयानां तु पाठभेदबाहुल्यं विद्यते। अस्तु। राणायनीयानां सामवेदसंहिताया अयं प्रथमो मन्त्रः—

१. अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १ ॥

(ऋ० मण्डलं ६, सूक्त १६, मन्त्रः १०)

अस्यां दशत्यां सर्वेषां मन्त्राणामग्निर्देवता गायत्री च छन्दः। प्रतिमन्त्रमृषिनिर्देशं करिष्यामः। अग्न इति। भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः।

अग्रमुत्कृष्टं पदं भक्तं ज्ञानिनं वा नयतीत्यग्निः। अञ्जनमभिव्यक्तं प्रकाशस्वरूपं स्वं नयति प्रापयति स्वोपासकहृदयमिति वा। अङ्गति सर्वत्र गच्छति सर्वं व्याप्नोतीति वा। एवमन्यत्राप्यग्निशब्दो निर्वाच्यः। हे अग्ने त्वयि निरतांस्त्वद्भक्ताञ्ज्ञानिनो वात्युत्कृष्टं स्वं

पदं प्रापयितः परमेश्वर आ याह्यागच्छ । सर्वव्यापकोपि त्वमस्माकमज्ञानाद् दूरे स्थित इव प्रतीयमानोस्मद्धृदयप्रदेशमाप्नुहीति तात्पर्यम् । किं कर्तुम् ? वीतये । अयनमितिः । इण् गतावित्यस्माद्धातोः क्तिन् । विशिष्टेतिर्वीतिः । तस्यै वीतये । विशिष्टरूपेण प्राप्तये । हृदयाद्दूरीभूतोसि । हृदयमागच्छ । तेन तव प्राप्तिरस्माकं भविष्यति । अथवा वयनं वीतिः । असनार्थकवीधातोः क्तिन् । वीतयेसनाय क्षेपणायास्मन्मनोमालिन्यस्यानन्तकालाद्दृढं स्थितस्य मनस्यन्धतमसस्य क्षेपणाय विनाशाय प्रकाशप्रदानाय चागच्छेतिभावः । किं च हव्यदातय आगच्छ । होतुं योग्यं हव्यम् । हुधातुः प्रीणनार्थोपि । तेन कृपाकटाक्षनिक्षेपेण प्रीणयितव्यानां त्वदनारतभक्तिभावविभूतिभाजां जीवानामस्माकं सञ्चितक्रियमाणप्रारब्धादिकर्मणां तज्जनितबन्धनव्यथानां च दातय उच्छेदाय । दाप् लवने । किंभूतस्त्वम् ? गृणानः स्तूयमानोस्माभिस्त्वन्महनीयदयादाक्षिण्यार्जवादिगुणमणिसमाकृष्टचेतोभिः प्रकृतिविरक्तैरनन्यभक्तैः । अथवा गृ सेचने । भौवादिकत्वेप्यस्य विकरणव्यत्ययेन श्ना । गरति सिञ्चति भक्तांस्तदिष्टप्रदानानिष्टनिग्रहणाभ्याम् । अथवा गॄ शब्दे । गृणात्याह्वयति परमकृपया जीवान्कल्याणवर्त्मनि वर्तितुम् । अथवा गॄ निगरणे गिरति निगिरति नयत्यपक्षयं सर्वदोषाञ्जीवानामिति । किं च होतासि त्वम् । जुहोषि ददासि कृपापरवशो जीवेभ्यः स्वपदमिति होता । जुहोष्यत्सि सर्वाणि दुरितानि स्वी भूतानां जीवानामिति वा । अतो बर्हिषि भक्तानामस्माकं हृदयान्तरिक्षे । बर्हिरित्यन्तरिक्षं नाम (निघ० १।३।४) बृहि वृद्धौ । इसिः प्रत्ययः । बृंहति वर्द्धतेनेनोपासक इति बर्हिः । पवित्रहृदयेनैवोपासका वर्धन्त इति बर्हिर्हृदयम् । निसत्सि निषीद नितरां सन्तिष्ठस्वेति ॥ १ ॥

२. त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः ।

देवेभिर्मानुषे जने ॥ २ ॥ (ऋ. ६।१६।१)

त्वमग्न इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन्, विश्वेषां यज्ञानां श्रेष्ठतमानां कर्मणाम् । "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" (शत० प्र० ५, ब्रा० ४, क० ५) । त्वं होतासि सम्पादयितासि । अतो देवेभिर्देवैर्विद्वद्भिः । 'विद्वांसो वै देवाः' (शत० ब्रा०) । मानुषे जने मनुष्यलोके हितो निहित उपास्यत्वेन संस्थापितोसीत्यर्थः । श्रेष्ठतमानि कर्माणि कुर्वन्तोन्यैः कारयन्तश्चैव लोके तत्त्वविद्भिः प्रजाप्राणकल्याणत्राणपरायणैः सनिधीयन्ते । त्वं श्रेष्ठतमानां कर्मणां कर्ता कारयिता चासीति स्वीकृतोस्युपास्यत्वेन सकलैरिति भावः ॥ २ ॥

३. अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।

अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ३ ॥ (ऋ. १।१२।१)

अग्निमिति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

दूतं दुरितनिरतसन्तापकम् । टुदु उपतापे । होतारं सर्वपापशापापवारकम् । हु अदने । महोपदेशकं वा । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च । विश्ववेदसं निखिलविद्यानवद्यद्रविणस्वामिनम् । वेदस्शब्दो धननामसु निघण्टौ (२।१०।) पठितः । अस्य प्रवर्तमानस्य यज्ञस्य ज्ञानरूपस्य भक्तिरूपस्य च श्रेष्ठतमस्य कर्मणो निष्पादकं सुक्रतुं पवित्रकर्माणं पवित्रप्रज्ञं वा । कर्मनामसु प्रज्ञानामसु च क्रतुशब्दः पठितः (निघ० २।१।१०; ३।९।५) तथाविधमग्निं परमात्मानं वृणीमहे स्वीकुर्मो भजामः ॥ ३ ॥

४. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्द्रविणस्युर्विपन्यया ।

समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ ४ ॥ (ऋ. ६।१६।३४)

अग्निरिति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

अग्निः सर्वव्यापकः परमात्मा वृत्राणि विवेकवैराग्यशमदमादीनां परमाभ्युदयहेतूनामाच्छादकान्यविद्यादीनि भिद्योद्धयकल्पानि दुरितानि जङ्घनन्नितरां हन्तु । कीदृशः सः ? विपन्ययाविरतविरतिनिरतैः शिष्टेषु प्रष्ठैर्भक्तैः सम्पादितया स्तुत्या द्रविणस्युर्ज्ञानरूपं बलं दित्सुः । द्रविणं बलं (निघ० २।९।२६) धनं (निघ० २।१०।२५) च । किं च विपन्ययैव समिद्धः सम्यगिद्धः प्रदीप्तः प्रकाशितः साक्षात्कृत इत्यर्थः । शुक्रो हृदयाकाशदीपकस्तेजस्स्वरूपो वा । शोचतीति शुक्रः । शोचतिर्ज्वलतिकर्मा (निघ० १।१६।५) आहुतो हृदये संस्थापित आहूतो वा विपन्ययैव । विपन्या नाम प्रेमातिशयविद्रुतहृदयद्रुतरसोत्कर्षः । अनन्यभक्तिरसास्वादविह्वलमनस्कैर्भक्तप्रवरैरभ्यर्थितः परमात्मा सपद्यैव सहसा मनसानुभूतो भवतीत्याशयः ॥ ४ ॥

५. प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।८४।१)

प्रेष्ठमिति । उशनाः काव्य ऋषिः ।

ऋषिरुशना वदति—हे जीवा अहं प्रेष्ठं प्रियतमं प्रियं प्रियकरं हृदयसन्तर्पकं मित्रमिव स्निग्धजनमिवातिथिं निरन्तरगमनशीलमिव प्रतीयमानं सर्वव्यापकमिति भावः । रथं स्थिरम् । स्थिरतिर्हि नैरुक्तो धातुः । घः प्रत्ययः । सकारेकारयोर्लोपः । अक्षरयोर्विपर्यासः । अथवा स्वजननिर्जनमनोमन्दिरेषु रममाणम् । रमते रूपम् । न इव । नेत्युपमावाचकमव्ययम् (निघ० ३।१३।३) । वेद्यं वेत्तुंयोग्यम् इत्थंभूतमग्नेऽग्निं परमात्मानम् । अग्न इत्यत्र विभक्तिविपर्यासः । वो युष्मभ्यं युष्मदर्थं युष्माकं समीहितहितसिद्ध्यर्थमिति भावः । स्तुषे स्तौमि ।

सर्वव्यापकत्वात्सर्वत्र रममाणोपि परमात्मा कलिदलबलदलनभक्त-जनामलहृदयकमलदलचत्वरेषु विशेषेण साक्षाद्रममाण इव भवतीत्युशनस आशयः ॥ ५ ॥

६. त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः ।
उत द्विषो मर्त्यस्य ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।११।१)

त्वं न इति । सुदीतिपुरुमीढावाङ्गिरसौ ऋषी तयोरन्यतरो वा ।

हे अग्ने परमात्मन्, त्वं महोभिस्त्वत्तेजोभिर्विश्वस्याः सर्वासु दिक्षु वर्तमानात् । विभक्तिवचनविपरिणामः । अरातेरशान्तिहेतोः प्राणिन उतापि च द्विषो द्वेषकर्तुर्मर्त्यस्य मर्त्यान्मनुष्यात् । विभक्तिविपरिणामः । नोस्मान्पाहि त्रायस्व । विरोधिवैचित्त्यसंचायकेभ्यो व्यापारेभ्योस्मान्निवारयेति भावः । सर्वनियमननियतमनःशमनाननान्तःस्थितापि मनुष्यो मनुष्यं द्वेष्टीत्याश्चर्यमिति द्योतयितुं श्रुतौ मर्त्यस्येति पदम् ॥ ६ ॥

७. एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः ।
एभिर्वर्द्धास इन्दुभिः ॥ ७ ॥ (ऋ. ६।१६।१६)

एह्यू इति । वामदेव ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन्नेह्यागच्छ मम हृदयप्रदेशम् इति शेषः । उ यतस्तव सन्निधानेनेति भावः । इतरा इतरा अपि सामान्या अपि सामान्यव्यवहारे प्रयुक्ता अपि गिरो वाच इत्था सत्याः । इत्थेति सत्यनाम (निघ० ३।१०।५) । सु ब्रवाणि सम्यग्ब्रवाणि वदानि । भगवत्सान्निध्येनैव सत्याः सत्यतायाः सर्वत्र संभव इत्याशयः । इन्दुभिः सत्यभाषणाचरणादिना समिद्धैः परमैश्वर्यसम्पन्नैर्भक्तिरसार्द्रमनोभिर्वैभिस्त्वद्भक्तैर्मादृगादिभिस्त्वं वर्धासि वर्धस्व । यथा समृद्धाभिः प्रजाभिरेव प्रजानाथः समेधते तथा निखिलहेयप्रत्य-

नीकगुणगणप्रवणैरेव भक्तैर्भगवान्वर्धत इवेतिभावः। कापट्यं परित्यज्य निष्प्रपञ्चेन भक्तेन भगवान्भावनीय इतिभावः ॥ ७ ॥

८. आ ते वत्सो मनोयमत्परमाच्चित्सधस्थात्।

अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।११।७)

आ त इति। वत्सः काण्व ऋषिः।

हे अग्ने परमात्मन्निरन्तरं त्वयि निरतचेता अयं वत्सस्त्वदाह्वानासक्तः। वदेः सः। ते तव मनः परमाच्चित्सर्वोत्कृष्टादपि द्युलोकाददृश्यलोकादितिभावः। आयमदायमयत्यावर्जयति। गिरा गीर्भिः स्तुतिवाग्भिस्त्वां त्वामेव कामयेभिलषामि। द्युलोको हि परमेश्वरस्य प्रकाशमयो लोको वैदिकैरुपासकैः कल्पितः। स च दूर एवेत्यपि कल्पितम्। दूरस्थं तं मत्वैव तस्याह्वानं स्तुतयश्च प्रवर्तन्ते ॥ ८ ॥

९. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।

मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ९ ॥ (ऋ. ६।१६।१३)

त्वामग्न इति। भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः।

हे अग्ने परमात्मन्विश्वस्य सर्वस्य वाघतो मेधाविनो ज्ञानिनः वाघत् इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।२४)! वहेरत्प्रत्ययः। उपधावृद्धिर्हकारस्य घकारश्च निपात्येते। वहति प्रापयति बोधयति वा शब्दार्थानिति। मूर्ध्नः शिरस इव श्रेष्ठात्पुष्करादन्तरिक्षलोकात्। पुष्करमन्तरिक्षम् (निघ० १।३।१३)। पुषेः करन् प्रत्ययः। पुष्णाति सर्वमवकाशसमर्पणेनेति। अधि ततोप्यधिकात्परमश्रेष्ठलोकादथर्वाविनाशी निश्चलः स्वसङ्कल्पे दृढो जीवो भक्तो ज्ञानी वा त्वां निरमन्थतावातारयत्। दयथान्दोलितहृदयं व्यधत्तेतिभावः। सर्वत्रैव सर्वव्यापकस्य धाम। नीचैरप्युच्चैरपि मध्यमपि सर्वमेव प्रदेशमभि-

व्याप्यावस्थितः सः। तथाप्याह्वानं तस्योपरि-प्रदेशादेव जनस्वभाव-सम्पन्नम्। अतः सर्वलोकापेक्षया कल्पितादुपरितनलोकात्तस्याह्वान-मित्यत्र प्रबोध्यते तद्बोधवता भगवता भरद्वाजेन ॥ ९ ॥

१०. अग्ने विवस्वदा भरास्मभ्यमूतये महे।
देवो ह्यसि नो दृशे ॥ १० ॥ (नायमृग्वेदे मन्त्रः।)

अग्ने विवस्वदिति। वामदेव ऋषिः।

हे अग्ने परमात्मन्नस्मभ्यमस्माकम्। विभक्तिव्यत्ययः। ऊतये पथाद्रक्षणाय महे महसे श्रेयसे च विवस्वद्विवस्वन्तम्। लिङ्गव्यत्ययः। ज्ञानिनं महापुरुषमा भराहरानय। "विवस्वन्तो मनुष्याः" (निघ० २।३।२४)। विविधं वस्त आच्छादयति रक्षतीति विवो ज्ञानम्। विवोस्यास्तीतिविवस्वान्। अथवा विविधं वसनं विवस्तद्वान्। विवो विवसनं विविधं वसनमित्यर्थः। न हि ज्ञानी वसत्येकेनैव रूपेण। उपदेशदेशनया विहरन्क्वचिद्ग्रामे वासः क्वचिदरण्ये क्वचिद्राजप्रासादेपि। अनयैव रीत्या वस्तव्यमिति नाग्रहो ज्ञानिनः। ततः क्वचित्स्थण्डिलशायी भवति क्वचिदाश्रयति पर्य्यङ्कमपि क्वचित्काष्ठफलकमपि। त्वं देवोसि दिव्यदृष्टिविशिष्टोसि ततः सर्वमस्मदीयमभिलषितं जानीषे। जानीषे, तत एव नोस्माकं दृशे दर्शनाय तव साक्षात्काराय निःश्रेयसोपपत्तये च ज्ञानिनमाचार्यमावहेतिभावः। नहि मूर्खो निरक्षरो जगदभिलाषुको ललनालालनलुलितमनीष आचार्यपदमारोढुमर्ह इत्यनेन ज्ञाप्यते ॥ १० ॥

इति प्रथमा दशतिः। इति प्रथमः खण्डः

११. नमस्ते अग्न†ओजसा गृणन्ति देव कृष्टयः ।
अमैरमित्रमर्दय ॥ ११ ॥ (ऋ. ८।७५।१०)

अस्यां दशत्यां सर्वेषां मन्त्राणामग्निर्देवता गायत्री च च्छन्दः । नमस्त इति । आयुङ्क्ष्वाहिर्ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन् कृष्टयो मनुष्याः । कृष्टिरिति मनुष्यनाम (निघ० २।३।७) । कर्षणं कृष्टम् । तच्च कर्म । भावे क्तः । तदस्यास्तीतिकारप्रत्ययः । कर्मवन्त इत्यर्थः । ओजसे शमदमादिबलावाप्तये ते तुभ्यं नमो गृणन्ति नमस्कारं कुर्वन्ति । नमस्कारवचनैः परितोषितस्य तवाकम्प्ययानुकम्पया मनुष्याः शमदमादिसमर्जनसमवनसमर्था भवन्तीत्याशयः । हे देव दयादानदाक्षिण्यवात्सल्यार्जवादिदिव्यसम्पत्समवेत, अमैर्बलैस्तेजोभिर्वा । अम गत्यादिषु । अमित्रमपास्तस्नेहं कामक्रोधलोभमोहादिकं दुर्हृदयं वार्दय विनाशय । कामक्रोधादिमहाविकारा भगवदधिगमवर्त्मविरोधिनः । विरोध्यसद्भावे हि भगवद्भूवितबीजोद्गमसंभवो नान्यथेति तन्निरसनं प्रार्थ्यते ॥ १ ॥

१२. दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम् ।
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥ २ ॥ (ऋ. ४।८।१)

दूतमिति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन्दूतमपथपथिकमन्थनसमर्थं विश्ववेदसं विश्वं वेदो ज्ञानं यस्य तथाविधं सर्वज्ञमिति यावत् । निखिलज्ञानधनं वा । वेद इति धननाम (निघ. २।१०।४) । विद्यते लभ्यते धर्मादिरनेनेति । हव्यवाहं हव्यानां प्रीणयितव्यानां भक्तानां स्वसन्निधौ च वोढारममर्त्यममरणधर्माणं यजिष्ठं मोक्षसम्पदोतिशयेन दातारं वस्त्वाम् ।

† 'ओजसे' इत्यपपाठः ।

वचन-व्यत्ययः । गिरा दीनवचसाहमृञ्जसे प्रसाधयामि प्रसादयामीति भावः । ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मेति निरुक्तम् (६।२१)

१३. उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः ।

वायोरनीके अस्थिरन् ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१०२।१३)

उप त्वेति । प्रयोगो भार्गव ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन् हविष्कृतो हूयते निधीयते तवोद्देश्येन त्वय्येवेति हविर्मनः । परमेश्वरप्रसत्तये स्वकल्याणाप्तये च भक्ता ज्ञानिनश्च सर्वदा स्वमनो जातवेदस्स्वरूपे परमेश्वरे तदेकमनसो जुह्वति निदधति । तेन हविरिह संहृतविषयविषास्वादेहमदेहं पूतं मनः । तत्करोतीति हविष्कृत् । तस्य हविष्कृतो मनःप्रसादमासादयतोमानिनो ज्ञानिनोनुदिनं त्वय्यासक्तस्य भक्तस्य च गिरः स्तुतिवाचः प्रार्थनावाचश्च त्वा त्वामुप तिष्ठन्ते । उपोपसर्गबलाद्योग्यस्थ स्थाधातोरध्याहारः । का इव ? देदिशतीर्देदिशन्त्यः स्वभ्रातॄन्प्रशंसमाना जामयो भगिन्यस्ता इव । जमतिर्गतिकर्मा (निघ० २।१४।१०४) जमन्ति गच्छन्ति प्रायेण प्रेमवशाद्भ्रातृगृहमिति जामयः । इण् प्रत्ययः । अतिशयप्रेमवत्यो हि भवन्ति भ्रातृषु सहोदरेषु भगिन्योतस्तास्तान्सर्वदा स्तुवन्ति । युद्धकाले तु रणभूमिं जिगमिषून्धृतधनुरिषून्भ्रातॄंस्तद्विजयाकाङ्क्षिण्यो भगिन्यः कुङ्कुमतिलककुसुमस्रगादिसमर्पणपुरस्सरमद्यापि स्तुवन्ति क्षत्रियकुलजा इति सर्वपरिचिता वार्ता । अत एव ताः स्वसारः । स्वस्वात्मसु स्वसमीप इत्यर्थः सारयन्ति गमयन्ति स्थापयन्ति सहोदरानिति स्वसारः । एवं च यथा सुभगा भगिन्यो भ्रातृगुणान्स्तुवत्यो भ्रातॄनुपतिष्ठन्ते तथैव भक्तानां ज्ञानिनां च प्रार्थनावाचः स्तुतिवाचश्च त्वामुपतिष्ठन्त इति पिण्डितार्थः । भक्तास्त्वां सर्वदा स्तुवन्ति प्रार्थयन्ते चेति तात्पर्यम् । किं च ते भक्ता वायोः सर्वगतस्य परमेश्वरस्य तवानीके

समीपेस्थिरन् स्थितिं लभन्ते त्वय्येव स्थितिं भजन्त इति भावः ॥ १३ ॥

१४. उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥ ४ ॥ (ऋ. १।१।७)

उप त्वेति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः ।

हे अग्ने ज्योतिस्स्वरूप परमात्मन् हे दोषावस्तः । दोषेतिरात्रिनाम (निघ० १।७।९) । सा चेहाज्ञानरूपा । वस्ताच्छादयिता । अज्ञानान्धकारं स्वेन ज्योतिषाच्छादयति निरस्यतीतिभावः, स दोषावस्ता । तत्सम्बुद्धौ दोषावस्तः । दोषावस्तोरित्यपि पाठः । वस्तोरित्यहर्नाम (निघ० १।९।१) । एवं च दोषावस्तोरित्यस्य रात्रिन्दिवमित्यर्थः । वेदेषु प्रायेण सर्वत्र वस्तोरेव दर्शनम् । न विभक्त्यन्तरदर्शनम् । दोषाशब्देन समस्तस्यापि तस्योपलब्धिः । यथास्मिन्नेव प्रकृते मन्त्रे । यथा वा "दोषावस्तोर्हविष्मती घृताची" (ऋ० ७।१।१६) "दोषावस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे" (ऋ० १।१०४।१) । असमस्तस्यापि दर्शनम् । यथा "कुह स्विद्दोषा कुहवस्तोरश्विना" (ऋ० १०।४०।२) । वस्तरित्यपि दिननामेति सायणाचार्या ऋग्वेदे । वस्तुतस्तु दोषानावस्त आच्छादयति निराकरोतीति दोषावस्ता तत्सम्बुद्धौ दोषावस्तरिति पूर्वमुक्तम् । दिवे दिवे प्रतिदिनं नमो नमस्कारं भरन्तः सम्पादयन्तो धिया बुद्ध्या मनसा वा वयमुपासकास्त्वदुपासनेन दुरितनिरासकात्वा त्वामेव उप एमसि उपागच्छामः प्राप्नुमः ॥ ४ ॥

१५. जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ ५ ॥ (ऋ. १।२७।१०)

जराबोधेति । शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः ।

"जरा स्तुतिः। जरतेः स्तुतिकर्मण:" (निरु० १०।८)। जरया स्तुत्या बोधो जागृतिर्दयोद्‌बोध इति वा यस्य स जराबोधः। तत्सम्बुद्धौ हे जराबोध स्तुतिप्रसदनोन्मुख परमात्मन् यज्ञियाय भगवद्भक्तिरूपसर्वोत्कृष्टफलसिद्धये विशेविशे प्रतिमनुष्यम्। विश इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।५)। लक्षणया भक्तानां त्वन्नाम-मननशीले मनसि विविड्ढि व्याप्नुहि। प्रविश भक्तानां सद्भाव-भृतं मन इति भावः। रुद्राय शुभं भूयादित्याश्वासनशब्दवते तुभ्यम्। रौतीति रुत्, शब्दः। ततो मत्वर्थीयो रः। दृशीकं दर्श-नीयं मनोहरं स्तोमं स्तोत्रं वयं भक्ता रचयाम इति शेषः ॥ ५ ॥

१६. प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ६ ॥ (ऋ. १।१९।१)

प्रति त्यमिति। मेधातिथिः काण्व ऋषिः।

हे अग्ने सर्वव्यापक परमेश्वर त्यं तमेतमिति भावः। चारुं रमणीयमध्वरं वैरहिंसादिदोषकोषशून्यं सर्वोत्कृष्टं भक्तियज्ञं ज्ञानयज्ञं वा ध्वरतिर्वधकर्मा (नि० २।१९।३)। तत्प्रतिषेधो यत्र स च भक्तियज्ञ एव ज्ञानयज्ञ एव वा। मरुद्भिर्म्रियन्ते क्षणमपि न क्षणं लभन्ते भूतानि यैर्विना तैः सर्वोज्जीवनशक्तिविशेषैः। सह आ गहि आगच्छ। "मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद्-द्रवन्तीति वेति निरुक्तम् (११।१३)। किमर्थं मामाह्वयसीत्युच्यते चेत्, गोपीथाय गवामिन्द्रियाणां तद्व्यवहाराणां च पीथाय पानाय रक्षणाय त्वं त्वदुपासकैः प्र हूयसे प्रकर्षेणाहूतो भवसि। मेन्द्रियाणि भूवन्विषयप्रवणानीति रक्षार्थं तवाह्वानमितिभावः ॥ ६ ॥

१७. अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः।
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥ ७ ॥ (ऋः १।२७।१)

अश्वमिति शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः ।

वारवन्तं दीर्घलोमानमश्वं न=इवाध्वराणां हिंसाविरहित-भक्तिज्ञानयज्ञानां सम्राजं स्वामिनं तं प्रसिद्धं त्वा त्वाम् । अथवा सम्राजन्तमित्येकपदम् । अर्थस्तु सम्राजमित्येव । अग्निं तेजस्स्व-रूपं परमात्मानं नमोभिर्नमस्कारवचनैर्वन्दध्यै वन्दितुं वयं भगवद्भक्ताः प्रवृत्ताः । "पुच्छे कण्ठे च लोमानि यस्य दीर्घाणि वाजिनः । भाग्यवन्तः सुखं स्वेषां स्वामिभ्यस्तेर्पयन्ति हि" इति वाजिशास्त्रानुसारेण यथा जागत्कसुखप्रदातारमश्वं लौकिकाः स्तुवन्ति तथा जगदस्पृष्टोत्कृष्टसुखसमर्पयितारं सर्वविधातारं परमात्मानं वयं स्तुम इति भावः । अथवा नेति पादपूरणाय । अश्वं व्यापकं वारवन्तं वरणीयं वृतं वा ज्योतिस्स्वरूपमध्वराणां संम्रा-जन्तं त्वां वन्दध्यै वन्दितुं वयं प्रवृत्ता इत्यर्थयोजना ॥ ७ ॥

१८. और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे ।
अग्नि समुद्रवाससम् ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।१०२।४)

और्वेति । प्रयोगो भार्गव ऋषिः ।

और्वभृगुरप्नवानश्च वैदिकसम्प्रदायप्रसिद्धौ सिद्धौ भक्तौ । समुद्रवाससमन्तरिक्षनिवासिनम् । समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम (निघ० १।३।१५) । अदृश्यनिवासिनमित्यर्थः । शुचिं पवित्रं तेजस्विनं वाग्निं परमात्मानमौर्वभृगुवदौर्वभृगुरिवाप्नवानवदप्नवान इव चाहुवेहमा-ह्वयामि । अथवा भक्तिरसैः सम्यक्विक्लन्नमन्तःकरणं समुद्रशब्दार्थः । उन्दी क्लेदने ॥ ८ ॥

१९. अग्नि† मिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।१०२।२२)

---

† मीधे इत्यपपाठः ।

अग्निमिन्धेति । प्रयोगो भार्गव ऋषिः ।

मर्त्यो मनुष्योऽधिगततत्त्वनिरीक्षणविचक्षणचक्षुर्मुमुक्षुर्मनसा विगलितसकलविकार स्रोतसा पवित्रेण मनसेन्धान इन्धानम् । विभक्तिव्यत्ययः । दीप्तं प्रसादोन्मुखं सम्पिपादयिषिष्यन् । धियं कर्म । धीरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम च (निघ० २।१।२१।३।९।७) । क्रियत इति कर्म । तथा चानुष्ठीयमानां भक्तिमाराध्यमानं ज्ञानं वा सचेत सेवेत । सचत इति सेवाकर्मेति निघण्टुपरिशिष्टे । किं च विवस्वभिर्ज्ञानवद्भिः प्रबोधितः सन्नग्निमिन्धे इन्धाम् । लकार-व्यत्ययः । येन केनापि मूर्खेणाविदिततत्त्वेन बोधितो यदि कश्चन प्रसिसादयिषया परमात्मानं सेवेत निष्फल एव श्रमः स्यात् । अतो विद्वद्बोधितस्वरूपो निधनानधिगतः सच्चिदानन्दघनः परमात्मा सेवनीय इतिभावः ॥ ९ ॥

२०. आदित्प्रत्नस्य रेतसा ज्योतिः† पश्यन्ति वासरम् ।
परो यदिध्यते‡ दिवि ॥ १० ॥ (ऋ. ८।६।३०)

आदिदिति । वत्सः काण्व ऋषिः ।

यद्यस्मिन्दिवि दिने परः सर्वक्लेशकर्मविपाकादिभ्यः परः परमात्मेध्यते यमनियमादिव्रतव्रातैः प्रकाश्यत आराध्यते सन्तोष्यत आदित्तदनन्तरमेव परमात्मप्रसादनपलानन्तरमेव रेतसो गतिशीलस्य व्यापकस्य । रि गतौ । प्रत्नस्य प्राचीनस्यानादेः परमात्मनो वासरमतिदीप्तम् । वासृ दीप्तौ । ज्योतिः प्रकाशं परिपश्यन्ति ज्ञानिनो भक्ताश्च ॥ १० ॥

इति द्वितीया दशतिः । इति द्वितीयः खण्डः

—: ० :—

† ज्योतिष्पश्यन्तीत्यृक्पाठः । ‡ दिवेत्यृक्पाठः ।

२१. अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१०२।७)

अस्यां दशत्यां सर्वेषां मन्त्राणामग्निर्देवता गायत्री च च्छन्दः । प्रतिमन्त्रमृषिनिर्देशं करिष्यामः । अग्निं व इति । अस्य मन्त्रस्य प्रयोगो भार्गव ऋषिः ।

प्रयोग ऋषिरुपदिशति हे मनुष्या अध्वराणां हिंसाशून्यानां शमदमभक्तिज्ञानादिसम्पादनरूपसर्वोत्कृष्टकर्मणां नप्त्रे नप्तारम् । न पातयितारं परावलम्बनस्य विधातारमितिभावः । सहस्वते सहस्वन्तं बलवन्तम् । उभयत्र विभक्तिव्यत्ययः । पुरूतमं बंहिष्ठं व्यापकं वृधन्तं भक्तानां ज्ञानिनां चाविरतपरन्तपतपश्चर्यया वर्धमानमिवाग्निं सर्वप्रकाशकं तेजस्स्वरूपं वा परमात्मानमच्छाप्तुम् । अच्छाभेराप्तुमितिशाकपूणिः (निरु० ५।२८) । वो यूयम् । विभक्तिव्यत्ययः । प्रयतध्वमिति शेषः ॥ १ ॥

२२. अग्निस्तिग्मेन शोचिषा† यं सद्विश्वं न्य ३ त्त्रिणम्
अग्निर्नो‡ वंसते रयिम् ॥ २ ॥ (ऋ. ६।१६।२८)

अग्निस्तीति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

अग्निस्तेजस्स्वरूपः परमात्मा तिग्मेनातितीक्ष्णेनासह्येन शोचिषा तेजसा विश्वं कृत्स्नमत्त्रिणं भक्षयितारं लोपयितारं शमदमादीनां, मनश्चाञ्चल्यकारणं दूरीकर्तुं नि यंसत् नितरां यस्यति । यसु प्रयत्ने । किंच स एवाग्निः परमात्मा नोस्मभ्यं रयिं धनं स्वप्राप्तिरूपं वंसते ददाति यच्छति ॥ २ ॥

---

† यासद्विश्वमित्यृक्पाठः । ‡ वनते इत्यृक्पाठः ।

२३. अग्ने मृड महाँ† असि य आ देवयुं जनम् ।
इयेथ बर्हिरासदम् ॥ ३ ॥ (ऋ. ४।९।१)

अग्ने मृडेति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन् यतस्त्वं महान्सर्वातिशायिमानभृन्महनीयो वासि भवसि । "महान् कस्मात् ? मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिर्महनीयो भवतीति वा" (निरु० ३।१३) । ततोस्मांस्तव भक्तांस्त्वामेवाश्रितान्मृड मृडय सुखय । कीदृशस्त्वम् ? अयः सर्वत्र गन्ता सर्वव्यापक इत्यर्थः । यतस्त्वमीदृशस्ततो देवयुं देवं दिव्यगुणं त्वां दिव्यं गुणं वा कामयमानं जनमा इयेथागच्छसि प्राप्नोषि । किं च बर्हिराकाशं हृदयाकाशं त्वद्भक्तस्यासदमासत्तुमधिष्ठातुं वा इयेथागच्छसि । त्वमागत्यास्मान्सुखयेति तात्पर्यम् ॥ ३ ॥

२४. अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति ष्म देव रीषतः ।
तपिष्ठैरजरो दह ॥ ४ ॥ (ऋ. ७।१५।१३)

अग्ने रक्षेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे अग्ने दिव्यप्रकाशस्वरूप परमात्मंस्त्वं नोस्मानंहसः पापाद्रक्ष त्रायस्व । हे देव सर्वाभिलषितशिवस्य प्रदातः । "देवो दानाद्वा दीपनाद्वाद्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा । यो देवः सा देवता" (निरु० ७।१५) । रीषतो रिषतो हिंसतो रिपून्कामादींस्तपिष्ठैस्तापकतमैस्तेजोभिरजरोहिंस्यमानोक्षीयमाणस्त्वं प्रति दह भस्मसात्कुरु । स्मेति पादपूरणम् ॥ ४ ॥

२५. अग्ने‡ युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं *वहन्त्याशवः ॥ ५ ॥ (ऋ. ६।१६।४३)

† असि य ईमा इत्यृक्पाठः । ‡ वहन्ति मन्यवे इत्यृक्पाठः ।
* युक्ष्वा इत्यृक्पाठः ।

अग्ने युङ्क्ष्वेति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

हे अग्ने दिव्यप्रकाश ये तव साधवः सर्वोत्कृष्टा भक्तमनोरथसाधका अश्वासोऽश्वा गुणाः । अश्नुवते निखिलभक्तज्ञानिमनांसीति सन्तीति शेषः । ये चाशवो गुणा अरमविनाशिनं त्वां भक्तजनान्प्रतिवहन्ति तान् हि युङ्क्ष्व योजयास्मद्धृदयेषु स्थापय । दयादाक्षिण्यादिगुणास्त्वयि सन्ति तत एव जनास्त्वद्भक्तभूतास्त्वयि रमन्त इतिभावं भावयित्वा त्वद्गुणास्त्वां तान् प्रति वहन्तीत्युक्तिः ॥ ५ ॥

२६. नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्यु मन्तं† धीमहे वयम् ।
सुवीरमग्न आहुत ॥ ६ ॥ (ऋ. ७।१५।७)

नि त्वेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे नक्ष्योपगन्तव्य ! णक्ष गतौ । हे विश्पते विशां प्रजानां सर्वजीवानां विशेषतस्त्वयि संनिविष्टानां भक्तानां पते पातः, आहुत हृदयप्रदेशे भक्तैः संस्थापित, अग्ने ज्योतिस्स्वरूप परमात्मन्, द्युमन्तं नित्यप्रकाशस्वरूपं सुवीरम् । वीर्गतिः । शोभना वीः सुवीः । तमीरयति गमयति स सुवीरः परमपदस्य प्रदाता । तं त्वा त्वां वयं धीमहे ध्यायामः ॥ ६ ॥

२७. अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।४४।१६)

अग्निर्मूर्द्धेति । विरूप आङ्गिरस ऋषिः ।

मूर्धा सर्वश्रेष्ठो दिवो द्यु तेर्ज्ञानरूपायाः, ककुन्महान्राशिः पृथिव्याः पृथिवीलोकस्य, उपलक्षणमेतत्, सर्वेषामेव लोकानां पतिः

† देव धीमहीत्युक्पाठः ।

पालकोयं ज्ञानिभिर्भक्तैश्चानुभूयमानोग्निः सर्वप्रकाशकः परमात्मा-पामपसां कर्मणां रेतांसि प्रसृतानि फलानि जिन्वति प्रीणयति। कर्मफलप्रदानेन भक्तान् प्रीणयतीतिभावः ॥ ७ ॥

२८. इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम्।
अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥ ८ ॥ (ऋ. १।२७।४)

इमम् इति । शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन्नस्माकमिमदमनुष्ठीयमानं सु सनिं शोभनमात्मसमर्पणम्। षणु दाने। नव्यांसं नवतरं गायत्रं तवार्चनं च। गायतिरर्चनकर्मा (निरु. ३।१४।२)। देवेष्वन्येपूपमृदितकषायेषु भक्तेपु प्र वोचः प्रकर्षेण कथय प्रचारय। अयं भावः। अस्मांस्तव भक्तांस्तत्त्वज्ञानसमर्पणेन कार्तार्थ्यं नय। तेन सर्वेषु सर्वत्र स्वयमेव प्रचरितो भविष्यति भवतेर्ज्ञानस्य च माहात्म्यातिशय इति ॥ ८ ॥

२९ †तं त्वा गोपवनो गिरा‡ जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः।
स पावक श्रुधी हवम् ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।७४।११)

तं त्वेति । गोपवन आत्रेय ऋषिः ।

हे अग्ने प्रकाशस्वरूप हे अङ्गिरः सर्वग गोपवन ऋषिस्पं सर्वथा कारुण्यवात्सल्यादिगुणैः प्रसिद्धं भक्तहृदयप्रदेशेषु श्रद्धया समर्चितं समर्च्यमानं च त्वा त्वां गिरा हृद्गतभावावेदकेन स्तुतिवचसा जनिष्ठत्प्रत्यक्षीकृतवान्। स्तुतिवचसा दयापरतन्त्रो भवंस्त्वं स्तोतृहृदये सद्योनुभूतो भवसीतितात्पर्यम्। हे पावक सर्वेषां महापातकिनामपि पवित्रकर्तर्हवमाह्वानं तद्रक्षणार्थं श्रुधि शृणु ॥ ९ ॥

† यमित्यृक्पाठः ।   ‡ चनिष्ठद-इत्यृक्पाठः ।

३०. परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ १० ॥ (ऋ. ४।१५।३)

परि वाजेति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

वाजपतिर्बलस्वामी अन्नस्वामी वा । वाज इति बलनामसु अन्ननामसु च पठितम् (निघ. २।९।२, २।७।२) । परमात्मा बलस्वाम्यं धत्तेतोबलबलप्रदाने समर्थोऽन्नस्वाम्यमनुगृह्णातीति सर्वेभ्यो योग्यामदनसामग्रीं वितरितुं समर्थः । बलस्वामितया स्वव्रतं द्रढयितुमात्मबलमभ्यर्थयमानेभ्यस्तद्दत्त्वा तान्कृतार्थयति । दर्शनं कामयमानेभ्यो दर्शनमपि यच्छत्यन्नस्वामितयेति भावः । अन्नमिह न यवगोधूमादि ग्राह्यम् । शमदमोपरतितिक्षादिरूपं हि तद्ग्राह्यम् । एतदन्ननिषेवणेनैव जीवः कल्याणं पश्यति नान्यथा । पामरजनैरपि सुलभो भौतिकः पदार्थो न परमेश्वरात्परमाप्राप्यवस्तुप्रदानसमर्थाद्याचनीय इत्यनुभविनां पन्थाः । अथ कविर्मेधावी (निघ. ३। १५।१०) क्रान्तदर्शी वा । मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवतीति निरुक्तम् (१२।१३) । दाशुष आत्मसमर्पणं कुर्वते भक्ताय रत्नानि रमणीयधनानि हृदयावर्जनसमर्थानि पुनः पुनः स्वदर्शनरूपाणि दधद्विदधदग्निः परमात्मा हव्यानि प्रसाद्यानि भक्तचेतनजातानि परि अक्रमीत्परितः क्राम्यति व्याप्नोतीत्यर्थः । भक्तान्तःप्रसत्तये करुणावरुणालयः स परमात्मा भक्तसान्निध्यं धत्त इत्यर्थः ॥ १० ॥

३१. उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ११ ॥ (ऋ. १।५०।१)

उदु त्यमिति । प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः ।

त्यं तं जातवेदसं जातं जातं वेत्तीति वा जातप्रज्ञानो वा जातवेदा भवति । जातशब्दोपपदाद्विदेरसुन् । तं परमात्मानं सर्वज्ञं

सूर्यं सर्वेषां सारकं प्रेरकं देवं द्योतमानं प्रकाशस्वरूपं केतवः परमात्मरूपलक्ष्यदर्शिनो ज्ञानवन्तो वा। कि ज्ञाने। तुः प्रत्ययः। उद्वहन्ति धारयन्ति पश्यन्त्यान्तरेण नेत्रेणेत्यर्थः। न केवलमात्मतृप्तये तद्दर्शनमपि तु विश्वाय विश्वेषां सर्वेषां दृशे दर्शनाय। तत्त्वज्ञाः स्वयं परमात्मानं साक्षात्कृत्यान्यानपि जगदरण्यप्रान्तरकान्तारेषु परिभ्रान्तान्परिभ्रमतश्च कृपया तं दर्शयन्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

३२. कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।

देवममीवचातनम् ॥ १२ ॥ (ऋ. १।१२।७)

कविमिति। मेधातिथिः काण्व ऋषिः।

मेधातिथिरुपदिशति हे परमेश्वरभक्तिरसरसिक जीव, अध्वरे सर्वविधहिंसाविरहिते रागद्वेषादिमनोविकारशून्ये भक्तियज्ञे कविं क्रान्तदर्शिनं परमविद्वांसं सत्यधर्माणं सत्या एव नाध्यस्ता अत एव न मिथ्या दयादाक्षिण्यवात्सल्यादयो जगत्कर्तृत्वादयो वा धर्मा यस्य तम्। अनेन निर्धर्मकं ब्रह्मेति निरस्तम्। सत्यस्वरूपं वा। अमीवचातनं कायिकमानसिकादिसर्वरोगनिवारकं कामक्रोधलोभमदमोहमात्सर्यादीनां महतां दन्दशूकानां वा नाशयितारम्। अमीवा रोगः (निघ. ४।३।४६)। चातयतिर्वधकर्मा। अग्निं सर्वानग्रं पदं नेतारम्। "अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः (निरु. ७।१४)। देवं दिव्यगुणविशिष्टं प्रकाशस्वरूपं वा परमात्मानं महावैद्यमुपस्तुहि सामीप्येनोपासनया स्तुहीति यावत् ॥ १२ ॥

३३. शन्नो देवीरभिष्टये† शन्नो भवन्तु पीतये।

शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ १३ ॥ (ऋ. १०।९।४)

---

† देवीरभिष्टय आपो भवन्तु इत्यक्पाठः।

शन्नो देवीरिति । सिन्धुद्वीप आम्बरीषस्त्रित आप्त्यो वर्षिः ।

देवीर्दिव्या बुद्धयो नोस्माकमभिष्टयेभीष्टलाभाय शं कल्याणाय च तथा पीतये रक्षणाय च भवन्तु । दिव्या बुद्धिरेव दिव्यं ज्ञानमेव दुर्भेद्यभवखेदललाटन्तपतरणिसन्तप्तानां जीवानां कल्याणप्रदर्शनमिति सर्ववेदसंवादः । किं च नोस्माकमुपरि शंयोः कल्याणस्य धारा अभिस्रवन्त्वभिस्रावयन्तु ता एव बुद्धयः ॥ १३ ॥

३४. कस्य नूनं† परीणसि धियो जिन्वसि‡ सत्पते ।
गोषाता यस्य ते गिरः ॥ १४ ॥ (ऋ. ८।८४।७)

कस्येति । उशना काव्य ऋषिः ।

हे सत्पते सतां पूतमनसां पूतवचसां पूतकर्मणां च पते स्वामिन्नग्ने परमात्मन् यस्य ते तव गिरो वेदरूपा वाचो गोषाता गवां पृथिवीस्थितानां सर्वेषां मानवानां सातौ लाभे लाभाय भवन्तीत्यर्थः । अनेन परमकृपाकूपारस्य परमेश्वरस्य वेदेषु सर्वेषामेव ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रातिशूद्रादिविभेदविभक्तानां तत्पुत्राणां स्त्रीपुंसशरीरभृतां जीवानां समानोधिकार इति विस्पष्टं सूचितं भवति । स त्वं कस्य सुखस्य परीणसि बहूनि । परीणसेति बहुनामसु पठितम् (निघ० ३।१।६) । धियः कर्माणि धीरिति कर्मनाम (निघ० २।१।२१) । वेदप्रतिपादितानि सर्वैरनुष्ठातव्यानि । वेदोदितानि तानि तानि सर्वाणि ज्ञानानि वा । धीरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९।७) । नूनमवश्यं जिन्वसि प्रीणयसि । सर्वमनुष्यदेहिनां सुखजनकानि वैदिककर्माणि वैदिकज्ञानानि वा सम्पाद्यानीति त्वं मन्यस इति भावः ॥ १४ ॥

इति तृतीया दशतिः । इति तृतीयः खण्डः

† परीणसो इत्यूहपाठः । ‡ दमसे इत्यूहपाठः ।

३५. यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।
प्रप्र वयमृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥ १ ॥
(ऋ. ६।४८।१)

अस्यां दशत्यां सर्वेषां मन्त्राणामग्निर्देवता बृहती चच्छन्दः । प्रतिमन्त्र मृषि निर्देक्ष्यामः । अस्य मन्त्रस्य शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः ।

शंयुरुपदिशति—हे भक्तजीवा यज्ञायज्ञा यज्ञे यज्ञे प्रत्येकं यज्ञेषु दयादानपरोपकारशमदमोपार्जनादिबहुविधेषु गिरागिरा वाचा-वाचा स्तुतिरूपया वो यूयं दक्षसे सर्वान्तर्निरीक्षणपटवेग्नये सर्वश्रेष्ठायाग्रगण्याय परमेश्वराय स्वात्मार्पणं कुरुतेति शेषः । चोप्यर्थे वयमपि तं जातवेदसं सर्वज्ञं प्रियं प्रियकरं हृदयङ्गमं वा तममृतममरणधर्माणं मित्रं न मित्रमेव परमानुकूलमेव प्रशंसिषं प्रशंसाम । पादपूरणार्था द्विरुक्तिः प्रशब्दस्य । परमात्मन आत्मसमर्पणमेव जीवानां परमो धर्म इत्युपदिष्टं प्रथमेन पादेन । द्वितोयेन च पादेन वयमपि तं प्रशंसामेत्युक्त्योपदेष्टृकृतमप्यात्मसमर्पणमेव द्योत्यते । तेन हि तत्कृतपरमात्मप्रशंसा प्रशंसनीया स्यादन्यथा यूयमात्मसमर्पणं कुरुत वयं च तं प्रशंसामेति सन्दर्भासामञ्जस्यम् । मित्रं नेत्यत्र नेत्यस्यावधारणमर्थः ॥ १ ॥

३६. पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते चतसृभिर्वसो ॥ २ ॥
(ऋ. ८।६०।९)

पाहीति । भर्गः प्रगाथ ऋषिः ।

परमेश्वरस्य प्राधान्येन चतस्रः शक्तयो दया क्षमा विस्मृतिः स्निग्धता चेति । ता उद्दिश्य भक्ताः सोत्का महाविश्वासशालिनः

प्रार्थयन्ते, हे अग्ने प्रकाशस्वरूप परमात्मन्नेकया प्रथमया शक्त्या दयया नोस्मान्पाहि रक्ष। उताथवा द्वितीयया शक्त्याक्षमया पाहि। तिसृभिर्गीर्भिः श्रुतिरूपाभिर्ऋग्यजुःसामनाम्नीभिः संस्तुतेति-शेषः। हे ऊर्जां स्वकीयजनरक्षणशिक्षणसामर्थ्यानां पते तृतीय-येऽपि शेषः। विस्मृत्याख्यया तृतीयया शक्त्यास्माकमनन्तापराध-विस्मृतिपुरस्सरं नः पाहि। अथ चतसृभिर्गीर्भिरथर्वसहिताभि-र्ऋग्यजुःसामनाम्नीभिः श्रुतिभिः संस्तुतेतिशेषः। हे वसो सर्वेषां वासयितः चतुर्थ्या स्निग्धताख्यया शक्त्या च नः पाहि। अयम-भिप्रायः। भक्तिविह्वलो जीवः प्रबलजगदनन्तत्रासात्संत्रस्तस्त्राणं प्रार्थयते। तच्च न केनापि द्वारेण प्राप्यम्। अविदितधर्मतत्त्वेन जीवेन कृतेपि धर्मे धर्मत्वविश्वासाभावेन दूरं गता तस्य द्वारता। अनुष्ठीयमानाया भक्त्या अद्यापि पूर्णत्वाभावान्न तद्बलं द्वारं भवितुमर्हति। एवमेवान्येषामपि साधनानामभावात्तेषामपि द्वारत्वं दूरमपास्तम्। तथा च केवलंभगवद्दयाबलमेवावतिष्ठते। ततो दयया रक्षेति प्रार्थना। तत्रापि स्वयं कृतानां बहूनां भगवद्भागवतापराधानां भयात्स्वस्मिन्दयापात्रत्वाभावं चिन्तयन् बहुगीतया सर्वविदितया तया क्षमया रक्षेति प्रार्थना। अक्षन्तव्या नामपराधानां सद्भावाद्दुर्लभैव क्षमेति मनसाकलय्य विस्मृत्या-ख्यया शक्त्या रक्षेतिप्रार्थना। अपरिमितदयोदधिर्हि भगवान-वशतयाज्ञानतया वा कृतानपराधान्विस्मरिष्यत्येवेतिविश्वासेन तृतीयायाः शक्तेः स्मरणम्। सत्यामप्यपराधविस्मृतौ दयोदयो भवेन्नवेत्याशङ्क्य स्निग्धतायाः स्मरणम्। स्निग्धता च निर्हेतुकं प्रेम। निर्हेतुकप्रेमपयोनिधिर्भगवानवश्यं त्रायस्वेत्युच्चारयतां स्वस्मिन्नतिमतां भवत्येव रक्षायां नियतः॥ २॥

२७. बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।

भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य †रेवत्पावक
दीदिहि ॥ ३ ॥ (ऋ. ६।४८।७)

बृहद्भिरेति । शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन् बृहद्भिः प्रभूताभिरर्चिभिरर्चनसामग्रीभिः शमदमदयादानादिभिरर्चितः सत्कृतोभ्यर्थितस्त्वं हे देव परमप्रसन्न शुक्रेण तिग्मेन शोचिषा तेजसा समिधानः सम्यग्दीप्यमानो हे यविष्ठ्यसर्वदा युवतम जरामरणादिविकाररहित हे पावक पवित्र-कर्तः सर्वजीवानां, भरद्वाजे बिभ्रत्यात्मकं बलं मयि तव भक्ते रेवद्रेवमान आगच्छन् प्राप्नुवन् । रेव प्लवगतौ । रेवदधिकं वा यथा स्यात्तथा दीदिहि दीप्यस्व ॥ ३ ॥

३८. त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो ‡जनानामूर्वं दयन्त
गोनाम् ॥ ४ ॥ (ऋ. ७।१६।७)

त्वे अग्न इति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे स्वाहुत भक्तैर्भक्त्या चादरेणाहूत त्वयैव विहितदये हृदये संस्थापिताग्ने प्रकाशस्वरूप सूरयो भक्तिज्ञानादिप्रसवकर्तारो विद्वांसस्ते तव प्रियासः प्रियाः सन्तु । ये च तेषां सूरीणां ज्ञानदानपरायणानां विदुषां भक्तानां ज्ञानिनां च मध्ये मघवानो धनवन्तो भक्तिज्ञानरूपधनवन्त इत्याशयः । यन्तारो दातारो नियन्तारो वा सद्बुद्धिवृद्धेरितिभावः । ये च गोनां विद्यानां सदसद्विवेकशालिनां ज्ञानानामूर्वं समूहं भक्तेभ्योन्येभ्यो लोकेभ्यो दयन्ते ददति तेपि तव प्रियाः प्रेमपात्राणि सन्तु स्युरित्यभ्यर्थना ॥ ४ ॥

---

† रेवन्तः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि इत्यृक्पाठः ।

‡ जनानामूर्वानित्यृक्पाठः ।

३९. अग्ने जरितर्विश्पतिस्तेपानो देव रक्षसः।
अप्रोषिवान् †गृहपते महाँ असि
दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।६०।१९)

अग्ने जरितरिति । भर्गः प्रागाथ ऋषिः ।

हे जरितः सर्वान्तरप्रान्तरदुरितदावानलबलोन्मूलनसमर्थ सत्कृतिनिरतानां स्तोतर्वा । जरितेतिस्तोतृनाम (निघ. ३।१६।२) । हे देव सर्वस्पृहणीयसत्सम्पत्सम्पादक, अग्ने अग्रणोः परमात्मंस्त्वं विश्पतिः प्रजापतिरसि । रक्षसो दुष्टानां तेपानः सन्तापकश्चासि । रक्ष्यन्ते प्रजा यस्मात्तद्रक्षः । हे गृहपते गृह्यते साक्षात्क्रियते परमात्मा यस्मिस्तस्य हृदयरूपस्य गृहस्यानन्याधिष्ठितस्य स्वामिन्नप्रोषिवान् हृदयगृहं परित्यज्य कुत्राप्यन्यत्र न गच्छंस्त्वं महानसि महनीयोसि सर्वोत्कृष्टश्चासि । स्वीकृतं हृदयं न त्यजसीति महत्त्वे हेतुः । दिवश्चिदानन्दस्य त्वदनुभवानन्दस्य पायू रक्षिता दुरोणयुर्हृदयगृहार्चको हृदयप्रसादकोपि त्वमेवासि । दुरोण इति गृहनाम (निघ० ३।४।७; निरु० ४।५) । यौतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।२७) ॥ ५ ॥

४०. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ
उषर्बुधः ॥ ६ ॥ (ऋ. १।४४।१)

अग्ने विवस्वेति । प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः ।

हे अग्ने सर्वप्रकाशक, अमर्त्यामरणधर्मन्, जातवेदः सकलज्ञ परमात्मन्, त्वं राधो धनम् । राध इति धननाम (निघ० २।१०।१७) । तच्च भगवज्ज्ञानरूपमेव न लौकिकम् । लौकिकस्य धनस्य

† गृहपतिर्महाँ इत्यृक्पाठः ।

न स प्रदाता। तत्तु तदर्थिभिः स्वबुद्धिबाहुबलेनैव सम्पादनीयं भवति। अलौकिकस्य तस्यावाप्तयेऽलौकिकमेव साधनमपेक्षितम्। तच्च परमात्मप्रार्थनरूपमप्येकम्। आ वह प्रापय। कस्मै? दाशुषे हृदयं दत्तवते भगवत्यात्मसमर्पणं साधयते। कीदृशं तद्राधः? उषसोज्ञानस्य। उच्छी विवासे। उच्छति विवासयति तथ्यातथ्यपथ्यापथ्यविचारमित्युषाः। अज्ञानमविद्या वा। विवस्वन्निवर्तकम्। विवस्वान्विवासनवानिति निरुक्तम् (७।२६)। चित्रं लोकोत्तरं लोकलक्षितलक्षणविलक्षणम्। किं चोषर्बुधोविद्यानिवृत्त्यावगतस्वपरस्वरूपान्देवान्ब्रह्मविदोप्यावह। अकम्प्ययानुकम्पया प्रभाताविद्याविभावरीकाणां परिचितपुरुषस्वरूपाणां महापुरुषाणां सन्निधानेन सततमुपासनेन च तत्त्वज्ञानमुपार्जनीयमिति वेदोपदेशः ॥ ६ ॥

४१. त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं
तुचे तु नः ॥ ७ ॥ (ऋ॰ ६।४८।९)

त्वं नेति। शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिस्तृणपाणिर्वा।

हे वसो सर्वेषां प्राणिनामप्राणिनां च स्वस्मिन्वासयितः सर्वेषां स्वव्याप्त्याच्छादयितर्वा चित्र विलक्षणशक्तिसम्पन्न त्वं नोस्माकमूत्या ऊत्यै रक्षायै राधांसि धनानि तत्त्वज्ञानसदाचाररूपाणि चोदय प्रेरय। तत्त्वज्ञानेनैवात्मनां रक्षा भवितुमर्हति न तु लौकिकेन विभुनापि वैभवेनेत्यत्राशयः। परमात्मनः सकाशाज्ज्ञानाभ्यर्थनायां हेतुमुदाहरति—यतोस्यास्मज्ज्ञानविषयीभूतस्य धनस्य हे अग्ने प्रकाशशील परमेश्वर त्वं रथीरसि नियन्तासि स्वाम्यसीतिभावः। किं च नोस्माकं तुचेपत्यायापतनहेतवे ज्ञानायानन्यभक्तये वा। तुगित्यपत्यनाम (निघ॰ २।२।१)। गाधं प्रतिष्ठां विवेकवैराग्य-

रूपाम् । गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च । तु क्षिप्रं विद्म वेत्थ जानीहि लम्भयेत्यर्थः ॥ ७ ॥

४२. त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने †त्रातऋ॑तः कविः ।
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति
वेधसः ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।६०।५)

त्वमित्सेति । भर्गः प्रागाथ ऋषिः ।

हे अग्ने वितपमान देव त्रातर्ज्ञाताज्ञातविविधाघौघव्याघ्रमुखेभ्यस्त्राणकर्तः परमेश्वर त्वमित्त्वमेव सप्रथा अतिशयेन पृथुरसि सर्वतः पृथुरिति वा । सर्वव्यापक इत्यर्थः । त्वमेवर्तोसि परमसत्यस्वरूपोसि । कविः क्रान्तदर्शी चाप्यसि । हे दीदिव प्रदीप्त देदीप्यमान वेधसो मेधाविनः । वेधा इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।६) । विप्रा महोपदेशका अपेक्षिणामपेक्षाः पूरयितारो विद्यानदीनिष्णाताः समिधान समिन्धान हे तपमान त्वामा विवासन्ति सर्वथा परिचरन्ति । विवासतीति परिचरणकर्मा (नि० ३।५।१०) नैरुक्तो धातुः ॥ ८ ॥

४३. आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम् ।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती
‡सुयशस्तरम् ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।६०।११)

आ न इति । भर्गः प्रागाथ ऋषिः ।

हे अग्ने प्रकाशात्मन् पावक सर्वशोधक परमात्मंस्त्वं शंस्यं प्रशस्तं वयोवृधं श्रेयस्ततिगतिवर्धकम् । वी गतौ । रयिं धनं

† त्रातर्ऋतस्कविरित्यूहपाठः । ‡ स्वयशस्तरमित्यूहपाठः ।

ज्ञानरूपं सदाचाररूपं वायुष्यवर्धकं ब्रह्मचर्यं वा नोऽस्मभ्यमस्मान्वा आ गमय प्रापयेत्यर्थः। आ इत्युपसर्गबलाद्योग्यक्रियाध्याहारः। हे उपमाते उपममन्तिकमततीत्युपमातिः। संबुद्धौ रूपम्। व्यापकत्वादतिनिकटवर्तिन्नित्यर्थः। उपम इत्यन्तिकनाम (निघ० २। १६।११)। सुनीती सुनीत्या। विभक्तिव्यत्ययः। शोभनेन नयेन विनयेनाचरेण वा पुरुस्पृहं पुरुभिर्बहुभिश्चारुविचाराचारैर्मनुष्यैर्विद्वद्भिः स्पृहणीयं सुयशस्तरमतिशयितं यशश्च नोऽस्मभ्यं रास्व देहि ॥ ९ ॥

४४. यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा
†यन्त्वग्नये ॥ १० ॥ (ऋ. ८।१०३।६)

यो विश्वेति। सौभरिः काण्व ऋषिः।

यो होता सर्वेषां जीवानां प्रातिस्विकरूपेण कल्याणमापयितुमाह्वानकर्त्ता तृप्तिसमर्पको वा। मन्द्रः प्रहृष्टः सदा प्रसन्न आनन्दस्वरूपो जनानां जनेभ्यः परमेश्वरानुशासनानुशीलनशीलेभ्यो विश्वा विश्वानि सर्वाणि तैस्तैरपेक्षितानि वसु वसूनि धनानि शमदमोपरतितितिक्षामुमुक्षादीनि दयते दत्ते तस्मा अस्मै साक्षात्क्रियमाणायापरोक्षायाग्नये व्यापकाय परमात्मने प्रथमानि सर्वश्रेष्ठानि स्तोमाः स्तोत्राणि तान्येव पात्राणि रक्षकाणि। अथवा भक्तिरसपानपात्राणि। स्तोत्रद्वारेणैव प्रथमं भक्ताः परमानन्दानुभवामृतमाचामन्ति। प्र यन्ति प्रगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। तत्र दृष्टान्तमाह। मधोर्न जलस्येव, मध्विति जलनाम (निघ० १।१२।११)। अत्र पुंस्त्वं श्रौतम्। यथा गृहे समागतेभ्योऽतिथिभ्यो जलपात्राणि दीयन्ते तेषां

† यन्त्यग्नये इत्यृक्पाठः।

तृप्तये तथैव मनसा साक्षात्कृतस्यातएवानावृतस्य परमात्मनः स्तोत्ररूपाणि पयःपात्राणि समर्प्यन्ते। स्तोत्ररूपाणि पात्राण्युभयेषां भक्तानां भगवतश्चोपयोगीनि। स्तोत्रपात्रैरेव भक्ता रसस्वरूपं भगवन्तं रसं पाययन्ति स्वयं च पिबन्तीतितात्पर्यम् ॥ १० ॥

इति चतुर्थी दशतिः । इति चतुर्थः खण्डः ।



४५. एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य
दूतममृतम् ॥ १ ॥ (ऋ. ७।१६।१)

अस्यां दशत्यामष्टमस्य मन्त्रस्येन्द्रो देवताऽन्येषां चाग्निर्बृहती च च्छन्दः, प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः । एना व इति । अस्य मन्त्रस्य वसिष्ठो मैत्रावरुणिरृषिः ।

ऊर्जो बलस्य मानसिकस्य नपातं न पातयितारं रक्षकं प्रियं प्रियकरं हृद्यं वा चेतिष्ठमतिशयेन चेतनावन्तं चेतनाञ्चितस्वरूपं चैतन्यरूपं ज्ञानस्वरूपमरतिं सर्वव्यापकमखर्वशर्वगर्वं विनिपात्यामुद्रातन्द्रभद्रप्रदाता वा। ऋ गतिप्रापणयोः। स्वध्वरं दीनोद्धरणरूपसर्वप्रेष्ठश्रेष्ठकर्माणं विश्वस्य सर्वस्यामृतं जीवनदातारं दूतमखिलानर्गलखलबलोपतापकमग्निं परमगतिकं परमात्मानं वो युष्मभ्यं युष्मदर्थं हे मनुष्या अहमेना एनेन नमसा नमोवाचा आ हुवे आह्वयामि। तत्साक्षात्कारे युष्माकं साहाय्यं सम्पादयामीति वशिष्ठाशयः। शरणागतानां रक्षणशिक्षणविचक्षणैराचार्यचरणैः सततं सर्वत्र सन्ततं परमात्मानं प्रणत्याहूत्यार्जवविनिर्मित्यादिभिः परितः प्रसाद्य रक्षा वितन्यत इति भावः ॥ १ ॥

४६. शेषे वनेषु†मातृषु सन्त्वा मर्तास इन्धते।
अतन्द्रो‡हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु
राजसि ॥ २ ॥ (ऋ. ८।६०।१५)

शेष इति । भर्गः प्रागाथ ऋषिः ।

हे अग्ने सर्वव्यापक परमेश्वर त्वं वनेषु विद्वत्सु महात्मसु। वन्यन्ते सेव्यन्ते सर्वैरितिवनास्तेषु। वन संभक्तौ। मातृषु ज्ञान-प्रतानप्रतिरोधकाज्ञाननिवर्तकेषु। मिञ् प्रक्षेपणे। शेषे स्वपिषि निवससि। विवेकवैराग्यादिभिः शमदमादिभिश्च कामादीनाम-तिबलशालिनां बलं समूलकाषमुपकष्य निरञ्जनेषु भगवज्जनेषु भगवान् प्रकाशत इतिभावः। मर्तासो मनुष्यास्त्वा त्वां सम् इन्धते प्रकाशयन्ति ध्यानार्चनादिना कृपापरायणं कुर्वन्तीति-भावः। अनन्तविचेतनचेतनचेतनावनकर्मण्यनलसस्त्वं हविष्कृतो हृदयहव्यं प्रबले महानले त्वयि जुह्वतो ध्यातुरर्चयितुर्वा सन्तोषार्थं हव्यं देयं स्वदर्शनरूपं मोक्षं वहसि धारयसि। जगद्विभुवैभवबुभु-क्षाशुशुक्षणिज्वालामालाभिर्दन्दह्यमानानामात्मनामपरिमिता शान्तिः परमात्माधीनैवेति भावः। तत्कृपाकुञ्चिकयैव जीवोद्धारा-गारद्वारोद्घाट इत्याशय। आदित्सर्वदैव देवेषु विद्वत्सु भक्तेषु च दिव्यगुणगणविशिष्टेषु राजसि विराजसे। न तेभ्यस्त्वं दूर इति भावः। देवानामीशिष इति वा। राजतिरैश्वर्यकर्मेति-निघण्टुः (२।२१।४) ॥ २ ॥

४७. अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन्व्रतान्यादधुः।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं *नक्षन्तु
नो गिरः ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१०३।१)

† मात्रोरित्यृक्पाठः। ‡ हव्येत्यृक्पाठः। * नक्षन्त इत्यृक्पाठः।

अदर्शीति । सौभरिः काण्व ऋषिः ।

यस्मिन्परमात्मनि व्रतानि जपतपआदीनि मनुष्या आदधुरादधति तं गातुवित्तमः सत्तममार्गवित्तमो ज्ञान्यदर्शि पश्यति । कालादिव्यत्ययः । आर्यस्य ज्ञानिनः सु जातं सम्यक् प्रत्यक्षीभूतं वर्धनं ज्ञानचारित्रप्रदानादिनानन्दस्य वर्धयितारमग्निं सर्वनिगरणक्षमं परमात्मानं नोऽस्माकं गिरः स्तुतिवाचः प्रार्थनावाचो वा नक्षन्तूपगच्छन्तु । णक्ष गतौ । नक्षतिर्गतिकर्मा (निघ० २।१४।३१) । उ इत्यनर्थको निपातः ॥ ३ ॥

४८. अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे ।
ऋचा यामि मरुतो †ब्रह्मणस्पते ‡देवा अवो
वरेण्यम् ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।२७।१)

अग्निरुक्थ इति । मनुर्वैवस्वत ऋषिः ।

मनुः प्रार्थयते, बर्हिर्बर्हिष्यन्तरिक्षे हृदयाकाश उक्थ उक्थ्ये स्तुत्येऽध्वरे ब्रह्मध्यानामानयज्ञेऽग्निर्ज्योतिस्स्वरूपः परमात्मा पुरोहितो निहितः पुरस्तात्स्थापितः । हृदयसरोरुहे समारोपितः । ग्रावाण इन्द्रियाण्यपि पुरो हितानि । मा तानि कदाचनापुर्विषयविषविषाणीति विवेकविज्ञानचक्षुषः पुरः स्थापितानि । निर्वासनानि निर्विषयवसनानि चावसन्नगतीनि तानि विहितानीति भावः । घ्नन्ति धर्ममार्गमजितानीति ग्रावशब्देनेन्द्रियाणि गृहीतान्यत्र । हन् हिंसायाम् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (पा० ३।२।७५) इति क्वनिप् । पृषोदरादित्वाद्धातोर्ग्रादेशः । मरुतो हिरण्यस्याविद्यकावतमसहरणसमर्थस्य ज्ञानस्य । मरुदिति हिरण्यनाम (निघ० १।२।१३) । ब्रह्मणो ब्रह्मीभूतस्य

† ब्रह्मणस्पतिमित्यृक्पाठः । ‡ देवा इत्यृक्पाठः ।

स्थितप्रज्ञावस्थस्य चोपासकसमुदायस्य पते संरक्षक ऋचास्तोत्रेण देवा देवानामिन्द्रियाणां मा स्म क्लिश्नीमो वयं विषयगर्तापातेनेति वरेण्यं वरणीयं स्वीकरणीयमतिरमणीयमिति वा अवो रक्षणं यामि याचामि । यातिर्याच्ञाकर्मा (निघ० ३।१९।२) ।।४।।

४९. अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।
अग्निं राये पुरुमीड श्रुतं †नरोऽग्निः
सुदीतये छर्दिः ।। ५ ।। (ऋ. ८।७१।१४)

अग्निमीति । सुदीतिपुरुमीडावाङ्गिरसा ऋषिः ।

सुदीतिर्ऋषिः पुरुमीडमृषिं ब्रूते, हे पुरुमीड शीरशोचिषं शीराणि व्यापकानि शोचींषि तेजांसि यस्य तमग्निमिव प्रदीप्तिमन्तम् । शीरमित्यग्निनाम (निघ० ४।१।१७) अग्निं सर्वव्यापकपरमात्मानमवसे रक्षणाय ममेति शेषः । गाथाभिर्वाग्भिः स्तुतिरूपाभिः । गाथेति वाङ्नाम (निघ० १।११।३७) । ईडिष्व स्तुहि । किं च राये धनायापि मुक्तिरूपायाज्ञानविनाशकाय वा । रि हिंसायाम् । स्तुहि । श्रुतं विश्रुतं प्रख्यातमेनं परमात्मानं नरोन्येपि नरा नीतिमन्तो मनुष्याः स्तुवन्ति । सुदीतये परमक्षीणज्ञानमणिप्रभाय सुदीतिनामधेयाय मह्यं छर्दिर्गृहमाश्रयं प्रकाशं वा परमात्मानं याचस्व । छृदी सन्दीपने । उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः । पुरुमीडः सुदीतिश्चाभावस्य मन्त्रस्य ऋषी । पुरुमीडः पुरुमीढो वा विहितपरतत्त्वसाक्षात्कारः । सुदीतिश्च नवो ध्यानाश्वारोहः । मनसश्चाञ्चल्यान्न लभतेसौ सुस्थिरां स्थितिं परमात्मनि । ततोमुष्य कातर्येण पुरुज्ञं पुरुमीडं प्रतीयमुक्तिरिति विज्ञेयम् ।। ५ ।।

† नरोऽग्निमित्यृक्पाठः ।

५०. श्रुधि श्रुत्कर्णं वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः ।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा
प्रातर्यावभिरध्वरे ॥ ६ ॥ (ऋ. १।४४।१३)

श्रुधीति । प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः ।

हे श्रुत्कर्ण, अस्मत्प्रार्थनाकर्णनक्षमकर्णोपेताग्ने तेजस्विन्परमात्मञ्श्रुधि शृण्वस्मद्दीनवचनम् । किं तत् ? उच्यते । वह्निभिरितस्ततः प्रापकैर्मनस इति शेषः । सयावभिः सगतिभिश्चञ्चलैर्देवैरिन्द्रियैः सहार्यमा, आर्यं ईश्वरस्तं मातीति, ईश्वरे लग्नमित्यर्थः । अध्वरे हिंसासाधनीभूतरागादिविरहितम् । मित्रो मरणात्त्रायते य सः । तच्च मनः । परित्यज्ज परमात्मानं जगत्प्रवणता मृत्युरेव । परमात्मसंमुखीनं मन एवैतादृशान्मरणात् त्रातु समर्थम् । मित्र इत्यत्र अर्यमेत्यत्र च प्रथमा सप्तम्यर्थे । तथा चेश्वरलग्ने रागादिविरहिते मनसीत्यर्थः । तद्रूपे बर्हिष्यन्तरिक्षे मनोन्तरिक्ष इति भावः । सेन्द्रिये मनोन्तरिक्ष इति पिण्डितार्थः । प्रातर्यावभिः प्रकर्षेणातति गच्छतीति प्रातः परमात्मा तमुद्दिश्य यावानो गन्तारः परमेश्वरप्रवणा इत्यर्थः । प्रातर्यावाण इत्यत्र रेफश्छान्दसः । प्रथमार्थेतृतीया । आ आगत्य । उपसर्गवशात्क्रियालाभः । सीदन्तु तिष्ठन्तु । परमेश्वरप्रवणानां हृदये स्थितिस्तत्स्मृतिद्वारा । तत्सन्निधानफलं च तदाचारविचारचारुतास्मृतिसंचरितमनःपूतता । मनश्चञ्चलमिन्द्रियाण्यपि चञ्चलानि । अनुपयुक्तान्येव तेन ज्ञानयज्ञे भवितयज्ञे च । भगवद्भक्ततल्लजानां संतता हि भगवत्स्मृतिः शमयत्येव सर्वदुरितानि मनइन्द्रियचाञ्चल्यकारणानि । तेन भगवति भगवती

---

१ प्रातर्यावाणो अध्वरे इत्यृक्पाठः ।

भक्तिरपि निरन्तरा रमेतेतिभावः। मान्तर्धित परमात्मास्मत्तो भक्तेभ्यः कदाचिदिति सर्व एष प्रयासः ॥ ६ ॥

५१. प्र दैवो दासो अग्नि†र्देव इन्द्रो न मज्मना।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य
‡शर्मणि ॥ ७ ॥ (ऋ. ८ । १०३ । २)

प्र दैव इति। सौभरिः काण्व ऋषिः।

दैवः पारमेश्वरो दासः सेवको मज्मना बलेन परमात्मोपासनशक्त्या। मज्मन्निति बलनाम (निघ० २।९।२३)। मातरं जननीं पृथिवीं भूमिं भौमं निवासमित्यर्थः। अनु, मरणानन्तर विद्यमानदेहविलयानन्तरमितिभावः। पृथिवीं लोकं परित्यज्येत्यर्थः। प्र वि वावृते निवर्तते परमात्मधामानुगच्छति। कुतश्चित्स्थानाद्गत्वा कुत्रचित्पुनस्तत्रैव मूलस्थान आगमनं निवर्तनशब्दार्थः। मायया सितो जगति प्रसितो जीवात्मा प्रयत्नैर्मायां विनाश्य स्वरूपेणावस्थितो भवतीत्यर्थः। प्रवि वावृत इत्यस्य प्रवर्तत इति वार्थः। स्वरूपलाभायेति शेषः। ततश्च नाकस्य दुःखात्यन्ताभाववतो मोक्षलोकस्य शर्मणि परमानन्दे। नाकस्य शर्मणीत्यत्राभेदार्थिका षष्ठी राहोः शिर इतिवत्। तथा चानन्दस्वरूपे मोक्षलोके। इन्द्रः परमैश्वर्यविभूषितः परमानन्दस्वरूपोऽग्निर्न परमात्मेव तस्थौ तिष्ठति। अनेन मन्त्रेण "अग्निर्देवो न" इति वदता प्राप्तस्यापि परमानन्दस्वरूपतामुपासनया विगलितमायाबन्धस्य मुक्तस्य जीवस्य परमात्मसाम्यं प्रतिपाद्यते न तु ताद्रूप्यम्। तद्रूपता वा स्यात्तत्समता वा स्यात्, सर्वथा हि मुक्तौ सर्वदुःखात्यन्ताभावस्तु भवत्येव। वेदातिरिक्ताः के संविद्रते मुक्तौ जीवब्रह्मणोर्भेदस्तिष्ठत्यभेदो वेति। अधरी-

†—र्देवां अच्छा न इत्यृक्पाठः।   ‡ सानवि इत्यृक्पाठः।

कृतान्यमाना तत्त्वं जानाना चेयं विश्रुता श्रुतिस्तु भेदमेवाभिव्यनक्तीति ॥ ७ ॥

५२. अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो
पृण ॥ ८ ॥ (ऋ. ८ । १ । १८)

अध ज्म इति । मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ ऋषी ।

मेधातिथिर्मेध्यातिथिर्वोपदिशति शिष्यम्, हे इन्द्र मत्सान्निध्येनोपासितापादित परमेश्वर, अधाधुना ज्मः पृथिव्याः। ज्मेति पृथिवीनाम (निघ० १।१।३)। जनी प्रादुर्भावे। श्वन्नुक्षन् पूषन् प्लीहन् क्लेदन् स्नेहन् मूर्धन्मज्जन् विश्वप्सन् परिज्मन्० (उणा० १।१६५) इति सोपसर्गो निपातितो निरुपसर्गोपि वेदे प्रयुज्यतेयं शब्दः । यथात्र तथान्यत्रापि "ये के च ज्मा महिनो अहिमायाः" "अभिक्रत्वेन्द्रभूरध ज्मन्" इत्यादिषु। जायते वस्तुजातं यस्मात् । अध वाथवा। वेदे प्रायो धथयोरैक्यम् । दिवो द्युलोकादपि महोत्कृष्टं वृहतो बृहन्तं महान्तं रोचनाद्रोचनं प्रकाशं लोकमधि तिष्ठति । कः ? इष्टदेवता परमात्मा। उपसर्गवशाद्योग्यक्रियाध्याहारः वृहतो । रोचनादित्युभयत्र द्वितीयार्थे पञ्चमी व्यत्ययेन । तस्मिन्नेवानालोकावलोकिते लोके मोक्षाख्ये प्राप्तया गिरा स्तुतया अयानया तन्वानेन शरीरेणेत्यर्थः। हे मम जात प्रिय सुक्रतो शोभनात्मज्ञानसम्पन्न त्वं वर्धस्व पृण च सुखीभव। अयेतीदंशब्दनिर्देशो न वर्तमानां भौतिकीं तनुमुद्दिश्य किन्तूपदेशक्रमेण प्रकरणप्राप्तां बौद्धीं वा पारमेश्वरीं तनुमिति तु ध्येयम् । वस्तुतो न तस्य कश्चन विशिष्टो लोकः, स्वरूपमेव विशिष्टं प्रकाशमयं चिन्मयमिति । तदेव स्वरूपं त्वयमप्याप्यमित्युपदेशसारलवम् ॥ ८ ॥

५३. कायमानो वना त्वं यन्मातॄ रजगन्नपः।
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद्दूरे
सन्निहा† भुवः ॥ ९ ॥ (ऋ. ३।९।२)

कायमान इति। विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः।

वना वनं भक्तिः। वन संभक्तौ। संभक्तिः संविभागः। आराध्यमानया भवत्यापि परमात्मोपासको जगतः संविभागं भजत इति वनं भक्तिः। तां कायमानः कामयमानस्त्वं यन्मातॄर्विनाशकर्तॄणि। मीञ् हिंसायाम्। अपः कर्माणि। अप इति कर्मनाम (निघ० २।१।१।)। आप्लृ व्याप्तौ। आप्नुवन्ति हि कर्माणि तत्कर्तॄन्। अजगदगमः परमात्मभक्तिनिरन्तरधाराधरामधरीकृत्य यागरागभागभवस्तत्ते तव भक्तिमार्गान्निवर्तनमग्ने गतिशील जीवात्मन् न प्र मृषे न सहे। यद्यस्मादिह सन् परमात्मनि स्थितिं लभमानस्त्वमिदानीं दूरे अभुवस्तस्मात्पृथगभवः। सर्वाण्येव कर्माणि रागप्रयुक्तानि द्वेषप्रयुक्तानि वा। कर्मिणामवश्यं नाभावो भवति रागस्य द्वेषस्य वा। तत्कृतबन्धनं च दुर्निवारम्। तदेव नाशः। अतो भवभविभावविभक्तिमाश्रित्याविरतं जीवेन परमात्मनि निरतेनैव भवितव्यमिति विश्वामित्रमन्त्राक्षराशयः।

भक्तिमार्गस्य ज्ञानमार्गस्य वातिदुरूहतया स्वीकृत्यापि तं तस्मात्पराजयमानमधिगतापमानमधिकृत्य कञ्चन शिष्यं विश्वस्य मित्रभूतो विश्वामित्रो भर्त्सयति। अवश्यं हि कर्मनिबन्धनं बन्धनं दुरिन्धनं जीवायुषः। अहं ब्राह्मणोहं क्षत्त्रियोहं वैश्यः फलमेतत्फालयितुमेतत्कर्म करिष्य इति संकल्प्यासन्तमपि बलात्स्वस्मिन्निरर्थकं ब्राह्मणत्वादिधर्मं कल्पयतो जीवस्याविद्यावतो न स्यान्मुक्तिरमणीलाभ इति परमार्थः ॥ २ ॥

† भवः इत्यृक्पाठः।

५४. नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति
कृष्टयः ॥ १० ॥ (ऋ. १।३६।१९)

नि त्वामेति । कण्वो घौर ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन्, ज्योतिः प्रकाशरूपं त्वां मनुर्मननशीलो ज्ञानी भक्तो वा शश्वते बहवे जनाय मनुष्याय बहुभ्यो मनुष्येभ्यो-संख्यानां संख्यावतां तनुभृतां कल्याणायेतितात्पर्यम् । शश्वदिति बहुनाम (नि० ३।१।५) । त्वां नि दधे स्वहृदये स्थापयत्युपास्त इतिभावः । तमुपासीनं दृष्ट्वान्येपि बहवो जनास्तमनुसरन्त्यनुसरिष्यन्ति वेति भावः । कण्वे ऋषौ मेधाविनि वा । कण्व इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।७) । ऋतजात ऋतेन सत्यनिष्ठया परां काष्ठामधिष्ठितया जात उत्पन्नः प्रादुर्भूत उक्षितः स्तोत्रादिभिस्तर्पितश्च त्वं दीदेथ दीप्यसे । कृष्टयो मनुष्याः । कृष्टिरिति मनुष्यनाम (निघ० २।३।७) । कृषन्ति शमदमतितिक्षारक्षादिभिर्हृदयक्षेत्ररोहणसमर्थं परमात्मानं कुर्वन्तीति । यं त्वां नमस्यन्ति नमस्कुर्वन्ति ॥ १० ॥

इति पञ्चमी दशतिः । इति पञ्चमः खण्डः

इति प्रथमस्य प्रपाठकस्य प्रथमोर्धः प्रपाठकः



अथ प्रथमस्य प्रपाठकस्य द्वितियोर्धः प्रपाठकः

५५. देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां† विवष्ट्वासिचम् ।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव
ओहते ॥ १ ॥ (ऋ ७।१६।११)

† विवष्ट्यासिचम् इत्यृक्पाठः ।

अस्यां दशत्यां द्वितीयस्य मन्त्रस्य ब्रह्मणस्पतिस्तृतीयस्य च यूपो देवता, अन्येषां चाग्निः। बृहती च च्छन्दः। प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः। देवो व इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः।

द्रविणोदा ज्ञानरूपस्य बलस्य धनस्य वा प्रदाता। द्रविण बल-नामसु धननामसु च (निघ० १०।९।२६; १०।९।२५)। देवो द्योतन-शीलश्चिद्रूपोग्निः परमात्मा वो युष्माकं पूर्णां विशुद्धा मासिचं हृदय-तन्त्रीम्। आसिच्यते भगवद्भक्तिर्यस्याम्। विवष्टु कामयतामिति शिष्येभ्यो वसिष्ठस्याशीर्वचनम्। परमात्मना कामयिष्यमाणां कामितां वा ताम् उत्सिञ्चध्वमुपसिञ्चत भक्तिरसेनोपपृणध्वमुपपिपूर्तं वा परमात्मज्ञानेन। आदित्तदनन्तरमेव स देवो द्योतमानः स्वौजसा वो युष्मान्परमात्मोपासकान्निरासकांश्च हृदयप्रदेशात्कामक्रोधादीनां विकाराणामोहते स्वदेशं सर्वविकाररहितममन्दानन्दमण्डितं प्राप-यिष्यति। तत्स्वरूपमेव तस्य स्वदेशः। अयमाशयः—भक्तिरसपरवशं हृदयं परमेश्वरः सदा कामयते। भक्तिश्च ज्ञानमेव। तच्च द्विविध-महं तवेत्यहमेव त्वमिति च। अहं तवेति प्रथमा भूमिका। अहमेव त्वमिति द्वितीया भूमिका। युष्मदस्मत्प्रत्ययविगमस्तृतीया भूमिका। उपास्योपासकभावाप्रतिभासिता हि सिता मतिमतां मता मतिस्तृ-तीयां भूमिकां स्पृशत्यपि भक्तिरेव भवति। तज्जन्यमपि तत्त्वेनो-च्यते। मनसो जातः क्रोधोपि मन इतिवत्। प्रेम्णः परा काष्ठा हि भक्तिः। सामान्येपि प्रेमणि भेदापगमो दृश्यते किमुत तर्हि परां काष्ठां स्पृशति तस्मिंस्तस्मिन्परमात्मनि लब्धजीविते ॥ १ ॥

५६. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं
नयन्तु नः ॥ २ ॥ (ऋ. १।४०।३)

प्रैत्विति। कण्वो घौर ऋषिः।

ब्रह्मणस्पतिर्वेदपतिर्ज्ञानपतिर्वा परमात्मा नोऽस्माकं यज्ञमुत्कृष्टमनुष्ठानं भक्तिरूपं ज्ञानरूपं वा प्रैतु प्राप्नोतु। सूनृता प्रिया सत्या च वाग्देवी दिव्या एतु प्राप्नोतु। कीदृशी वाक् ? उषा सर्वाज्ञानकक्षदग्ध्री। उष दाहे। सत्ये नियता हि संयता वाग्दहत्येव सर्वाण्येनांस्येधांस्यनल इव। किं च नर्यं नरहितसन्धायकं पङ्क्तिराधसं पङ्क्तिर्ज्ञानमुद्रा। पचि व्यक्तीकरणे। ज्ञानमुद्रया हि परमात्मा व्यक्तीक्रियते। ज्ञानमुद्रा तु ज्ञानमेव। तच्च ज्ञानं विवेकजन्यमेव। तस्याः पङ्क्तेर्ज्ञानमुद्राया राधसं साधकम्। राध संसिद्धौ। वीरमविद्यावारकं रागद्वेषादिशत्रुशातनसमर्थमाचार्यं च अच्छास्मदभिमुखमस्मत्समीप इति भावः। देवाः कृपाद्योतनशीला नयन्तु प्रापयन्तु। वीरो वीरयत्यमित्त्रानन्वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणो वीरयतेर्वेतियास्कः (निरु० १।७।१)। अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः, (अभिमुखो भावे-इत्यर्थः (निरु० ५।२८।२) ॥ २ ॥

५७. ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ ३ ॥ (ऋ. १।३६।१३)

ऊर्ध्व इति। कण्वो घौर ऋषिः।

हे यूप। यु मिश्रणामिश्रणयोः। ये त्वयि युवन्ति मिश्रिता भवन्ति परया भक्त्या लीना भवन्ति ये चामिश्रिता एव तिष्ठन्ति तवास्मीतिभेदोपासनया निरता भवन्ति तानुभयान्पाति रक्षतीति यूपः परमात्मा तत्सम्बुद्धौ हे यूप सर्वरक्षक परमेश्वर सविता देवो न सूर्यदेव इव नोऽस्माकमूतये रक्षायै उ सु ऊर्ध्वस्तिष्ठ सर्वथोद्यतो भव। ऊर्ध्व उद्यतः सन् रक्ष्यरक्षणपरायणो भवन् वाजस्य बलस्यात्मबलस्य। वाज इति बलनाम (निघ० २।९।२) सनिता दाता भव। सूर्यपक्षे वाजस्यान्नस्येत्यर्थः। वाज इत्यन्ननाम (निघ०

२।७।२)। यथास्माकमूतये भूतये च दिवाकरः सर्वदोद्यतस्तिष्ठति तथैव त्वमस्मभ्यमात्मबलप्रदानायोद्यतो भवेति प्रार्थना यद्यस्मादेव हेतोरात्मिकबलहेतोरेव वयमञ्जिभिः पवित्रैः। अञ्जू व्यक्तिम्रक्षण-कान्तिगतिषु। वाघद्भिर्विद्वद्भिः सह। वाघदिति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।२४)। निर्वहन्ति सदाचारं निवहन्ति वा परमात्मानं हृदयेन। वि ह्वयामहे विशेषेणाह्वयामस्त्वामितिशेषः ॥ ३ ॥

५८. प्र†यो राये‡ निनीषति मर्तो यस्ते वसो दाशत्।
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना
सहस्रपोषिणम् ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।१०३।४)

प्र य इति। सौभरिः काण्व ऋषिः।

हे वसो सर्वेषां चेतनानां वासयितः परमेश्वर मर्तो मनुष्यो राये धनाय त्वद्दर्शनलक्षणमहाधनावाप्तये त्वां स्वहृदयं प्र निनीषति स्व-हृदयमन्दिरं चारुतराचारमन्दिरं प्रकर्षेण नेतुमिच्छति। यश्च ते तुभ्यं दाशद्ददाति स्वं स भक्तिभूषाभूषितान्तःकरणो हे अग्ने सर्वव्या-पक प्रकाशस्वरूप वा त्मनात्मना सहस्रपोषिणं परस्सहस्राणां प्राणिनां कल्याणकर्तारमुक्थशंसिनं स्तोत्रैः स्तुतं वीरममित्रमर्दनं कामादिमद-निषूदनं त्वां धत्ते दधाति। अयमाशयः। यो विरक्तसमस्ताविद्ये पर-मात्मनि स्वात्मसमर्पिपयिषया स्वाश्रितदुरुद्धरदोषोदरदिधक्षया च हृदयं तं निनीषति तस्मै प्रसन्नः परमात्मात्मदर्शनं प्रयच्छतीति ॥४॥

५९. प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभि* र्वृणीमहे यं§समिदन्य
इन्धते ॥ ५ ॥ (ऋ. १।३६।१)

---

† यमित्यृक्पाठः। ‡ निनीषसीत्यृक्पाठः।
* भिरीमहे इत्यृक्पाठः। § सीमिदन्य ईडते इत्यृक्पाठः।

प्र व इति । कण्वो घौर ऋषिः ।

देवयतीनां देवानात्मन इच्छन्तीनामिच्छतां पुरूणां बहूनाम् । पुरु इति बहुनाम (निघ० ३।१।३) । विशां मनुष्याणाम् । विश इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।५) । वो युष्माकं कल्याणाय यह्वं महान्तम् । यह्व इति महन्नाम (निघ० २।३।१३) । यजतेर्वन् प्रत्ययः । जकारस्य हकारः । यजति ददाति ज्ञानसदाचारादिकमिति यह्वः । यह्व इति महतो नामधेयम् । यातश्च हूतश्च भवति (निरु० ८।८) इति निरुक्तदिशा द्विधातुजत्वमस्य । अग्निं सर्वखर्वाखर्व-पदार्थव्यापनशीलं परमात्मानं सूक्तेभिः सूक्तैः सुष्ठूक्तैर्वचोभिः स्तोत्ररूपैः प्रवृणीमहे प्रकर्षेण कामयामहे । यमग्निं परमात्मानमन्य इत् अन्ये जना अपि सम् इन्धते सन्दीपयन्ति सम्यगुपासत इति भावः । परमात्मनि वाङ्मनसाभ्यां निरतान्मनुष्यानुद्दिश्य मन्त्रद्रष्टुः कण्वस्योक्तिरियम् ॥ ५ ॥

६०. अयमग्निःसुवीर्यस्येशे† हि सौभगस्य ।
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्र-
हथानाम् ॥ ६ ॥ (ऋ० ३।१६।१)

अयमग्निरिति । उत्कील: कात्य ऋषिः ।

अयं सर्वत्रानुभूयमानो ज्ञानिभिः परमैकान्तिभिर्भक्तैश्चाग्निः प्रकाशस्वरूपः परमात्मा । हिरिति निश्चये । सुवीर्यस्य महाबलस्य सर्वमतिक्रम्यावतिष्ठमानस्य सौभाग्यस्य सुभगत्वस्य परमात्मसायुज्य-स्येशे ईष्टे स्वामी भवति । तत्स्वामिकमेव मोक्षमन्दिरम् । तदनुकम्प-यैव विदेहगेहावाप्तिरिति तत्र तत्स्वामित्वप्रतिपादनं नापादयत्यनौ-चित्यम् । किंच, गोमतो विद्यायुक्तस्य । गौरिति वाङ्नाम (निघ०

† महः इत्युक्पाठः ।

१।११।४)। विद्यैव वागित्युच्यते। स्वपत्यस्य नितरामपतनशील-स्यात्यक्तमर्यादस्य रायो धनस्य भक्तिज्ञानरूपस्य सर्वपापक्षयस्य वा। रीङ् क्षये। ईशे स ईष्टे। किं च वृत्रहथानां पापहननानां पाप-प्रणाशानामपि स ईष्टे। तत्कृपयैव सौभाग्यं विद्यावदपत्यं सर्वपापा-पक्षयं वा जीवः समवाप्नोतीति भावः ॥ ६ ॥

६१. त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे।
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि† यासि च
वार्यम् ॥ ७ ॥ (ऋ. ७।१६।५)

त्वमग्न इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः।

हे अग्ने परमात्मंस्त्वं नोस्माकं गृहपतिर्हृदयमन्दिराधिपतिरसि। अध्वरे हिंसाशून्ये भक्तियोगे च त्वमेव होतासि नेतासि। हे विश्व-वार सर्ववरणीय त्वमेव पोता पावयितासि। प्रचेताः प्रकृष्टज्ञानोसि। यक्षि यजास्मान्याजय कल्याणवर्त्मनि प्रेरयेति भावः। वार्यं वरणीयं भक्तं ज्ञानिनं वा यासि च प्राप्नोषि च ॥ ७ ॥

६२. सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये।
अपां नपातं सुभगं‡ सुदंससं सुप्र-
तूर्तिमनेहसम् ॥ ८ ॥ (ऋ. ३।९।१)

सखायस्त्वेति। विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः।

हे परमात्मन्, अजरत्वेनामरत्वेन चेतनत्वेन च सखायः समान-धर्माणो वयं मर्तासो मनुष्यास्त्वा त्वां देवं दिव्यगुणमूतय आत्मरक्ष-णाय ववृमहे स्वीकुर्मः। किंभूतं त्वाम्? अपामरक्षितानां नपातं न पातयितारं शोभनेनैश्वर्येण युक्तं सुदंससं पवित्रज्ञानदानदातारं

† वेषीत्यृक्पाठः। ‡ सुदीदितिमित्यृक्पाठः।

सुप्रतूर्तिं जगज्जलनिधितरणप्रकृष्टसाधनमनेहसं पातकशून्यं पवित्रम् ॥ ८ ॥

इति षष्ठी दशतिः । इति षष्ठः खण्डः



६३. आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं
दधिध्वम् । इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता
यजतं पस्त्यानाम् ॥ १ ॥ (ऋग्वेदे नास्ति ।)

अस्यां दशत्यां देवता सर्वेषामग्निः । प्रतिमन्त्रमृषिं छन्दश्च निर्देक्ष्यामः । आ जुहोतेति । श्यावाश्वो वामदेवो†वा ऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः ।

मन्त्रर्षिरुपदिशति । हे मानवा यूयं होतारं सर्वद्रविणप्रदातारं परमात्मानं हविषा तत्प्रसादनसाधनीभूतपवित्रमनसा आ जुहोत प्रसादयत मर्जयध्वं शोधयध्वं मृडयध्वं च वा । गृहपतिं गृह्यते निगृह्यते स्थाप्यते परमात्मा यस्मिंस्तद्गृहं हृदयम् । तस्य पतिं हृदयस्वामिनं तं नि दधिध्वमन्तःकरणरूपे गृहे नितरां धारयध्वम् । रातहव्यं रातं दत्तं हव्यमन्तःकरणादि यस्मै तं यजतं यजनीयं पूज्यं च परमेश्वरं पस्त्यानां गृहाणामिडस्पदे स्तुत्यस्थाने नमसा नमस्कारवचनैः स्तोत्रैः सपर्यता पूजयत । पस्त्यं गृहम् (निघ० ३।४।६) । पसि नाशने । पंसयति पंस्यति वा । शरीरमेव सर्वाञ्जीवान्स्वस्मिन्नियोज्य परमात्मविमुखान्कृत्वा नाशयति । पततेर्वा । पतन्ति कर्मविवशा यस्मिन् । कर्माधीना हि शरीरसम्पत्तिः ॥ १ ॥

६४. चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो
मातराव‡ न्वेति धातवे । अनूधा यद*जीजन-

† श्यावाश्ववामदेवा ऋषी इति अजमेरीयपुस्तकपाठः ।
‡ वप्यंतीत्यृक्पाठः । * दि इत्यृक्पाठः ।

दधा चि†दा ववक्ष‡त्सद्यो महि दूत्यां३
चरन् ॥ २ ॥ (ऋ. १०।११५।१)

चित्र इति । उपस्तुतो वार्ष्टिहव्य ऋषिः । जगती छन्दः ।

यः परमात्मा शिशोः स्तनन्धयस्य तरुणस्य यूनश्च वक्षथो नाशकः । वक्षतेः संघातार्थकाद् रोषार्थकत्वाद्वा अथ प्रत्ययः । वक्ष रोषे संघात इत्येक इति धातुसूत्रम् । शिशोस्तरुणस्य चेत्युक्ते शैशवं तारुण्यं च विवक्षिते । शैशवं नाशयति तारुण्यं च । ते द्वे यस्य न स्त इतिभावः । यो धातवे रक्षायै । डुधाञ् धारणपोषणयोः । मातरौ मातापितरौ नान्वेति नानुगच्छति । यस्य मातापितरौ न स्त इतिभावः । अनूधा अनूढः सन्नथवाक्लिन्नः सन् यद्योजीजनत्सर्वाः प्रजाः । प्रादुर्भूतोपि विविधैश्चराचररूपैर्न स कयाचिद्गर्भं उह्यते न वा स क्लिद्यते । अधा चिदथापि आ ववक्षदावहति सर्वं जगदित्याशयः । किं कुर्वन् ? सद्योविलम्बेन महि महद्दूत्यं दौत्यमुपतापं शत्रूणां कामादीनां दुर्जनानां च चरन्सम्पादयन् । एतादृशं स कर्म करोत्यतश्चित्र इत् चित्र एवाश्चर्यप्रद एव ॥ २ ॥

६५. इदं त एकं पर*उ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा
सं विशस्व । संवेशन§स्तन्वे३ चारुरेधि प्रियो
देवानां परमे जनित्रे ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।५६।१)

इदं त इति । बृहदुक्थो वामदेव्य ऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः ।

हे अग्ने परमेश्वर, इदं दृश्यमानं जगत्ते तवैक शरीरम् । परो जडाद्भिन्नं चेतनं जीवाख्यं ते तवैकं द्वितीयमित्यर्थः शरीरम् । तृतीयं तव शरीरं ज्योतिस्स्वरूपम् । तेन ज्योतिषा प्रकाशस्वरूपेण

† च नु इत्यृक्पाठः । ‡ वपक्ष स···· ।
* 'ऊ' इत्यृक्पाठः । § ने तन्वे इत्यृक्पाठः ।

तृतीयेन शरीरेण चेतनाचेतने उभे शरीरे सं विशस्व प्रविश । अयमेव वैदिकः सिद्धान्तो विशिष्टाद्वैतवेदान्तिभिः स्वीक्रियते । तन्वे तन्वां जीवरूपायाम् । सप्तम्यर्थे चतुर्थी । संवेशनः सम्यग्वेशनं प्रवेशनं यस्य स त्वं चारुः सुन्दर एधि भव । सर्वं प्रविष्टोपि परमात्मा यदा श्रद्धयानन्यया च भक्त्या जीवेनोपासितः प्रवेशपदवीं लभते तदा जीवसौन्दर्यं समृद्धिं तनुते । जीवसौन्दर्येण च परमात्मापि सौन्दर्यवानिव प्रतिभासते तदुपासकस्य जीवस्यैव नान्यस्य । किंच परमे महति जनित्रे परमानन्दोत्पादके लोके मोक्षलोक इत्यर्थः । देवानां विदुषां भक्तानां ज्ञानिनां वा प्रियो भव । सिद्धानुवादोयम् । तदुपासनेन परंधामाधिगतानां स प्रियो भवत्येव ॥ ३ ॥

६६. इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा
मनीषया । भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने
सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ ४ ॥ (ऋ. १।९४।१)

इममिति । कुत्स आङ्गिरस ऋषिः ।

अर्हते पूज्याय जातवेदसे सर्वज्ञाय परमात्मने मनीषया विशुद्धबुद्ध्येमं स्तोमं स्तोत्रं रथमिव यथा रथकारो रथं संस्करोति तथा सं महेम संस्कुर्मः । प्रेम्णैकनिष्ठया च स्तोत्रपाठ एव स्तोत्रसंस्कारः । तस्य फलमाह—अस्योपासकस्य संसदि संसर्गे नोस्माकं हि खलु भद्रा कल्याणकारिणी प्रमतिः प्रकृष्टा मतिः स्यात् । हे अग्ने प्रकाशस्वरूप तव संसर्गे वयं मा रिषाम न नश्याम । पारमेश्वरं संसर्गमनुशीलयन्तो नानुभवन्ति विनाशं जरामृत्युकृतक्लेशवैषादिकमितिभावः ॥४॥

६७. मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ
जातमग्निम् । कविं सम्राजमतिथिं जनाना-
मासान्नः† पात्रं जनयन्त देवाः ॥ ५ ॥ (ऋ. ६।७।१)

† "ऋत" इत्यपपाठः ।

मूर्धानमिति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः ।

दिवो द्युलोकस्य मूर्धानं ततोऽप्युपरिस्थितमिति भावः । पृथिव्या अरतिं गतिम् । ऋते सत्ये हृदये जातं सर्वथा जनिष्यमाणम् प्रकटीभविष्यन्तं प्रकटीभवन्तं वा कविं क्रान्तदर्शिनम् । जनानां सम्राजं स्वामिनं दीप्तिप्रदं वा । अतिथिं सर्वत्र गतं व्यापकम् । आसन् आसनि आस्ये । आस्यं मुखं श्रेष्ठम् । पात्रं लोकरक्षकम् । वैश्वानरं सर्वजनहितैषिणम् । अग्निं परमात्मानं देवा विशुद्धान्तःकरणा जना आ जनयन्त हृदय उत्पादितवन्त उत्पादयन्ति ॥ ५ ॥

६८. †वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः ।
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्ववाहो
जिग्युरश्वाः ॥ ६ ॥   (ऋ. ६।२४।६)

वि त्वदाप इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

हे अग्ने परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्, त्वत्त्वत्त उक्थेभिरुक्थैः स्तोत्रवचनैः पर्वतस्य पृष्ठादापो नाप इव देवा ज्ञानिनो विविधान्पदार्थान् मोक्षं च वि जनयन्त विशेषेण जनयन्ति । त्वदुपासनया जनाः सत्कर्माणो भवन्तीत्याशयः । किं च हे गिर्ववाह गीर्भिः स्तुतिरूपाभिर्वहनीयाहवनीय प्रापणीय परमेश्वर तं त्वा त्वां वाजयन्ति बलयुक्तं कुर्वन्ति सुष्टुतयः शोभनाः स्तुतयो यासु ता गिरः । किंच, ता एव गिरस्त्वा जिग्युर्जयन्ति । अश्वा आजिं न, यथा अश्वा युद्धं जयन्ति तद्वत् । निर्धारण उः ॥ ६ ॥

६९. आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः ।

---

† वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरिन्द्रानयन्त यज्ञैः । तं त्वाभिः सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आजिं न जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः ॥ इत्यृक्पाठः ।

अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥ ७ ॥ (ऋ. ४।३।१)

आ व इति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

हे मनुष्याः, तनयित्नोः स्तनयित्नोर्विद्युत इवाकस्मादागन्तुकादचित्तान्मरणात्पुरा प्राग् वो यूयम् । विभक्तिव्यत्ययः । अध्वरस्य भक्तिरूपस्य हिंसाविरहिताचारस्य राजानं दीपयितारं रुद्रमुपदेष्टारं श्रुत्युपदेशेनेतिभावः । होतारं सर्वापेक्षितपूरयितारं सत्ययजं सत्येन व याज्यं सेव्यं रोदस्योः पृथिव्याकाशयोर्वर्तमानं सर्वव्यापकमितिभावः । हिरण्यरूपं प्रकाशस्वरूपमग्निं परमात्मानमवसे रक्षणाय कृणुध्वं सम्पादयध्वम् । मृत्योः पूर्वं तथा कुरुत येन परमात्मा जन्ममरणरूपमहादुःखाद्रक्षणायोन्मुखो भवेदित्याशयः ॥ ७ ॥

७०. इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन । नरो हव्येभिरीडते सबाध आग्निरग्र†मुषसामशोचि ॥ ८ ॥

(ऋ. ७।८।१)

इन्ध इति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

राजा दीप्तिमानर्यः स्वामी नमोभिर्नमस्कारवचनैः सम् इन्धे समिध्यते संवर्ध्यते पूज्यते । यस्य प्रतीकं प्रतीतिर्घृतेन द्रुतेन दीप्तेन ज्ञानाग्निना प्रकाशितेनाहुतमाहूतोपस्थापिता भवति । घृ सेचने (भ्वा०) घृ क्षरणदीप्त्योः (जुहो०) घृ प्रस्रवणे । स्रावण इत्येके (चुरा०) । सबाधः सबलो ज्ञानबलान्वितः । बाध इति बलनाम (निघ० २।९।८) । नरो मनुष्यो हव्येभिर्हव्यैर्जपतपआदिभिस्तमीडते ईट्टे स्तवीति । उषसामग्रे प्रातःकाले सोऽग्निः परमात्मा आ

† उषसा इत्यृक्पाठः ।

अशोचि समन्ताद्दीप्यते। प्रायेण प्रातःकाले सर्वे ध्यानादिद्वारा परमात्मानं दीपयन्ति ॥ ८ ॥

७१. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।
दिश्चिदन्ताँउपमाँ उदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ९ ॥
(ऋ. १०।८।१)

प्र केतुनेति। त्रिशिरास्त्वाष्ट्र ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः।

वृषभस्तर्पकः सर्वेषामिच्छापूरकोग्निर्व्यापकः परमात्मा बृहता महता केतुना प्रज्ञानेन। केतुरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९।२)। रोदसी द्यावापृथिव्यौ। प्र याति प्रकर्षेण गच्छति व्याप्नोतीत्यर्थः। आ रोरवीति च, सम्यक् सर्वानुपदिशति च। रु शब्दे। शब्दश्चोपदेशोत्र। न केवलं द्यावा पृथिव्या एव व्याप्नोति किन्तु दिवश्चिद् द्युलोकस्यापि अन्तान्बहिः-प्रदेशानुपमान्समीपांश्च प्रदेशान्। उपम इत्यन्तिकनाम (निघ० २।१६।११) अप्युदानडुत्कर्षेणाश्नुते। महिषो महान् पूजनीयो वा। महिष इति महन्नाम (निघ० ३।३।८)। स परमात्मापामपसां कर्मणां भक्तानामुपस्थे समीपे ववर्ध वर्धते च ॥ ९ ॥

७२. अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं† जनय* त प्रशस्तम्। दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् ॥ (ऋ. ७।१।१)

अग्निं नर इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः। त्रिपाद् विराड् गायत्री छन्दः।

नरो नेतारो मनुष्या अरण्योर्भक्तिज्ञानयोः। ऋच्छति गच्छति प्राप्नोति परमात्मानं याभ्यां ते। अर्पयतः प्रापयतः परमात्मानं

---

† ती इत्यृक्पाठः। * न्त इत्यृक्पाठः।

जीवानितिवा । ऋ गतिप्रापणयोः हृस्तच्च्युतं हृसत्यनेनेति हृस्तो मुखं तस्माच्च्युतं निर्गतमिव प्रशस्तं पुरुषोत्तमं दूरे दृशं भूतं भविष्यदपि जानन्तं गृहपतिं मनःस्वामिनम् गृह्णाति सर्वान्संस्कारानिति गृहं मनः । अथर्युं सततातनवन्तं सततगमनवन्तं व्यापकम् । अत सातत्यगमने । युस् प्रत्ययः । धातोरथरादेशः । प्रत्ययसकार इत्संज्ञकः । अग्निं परमात्मानं दीधितिभिर्दीप्तिभिर्भक्तिभिर्ज्ञानेन वा जनयत हृदये जनयन्ति प्रादुर्भावयन्ति गृहपतिमथव्युमितिपाठेऽपि स एवार्थः । अथवाथव्युर्मविनाशिनम् । हिंसार्थकथुर्वीधातोर्निष्पादनीयः सः ॥ १० ॥

इति सप्तमी दशतिः । इति सप्तमः खण्डः



७३. अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः†सस्रते नाकमच्छ ॥ १ ॥ (ऋ. ५।१।१)

अस्यां दशत्यां तृतीयस्य मन्त्रस्य पूषा देवता । अन्येषां चाग्निः । त्रिष्टुप् छन्दः । प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः । अबोध्येति । बुधगविष्ठिरावात्रेयौ ऋषी ।

जनानामुपासकानां समिधा भक्त्या । समिध्यते प्रदीप्यते मनसः पावित्र्येणेति समित् । अग्निस्वरूपः परमात्माबोधि बोध्यते । तत्र दृष्टान्तः । आयतीमागच्छन्तीमुषासमुषसं प्रति उषःकाल इतिभावः । धेनुमिव, यथा दुग्धकामा प्रातर्धेनुं बोधयन्ति तद्वत् । प्रबुद्धस्य प्रसन्नस्य परमात्मनो भानवस्तेजांसि । भा दीप्तौ । नाकं सुखमच्छाभिमुख्येन प्र सस्रते प्रसारयन्ति । क इव ? वयां शाखां

† सिस्रते इत्यक्पाठः ।

पत्रपुष्पादिसहिताम् । "वयाः शाखाः । वेतेर्वातायना भवन्ति" इतिनिरुक्तम् (१।४) । प्र उज्जिहानाः प्रकर्षेण प्राप्नुवन्तः शाखाभिर्वर्तमाना इत्यर्थः । यद्वा महान्तः । यह्व इति महन्नाम (निघ० ३।३।१३) । सामर्थ्याद्वृक्षा इत्यध्याहृतव्यम् । नाकं सुखं प्रसादयन्ति यथा तथा । यथोपसि दुधुक्षया केचिद्धेनुं प्रत्नोथयन्ति प्रसादयन्ति तद्रुचिकरहरिततृणादिप्रदानेन तथैवोपासका विशुद्धयानन्यया भक्त्या परमात्मानं प्रसादयन्ति तं दिदृक्षमाणाः । यथा शाखिनः शाखाभिश्छायासमर्पणेनाश्रितान्सुखयन्ति तथैव भगवद्भक्तान्भगवतो भानव इति संकलितार्थः ॥ १ ॥

५४. प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां† मूरैरमूरं पुरांदर्माणम् ।
‡नयन्तं गीर्भिर्वना धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा
धनार्चिम् ॥ २ ॥ (ऋ. १०।४६।५)

प्र भूरिति । वत्सप्रिर्भालन्दन ऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः ।

जयन्तं जयनशीलं महान्तं विभुं विपोधाम् । विपानां मेधाविनां धातारम् । विप इति मेधाविनाम् (निघ० ३।१५।१४) । मूरैर्मूढैर्मरणशीलैर्वा सह वर्तमानमपि स्वयममूरममूढममरणधर्माणं पुरां शुभाशुभकर्मणां दर्माणं दारयितारं नयन्तं कल्याणिनं पन्थानं सर्वाञ्जीवान् प्रेरयितारं गीर्भिर्वाग्भिर्वेदोपदेशैर्हरिश्मश्रु हरि हारिणी श्मश्रु दया यस्य तम् । श्म शरीरं तत्र श्रिता भवति दयेति श्मश्रुशब्देनेह कृपैवोच्यते । काचन मानसी वृत्तिर्दया भवति । मनस्तु शरीरान्तर्गत एव ज्ञानयन्त्रविशेषः । यद्यपि नास्ति परमात्मनो लौकिकं शरीरं तथाप्युपासकैः कल्पितमस्त्येव तत् । अथवा शरीर-

† मूरा अमूरइत्यृक्पाठः । ‡ नयन्तो गर्भं वनां धियं धुर्हरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चमित्यृक्पाठः ।

शब्देन कृपाश्रयो ग्रहीतव्यः। स च परमात्मैव। परमात्मरूपाश्रये सा श्रिता भवत्येवेति न विशयः कर्तव्यः। धनाय धन्वनाय प्रीणनार्याचिरर्चा पूजा ध्यानरूपा यस्य तम्। प्र भूः प्रभव समर्थो भवानुकूलयितुमितिशेषः। नेति चकारार्थकः। वमणा रक्षकेण ज्ञानेन सह वनां वननीयां स्तुत्यां धियं धा बुद्धिं धेहि तस्मिन्स्थापयानय वा ॥ २ ॥

७५. शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
विश्वा हि माया अवसि†स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह
रातिरस्तु ॥ (ऋ. ६।५८।१)

शुक्रं त इति। भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः।

हे परमात्मन्, त्वं विषुरूपे भिन्नरूपयोरहनी अह्नोर्द्यौरिवाकाश इवासि। अहनी इति द्विवचनेन रात्रिर्गृहीता वेदितव्या। विभक्तिव्यत्ययः। न जहाति प्रकाशमिति यथाहर्दिनं तथैव न जहाति प्रकाशं शान्तिं चातो सन्निरप्यहः। यथा दिवा नक्तं चाकाश एकोपि भिन्नस्वरूपो भवति तथैव ते शुक्रं प्रकाशरूपं ज्योतिस्स्वरूपं रूपमन्यद्यजतं यजनीयं च ते रूपमन्यत्। निष्कलोपि त्वमुपासकैः सकलः कल्प्यस इति भावः। हे स्वधावः स्वधावन् स्वकीयानां भक्तानां धारक परमात्मंस्त्वं विश्वाः सर्वा मायाः प्रज्ञाः। मायेति प्रज्ञानाम् (निघ० ३।९।९)। त्वत्प्रवणाः प्रज्ञास्त्वमवसि रक्षसि। हे पूषन् पोषणकर्तः स्वामिन्, भद्रा कल्याणी ते तव रातिः प्रज्ञादानं सद्बुद्धिप्रदानमस्तु भवतु। सर्वदैव त्वया भक्तप्रज्ञा देयेतिभावः ॥ ३ ॥

† स्वधावो इत्यृक्पाठः।

७६. इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे
॥ ४ ॥ (ऋ. ३।६।११)

इडामग्न इति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन्, हवमानाय हवमानेभ्यो जुह्वानेभ्य आत्मसमर्पणं कुर्वद्भ्योस्मभ्यं पुरुदंसं पुरुदंसाम् । लिङ्गव्यत्ययः । पुरुभ्यो बहुभ्यः पापेभ्यो दंसयति मोक्षयतीति पुरुदंसा ताम् । पापेभ्यो दुःखेभ्यो वा मुक्तिप्रदात्रीं गो रश्मेः सनिं रातिं दानमिति भावः । शश्वत्तमं नित्यं साध साधय देहि । तथाभूतं प्रकाशप्रदानं कुरु येन नः पापविध्वंसनं स्यात् । तथा इडां वाचं ज्ञानमिति भावः । देहि । हे अग्ने, तनयो विस्तृता । वचनव्यत्ययः । सूनुः सम्यक् स्तुतिः । पृषोदरादिः । विजावा विशेषेण जायते तथाभूता स्याद्भूवेदित्याशंसा । अस्मे अस्मासु सा ते तव सुमतिराशीर्वादो भूतु भवतु ॥ ४ ॥

७७. प्र होता जातो महान्नभोविन्नृष†द्मा सीदद‡पां विवर्ते ।
*दधद्यो धायि§सुते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः
॥ ५ ॥ (ऋ. १०।४६।१)

प्रहोतेति । वत्सप्रिर्भालन्दन ऋषिः ।

यः परमात्मा होता सर्वपदार्थानां दाता भक्षयिता वा जातो जात एव महान् । यदा विद्वद्भिः प्रथममवगतः स तदा महानेवासीदितिभावः । नभोविद् दिव आदित्यस्य च वेत्ता । नृषद्मा नृषु

† द्वा इत्यृक्पाठः । ‡ पामुपस्थे इत्यृक्पाठः ।
* दधिर्यो इत्यृक्पाठः । § स ते इत्यृक्पाठः ।

सद्म निषदनस्थानं यस्य सः। अपामपसां कर्मणां विवर्ते विवर्तभूतायां भक्तावन्तरिक्षस्य वा विवर्ते निगूढे स्थाने प्र सीदत् प्रकर्षेण सीदति तिष्ठति। दधद्धारयति सकलं जगत्। स एव सुत उत्पादिते भक्तियज्ञे भक्तैरधायि निहित उपास्यत्वेन। वयांसि वयसामन्नानाम्। वय इत्यन्ननाम (निघ० २।७।७)। यन्ता नियन्ता प्रापको वा स एव। स एव तनूपाः शरीर रक्षको जीवरूपशरीररक्षको वा सन् वसूनि धनानि ज्ञानोपासनरूपाणि वि धते विधत्ते विदधाति ॥ ५ ॥

७८. प्र †सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य।
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि ‡वन्दद्वारा *वन्दमाना §विवष्टु
॥ ६ ॥ (ऋ. ७।६।१)

प्र सम्राजेति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः।

असुरस्य प्राणप्रदस्य। असून्प्राणान्रातीति। प्रज्ञाप्रदातुर्वा। असुरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९।६)। पुंसः पुरुमनस उदारमनसः पुमान् पुरुमना भवति पुंसतेर्वेति यास्कः (निरु० ९।१५) कृष्टीनां जनानाम्। कृष्टयो मनुष्याः। अनुमाद्यस्य समर्चनीयस्य। मदतिरर्चनकर्मा। परमेश्वरस्य सम्राजं सम्यग्राजमानां सर्वत्रशोभमानां प्रशस्तं प्रशंसां स्तुतिमितियावत्। प्र गायतेतिशेषः। इन्द्रस्य जीवस्य तवसस्तवसा बलेनेव। विभक्तिव्यत्ययः। कृतानि कर्माणि वन्दद्वारा वन्दद्वाराणि स्तुतिप्रमुखाणि वन्दमाना वन्द्यमानानि स प्र विवष्टु कामयताम्। मनुष्याणां कल्याणाय सदिच्छां करोत्वितिभावः ॥६॥

---

† सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिमित्यृक्पाठः।
‡ वन्दे दारुम् * वन्दमानो।
§ विवक्मि इत्यग्न्य ऋक्पाठः।

७९. अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ†इवेत्सुभृतोगर्भिणीभिः ।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः
॥ ७ ॥ (ऋ. ३।२९।२)

अरण्योरिति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः ।

अरण्योर्मनोबुद्ध्योः । अर्पयति प्रापयति परमात्मानमित्यरणिः । ऋ गतिप्रापणयोः । निहितः संस्थापितो जातवेदाः सर्वज्ञो जागृवद्भिर्विचारशीलैर्हविष्मद्भिः श्रद्धावद्भिर्मनुष्यैर्मननशीलैर्दिवेदिवे प्रतिदिनमीड्यः स्तुत्योग्निः परमात्मा गर्भिणीभिर्गर्भ इव सुभृत इत्सुरक्षित एव ॥ ७ ॥

८०. सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु
जिग्युः । अनु दह सहमूरान्क‡यादो मा ते हेत्या मुक्षत
दैव्यायाः । (ऋ. १० ८७।१९)

सनादग्न इति । पायुर्भारद्वाजः ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मँस्त्वं सनान्निरन्तरं यातुधानान् यातून् रक्षांसि दधति पुष्णन्ति ते यातुधानाः । यातवो राक्षसाः । इन्द्रोपि पराशर उच्यते । पराशातयिता यातूनामितियास्कः (६।३०) । दुष्टान् दुष्टपक्षपातिनो वा मृणसि मारयसि । पृतनासु मनुष्येषु । पृतना इति मनुष्यनाम । (निघ० ३।३।२५) रक्षांसि दुष्टाः परमदुष्टात्वां न जिग्युर्जितवन्तो जयन्ति च । सहमूरान्सापत्यांस्तान्कयादः क्रव्यादाननु दह क्रमेण भस्मसात्कुरु । किं च ते राक्षसाः कामादयो दैव्याल्लोकोत्तराद्धेत्या हननसाधनान्मा मुक्षत मुक्ता मा भवन्तु । बाह्या

† "इव सुधितो गर्भिणीषु" इत्यृक्पाठः ।

‡ क्रव्यादो इत्यृक्पाठः ।

आभ्यन्तराश्च द्विविधाः शत्रवः। उभये हि क्रव्यादः। उभयानपि नाशयेत्यभ्यर्थना ॥ ८ ॥

इत्यष्टमी दशतिः। इत्यष्टमः खण्डः



८१. अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो।
प्र नो †राये पनी‡यसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ॥ १ ॥

(ऋ. ५।१०।१)

अस्यां दशत्यां सर्वेषां मन्त्राणामग्निर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः। अग्न इति। अस्य गय आत्रेय ऋषिः।

हे अग्ने परमात्मन्नध्रिगोरनिवारितगतेः सर्वव्यपकस्य तव अधृताप्रतिहता गतिर्यस्य सोध्रिगुस्तस्य। अधृतशब्दस्याध्रिभावः। ओजिष्ठं तेजस्वि द्युम्नं प्रकाशशीलं धनं ज्ञानरूपमस्मभ्यमुपासकेभ्य आ भर आहर। पनीयसे सुत्याय राये ज्ञानधनाय प्र वाजाय प्रकृष्टगतये मोक्षायेतिभावः। नोऽस्मभ्यं पन्थां पन्थानं प्र रत्सि प्रदर्शयेतिभावः। अध्रिगो इतिपाठे सम्बोधनपदमेतत् ॥ १ ॥

८२. यदि वीरो अनु ष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः।
आ जुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥ २ ॥

(नायं मन्त्र ऋग्वेदे)

यदीति। वामदेव ऋषिः।

यदि मर्त्यो मरणधर्मा मनुष्यो वीरः कामक्रोधादिशत्रूणां निवारकोनु ष्याद्भवेदग्निं सर्वगं परमात्मानमिन्धीत हृदयप्रदेशे प्रकाशयेत्। आनुषगनुषक्तं परमात्मनीतिभावः। अनुपूर्वात् षञ्ज

† राया इत्यृक्पाठः। ‡ परीणसा इत्यृक्पाठः।

सङ्के इत्यस्माद्धातोः क्विप् । न लोपः । उपसर्गाकारस्य छान्दसं दीर्घत्वम् । हव्यमन्तःकरणं यद्वा जुह्वदा जुहुयात्परमात्मने समर्पयेत् । दैव्यं दिव्यं दिव्यलोकभवं वा शर्म परमानन्दं स्वरूपलाभरूपमोक्षं भक्षीतानुभवेत् ॥ ३ ॥

८३. त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि†सञ्छुक्र आततः ।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ३ ॥

(ऋ. ६।२।६)

त्वेषस्त इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

दिवि दिने यस्मिन्दिन इति भावः । द्यौरित्यहर्नाम (निघ० १।९।२) त्वेषः प्रकाशस्वरूपस्य ते तव धूमो दुर्जनमनोविकम्पनः कामक्रोधादिघातको वा । धमतीति धूमः । धमतिर्वधकर्मा । सन्नुत्तमः शुक्रः प्रकाशः । शुच दीप्तौ । ऋण्वति गच्छति प्राप्नोत्युपासकानां हृदयप्रदेशमित्यध्याहार्यम् । तदा हे पावक हृदयमलापनेतः कृपा समर्थया द्युता दीप्त्याततो व्याप्तस्त्वं सूरो न सूर्य इव रोचसे शोभसे । यथाकाश आतत एव सूर्यः शोभते तथा त्वं भक्तहृदयेषु प्रकटित एव शोभसे अन्यथा प्रतीतिरेव न स्यात् ॥ ३ ॥

८४. त्वं हि क्षैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे ।
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं नः पुष्यसि ॥ ४ ॥

(ऋ. ६।२।१)

त्वं हीति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मँस्त्वं तव । विभक्तिव्यत्ययः । क्षैतवत्समर्थं व्यापकं वा । क्षयतिरैश्वर्यकर्मा । यशो मित्रो न मित्र इव सूर्य इव

† सञ्छुक इत्यपपाठः ।

पत्यसे पत्यते ऐश्वर्यवद्भवति । पत्यत इत्यैश्वर्यकर्मा । हे विचर्षणे सर्वद्रष्टः हे वसो स्वस्मिन्सर्वेभ्यो निवासप्रदातः, त्वं श्रवः श्रवसा शब्देनोपदेशेन वेदद्वारेति भावः । श्रव इत्यत्र विभक्तिविपर्ययः । नोस्माकं पुष्टिं पोषणं पुष्यसि । अस्माकं ज्ञानपुष्टिं करोषीत्यर्थः । क्वचिन्न पुष्यसीति पाठस्तत्र नेति चार्थः ॥ ४ ॥

८५. प्रातरग्निः पुरुप्रियो विश स्तवेतातिथिः ।
†विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते ॥ ५ ॥

(ऋ. ५।१८।१)

प्रातरग्निरिति । द्वितो मृक्तवाहा आत्रेय ऋषिः ।

हे विशो मनुष्याः, पुरुप्रियो बहुप्रियः सर्वप्रियो वातिथिः सर्वत्र गतिमानग्निः परमात्मा । सर्वत्र कर्मार्था द्वितीया छान्दसी । पुरुप्रियमतिथिमग्निमित्यर्थः । प्रातः उषःकाले यूयं स्तवेत स्तुत । यस्मिन्नमर्त्येमरणधर्मणि परमात्मनि विश्वे सर्वे मर्तासो मनुष्याः । मर्त इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।१३) । हव्यं स्वमनोवृत्तिरूपं वा इन्धते प्रदीपयन्ति ॥ ५ ॥

८६. यद्वाहिष्टं तदग्नये बृहदर्च विभावसो ।
महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥ ६ ॥

(ऋ. ५।२५।७)

यद्वाहिष्ठमिति । वसूयव आत्रेया ऋषयः ।

हे विभावसो विशिष्टा विभा प्रभैव धनं यस्यैवम्भूत परमात्मन्नस्माकं यद्वाहिष्ठं त्वत्समीपे वहनसमर्थं यन्मनोस्ति तत्तुभ्यमग्नये सर्वव्यापकाय समर्पयामीतिश्रुतिभावः । यच्च बृहत्तव पार्श्वे विद्यते

† विश्वानि योऽमर्त्यो हव्या मर्तेषु रण्यतीत्यृक्पाठः ।

मोक्षरूपं वस्तु तन्मह्यमर्चं देहि। त्वत्तव सकाशान्महिषी महती। महिषो महानिति निघण्टुः (३।३।८)। रयिर्दातिर्दानमपेक्ष्यते। त्वत् त्वत्त एव वाजा गतयः सुगतय उदीरत उद्गच्छन्ति ॥ ६ ॥

८७. विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्।
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥ ७ ॥
(ऋ. ८।७४।१)

विशोविश इति। गोपवन आत्रेय ऋषिः।

हे मनुष्याः, विशोविशः प्रत्येकं मनुष्या वो यूयं पुरुप्रियमत्यन्तप्रियमतिथिमविनाशिनं परमात्मानं वाजयन्तोर्चयन्तस्तिष्ठत। वाजयतिरर्चनकर्मा (निघ० ३।१४।३६) अहं च गोपवनो वो युष्मभ्यं युष्मदर्थं शूषस्य सुखस्य। शूषं बलं सुखं च (निघ० २।९।१३; ३।६।१०)। प्राप्तये मन्मभिर्मननीयैराचारैर्दुर्यं गृहस्थितं मनस्थितमग्निं परमात्मानं वचो वचसा स्तुषे स्तवीमि ॥ ७ ॥

८८. बृहद्वयो हि भानवेर्चा देवायाग्नये।
यं मित्रं न†प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः ॥ ८ ॥
(ऋ. ५।१६।१)

बृहद्वय इति। पूरुरात्रेय ऋषिः।

पूरुरादिशति। हे उपासक भानवे सर्वप्रकाशकदेवायाग्नये परमात्मने बृहद् दीर्घं वय आयुरर्चं समर्पय। सर्वमेव जीवनं तस्मै समर्पयेतिभावः। यं परमात्मानं मित्रं न सखायमिव मर्तासो भक्तमनुष्याः प्रशस्तये कल्याणाय पुरः पुरस्ताद्दधिरे साक्षाच्चक्रुर्भूतकाले, धारयन्ति च वर्तमानकालेपि ॥ ८ ॥

† प्रशस्तिभिमर्तासो इत्यृक्पाठः।

८९. ‡अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् ।
*यः स्म श्रुतर्वन्नार्क्ष्ये बृहदनीक इध्यते ॥ ९ ॥

(ऋ० ८।७४।४)

अगन्मेति गोपवन । आत्रेय ऋषिः ।

वृत्रहन्तममतिशयेन पापनिवारकमज्ञाननिवारकं वा ज्येष्ठं श्रेष्ठमानवं स्तुत्यमग्निं परमात्मानं वयमगन्म गच्छामः प्राप्नुमः । यः परमात्मार्क्ष्ये । ऋक्षः परमात्मा । ऋच स्तुतौ । अर्च्यते स्तूयत इत्यृक्षः । तस्य सम्बन्ध्यार्क्ष्यो भवतस्तस्मिन् बृहदनीको बृहन्महदनीकमायुष्यं यस्य स चिरंजीवी नित्य इति तु हार्दम् । इध्यते इन्धे दीप्यते प्रकाशते । किम्भूत आर्क्ष्ये ? श्रुतर्वन् श्रुतर्वणि । ङिलोपः । अर्वति गच्छति परमात्मानमित्यर्वा मन । श्रुतं प्रसिद्धं परमात्मानं प्रति गन्तृ मनो यस्य स तस्मिन् । सर्वैरेवोपायैरन्ते मनः परमात्मानमेव गच्छतीति सर्वाविगतिः । स्मेति पादपूरणे ॥ ९ ॥

९०. जातः परेण धर्मणा यत्सवृद्भिः सहाभुवः ।
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः ॥ १० ॥

(ऋग्वेदे नास्ति)

जात इति । वामदेवः, कश्यपो वा मारीचो, मनुर्वा वैवस्वत उभौ वा ऋषी ।

अग्ने परमात्मन् परेण सर्वोत्कृष्टेन धर्मणा कारुण्यवात्सल्यौदार्यादिरूपेण जातः प्रादुर्भूतस्त्वमसि । यद् यस्त्वं सवृद्भिः सहवर्तमानैः सहवर्धमानैर्वा भक्तैः सहाभुवो भवसि वर्तस इति भावः । संगत्य त्वामुपासीनैर्भक्तैः सह त्वं वर्तस इतितात्पर्यम् । यद्यश्चा-

‡ आगन्मेत्यृक्पाठः । * यस्य श्रुतर्वा बृहन्नार्क्षो अनीक एधते इत्यृक्पाठः ।

ग्निः । सर्वत्रगमनशीलो व्यापकोपि कश्यपस्याविद्यामदिरापानवतो जीवस्य पिता रक्षकः । तस्याज्ञानसमाकलितस्य जीवस्य माता तु श्रद्धा । यथा मातृवशगः पुत्रः सन्मार्गगामी भवति तथैव श्रद्धारूपां मातरं योनुसरति सोवश्यं सन्मार्गं प्राप्नोति । कविः क्रान्तिदर्शी महाविद्वांस्तस्य मनु ज्ञानदातोपदेशकश्च भवति । परमात्मा यं रक्षितुमिच्छति तं श्रद्धा विद्वान् गुरुश्च स्वयमेव प्राप्नुत इति भावः ॥ १० ॥

इति नवमी दशतिः । इति नवमः खण्डः

९१. †सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
‡आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥

(ऋ १०।१४१।३)

अस्यां दशत्यां प्रथमस्य मन्त्रस्य विश्वेदेवा देवता द्वितीयस्याङ्गिरा अन्येषां चाग्निः । अनुष्टुप् छन्दः । प्रतिमन्त्रमृषिनिर्देक्ष्यामः । सोममिति । अस्याग्निस्तापस ऋषिः ।

सोमं परमशान्तं राजानं दीप्तिमन्तं वरुणं वरणीयमादित्यमखण्ड्यं विष्णं सर्वव्यापकं सूर्यं सर्वप्रेरकं ब्रह्माणं बृहन्तं बृहस्पतिं बृहतां महतामपि पतिमग्निं स्थिरं परमात्मानमन्वारभामहे पुनः पुनः स्मृतिपथमारोपयामः ॥ १ ॥

९२. इत एत उदारुहन्दिवः पृष्ठान्या रुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा पथो द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ २ ॥

(ऋग्वेदे नास्ति)

---

† सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।

‡ आदित्यान् विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् इत्यृक्पाठः ।

इत एत इति । वामदेवः काश्यप ऋषिः ।

इतिहासमाह वामदेवः । एते भक्ता ज्ञानिनो वेतः परमात्मस्मरणादेवोदारुहन्नूर्ध्वंगतिं प्राप्नुवन्तो दिवो द्युतिमल्लोकस्य पृष्ठानि बहूँल्लोकानतीत्य मोक्षलोकमित्यर्थः । आरोहन्नारोहन्ति यथा पथः यथा लौकिकेन मार्गेण लोका स्वेष्टं स्थानं गच्छन्ति तद्वत् । भूर्जयो जन्मजितो ज्ञानिनोऽङ्गिरसः, शिष्या इतिशेषः, द्यां द्युलोकं प्रययुर्गताः ॥ २ ॥

९३. राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि ।
ईडिष्वा हि महे वृषन् द्यावा होत्राय पृथिवी ॥
(ऋग्वेदे नास्ति)

राय इति । वामदेवः काश्यप ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन् हे वृषन् कामानां वर्षक त्वा त्वां महे महते दानाय त्वत्तो दानं प्राप्तुं समिधीमहि दीपयामः प्रसादयामः । महे महते होत्राय यज्ञाय ज्ञानार्जनरूपाय पृथिवी पृथिव्यै भूलोकशान्त्यवाप्तये द्यावा द्युलोकाय परलोकशान्त्यवाप्तये च ईडिष्व हि स्तुमः खलु । पुरुषवचनव्यत्ययः । वृषं द्यावेति पाठे वृषं वर्षकमिच्छापूरकं त्वामितियोजना ॥ ३ ॥

९४. दधन्वे वा यदीमनु वोचद्†ब्रह्मेति वेरु तत् ।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवा‡भुवत् ॥ ४ ॥
(ऋ. २।५।३)

दधन्व इति । सोमाहुतिर्भार्गव ऋषिः ।

परमात्मैव दधन्वे सर्वं धारयति । वा अथवा ईमेनं परमात्मा-

† ब्रह्माणि इत्यृक्पाठः । ‡ भवत् इत्यृक्पाठः ।

नमनु लक्ष्यीकृत्य यद्ब्रह्मेति। इतिः स्वरूपनिर्देशे। वोचदवोच-त्तद् वेरु = वेः उ, जानीहि। उः पादपूरणार्थः। ऋषिः परमात्मान-मुद्दिश्य यद्वस्तु ब्रह्मत्वेनोपदिदेश तदेव ब्रह्मेतिपरमात्मेति वा जानीहीति स्पष्टार्थः। विश्वानि सर्वाणि काव्यानि कविकर्माणि परि तं परितोभुवदभवन्। तदर्थमेव काव्यानां प्रादुर्भावः। तत्र दृष्टान्तः नेमिश्चक्रमिव। यथा नेमिश्चक्रं परितो भवति तथैव विदुषां सर्वे व्यवहाराः परमात्मानं परितो भवन्ति ॥ ४ ॥

९५. प्रत्यग्ने हरसा हरः शृ†णाहि‡विश्वतस्परि।
यातुधानस्य रक्षसो बलं न्यु*ब्जवीर्यम् ॥ ५ ॥
(ऋ. १०।८७।२५)

प्रत्यग्ने इति। पायुर्भारद्वाज ऋषिः।

हे अग्ने परमात्मन् हरसा ज्योतिषा क्रोधेन वा। हर इति ज्यो-तिर्नाम क्रोधनाम च (निघ० ४।१।४०)। प्रति हरः प्रतिद्वन्द्विनां कामादीनां विश्वतस्परि सर्वतस्तेजो बलं वा शृणाहि विनाशय। किं च यातुधानस्य दुष्टेभ्यो विचारेभ्य आश्रयप्रदातू रक्षसो दुष्टस्य मनसो बलं वीर्यं शक्तिं च न्युब्ज नितरां कुण्ठितानि कुरु। न्युब्ज वीर्यमितिपाठे बलं कुण्ठितवीर्यं कुर्वित्यर्थो ज्ञेयः। बलं वि रुज वीर्य-मितिपाठे बलं वीर्यं च नितरां रुज भङ्ग्धात्यर्थः। दुर्विचारशून्यं मे मनः कुर्विति तात्पर्यम् ॥ ५ ॥

९६. त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत।
यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ॥ ६ ॥
(ऋ. १।४५।१)

त्वमग्न इति। प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः।

† णीत्यृक्पाठः। ‡ विश्वतःप्रतीत्यृक्पाठः। * विरुज वीर्यमित्यृक्पाठः।

हे अग्ने परमात्मंस्त्वं वसूनि वासयन्ति लोकान्स्वेषु तान्रुद्रानुपदेशकानादित्यान्सर्वपापविनाशकानुतापि च मनुजातं जातो मनुर्ज्ञानं यस्य तं विवेकिनम्। निष्ठापूर्वनिपाताभावश्छान्दसः। स्वध्वरमुत्कृष्टकर्माणं घृतप्रुषं त्रुटीनामपाकर्तारं जनं यज प्रीणय ॥ ६ ॥

इति दशमी दशतिः। इति दशमः खण्डः

इति प्रथमस्य प्रपाठकस्य द्वितीयोर्धः प्रपाठकः

प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः



सामवेदे पूर्वार्चिके द्वितीयस्मिन् प्रपाठके

प्रथमोर्धः प्रपाठकः

९७. पुरु त्वा †दाशिवाँ वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा।
तोदस्येव शरण आ महस्य ॥ १ ॥

(ऋ. १।१५०।१)

अस्यां दशत्यां पञ्चमस्य मन्त्रस्य पवमानो देवता षष्ठस्यादितिर्नवमस्य च विश्वेदेवा अन्येषां चाग्निः। उष्णिक् छन्दः। प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः। पुरुत्वेति। अस्य दीर्घतमा औचथ्य ऋषिः।

हे अग्ने परमात्मन्, दाशिवान्दाश्वान् हृदयसमर्पकोहं त्वा त्वां पुरु बहु वोचे ब्रवीमि प्रार्थये। तव स्वित्त्वैव आ सर्वथा अरिरर्ता सेवकोस्मि। दृष्टान्तमाह। यथा महस्य महतस्तोदस्य गृहस्थस्य स्वामिनः। प्रेरणार्थकस्तुदिः। शरणे गृहे कश्चिदाज्ञावहः सेवकस्तथा ॥ १ ॥

† दाश्वानित्यपपाठः।

९८. प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥ (ऋ. ३।१०।५)

प्र होत्र इति। विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः।

विश्वामित्र उपदिशति। हे जीवा विपां वाचां वेदविद्यानामितिभावः। विप् इति वाङ्नाम (निघ० १।११।४१)। विप प्रेरणे। सम्पदादित्वात् क्विप्। प्रयंते मनसा। ज्योतींषि प्रकाशान्विद्यातेजांसीतिभावः। बिभ्रते धारयते वेधसे न मेधाविन इव। वेधा इतिमेधाविनाम (निघ० ३।१५।६)। होत्रे दात्रे कल्याणस्य, अग्नये परमात्मने पूर्व पूर्वैः कृतं बृहन्महद्वचः स्तुतिरूपं प्र भरत सम्पादयत ॥ २ ॥

९९. अग्ने वाजस्य गोमत ईशा†न सहसो यहो।
अस्मे ‡देहि जातवेदो महि श्रवः ॥ (ऋ. १।७९।४)

अग्न इति। गोतमो राहूगण ऋषिः।

हे अग्ने सर्वव्यापक हे यहो आहूत प्राप्त च। यातेर्ह्वयतेश्चौरादिकस्य मृगय्वादित्वात्कुप्रत्यये निपातनाच्च यहुरितिरूपसिद्धिः। यात चाहूत चेत्यर्थः। यातः प्राप्तः। त्वं वाजस्य बलस्योर्ध्वगतेर्वा गोमत इन्द्रियदमयितुः सहसः सांसारिकभोगानभिभावयितुः। सहिरभिभवार्थे। जीवस्य भक्तस्येशान स्वामिन्। हे जातवेदः सर्वज्ञ अस्मे अस्मासु अस्मभ्यं महि प्रभूतमुत्तमं वा श्रवो यशो ज्ञानहेतुकं भक्तिहेतुकं वा देहि प्रयच्छ ॥ ३ ॥

१००. अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान्देवयते यज।
होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥ ४ ॥ (ऋ. ३।१०।७)

---

† नः इत्यृक्पाठः। ‡ धेही इत्यृक्पाठ :।

अग्ने यजिष्ठ इति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मंस्त्वं यजिष्ठ उत्कृष्टकर्मासि । अध्वरे भक्तियोगे देवान्विदुषो ज्ञानिनो देवयते यजते समर्चयते मह्यं यज मम मनीषितं देहि । होता सर्वकल्याणानामाह्वाता मन्द्रो भक्तहृदयानां मदयिता प्रासादयिता, एवंविधस्त्वं स्त्रिधः शत्रूनति अतिक्रम्याजातशत्रुरिति-भावः । वि राजसि विशोभसे ॥ ४ ॥

१०१. जज्ञा†नः सप्त‡मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये ।
अयं ध्रुवो रयीणां*चिकेतदा ॥ (ऋ. ९।१०२।४)

जज्ञान इति । त्रित आप्त्य ऋषिः ।

हे मातृभिर्भक्तिभूमिकाभिर्भक्तिभूमिकारूपाभिर्वा सप्त परि-चरित परमात्मन् । सपतिः परिचरणकर्मा । जज्ञानः प्रादुर्भूतः श्रिये त्वद्धाम्ने त्वद्धामप्राप्तय इतिभावः । मेधां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रति-भामाशासत देहि । पारोक्ष्येणाह, अयं परमात्मा रयीणां ज्ञानरूप-धनानां ध्रुवः स्थिरोचल आश्रयः सन्ना चिकेतत् अनुजानाति तज्ज्ञानधनदानं करोतीत्याशयः ॥ ५ ॥

१०२. उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्या गमत् ।
सा शन्ताऽता मयस्करदप स्त्रिधः ॥ ६ ॥
(ऋ. ८।१८।७)

उत स्येति । इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः ।

उत अपि च स्या सादितिरदीना महत्यखण्डनीया वा मतिस्तव

† नमित्यृक्पाठः ।
‡ मातरो वेधामशासत श्रिये इत्यृक्पाठः ।
* चिकेत यदित्यृक्पाठः ।
§ ति इत्यृक्पाठः ।

धाम्नः प्राप्तेरितिभावः। दिवा सर्वदा ऊत्या ऊतये रक्षायै आ गमदागच्छतु। शंताता कल्याणप्रवर्तिका सा भगवद्रतिविषयिणी मतिर्मयः सुखं करत्करोतु। स्रिधः शत्रून् प्रत्यवायांश्च अप अपनयतु। उपसर्गवशाद्योग्यक्रियाध्याहारः ॥ ६ ॥

१०३. ईडिष्वा हि प्रतीव्यां ३ यजस्व जातवेदसम्।
चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम् ॥ ७ ॥

(ऋ. ८।२३।१)

ईडिष्वेति। विश्वमना वैयश्व ऋषिः।

हिरित्यवधारणे। प्रतीव्यं प्रतिकूलान्दमयितारं तमग्निं परमात्मानमेवेडिष्व स्तुहि। किं च चरिष्णुधूमं चरिष्णुः सर्वतश्चरणशीलो धूमो विकम्पनं यस्य तम् अगृभीतशोचिषं न गृभीता शोचिर्दीप्तिः प्रकाशो यस्य तमनपहृतप्रकाशं जातवेदसं सर्वज्ञं यजस्व पूजय। जीवानुद्दिश्य ऋषेरुपदेशः ॥ ७ ॥

१०४. न तस्य मायया चन रिपुरीशीत मर्त्यः।
यो अग्नये ददाश हव्य†दातये ॥ ८ ॥

(ऋ. ८।२३।१५)

न तस्येति। विश्वमना वैयश्व ऋषिः।

यो जनो हव्यदातये जीवनसामग्रीप्रदात्रेऽग्नये परमात्मने ददाश ददाति स्वकीयं सर्वम्। तस्य भगवद्भक्तस्य मर्त्योऽवश्यं विनाश्यो रिपुश्चौरः कामादिः। रिपुरिति तस्करनाम (निघ० ३।२४।४)। मायया छलेन चन कदाचन नेशीत न भवति समर्थः भगवद्भक्तं कामादिरिपुर्मायया प्रतारयितुं न शक्नोतीतिभावः ॥ ८ ॥

† दातिभिरित्यृक्पाठः।

१०५. अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ॥ ९ ॥

(ऋ. ६।५१।१३)

अप त्यमिति । ऋजिश्वा भारद्वाज ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मंस्त्वं त्यं तं प्रसिद्धं स्तेनं हिंसकं दुःखस्य वा चिन्तकं रिपुं शत्रुं वृजिनं पापं परमात्मपरित्यागरूपं तद्विस्मृतिरूपं वा दविष्ठमतिदूरमप अस्य, अपास्य अपक्षिप । किं च हे सत्पते सतां साधूनां पते रक्षक सुगं सुतरां गन्तव्यं प्राप्तव्यं सुखं परमानन्द-प्राप्तिरूपं कृधि कुरु ॥ ९ ॥

१०६. श्रुष्टचग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते ।
नि मायिन† स्तपसा रक्षसो दह ॥ १० ॥

(ऋ. ८।२३।१४)

श्रुष्टचग्न इति । विश्वमना वैयश्व ऋषिः ।

हे वीर, अमित्रविनाशक विश्पते विशां प्रजानां पते पालक अग्ने परमात्मन् नवस्येदानीं सम्पाद्यमानस्य सम्पादितस्य वा मे मम स्तोमस्य स्तोत्रस्य । द्वितीयार्थे षष्ठी । नवं स्तोत्रमित्यर्थः । श्रुष्टी श्रुत्वा मायिनो मायीनि वञ्चकानि भगवन्मार्गविरुद्धमार्गेष्वा-कर्षकाणि रक्षस इन्द्रियाणि तपसा तेजसा नि दह नितरां दह भस्मी-कुरु । इन्द्रियाणि सन्मार्गे प्रेरयेत्यर्थः ॥ १० ॥

इति प्रथमा दशतिः । इत्येकादशः खण्डः

† तपुषा इत्यृक्पाठः ।

१०७. प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।
उपस्तुतासो अग्नये ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१०३।८)

अस्यां दशत्यामग्निर्देवता, उष्णिक् छन्दश्च । प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः । प्र महिष्ठायेति । अस्य प्रयोगो भार्गव ऋषिः ।

हे उपस्तुतास उपस्तोतारः, यूयं मंहिष्ठाय दातृतमाय । मंहते इति दानकर्मा । ऋताव्ने सत्यवते बृहते महते शुक्रशोचिषे परमतेजस्विनेऽग्नये परमात्मने प्र गायत स्तुतिं कुरुत ॥ १ ॥

१०८. प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति†वाज‡कर्मभिः ।
यस्य त्वं सख्य*माविथ ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१९।३०)

प्र सो अग्न इति । सौभरिः काण्व ऋषिः ।

हे अग्ने प्रकाशस्वरूप त्वं यस्य जनस्य सख्यं सखित्वमाविथ प्राप्नोषि स तव सुवीराभिः पराक्रमशालिनीभिर्वाजकर्मभिः स्वधामोन्नयनकर्मभिरूतिभी रक्षाभिः प्र तरति दुःखमहासागरम् ॥ २ ॥

१०९. तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे ।
देवत्रा हव्य§मूहिषे ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१९।१)

तं गूर्धयेति । सौभरिः काण्व ऋषिः ।

हे भक्तजीव स्वर्णरं परमानन्दपूर्णलोकनेतारं तं परमात्मानं गूर्धय समर्चय । गूर्धयतिरर्चतिकर्मा नैरुक्तधातुः । देवासो दिव्यगुणविशिष्टा भक्तास्तमेवारतिमलं मतिं पर्याप्तमतिं सर्वज्ञं स्वामिनं देवं दधन्विरे गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । धन्वतीति गत्यर्थः । देवत्रा

† तिरते इत्यृक्पाठः ।
‡ भर्मभिरित्यृक्पाठः ।
* मावर इत्यृक्पाठः ।
§ मोहिरे इत्यृक्पाठः ।

देवान् । द्वितीयार्थे त्रा प्रत्ययः । इन्द्रियाणि हव्यमाहवनीयं परमात्मानमूहिषे प्रापयन्ति ॥ ३ ॥

११०. मा नो†हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः ।
यः सुहोता स्वध्वरः ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।१९।११)

मा नो हृणीथा इति । प्रयोगो भार्गवः सौभरिः काण्वो वा ऋषिः ।

एषोग्निः प्रकाशस्वरूपः परमात्मा वसुः सर्वेषां वासयिता पुरुप्रशस्तः सुप्रतिष्ठितश्चास्ति । यः परमात्मा सु होता दिव्यदानकर्ता स्वध्वरो दिव्यकर्मा चास्ति । तमतिथिं सर्वव्यापकं परमात्मानं नोस्मत् । विभक्तिव्यत्ययः । अथवास्माकं हृदयान्मा हृणीथाः कोपि मा हरतु दूरीकरोतु ॥ ४ ॥

१११. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः‡सुभगा भद्रो अध्वरः ।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।१९।१९)

भद्रो नो अग्निरिति । सौभरिः काण्व ऋषिः ।

आहुत आहूतोग्निः प्रार्थनयोपस्थापितः परमात्मा नोस्माकं भद्रः कल्याणकृद्भवतु । अस्य रातिर्दानक्रिया भद्रा कल्याणी सुभगा महैश्वर्यप्रदायिनी च भवतु । किं च सोध्वरः प्रशस्तमार्गप्रदर्शको भवतु । उत अपि च तस्य प्रशस्तयः स्तोत्राणि भद्रा भद्राणि कल्याणकारीणि भवन्तु ॥ ५ ॥

११२. यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।१९।३)

यजिष्ठमिति । सौभरिः काण्व ऋषिः ।

† हृणीतामतिथिर्व इत्यृक्पाठः । ‡ सुभग ।

हे परमात्मन् यजिष्ठं यष्टृषु श्रेष्ठ कर्मकर्तृषु परमोत्तमं देवत्रा देवेषु देवं महादेवमित्यर्थः । होतारमस्मदिष्टफलानामाह्वातारं दातारमित्यर्थः । अमर्त्यममरणधर्माणमस्योपस्थितस्य क्रियमाणस्य यज्ञस्योपासनारूपस्योत्कृष्टकर्मणः सुक्रतुं सुष्ठु कर्तारं कृपया निर्विघ्नं सम्पादयितारं त्वा त्वां ववृमहे वृणीमहे संभजामः ॥ ६ ॥

११३. तदग्ने द्युम्नमा भर यत्सासाहा† सदने कञ्चिदत्रिणम् ।
मन्युं जनस्य‡दूढ्यम् ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।१९।१५)

तदग्न इति । सोभरिः काण्व ऋषिः ।

हे अग्ने परमात्मन्, तद्द्युम्नं धनं यशो बलं वास्मभ्यमा भराहर यद्येन सदने विसरणशीले विषण्णे वान्तःकरणे कञ्चिदत्त्रिणं भक्त्यनुकूलभावनाविध्वंसकं दूष्टं दूढ्यो दुर्धियो जनस्य मन्युं ज्ञानं च सासाह सासहेऽत्यर्थमभिभवेयम् । दुष्टानां क्रोधस्य बुद्धेश्चाभिभवितृ बलं देहीतिभावः ॥ ७ ॥

११४. यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो *विशे ।
विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति ॥ ८ ॥
(ऋ. ८।२३।१३)

यद्वेति । विश्वमना वैयश्व ऋषिः ।

यद्यदा वा उ खलु विश्पतिः प्रजापतिः शितस्तपश्चर्ययात्यन्तप्रसादितोत एव सुप्रीतः सम्यक् प्रसन्नोग्निः प्रकाशस्वरूपः परमात्मा मनुषो मनुष्यस्य विशे हृदये प्रादुर्भवतीतिशेषः तदेति च शेषः । विश्वा इत् विश्वानि सर्वाण्येव रक्षांसि कामक्रोधाद्याख्यानि स प्रति सेधति निषेधति दूरीकरोति नाशयति ॥ ८ ॥

इति द्वितीया दशतिः । इति द्वादशः खण्डः

●

† हत् इत्यृक्पाठः । ‡ दूढ्य इत्यृक्पाठः । * विशि इत्यृक्पाठः ।

अथ ऐन्द्रं काण्डं पर्व वा

अथ द्वितीयोध्यायः

११५. तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने।
शं यद्गवे न शाकिने ॥ १ ॥ (ऋ. ६।४५।२२)

अस्यां दशत्यामिन्द्रो देवता गायत्री च छन्दः। ऋषीन्निर्देक्ष्यामः। तद्वो गाय इति। अस्य मन्त्रस्य शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः।

हे मनुष्या वो यूयम्। विभक्तिव्यत्ययः। सुते सर्वंगाय। सु षु गतौ। अथवा जगन्निमर्त्रे। षुञ् अभिषवे, षूञ् प्राणिप्रसवे वा पुरुहूताय बहुभिराहूताय सत्वने सादयित्रे कामादिशत्रूणाम्, सचा सहैव संघशस्तत्प्रार्थनावचो गाय गायत यद् शाकिने सर्वसमर्थाय परमात्मने शं सुखकरं प्रसादोन्मुखविधातृ स्यात्। गवे न, यथा मृदुवचनं गवे सुखकरं दुग्धवृद्धिकरं च भवति तथेति दृष्टान्तः ॥ १ ॥

११६. यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः।
तेन नूनं मदे मदेः ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९२।१६)

यस्त इति। श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरस ऋषिः।

शतक्रतो शतान्यनन्तानि क्रतवः कर्माणि ज्ञानानि वा यस्य तथाभूत। क्रतुरिति कर्मनाम (निघ० २।१।१०) प्रज्ञानाम च (निघ० ३।९।५)। हे इन्द्र, इन्दुना यज्ञेनोत्कृष्टकर्मणा द्रवणशील। इन्दावुपपदे द्रवते रमतेर्वा निपातनम्। इन्दुरिति यज्ञनाम (निघ० ३।१७।१३)। यज्ञ उत्कृष्टं कर्म। अथवा हे परमैश्वर्ययुक्त। इदि परमैश्वर्ये। यस्ते द्युम्नितमो यशस्वितमो मद आनन्दोस्ति स्वरूप भूतस्तेन नूनं मदे मदेनानन्देन ऊनं मां नु क्षिप्रं (नु + ऊनम्) मदेर्मादय। अन्तर्भावितण्यर्थः ॥ २ ॥

११७. गाव†उप वदावटे महो यज्ञस्य रप्सुदा ।
उभा कर्णा हिरण्यया ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।७२।१२)

गाव उपेति । हर्यतः प्रागाथ ऋषिः ।

हे परमात्मन्निहावटे ध्यानरक्षणपट्न्येकान्ते स्थाने गावो गा वाचो वेदोपदेशवाचस्त्वद्ध्यानकर्मनियोजिनीर्गिर उप वदोपदिश । किंभूता गाः ? महो महीर्महतोः । विभक्तिवचनव्यत्ययः । यस्त्वं यज्ञस्योत्कृष्टकर्मणो रप्सुदा सम्मतिदातासि प्रेरकोसि । उभौ कर्णौ ममोपासकस्येति भावः । हिरण्यया सुभगया वाचा प्रीणय ॥ ३ ॥

११८. अरमश्वाय गायति‡श्रुतकक्षारं गवे ।
अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९२।२५)

अरमिति । श्रुतकक्ष आङ्गिरस ऋषिः ।

श्रुतकक्षर्षिरात्मकृत्युपवर्णनेनान्यान्प्रेरयितुं तन्मार्गं आह । श्रुतकक्षाश्वाय सर्वमश्नुवते व्याप्नुवते गवे प्रकाशरूपायेन्द्रस्य महैश्वर्यस्य धाम्ने धारणकर्त्रे परमात्मनेरमलं गायति परमात्मानं स्तवोतीति भावः ॥ ४ ॥

११९. तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे ।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९३।७)

तमिन्द्रमिति । पूर्वोक्त ऋषिः ।

तं परमप्रसिद्धमिन्द्रं परमात्मानं महे महते वृत्राय पापाय । कर्मणि चतुर्थी । महत्पापमित्यर्थः । हन्तवे हन्तुं निवारयितुं वाजयामसि अर्चामः पूजयामः । वाजयतिरर्चनकर्मा । तेन स वृषा सेचकः

† उपवतावतमित्यृक्पाठः । ‡ श्रुतकक्षा अरमित्यृक्पाठः ।

सर्वसन्तापनिवारकोऽस्माकं वृषभः सेचकः सन्तापनिवारको मनोरथपूरको वा भुवद् भवतु ॥ ५ ॥

१२०. त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः ।
†त्वं सन्वृषन्वृषेदसि ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।१५३।२)

त्वमिन्द्रेति । देवजामय इन्द्रमातर ऋषिकाः ।

हे इन्द्र जीव, औचित्यात्सामर्थ्याच्चेहेन्द्रपदेन जीवग्रहणम् । त्वं बलाद्बलस्वरूपात्सहसः सर्वाभिभवनसमर्थादोजसः क्रोधस्वरूपात्परमात्मनोऽधिजातः प्रकटितः । सर्वस्यैव प्राकट्यं परमात्मन एवेति सर्गादौ जीवानामपि तत एव प्राकट्यमितिभावः । अधिजातत्वश्रवणेन जीवस्य नित्यत्वं निवर्त्यते चेन्निवर्तताम् नाम देवजामीनां मते । ततो हे वृषन् बलस्वरूपाज्जातत्वेन सर्वमनोरथपूरणबलवत्त्वेन सर्वमनोरथपूरक, त्वं सन्नुत्तमो वृषा इत् असि परोपकारेण सर्वेषां तृप्तिजनक एवासि ॥ ६ ॥

१२१. यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।१४।५)

यज्ञ इन्द्रमिति । गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनावृषी ।

उभावेवैतावृषी साक्ष्यं दत्तः—दिवि दिव्यलोके ओपशम् आ समन्तादुपशयनं स्थितिं चक्राणः कुर्वाणो यज्ञो यजनीयः परमात्मा इन्द्रं जीवमवर्धयद्वर्धयति मोक्षप्रदानेन वृद्धिमन्तं करोति । यद् जीववृद्धिप्रदानरूपं कर्म भूमिं व्यवर्तयद्विवृतां करोति । परमात्मानुकम्पया जीवस्य भक्तस्य सद्गतिमभिज्ञाय भूमिष्ठाः सर्व एव जीवास्तदुन्मुखा भवन्तीतिपरमार्थः ॥ ७ ॥

---

† त्वं वृषन् वृषेदसि इत्यृक्पाठः ।

१२२. यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।१४।१)

यदिन्द्रेति । उपर्युक्तावृषी ।

हे इन्द्र जीव यथा त्वमेक एव वस्वो बहूनां शक्तीनामोशिष ईश्वरो भवसि तथा यद्यद्याहमपि स्तोता स्तुतिकर्ता तस्य, स्याम्, अहमपि बहूनां शक्तीनामीशीय । गोषखा ज्ञानसखो ज्ञानवान् परमात्मा च मे मम स्यात् । स्तुत्या प्रसन्नः परमात्मा मदीय, स्यादित्याशयः ॥ ८ ॥

१२३. पन्यंपन्यमित्सोतार आ धावत मद्याय ।
सोमं वीराय शूराय ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।२।२५)

पन्यंपन्यमीति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

हे पन्यंपन्यमत्यर्थं स्तुत्यं सोमं शान्तं भक्तिरसं स्तुत्यस्य शान्तस्य भक्तिरसस्य स्तोतारो भक्तिरसनिष्पादका यूयं मद्याय प्रसाद्याय प्रसादयितुं योग्याय वीराय दुर्बुद्धिपराभवकारिणे शूराय सर्वपापविनाशकाय परमात्मने आ धावत समन्तात् सर्वथा गच्छत तमेव शरणं कुरुतेति भावः ॥ ९ ॥

१२४. इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
अनाभयिन्ररिमा ते ॥ १० ॥ (ऋ. ८।२।१)

इदमिति । उपर्युक्त ऋषिः ।

हे वसो भक्तजीव । वसति परमात्मनीति वसुः । इदं सुतं पूर्वैर्भक्तप्रवरैरुपस्थापितमाविष्कृतमन्ध आध्यातव्यं भक्तिरसमुदरं सुपूर्णं यथा तथा कणेहत्येत्यर्थः । पिबानुभव । हे अनाभयिन्, अनेन

रसास्वादनेनापगतभयो भविष्यतीत्यनाभयिन्निति सम्बोधनम् । तं भक्तिरसं ते तुभ्यं ररिम दद्मः ॥ १० ॥

इति तृतीया दशतिः । इति प्रथमः खण्डः

●

१२५. उद्घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् ।
अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९३।१)

अस्यां दशत्यामिन्द्रो देवता गायत्री च च्छन्दः । प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः । उद्घेदभीति । अस्य सुकक्षश्रुतकक्षावृषी ।

उद्, घ, इत्, अभीतिचत्वार्यव्ययोपसर्गपदानि । उदित्येषीत्यनेनान्वेति । घेति प्रसिद्धार्थकम् । इत् एवकारार्थकः । अभीत्यस्याभित इत्यर्थः । हे सूर्य भक्तानां ज्ञानिनां च हृदयाकाशे सरणशील परमात्मंस्त्वं श्रुतामघं श्रुतमघम् । मघ इति धननाम (निघ० २।१०।१) । श्रुतं प्रख्यातं दीनेषु वितीर्णं सद्धनं यस्य तं दीनेषु घनसमर्पयितारमधिकारिषु ज्ञानार्पणकर्तारं वा वृषभं ज्ञानेन भक्तिरसेन वा सर्वेषां हृदयसेचनसमर्थं नर्याणि नरहितानि अपांसि कर्माणि यस्य तं परोपकारिणमस्तारमित् कामक्रोधादिशत्रूणां निरसितारमेवाभित उदेष्याविर्भवसीति घ प्रसिद्धकथा ॥ १ ॥

१२६. यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य ।
सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९३।४)

यदद्येति । उपर्युक्तावृषी ।

हे सूर्य परमात्मन् हे वृत्रहन् ज्ञानाच्छादकाविद्यातिमिरविनाशक, अद्य यत्कच्च यत्किञ्चित्पदार्थजातमभि अभिलक्ष्योद्दिश्य त्वमुदगा उद्गतोसि, हे इन्द्र परमसामर्थ्यसम्पन्न तत्सर्वं ते तव

वशेस्ति। पदार्थैरेव परमात्मसत्ता निश्चीयते तत्कर्तृत्वेन। तस्मादेव यत्कच्चोदगा इत्युक्तम् ॥ २ ॥

१२७. य आनयत्परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्।
इन्द्रः स नो युवा सखा ॥ ३ ॥ (ऋ. ६।४५।१)

य आनयदिति। भरद्वाज ऋषिः।

य इन्द्रः सर्वसामर्थ्योपेतः परमात्मा सुनीती सुनीत्या दयया परावतो दूरदेशात्सन्मर्गवैमुख्याद्यदुमुपरतं परमात्मविमुखम्। यमु उपरमे। दुक् प्रत्ययः। अनुनासिकलोपः। तुर्वशं मनुष्यम्। तुर्वश इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।१५)। तुर्वी हिंसायाम्। अशच् प्रत्ययः। तुर्व्यते हिंस्यते व्याध्यादिभिर्मृत्युना च। आनयत्स्वमार्गे स्थापयति स युवा जरामरणादिरहितो नोस्माकं सखा मित्रम्॥ ३ ॥

१२८. मा न इन्द्राभ्या३ दिशः सूरो अक्तुष्वा†यमत।
त्वा यजा वनेम तत् ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९२।३१)

मा न इति। श्रुतकक्ष आङ्गिरस ऋषिः।

इन्द्राभ्या इत्यत्र इन्द्र अभि आ इतिच्छेदः। हे इन्द्र परमसमर्थ, अक्तौ रात्रौ। अक्तुरिति रात्रीनाम (निघ० १।७।४)। अक्तुभी रात्रिभिरिति 'विद्यामेषि रजः' इतिमन्त्रव्याख्याने यास्कः। अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु। रात्रावेव श्रान्ता जना विश्रमा निद्रया व्यक्ता गतश्रमा भवन्ति। आ दिश आदेष्टा इदं कुविदं न कुवित्यादेशं कुर्वाणः सूरोतिबलवान्। उरस् बलार्थः। सु अतिशयितमुरो यस्य तत्सूरः। विशेष्यविशेषणयोर्लिङ्गव्यत्ययः। सामर्थ्याद्राक्षसः कामः। रात्रौ कामो बलिष्ठो भवति कामिनाम्। नोस्मान्मा आ

† यमत् इत्यृक्पाठः।

यमत मा नियमयतु नियन्ता मा भवत्वस्माकम् । यदि भवेन्नियन्ता तर्हि त्वा त्वया युजा त्वया सह युक्ता वयं तत्तं वनेम हिंसाम ॥ ४ ॥

१२९. एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
वर्षिष्ठमूतये भर ॥ ५ ॥ (ऋ. १।८।१)

एन्द्रमिति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्, सानसिं संभजनीयम् । षण संभक्तौ । असिः प्रत्ययः । वृद्धिः । सजित्वानं समानधर्मजेतारम् । भक्तिर्हि ज्ञानस्य समानधर्मा । तदपेक्षयोत्कर्षप्रणेतारं सदासहं कामादीनामभिभवितारं वर्षिष्ठमतिशयेन वृद्धं प्रभूतं श्रेष्ठं वा रयिं भगवत्स्वरूपप्रदातारम् । रा दाने । इः प्रत्ययः । बाहुलकाद्युक्, धातोर्ह्रस्वश्च । ज्ञानरूपं धनमित्यर्थः । ऊतयेस्माकं पारलौकिकरक्षानिमित्तमा भर आहर ॥ ५ ॥

१३०. इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे ।
युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥ ६ ॥ (ऋ. १।७।५)

इन्द्रमिति । उपर्युक्त ऋषिः ।

महाधने पारलौकिके मोक्षरूपेभीप्सिते सति वयमिन्द्रं परमात्मानं सर्वसामर्थ्यं हवामह आह्वयामः प्रार्थयामहे । अर्भेल्पे जागत्के वा वनेभोप्सितेपि तमेवाह्वयामः । नापरं कञ्चित्प्रार्थयामहे प्रपन्नत्वादितिभावः । कथंभूतमिन्द्रम् ? युजं समाहितं वृत्रेषु पापेषु ज्ञानाच्छादकेषु पापाचारेषु च वज्रिणं पापवर्जकम् ॥ ६ ॥

१३१. अपिबत्कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे ।
†तत्रादददिष्ट पौंस्यम् ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।४५।२६)

† अत्रादेदिष्ट इत्यपपाठः ।

अपिबदिति । त्रिशोकः काण्व ऋषिः ।

इन्द्रः परमात्मा कद्रुवः कुत्सितगतिमतोभक्तजीवस्य सुतं विचारितं पापमज्ञानं वा सहस्रबाह्वे सहस्रबाहवे सहस्रधा बाधनसमर्थायाज्ञानायापिबत्पीतवान्नाशितवानित्यर्थः। अज्ञानाय पिबतीति भावः। मशकाय धूम इतिवत्सहस्रबाह्व इति चतुर्थी। सहस्रबाहुनिवृत्यर्थमित्यर्थः। यदा परमेश्वरः पापिनमपि पावयति तत्र तस्मिन्काले पौंस्यं तस्य पौरुषमददिष्टादेदिष्टादीप्यत दीप्यत इतिभावः ॥ ७ ॥

१३२. वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र नो†नुमो वृषन् ।
विद्धी त्वा ३ स्य नो वसो ॥ ८ ॥ (ऋ. ७।३१४)

वयमिन्द्रेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे वृषन्नस्माकं मनोरथानां वर्षयितः, प्रदातः इन्द्र परमात्मन्, त्वायवस्त्वां कामयन्त इति त्वत्कामा वयमभि प्र नोनुम आभिमुख्येन प्रकर्षण पुनः पुनर्नुमः स्तुमः। हे वसोस्मदन्तर्वासिस्त्वं नोस्माकमस्येदं स्तुतिवचनम्। विभक्तिव्यत्यय। तु शीघ्रं विद्धि जानीहि ॥ ८ ॥

१३३. आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।४५।१)

आ घा य इति । त्रिशोकः काण्व ऋषिः ।

ये भक्ता ज्ञानिनो वाग्नि परमात्मानम् आ इन्धते सम्यगुपासते घ खलु येषां च युवा जन्ममरणरहित इन्द्रः स परमात्मा सखा सहायकस्त आनूषगनुषक्तमानुपूर्व्येण बर्हिर्वृद्धि स्तृणन्त्याच्छादयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ ९ ॥

† णोनुमो इत्यपपाठः ।

१३४. भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १० ॥ (ऋ. ८।४५।४०)

भिन्धीति । उपर्युक्त ऋषिः ।

हे परमसमर्थ परमात्मन् विश्वाः सर्वा द्विषः कामक्रोधादिवृत्तीरप भिन्धि विदारय । बाधो बाधिका विघ्नकर्त्रीर्मृधो हिंसिकाश्च द्विषो मानसीर्वृत्तीरन्याः परि जहि समन्ताद्विनाशय । स्पार्हं स्पृहणीयं सर्वभक्ताभिलषितं तद्वसु धनं पारमेश्वरं दर्शनमा भराहर ॥ १० ॥

इति चतुर्थी दशतिः । इति द्वितीयः खण्डः

१३५. इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् ।
नि यामञ्चित्रमृञ्जते ॥ १ ॥ (ऋ. १।३७।३)

अस्यां दशत्यामिन्द्रो देवता गायत्री च छन्दः । ऋषिनिर्देशं करिष्यामः । इहेवेति । अस्य मन्त्रस्य कण्वो घौर ऋषिः ।

एषां विदुषां भक्तानां च हस्तेषु मुखेषु । हसत्यनेनेति । स्थिता कशा वाचः । कशेति वाङ्नाम (निघ० १।११।४३) । काशयति प्रकाशयत्यर्थानिति । यद्वदन्त्युपदिशन्ति तदिहेवात्र स्थित इव शृण्वे शृणोति । पुरुषव्यत्ययः । यामन्यामनि याञ्चायां "ममोपरि कृपां कुरु, अधिकं च तत्त्वमुपदिश" इत्येतादृशि प्रार्थनायां चित्रं यथा तथा नि ऋञ्जते ज्ञानदानेनाविद्यां भजंते विनाशयति । इन्द्रः कर्ता ॥ १ ॥

१३६. इम उत्वा वि चक्षते सखाय इन्द्रसोमिनः ।
पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥ २ ॥ (ऋ. ८।४५।१६)

इम इति । त्रिशोकः काण्व ऋषिः ।

हे इन्द्र समर्थपरमात्मन्निम उपस्थिताः । सोमिनः सोमः परमात्मा । सूतेमृतं मोक्षमिति । अथवा सोमो भक्तिः । सापि मोक्षं सूते । तद्वन्तः परमात्मवन्तो भक्तिमन्तो वा हृदयेन परमात्मानं दधाना इति भावः । सखायः समानधर्माणो मनुष्यास्त्वा उ त्वामेव वि चक्षते वदन्ति स्तुवन्ति विपश्यन्ति वा । चष्टे इति पश्यतिकर्मा । दृष्टान्तमाह । यथा पुष्टावन्तः पोषणवन्तः पोषणमिच्छन्त इतिभावः । पशुपोषणकामा जना पशुं पोष्यं वात्सल्येन दयया च पश्यन्ति तद्वत् ॥ २ ॥

१३७. समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।६।४)

समस्येति । वत्सः काण्व ऋषिः ।

यथा सिन्धवो नद्यः समुद्राय समुद्रमालिङ्गितुं सं नमन्त प्रह्वीभवन्ति तद्वद्विश्वाः सर्वाः कृष्टयो मनो विलिख्य विचारेणोन्मथ्य पापनिष्कर्षणेच्छवो विशो मनुष्या अस्य परमात्मनो मन्यवे ज्ञानाय परमात्मस्वरूपज्ञानाय सं नमन्त सन्नमन्ति ॥ ३ ॥

१३८. देवानामिदवो महत्तदा वृणीमहे वयम् ।
वृष्णामस्मभ्यमूतये ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।८३।१)

देवनामीति । कुसीदो काण्व ऋषिः ।

वृष्णां कामानां वर्षितॄणां समीहितसम्पादकानां देवानां विदुषां सच्चरित्राणामस्मभ्यमस्मदर्थं यन्महदवो रक्षणं तदूतयेस्मास्कं रक्षायै इत् एव वयमा वृणीमहे वृणुमः स्वीकुर्मः । सन्तुनाम काममन्य रक्षा अन्येषां, वयं तु विद्वत्कृतरक्षामेव कामयामहे ॥ ४ ॥

१३९. सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते ।
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।१८।१)

सोमानमिति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

हे ब्रह्मणस्पते वेदवाचस्पते परमात्मन् सोमानं भक्तिमन्तमुद्दिश्य स्वरणं मम गमनम् । स्वरतिर्गत्यर्थः । ल्युट् । कृणुहि कुरुसम्पादय । भक्तानां विमलकमलचरणपरिचर्यायां निरतो भवामि यथा तथा कुर्विति प्रार्थना । कमिव ? य औशिजो मेधाविसमाजः उशिज् इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१९) । यथा कक्षीवन्तमेतन्नाम्ना प्रसिद्धं महाचार्यं कञ्चिद्वेदकाल उपासर्पत्तथैव । सोमानामितिपाठे भक्तानां सविध इत्यर्थः ॥ ४ ॥

१४०. बो† धन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः ।
शृणोतु शक्र आशिषम् ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।९३।१८)

बोधन्मना इति । श्रुतकक्ष आङ्गिरस ऋषिः ।

भूर्यासुतिर्भूरयो बह्वय आसुतयः प्रार्थना यस्मै स बहुसंस्तुतो वृत्रहा पापवृत्तिविनाशकः परमात्मा नोस्माकं बोधन्मना इत् हृदयभावबोधक एवास्तु । शक्रः प्रतापवान्सोस्माकमाशिषमाशसनं शृणोत्वङ्गीकरोतु ॥ ६ ॥

१४१. अद्या नो देव सवितः प्रजावत्सावीः सौभगम् ।
परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥ ७ ॥ (ऋ. ५।८२।४)

अद्येति । श्यावाश्व आत्रेय ऋषिः ।

हे सवितः सर्वोत्पादक ज्ञानोत्पादक वा देव परमात्मन्नद्य

† धि इत्यन्यपाठः ।

नोस्माकं प्रजावत्प्रकृष्टं जननं प्रजा ज्ञानं तद्वत्सौभगं ज्ञानवत्सौभाग्यं सावीः प्रेरय । दुःष्वप्न्यं परमात्मातिरिक्तविषयकः स्वप्नो दुष्वप्नस्तज्जन्यं दुःखादिकं परा सुव दूरं क्षिप ॥ ७ ॥

१४२. क्व ३ स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः ।
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।६४।७)

क्व ३ स्येति । प्रगाथः काण्व ऋषिः ।

स्यः स वृषभस्तर्पको युवाविनश्यद्यौवनो नित्य इत्यर्थः । तुविग्रीवो बहुशिरा व्यापक इत्यर्थः । तुवीति बहुनाम (निघ० ३।१।२) अनानतः कदाचिदपि क्वचिदप्यनवनतः कैश्चिदप्यतिरस्कृतः परमात्मा क्व ? इति विद्वत्सूपासकस्य प्रश्नः । कः सुखी ब्रह्मा ब्रह्मज्ञानवांस्तं सपर्यति पूजयतीत्युत्तरम् । नेदं प्रश्नानुगतमुत्तरमितिचेत्, स क्व केनोपास्यत इति प्रश्नमुद्भाव्योत्तरं कल्प्यम् । यश्च विद्वान् यश्चानन्दकामः स एव यत्र तत्र तमुपास्त इत्याशयः ॥ ८ ॥

१४३. उपह्वरे गिरीणां संगमे† च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।६।२८)

उपह्वर इति । वत्सः काण्व ऋषिः ।

तमेव पूर्वोक्तं प्रश्नं वत्सोपि स्वमन्त्रेण निराकरोति । गिरीणां पर्वतानामुपह्वरे समीपे गुहासु नदीनां च संगमे रमणीयप्रदेशे । विप्रो मेधावी । विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१) । विशेषेण पूरयति जिज्ञासूनामभिलाषमिति । धिया परमात्मविषयकबुद्ध्याजायत सम्पन्नो भवति । कुत्र केन पूज्यते परमात्मेतिप्रश्नस्योत्तरमेकान्ते रमणीये ध्यानविघ्नाभाववति प्रदेशे मेधाविना स उपास्यत इत्युत्तरम् ॥ ९ ॥

† थे इत्यन्यपाठः ।

१४४. प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं
गीर्भिः । नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥ १० ॥ (ऋ. ८।१६।१)

प्र सम्राजमिति । इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः ।

हे भक्ताः, चर्षणीनां मनुष्याणाम् । चर्षणिरिति मनुष्यनाम (निघ० २।३।८) । सम्राजमधीश्वरं नव्यं स्तव्यं नरं परमधामनेतारं नृषाहं दुर्जनानामभिभवितारं मंहिष्ठं दातृतममिन्द्रं परमसमर्थं परमात्मानं गीर्भिः स्तोत्रवचनैः प्र स्तोत प्रकर्षेण स्तुत ॥ १० ॥

इति पञ्चमी दशतिः । इति तृतीयः खण्डः

इति द्वितीयस्य प्रपाठकस्य प्रथमोर्धः प्रपाठकः



१४५. अपादु शिप्रयन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः ।
इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९२।४)

अस्यां दशत्यां पंचमस्य मन्त्रस्य मरुतो देवता अन्येषां चेन्द्रः । गायत्री च च्छन्दः । ऋषिनिर्देशं करिष्यामः । अपादु इति । अस्य मन्त्रस्य श्रुतकक्ष आङ्गिरस ऋषिः ।

यवाशिरो यवान्धर्मतः पृथग्भूतानाश्रृणातीति तथाभूतः । अपस्पृधेथामानृचु० (पा० ६।१।३६) इति सूत्रेणाशिर इति निपात्यते । इन्द्रः परमात्मा सुदक्षस्य भक्तिमार्गेतिनिपुणस्य प्रहोषिणः प्रकर्षेण परमेश्वरे स्वं होतुर्भगवन्निष्ठस्येन्दोर्भगवद्ध्यातृतया भगवत्प्रकाश-प्रकाशितस्य जीवस्यान्धसोन्धकारमज्ञानम् । विभक्तिव्यत्ययः शिप्री क्षिप्रम् । अपात् उ पिबत्येव । अस्मिन्नुपासके परमेश्वरप्रीतिः परां काष्ठां स्पृशति तद्धृदयनिष्ठमज्ञानान्धकारं निःशेषं नाशयति परमात्मेति भावः ॥ १ ॥

१४६. इमा उत्वा †पुरुवसोऽभि प्र ‡नोनुर्वुगिरः ।
*गावो वत्सं न धेनवः ॥ २ ॥ (ऋ. ६।४५।२५)

इमा उ इति मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

हे पुरुवसो पुरूणां बहूनां सर्वेषां वासयितः परमात्मन्धेनवो नवसूतिका गावो वत्सं न वत्समिवेमा अस्माकं प्रयुज्यमाना गिरः स्तुतिवाचस्त्वा उ अभि त्वामेवाभिलक्ष्य प्र नोनुवुः प्रणुवन्ति स्तुवन्ति ॥ २ ॥

१४७. अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ३ ॥ (ऋ. १।८४।१५)

अत्राहेति । गोतमो राहूगण ऋषिः ।

सूर्यो रात्रौ स्वरश्मीन्निशाकरे निधायापगच्छतीतिजनसंवादः । नास्ति चन्द्रमसः स्वीय प्रकाशः । सूर्यप्रकाशेनैव स प्रकाशते । इममेवार्थं दृष्टान्तपक्षे श्रुतिः प्रतिपादयति । अत्राह अत्रैव चन्द्रमसो गृहे मण्डले त्वष्टुः सूर्यस्यापीच्यमन्तर्हितमन्तर्हितान् गोर्गा रश्मीनमन्वताजानन् जानन्ति विद्वांसः । इत्था अनेनैव प्रकारेण चन्द्रमसो निपुणनिर्मातुरन्तःकरणस्य मनसः । चन्द्रश्चासौ निर्माता चेति चन्द्रमाः । चन्द्रशब्दउपपदे मातेरसुन् । अन्तःकरणं हि सुन्दरमसुन्दरं सर्वं कल्पयति । तेन कल्पितेषु पदार्थेषु जीवस्य मनो निलीनं भवति । परमात्मस्वरूपं च विस्मरति । मनसो गृहेभ्यन्तरे भक्त्यातिस्वच्छे संजाते त्वष्टुस्तूर्णमश्नुवतः परमात्मनो गोर्गा रश्मीनपीच्यं स्वेष्वन्तर्हितानमन्वत विजानन्ति भक्ताः । विलक्षणोयं मन्त्रः । आवृत्तिमपेक्षते । आवृत्त्यैवापेक्षितमर्थं ददाति ॥ ३ ॥

---

† शतक्रतोभि इत्यृक्पाठः । ‡ णो इत्यृक्पाठः । * इन्द्रवत्सं न मातर इत्यृक्पाठः ।

१४८. यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः ।
तत्र पूषाभवत्सचा ॥ ४ ॥ (ऋ. ६।५७।४)

यदिन्द्र इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

यद्यदा वृषन्तमोतिशयेन वर्षक इन्द्रो मेघोपो जलानि रितो गमनस्वभावा महीः पृथिवीरनयत्प्रापयत्ति तत्र तदा पूषा भास्करः सचा सहायकोभवद्भवति । सूर्यरश्मिसाहाय्येनैव मेघो जलं वर्षतीत्युक्तम् । इत्याधिभौतिकोर्थः । आधिदैविकश्चायम् । वृषन्तमोतिशयेन हृदयसन्तर्पक इन्द्रः परमात्मापः कर्म । अप इति कर्मनाम (निघ० २।१।१) । लक्षणया कर्मकारणभूतमन्तःकरणम् महीर्महती रितो वृत्तीर्मनोवृत्तीरित्यर्थः । रि गतौ । वृत्तयो हि गमनशीला भवन्ति । गच्छन्त्यागच्छन्ति च । वृत्तौ महत्त्वं च परमात्मविषयकत्वेन मन्तव्यम् । अनयन्नयति तदा पूषा पोषणकर्त्ताचार्यः । सचा सहायकोभवद्भवति । आचार्यो हि भगवद्विषयिणीं रतिमुपदेशेन पुष्णाति । ततः परमात्मनः कृपा भवति । ततः स जीवोन्तःकरणं परमात्मविषयिणीर्वृत्तीर्नयति । तदैवान्तःकरणे पारमैश्वर्यो वृत्तय उद्भवन्तीतिभावः । मह्या रित इति विशेषणदानेन पृथिवी चलैव न त्वचलेति बोध्यते ॥ ४ ॥

१४९. गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम् ।
युक्ता वह्नी रथानाम् ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।९४।१)

गौर्धयतीति । बिन्दुः पूतदक्षो वाङ्गिरस ऋषिः ।

मरुतां देवानां विदुषाम् । द्विधातुजं रूपं मरुदिति । मितममितं वा रोचते वा रोचयते वा रौती वा रावयति वा । विद्वांसो मूर्खेभ्यो मितं रोचन्तेमितं च ज्ञानिभ्यः अथवा तेमितं यथा तथा रुवन्ति शब्दायन्ते परमात्मधर्मानिति । मातेः पूर्वार्द्धं रूपं रोचते रौतेर्वोत्तरार्द्धम् । पृषोदरादित्वात्साधुः । मघोनां भूमावतां प्रतिष्ठितानां रथानां

परमात्मनि रममाणानाम्। रमते रथ इति। युक्ता योग्या वह्नि-र्भक्तात्परं धाम वोढ्री माता मातृवद्रक्षिका श्रवस्युर्यशो भगवद्रूपं धनं वा इच्छन्ती गौर्वाग् धयति भगवन्नामस्मरणजन्यं रसं पिबति ॥ ५ ॥

१५०. उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते।
उप नो हरिभिः सुतम् ॥ ६ ॥   (ऋ. ८।९३।३१)

उप न इति। श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरस ऋषिः।

हे मदानां नोऽस्माकं परमानन्दानां पते, दर्शनाज्ञापालनसदा-चरणप्रभृतिजा बहुविधा आनन्दा इति बहुवचनम्। हरिभिर्मनुष्यै-र्भक्तैः। हरयो मनुष्याः (निघ० २।३।१०)। सुतं सारवद्धृदयम्। यथौषधादिकं वह्न्यादिसंयोगेनाभिषूय तत्सारो गृह्यते तद्वद्भक्ति-वह्निसंयोगेन हृदयं रसप्रधानं सारवत्क्रियते भक्तैः उप याहि उप-गच्छ प्राप्नुहि। दैन्यमौत्सुक्यं प्रार्थनारसविह्वलतां च द्योतयितुमुप। नो हरिभिः सुतमिति पुनरुक्तिः। श्रुतकक्षस्य प्रार्थनेयम् ॥ ६ ॥

१५१. इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं †वृधन्तो अध्वरे।
अच्छावभृथमोजसा ॥ ७ ॥   (ऋ. ८।९३।२३)

इष्टेति। श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरस ऋषिः।

अध्वरे भक्तियज्ञ ओजसा भक्तितेजसाच्छाभिमुख्येन वृधन्तो वर्धमानानां प्रगतिशालिनाम्। विभक्तिव्यत्ययः। भक्तानां प्रपन्नानां वा इष्टाभिलाषिता होत्रा वाक्। होत्रेति वाङ्नाम (निघ० १।११।३५)। इन्द्रं परमात्मानमसृक्षतासृजत्सृजति प्रादुर्भावयति ॥ ७ ॥

१५२. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्र‡ह।
अहं सूर्य इवाजनि ॥ ८ ॥   (ऋ. ८।६।१०)

† वृधासो इत्यृक्पाठः।   ‡ भ इत्यृक्पाठः।

अहमिद्धीति । वत्सः काण्व ऋषिः ।

परमात्मानं साक्षात्कृत्य कृतकृत्यात्मा वत्सो वदति । अहम् इत् हि अहमेव हि ऋतस्य परमसत्यस्य पितुर्जनकस्य रक्षकस्य वा मेधां बुद्धिमनुकम्पात्मिकां परि जग्रह परिगृहीतवान् । अतोहं सूर्य इव सप्रकाशोजन्यभूवम् ॥ ८ ॥

१५३. रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ ९ ॥ (ऋ. १।३०।१३)

रेवतीरिति । शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः ।

क्षुमन्तोन्नवन्तो भवितज्ञानरूपान्नवन्तो वयम् । क्षु इत्यन्ननाम (निघ० २।७।१०) इन्द्रे परमात्मनि सधमादे समीचीनतया प्रसन्ने सति याभिर्मदेम मदयुक्ता आनन्दयुक्ता भवेम ता नोस्माकमन्तः करणवृत्तयो रेवती रेवत्यः स्फुरणशीलाः । रीङ् गतौ, इत्यस्माद्रयिः । रयिशब्दान्मतुपि रेवतीतिरूपं छान्दसम् । तुविवाजा अत्यन्तं परमेश्वरार्चिकाः सन्तु भवन्तु । वाजयतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।३६) अथवा तुविवाजा बहुबलाः प्रभूतानन्दबला भवन्तु । वाज इति बलनाम (निघ० २।९।२) ॥ ९ ॥

१५४. सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥ १० ॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

सोम इति । शुनःशेप आजीगर्तिर्वामदेवो वा ऋषिः ।

विश्वासां विश्वेषां सुक्षितीनां सज्जनानाम् । क्षितिरिति मनुष्यनाम (निघ० २।३।६) । अथवा विश्वासां सुक्षितीनां लक्षणया भूमिष्ठानां सज्जनानां सोमः शान्तः शान्तिप्रदाता पूषा पोषकश्च शमदमादिप्रदानेन, परमेश्वरश्चेततुर्जानाति कल्याणं सम्पादयतीतिभावः । यतः स देवत्रा सज्जनरक्षको रथ्यो रथिनो रथसम्बन्धिनोर्जीवमनसोर्हिता हितकारकश्च । मन्त्रे य एव सोमः स एव पूषा ।

उभौ शब्दौ परमात्मवाचकौ विशेषणमुखेन। विशेषणद्वित्वमादाय चेततुरित्यत्रापि द्वित्वम्। वस्तुतस्तु तत्रैकत्वमेव। तथैव व्याख्यातम् ॥ १० ॥

इति षष्ठी दशतिः। इति चतुर्थः खण्डः

१५५. पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥ १ ॥
(ऋ. ८।९२।१)

अस्यां दशत्यामिन्द्रो देवता। गायत्री छन्दश्च। ऋषिं प्रतिमन्त्रं निर्देक्ष्यामः। अस्य मन्त्रस्य श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरस ऋषिः।

हे मनुष्या यूयं वो युष्माकमन्धसोन्ध आध्यानीयं ज्ञानमा पान्तं समन्ताद्रक्षन्तं विश्वासाहं सर्वेषामनिष्टानामभिभवितारं शतक्रतुमनेकविधकर्माणं चर्षणीनां मनुष्याणां प्रजानां वाभिलषितस्य मंहिष्ठं दातृतममिन्द्रं परमात्मानमभि प्र गायत आभिमुख्येन प्रकर्षेण भजत स्मरत ॥ १ ॥

१५६. प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत।
सखायः सोमपाव्ने ॥ २ ॥ (ऋ. ७।३१।१)

प्र व इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः।

हे भक्ताः सखायः समानख्यातिमन्तः समानभक्तिमन्तो वा वो यूयं हर्यश्वायाभिलषितार्थज्ञानवते। हर्यतिरिच्छार्थकः। हर्यत इति हरिरिच्छा। तामश्नुते व्याप्नोति ज्ञानेन, जानातीत्यर्थः स हर्यश्वस्तस्मै सोमपाव्ने शान्तिरक्षकायेन्द्राय समर्थाय परमात्मने मादनं प्रहर्षणं स्तोत्रं प्रार्थनावचनं प्र गायत ॥ २ ॥

१५७. वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।२।१६)

वयमु त्वेति । मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधाश्चाङ्गिरस ऋषी ।

हे इन्द्र परमात्मन् कण्वा मेधाविनः। कण्व इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।७)। उक्थेभिरुक्थैः स्तोत्रैस्त्वा त्वां जरन्ते स्तुवन्ति जरतिः स्तुतिकर्मा। तदिदर्थाः तदेव त्वत्प्रसादसम्पादनमेवार्थः प्रयोजनं येषां ते वयम् उ अपि सखायः समानख्यातिमन्तस्त्वायन्तस्त्वामात्मन इच्छन्तो जरामहे स्तुमहे ॥ ३ ॥

१५८. इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९२।१९)

इन्द्रायेति । श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरस ऋषिः ।

मद्वने माद्यति तच्छीलाय भक्तजनप्रार्थनया प्रमदनशीलाय सदाचारैर्वा प्रसदनशीलायेन्द्राय परमात्मने नोस्माकं गिरो वाचः सुतं पवित्रं जातं हृदयं परि ष्टोभन्तु परितः स्तुवन्तु। "अस्मदीयं हृदयं सदाचारपूतमित्यत्रागत्य तिष्ठे" ति कथयन्तु। कारवः स्तोतारोऽप्यर्कं देवमर्चनीयमर्चन्तु पूजयन्तु। अर्को देवो भवति। यदेनमर्चन्तीति निरुक्तम् (५।४)। कारुरिति स्तोतृनाम (निघ० ३।१६।३) ॥ ४ ॥

१५९. अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि।
एहीमस्य द्रवा पिब ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।१७।११)

अयं त इति । इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः ।

इरिम्बिठिर्वदति। हे इन्द्र परमात्मन्नस्योपासकस्य बर्हिष्यन्तरिक्षे हृदयाकाशे ते तुभ्यं त्वदर्थं निपूतो नितरां पवित्रोयं सोमः शान्तिजलम्। ईम् इदानीमेव एह्यागच्छ। द्रव शीघ्रमागच्छ। पिब गृहाण च तज्जलम् ॥ ५ ॥

१६०. सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ।। ६ ।। (ऋ. १।४।१)

सुरूपकृत्न्विति । मधुच्छन्दाः वैश्वामित्र ऋषिः ।

गोदुहे गोर्दोग्ध्रे सुदुघामिव सुष्ठु दोग्ध्रीं गामिव सुरूपकृत्नुं सुन्दराणि रूपाणि येषां तेषां कर्मणां कृत्नुं कर्तारं परमात्मानमूतयेऽस्माकं रक्षायै द्यविद्यवि दिने दिने जुहूमसि आह्वयामः ।। ६ ।।

१६१. अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ।। ७ ।। (ऋ. ८।४५।२२)

अभि त्वेति । त्रिशोकः काण्व ऋषिः ।

हे वृषभ सर्वमनोरथराशेः पूरक परमात्मन् सुते मनसि पवित्रीकृते सति सुतं सारयुक्तं कृतं पावित्र्यरूपसारयुक्तस्य मनसः । षष्ठ्यर्थे द्वितीया । पीतय आस्वादनायात्र स्थित्वा मत्कृतां भक्तिं द्रष्टुमित्यर्थः । त्वा त्वामभि सृजामि आभिमुख्येनोत्पादयामि । आगत्य तृम्प तृप्य मदमानन्दं च व्यश्नुह्यनुभव ।। ७ ।।

१६२. य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः ।
पिबेदस्य त्वमीशिषे ।। ८ ।। (ऋ. ८।८२।७)

य इन्द्र इति । कुसीदी काण्व ऋषिः ।

चमसेष्विन्द्रियेषु । चमन्ति भक्षयन्त्यास्वादयन्ति स्वस्वविषयानिति । चमूषु सर्वग्राहिणीषु वृत्तिषु च यः सोमः शान्तरसः शम इत्यर्थः । सुत उत्पादितः, हे इन्द्र परमात्मंस्त्वं तं पिबेत्पिबेः । पुरुषव्यत्ययः । तत्र पाने कारणमाह – त्वमस्य सोमस्य शमस्येशिषे । त्वदर्थमेवैष शम इतिभावः ।। ८ ।।

१६३. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ।। ९ ।। (ऋ. १।३०।७)

योगेयोग इति । शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः ।

योगेयोगे प्रतिसमाधि वाजेवाजे प्रत्येकं संग्रामे दुराचारिभिरिन्द्रियैर्मनुष्यैश्च संघर्षे पराजयकाले च तवस्तरं बलवत्तरम् । तव इति बलनाम (निघ० २।९।५) । इन्द्रं परमात्मानमूतये स्वरक्षायै हवामह आह्वयामः ॥ ९ ॥

१६४. आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत ।

सखायः स्तोमवाहसः ॥ १० ॥ (ऋ. १।५।१)

आ त्वेता इति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः ।

आ तु आ इतेतिच्छेदः । आ इति द्विः श्रूयते । उपसर्गदर्शनात्क्रियाध्याहारः । इतेति क्रियैका श्रूयते । अन्याध्याहार्या । अथवा श्रुताया अस्या एवेतेतिक्रियाया आवृत्तिः कर्तव्या । तु क्षिप्रमितिगतम् । परमात्मकीर्तनप्रसङ्गे समवृत्तीनां बन्धूनामामन्त्रणं करोति मधुच्छन्दाः । हे स्तोमवाहसः स्तोत्रवाहकाः स्तोमेन स्तोत्रेण परमात्मन आवाहकाः स्तोत्रपाठकर्तारः सखायो मित्राणि तु शीघ्रमा इत आगच्छत अत्र इत आगच्छत । आगत्य चेन्द्रमभि परमात्मानमभिलक्ष्य प्र गायत प्रकर्षेण गानं कुरुत ॥ १० ॥

इति सप्तमी दशतिः । इति पञ्चमः खण्डः

●

१६५. इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते ।

पिबा त्वा३स्य गिर्वणः ॥ १ ॥ (ऋ० ३।५१।१०)

अस्यां दशत्यामिन्द्रो देवता गायत्री च च्छन्दः । ऋषिनिर्देशं करिष्यामः । इदं हीति । अस्य मन्त्रस्य विश्वामित्र गाथिन ऋषिः ।

हे राधानां सिद्धीनां पते गिर्वणो गीर्भिर्वननीय स्तव्य परमात्मन्नोजसार्जवेन । ओज आर्जवे । असुन् । सुतं निष्पादितमिदं प्रम-

लक्षणभक्तिरसम्। इदमिति क्लीवं छान्दसम्। अस्य परमभक्तस्य पिब। तुः क्षिप्रार्थकः। अनुरिति क्रमद्योतनार्थकः। क्रमेण पिबेति भाव ॥ १ ॥

१६६. महाँ इन्द्रः†पुरश्च नो महित्वमस्तु वज्रिणे।
द्यौर्न प्रथिना शवः ॥ २ ॥ (ऋ. १।८।५)

महाँ इन्द्र इति। मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः।

परमात्मा गुणैर्महान्सर्वातिशाय्यप्यस्तीन्द्रोपि सर्वैश्वर्यसम्पन्नोप्यस्ति। अत एव च पुरः सर्वपालकः। पॄ पालनपूरणयोः। पुर अग्रगमने। इत्यस्माद्वा धातोर्निष्पन्नः पुर शब्दः। अत एव च पुरः सर्वश्रेष्ठोपि। नोऽस्माकम् अस्तु भवतु। ततोस्मै वज्रिणे विनाशकशक्तिमते गतिमते सर्वव्यापकाय वा महित्वं पूज्यत्वमस्तु। एतैर्गुणैर्युक्तः पूजामर्हति। किं च द्यौर्न द्युलोक इवास्य शवो बलं प्रथिना प्रथिम्ना पृथुत्वेन संगच्छताम् ॥ २ ॥

१६७. आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं
गृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।८१।१)

आ तू न इति। कुसीदी काण्व ऋषिः।

हे इन्द्र परमात्मन् महाहस्ती दीर्घबाहुस्त्वम्। शक्त्या सर्वं गृह्णातीति महाहस्तित्वम्। चित्रं चयनीयं ग्राभं ग्राह्यं क्षुमन्तं शब्दवन्तं प्रार्थनां कुर्वन्तं नोस्माकं मध्ये प्रस्तुतमिमं स्वभक्तं तु क्षिप्रमा सं गृभाय संगृहाण। केन? दक्षिणेन हस्तेनेतिशेषः। ग्रहणं प्रायेण दक्षिणेनैव हस्तेन भवति। "दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणो दाशतेर्वा स्याद्दानकर्मणो, हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने इति यास्कः (१।७)। लौकिकी ह्येषा हस्तकल्पना ॥ ३ ॥

† पुरश्च न इत्यन्यपाठः।

१६८. अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।६९।४)

अभि प्रेति । प्रियमेधा आङ्गिरस ऋषिः ।

हे भक्त यथायमिन्द्रः परमात्मा त्वां सत्यस्य सूनुं पुत्रवत्प्रियं विदे जानाति तथा त्वमिमं गोपतिं वाचस्पतिं सत्पतिं साधूनां पातारमिन्द्रमभि आभिमुख्येन गिरा स्तुत्या प्र अर्च समर्चय ॥ ४ ॥

१६९. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः
सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ ५ ॥
(ऋ ४।३१।१)

कयेति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

चित्रश्चायनीयः पूज्यः सदावृधः सर्वदा वर्धमानः सखा मित्रं परममित्रं परमात्मा कया ऊती ऊत्या प्रसादनविधिना कया च शचिष्ठयातिशयेन प्रज्ञावत्या । शचीति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९।८) वृता वर्तनेन व्यवहारेण नोऽस्माकम् आ भुवद् अभिमुखो भवेत् ? भगवद्विरहानलप्रतप्तान्तःकरणानां प्रपन्नानामियमार्तवाणी ॥५॥

१७०. त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम् ।
आ च्यावयस्यूतये ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।९२।७)

त्यमु व इति । श्रुतिकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरस ऋषिः ।

सत्रासाहं सर्वेषां दुष्टानां पराभवितारम् । सत्रेति बहुनाम । विश्वासु सर्वासु गीर्षु श्रुतिषु आयतं विस्तृतं प्रसिद्धं त्यमु तमेव परमात्मानं वो युष्माकमूतये सम्यग्रक्षायै आ च्यावयस्याच्यावय अवतारय ॥ ६ ॥

१७१. सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषम् ॥ ७ ॥ (ऋ. १।१८।६)

सदसस्पतीति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

सदसस्पतिं जगतः पतिम् । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । अद्भुतमाश्चर्यमयमिन्द्रस्येन्द्रियवतो जीवस्य प्रियं प्रेमस्थानं काम्यं कमनीयं च तं परमात्मानमयासिषं प्राप्तवानस्मि, किमर्थम्? सनिं ज्ञानदानं मेधां भक्तिप्रवणां बुद्धिं च प्राप्तुम् ॥ ७ ॥

१७२. ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः ।
उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥ ८ ॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

ये त इति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

वामदेवः कथयति । हे इन्द्र परमात्मन् ये ते तव पन्थाः पन्थानो दिवो दिव्यलोकादधोधस्ताद्वर्तन्ते येभिर्यैः पथिभिस्त्वं व्यश्वं शीघ्रमैरय आगच्छोत्र भक्तिशालायां तैरेव मार्गैः सततमिति शेषः । भुवो भुवि अस्मिन्स्थाने इतिभावः । आगत्य नोस्माकं श्रोषन्तु शृणु प्रार्थना अस्मदीया इति शेषः । उत इति पूरणार्थश्चार्थोवा ॥ ८ ॥

१७३. भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो ।
यदिन्द्र मृडयासि नः ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।९३।२८)

भद्रंभद्रमिति । श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरस ऋषिः ।

हे शतक्रतो बहुविधप्रज्ञ इन्द्र सर्वैश्वर्य त्वं यद् यदि नोस्मान् कृपया मृडयामि सुखयसि सुखयितुमिच्छसि तर्हि नोस्मभ्यं भद्रंभद्रं कल्याणतममूर्जं बलवदिषं ज्ञानरूपं धनमन्नं वा आ भर आहर ॥९॥

१७४. अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।
उत स्वराजो अश्विना ॥ १० ॥ (ऋ. ८।९४।४)

अस्तीति । विन्दुः पूतदक्षो वाङ्गिरस ऋषिः ।

भवता भक्तानाह्वयन्ति भक्तियज्ञेषु । अयं विद्यमानः सोमः शमो भक्तिरूपयज्ञः सुत उपस्थापितोस्ति । अस्य इमम् । विभक्तिव्य-

त्ययः । मरुतो विद्वांसः स्वराजः स्वतो राजन्ते शोभन्ते ये ते नान्यबुद्धिनेया इत्यर्थः । उत अपि चाश्विना प्रेम्णा शीघ्रमागमनशीलाः पिबन्त्यनुभवन्ति ॥ १० ॥

इत्यष्टमी दशतिः । इति षष्ठः खण्डः

१७५. ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
†वन्वानासः सुवीर्यम् ॥ १ ॥ (ऋ. १०।१५३।१)

अस्यां दशत्यामिन्द्रो देवता गायत्री च छन्दः । प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः । ईङ्खयन्तीरिति । अस्य मन्त्रस्य देवजामय इन्द्रमातरः ऋषिकाः ।

परमात्मोपासने व केवलं पुरुषा एवाधिकारिणः स्त्रियोऽपि तत्राधिक्रियन्त इत्याह । ईङ्खयन्तीरीङ्खयन्त्यो गच्छन्त्यः परमेश्वरं प्रति । प्रथमार्थे द्वितीया । ईङ्खतिर्गतिकर्मा । अपस्युवः परमेश्वरस्य सेवारूपं कर्मात्मन इच्छन्त्यो देवजामय ऋषिकाः सुवीर्यमत्यन्तबलशालिनं समर्थमिन्द्रं परमात्मानं जातं जातमिव साक्षात्प्राप्तमिव वन्वानासः याचमाना उपासते । अथवा हृदये जातं प्रकटितमनुभूततेजस्कं परमात्मानं प्रार्थयमाना सत्य उपासते ॥ १ ॥

१७६. §नकि देवा इनीमसि नक्या योपयामसि ।
मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ॥ २ ॥ (ऋ. १।१३४।७)

नकि देवा इति । गोधा ऋषिका ।

हे देवा दिव्यविचारवन्तो विद्वांसः । नकि इनीमसि न किमपि हिंस्मो वयम् । मनसापि कमपि न पीडयाम इत्यर्थः । नकि न वा आ योपयामसि विमोहयामः प्रलोभयामः किमपि सत्त्वम् । यथा

---

† भेजानास इत्यृक्पाठः । § नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि । पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे । इत्यृक्पाठः ।

वयमाचरामान्येऽपि तथाचरेयुरितीदृशी नास्ति दृगस्माकम्। स्वयं विचार्यैव सर्वैराचरणीयं न तु वृद्धाचरणं दृष्ट्वा युवभिरपि तथैवाचरणीयमित्याशंसा नः। मन्त्रश्रुत्यं मन्त्रैर्वेदमन्त्रैर्यच्छ्रुत्यं श्रव्यं तत् चरामसि चरामः। वेदादेशानुसारेणैवास्माकमाचरणीयमितिभावः ॥ २ ॥

१७७. दोषो आ गाद्बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण।
स्तुहि देवं सवितारम् ॥ ३ ॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

दोषो आ गेति। दध्यङ्ङाथर्वणऋषिः।

द्युमद्गामन्दीप्तिमद्गामिन् प्रकाशस्वरूपपरमात्मानं प्रति गन्तराथर्वण। अथर्वाहिंस्यः परमात्मा तस्य भक्त आथर्वणः। तत्सम्बुद्धौ। परमात्मोपासक। दोषा उ आ गाद् रात्रिरागता। बृहदधिकं गाय तद्धर्मगानं तद्धर्मस्मरणं वा तथा कुरु यथा गणरात्रेषु गतेष्वस्या अपि रात्रेर्निरर्थकत्वेन गणना न स्यादित्यधिकशब्दस्य परमार्थः। किंच सवितारं सर्वोत्पादकं देवं परमानन्दस्वरूपं परमात्मानं तं स्तुहि। हे परमेश्वर त्वमेतादृगसीत्येव रूपं स्तवनं नात्र विवक्षितम्। तद्धर्मस्मरणपूर्वकतद्धर्मताप्त्यभिलाषोल्लास एवात्र स्तवनम्। दोष आ गादिति पाठे दूषयति नाशयति तम इति दोषशब्देन प्रातःकालो ग्रहीतव्यः। नवतं प्रातश्च परमात्मस्मरणस्यात्मचिन्तनस्य परमानुकूल्यमिति परमात्मचिन्तकचक्रचूडामणीनामनुभवः ॥ ३ ॥

१७८. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः।
स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥ ४ ॥ (ऋ. १।४६।१)

एषो उषा इति। प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः।

एषोपस्थितापूर्व्यातिरमणीया। उ एव। प्रिया प्रियकरी। उषा भगवच्छक्तिः। ओषति दहति सर्वानेव दुर्विचारानशोभनान्।

उष दाहे। दिवो दिव्यदेशादपगतसर्वविकारात्पवित्रहृदयप्रदेशादागत्य। प्रिया इत्यत्र आ इति प्रश्लेषणीयम्। तथा चोपसर्गवशाद्योग्यक्रियाध्याहारः। व्युच्छति यत्किञ्चिदवशिष्टमज्ञानं विवर्जयति नाशयति। हे उषः परमात्मशक्ते वां युवामश्विनौ। अश्नुवाते व्याप्नुतः सर्वमित्यश्विनौ शक्तिशक्तिमन्तौ परमात्मशक्तिपरमात्मानौ। न हि शक्तिमन्तमन्तरेण शक्तिः शक्तावस्थातुं क्वचिदपीति प्रस्कण्व ऋषिः स्तवनकाले परमात्मानमपि स्मरति। अथवा शक्तिरूप एव परमात्मा तथापि लोकदृष्ट्या शक्तिशक्तिमतोः स्मरणमत्राधिगन्तव्यम्। बृहत्प्रभूतं स्तुषे स्तौमि ॥ ४ ॥

१७९. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव ॥ ५ ॥ (ऋ. १।८४।१३)

इन्द्रो दधीति। गोतमो राहूगण ऋषिः।

दधीचो ध्यानस्थस्योपासकस्य। ध्यानमञ्चतीति दध्यङ्। ध्यानशब्दोपपदादञ्चतेः क्विन्। पृषोदरादित्वाद्ध्यानशब्दस्य दधिभावः। अप्रतिष्कुतो निश्शब्दोप्रतिगत इति वा। इन्द्रो द्युतिमान्परमात्मा। अस्थभिरसनशीलाभिः प्रक्षेपणशीलाभिः शक्तिभिर्वृत्राणि पापानि नवतीर्नवन्ति। न अवतीति नवत्। नवन्तीति द्वितीया-बहुवचनम्। अकारलोपस्तु च्छान्दसः। नवतीरिति लिङ्गव्यत्ययेन। न रक्षकाणि रक्षाकर्मण्यसमर्थानि। नवेन्द्रियाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि चत्वारि चान्तःकरणानि जघान हन्ति। पापापन्नेष्विन्द्रियेषु नास्ति रक्षणसामर्थ्यम्। पापेन्द्रियाणां पामराणां विनाश एव नियतः। परमात्मध्यातुरिन्द्रियाणि निष्पापाण्येव भवन्तीत्याशयः॥५॥

१८०. इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥ ६ ॥ (ऋ. १।९।१)

इन्द्रेहीति। मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः।

इन्द्र परमात्मन्, आ इहि एहि मम हृदये। आगत्य च तत्र विश्वेभिरखिलैः सोमपर्वभिः शमपर्वभिरहिंसास्तेयमानसशौचादिभिर्यमैरन्धसस्तमसोऽज्ञानरूपस्य नाशेन मत्सि माद्य। त्वमोजसा बलेन पराभिभावकतेजसा वा महां महानसि। अभिष्टिरभिगन्ता सर्वत्रगमनकुशलश्चासि॥ ६॥

१८१. आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि।
महान् महीभिरूतिभिः॥ ७॥ (ऋ. ४।३२।१)

आ तू न इति। वामदेवो गौतम ऋषिः।

इन्द्र समर्थ, वृत्रहन् पापविध्वंसिन् परमात्मन्, नोऽस्मान् तू शीघ्रम्। आ गहि आगच्छ। अस्मत्सर्वक्लेशशमनार्थं प्राकट्यमाप्नुहीतिभावः। महान् त्वं महानसि, अतो महीभिर्महतीभिरूतिभी रक्षाभी रक्षानिमित्तेनेतिभावः। अस्माकमर्धं समीपमागच्छ। पूर्वत्र आ इत्युपसर्गबलाद्धातुपरिग्रहः। उत्तरत्र आगहीति स्पष्टनिर्देशः। एवं च परमात्मदर्शनस्यातुर्यं निवेद्यते॥ ७॥

१८२. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत्।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी॥ ८॥ (ऋ. ८।६।५१)

ओजस्तदेति। वत्सः काण्व ऋषिः।

अस्येन्द्रस्य परमात्मन तत्प्रसिद्धमोजः पराभिभवितृ बलं तित्विषे त्वेषते दीप्यते। यद्येनौजसा स इन्द्रः परमसमर्थो रोदसी द्यावापृथिव्यौ समवर्तयत्संवर्तयति संवेष्टते व्याप्य संतिष्ठत इत्यर्थः। किमिव? चर्मेव। यथा चर्मणि वेष्टितं यत्किमपि वस्तु चर्म रक्षति रक्षया च तत्प्रशस्यत एवं परमात्मा द्यावापृथिव्यौ तदन्तराले स्थितं तदन्यद्वस्तुमात्रं च संवेष्ट्य तिष्ठति रक्षति च। रक्षया चानया स

दीप्यतेत एव प्रशस्यते। उपास्यो हि देव उपासकानां दिवि पृथिव्यां च स्थितानां सम्यग्रक्षां सम्पादयतीति प्रतिपाद्यतेनेन मन्त्रेण ॥ ८ ॥

१८३. अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम्।
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ ९ ॥ (ऋ. १।३०।४)

अयमु त इति। शुनः शेप आजीगर्तिर्ऋषिः।

हे परमात्मन्नयमहं ते उ तवैवास्मि। त्वं गर्भधि मम हृदयाकाशमन्तःकरणाकाशं वा। गीर्यत उद्गीर्यते शब्द्यते वेति गर्भो निखिलब्रह्माण्डप्रसविता परमात्मा। गर्भो गृह्णातेर्वा। सर्वमनायासेनैव गृह्णाति। स गर्भः परमात्मा धीयते यस्मिस्तमन्तःकरणाकाशम्। तच्चित् तस्मादेव समतसि प्राप्नोषि। दृष्टान्तमाह। यथा कपोतः पक्षी गर्भधि गर्भधात्रीं कपोतीं रक्षार्थं समतति तथा। प्रियभार्यो हि कपोतो भवत्यतो गर्भकाले निपुणं कपोतीरक्षां विधत्त इति पक्षिशास्त्रज्ञाः। किं च त्वमपि कपोतः। कस्य सुखस्य परमानन्दस्य पोत इव नौरिव। यथा पोतेन वस्तुमात्रमुह्यते तथा त्वयाप्यानन्द उह्यते। अहं तवास्मीतिहेतोरेव त्वं नोस्माकं ममान्येषां च भक्तानामुपासकानां ममेव त्वां प्रपन्नानां वचः प्रार्थनाम् आ ऊहस आवहसि शृणोषीत्यर्थः ॥ ९ ॥

१८४. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्र†न आयूंषि तारिषत् ॥ १० ॥ (ऋ. १०।१८६।१)

वात इति। उलो वातायन ऋषिः।

वातः परमात्मा। वाति सर्वत्र गच्छतीति। नोस्माकं हृदे हृदयाय हृदयसन्तोषायेत्यर्थः। शम्भु परमकल्याणसम्पादकम्। शं भावयतीति। मयोभु सुखसम्पादकं च। मयः सुखं लौकिकं शमादि-

† ण इत्यृक्पाठः।

जन्यं वा भावयतीति। भेषजं परमानन्दम्। भेषजमिति सुखनाम (निघ० ३।७।१३)। भिषज्यतिरत्र प्रमोदार्थः। आ वातु आगमयतु प्रापयतु। परमात्मा तथाविधमानन्दं प्रयच्छतु प्रादुर्भावयतु येन सत्सङ्गादिजन्यं शमादिसमाधिजन्यं च सुखं स्वयमेवापतेदितिभावः। न हि तल्लौकिकं भैषजम्। न हि तद्धृदयाय भवति, भवति च केवलं रोगाय। न वात्र लौकिको वातः। न हि स परमानन्दानयनाय प्रवहति प्रवहति च केवलं प्राणनाय। स वातः परमात्मा नोऽस्माकमायूंषि प्र तारिषत् प्रवर्धयतु। पुरुषायुषप्राप्त्या स्वस्यान्येषां च महानुपकारः कृतो भवेत् ॥ १० ॥

इति नवमी दशतिः। इति सप्तमः खण्डः



१८५. यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा।
†न किः स दभ्यते जनः ॥ १ ॥ (ऋ १।४१।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता गायत्री च च्छन्दः। प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः। यमिति। अस्य च कण्वो घौर ऋषिः।

यं जीवं प्रचेतसः प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं यस्य स इति वा प्रकृष्टं चेतयत इति वा। सर्वज्ञः वरुणो भक्तावारको भक्तरक्षकः। मित्रो-मृत्यो रक्षकः। प्रमीतान्मरणात्त्रायत इति। प्रमीतशब्दस्य मिद्भावः। अर्यमा व्यापकः। इयर्तीति। परमात्मा रक्षन्ति रक्षति यं स जनो न किर्न कदापि दभ्यते हिंस्यते पीड्यते वा। प्रचेतसो वरुणो मित्रोऽर्यमेत्यादयो लौकिका अपि देवाः। एते देवा यं रक्षन्ति तस्य न लौकिको व्याधिः। रक्षन्तीति छान्दसं बहुवचनं परमात्मपक्षे। प्रचेतस इत्यपि छान्दसं बहुवचनम् ॥ १ ॥

† नू चित इत्युक्पाठः।

१८६. गव्यो षु णो यथा पुराश्वयोत रथया ।
वरिव†स्या‡महोनाम् ॥ २ ॥ (ऋ. ८।४६।१०)

गव्यो षु ण इति । वत्सः काण्व ऋषिः ।

हे परमात्मन् यथा पुरा पूर्वकाले नोस्मानस्माकं पूर्वजान्वा त्वं गव्या वाचोपदेशवाचाश्वया व्याप्त्या उताथवा रक्षया रक्षणसामग्र्या दर्शनादिना च सु अवरिवस्यः सुष्ठु प्रासादयस्तथाधुनापि महोनां मघोनां बलवतां पूज्यानां वा श्रेष्ठ वरिवस्य सन्तोषय ॥२॥

१८७. इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् ।
एनामृतस्य पिप्युषीः ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।६।१९)

इमास्त इति । वत्सः काण्व ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्निमाः पृश्नयो द्यौरादित्याश्च । प्रपूर्वादश्नोतेः स्पृशतेर्वा निप्रत्ययः । पृश्निरादित्यो भवति प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः । संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्, संस्पृष्टो भासेति वा । अथ द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च (निरु० २।१४) । ते तव । तवायत्ताः सन्तीत्याशयः । तास्त्वत्प्रेरिता घृतं क्षरणशीलम् । घृ क्षरणे । आशिरं विनाशशीलं च । शॄ हिंसायाम् । मनुष्यं दुहत पूरयन्तु । शतवर्षायुष्कान्सर्वान्मनुष्यान् कुर्वन्तु । कीदृश्यस्ताः ? ऋतस्य सत्यस्य परमसत्यस्य तवैनां प्रजां मनुष्यरूपामन्याश्च पशुपक्ष्यादिरूपाः पिप्युषीर्वर्धयित्र्यः । आदित्यादयः प्रजासमृद्धिसम्पादनार्थमेव परमात्मनोत्पादिताः । स्वकर्मणि व्यापृता सर्वे स्वकार्यं सम्पादयन्त्येव । तथापि विह्वलो वत्स ऋषिः प्रार्थयते परमात्मानं स तांस्तत्तत्कर्मणि नियोजयेदिति ॥ ३ ॥

† स्य इत्यपपाठः । ‡ महामह इत्यपपाठः ।

१८८. अया धिया च गव्यया पुरुणामन्पुरुष्टुत ।
यत्सोमेसोम आभुवः ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९३।१७)

अया धियेति । श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरस ऋषिः ।

हे पुरुनामन् पुरूणि बहूनि नामान्यग्निवाय्वादित्यरुद्रेन्द्रप्रभृतीनि यस्य तथाभूत । अथवा पुरूणि बहूनि सकलान्येव वस्तूनि नमयति स्वाधिकारे स्थापयतीतितथाभूत हे पुरुष्टुत बहुभिर्ऋषिभिः स्तुत परमात्मन्वयमयानया गव्यया गा ज्ञानमात्मन इच्छन्त्यायाधि भक्तिप्रधानया युक्ताः सदा भवेम यद्येन त्वं सोमेसोमे प्रतिसोमं सर्वेष्वाराधनावसरेषु आ भुवः समन्तात्प्रत्यक्षितो भवेः । ज्ञानधियैव भक्तिधियैव वा परमात्मा सन्निधीयत इतिभावः ।।४।।

१८९. पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ५ ॥ (ऋ. १।३।१०)

पावकेति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः ।

हे परमात्मन्नोस्माकं सरस्वती वाक् पावका ज्ञानोपदेशेन सर्वेषां पावित्र्यसम्पादने पट्वी वाजेभिर्वाजैर्बलैर्वाजिनीवती बलवती च स्यात् । वाज इति बलनाम (निघ० २।९।२) । सत्योपदेशे मा तामभिभवेद्धीरिति बलप्रार्थनप्रयोजनम् । सा धियावसुः प्रज्ञानिमित्तभूता । धीरिति प्रज्ञानाम कर्मनाम च (निघ० ३।९।७) यज्ञं सर्वोत्कृष्टं कर्म त्वन्नामस्मरणरूपं त्वद्धर्मोपदेशरूपं वा वष्टु कामयताम् ॥ ५ ॥

१९०. क इमं नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात् ।
स नो वसून्या भरात् ॥ ६ ॥ (नास्त्ययमृग्वेदे)

† आभव इत्यृक्पाठः ।

क इममिति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

क आनन्दस्वरूपः स परमात्मा सोमस्य भगवदाराधनस्यावसरे नाहुषीषु मानुषीषु प्रजासु मध्ये । नहुष इतिमनुष्यनाम (निघ० २।३।९) । इममिन्द्रं प्रसन्नेन्द्रियं भक्तम् आ तर्पयाद्दर्शनादिना सम्यक्तर्पयेत् । स च नोस्माकं वसूनि ज्ञानधनानि आ भरादाहरेत् । मन्त्रर्षिवचनम् ॥ ६ ॥

१९१. आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा
इमम् । एदं बर्हिः सदो मम ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।१७।१)

आ याहीति । इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्वयं ते त्वदर्थं सोमं शान्तिप्रधानं भक्तिरूपं यज्ञं सुषुम उत्पादितवन्तः । आ याह्यागच्छ । इमं सोमं भक्तिरूपयज्ञं पिबानुभव-अनुभूय तृप्तो भव । ममेदं बर्हिर्हृदयाकाशम् । आ सद आसीद । सप्तम्यर्थे द्वितीया । तत्र निषीद ॥ ७ ॥

१९२. महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः ।
दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ८ ॥ (ऋ. १०।१८५।१)

महि त्रीणामिति । सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः ।

मित्रस्यार्यम्णो वरुणस्य चेति त्रीणां त्रयाणां देवानां महि महद् द्युक्षं दीप्तं दुराधर्षं केनाप्यनभिभवनीयमवो रक्षणमस्तु । मित्रः सूर्यः । अर्यमा ईश्वराराधकः । अर्य इतीश्वरनाम (निघ० २।२२।२) । अथवा पितॄणां देवता । वरुणश्च जलदेवता । एतेषां कृपयैव शरीरस्वास्थ्यं तदधीनं च मनस्सौष्ठवं रक्षितव्यं स्यादिति भावः ॥ ८ ॥

१९३. त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्रा प्रणेतः ।
स्मसि स्थातर्हरीणाम् ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।४६।१)

त्वावत इति । वत्सः काण्व ऋषिः ।

हे पुरूवसो सर्वेषां निवासस्थान इन्द्र परमसमर्थ, हे प्रणेतर्जगन्निर्मातः । हरीणां मनुष्याणाम् । हरय इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।१०) । स्थातः शुभे कर्मणि स्थापयितः परमात्मंस्त्वावतस्त्वत्सदृशस्य तव स्वस्य सादृश्यं धत्त इति त्वावत इत्युक्तम् ॥

इति दशमी दशतिः । इत्यष्टमः खण्डः

इति द्वितीयस्य प्रपाठकस्य द्वितीयोर्धः प्रपाठकः

द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः

अथ तृतीयः प्रपाठकः

१९४. उत्त्वा मन्दन्तु सो†माः कृणुष्व राधो
अद्रिवः । अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥
(ऋ. ८।६४।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता गायत्री च च्छन्दः । ऋषिं प्रतिमन्त्रं निर्देक्ष्यामः । उत्वेति । अस्य प्रगाथः काण्व ऋषिः ।

हे अद्रिवः आदरणीयशक्तिमन् परमात्मन् सोमा अस्माकं शान्तयः शान्तिस्तुतयो वा त्वा त्वामुत् मन्दन्तूत्कर्षेण मादयन्तु प्रसादयन्तु । प्रसन्नस्त्वं राधो ज्ञानधनं भक्तिधनं वा कृणुष्व कुरु सम्पादयास्मभ्यम् । राध इति धननाम (निघ० २।१०।१७) । ब्रह्मद्विषो ज्ञानरूपान्नं ये द्विषन्ति तानव जहि विनाशय । ब्रह्मेति धननाम अन्ननाम च ॥ १ ॥

† स्तो इत्यपपाठः ।

१९५. गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद्यशः ॥ २ ॥ (ऋ. ३।४०।६)

गिर्वण इति । विश्वामित्त्रो गाथिन ऋषिः ।

हे गिर्वणः, गीर्भिर्वननीय स्तोतव्य इन्द्र परमात्मन्नोस्माकं सुतमुत्पादितं त्वद्भक्तिरसं पाहि । न स शुष्येत्तथा कुरु । त्वमस्माभिर्मधोर्ज्ञानस्य भक्तेर्वा । मन्यतेतिशयेन जनैरिति मधु । पुंस्त्वमार्षम् । धाराभिर्वाग्भिः । ज्ञानपूर्णवाग्भिर्भक्तिपूर्णवाग्भिर्वाज्यसे सिच्यसे तर्प्यसे । त्वादातं त्वया शोधितं पवित्रीकृतम् । त्वेति तृतीया । दातमिति "दैप् शोधने" इत्यस्य रूपम् । अथवा दत्तम् । डुदाञ्दाने । यशो नोस्तु । इत् = एव ॥ २ ॥

१९६. सदा व इन्द्रश्चर्क्रषदा उपो नु स सपर्यन् ।
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥३॥ (ऋग्वेदे नास्त्ययं मन्त्रः)

सदा व इति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

हे मनुष्या वृतो देवैः स्वामित्वेन स्वीकृतः शूरः शत्रुषु पराक्रमितेन्द्रो न परमात्मेव स देवः समर्थं इन्द्रः परमात्मा । न हि तस्य कश्चिदौपम्यं भजतेतः स एव तस्योपमा । वो युष्माकमुप समीपेनु सर्पयन्नन्यान्महापुरुषान् गमयन्प्रापयन्सदा सर्वदा आ चर्क्रषद्युष्मदीयानि कर्माणि साहाय्यप्रदानरूपाणि करोतु ॥ ३ ॥

१९७. आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।
न त्वामिन्द्राति रिच्यते ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९२।२२)

आ त्वेति । श्रुतकक्ष आङ्गिरस ऋषिः ।

हे इन्द्र परमैश्वर्यं परमात्मन्निन्दवो यज्ञा भक्तिरूपाः । इन्दुरिति यज्ञनाम (निघ० ३।१७।१३) । उन्दी क्लेदने । क्लिद्यते दयार्द्रः क्रियते परमात्मा येन । त्वा त्वामा विशन्तु प्राप्नुवन्तु ।

दृष्टान्तमाह। सिन्धवो नद्यो यथा समुद्रं सागरं प्रविशन्ति तद्वत्। भक्तिर्हि मानसी वृत्तिः। सा च ज्ञानविशेषरूपा। यथा नद्यः सागरं प्रविश्य स्वनामरूपादि विहाय सागर एव भवन्ति तथास्माकं भक्तिस्त्वां प्राप्य त्वद्रूपैव भवतु। भगवदाकारतां भजन्ती भक्तिर्भक्तिर्भवतीति रहस्यम्। कोपि त्वामतिरुचिरचरित्रं परमपवित्रं च नातिरिच्यते नातिशेते। त्वमेव सर्वानतिशेषेतस्त्वामन्तरेण नान्यत्किमपि भक्त्या कामयामह इतिभावः ॥ ४ ॥

१९८. इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ५ ॥ (ऋ. १।७।१)

इन्द्रमिति। मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः।

गाथिनो वाङ्मन्तः सर्वं इन्द्रमित्परमात्मानमेव नुवन्ति स्तुवन्ति। अर्किणो मन्त्रा मन्त्रज्ञा मन्त्रार्थज्ञा वा सर्वेपि तमेवेन्द्रं बृहद्बाहुल्येनार्केभिरर्कैर्मन्त्रैः प्रार्थनामन्त्रैः स्तुवन्ति। अस्माकमपि वाणीर्वाचस्तमेवेन्द्रमनूषत नुवन्तु। गाथेति वाङ्नाम (निघ० १।११।३७) अर्क इति मन्त्रनाम (निघ० ४।२।२४) ॥५॥

१९९. इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम्।
वाजी ददातु वाजिनम् ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।९३।३४)

इन्द्र इति। श्रुतकक्ष आङ्गिरस ऋषिः।

इन्द्रः परमात्मा नोस्मभ्यमिषे गमनाय परमात्मानं प्रति गन्तुं परमात्मस्वरूपमवाप्तुमित्यर्थः। ऋभुक्षणमृभुक्षाणं महान्तम्। ऋभुं मेधाविनं ज्ञानाचार्य्यम्। रयिं च सात्त्विकवृत्तिरूपं धनं च ददातु। किं च स स्वयं वाजी भवति। वाजो वेगस्तद्वान्भवति, अतोस्मभ्यमपि वाजिनं वेगवन्तं रश्मिमन्तं स्वं ददातु साक्षात्कारयतु स्वमस्मानितिभावः। ऋभुक्षा इति महन्नाम (निघ० ३।३।--

१०)। ऋ गतौ। भुक्षिनक् प्रत्ययः। ऋभुरिति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।८)। उरु विस्तीर्णं भाति, ऋतेन सत्येन भाति भवतिवेत्यृभुः॥ ६॥

२००. इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्।
स हि स्थिरो विचर्षणिः॥ (ऋ. २।४१।१०)

इन्द्र इति। गृत्समदः शौनक ऋषिः। क्वचिद्विश्वामित्र ऋषिरित्यपि।

गृत्समद उपदिशति। हे अङ्ग प्रियशिष्य, इन्द्रः परमात्मा महदधिकं भयमभि सद् अभिभवति, अप चुच्यवदपच्यावयति च। हि यतः स स्थिरोकम्पो विचर्षणिर्विद्रष्टा सर्वेषां पदार्थानां यथायथं विशेषेण द्रष्टास्ति। विचर्षणिर्हि ज्ञानी भवति। ज्ञान्येव भयमभिभवति नान्यः। विचर्षणिर्विद्रष्टेति निघण्टुः (३।११।६)॥ ७॥

२०१. इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः।
†गावो वत्सं न धेनवः॥ ८॥ (ऋ. ६।४५।२८)

इमा उ त्वेति। भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः।

हे गिर्वणः, गीर्भिः स्तुत्य परमेश्वर, इमा गिरोस्मदीयाः प्रार्थनावाचः सुतेसुते प्रतिभक्तियज्ञं त्वा त्वां नक्षन्त एव प्राप्नुवन्त्येव। त्वामेवोद्दिश्यास्मत्प्रार्थनागिरः प्रवर्तन्त इतिभावः। दृष्टान्तमाह। धेनवो दोग्ध्र्यो गावो वत्सं न स्ववत्समिव। यथा गावो वियोगमसहमाना वेगेन स्ववत्सान्प्राप्तुं गृहं गच्छन्ति तद्वत्। नक्षतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।३१) व्याप्त्यर्थश्च (निघ० २।१८।२)॥ ८॥

२०२. इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये।
हुवेम वाजसातये॥ ९॥ (ऋ. ६।५७।१)

† वत्सं गावो न धेनवः इत्यृक्पाठः।

इन्द्रेति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

इन्द्रा इति पूषणा इति चापि द्विवचनम् । इन्द्रश्च पूषा चेतीन्द्रौ पूषा चेन्द्रश्चेति पूषणौ । उभयत्रैकशेषश्छान्दसः । यदेन्द्रशब्दार्थस्य प्राधान्यं विवक्षितं तदा तस्यादौ प्रयोगः । यदा च पूषार्थस्य प्राधान्यं विवक्षितं तदा तस्यादौ प्रयोगः । वैदिकप्रयोगाणां वैलक्षण्यख्यापनायैवेदृशाः प्रयोगा भवन्ति । वयमुपासका इन्द्रं सर्वसामर्थ्यं पूषणं सर्वथा सर्वपोषणकर्तारं च परमात्मानं सख्याय समानख्यात्यवाप्तये मैत्र्यै वा स्वस्तये परमकल्याणाय वाजसातये ज्ञानदानाय च हुवेमाह्वयामो नु क्षिप्रम् ॥ ९ ॥

२०३. †नकि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन् ।
नक्येवं यथा त्वम् ॥ १० ॥ (ऋ. ४।३०।१)

नकीति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मंस्त्वदुत्तरं त्वत्तः श्रेष्ठमुत्कृष्टं नकि नकिः न कोपीत्यर्थः । त्वत्त्वत्तो ज्यायो ज्येष्ठमपि प्रशस्यतरमपि हे वृत्रहन् पापघ्न न कोपि विद्यते । तर्हि तत्समं स्यात्किञ्चिदिति तदपि निषेधति । यथा त्वमसि एवं नकि न कोपि । त्वत्सदृशोपि न कोपीतिभावः ॥ १० ॥

इति प्रथमा दशतिः । इति नवमः खण्डः

●

२०४. तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः ।
समानमु प्र शंसिषम् ॥ १ ॥ (ऋ. ८।४५।२८)

---

† नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायां अस्ति वृत्रहन् । नकिरेवा यथा त्वम् ॥ इत्यृक्पाठः ।

अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता गायत्री च च्छन्दः। ऋषिनिर्देशं करिष्यामः। तरणिमिति। अस्य त्रिशोकः काण्व ऋषिः।

त्रिशोकोक्तिः। वो युष्माकं जनानां तरणिं भवसिन्धुतारकं वाजस्य पारमेश्वरे पथि गतेर्गमनस्य, गोतमो जितेन्द्रियस्य च त्रदं रक्षकं समान्नमु एकमेव न भिन्नम्। सर्वक्रियासामर्थ्यवन्तं तमेव परमात्मानं प्रशंसिषं प्रशंसामि॥ १॥

२०५ असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
† सजोषा वृषभं पतिम्॥ २॥ (ऋ. १।९।४)

असृग्रमिति। मधुछन्दा वैश्वामित्र ऋषिः।

हे इन्द्र परमात्मन्नहं ते तुभ्यं गिर प्रार्थनावचांसि स्तोत्राण्यसृग्रं सृष्टवानस्मि। ताश्च सजोषाः सर्वैर्भक्तैः समानमेव सेवनीयाः। जोषणं जोषः समानो जोषो यासां ताः। प्रार्थना वृषभे तर्पकं पतिं पातारं त्वां प्रत्युदहासतोत्कर्षेण प्राप्ता भवन्तु। ओहाङ् गतौ। सजोषा इत्यत्राजोषा इतिपाठे ताः प्रार्थनास्त्वमजोषा अजुषः शृण्वित्यर्थः॥ २॥

२०६. सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा।
मित्रास्पान्‡त्यद्रुहः॥ ३॥ (ऋ. ८।४६।४)

सुनीथ इति। वत्सः काण्व ऋषिः।

स मर्त्यो मनुष्यः सुनीथः प्रशस्यो भवति। घेति प्रसिद्धौ। स कः? यं मरुतो यमर्यमा मित्त्राश्च यं पान्ति रक्षन्ति। किंभूतास्ते त्रयः? अद्रुहो न केनापि सह तेषां द्रोहो विद्यते। मरुदादयः परमेश्वर एव। प्रतिशब्दमर्थभेदाद्व्यक्तिभद इव प्रतीयते। देवदत्त एव पाठकः स एव पाचकः क्रियाभदाद्यथा तत्र भेदस्तथैव शब्दार्थभेदाद्व्यक्तिभेदं स्वीकृत्य पान्तीति बहुवचनम्। सुनोथ इति प्रशस्यनाम (निघ० ३।८।७)॥ ३॥

† अजोषा इत्यृक्पाठः। ‡ न्त्यद्रुहः इत्यजमेरीय-पाठः।

२०७. यद्वीडाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।४५।४१)

यद्वीडेति । त्रिशोकः काण्व ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्, वीडुर्बलं दृढं वा । वीडौ बलवति पदार्थे यद्वसु धनमानन्दरूपं पराभृतं विन्यस्तं स्थापितमस्ति यच्च स्थिरे दृढे पर्वतादौ पराभृतं यच्च पर्शाने विमर्शन क्षमे पराभृतं तत्स्पार्हं स्पृहणीयं मोक्षरूपं वस्वानन्दस्वरूपमा भराहरास्मभ्यम् । वीडुः स्थिरः पर्शानश्च केवलं परमात्मा । तस्मिन्निहितं धनं परं ज्ञानं परमानन्दो वा । तदेव प्रार्थ्यते । अयमाशयः । वस्तुसामन्यस्य त्रिधा स्थितिः । बलवत्सु रक्षाकुशलेषु जनेषु यत्किञ्चिद्वस्तुस्थापनम् । स्थिरेषु भूमिभित्त्यादिषु च गोपनम् । सौलभ्येन प्राप्येषु स्थानेषु च स्थापनम् । तां त्रिविधामेव स्थितिमुद्दिश्य त्रिलोक ऋषिः प्रार्थयते यत्र कुत्रापि लभ्यं येन केनाप्युपायेन च लभ्यं मोक्षरूपं वस्तु समानयेति ॥ ४ ॥

२०८. श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम् ।
आ†शिषे राधसे महे ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।९३।१६)

श्रुतं व इति । सुकक्ष आङ्गिरस ऋषिः ।

हे मनुष्याः श्रुतं वेदेषु प्रसिद्धं वृत्रहन्तममतिशयेन पापहन्तारं शर्धं बलं बलरूपमित्यर्थः । परमात्मनं वो युष्माकं चर्षणीनां मनुष्याणां महे महते राधसे धनाय मोक्षरूपाय महाकल्याणाय प्र आ शिषे प्रकर्षेणाश्नवै । उपदिशामीतिभावः । अश्नोतेर्लेट्युत्तम इटि सिप् । बहुलं छन्दसीत्याडागमः । राध इति धननाम (निघ० २।१०।७) ॥ ५ ॥

† शु इत्यृक्पाठः ।

२०९. अरं त इन्द्र श्रवसे गमेम शूर त्वावतः।
अरं शक्र परेमणि ॥ ६ ॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

अरं त इति। वामदेवो गौतम ऋषिः।

हे इन्द्र परमात्मन्, शूर कामादिशत्रूणां विशरणकर्तः, त्वावस्त्वत्सदृशस्य ते तवारं बलं श्रवसे धनाय मोक्षरूपाय गमेम गच्छेम प्राप्नुयामेत्याशंसा। हे शक्र दीप्तस्वरूप परेमणि परात्परस्मिंस्त्वय्यरमलं तिष्ठेम। त्वय्येव वयमनुरक्ता भवेमेतिभावः। श्रव इति धननाम (निघ० २।१०।२६) ॥ ६ ॥

२१०. धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्।
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ ७ ॥ (ऋ. ३।५२।१)

धानावन्तमिति। विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः।

हे इन्द्र परमात्मन्नोस्माकं मध्ये धानावन्तं ध्यानवन्तम्। दधाति हृदये परमात्मानं यया सा ध्यानवृत्तिः। धाना इति नित्यस्त्री। करम्भिणं दातारम्। करेण भ्रियत इति करम्भो दानं तद्वन्तं दानवन्तम्। अथवा केन सुखेन रभ्यत इति करम्भो भक्तिस्तद्वन्तं भक्तिमन्तमित्यर्थः। अपूपवन्तमविनाशिनं स्वव्रतादच्युतम्। न पूय्यत इति। पूयो विशरणे। उक्थिनं शब्दवन्तं प्रार्थयमानम्। वच परिभाषणे। भक्तपुरुषं त्वं प्रातर्जुषस्वानुगृहाण ॥ ७ ॥

२११. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।१४।१३)

अपामिति। गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायना ऋषि।

हे इन्द्र परमात्मन्नपां कर्मणाम्। यद्यपि निघण्टौ कर्मार्थकोपः-

शब्दः सकारान्त एव पठितस्तथापि व्युत्पत्तिसामान्यादप्छन्दोपि कर्मार्थक एवात्र प्रयुक्तो वेदितव्यः। फेनेन वृद्धया। स्फायी वृद्धौ। नमुचेर्मायायाः। न मुञ्चतीति। शिरो मोहनप्रधानशक्तिमुदवर्तय ऊर्ध्वमवर्तयोच्छिन्न इत्यर्थः। अस्माकं भक्तिशस्त्रेण त्वं नमुचेः शक्तिमच्छिन्न इत्यर्थः। यद् याश्च स्पृधः स्पर्धमाना अन्या अन्तः-करणवृत्तय आसंस्ता अपि विश्वास्त्वं तेनैव शस्त्रेणाजयः। भक्तिः सर्वदोषविनाशिनीतिभावः॥ ८॥

२१२. इमे त इन्द्र सोमाः सुतासो ये च सोत्वाः।
तेषां मत्स्व प्रभूवसो॥ ९॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

इमे त इति। वामदेवो गौतम ऋषिः।

हे इन्द्र परमात्मन्निमे वर्तमाना ये सोमा भक्तियज्ञास्ते तुभ्यं त्वदर्थं सुतास उत्पादिता अस्माभिः, ये च सोत्वा अभिषोतव्या उत्पाद्याः सन्ति हे प्रभूवसो सर्वेषामाश्रयदातः, बहुज्ञानधन वा। तेषां तैः। विभक्तिव्यत्ययः। मत्स्व माद्य प्रसीद॥ ९॥

२१३. †तुभ्यं सुतासः सोमाः स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो।
स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय॥ १०॥ (ऋ. ८।९३।२५)

तुभ्यमिति। श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरस ऋषिः।

हे इन्द्र परमात्मन्, हे विभावसो प्रकाशरूपद्रविणाधिष्ठातः, अथवा प्रकाशानामाश्रय, इमे सोमा भक्तियज्ञास्तुभ्यं सुतास उत्पादिता आरब्धाः। इदं बर्हिरपि हृदयाकाशमपि तुभ्यं त्वदर्थमेव

† तुभ्यं सोमाः सुता इमे स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो। स्तोतृभ्य इन्द्रमा वहा इत्यृक्पाठः।

स्तीर्णमस्माभिः । स्तोतृभ्यो भवतेभ्यो मृडय । तान् सुखय वृंह्यते वर्ध्यते ज्ञानादिभिरिति बर्हिर्मनः ॥ १० ॥

इति द्वितीया दशतिः । इति दशमः खण्डः



२१४. आ व इन्द्रं क्रिविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम् ।
मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः ॥ १ ॥ (ऋ. १।३०।१)

अस्यां दशत्यां षष्ठस्य मन्त्रस्याश्विनौ मित्रावरुणौ वा देवता । अष्टमस्य मरुतो नवमस्य विष्णुरन्येषामिन्द्रो देवता गायत्री च च्छन्दः । ऋषिनिर्देशं प्रतिमन्त्रं करिष्यामः । आ व इति । अस्य शुनःशेप आजीगर्ति ऋषिः ।

वाजयन्त उत्तमां गतिं कामयमाना वयं शतक्रतुं बहुविधकर्माणमिन्द्रं मंहिष्ठमतिशयेन प्रवृद्धं तमिन्दुभिर्यज्ञैर्भक्तियज्ञरूपोत्कृष्टकर्मभिर्वो युष्माकं कल्याणाया सिञ्च आसिञ्चामः प्रार्थयामहे । दृष्टान्तमाह । यथा क्रिविम् । यथा कूपं जलेन जना आसिञ्चन्त्युत्खाय पूरयन्ति तद्वत् । क्रिविरिति कूपनाम (निघ० ३।२३।८) । मन्त्रर्षिवचनम् ॥ १ ॥

२१५. अतश्चिदिन्द्र† न उपा याहि शतवाजया ।
इषा सहस्रवाजया ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९२।१०)

अतश्चिदिति । श्रुतकक्ष आङ्गिरस ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्नतश्चिदत एव—त्वां तर्पयामोत एव शतवाजया शतं वाजा गतयो यस्यास्तया सहस्रं वाजा यस्यास्तया बल-

† ण इत्यपपाठः ।

वत्तमयेषा गत्या नोस्मान्नुप आ याह्य पागच्छ। शतसहस्रशब्दा-वानन्त्यवाचकौ व्यापकत्वे च पर्यवसितौ ॥ २ ॥

२१६. आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृ†च्छाद्वि मातरम् ।
क उग्राः के ह शृण्विरे ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।४५।४)

आ बुन्दमिति । त्रिशोक काण्व ऋषिः ।

जातो हृदयप्रदेशे प्रकटीभूतो वृत्रहा पापघ्नः परमात्मा बुन्द-मिषुमा ददे गृह्णाति । रक्षार्थं भक्तानां परमात्मनो धनुर्ग्रहणं श्रीवैष्णवानामुपास्यदेवं साकेतवासिनं श्रीरामं धनुर्ग्राहयति । मातरं भगवद्दर्शनस्य याचितारमुपासकं च स वि पृच्छाद्विशेषेण पृच्छति । किं पृच्छति ? के उग्रा उपद्रवकराः सन्ति ? के च शृण्विरे युष्मान् घ्नन्ति ? बुन्द इषुर्भवति बुन्दो वा भिन्दो वा भयदो वा भास-मानो द्रवतीति वेति यास्कः (निरु० ६।३२)। मायते याचत इति निघण्टुः (३।१९।१७)। नैरुक्तोयं धातुः। शृणातिर्हन्त्यर्थः । शॄ हिंसायाम् । निघण्टावपि (२।१९।२५) ॥ ३ ॥

२१७. बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये ।
सा‡धः कृण्वन्तमवसे ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।३२।१०)

बृबद्विति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

बृबदुक्थं महदुक्थं सर्वैः स्तुत्यमिति भावः । बृबदुक्थो महदुक्थो वक्तव्यमस्मा उक्थमिति बृबदुक्थो वेति यास्कः (निरु० ६।४)। ऊतये भक्तानां रक्षणाय सृप्रकरस्नं प्रसृतबाहुम् । "सृपः सर्पणात् । इदमपीतरत्सृप्रमेतस्मादेव । सर्पिर्वातैलं वा । "सृप्रकरस्नमूतये" इत्यपि निगमो भवति। करस्नौ बाहू कर्मणां प्रस्नातारा-

† च्छ इत्यपपाठः ।   ‡ घ इत्यपपाठः ।

वित्ति यास्कः (निरु० ६।१७) करस्नौ बाहू इति निघण्टौ (२। ४।७) । करांसि कर्माणि स्नायतो वेष्टेते इति करस्नौ । ष्णै वेष्टने । कः प्रत्ययः साधः साधकं ज्ञानरूपं भक्तिरूपं च कृण्वन्त कुर्वन्तं जनयन्तं परमात्मानमवसेस्माकं रक्षणाय हवामह आह्वयामः ॥४॥

२१८. ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नय†ति विद्वान् ।
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥ ५ ॥ (ऋ. १।९०।१)

ऋज्विति । गौतमो राहूगण ऋषिः ।

वरुणो वरणीयोर्यमारीणां नियन्ता मित्रः स्निग्धोन्यैर्देवैर्भक्तैः सजोषाः समानप्रीतिः परमात्मा विद्वानस्माकं हार्दं जानानः सन्नृजुनीत्या प्रशस्तमार्गेण नोस्मान्नयति नयतु ॥ ५ ॥

२१९. दूरादिहेव यत्स‡तोऽरुणप्सुरशिश्वितत् ।
वि भानुं विश्वथातनत् ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।५।१)

दूरादिति । ब्रह्मातिथिः काण्व ऋषिः ।

अरुणप्सुररुणं सूर्योदयात्प्राग्भवीयमव्यक्तं रागं प्साति भक्षयति सोरुणप्सुः । अव्यक्तरागोत्र परमात्मविषयकः । हृदयाभ्यन्तरनिगूढमव्यक्तरागमव्यक्तप्रेमाणं यदा परमात्मा प्सात्यनुभवति तदा सोरुणप्सुर्भवति । एवंभूतः स यद् यदेह दूरादिव दूरे स्थित इव सतो भक्तानशिश्वितद्भक्तहृदयमतिशयेनारञ्जयद्रञ्जयति प्रेमयुक्तमतिशयेन करोति तदा स भक्तसमाजो भानुं स्वतेजो विश्वथा विश्वधा बहुभिः प्रकारैर्वि अतनद्व्यतनोद्विस्तारयति ॥ ६ ॥

---

† तु इत्यृक्पाठः । ‡ त्य इत्यृक्पाठः ।

२२०. आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।

मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥ ७ ॥ (ऋ. ३।६२।१६)

आ नो मित्रेति । विश्वामित्रो गाथिनो जमदग्निर्वा ऋषिः ।

हे सुक्रतू शोभनकर्माणौ मित्रावरुणौ । मित्रो दिवसाधिष्ठात्री देवता । मित्त्रसाहचर्याद्वरुणो रात्रेरधिष्ठात्रो देवता । उभे देवते अहोरात्रं च । अथवा वरुणो वरेण्यो मित्त्रः स्निग्धश्च परमात्मा । तत्सम्बुद्धौ । कर्मभेदविवक्षयैकस्मिन्नपि परमात्मनि भेदं स्वीकृत्य द्विवचनोपपत्तिः । नोस्माकं गव्यूतिं गोरुतं वाचो निस्सृतं शब्दं घृतैर्जलैः स्नेहरूपैरा उक्षतमासिञ्चतम् । अस्माकं प्रार्थनाशब्दं श्रुत्वान्तर्निहितौ तावहोरात्रेण सह सन्तावस्मान्नक्षतमित्यर्थः । अस्माकं रजांसि लोकान् रञ्जनस्थानान्यन्तःकरणवृत्तीश्च मध्वा मधुरेण रसेन प्रेमरसेनासिञ्चतम् ॥ ७ ॥

२२१. उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा †यज्ञेष्वत्नत ।

वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥ ८ ॥ (ऋ. १।३७।१०)

उदु त्य इति प्रस्कण्व काण्व ऋषिः ।

त्ये ते गिरो वाचः सूनवः उत्पादकाः प्रार्थनाशिक्षणगुरवो यज्ञेषु भक्तियज्ञेषु काष्ठाः प्रकाशानुद् ? अत्नत उदतनिषत बाहुल्येन तन्वन्त्वित्यर्थः । उनिश्चयार्थकः । अभिज्ञु अभिज्ञुमभिगते जानुनी यस्य तं जानुभ्यां स्थितं मां प्रति आ यातवे आयातुं वाश्राः शब्दायमाना हम्भारवं कुर्वाणा गाव इव भवन्तु । यथा गावो हम्भां कुर्वाणा वत्सं प्रति धावन्ति तथा म उपदेष्टारो मां प्रति प्रेम्णागच्छन्त्वितिभावः । काष्ठा इत्यत्र काशृ दीप्तौ, इति धातुः । क्थन् प्रत्ययः । काशयन्ति दीपयन्तीति काष्ठाः प्रकाशाः ॥ ८ ॥

---

† यज्ञेष्व इत्यपपाठः ।

२२२. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुरे ॥ ९ ॥ (ऋ. १।२२।१७)

इदं विष्णुरिति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

विष्णुः परमात्मा । वेवेष्टि सर्वं जगदिति । अथ यद्विषतो भवति तद्विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वेति यास्कः (निरु० १२।१८) इदं जगत्सर्वं वि चक्रमे विक्रमते । त्रेधा त्रिधा च पदमत्र निदधे निधत्ते पृथिव्यामन्तरिक्षेधस्ताच्च । यद्यपि परमात्मा त्रिधा पदं निदधानः पृथिव्यामप्युपासकदृष्टिग्राह्यलोकेपि वर्तत एव तथापि सोस्योपासकस्य पांसुरे धूरावज्ञानरूपायां समूढमदृश्यो भवतीति-भावः । विष्णुशब्दव्याख्यानावसरे श्रीयास्काचार्येण मन्त्रोयमेवं व्याख्यातः—यदिद किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः समारोहणे विष्णु पदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढमस्य पांसुरे प्यायनेन्तरिक्षे पद न दृश्यत इति । अपि वोपमार्थे स्यात्समूढमस्य पांसुर इव पदं न दृश्यत इति पांसवः पादैः सूयन्त इति वा पन्नाः शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा ॥ ९ ॥

इति तृतीया दशतिः । इत्येकादशः खण्डः

●

२२३. अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमु†पेरय ।
‡अस्य रातौ सुतं पिब ॥ १ ॥ (ऋ. ८।३२।२१)

अतीहीति । अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता गायत्री च च्छन्दः । ऋषिनिर्देशं करिष्यामः । अस्य मन्त्रस्य मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

† पारणे इत्यृक्पाठः । ‡ इमं रातं सुतं पिबेत्यृक्पाठः ।

हे इन्द्र परमसमर्थ मन्युषाविणं क्रोधोद्गारिणं क्रोधिनमिति-भावः। अतीह्यतिगच्छातिक्रम्य गच्छ। मा तेषां समीपे गमस्त्वम्। सम् सुषुवांसं सम्यक् छान्त्या यस्तव भक्ति सुनोति हृदयाद्धृदये वा प्रादुर्भावयति तं भक्तमहानुभावमुपेरयोपगच्छ। अस्य च त्वद्भक्तस्य रातौ दाने हृदयप्रदाने तव चरणयोः समर्पिते हृदये सुतमुत्पादितं भक्तिरसं पिबानुभव ॥ १ ॥

२२४. कद्रु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते।
तदिद्ध्यस्य वर्धनम् ॥ २ ॥ (ऋग्वेदे नास्त्ययं मन्त्रः)

कद्रु इति वामदेवो गौतम ऋषिः।

महे महते प्रचेतस उदारमनसे परमात्मने देवाय द्योतमानायानन्दस्वरूपाय वा कद्वच उ सुखवचः सुखजनकं वच एव शस्यते शस्तं प्रशस्तं भवति। तदिद्धि तदेव सुखजनकं वचनं अस्य वर्धनं वृद्धिप्रदायकं दीप्तिकरं वा ॥ २ ॥

२२५. उक्थं चन†शस्यमानं नागो रयिरा चिकेत।
न गायत्रं गीयमानम् ॥ ३ ॥) (ऋ. ८।२।१४)

उक्थमिति। मेधातिथिः काण्व प्रियमेधश्चाङ्गिरस ऋषि।

रयिः सर्वदाता परमात्मा। अगोरगायतः परमेश्वरस्तुतिमकुर्वतो जनस्य शस्यमानं निगद्यमानमुक्थं स्तोत्रं स्तुतिम्। वच परिभाषणे थक् प्रत्ययः। चन अपि। गीयमानं गायत्रं चापि न आ चिकेत न जानाति। यः परमात्मनि निश्छलां निश्चलां च भक्तिं नातनुते तस्य गीयमानं स्तोत्रादिकं स न स्वीकरोतीतिभावः ॥ ३ ॥

---

† शस्यमानमनागो रयिरा चिकेत इत्यृक्पाठः।

२२६. इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानां च वाजपतिः।
हरिवांत्सुतानां सखा ॥ (ऋग्वेदे नास्त्ययं मन्त्रः)

इन्द्र इति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः ।

इन्द्रः परमात्मोक्थेभिरुक्थैः स्तोत्रैर्मन्दिष्ठोतिशयेन मदिष्णुर्भवति । स हि वाजानां धनानामुत्कृष्टगतीनां च । अर्चानां वा । वाजयतिरर्चार्थकः । वाजपतिः समर्थस्वामी । हरिवान्हरयो मनुष्यास्तद्वान् । मनुष्याणां पतिरित्यर्थः । स सुतानां श्रद्धयोत्पादितानां भक्तिरसानां सखा मित्रं वर्धक इत्यर्थः ॥ ४ ॥

२२७. †आ याहचुपनः सुतं वाजेभिर्मा हृणीयथाः ।
महाँ इव युवजानिः ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।२।१९)

आ याहीति । मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरस ऋषी ।

हे परमात्मन्नोस्माकं सुतं भक्तियज्ञमुप आ याह्यागच्छ । कैः वाजेभिर्वाजैर्वाजानुत्कृष्टगतीः प्रदातुम् । विद्यया वसतीतिवत्तृतीया । मा हृणीयथा भ्रान्त्या जातेनास्माकमपराधेन मा क्रुध्य । हृणीयत इति क्रुध्यतिकर्मा (निघ० २।१२।४) । आगमने दृष्टान्तमाह । महान् युवजानिरिव । युवती जाया यस्य स यथा स्वकीयां प्रियां जायामुद्दिश्य तत्कृतमपराधमविगणय्य तत्समीपे गच्छत्येव न च क्रुध्यति तदाश्रयायै तस्यै; एवं त्वदाश्रयेभ्योस्मभ्यं सापराधेभ्योपि मा क्रुध्य ॥ ५ ॥

२२८. कदा वसो स्तोत्रं ‡हर्यत आ अद श्मशा रुधद्वाः ।
दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।१०५।१)

---

†ओ षु प्र याहि वाजेभिर्मा हृणीथा अभ्यस्मान् इत्यृक्पाठः पूर्वार्धे ।
‡ हर्यत आव श्मसा इत्यृक्पाठः ।

कदेति । दुर्मित्त्रः कौत्स ऋषिः ।

हे वसो सर्वेषां वासयितः परमात्मन्नस्माकं स्तोत्रं कदा हर्यते काम्यमानाय काम्यमानं त्वाम् । विभक्तिव्यत्ययः । अव रुधदवरोत्स्यति कदा च आ वा आवारयिष्यति । कृपानिधिं त्वां मयि कृपां विधातुं कदा मदीया प्रार्थनावरोत्स्यति कदा च मां प्रत्यावरिष्यत्यावर्जयिष्यतीत्याशंसा । का इव ? श्मशा इव । श्मशा कुल्येति (४।२।४६) निघण्टुः । यथा कुल्या इतस्ततः प्रवहन्ति वारीणि निरुध्य जलमिच्छत्सु पादपेषु लतादिषु च नयति तथैव कदा सर्वत्र दयावारिधारां तन्वानं त्वां मदीया प्रार्थना मदर्थमवरोत्स्यतीति भावः । हे वात सर्वत्र गमनशील दीर्घं महान्तं सुतं भक्तियज्ञमाप्यायाप्यायस्व वर्धयस्वेतिभावः ॥ ६ ॥

२२९. ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु ।
†तवेदं सख्यमस्तृतम् ॥ ७ ॥ (ऋ. १।१५।५)

ब्राह्मणादीति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन् ब्राह्मणाद्ब्रह्मसम्बन्धिनो राधसो धनाद्धनभूतादन्तःकरणादन्तःकरणं प्रविश्येत्यर्थः । ऋतूननु प्रत्येकमृतौ प्रत्यहमित्यर्थः । सोमं भक्तिरसं पिब । तवेदं मया स्वीकृतं सख्यं सम्बन्धमस्तृतमविच्छिन्नमस्तु ॥ ७ ॥

२३०. वयं घा ते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः
त्वं नो जिन्व सोमपाः ॥ ८ ॥ ऋ. ८।३२।७)

वयमिति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

हे गिर्वण, गीर्भिर्वननीय इन्द्र परमात्मन्वयमुपासका घेति

---

† तवेद्धि इत्यृक्पाठः । ‡ स्म इत्यृक्पाठः ।

निश्चयद्योतकमव्ययपदम् । अपिरेवार्थः । ते तवैव स्तोतारः स्मसि स्मः । हे सोमपा भक्तिरसास्वादक त्वं नोस्माञ्जिन्व प्रीणय ॥८॥

२३१. एन्द्र पृक्षु कासु चिन्नृम्णं तनूषु धेहि नः ।
सत्राजिदुग्रपौंस्यम् ॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

एन्द्रेति । विश्वामित्रो गाथिनोभीपाद उदलो वा ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन् कासु चित् पृक्षु संपृक्तासु दुष्टैः सह प्रजासु = दुष्टसम्पर्केषु केषुचिदपि संसर्गदोषं निरोद्धुं नास्माकं तनूषु शरीरेषु नृम्णं बलम् । नृम्णमिति बलनाम । (निघ० २।९।९) आ धेहि धारय स्थापय देहीत्यर्थः । तथा । सत्राजित्सर्वदानिष्टजयनशीलमुग्रपौंस्यं महद्बलं महत्पौरुषं च देहीत्यन्वयः । उग्र पौंस्यमितिपाठे उग्रेतिसम्बोधनम् ॥ ९ ॥

२३२. एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
एवा ते राध्यं मनः ॥ १० ॥ (ऋ. ८।९२।२८)

एवा ह्येति । श्रुतकक्ष आङ्गिरस ऋषिः ।

हे भक्त, त्वं वीरयुर्वीरान्कामक्रोधादीन्हन्तुं कामयमानोसि । शूर एव शत्रूणां कामादीनां विशरणकर्त्तैवासि । उत स्थिरः कैश्चिदपि प्रलोभनैरकम्प्यश्चासि । ते तव मनो राध्यं स्तुत्यमेव । परमात्माशीर्वचोभिर्भक्तं प्रसादयत्येतेन मन्त्रेण । श्रुतकक्ष एव वा स्वकीयं कञ्चिच्छिष्यं प्रोत्साहयति ॥ १० ॥

इति चतुर्थी दशतिः । इति द्वादशः खण्डः

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोध्यायः

२३३. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्रतस्थुषः ॥१॥
(ऋ. ७।३२।२२)

अस्यां दशत्यां नवमस्य मन्त्रस्य मरुतो देवता अन्येषां चेन्द्रः । बृहती च च्छन्दः । ऋषिं प्रतिमन्त्रं निर्देक्ष्यामः । अभि त्वेति । अस्य च वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे शूर सर्वदुष्टविनाशिन्निन्द्र परमेश्वर वयमुपासका अस्य जगतो जङ्गमस्य पशुपक्षिमनुष्यादेरीशानमीश्वरं तस्थुषः स्थावरस्य वृक्षलतागुल्मगिरिसरिदादेश्चशानमीश्वरं स्वामिनं स्वर्दृशं सर्वद्रष्टारं पूतदृष्टिं वा त्वा त्वामभि नोनुमः पुनः पुनर्नुमः । का इव ? अदुग्धा धेनव इव । यथादुग्धाः पयः पूर्णोवस्का धेनवो दोहनार्थं स्वामिनं नवन्ति हम्भारवेणाह्वयन्ति तद्वत् । आतुर्ये दृष्टान्तः ॥ १ ॥

२३४. त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठांस्ववतः ॥
(ऋ. ६।४६।१)

त्वामिति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्वयं कारवः स्तोतारो वाजस्य सातावूर्ध्वगतिदानप्राप्त्यर्थं त्वामित्त्वामेव हवामय आह्वयामः । नरः सर्वेप्यन्ये विवेकिनो वृत्रेषु दुष्टेष्वावरकतां गतेषु त्वामेव सत्पतिमाह्वयन्ति । अर्वतो यावच्छक्यं कृतस्य प्रयत्नस्य काष्ठासु सीमासु यदा सर्वे प्रयत्ना निष्फला भवन्ति तदा त्वामेव जना आह्वयन्ति ॥ २ ॥

२३५. अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसु सहस्रेणेव शिक्षति ॥ ३ ॥
(ऋ. ८।४९।१)

अभि प्रेति। प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः।

ऋषिरुपदिशति। हे भक्त त्वं यथा विदे विदं ब्रह्मविद्वांसमर्चसि तथेन्द्रमप्रकटितमदृश्यमग्राह्यंपरमात्मानमभि अभितः प्र अर्च प्रकर्षेण पूजय। कीदृशं तम् ? वो युष्माकं सुराधसं महासम्पदम्। परमे वरो हि भवतानां महती सम्पत्। यः परमात्मा जरितृभ्यः स्तोतृभ्यो भक्तेभ्यो मघवा सर्वधनसम्पन्नः पुरुवसुर्महाद्रविणस्वामी सहस्रेणेव सानन्देनेव शिक्षति ददाति। अभीप्सितामतिशेषः। शिक्षतिर्दानार्थः (निघ० ३।२०।८) ॥ ३ ॥

२३६. तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ ४ ॥
(ऋ. ८।८८।१)

तं व इति। नोधा गौतम ऋषिः।

हे भक्ता वो युष्माकं कल्याणाय दस्मं दर्शनीयमृतीषहं शत्रूणां कामादीनामभिभवितारं वसो वसुना सर्वपापनिवर्तनेन परस्मिन्धामनि वासयित्रान्धसोन्धसा भक्तिरूपेणान्नेन मन्दानं प्रसीदन्तमिन्द्रं परमैश्वर्यं परमात्मानं गीर्भिर्वचोभिः स्तुतिरूपाभिरभि नवामहे-भिनुमः। तत्र दृष्टान्तः। स्वसरेषु। स्वसर इति दिननाम (निघ० १।९।५)। धेनवो वत्सं न। यथा दिवसे बहिर्गता गावो गोष्ठे स्थितानात्मनो वत्सान्स्मारं स्मारमभिनुवन्ति शब्दयन्ते तद्वत् ॥४॥

२३७. तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥५॥
(ऋ. ८।६६।१)

तरोभिरिति । कलिः प्रागाथ ऋषिः ।

हे भक्ता वो यूयम् । विभक्तिव्यत्ययः । सुतसोमे समुत्पादितमानसशमेध्वरे भक्तियज्ञे विदद्वसुं सर्वज्ञानवेत्तारं सर्वज्ञानलम्भयितारं वा। वासयति स्वरूप इति वसु ज्ञानम्। इन्द्रं परमसमर्थं परमात्मानं सबाधो बाधासहिताः सन्तो बृहदतिशयेनगायन्तः प्रार्थयमानास्तरोभिर्बलैः। तर इति बलनाम (निघ० २।९।४) ऊतये रक्षायै भवविषमज्वालावलीढानात्मनो रक्षितुं स्मरतेतिशेषः। कलिः कथयत्यहमपि भरं पोषणकर्तारं कारिणं न कल्याणकारिणं च नेति चार्थे। तं परमेश्वरं हुव आह्वयामि ॥ ५ ॥

२३८. तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा।
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव†सुद्रुवम् ॥६॥
(ऋ. ७।३२।२०)

तरणिरिति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

युजा सहायभूतेन पुरन्ध्या बहुधिया महाविदुषा प्रेरित इति शेषः। भक्तस्तरणिरित्तूर्णमेव क्षिप्रमेव वाजं वाजयति मोक्षं गमयति तमिन्द्रं परमात्मानं सिषासति भजते। वसिष्ठः कथयति, अहमपि तं पुरुहूतं बहुभिराहूतं परमेश्वरं वो युष्माकं कल्याणगिरा प्रार्थनावचोभिरा नमे आनमाम्यानमयामि। अन्तर्णयर्थः। दृष्टान्तमाह। यथा तष्टा वर्धकिः सुद्रुवं शोभनं दारु नेमिं चक्रस्य वलयमुद्दिश्य नमयति तद्वत् ॥ ६ ॥

† सुद्रूवम् इत्यूपपाठः ।

२३९. पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्रगोमतः ।
आपिर्नो बोधि सधमा|द्ये वृधे३ऽस्माँ अवन्तु ते धियः ॥७॥
(ऋ. ८।३।१)

पिबेति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्नोस्माकं सुतस्य हृदयादुत्पादितस्य रसिनो रसवतो भक्तियज्ञस्य । द्वितीयार्थे षष्ठी । रसवन्तं रस्यतेर्च्यत इति रसः परमात्मा । रसतिरर्चाकर्मा (निघ० ३।१४।४०) । परमात्मवन्तम् । भवितयज्ञमितियावत् । गोमतो गोमन्तं प्रार्थनावचःसहितं त्वं पिब तदनन्तरं मत्स्व माद्यस्व प्रसीद । सधमाद्ये सह माद्यन्ति भक्ता यस्मिस्तस्मिन्भक्तियज्ञे भक्तिमण्डपे वा नोस्माकमापिराप्यिता स्वस्याप्यायिता वास्माकं बोधि बुध्यस्व सम्मुखो भवेत्यर्थः । किमर्थम् ? वृधेस्माकं वृद्धये । ते ःतव धियस्त्वत्सम्बन्धिन्यः प्रजा अस्मानवन्तु रक्षन्तु ॥ ७ ॥

२४०. त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥
(ऋ. ८।६।१७)

त्वं ह्येहीति । भर्गः प्रागाथ ऋषिः ।

हे इन्द्र परमेश्वर त्वं ह्येहि त्वमागच्छ खलु मच्चेतसीतिभावः । चेरवे चेतर्मित्रे †ज्ञानसंचेत्रे वा मह्यं त्वद्गतचेतसे भगमैश्वर्यं ज्ञानरूपं विदा लम्भय यच्छ वा । किमर्थम् ? वसुत्तये वसति सर्वं यस्मिन्स वसुः परमात्मा । परमात्मदानाय त्वत्साक्षात्कारायेत्यर्थः । हे

† चो इत्यपपाठः ।

मघवन्सर्वैश्वर्यसम्पन्न गविष्टये वेदवाचमिच्छते मह्यमुद्वावृषस्वीत्सिञ्चय। अश्वमश्नुते सर्वमित्यश्वः परमात्मा। तं त्वामिष्ट्य इच्छते मह्यमुद्वावृषस्वोत्सिञ्चय। वेदविद्यादानेन त्वद्दर्शनदानेन च मां तर्पयेति भावः॥ ८॥

२४१. †न हि वश्चरमं ‡च न वसिष्ठः परिमंसते।
अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे §पिबन्तु कामिनः॥९॥
(ऋ. ७।४९।३)

न हीति। वसिष्ठो मैत्रावरुणि ऋषिः।

वसिष्ठो वो युष्माकम्। निर्धारणे षष्ठी। युष्मासु मध्ये चरमं चनाधममपि न हि परिमंसते परिवर्ज्यं न स्तौत्यामन्त्रयति वा। अधममपि स्तौतीतिभावः। भक्तानां ज्ञानिनां च वुद्धौ नास्ति कुत्राप्युत्तमत्वमधमत्वं वा। सर्वे भगवद्भक्ताः समाना इतिभावः। अद्यास्माकं सुते यज्ञे भक्तियज्ञे विश्वे सर्वे कामिनो भक्ति कामयमाना मरुतो देवा विद्वांसः सचा सहैव संगत्य पिबन्तु भक्तिरसपानं कुर्वन्तु॥ ९॥

२४२. मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥१०॥
(ऋ. ८।१।१)

मा चिदिति। प्रगाथो घोरः काण्व ऋषिः।

हे सखायो यूयमन्यत्परमात्मनोऽन्यत्स्तोत्रं मा वि शंसत मा विशेषेण शंसतोच्चारयत। मा रिषण्यत मां हिंस्त कमपि विरोधिनमपि प्राणिनम्। वृषणं सर्वमनोरथपूरकमिन्द्रं परमात्मानमेव स्तोत

†नहि इत्यृक्पाठः। ‡ चन इत्यृक्पाठः। * पिबत इत्यृक्पाठः।

स्तुत। सुते यज्ञे भक्तिरूपे मुहुः पुनः पुनः सचा संघीभूय संहत्योक्थोच्यन्त इत्युक्थानि स्तोत्राणि च शंसत ब्रूत ॥

इति पञ्चमी दशतिः। इति प्रथमः खण्डः

इति तृतीयप्रपाठकस्य प्रथमोर्धः प्रपाठकः



२४३. नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम्।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं †धृष्णुमोजसा ॥ १ ॥
(ऋ. ८।७०।३)

अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता बृहती च च्छन्दः। प्रतिमन्त्रमृषिं वक्ष्यामः। नकिष्टमिति। अस्य पुरुहन्मा आङ्गिरस ऋषिः।

यो भक्तजनो यज्ञैः सदावृधं सदावर्धकं विश्वगूर्तं सर्वैरेव सुरासुरैः स्तवनीयमृभ्वसं महान्तं मेधाविनम्। ऋभुरिति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।८)। अधृष्टं केनचिदप्यन्येनाधर्षणीयमोजसा तेजसा बलेन वा धृष्णुमन्येषां धर्षयितारं पराभवितारमिन्द्रं परमैश्वर्यसम्पन्नं चकार कुर्यात् तं कर्मणा सामान्येन दानतीर्थादिरूपेण नकिर्न कोपि नशद्व्याप्नुयात्प्राप्नुयात्। कर्मकारिणो ज्ञानिभ्यो भक्तेभ्यश्चावरा इति भावः। नेति पादपूरणे ॥ १ ॥

२४४. य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसु‡र्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥२॥
(ऋ. ८।१।१२)

य इति। मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वावृषी:।

---

† धृष्णवोजसम् इत्यृक्पाठः। ‡ पुरूवसुरिष्कर्ता इत्यृक्पाठः।

यः पुरूवसुः पुरूणां बहूनामाश्रयो मघवा सर्वैश्वर्यसम्पन्नो-भिश्रिषोभिश्लिष ऋते चित्सन्धानद्रव्याद्विनैव जत्रुभ्यो ग्रीवामूल-प्रदेशादातृदो हिंसिताया उच्छिन्नाया ग्रीवायाः सन्धिं सन्धेय-स्थानं पूर्वमेव तत्क्षणमेव सन्धाता योजयितास्ति विह्रुतं विच्छिन्नं प्रदेशं कबन्धात्पुनर्निष्कर्ता संस्कर्ता च भवति स एव सेव्य इत्यर्थः। अयमाशयः। अलङ्कृतोयं मन्त्रः। यथा कञ्चन कुशलो महावैद्यः कबन्धादुच्छिद्य भूमौ निपतितं कंचिद्ग्रीवाभागं पतनाव्य-वहितक्षणेनैव पुनस्तत्स्थाने संधाति तथैवायं परमात्मा कदाचिद्यदि कश्चिद्भक्तः स्वमर्यादातश्च्युतो भवेत्तत्क्षणमेव दयालुर्भक्तवत्सलो भगवान् कृपाकरावलम्बनं विधत्ते ॥ २ ॥

२४५. आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥ ३ ॥
(ऋ. ८।१।२४)

आ त्वेति। मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च काण्वा ऋषी।

हे इन्द्र परमात्मन्हिरण्यये प्रकाशमये रथे रमणीयस्थानेन्तः-करणे युक्ताः संश्लिष्टा ब्रह्मयुजो ब्रह्मध्यायिन्यः केशिनो रश्मिवत्यः। केशा रश्मयः। अथवा काशनं काशः प्रकाशः। तद्वान् काशी। स एवच्छान्दसः केशी। हरयोन्तःकरणवृत्तयः। ता हि परमात्मानं हरन्ति। शतं वा सहस्रं वा गणयितुमशक्या इत्यर्थः। सोमपीतये भक्तिरसपानाय त्वा त्वामा वहन्त्विहानयन्तु ॥ ३ ॥

२४६. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिन्नि †येमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव
ताँ इहि ॥ ४ ॥ (ऋ. ३।४५।१)

---

† यमन्विं न पाशि इत्युक्तपाठः।

आ मन्द्रैरिति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः ।

हे इन्द्र परमेश्वर मयूररोमभिर्मीनन्ति हिंसन्ति मिन्वन्ति प्रक्षिपन्ति वा दुर्विचारानिति मयूराणि । रोमाणि शब्दाः । रु शब्दे । मनिन् । परमेश्वरवाचका ओमादयो यासु ताभिर्हरिभिर्मनोवृत्तिभिरस्मदीयाभिस्त्वां गताभिर्मन्द्रैः प्रसन्नाभिरा याहि भक्तियज्ञम् । अस्मदीया वृत्तयस्त्वां गतास्ताभिः सहैवात्रागच्छेति प्रार्थनातात्पर्यम् । त्वा त्वां केचिद्विघ्ना मा नि येमुर्न नियच्छेयुः । कमिव ? पाशिनो जालवन्तो व्याधा विं गतिशीलमुड्डीयमानं पक्षिणमिव । यथा जालहस्ता व्याधाः पक्षिणां गतिं विघ्नयन्ति मा तथा तव गतिं कश्चिद्रुन्ध्यादितिभावः । धन्वेव मरुभूमिमिव तान् विघ्नकरानति इह्यतिक्रम्यागच्छ ॥ ४ ॥

२४७. त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥ ५ ॥
(ऋ. १।८४।१९)

त्वमङ्गेति । गौतमो राहूगण ऋषिः ।

अङ्गेति प्रियसम्बोधने । हे शविष्ठ बलवत्तमेन्द्र परमैश्वर्यसम्पन्न देव दिव्यगुणविशिष्ट परमात्मंस्त्वं मर्त्यं मनुष्यं भवतं प्रशंसिषः प्रकर्षेण प्रशंस । ये त्वयि त्वदाज्ञापालने च निरन्तरं निरतास्तान्प्रशंस । हे मघवन्त्सर्वैश्वर्योपेत त्वदन्यस्त्वत्तोन्यः कश्चन मर्डिता सुखयिता सुखप्रदाता नास्ति । अत एव ते तुभ्यं वचः प्रार्थनारूपं ब्रवीमि त्वां ब्रवीमि प्रार्थये इति तात्पर्यम् ॥ ५ ॥

२४८. त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी†शवसस्पतिः। त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक‡इत्पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥ ६ ॥
(ऋ. ८।९०।५)

त्वमिन्द्रेति। नृमेधपुरुमेधा आङ्गिरसावृषी।

हे इन्द्र परमात्मँस्त्वं यशा यशस्वी, ऋजीषी ऋचीषी स्तुतिमाञ् शवसस्पतिर्बलपतिः। पुर्वनुत्तः पुरुभिर्बहुभिरप्यनुत्तोपराजितश्चर्षणीधृतिश्चर्षणीनां मनुष्याणां धारकश्चासि। चर्षणयो मनुष्या इति निघण्टुः (२।३।८) त्वमप्रतीन्यप्रतिगतानि कैश्चिदप्यनिरुद्धानि वृत्राणि पापानि महापापानि चैक इदेक एव हंसि ॥६॥

२४९. इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रत्यध्वरे। इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।३।५)

इन्द्रमिति। मेधातिथिर्मेध्यातिथिर्वा काण्व ऋषिः।

देवतातये देवानां सतां पुरुषाणां वृद्धये समृद्धये इन्द्रमित्परमात्मानमेव हवामह आह्वयामः। अध्वरे भक्तियज्ञे ज्ञानयज्ञे वा प्रयति प्रवर्तमाने सतीन्द्रमेवाह्वयामः। समीके संग्रामे वैराग्यविषयलाम्पट्योः। समीक इति संग्रामनाम (निघ० २।१७।११) वनिनो भजमाना इन्द्रं वयमिन्द्रमेवाह्वयामः। धनस्य ज्ञानधनस्य सातये लाभायापि तमेवाह्वयामः ॥ ७ ॥

२५०. इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितो*ऽभिस्तोमैरनूषत ॥ ८ ॥
(ऋ. ८।३।३)

---

† शवसस्पते इत्यृक्पाठः। ‡ इदनुत्ता चर्षणीधृता इत्यृक्पाठः।
* ऽभि स्तोमैः।

इमा इति । मेध्यातिथिर्मेधातिथिर्वा काण्व ऋषिः ।

हे पुरुवसो सर्वेषां वासयितः परमात्मन्या ममेमाः प्रस्तुता उच्यमाना गिरः प्रार्थनारूपाः सन्तिः तास्त्वा त्वां वर्धन्तु उ वर्धयन्त्वेव । पावकवर्णाः पवित्रनामधेयाः शुचयः सर्वथा पवित्रा विपश्चितो विद्वांसः स्तोमैः स्तोत्रैस्त्वामभि अनूषतास्तुवन्स्तुवन्ति च ॥ ८ ॥

२५१. उ दु त्ये मधुमत्तमाः†गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥९॥

(ऋ. ८।३।१५)

उदु त्य इति । मेध्यातिथिर्मेधातिथिर्वा काण्व ऋषिः ।

हे परमात्मँस्त्ये ते ता मधुमत्तमा अतिशयेन मधुरा गिरः प्रार्थनाः स्तोमासः स्तोत्राणि च त्वामुद्दिश्यैवोद् ईरत उद्गच्छन्ति प्रारभ्यन्त इतिभावः । क इव ? धनसा धनेन विद्याधनं भक्तिधनं वा प्राप्तुं सत्राजितः सहैव संहत्य विघ्नविजेतारोक्षितोतयोक्षिताः क्षयरहिता ऊतयो रक्षणानि येषां ते, वाजयन्त ऊर्ध्वंगतिमिच्छन्तो रक्षा रमणशीला रमणसाधनरूपा वा जीवा इव । तथा सर्वे जीवास्त्वामुद्दिश्यैव प्रवर्तन्ते ऐहिकपारलौकिकव्यवहारेषु तथा ॥९॥

२५२. यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥१०॥

(ऋ. ८।४।३)

यथेति । देवातिथिः काण्व ऋषिः ।

यथा तृष्यन्पिपासितो गौर उद्योगशीलः । गूरी उद्यमने । अपा कृतमद्भिः पूर्णमिरिणं तृणरहितं निर्मलतडागादिकं जलकृते

† गिरः ।

शीघ्रमव एत्यवगच्छति तथैवापित्वे प्रपित्वे बन्धुत्वे प्राप्ते सति त्वं कण्वेषु मेधाविषु। कण्व इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।७) तूयमा गहि तूर्णमागच्छ। तूयमिति क्षिप्रनाम (निघ० २।१५।११) सचा सहैव विद्वद्भिः सहैव पिब भक्त्यानन्दरसम्। साक्षित्वेन भक्तियज्ञं पश्येतिभावः। शैघ्र्येणागमने दृष्टान्तः॥१०॥

इति षष्ठी दशतिः। इति द्वितीयः खण्डः।



२५३ शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि॥१॥
(ऋ. ८।६१।५)

अस्यां दशत्यां तृतीयस्य मन्त्रस्य मित्रावरुणादित्या देवताः। अन्येषामिन्द्रो देवता। बृहती च च्छन्दः। ऋषिनिर्देशं करिष्यामः। शग्ध्यू ष्विति। अस्य मन्त्रस्य भर्गः प्रागाथ ऋषिः।

हे समर्थ इन्द्र शचीपते सर्वेषां कर्मणां सर्वासां प्रज्ञानां विद्यानामधिष्ठातः। शचीति कर्मनाम (निघ० २।१।२२) प्रज्ञानाम च (निघ० ३।९।८)। शूर मनोविकाराणां विशरणकर्तः। यशसं यशस्विनं वसुविदं सर्वज्ञानधनप्रापकम्। वस निवासे। सर्वाज्ञानापहरणविदं वा। वस स्नेहच्छेदापहरणेषु। त्वा त्वां भगं न भगमिवास्माकं भाग्यमिवानुचरामस्यनुचरामः। यथा भाग्यानुसारिणी नो गतिस्तथैव त्वदनुसारिणी गतिः। विश्वाभिरखिलाभिरूतिभिरवनसामग्रीभिः सु शोभनतया शग्धिशक्नुहि शक्तो भवास्माकं रक्षणे। शग्धिरिति याच्ञाकर्मेति यास्कः। देहीति सायणः॥ १॥

२५४. या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः ।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥२॥
(ऋ. ८।९७।१)

या इन्द्रेति । रेभः काश्यप ऋषिः ।

हे इन्द्र परमसमर्थ त्वं स्वर्वान् सर्वानन्दोसि । सतामानन्दस्य वृद्धये त्वमसुरेभ्यो दुष्टेभ्यो या भुजो भोग्यसामग्रीः शमदमादिरूपा आभर आहर आहृतवानसि । हे मघवन्नैश्वर्यवन्नस्याभिः सामग्रीभिः स्तोतारमिज्ज्ञानभक्तिपरायणसमाजमेव वर्धय । ये चान्ये त्वे त्वदर्थं वृक्तबर्हिष आस्तीर्णहृदयाकाशा भवेयुस्ताँश्च वर्धय । ये सदाचारविमुखास्तेसुरास्तेषां स्वभावादेव शमदमादिभ्यः पारलौकिकसाधनेभ्यो वैमुख्यम् । तेत्र शमदमादयः परमात्मनैव तेभ्य आहृता इति प्रकल्प्यैवैषोक्तिः ॥ २ ॥

२५५. प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो ।
†वरूथ्ये३ वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत ॥ ३ ॥
(ऋ. ८।१०१।५)

प्र मित्रायेति । जमदग्निर्भार्गव ऋषिः ।

हे ऋतावसो परमसत्यधन परमेश्वरभक्त त्वं मित्राय सुहृदेर्यम्णे तवाह्वानेनागताय वरूथ्याय गृहजनाय । वरूथं गृहमिति निघण्टुः (३।४।१७) । वरुणे वरुणाय वरेण्याय राजस्वन्येभ्यो महापुरुषेभ्यश्च च्छन्द्यं प्रीणनसमर्थं स्तोत्रं वचः स्तुतिरूपं वचो गायत गाय ब्रूहि । भक्तलक्षणं ज्ञानिलक्षणं चैतद्यत्सर्वेषां मधुरया वाचा स्वाभाविकी सत्कृतिः ॥ ३ ॥

† वरूथ्यम् ।

२५६. अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त
पूर्व्यम् ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।३।७)

अभि त्वेति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्नायवो मनुष्याः (निघ० २।३।१७)। स्तोमेभिः स्तोमैः स्तोत्रैः पूर्वपीतये सर्वेभ्यः प्राक्तव दर्शनपानाय त्वा त्वामभि स्तुवन्ति । समीचीनासः समीचीनाः सन्मार्गप्रवणा ऋभवो मेधाविनः (निघ० ३।१५।८) त्वां समस्वरन्नगायन् गायन्ति च । रुद्राः शब्दवन्तः प्रार्थिनोपि पूर्व्यं सर्वज्येष्ठं त्वां गृणन्ति स्तुवन्ति ॥ ४ ॥

२५७. प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत ।
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ५ ॥
(ऋ. ८।८९।३)

प्र व इति । नृमेधपुरुमेधावाङ्गिरसा ऋषी ।

हे मरुतो विद्वांसो मितराविणो मितभाषिणो वा वो यूयम् । विभक्तिव्यत्ययः । बृहते सर्वमहते इन्द्राय परमात्मने परमात्मानं प्रसादयितुमित्यर्थः । ब्रह्म वेदं सामरूपं प्र अर्चत प्रकर्षेणोच्चारयत । किं तेन स्यादित्याह—वृत्रहा पापनिवारकः शतक्रतुर्बहुकर्मा बहुप्रज्ञो वा । क्रतुरिति कर्मनाम (निघ० २।१।१०) प्रज्ञानामापि (निघ० ३।९।५) । स परमात्मा शतपर्वणा शतानि पर्वाणि महोत्साहा यस्य तेन वज्रेण गमनेन महोत्साहवत्या गत्या व्यापकत्वेनेति भावः । वृत्रं युष्माकं पापं हनति हन्ति । सर्वान्तर्व्यापको हि परमेश्वरः स्वसन्निधानेन पापाद्भक्तान्निवारयतीतिभावः ॥ ५ ॥

२५८. बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥
(ऋ. ८।८९।१)

बृहदीति । नृमेधपुरुमेधावाङ्गिरसावृषी ।

हे मरुतो विद्वद्भक्ता बृहदिन्द्राय बृहत इन्द्राय महैश्वर्याय मोक्षायेतियावत् । वृत्रहन्तममतिशयेन पापहन्तारं परमात्मानं गायत । परमात्मस्मरणं विना मोक्षो दुर्लभ इतिभावः । ऋतावृधः सत्यस्य वर्धयितारो येन गानेन ज्योतिः प्रकाशं स्वरूपभूतमजयन्प्राप्नुवञ्जयन्ति प्राप्नुवन्ति च ज्ञानिनः । किम्भूतं ज्योतिः ? देवं दिव्यं द्योतनशीलं वा । जागृवि जागरणशीलम् । न पुनरज्ञानस्वापो जायते येनेतिभावः ॥ ६ ॥

२५९. इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा
ज्योतिरशीमहि ॥ ७ ॥ (ऋ. ७।३२।२६)

इन्द्र क्रतुमिति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मंस्त्वं नोस्माकमस्मभ्यं वा क्रतुं प्रज्ञां ब्रह्मज्ञानं स्वज्ञानमितियावत् । आ भराहर । यथा पिता पालनकर्ता जनकः पुत्रेभ्य आत्मजेभ्यस्तदाहृतं ज्ञानं शिक्षति ददाति । शिक्षतिर्दानार्थः (निघ० ३।२०।८) । तद्वन्नोस्मभ्यं तच्छिक्ष देहि । हे पुरुहूत बहुभिः प्रार्थितास्मिन्यामनि मनोनियमनकर्मणि जीवा वयं ज्योतिः प्रकाशं ज्ञानरूपमशीमहि प्राप्नुयाम ॥ ७ ॥

२६०. मा न इन्द्र परा वृणग्भवा नः †सधमाद्ये ।

† सधमाद्ये इत्यृक्पाठः ।

त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र
परा वृणक् ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।९७।७)

मा न इन्द्रेति । रेभः काश्यप ऋषिः ।

हे इन्द्र परमेश्वर त्वं नोऽस्मान्मा परा वृणक्, मा परित्याक्षीः । वृजी वर्जने । किं च नोऽस्माकं सधमाद्ये सहैवानन्दानुभवयोग्ये भक्तिमण्डपे तिष्ठेतिशेषः । अस्माभिः सहैवात्र प्रसादमनुभवेतिभावः । त्वं नोऽस्माकमूती । ऊतिः शरणम् । त्वमित्त्वमेव नोऽस्माकमाप्यं प्राप्यं प्राप्यभूतं च । तस्माद्धे परमेश्वर नो मा परा वृणक् । द्विरुक्तिरनुनयद्योतनार्था ॥ ८ ॥

२६१. वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते
(ऋ. ८।३३।१)

वयमिति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

हे वृत्रहन् पापनाशक वयमुपासकाः सुतावन्तः सुतवन्तो भक्तिरसोत्पादकास्त्वा घ त्वां खलु ध्यायाम इति शेषः । पवित्रस्य भक्तियज्ञस्य प्रस्रवणेष्वारम्भेषु वृक्तबर्हिषः स्तीर्णहृदयाकाशाः स्तोतारः सर्वे त्वा परि आसते त्वां पर्युपासते । तत्र दृष्टान्तमाह । आपो न आप इव । यथा प्रस्रवणेषु प्रवाहेषु स्थिताः पतिता वापः समुद्रमेवाभिधावन्ति तथा ॥ ९ ॥

२६२. यदिन्द्र नाहुषी†ष्वा ओजो नृम्णं च कृष्टिषु ।
यद्वा पञ्च क्षितीनां द्युम्नमा भर सत्रा
विश्वानि पौंस्या ॥ १० ॥ (ऋ. ६।४६।७)

† ष्वा इत्यृक्पाठः ।

यदीन्द्रेति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्नाहुषीषु मानुषीषु कृष्टिसु प्रजासु । नहुष इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।९) कृष्टयो मनुष्याः (निघ० २।३।७) यदोजो बलं तेजो नृम्णं च ज्ञानरूपं भक्तिरूपं वा यद्धनं यच्च पञ्च पञ्चानां ज्ञानेन्द्रियाणां द्युम्नं द्योतमानं सत्रा सत्यं सत्यनिष्ठता (सत्येष्वेवास्मदीयानीन्द्रियाणि प्रचरन्तु नासत्येष्वितिभावः) । क्षितीनां मनुष्याणाम् । क्षितयो मनुष्याः (निघ० २।३।६) । मननशीलानां सदाचारनिरतानां यद् द्युम्नं द्योतमानं बलं सत्रा सत्यं च । सत्रेति सत्यनाम (निघ० ३।१०।३) । विश्वानि च पौंस्यानि सर्वाश्च पुरुषार्थान्धर्मार्थकाममोक्षाख्याना भराहर । अस्मासु भक्तेषु सर्वेषां यः कोपि विशिष्टो गुणस्तमाधेहीतिभावः ॥ १० ॥

इति सप्तमी दशतिः । इति तृतीयः खण्डः

२६३. सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता ।
वृषा ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति श्रुतः ॥ १ ॥
(ऋ. ८।३३।१०)

अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता बृहती चच्छन्दः । प्रतिमन्त्रमृषिनिर्देशं करिष्यामः । सत्यमित्थेति । अस्य मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।

हे उग्र तेजस्विन्निन्द्र परमात्मंस्त्व सत्यं सत्यमेवेत्था प्रकारेणानेन वृषेदस्मत्कामानां वर्षकः पूरकोसि । वृषजूतिर्वृष्णां सर्वकामानां सर्वकामिनां वा जूतिर्गमनं यत्र तथाभूतोसि । नोस्माकमविता रक्षिता चासि । त्वं परावति दूरे । परावदिति दूरवचनम् (निघ०

–। वृतः ।

३।२६।५) वृषा मनोरथपूरकः शृण्विषे श्रूयसेर्वावति समीपे च वृषः श्रुतः ॥ १ ॥

२६४. यच्छक्राशि परावति यदर्वावति वृत्रहन् ।
अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ
आ विवासति ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९७।४)

यच्छक्रेति । रेभः काश्यप ऋषिः ।

हे शक्र प्रकाशस्वरूप वृत्रहन् पापविनाशिन्यद्यस्मात्त्वं परावति दूरदेशेसि यद्यस्मादर्वावति समीपदेशेप्यसि ततो हे इन्द्र द्युगद्दिव्यलोकयायी केशिभिः प्रकाशवद्भिर्विद्वद्भिः सह । केशिनो द्युस्थानदेवता इति निघण्टौ (५।६।१५) । सुतावान्सूतवान् ज्ञानयज्ञमारब्धवान् भक्तो गीर्भिः स्तुतिरूपाभिस्त्वा त्वामा विवासति सर्वथा परिचरति । विवासतिः परिचरणकर्मा (निघ० ३।५।१०) ॥ २ ॥

२६५. अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम् ।
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ॥ ३ ॥
(ऋ. ८।४६।१४)

अभि व इति । वत्स ऋषिः ।

हे भक्ता ज्ञानिनो वान्धस आध्यातव्यस्य परमेश्वरस्य मदेष्वानन्देषु परमात्मध्यानजन्यानन्देषु वो यूयम् । विभक्तिव्यत्ययः । वीरं विक्रमवन्तं विचेतसं कविं श्रुत्यं सर्वदा श्रोतव्यं शाकिनं सर्वसामर्थ्योपेतमिन्द्रं परमात्मानं यथा वचो यथा युष्माकं वचःशक्तिः प्रभवेत्तथा महा महत्या गिरा वाचा गायत ॥ ३ ॥

२६६. इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं †स्वस्तये ।

---

† स्वस्तिमत् इत्यृक्पाठः ।

च्छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥ ४ ॥

(ऋ. ६।४६।९)

इन्द्र त्रिधात्विति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

हे इन्द्र परमेश्वर त्रिधातु त्रिप्रकारं त्रिगुणात्मकं त्रिवरूथं त्रिगृहं त्रिभुवनम् वरूथमिति गृहनाम (निघ० ३।४।१७)। स्वस्तये कल्याणाय शरणं रक्षकं त्वामुपगतमितिशेषः । एभ्यः शरणमुपयातेभ्यो मघवद्भ्यः पूजावद्भ्यस्तव पूजाकृद्भ्य इतियावत् । मह्यञ्च वत्साय प्रस्तुतमन्त्रर्षये दिद्युप्रकाशशीलं छर्दिर्गृहम् । (निघ० ३।४।१८) स्वधामेतिभावः । यावय मिश्रय देहीतिभावः ॥ ४ ॥

२६७. श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि|जातोजनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिम ॥

(ऋ. ८।९९।३)

श्रायन्त इति । नृमेध आङ्गिरस ऋषिः ।

सूर्यं श्रायन्त इव सूर्येण सहानन्यभूता रश्मयो यथा सूर्यं भजन्ते तादात्म्यमुपसेवन्ते तथैव विश्वेत्सर्वं एव यूयमिन्द्रस्य परमात्मनोनन्यभूतास्तस्य तादात्म्यं भजध्वम् । जातो जातानि जनिमानि जनिष्यमाणानि च वसूनि तत्तादात्म्यजन्यानि तेजांस्योजसोत्साहेन प्रतिभागं न प्रतिभागमिव प्रत्येकं भागमिव वयं दीधिम धारयाम । अथवा न सम्प्रत्यर्थे ॥ ५ ॥

---

† जाते जनमान ओजसा ।

२६८. न सीमदेव †आप तदिषं दीर्घायो मर्त्यः ।
एतग्वा चिद्य ‡एतशो युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते ॥६॥
(ऋ. ८।७०।७)

न सीमदेव इति । पुरुहन्मा आङ्गिरस ऋषिः ।

हे दीर्घायो दीर्घायुष्मँश्चिरञ्जीविन्यो मर्त्यो मनुष्योदेवोस्ति न त्वमुपास्यो देवो यस्य तथाभूतोस्ति त्वय्यनासक्तोस्तीति भावः । स सीम् किञ्चिदपीषं धनं ज्ञानरूपमानन्दरूपं वा नापन्नाप्नोति । य एतग्वा एतः प्राप्तो ग्वो गन्तव्यो येन सः । चिदेवार्थे परमात्मानुरक्त एवेतिभावः । यश्चैतशो गमनकुशलः परमात्मानं प्रतीतिशेषः । तमिन्द्रः परमात्मा स्व भक्ताय हरी कारुण्यवात्सल्ये युयोजतेनुसन्धत्ते । निघण्टौ एतग्वा एतशश्चाश्ववाचकौ ॥ ६ ॥

२६९ आ नो विश्वासु*हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषतु ।
उप ब्रह्माणि सवनानि §वृत्रहन्परमज्या ऋचीषमः ॥७॥
(ऋ. ८।९०।१)

अ न इति । नृमेधपुरुमेधावाङ्गिरसावृषी ।

द्रव्य आहवनीय इन्द्रः परमात्मा विश्वासु सर्वेषु समत्स्विन्द्रियतद्विषयसंग्रामेषु नोस्माना भूषत्वलङ्करोतु जयेन । "भूषत" इतिपाठेपि समानोर्थः । ऋचीषमः स्तुतिसमानगुणः परमज्या परमविजेता परमजयसाधनं वा । वृत्रहन्पापघ्नः स सवनान्यस्माभिरुपनीतानि ब्रह्माणि धनानि पवित्रान्तः करणरूपाणि उप उपगच्छतु प्राप्नोतु स्वीकरोत्वितिभावः ॥ ७ ॥

† आपदिषम् इत्यृक्पाठः । ‡ ऐतशा युयोजते हरी इन्द्रो युयोजते इत्यृक्पाठः उत्तरार्धे * हव्य इन्द्रः इत्यृक्पाठः । § वृत्रहा इत्यृक्पाठः ।

२७०. तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् ।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिष्ट्वा गोषु
वृण्वते ॥ ८ ॥ (ऋ. ७।३२।१६)

तवेदिति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे इन्द्र परमेश्वर अवममधमं जागत्कं क्षुद्रं वसु धनं तवेत्तवैव । मध्यमं रत्नादिकं वस्वपि त्वं त्वमेव पुष्यसि रक्षसि । तस्यापि त्वमेव स्वामीति भावः । सत्रा सत्यं ब्रवीमि, विश्वस्य सर्वस्य परमस्य जगद्बाह्यस्याध्यात्मिकस्य वसुनोपि त्वमेव राजसीशिषे । राजतिरैश्वर्यकर्मा (निघ० २।२१।४) । त्वा त्वां गोषु स्तोतृषु मध्ये नकिः न कोपि वृण्वते वारयति । सर्वसामर्थ्योसीतिभावः ॥

२७१. क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः । अलर्षि युध्म
खजकृत्पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषुः ॥९॥ (ऋ. ८।१।७)

क्वेयथेति । मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च काण्वावृषी ।

हे पुरन्दर पुरां दुर्जनसमाजानां दारयितः क्व इयथ कुत्र गतोसि ? क्व इत् असि, इदानीं क्वासि ? पुरुत्रा चिद्धि पुरुषु भक्तेषु ते तव मनः । अथवा पुरूँस्त्रायत इति पुरुत्रा । लिङ्गव्यत्ययः । सर्वेषां भक्तानां त्राणार्थं चरति ते मनः । हे खजकृत्खजङ्कर दुरात्मनां मन्थनकर्तः, हे युध्म युद्धकुशल, अलर्षि आगच्छ । गायत्रास्त्वद्गुणगाननिपुणाः प्र अगासिषुः प्र गायन्ति तव गुणगानं कुर्वन्ति । आर्तोक्तिरियम् ॥ ९ ॥

२७२. वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् । तस्मा उ अद्य
†सवने सुतं ‡भरा नूनं भूषत श्रुते ॥ (ऋ. ८।६६।७)

†समना इत्युक्पाठः । ‡भराऽऽनूनमित्युक्पाठः ।

वयमेनमिति । कलिः प्रागाथ ऋषिः ।

वयमुपासका इदा इदानीं ह्यश्च भूतकालेपि इहास्मिन्नेवार्चागृहे वज्रिणं शक्तिमन्तं परमात्मानमपोपेमाप्याययाम आप्यायितवन्तश्च श्रवणमननादिना । तस्मा उ तस्मादेवाद्य सवने भक्तियज्ञे सुतं निष्पादितं भक्तियज्ञं नूनं भर भरतु पालयतु सः । समना इतिपाठे समने संग्राम इन्द्रियतद्विषययोः प्रवर्तमान इत्यर्थः । अन्यत्समानम् । समनमिति संग्रामनाम (निघ० २।१७।१६) श्रुते च मत्प्रार्थनावचसि आ भूषतागच्छतु च । पुरुषव्यत्ययः ॥ १० ॥

इत्यष्टमी दशतिः । इति चतुर्थः खण्डः



२७३. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा
गृणे ॥ १ ॥ (ऋ. ८।७०।१)

अस्यां दशत्यां नवमस्य मन्त्रस्येन्द्राग्नी देवते । चतुर्थस्य सूर्यो अन्येषाञ्चेन्द्रो देवता । बृहती च च्छन्दः । प्रतिमन्त्रमृषिनिर्देशं करिष्यामः । योराजेति । अस्य पुरुहन्मा आङ्गिरस ऋषिः ।

यश्चर्षणीनां मनुष्याणां राजा रथेभी रथैरिन्द्रियैश्चाधृतगमनोनिवारितगमनः सन्याता, विश्वासां सर्वासां पृतनानां मनुष्याणाम् । पृतनां इति मनुष्यनाम (निघ० २।४।२५) । तरुता तारयिता ज्येष्ठः सर्वेभ्यः पूर्वं स्थित उत्पन्न इव प्रतीयमानो यश्च वृत्रहा सर्वदोषनिवर्तकस्तं गृणे स्तुवे । ज्येष्ठमितिपठेपि स एवार्थः ॥ १ ॥

२७४. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघवञ्छग्धि तव तन्न †ऊतये वि द्विषो
वि मृधो जहि ॥ २ ॥ (ऋ. ८।६१।१३)

यत इन्द्रेति । भर्गं प्रागाथ ऋषिः ।

हे इन्द्र परमेश्वर यतो यत्सकाशाद्भयामहे वयं बिभिमस्तत-स्तत्सकाशान्नोस्माकमभयं भयविरहं कुरु । अथवा नोस्मानभयान्कुरु । हे मघवन् ज्ञानधनसम्पन्न शग्धि त्वं शक्तोसि । तत्तस्मात्तवोतये ऊतिभी रक्षणशक्तिभिर्नोस्माकं मृधो हिंसकान्द्विषो मानसिकान्विकारान्विजहि हिन्धि ॥ २ ॥

२७५. वास्तोष्पते ध्रुवा ‡स्थूणांसत्रं सोम्यानाम् ।
*द्रप्सः पुरां भेत्ता शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां
सखा ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१७।१४)

वास्तोष्पत इति । इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः ।

हे वास्तोष्पतेन्तरिक्षलोकरक्षक । वस निवासे । वसेस्तुन् णिच्च । वास्तु । तच्चान्तरिक्षे शक्तम् । तस्य पतिः । छान्दसत्वात्पुंस्त्वं विभक्तेरलुक् षत्वं च । त्वं सोम्यानां त्वदुपासनया शान्तानां ध्रुवा निश्चलः स्थूणा स्थिरतास्थापकः स्तम्भोसि । अंसत्रं स्कन्धरक्षकं लक्षणया सर्वशरीररक्षकं बलमपि त्वमेवेतिभावः । सर्वेषां त्वं द्रप्सो हर्षसाधनमसि । दृप हर्षमोहनयोः । शश्वतीनां बह्वीनां मनआदीनां पुरां मायानां भेत्ता विदारको मुनीनां मननशीलानामिन्द्रः समर्थः सखा चासि ॥ ३ ॥

---

† ऊतिभिर् इत्यृक्पाठः । ‡ स्थूणांऽऽसत्रम् इत्यृक्पाठः ।
* द्रप्सो भेत्ता पुराम् इत्यृक्पाठः ।

२७६. बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा †पनिष्टम मह्ना देव
महाँ असि ॥ ४ ॥ (ऋ० ८।१०१।११)

बण्महानिति। जमदग्निर्भार्गव ऋषिः।

हे सूर्याकाशेपि सरणशील त्वं बट् सत्यम्। बडिति सत्यनाम (निघ० ३।१०।१)। महानसि सर्वोत्कृष्टोसि। हे आदित्याविनाशिस्त्वं बण्महानसि। महो महतो व्यापकस्य ते तव सतः सत्तामात्रस्य महिमा महत्त्वमपनिष्ट स्तुतं पनस्यते स्तूयते वा। पनतिरर्चतिकर्मापि। पनायतियरप्यर्चनकर्मा। मह्ना महिम्ना हे देव त्वं महानसि ॥ ४ ॥

२७७ अश्वी रथी सुरूप इद्गोमान्‡ यदिन्द्र ते
सखा। श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा
*चन्द्रैर्याति सभामुप ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।४।९)

अश्वीति। देवातिथिः काण्व ऋषिः।

हे इन्द्र परमेश्वर यद्यस्ते तव सखा समानख्यातिमाँस्तव मैत्र्यां स्थितः सोश्वी इत् पवित्रेन्द्रियवानेव। इन्द्रियाण्येवाश्वाः। अश्वा इत् तानीन्द्रियाण्येवेतस्ततो जीवान्नयन्ति। प्राशस्त्ये मतुप्। स रथी एव रमणीयशरीरवान्सार्थकशरीरवानेव। तस्यैव मनुष्य-शरीरं सार्थकमितिभावः। स सुरूपः। रूप्यते ब्रह्म ज्ञायतेनेनेति रूपं ज्ञानम्। शोभनं रूपं ज्ञानं यस्य स सुरूपः स गोमानेव जितेन्द्रिय एव परमेश्वरोपासक एवंविध एव भवतीतिभावः। सच श्वात्रभाजा श्वात्रं

† पनस्यतेऽद्धा देव इत्यृक्पाठः।
‡ इदिन्द्रेति ऋक्पाठः। * चन्द्रो यातीत्यृक्पाठः।

क्षिप्रं भजत इतिश्वात्रभाजा भगवत्कृपया शीघ्रमेव प्राप्तेन वयसा धनेन ज्ञानरूपेण सदा सचते समन्वेति। चन्द्रैराह्लादकैर्गुणैः सह सभां ब्रह्मसमानां भां प्रभामुपयाति। श्वात्रमिति क्षिप्रार्थे (निघ० ४।२।१४)। वय इत्यन्ननाम (निघ० २।७।७) ॥ ५ ॥

२७८. यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट
रोदसी ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।७०।५)

यद् द्याव इति। पुरुहन्मा आङ्गिरस ऋषिः।

हे इन्द्र परमेश्वर यद्यदि शतं द्यावः प्रकाशलोका उताथवा शतं भूमीर्भूमयो विस्तीर्णाः सहनशीला वा स्युस्तथापि ते तव साम्यं न दध्युः। हे वज्रिन्नक्षोभ्य सहस्रं सूर्याः प्रकाशमयपदार्थास्त्वा त्वां न अनु अनुकुर्वन्ति नानुकर्तुं शक्नुवन्ति। रोदसी माध्यमिका वाक् च त्वां नाष्ट नाश्नोति वर्णयितुं न शक्नोतीतिभावः। माध्यमिक-वाक्छब्देनात्र वैखरी वागपेक्षिता वेदितव्या ॥ ६ ॥

२७९. यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध
तुर्वशे ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।४।१)

यदिन्द्रेति। देवातिथिः काण्व ऋषिः।

यद्यस्माद्धे इन्द्र परमात्मंस्त्वं नृभिर्मनुष्यैः प्राक् प्राच्यां दिश्यपाक् प्रतीच्यामुदगुदीच्यां न्यग्वा नीच्यां वा सर्वत्र हूयस आहूयसे तस्माद्धे सिम सर्वश्रेष्ठ प्रसर्ध प्रकर्षेण भक्तदासाभिभवितः परमेश्वर पूर्वाधिक्येन पुनः पुनर्वानवे प्राणनकर्मणि सम्यग् जीवधारणकर्मणि तुर्वशेन्तिके नृषूतोसि भक्तजनैः प्राकट्यं नीतोसि। तुर्वशे इत्यन्तिकनाम (निघ० २।१६।४) ॥ ७ ॥

२८०. कस्तमिन्द्र त्वावसुमा मर्त्यो दधर्षति।
श्रद्धा †हि ते मघवन्पार्ये दिवि वाजी वाजं
सिषासति ॥ ८ ॥ (ऋ. ७।३२।१४)

कस्तमिति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे इन्द्र परमेश्वर त्वावसुं त्वं वसुर्वासयिता सकलपदनोकह-विच्छेत्ता वा यस्य तं जनं त्वद्भक्तं त्वदाश्रितं को मर्त्यो मरण-धर्मा दधर्षत्याधर्षत् ? न कोपीत्यर्थः । ते तव श्रद्धा श्रद्धया हि खलु मघवन्सर्वधनस्वामी परमात्मा वाजी गतिमान् सर्वगः पार्ये पार-यितव्ये पालयितव्ये दिव्यहनि तत्समाराधनदिने वाजं बलं सिषासति सेवते। भक्तकृतोपासनया स बलिष्ठो भवति सन्तुष्टो भवतीति-यावत् । "त्वा वसवा मर्त्यो" इत्यादिपाठे हे वसो इति सम्बोधनम् । अन्यत्समानम् ॥ ८ ॥

२८१. इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात्पद्वतीभ्यः । ‡हित्वा
शिरो जिह्वया*रारपच्चरत्त्रिंशत्पदा न्यक्रमीत् ॥
(ऋ. ६।५९।६)

इन्द्राग्नी इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

इयं मदीता श्रद्धा भगवद्विषयिणी रतिर्वागात्पादरहितापि पद्व-तीभ्यः सपादाभ्यः प्रजाभ्यः पूर्वा प्रागिन्द्राग्नी इन्द्रं च तमग्निं च सर्वैश्वर्यसम्पन्नं प्रकाशस्वरूपं चागात्प्राप्नोति । भगवद्रत्या नचिरेण परमात्मा प्राप्य इत्युक्तम् । सा रतिः शिरो हित्वा शिरस्तिष्ठतु यातु वेत्यविगणय्य जिह्वया रारपद्रारपन्ती तन्नामेतिशेषः । चरच्चरन्ती

---

† इत्ते इत्यृक्पाठ । ‡ हित्वी इत्यृक्पाठः ।
* वावदच्चरत् इत्यृक्पाठः ।

सदाचारं तदाज्ञापालनं च त्रिंशत्पदान्यहानि मासस्येतिशेषः। अक्रमीत्क्राम्यति ॥ ९ ॥

२८२. इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः।
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे
स्वापिभिः ॥ १० ॥ (ऋ. ८।५३।५)

इन्द्रेति। मेध्यः काण्व ऋषिः।

हे इन्द्र परमात्मँस्त्वं मितमेधाभिर्मितशक्तिभिरूतिभी रक्षाभिर्नेदीय इदन्तिकतममेवा इह्यागच्छ। मेधेति धननाम (निघ० २।१०।२२)। धनं हि परमात्मनः शक्तिः। एकस्योद्धारे नामितशक्तेः प्रयोजनमिति सर्वंशक्तित्वं द्योतयितुमेव मितमेधाभिरित्यूतिभिरित्यस्य विशेषणम्। हे शन्तम कल्याणतम हे स्वापे शोभना आपयः सम्बधिन्यो यस्य स त्वं शन्तमाभिर्महाकल्याणसम्पन्नाभिः स्वापिभिः शोभनसम्बन्धिसहिताभिरभिष्टिभिरिच्छाभिरासमन्तादा आयोजयतु ॥ १० ॥

इति नवमी दशतिः इति पञ्चमः खण्डः



२८३. इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्। आशुं
जेतारं होतारं रथीतममतूर्तं[1]तुग्रियावृधम् ॥
(ऋ. ८।९९।७)

अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता बृहती च च्छन्दः। पञ्चमस्य वरुणो देवतेति कश्चित्। ऋषिनिर्देशं करिष्यामः। इत इति। अस्य मन्त्रस्य नृमेध आङ्गिरस ऋषिः।

---

[1] तुग्र्यावृधमित्यृक्पाठः।

हे जीवा यूयं वो युष्माकमूत्यूत्यै रक्षाया अजरं जरारहितं सर्वावस्थाशून्यं प्रहेतारं सर्वेषां प्रेरयितारमप्रहितं स्वयं न केनापि प्रेरितं प्रेषितं वाशुं व्यापनशीलं जेतारं जयनशीलं सर्वेषां जीवानां मर्यादायां स्थापनमेव परमात्मनो जयः । होतारमदनशीलं प्रलयकर्तारं रथीतमं रथिनां जीवानां शरीररूपरथस्वामिनां श्रेष्ठमतूर्तं केनाप्यहिंसितं तुग्रियावृधं तेजोवर्धकम् । तुग्र आदित्यः तुजति हिनस्ति तमः प्रकाशेनेति तुग्र आदित्यः । तुज हिंसायाम् । अथवा तुजन्तीति तुजो रश्मयः क्विप् । तद्वांस्तुग्र आदित्यः । तत्र भवं तेजः । आदित्यस्य तेजस इव तेजसो वर्धकमित्यभिप्रायः । परमात्मानमित गच्छत । सन्ध्यभावश्छान्दसः ॥ १ ॥

२८४. मो षु त्वा वाघतश्चनारे अस्मन्नि रीरमन् ।
†आरात्ताद्वा सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप
श्रुधि ॥ २ ॥ (ऋ. ७।३२।१)

मो षु त्वेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे परमात्मन्वाघतश्चन मेधाविनोपि । वाघदिति मेधाविनाम । वह प्रापणे । वहति तत्त्वमिति । त्वा त्वामस्मदस्मत्त आरे दूरे मो नि रीरमन् न नितरां रमयन्तु । सदुपदेशेन नः परमात्मानं नयन्त्विवतिभावः । आरात्ताद्वा दूरे चेत्स्थितो भवसि तथापि नोस्माकं सधमादमुपासनास्थानम् । त्वया सह माद्यामो यत्रेति सधमादम् । आ गह्यागच्छ । इह वा सन्समीपे वर्तसे चेत्तदपि उपश्रुध्यस्माकं प्रार्थनामुपशृणु । भगवद्भक्तिपूर्णतायां भगवत्सामीप्यमपूर्णतायां च तद्दौर्यमित्यवधेयम् ॥ २ ॥

† आरात्ताच्चित् इत्यृक्पाठः ।

२८५. सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित्पृणन्नित्पृणते
मयः ॥ ३ ॥ (ऋ. ७।३२।८)

सुनोतेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे भक्ताः सोमपाव्ने सोमः शान्तिरसस्तस्य पात्रे भक्तिरसपात्रे वज्रिणे परमबलवत इन्द्राय परमसमर्थाय सोमं शान्तरसं सुनोतोत्पादयत । शान्तरसमेव परमात्मा पिबतीतिभावः । अवसे तर्पयितुं तं परमात्मानं पक्तीः पाकान्पचत निष्पादयत । कृणुध्वं कुरुध्वं तत्प्रियकराणि परोपकारादीनि कर्माणि । सः इन्द्रः मयः सुखं पृणन्निद्भक्तेभ्यः प्रयच्छन्नेव पृणत आनन्दमनुभवति । स्वकीयानां सुखेनैव तत्सुखमित्याशयः । तदर्थं पाकस्तु मनआदीनामान्तरतत्त्वानां तदुपभोगयोग्यताप्रापणम् ॥ ३ ॥

२८६. यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम् ।
† सहस्रमन्यो तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु
नो वृधे ॥ ४ ॥ (ऋ. ६।४६।३)

यः सत्राहेति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

यः सत्राहा सर्वेषां दुर्जनानां नियन्ता विचर्षणिः सन्द्रष्टा चास्ति तमिन्द्रं परमात्मानं वयं हूमह आह्वयामः । हे सहस्रमन्योनन्तज्ञानस्वरूप तुविनृम्ण वहुवलोपेत सत्पते सतां सज्जनानां रक्षक समत्सु सानन्देषु जनेषु नोस्माकं वृधे वृद्धये भवा भव ॥

२८७. शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं ‡दिशस्यतम् ।

† सहस्रमुष्क इत्यृक्पाठः । ‡ दस्यतम् इत्यृक्पाठः ।

मा वां रातिरुपदसत्कदा चनास्मद्रातिः

कदा चन ॥ ५ ॥ (ऋ. १।१३९।५)

शचीभिरिति । परुच्छेपो दैवोदासिर्ऋषिः ।

हे शचीवसू । शचीतिप्रज्ञानाम (निघ० ३।९।८)। प्रज्ञा एव रश्मयो ययोस्तौ ज्ञानप्रकाशौ शक्तिशक्तिमन्तौ युवां दिवा नक्तं च शचीभिरस्मदुपार्जितैरुपासनादिरूपैः कर्मभिः । शचीति कर्मनाम (निघ० २।१।२२)। दिशस्यतमस्मदभिलषितं दत्तम् । वां युवयोः शक्तिशक्तिमतोर्याभ्यां काभ्यामपि नामभ्यां व्यवह्रियमाणयो रातिरस्मदर्थं दत्तं दानं कदा चन कदापि मा उप दसदुपक्षीणं मा भवतु। दसु उपक्षये। एवमस्द्रातिरस्माभिः प्रदत्तं समर्पितं हृदयं कदा चन कदापि मा उप दसन्मोपक्षीणं भूत् । युवाभ्यां दत्तं भक्तिज्ञानादिकं मयि सर्वदा तिष्ठतु, अस्माभिश्चार्पितं मनआदिकं सर्वदा युवाभ्यां परिपालनीयम् । शब्दभेदाद्द्विवचनम् ॥

२८८. यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत मर्त्यः ।

आदिद्वन्देत वरुणं विपा गिरा धर्तारं वि

व्रतानाम् ॥ ६ ॥ (ऋग्वेदे नास्त्ययं मन्त्रः)

यदा कदेति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

मर्त्यो मनुष्यः स्तोता स्तुतिकर्ता यदा कदा च यस्मिन्कस्मिन्नपि काले मीढुषे मनोरथपूरणसमर्थाय परमात्मने जरेत गच्छेत् । द्वितीयार्थे चतुर्थी । जरतिर्गत्यर्थः (निघ० ३।१४।७)। गत्वा विव्रतानां विविधानां संकल्पानामनुष्ठीयमानसदाचाराणां वा धर्तारं पोषणकर्तारं वरुणं वरेण्यं तं विपा वाचा । विपेति वाङ्नाम (निघ०-

† रुप दसत् इत्यृक्पाठः ।

१।११।४१)। स्तुतिरूपया वन्देतादित्प्रणमेदेव। उपदेशोयम्। नहि परमात्मानं प्रति लौकिकं गमनं सम्भवति। ततो मनसा तं प्रति गमनं मानसिकमेव प्रणमनमुपदिष्टं वामदेवेन ॥ ६ ॥

२८९. पाहि गायान्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे।
य: संमिश्लो†हर्योर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री
हिरण्ययः ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।३३।४)

पाहि गायेति। मेधातिथिः काण्व ऋषिः।

हे मेध्यातिथे मेध्यः पवित्रश्चासावतिथिश्चेति। अतिथिः निरन्तरगमनशीलो व्यापकः। सम्बोधनम्। पाहि रक्षास्मानस्मद्भक्तिं वा। हे भक्त त्वमन्धस आध्यायनीयस्य परमात्मनो मदे हर्षे स्थित्वेन्द्राय परमेश्वराय गाय स्तुतिं कुर्वित्यर्थः। यः परमेश्वरो हर्योर्मनुष्ययोः पतिपत्नीरूपयोर्गुरुशिष्यरूपयोर्वा संमिश्लः संमिश्रः संमिश्रयिता भवति। यश्चेन्द्रो हिरण्ययः प्रकाशस्वरूपो वज्री बलस्वरूपश्चास्ति। पाहि गा अन्धस इति पाठे गा अस्माकं विद्याः पाहीत्यर्थः ॥ ७ ॥

२९०. उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
सत्राच्या ‡मघवान्सोमपीतये धिया शविष्ठ
आ गमत् ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।६१।१)

उभयमिति। भर्गः प्रागाथ ऋषिः।

इन्द्रः परमात्मार्वागन्तिकस्थः सन्नोस्माकमुभयं स्तुतिरूपं

† हर्योर्यः सुते सचा वज्री रथो हिरण्ययः इत्यृक्पाठः।
‡ मघवा सोम इत्यृक्पाठः।

प्रार्थनारूपं चेदमुच्यमानं वचः शृणवच्छृणुयात् । च तदन्तरं शविष्ठो बलिष्ठो मघवान्परमात्मा सत्राच्या सत्ययुक्तया धिया सत्ययुक्तेन सत्येन कर्मणा । धीरिति कर्मनाम (निघ० २।१।२१)। हेतुभूतेन सोमपीतये शान्तिरक्षार्थमा गमदागच्छतु ॥ ८ ॥

२९१. महे†च न ‡त्वाद्रिवः परा शुल्काय*दीयसे ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय
शतामघ ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।१।५)

महे चनेति । मेधातिथिर्मेध्यातिथी काण्वावृषी ।

हे अद्रिवः दारणायोग्य, हे वज्रिवः-परमबलंवन्, हे शतामघ-अनन्तैश्वर्ययुक्त महे महते शुल्काय धनायापि महच्छुल्कं प्राप्तुमपि त्वा त्वां न परा दीयसे न परा देयां न विक्रीणीयाम् । दीयस इति व्यत्ययेन रूपम्। एवं शताय सहस्रायायुताय दशसहस्रायापि न परा देयाम् ॥ ९ ॥

२९२. वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय
राधसे ॥ १० ॥ (ऋ. ८।१।६)

वस्यामिति । मेधातिथिर्मेध्यातिथी काण्वावृषी ।

हे इन्द्र परमेश्वर त्वं मे मम पितुर्जनकादुताभुञ्जतोसमान-कर्मफलभागिनः । सहोदरावपि न समानकर्मफलभागिनौ भवतः । एकः सुखी दुःखी चापर इतिदर्शनात् । भ्रातुः सहोदरादपि वस्या-न्वसीयान्वसुमत्तरो वसुमत्तम इति यावत् । असि । मदीया माता

† चन इत्यृक्पाठः । ‡ त्वामद्रिव इत्यृक्पाठः ।
* देयामित्यृक्पाठः ।

जननी त्वं च मे मम समा समौ। यदि धनलाभेच्छया तव त्यागोभीष्टः स्यात्तर्हि मम पिता भ्राता च पुष्कलं धनं धत्तः। किमर्थं धनेच्छया तव त्यागः? किं च त्वं मत्पित्रपेक्षया मद्भ्रात्रपेक्षया चाधिकं वसु धत्से तर्हि त्वदर्थं तयोस्त्यागः संभवति न तदर्थं तव त्याग इति मर्मार्थः। अतस्त्वं मम भ्रातृसमः। यथा माता न विक्रीयते न वा त्यज्यते कथमपि कदाचिदपि तथैव न त्वं मया विक्रेयो न वा विहेयः। मातरमिव त्वामहमुपसेविष्ये। मातेव च त्वं मां पालयिष्यसीतिभावः। हे वसो! सर्वेषां वासयितः, वसुत्वनाय व्यापनाय राधसे सिद्ध्यै च मां छदयथोपवारयथोपथाद्रक्षथो वा पुरुषवचनव्यत्ययः। रक्षसि। अर्चसि वा। अर्चनं मानदानं सुखीकरणं च। छदयति छदयते इति चार्चतिकर्माणौ (निघ० ३।१४।२१) ॥ १० ॥

इति दशमी दशतिः। इति षष्ठः खण्डः।

इति द्वितीयोर्धः प्रपाठकः

तृतीयश्च प्रपाठक समाप्तः

●

अथ चतुर्थे प्रपाठके प्रथमोर्धः

२९३. इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः।
ताँ आ मदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां
याह्योक आ ॥ १ ॥ (ऋ. ७।३२।४)

अस्यां दशत्यां सप्तमस्य बहुर्देवतान्येषां चेन्द्रः। बृहती चच्छन्दः। ऋषिनिर्देशं करिष्यामः। इम इन्द्रेति। अस्य वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः।

इमे वर्तमाना इत्यर्थः। सोमासः सोमाः शान्तिप्रदा भक्तिरूपा

इन्द्राय परमात्मने सुन्विरे सूयन्ते तत्प्रसादार्थमितिभावः। हे वज्र-

हस्तामोघप्रसादक्रोध तान्भक्तियज्ञानुद्दिश्य मदाय प्रसादाय पीतयेस्माकं रक्षायै तदास्वादनाय वा हरिभ्यां प्रसादानुकम्पाभ्यामोको भक्तिसदनमा याह्यागच्छ ॥ १ ॥

२९४. इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः ।
मधोः पपान उप नो गिरः शृणु रास्व स्तो-
त्राय गिर्वणः ॥ २ ॥ (नास्ति मन्त्रोयमृग्वेदे)

इम इन्द्र मदायेति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मँस्ते तव मदाय प्रसादायोक्थिन स्तोत्रयुक्ता इमे प्रस्तुताः सोमा भक्तियज्ञाश्चिकित्रे ज्ञायन्ते दृश्यन्ते । कित ज्ञाने कर्मणि लिट् । रेआदेशः । निष्पादिताः सन्तीतिभावः । एषां भक्तियज्ञानां मधोर्मधुरस्य रसस्य । द्वितीयार्थं षष्ठी । रसं मधुरं पपानोऽतिशयेन पिबन्नोस्माकं गिरः प्रार्थना उपशृणु । हे गिर्वणः गीर्भिर्वननीय स्तोत्राय स्तोत्रकर्त्रे स्तोत्रकर्तृभ्यो रास्व देहि प्रसाददृष्टिमितिशेषः ॥ २ ॥

२९५. आ त्वाऽ३द्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम् ।
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरङ्
कृतम् ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१।१०)

आ त्वा३द्येति । मेधातिथिर्मेध्यातिथी काण्वावृषी विश्वामित्रो वा ।

ऋषिर्वा भक्तोवा कथयति–अहमद्य सबर्दुघां पयसो दोग्ध्रीं गायत्रवेपसं समर्चनीयवेगां सुदुघां सुखेन दोग्धुं शक्यामन्यां लोकविलक्षणामिषमेषणीयामुरुधारां बहुदुग्धधारां धेनुमिव सकृत्प्रसूतां गामिवारङ्कृतमतिसमर्थमिन्द्रं परमात्मानं तु क्षिप्रमा हुव आह्वयामि ॥ ३ ॥

२९६. न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीडव : ।
†यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा
मिनाति ते ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।८८।३)

न त्वेति । नोधा गौतम ऋषि: ।

हे इन्द्र परमात्मन्बृहन्तो महान्तोद्रयोविदार्या वीडवो बलिन-स्त्वा त्वाँ न वरन्ते न निवारयन्ति: । वीडु (लु) इति बलनाम । अत्र सामर्थ्यात्तद्वतां ग्रहणम् । सर्वं कर्तुं त्वं स्वतन्त्रोसीतिभाव: । मावते मादृशाय स्तुवते स्तुतिं कुर्वते त्वामुपासीनाय त्वं यद्वसु धनं ज्ञानभक्तिरूपं शिक्षसि ददासि ते तव तद्धनं नकि: न कश्चिदा मिनाति हिनस्ति निवारयति ॥ ४ ॥

२९७. क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः
शिप्र्यन्धसः ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।३३।७)

क ईमिति । मेधातिथि: काण्व ऋषि: ।

चक्षुरादीन्द्रियैरनुभवितुमशक्योयं य: परमात्मा शिप्री सृप्री गतिमाँल्लक्षणया सर्वव्यापकोन्धसोन्धसाध्यातव्येन भक्तिरसेन मन्दानो हृष्यन्नोजसा बलेन । पुरो विघ्ना: । पूरयन्ति दुःखैरिति विभिनत्ति विदारयति । तं सुते प्रस्तुते भक्तिज्ञानयज्ञेदृश्यरूपेण सचा पिबन्तं भक्तैः सहैवानन्दमनुभवन्तमिमं परमात्मानं को वेद वेत्ति ? न कोपीत्यर्थ: । नाङ्गुल्या कोपि निदर्शयितुं तं शक्नोति-तिभाव: । कत्कि कीदृशं वयो धनं सामर्थ्यं दधे दधात स धारयति तदपि न कोपि वेत्तुं समर्थ: ॥ ५ ॥

---

† यद्दित्ससि इत्यन्यपाठः ।

२९८. यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि ।
अस्माकमंशुं मघवन्पुरुस्पृहं वसव्ये अधि
बर्हय ॥ ६ ॥ (नास्त्यमृग्वेदे)

यदिन्द्रेति । वाणदेवो गौतम ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन् यद्येन हेतुना त्वं शासः शासकोसि तेन हेतुनाव्रतं व्रतनिषेधिनं दुराचारं सदसः स्थानादुत्तमजन्मनो वा परि च्यावय परिच्युतं कुरु । अस्माकं च पुरुस्पृहं पुरुभिर्बहुभिः स्पृहणीयमंशुं प्रकाशं ज्ञानं हे वसव्य वासयितव्याधि बर्हय सम्यग्वर्धय ॥ ६ ॥

२९९. त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं
वचः ॥ ७ ॥ (नास्त्ययमृग्वेदे)

त्वष्टेति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

त्वष्टा जगन्निर्माता पर्जन्यः प्रकष्टो जेता जनयिता वा । सर्वेषां तर्पको हितश्च वा । ब्रह्मणस्पतिर्ज्ञानस्य धनस्य वा रक्षकोदितिरखण्डनीयः परमात्मा पुत्रैर्भ्रातृभिर्बन्धुभिश्च सह नोस्माक दैव्यं वचो देवसम्बद्धां वाणीं सत्यशब्दोच्चारणकर्त्रीं पातु रक्षतु । यतो नोस्माकं त्रामणं दुःखत्राणकर्तृ वचो दुष्टरं दुष्प्रापम् ॥ ७ ॥

३००. कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य
पृच्यते ॥ ८ ॥ (ऋ. ८।५१।७)

कदाचनेति । श्रुष्टिगुः काण्व ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्दाशुषे परोपकारदृष्ट्या दानं कुर्वते । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । दानं कुर्वतस्त्वं कदा चन कदापि स्तरीर्हिसको न भव-

सीतिशेषः। प्रत्युत तं दानिनं सश्चसि गच्छस्यनुगृह्णासीतिभावः। सश्चतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।४१)। हे मघवन्सर्वधनस्वामिस्तद्दानं भूय इत्पुनरेवाधिक्येन वा ते तव देवस्य सर्वगुणसम्पन्नस्योपोप इत्समीपमेव पृच्यते नु शीघ्रं पृच्यते त्वया सह सम्पर्कं प्राप्नोति। पात्रेषु दत्तं दानं त्वय्युपतिष्ठत इतिभावः॥ ८॥

३०१. †युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः।
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतय उग्र ऋष्वेभि-
रा गहि॥ ९॥ (ऋ. ८।३।१७)

युङ्क्ष्वेति। मेध्यातिथिः काण्व ऋषिः।

हे वृत्रहन्तमातिशयेन पापनाशकेन्द्र परमात्मान् हरी प्रसाद-कारुण्ये युङ्क्ष्व योजय धारय प्रदर्शयेत्यर्थः। हरति पापमिति हरि-र्भगवत्प्रसादः। हरति दुःखं त्रिविधमपोति हरिः कारुण्यम्। अर्वा-चीन इत आगन्तुमुद्यतो हे मघवन्परमात्मन्सोमपीतयेस्मन्निष्पादित-शान्तरसास्वादनायोग्र उत्कः सन्नृष्वेभिर्महद्भिः। ऋष्व इति मह-न्नाम (निघ० ३।३।३)। प्रकाशैः सह परावतोस्मदविद्यया प्रतीय-मानाद्दूरदेशादा गह्यागच्छ॥ ९॥

३०२. त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन्वज्रिन्भूर्णयः।
सइन्द्र।स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा
गहि॥ १०॥ (ऋ. ८।९९।१)

त्वामदेति। नृमेध आङ्गिरस ऋषिः।

हे वज्रिन्महारक्षकेन्द्र ममर्थं परमेश्वर ह्यो गतदिन इदेदानी-मद्य च यं त्वां भूर्णयो भरणशीलास्त्वद्धारणशीला उपासका नरो

†युक्ष्वा हव्यवाहः।

मनुष्या अपीप्यन्भवितरसमपायन्स त्वं स्तोमवाहसः स्तोमवाहसाम्। वचनव्यत्ययः । स्तोत्रवहनकर्तॄणां स्तोतॄणामित्यर्थः । अस्माकं प्रार्थनामिह भक्तिमण्डपे उप श्रुधि शृणु । अस्माकं स्वसरं गृहं हृदयरूपं चा गह्यागच्छ । स्वसरमिति गृहनाम (निघ० ३।४।१०) ॥ १० ॥ † स्तोमवाहसमिहेत्यृक्पाठः ।

इति प्रथमा दशतिः । इति सप्तमः खण्डः ।



३०३. प्रत्यु अदर्श्यायत्यू ३ च्छन्ती दुहिता दिवः ।
अपो †महो‡वृणुते*चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृ-
णोति सूनरी ॥ १ ॥ (ऋ० ७।८१।१)

अस्यां दशत्यां प्रथमस्योषा देवता द्वितीयस्य तृतीयस्य चाश्विनौ । अन्येषामिन्द्रः । बृहती च च्छन्दः । ऋषिनिर्देशं करिष्यामः । प्रत्यु अदेति । अस्य वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

आयत्यागच्छन्त्युच्छन्ती व्युच्छन्ती विवासयन्ती तमोन्धकार-मालस्यं च देहिनां दिवो द्युलोकस्य दुहिता कन्योषा इत्यर्थः । दोग्धि प्रपूरयति प्रकाशपुञ्जमिति वा दहति नाशयति तिमिर-मालस्यमिति वा दुहिता। दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वेति यास्कः (निरु० ३।४)। लौकिकी कन्या दूरे हिता सती हिता भवति । अन्यथा प्रत्यहं मातृकुलमागत्य ततो धनाभूषणादि निरन्तरं दोग्धि । प्रति अदर्शि लोकैः प्रतिदृश्यते । सा मही महती पूज्या चक्षुषा चक्षुषे दर्शनाय तमोऽप वृणुतेपवारयति निवारयति । उः पादपूरणे । सा च सूनरी सर्वेषां सुष्ठु स्वस्वकार्येषु नेत्री योजयित्री

† महि इत्यृक्पाठः । ‡ व्ययति इत्यृक्पाठः । * चक्षसेत्यृक्पाठः ।

ज्योतिः प्रकाशं कृणोति करोति । रात्रिस्वावानन्तरमुषस आगमनेन जागरिता लोका भक्ता भगवत्स्मरणध्यानादिभिर्गाढं तमो हार्दं दूरीकुर्वन्ति । ध्यानजन्यं तेजश्च लभन्ते । अत एवोषाः सूनरी ॥ १ ॥

३०४. इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना ।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि
गच्छथः ॥ २ ॥ (ऋ. ७।७४।१)

इमा उ वामिति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे अश्विनौ व्यापकौ शक्तिशक्तिमन्तौ दिविष्टयो दिवं प्रकाशलोकं मोक्षमिच्छन्त्य उस्रा ब्रह्मतेजोधारिण्यः । वसत्यासु परतेज इत्युस्राः । इमाः प्रजा वां युवां हवन्त आह्वयन्ति । उः पादपूरणे । अयमहं वसिष्ठोपि शचीवसू प्रज्ञाधनौ वां युवामत्रसे मम रक्षाया अह्व आह्वयामि । हि यतो युवां विशंविशं प्रतिप्रजं गच्छथः । शक्तया सहैव शक्तिमान्परमात्मा सर्वं व्याप्नोति । शक्तिमान्सर्वत्र प्राप्नोति शक्तिरपि तत्र प्राप्तैव । एवं च शक्तिमतो भगवतो लक्ष्मीत्वेन कल्पिता शक्तिरण्वोति वदन्तो । वेदमर्मानभिज्ञा एव । शक्तिमतो व्यापकत्वे न्याय्यमेव शक्त्या अपि व्यापकत्वम् ॥

३०५. कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः ।
घ्नता वामश्नया क्षयमाणोंऽशुनेत्थमु
आद्वन्यथा ॥ ३ ॥ (नास्त्ययमृग्वेदे)

कुष्ठ इति । अश्विनौ वैवस्वतौ ऋषी ।

अश्विनौ शक्तिशक्तिमन्तौ वां युवयोः कुष्ठः पृथिव्यां स्थितः को मर्त्यो मनुष्यस्तपानस्तापनः प्रकाशको भवतीतिशेषः । न कश्चित्स्वौ ज्ञातु शक्नुयादित्यर्थः । देवा देवौ, वां युवयोरश्नया

(अश्मया) व्यात्या घ्नता तमो नाशयतांशुनाप्रकाशेन च क्षयमाणः क्षीयमाणोपि तवोपासक आद्वन्यथा – आद्वन्निव रसवद्भोजनं कुर्वाण इवेत्थमु इत्थमेव त्वादृश एव भवतीति तात्पर्यम् । यथा कश्चित्क्षुधा क्षान्तः पुरुषो रसवदन्नभोजनेन शरीरसमृद्धि लभते तथैव भगवदुपासको भगवद्गताद्वितीयत्वं लभत इत्यर्थः । ३ ॥

३०६. अयं वां मधुमत्तमः सुतः†सोमो दिविष्टिषु ।
तमश्विना पिबतं तिरोअह्न्यं धत्तं
रत्नानि दाशुषे ॥ ४ ॥ (ऋ. १।४७।१)

अयं वामिति । प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः ।

ऋग्वेदेस्यापि देवताश्विनावेव । लिङ्गमपि तथैव । तेन तथैव स्वीकृत्य मन्त्रोयं व्याख्यायते । हे अश्विनौ व्यापकौ शक्तिशक्तिमन्तौ दिविष्टिषु मोक्षलोकं कामयमानानां प्रजानां मध्ये मधुमत्तमोतिशयेन मधुर सोमः शान्तरसमयो भक्तियोगी वां युवाभ्याम् । विभक्तिव्यत्ययः । युवयोस्तोषार्थमितिभावः । सुतः प्रारब्धस्तं तिरः प्राप्तम् (निघ० ३।२९।५) । तॄ प्लवनसंतरणयोः अह्न्यमहन्यहनि भवं भक्तियोगजन्यं रसं युवां पिबतम् । भक्तिमार्गेण स्वकीयं हृदयं तुभ्यं दाशुषे दत्तवते जनाय रत्नानि रमणीयधनानि ज्ञानभक्तिसदाचारादिरूपाणि धत्तं दत्तम् ॥ ४ ॥

३०७. ‡आ त्वा सोमस्य गल्दया *यदा याचन्नहं ज्या ।
भूर्णि मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न
याचिषत् ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।१।२०)

---

† सोमऋतावृधा इत्यृक्पाठः ।

‡ मा इत्यृक्पाठः । * सदेत्यृक्पाठः ।

आ त्वेति । मेधातिथिमेध्यातिथि काण्वा ऋषी ।

हे परमात्मन्सवनेषु प्रातः सायंकृत्येषु सोमस्य भक्तिरसस्य ज्याज्यया जयनशीलया जयसाधनभूतया वा गल्दया गलनक्रियया (निघ० ४।३।१०६) अहं त्वा त्वां सदा आ याचे आभिक्षे । किंभूतं त्वाम् ? भूर्णिं भूरिनेतारं भर्तारं वा मृगं न मार्गणीयमिव । सर्वत्र विराजमानोपि त्वं मायया विलोपितो मृग्य इव भवसीतिभावः । अथवा यथा कश्चिद्रुष्टः पिता प्रच्छन्नो भवति पश्चाच्च पुत्रैर्मृग्यः प्रार्थितश्च भवति तद्वत् । याञ्चायां हेतुमाह—चुक्रुधमतिशयेन क्रुद्धमीशानं स्वामिनं को न याचिषद्याचेत् ? याचेदेवेत्यर्थः ॥ ५ ॥

३०८. अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति ।
उपो नूनं युयुजे वृषणाहरी आ च जगाम
वृत्रहा ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।४।११)

अध्वर्य इति । देवातिथिः काण्व ऋषिः ।

हे आध्वर्यो हिंसाकर्मनिवृत्त भक्त त्वं सोमं भक्तिरसं द्रावय द्रुतं निष्पादय । इन्द्रः परमात्मा तं पिपासति पातुमिच्छति । वृत्रहा सर्वपापनिहन्ता स वृषणौ सेचकौ मनोरथपूरणसमर्थौ हरी प्रसादानुग्रहावुप युयुजे उपयाक्ष्यते स्मरिष्यति नूनमवश्यं चा जगामागमिष्यति । उः पादपूरणार्थः ॥ ६ ॥

३०९. †अभीषतस्तदा भरेन्द्र ज्यायः कनीयसः ।
पुरूवसुर्हि‡मघवन्बभूविथ भरेभरे च हव्यः ॥
(ऋ. ७।३२।२४)

अभीषत इति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

† अभीषात इत्यृक्पाठः । ‡ मघवन्नसमादसि भरे भरे इत्यृक्पाठः ।

हे इन्द्र परमात्मन् हे ज्यायो ज्येष्ठ । प्रथमोत्पन्नत्वेन प्रतीयमानत्वाज्ज्येष्ठत्वं परमात्मनः । पश्चादुत्पन्नत्वेन प्रतीयमानत्वात्कनीयस्त्वं जीवात्मनाम् । सतः सन्मार्गे निरतस्य कनीयसो मम तत्प्रसिद्धं मोक्षाख्यं धनमभि अभित आ भराहर पूरय वा । हि यस्मात्त्वं पुरूवसुर्बहुधनोसि । हे मघवन् सर्वधनस्वामिस्त्वं भरेभरे प्रत्यापत्कालं भक्तैर्हव्य आह्वनीयो बभूविथ भवसि । भ्रातृभावेनाप्युपासनीयो भगवानित्यनेनोपदिष्टम् ॥ ७ ॥

३१०. यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय । स्तोतार
मिद्दधिषे रदावसो च पापत्वाय ‡रंसिषम् ॥
(ऋ. ७।३२।१८)

यदिन्द्रेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन् यद्यस्य यावतो यावत्परिमाणस्य धनस्य ज्ञानस्य सामर्थ्यस्य त्वमीशिष एतावदेतावतस्तावतो ज्ञानादेरहमपीशीयेश्वरो भवानि । हे रदावसो रदवसो धनदातः । रदति ददाति वस्विति रदावसुः । स्तोतारभित्स्तुतिकर्तारमेव दधिषे दध्यां धारयेयं पापत्वाय पापिने न रंसिषं न दद्याम् । अत्रार्धर्चेन जीवब्रह्मणोर्भेदो निवारितः । ज्ञानसाम्याच्छक्तिसाम्याच्च । इयं च मोक्षदशा । उत्तरार्धेनोपासनाया अङ्गभूतस्य दानस्य विधिः प्रचोदितः ये भगवतस्तोतारः स्युस्त एव दानपात्रमन्ये च पापित्वान्नेति ॥ ८ ॥

३११. त्वमिन्द्र प्रसूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता*वृत्रतूरसि त्वं तूर्य
तरुष्यतः ॥ ९ ॥ (ऋ. ८।९९।५)

† मिद्दिधिषेय इत्यृक्पाठः । ‡ रासीय इत्यृक्पाठः ।
* विश्वतूरसि इत्यृक्पाठः ।

त्वमिन्द्रेति । नृमेध आङ्गिरस ऋषिः ।

हे इन्द्र समर्थं त्वं प्रतूर्तिषु रागवैराग्ययोः संग्रामेषु । तुर्वी हिंसायाम् । विश्वाः सर्वाः स्पृधः संग्रामकारिणीर्विरुद्धा वृत्तीरभि अस्यभिभवसि । हे तूर्य विरोधिनीनां वृत्तीनां बाधक त्वमशस्तिहाप्रशस्तिहानिष्टविनाशकोसि । जनिता सात्त्विकवृत्तीनां प्रादुर्भावयितासि । वृत्रतूः पापघ्नस्तरुष्यतो हिंसकान्बाधकांश्च त्वं निवारयसि ॥ ९ ॥

३१२. प्र†यो रिरिक्ष ओजसा‡दिवः सदोभ्यस्परि ।
न त्वा विव्या च रज इन्द्र पार्थिव*मति§विश्वं
ववक्षिथ ॥ १० ॥ (ऋ. ८।८८।५)

प्र य इति । नोधा गौतम ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्यस्त्वमोजसा महता पराक्रमेण दिवो द्युलोकस्य सदोभ्यः स्थानेभ्यः परि सर्वतः परिरिक्षे प्र रिणक्षि प्रकर्षेणातिरिक्तो भवसि तं त्वा त्वां पार्थिवं पृथिवीस्थो रजो लोको न विव्याच न व्याप्नोति । द्युलोकाद्भूलोकाच्च त्वमति रिक्तोस्पृष्टश्चासीतितात्पर्यम् । विश्वं निखिलं जगत्त्वमति ववक्षिथातिशयेन वहसि धारयसि ॥ १० ॥

इति द्वितीया दशतिः । इत्यष्टमः खण्डः

●

३१३. असाविदेवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो
जनुषेमुवोच । बोधमसि त्वा हर्यश्व यज्ञै-
र्बोधा नः स्तोममन्धसो मदेषु ॥ १ ॥ (ऋ. ७।२१।१)

---

† हि इत्यृक्पाठः । ‡ दिवो अन्तेभ्यस्परि इत्यृक्पाठः ।
* मनु इत्यृक्पाठः । § स्वधामित्यृक्पाठः ।

अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता त्रिष्टुप् चच्छन्दः । ऋषिनिर्देशं करिष्यामः । असावीति । अस्य वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

गोऋजीक गोभिर्वाग्भिर्ऋजीकं संस्कृतं स्तोत्ररूपवाक्संस्कृतमित्यर्थः । देवं दिव्यमन्धोन्नं भक्तियज्ञरूपमसाव्युदपादि भक्तैः । अस्मिन्मभक्तियज्ञरूपेन्ने इन्द्रः परमात्मा जनुषा जन्मना स्वभावत इत्यर्थः । नि उवोच नितरां समवेतो भवति । उच समवाये । इं पादपूरणः । हे हर्यश्व मनुष्यहृदयेष्वभिव्याप्त त्वा त्वां यज्ञैरुत्कृष्टकर्मभिर्भक्तिरूपैर्बोधामसि बोधयामो जागरयामोस्मदुन्मुखं कुर्म इत्यर्थः । अन्धसोन्नस्यास्य भक्तिरूपस्य मदेषु हर्षेषु नोस्माकं स्तोमं स्तोत्रं बोध शृणु ॥ १ ॥

३१४. योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत
प्र याहि । असो यथा नोऽविता†वृधश्चिद्ददो
वसूनि ममदश्च सोमैः ॥ २ ॥ (ऋ. ७।२४।१)

योनिष्ट इति । उक्त ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्सदने हृदयप्रदेशे ते तव योनिर्गृहम् । योनिरिति गृहनाम (निघ० ३।४।१४) । अकारि निरमायि भक्तैरस्माभिः । हे नृभिरस्माभिः पुरुहूत बहुधाहूत तं तां योनिं प्र आ याहि प्रकर्षेणागच्छ । यथा येन त्वं नोस्माकमविता रक्षकोसो भवसि वृधो वृधे । विभक्तिव्यत्ययः । वृद्धये चासो भवसि । वसूनि ज्ञानानि ददो देह्यस्मभ्यम् । सोमैश्चैभिः शान्तरसैर्ममदश्च मादयस्व च ॥ २ ॥

३१५. अददंरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्बद्बधानाँ

† वृधे च ददो इत्यृक्पाठः ।

अरम्णाः । महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः
†सृजद्धारा अव यद्दानवान्हन् ॥ (ऋ. ५।३२।१)

अददर्रुदिति । गातुरात्रेय ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मँस्त्वमुत्सं कूपमज्ञानकूपमदर्दरुर्द्विदारितवान्विदारयसि। पुरुषव्यत्ययः। उत्स इति कूपनाम (निघ० ३।२४।१०)। खानीन्द्रियाणि वि असृजो विषयेभ्यो विरक्तान्यकरोत्। बद्बधानान्बाध्यमानानर्णवान्विषयोदकप्रवाहानरम्णा हंसि। रम्णातिर्वधकर्मा (निघ० २।१९।२४)। यद्यस्त्वं महान्तं दीर्घकालसञ्चितं पर्वतमवयववन्तं कर्मराशि वि वः विवृतं करोष्युद्धाटयसि नाशयसीतिभावः। धाराः कर्मप्रवाहाञ्जन्ममरणकर्मप्रवाहान्वा वि सृजत् विसृजसि। यद्यश्च त्वं दानवान्दैत्यानव हन् अवहंसि उपास्यस्य धर्मवर्णनमेतत् ॥ ३ ॥

३१६. सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा ‡सनिष्यन्तश्चित्तु
विनृम्ण वाजम् । आ नो भर सुवितं यस्त कोना
*तना त्मना सह्याम त्वोताः ॥ (ऋ. १०।१४८।१)

सुष्वाणास इति । पृथुर्वैन्य ऋषिः ।

हे इन्द्र सुष्वाणासः सामरसं भक्तिरूपं निष्पादितवन्तो वयं त्वा त्वां स्तुमसि स्तुवीमः। हे तुविनृम्ण बहुज्ञानबल। तुवि बहु (निघ० ३।१।२) नृम्णं बलम् (निघ० २।९।९)। वाजं मनोवृत्ति सनिष्यन्तः संभक्तवन्तो वयं त्वा स्तुमसीत्यन्वयः। चित्पादपूरणे।

---

† सृजो विधारा अव दानवमित्यृक्पाठः ।

‡ ससवांसश्च तुवि इत्यृक्पाठः । * चाकन् त्मना तना सनुयाम त्वोता इत्यृक्पाठः ।

ततश्च नोस्मभ्यं सुवितं सु इतं सुष्ठु प्राप्तव्यं ज्ञानरूपं धनमा भरा हर देहीत्यर्थः। यस्य कोना सुखस्य नैयून्यं तद्देहीतिभावः। त्वोतास्त्वयोता रक्षिता वयमात्मनानायासेनैव तना धनेन ज्ञानरूपेण तन इति धननाम (निघ० २।१०।१९) सह्याम सम्पन्ना भवामो भविष्यामश्च ॥ ४ ॥

३१७. † जगृह्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो
वसुपते वसूनाम्। विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर
गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ५ ॥

(ऋ. १०:४७।१)

जगृह्मेति। सप्तगुराङ्गिरस ऋषिः।

हे वसुपते धनस्वामिञ्ज्ञानप्रदातर्वा इन्द्र वसूयवो वसुकामा ज्ञानकामा वयं ते तव दक्षिणं हस्तं जगृह्मा गृह्णीमः। निरवयवस्य परमेश्वरस्य हस्ताभावाद्धस्तकल्पनेपि कृत्स्नस्य शरीरस्य परमेश्वररूपतया बलाबलयोः शुभाशुभयोश्च विचारस्यासम्भवेन दक्षिणहस्तोपादानं प्रातिकूल्यस्य वाम्यस्य निषेधार्थम्। हे शूर सर्वदोषविशरणकर्तस्त्वा त्वां गोनां प्रज्ञानां गोपतिं स्वामिनं हि विद्मा जानीमः। अतोस्मभ्यं चित्रं लोकोत्तरं वृषणं तर्पकं रयिं ज्ञानधनं दा देहि। अत्रेदं ध्येयम्। "वसूनां वसुपते" "गोनां गोपति" "गणानां गणपतिम्" "निधीनां निधिपतिम्" इत्यादिषु प्रयोगेषु यस्य पतित्वमुपपाद्यते तत्समस्तमसमस्तं च भवति। समासरूपवृत्त्या केवलं स्वामित्वं प्रतिपाद्यते-समस्तेन च बहुवचनान्तपदेन स्वस्य बहुत्वं प्रतिपाद्यत इतिवैदिकः पन्थाः। लोकेपि क्वचिन्मासानां मासोत्तमे मास इत्यादिषु ॥ ५ ॥

† जगृभ्मा।

३१८. इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते
धियस्ताः। शूरो नृषाता¹श्रवसश्च काम आ
गोमति व्रजे भजा त्वं नः ॥ ६ ॥

(ऋ. ७।२७।१)

इन्द्रं नर इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः।

नरो नेतृगुणविशिष्टा नरा यद्यमिन्द्रं नेमधिता नेमधिते संग्रामे विषयगतरागवैराग्योर्हवन्त आह्वयन्ति। नेमधितेति संग्रामनाम (निघ० २।१७।१३)। यस्य च ताः प्रसिद्धाः पार्या भवसागरतारयित्रीर्धियो मतीर्युनजते युञ्जन्त्येवंभूतस्त्व शूरः कामक्रोधादिप्रबलशत्रूणां विशरणकर्ता नृषाता मनुष्याणां ज्ञानदाता श्रवसमन्नं ज्ञानरूपभोजनं ज्ञानरूपधनं वा च कामः कामयमानो गोमति स्तोत्रवति प्रार्थनावति व्रजे समूहे भक्तानां, नोस्मान्भजा भज निरन्तरं स्मर मा विस्मार्षीर्न इतिभावः ॥ ६ ॥

३१९. वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो
नाधमानाः। अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षु-
र्मुग्ध्या३ स्मान्निधयेव बद्धान् ॥ ७ ॥

(ऋ. १०।१३२।६)

वय इति। गौरिवीतिः शाक्त्य ऋषिः।

वयो गतिमन्तः सुपर्णाः सुपूर्तिमन्तो ज्ञानपूर्तिमन्तः प्रियमेधाः प्रियमेधस ऋषयो नाधमाना याचमाना इन्द्रमुपसेदुर्मनसा धिया वा जग्मुर्गच्छन्ति प्रार्थयन्ते च हे इन्द्र परमात्मन् ध्वान्तमज्ञानतिमिरमप उर्णुह्यपाच्छादय वर्जयेतियावत्। चक्षुष्प्रकाशेन पूर्धि पिपूर्हि।

१ श्रवसश्चकाम।

ज्ञानं देहीतियावत्। निधया पाशसमूहेन बद्धानिवास्मान्मुग्धि मोचय। निधा पाशसमूह इति निघण्टुः (४।१।२)।।

३२०. नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्य-
चक्षत त्वा। हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य
योनौ शकुनं भुरण्युम्।। ८।। (ऋ. १०।१२३।६)

नाक इति। वेनो भार्गव ऋषिः।

हे परमेश्वर वेनन्तोर्चन्तः। वेनतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४। ४२)। नाकेत्यन्तदुःखाभाववति स्थान उपस्थितं सुपर्णं शोभनपदार्थैः पूर्तिमन्तं पतन्तं सर्वव्यापकं त्वा त्वां हृदा हृदयेन मनसेतिभावः। अभ्यचक्षताभिपश्यन्ति भक्ताः। कीदृशं त्वाम्? हिरण्यपक्षं हिरण्यः कान्तिप्रदो गतिप्रदो वा पक्षः परिग्रहो यस्य तम्। वरुणस्य वरणीयस्य स्पृहणीयस्य यमस्य नियमस्य ब्रह्मचर्यादेर्योनौ स्थाने दूतं प्रापयितारम्। ब्रह्मचर्यपालनस्थानं हि भगवदानन्दानुभवः। शकुनं कल्याणप्रदं शक्तिमन्तं वा। भुरण्युं भर्तारं भरणकर्तारम्।। ८।।

३२१. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो
वेन आवः। स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः
सतश्च योनिमसतश्च विवः।। ९।।

(नास्त्यृग्वेदे)

ब्रह्मेति। बृहस्पतिर्नकुलो वा ऋषिः।

सीमतः सिनोतीति सीः। स विद्यतेस्येति सीमान्। तस्य। बन्धनवतो बद्धस्य कर्मपाशेनेत्यर्थः। तथापि शुभकर्मसंयोगेन सुरुच प्रदीप्तिमतो भगवदुन्मुखस्य जीवस्य पुरस्तात्समक्षं प्रथमं पूर्वं जज्ञानमुत्पन्नं प्रकटितं ब्रह्म परमात्मानं वेनो मेधावी (निघ०

३।१५।५) वि आवः व्यवृणोत् । स एव ब्रह्मविदस्य परमात्मनो बुध्न्या बध्नाति सर्वं नियमेनेति बुध्नः परमात्मा । तस्य सम्बन्धिनीर्विष्ठा विवधस्थितीरुपमा समीपे विवः (निघ० २।१६।११) विवृतवान् । सतश्चेतनस्यासतो जडस्य च योनिं मूलस्थानमपि विवः व्यवृणोत् ॥ ९ ॥

३२२. अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे
तुराय । विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांस्य†
स्मै स्थविराय तक्षुः ॥ १० ॥ (ऋ. ६।३२।१)

अपूर्व्या इति । सुहोत्रो भरद्वाज ऋषिः ।

महे पूज्याय वीराय कामादिशत्रूणामीरयित्रे तवसे बलाय बलस्वरूपाय तुराय त्वरमाणाय भक्तोद्धारकर्मणि विरप्शिने महते महोपदेशकाय वा वज्रिणे रक्षकायास्मै स्थविराय पुराणपुरुषोत्तमायापूर्व्यापूर्व्याण्यतिमनोहराणि पुरुतमानि बहुतमानि शन्तमान्यतिशयेन कल्याणकारीणि वचांसि स्तुतिरूपाणि तक्षुर्विद्वांसस्तक्षन्ति कुर्वन्तीति । विरप्शीति महन्नाम (निघ० ३।४।२२) । तव इति बलनाम (निघ० २।९।५) ॥ १० ॥

इति तृतीया दशतिः । इति नवमः खण्डः

●

३२३. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठ‡दीयानः कृष्णो
दशभिः सहस्रैः । आवत्तमिन्द्रः शच्या
धमन्तमप*स्नीहितिं नृमण अधद्राः ॥ १ ॥
(ऋ. ८।९६।१३)

† स्यासा स्थवि इत्यक्पाठः । ‡ दियानः इत्यक्पाठः ।
* स्नेहितीर्नृमणा अधत्त इत्यृक्पाठः ।

अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता त्रिष्टुप् छन्दश्च । प्रति मन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः । अव द्रप्स इति । अस्य द्युतानो मारुत ऋषिः ।

दशभिः सहस्रैरनेकैरभिलाषैः संवेष्टितो द्रप्सो द्रवणशील ईयानो गच्छन्कृष्णः पापरूपकार्ष्ण्याकलितो जीवोंशुमतीम् । अंशवो विभजनशीला वृत्तयः सन्त्यस्या इति चञ्चलां मनोदेवतामव अतिष्ठदवातिष्ठतावतिष्ठते प्राप्नोति । इन्द्रः परमात्मा शच्या कर्मणा । शचीतिकर्मनाम (निघ० २।१।२२) । धमन्तमुच्छ्वसन्तं तं मनस्सहितं जीवमावत्प्राप्नोत्कृपयेतिभावः । नृमणाः कृपापारतन्त्र्यान्नृषु मनो यस्य स परमात्मा स्नीहितिं विनाशकारिणीं वृत्तिमव अधद्राः विनाशितवान् ॥ १ ॥

३२४. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा
अजहुर्ये सखायः । मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते
अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥२॥

वृत्रस्येति । द्युतानो मारुत ऋषिः ।

वृत्रस्य पापस्य दुराचारस्य श्वसथाद्दीर्घश्वासाद्भयप्रदाद्भयं प्राप्ता ईशमाणाः परमात्मनः सकाशात्पराङ्मुखीभूय पलायमाना विश्वे देवा सर्वाणीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि ये यानि सखायस्ते मित्राण्यासँस्ते त्वामजहुः । तर्हीदानीं किं कर्तव्यमित्याह—मरुद्भिरन्तःकरणवृत्तिभिः सह । म्रियन्ते याभिर्विना । यदि मनोवृत्तयो न स्युर्म्रियन्त एवेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च । हे इन्द्र जीव ते तव सख्यमस्तु । पूर्वमिन्द्रियाणि त्वद्वशगान्यासन्निदानीं पापेषु प्रवृत्तानि । एवं च सखित्वं परित्यज्य शत्रुत्वं गतानि । यदि त्वमन्तःकरणवृत्तिभिः सह सख्यं बध्नासि यदि तास्तवानुकूल्यं सम्पादयेयुरथानन्तरमिमा विश्वाः पृतनाः सेना इन्द्रियरूपास्तद्विषयरूपाश्च जयासिजयसि जेष्यसि ॥ २ ॥

३२५. विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार। देवस्य पश्य काव्यं†महित्वा-द्या ममार स ह्यः समान ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।५५।५)

विधुमिति। बृहदुक्था वामदेव्य ऋषिः।

पलितो धवलकेशो लक्षणया जरा विधुमन्यान्निरपराधिनोपि विध्यन्त पीडयन्तं बहूनां समने संग्रामे दद्राण खड्गेन च्छुरिकया वान्येषामुदरं दारयन्तं युवानं युवावस्थोपेतं सन्तमपि जगार निगि-लति। देवस्य क्रीडां कुर्वतः परमात्मनं काव्यं मेधावित्वं बलं वा महित्वा महत्त्वोपेतं पश्य। किं तत्र द्रष्टव्यम्? एतद्धि द्रष्टव्यम्, यो ह्यो गतदिवसे समान प्राणिति स्म स एवाद्य युवापि ममारमृतः। अनयर्चा जीवनं जलवुद्वुदसमानमिति मत्वा परोकारादिरूपेश्वर-समाराधनेनैव कालक्षेपा विधातव्यो मरणधर्मभिरित्युपदिष्टम् ॥ ३ ॥

३२६. त्वं ह त्यत्सप्तभ्योऽजायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र। गूढे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्योरणं धाः ॥

(ऋ. ८।९६।१६)

त्वं हेति। द्युतानो मारुत ऋषिः।

हे इन्द्र त्वं ह त्यत्तेभ्यः प्रख्यातेभ्यः सप्तभ्यः पञ्चभ्यस्तत्त्वेभ्यः कर्मणः कर्तुश्चाजायमानो नित्योशत्रुभ्यो नास्ति येषां शातयिता तेभ्यः कामादिभ्यः। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। कामादीनां दुर्दम्यानां शत्रुः शातयिताभवो भवसि। त्वं ह गूढे केनापि निर्मातुमशक्ये द्यावा-पृथिवी द्यावापृथिव्यावन्वविन्दोलभथा निर्मितवानित्यर्थः। विभुम-

† महित्वाऽद्या इत्यृक्पाठः।

भ्द्र्यो महद्भ्यो भुवनेभ्यो लोकेभ्या रणं रमणं हर्षं हर्षस्थानं च त्वं ह धा व्यधा विदधासि । हेति निर्धारणे ॥ ४ ॥

३२७. मेंडि न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरुधस्मानं
वृषभं स्थिरप्स्नुम् । करोष्यर्यस्तरुषीर्दुवस्यु-
रिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृणीषे ॥ (नास्त्यृग्वेदे)

मेंडि नेति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

हे इन्द्राहम् । नेति सातत्ये । सततं मेंडि धर्मादिभिः शमादिभिश्च सम्पर्चयितारं वज्रिणं रक्षासाधनसम्पन्नं भृष्टिमन्तं भ्रंशयति शत्रूनिति भृष्टिः । तद्वन्तम् । कामादिशत्रुभ्रंशनशक्तिमन्तं पुरुधस्मानं सर्वैः प्रपूजितं वृषभं समीहितदातारं स्थिरप्स्नुं दुष्टानां स्थिरं भक्षकं त्वा त्वां वन्द इति शेषः । अर्यः स्वामी गम्यो वा त्वं तरुषीस्तारणं करोषि तारयसीतिभावः । दुवस्युर्भक्तानां परिचारकश्चासि । द्युक्षं दीप्तानां निवासस्थानं द्युतिमन्तं वृत्रहणं पापघ्नं पवित्रमितिभावः । गृणीषे शब्दायसे-आह्वयस्यङ्गीकरोषीतिभावः । परिचरसीति वा । परिचरणं रक्षणम् ॥ ५ ॥

३२८. प्र वो महे†महे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं
कृणुध्वम् । विशः पूर्वीः प्र‡चर चर्षणिप्राः ॥

(ऋ. ७।३१।१०)

प्र वा इति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः (ऋग्वेदे विराट) ।

हे भक्ता वो यूयम् । विभक्तिव्यत्ययः । महेमहे प्रत्युत्तमकार्यकाले वृधे ज्ञानादिवर्धयित्रे प्रचेतसे परमोदाराय परमेश्वराय भरध्वं प्रार्थयध्वं सुमतिं शोभनां बुद्धिं च प्र कृणुध्वमतिशयेन कुरुध्वं सम्पा-

† महिवृधो इत्यृक्पाठः । ‡ चरा इत्यृक्पाठः ।

दयत। न हि केवलं प्रार्थनयेष्टसिद्धिः । प्रार्थनानुसारिणी बुद्धिरप्यपेक्ष्येतिभावः । भक्तानुपदिश्य वसिष्ठः परमेश्वरं प्रार्थयते हे चर्षणिप्राः प्रजापालक पूर्वीर्मानवीः । पुरुरिति मनुष्यनाम (नि घ० २।३।२०)। विशः प्रजाः प्र चर प्रकर्षेण गच्छ प्राप्नुह्यनुगृहाणेत्यर्थः ॥ ६ ॥

३२९. शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं
वाजसातौ। शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु
घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं †धनानि ॥ ६ ॥ (ऋ. ३।३०।२२)

शुनमिति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः ।

अस्मिन्वाजसातौ प्रगतिपदे भरे रागत्यागयोः संग्रामे शुनं सुखस्वरूपम् । शुनमिति सुखनाम (निघ० ३।६।११) । मघवानं ज्ञानर्द्धिसम्पन्नं नृतममतिशयेन नेतारं सन्मार्गान् शृण्वन्तं भक्तप्रार्थनाम् । उग्रं दुष्टेभ्यस्तापदं समत्सु संग्रामेषु (निघ० २।१७।२२) वृत्राणि सद्बुद्ध्याच्छादनसमर्थानि पापानि घ्नन्तं हिंसन्त धनानि धनानां प्रीणनसाधनानां सञ्जितं सम्यग्जेतारमिन्द्रमूतये रक्षायै परमात्मानं वयं हुवेमाह्वयामः ॥ ७ ॥

३३०. उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया
वसिष्ठ । आ यो विश्वानि ‡श्रवसा ततानोप-
श्रोता म ईवता वचांसि ॥ ८ ॥ (ऋ. ७।२३।१)

उदु ब्रह्माण्यैरतेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

वसिष्ठ उपदिशति । श्रवस्या श्रवस्यया यशइच्छया ज्ञानधनेच्छया वा समर्ये मर्यैर्मनुष्यैः सह वर्तमाने भक्तियोगे ज्ञानयोगे वा रागत्यागसंग्रामे वेन्द्रमुद्दिश्य ब्रह्मापि परमेश्वरस्तोत्राण्युद् ऐरत सर्वे

† धनानामित्यृक्पाठः । ‡ शवसा इत्यृक्पाठः ।

भक्त्या उच्चारयन्ति । हे वसिष्ठ जितेन्द्रियग्राम जीव त्वमपि स्तोत्रैस्तं महय पूजय । यः श्रवसा बलेन शक्त्या विश्वानि जगन्ति आ ततान विस्तारयामास स ईवस्तत्समीपं प्राप्नुवतो मे मम वचांसि स्तोत्र-रूपाणि उप श्रोतोपश्रोष्यति ॥ ८ ॥

३३१. चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्वि
चच्छद्यात् । पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो
गोष्वदधा ओषधीषु ॥ ९ ॥ (ऋ. १०।७३।९)

चक्रमिति । गोरवीतिः शाक्त्य ऋषिः ।

परमात्मनो माहात्म्यमुपवर्णयति । अस्य परमात्मनो यच्चक्रं सूर्यरूपमप्सु मेघेष्वा·निषत्तं सर्वथा निषण्णमासीत्तदस्मै परमात्मने मध्विज्जलमेव चच्छद्यात् वशं नयति । तच्च परमात्मवशं गतं पृथि-व्यामतिषितं विमुक्तं निरुद्धं वा यदूधो जलं तद्गोषु धेनुष्वोषधीषु च पयो दुग्धरूपं जलरूपं रसरूपमित्यर्थः । आदधा आदधाति अस्माकं पुष्टिकरं सुखकरं च सर्ववस्तुजातं परमेश्वरः प्रतिक्षणं निर्मिमीत इति भावः । मध्विति जलनाम (निघ० १।१२।११) । अथवा, अस्य यच्चक्रं कर्म । निघण्टौ चक्रदिति कर्मनाम (२।१।१६) कुत्रचिच्चक्रतुरिति कुत्रचिच्च चक्रं त्यमिति पाठो दृश्यते । सर्वं कर्मार्थिकमेव अप्सु कर्मस्वेवा निषत्तं स्थितमासीत् । सत्सु जीवकर्मसु स स्वव्यापारं करोति नान्यथा । जीवकर्मानुसारिण्येव तत्फलदान-क्रिया प्रवर्तते नान्यथा । तत्तादृशं कर्मास्मा अस्य मधु इन्माधुर्यमेव चच्छद्यादावृणाति । धनप्राप्तियोग्यकर्माभावे कश्चन धनाभावेन क्षुत्क्षामकण्ठः सन्मरणशरणं कुर्यात्कोऽत्रेश्वरस्य मधुरिमा ? उत उ तत एवेदं विचार्यैव पृथिव्यामतिषितं व्याप्तो यद्य ऊधोऽन्धकारोऽज्ञान-रूपो गोषु वाक्षु चातिषितं यत्पयोऽन्धकारस्तमोषधीषु सर्वदोषपातृषु सर्वदोषशमयितृषु ज्ञानिष्वदधा न्यधात् । ज्ञानिषु समायातमज्ञानं

क्षणमपि न तिष्ठतींति विनाशधियैव तेषु तस्याधानम् । अयमभिप्रायः । अखिलं हि कर्म बन्धायैव भवतीतिसर्वतन्त्रसिद्धान्तः । न हि कश्चित्कर्मकर्ता ज्ञानं प्रपत्ति चान्तरेण सर्वापद्विमुक्तो मुक्तरूपो भवितुमर्हति । कर्मान्तरं तत्फलम् । पुनः कर्म पुनः फलम् । एवं कर्मपरम्परानपच्छेदात्संसारानपच्छेदः । ज्ञानिनः प्रपन्नस्य च नास्ति कर्मबन्ध इति ज्ञानिनमनन्यभक्तं च समवाप्यं कर्मरूपान्धकारोपगतो भवति स्वयं प्रकाशश्चजीवो भवति ॥ ९ ॥

इति चतुर्थी दशतिः । इति दशमः खण्डः



३३२. त्यमू षु वाजिनं देवजूतं †सहोवानं तरुतारं
रथानाम् । अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये
तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥ १ ॥ (ऋ. १०।१७८।१)

अस्यां दशत्यां सप्तमस्य पर्वतेन्द्रौ देवता । नवमस्य यमो वैवस्वतः । अवशिष्टानामिन्द्रः । त्रिष्टुप् च छन्दः । ऋषिनिर्देशं करिष्यामः । त्यमू इति । अस्यारिष्टनेमिस्तार्क्ष्य ऋषिः ।

त्यं तं सुवाजिनं शोभनगतिमन्तं बलवन्तं वा देवजूतं विद्वदुपसेवितं सहोवानं बलवन्तं रथानां जगच्छरीरादीनां तरुतारं प्रेरयितारं वेगेन वोढारं वारिष्टनेमिमबाधितमस्त्रमिच्छारूपं सङ्कल्परूपं वा यस्य तम् । पृतनाजिं मनुष्यान्वशयितारं । पृतना इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।३५) । आशुं प्रलयकर्तारम् । अश्नाति सर्वमिति । तार्क्ष्यं सर्वव्यापकम् । स्तीर्णन्तरिक्षे क्षियतीति । एवंभूतं परमात्मानमिह भक्तिसदने हृदय आ हुवेमाह्वयामः ॥ १ ॥

† सहावानम् इत्यृक्पाठः ।

३३३. त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् । †हुवे नु शक्रं पुरुहूत‡मिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्रः ॥ २ ॥ (ऋ. ६।४७।११)

त्रातारमिति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

इन्द्रं सर्वातिशाय्यैश्वर्यन्तं परमात्मानं हवेहवे सर्वेषूपासनाद्यवसरेषु हुव आह्वयामि । किंभूतं तम् ? त्रातारमनिष्टेभ्यो रक्षितारमवितारं तर्पयितारं सर्वशुभसङ्कल्पपूर्तिकारणेन सुहवं सुखेनाह्वातुं योग्यं शूरं विक्रान्तं सर्वदुष्टविदारकं वा शक्रं समर्थं पुरुहूतं पुरुभिर्बहुभिर्हूतम् । चतुर्द्वितीयान्तेन्द्रपदोपादानमुत्कर्षद्योतनार्थम् । स मघवा सर्वज्ञानधन इन्द्र इदं हविरुदक श्रद्धारूपं भक्तिरूपं वा वेतु गच्छतु प्राप्नोतु अत्तुगृह्णातु वा । हविरिति जलनाम (निघ० १।१२।६५) ॥ २ ॥

३३४. यजामह इन्द्रं वज्रदक्षिणं हरीणां रथ्यां ३ विव्रतानाम् । *प्रश्मश्रुभिर्दोधुवदूर्ध्वथा भुवद्वि सेनाभिर्भयमानो वि राधसा ॥ (ऋ. १०।२३।१)

यजामह इति । विमद ऐन्द्रः, वसुकृद्वा वासुक्र ऋषिः ।

वज्रदक्षिणां रक्षाकर्मणि कुशलं विव्रतानां विविधसंकल्पानां हरीणां हारिणां मनसां रथ्यं नियामकमिन्द्रं परमेश्वरं यजामहे भक्त्या पूजयामः । तदनुकूलाचरणमेव तत्पूजनम् । स च श्मश्रुभिः शरीरान्तर्यामिशक्तिभिर्दोधुवत्कम्पयन्पापादिकम्, ऊर्ध्वधाऊर्ध्वं पाप-

† ह्वयामि शक्रमित्यृक्पाठः । ‡ मिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः इत्यृक्पाठः ।

* प्र श्मश्रु दोध्रवदूर्ध्वथा भूद्वि सेनाभिर्दयमानो इत्यृक्पाठः ।

कर्मभ्यः पृथक् स्थापयिता वि विशिष्टेन राधसा बलेन शक्त्या वा सेनाभिः सेनाः पापानाम् । द्वितीयार्थे तृतीयार्थे तृतीया । वि भयमानो विभापयमानः प्र भुवत्प्रादुरभवत्प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

३३५. सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं
सुवज्रम् । हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं
दाता मघानि मघवा सुराधाः ॥ (ऋ. ४।१७।८)

सत्राहणमिति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

सत्राहणं बहूनां हन्तारं पापिनां दुराचाराणामितिभावः । दाधृषिमतिशयेन धर्षकं पापबलिनामितिभावः । तुम्रं प्रेरयितारं सन्मार्गेषु क्षेप्तारं वा दुष्टानाम् । तुमिः प्रेरणकर्मा । महां महान्तमपारमनन्तम् । आनन्त्यं च ज्ञाने परिमाणे शक्तौ च । वृषभं धर्मस्य दीपयितारं सुवज्रं शोभनस्य शक्तिस्वरूपवज्रस्य धारकमिन्द्रं परमेश्वरमाह्वयामः स्तुमो वा । यो वृत्रं पापं हन्ता पापहन्ता । उतापि च वाजं प्रकृष्टगतिं भक्तिरूपमन्नं वा सनिता दाता । मघवा सर्वधनसम्पन्नः सन् मघानि मह्यानि पूज्यानि । ज्ञानभक्तिसदाचाररूपधनानि दाता । सुराधाः शक्तिमांश्च योऽस्ति ॥

३३६. यो नो वनुष्यन्नभि दाति मर्त उगणा वा
मन्यमानस्तुरो वा । क्षिधी युधा शवसा वा
तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोताः ॥ ५ ॥

(नास्त्यृग्वेदे)

यो न इति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

हे इन्द्र यो मर्तो मनुष्यो वनुष्यन्क्रुध्यन्हनिष्यन्वा । वनुष्यतिः क्रुध्यतिकर्मा (निघ० २।१२।८) । वधकर्मा च (निघ० ४।२।८) ।

वनुष्यतिर्हन्तिकर्मेति च निरुक्ते (५।२) यास्कः। नोस्मानभिदात्य-भ्यागच्छति। सामर्थ्यादेतदर्थलाभः। द्रातीतिपाठे तु न क्लेशः। तस्य गत्यर्थत्वात्। द्रा कुत्सायां गतौ। द्रा गतिकर्मा (निघ० २।१४। १०१)। यो वा मन्यमानोहमेव पण्डितोहमेव च धनिक इत्यादिरी त्यात्मानं बहु मन्यमानोभिमाननिपीडितोस्मानभ्यागच्छति, उगणा उत्कृष्टगणा वा चेदस्मानभ्यागच्छन्ति तुरः क्रूरो वा चेदस्मान-भ्यागच्छति क्षिवी क्षयकारकेण युधायुधेन शवसा वेगेन च। तदा चोतास्त्वयोता रक्षिता क्षिध्या वयं वृषमणो वृषा इवाचरन्तस्तं प्रतिद्वन्द्विनमपी ष्यामाभिभवेमाभिभवामो वा ॥ ५ ॥

३३७. यं वृत्रेषु क्षितयः स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुर-
यन्तो हवन्ते। यं शूरसातौ यमपामुपज्मन्यं
विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्रः ॥ ६ ॥ (नास्त्यृग्वेदे)

यं वृत्रेष्विति। वामदेवो गौतम ऋषिः।

वृत्रेष्वैश्वर्येषु। वृत्रमिति धननाम (निघ० २।१०।२७)। विष-यसप्तमी। ऐश्वर्यविषय इत्यर्थ। क्षितयो मनुष्याः। क्षितिरिति मनुष्यनाम (निघ० २।३।६)। यं स्पर्धमाना यं स्पर्धन्त इतिभावः। युक्तेषु योजितेषु भक्तिज्ञानयज्ञेषु तुरयन्त उत्साहेन त्वरमाणा यं हवन्त आह्वयन्ति। शूरसातौ संग्रामे रागत्यागयोरितिभावः। शूर-सातिः संग्राम इति निघण्टुः (२।१७।३५) शूराणां मरणं येनेति। यमपाक्समीपे हवन्ते भक्ताः। यमुपज्मपृथिव्याम्। श्वन्नुक्षन्नित्या-दिना परिज्मन्निति सोपसर्ग कनिन्नन्तं निपातितम्। बाहुलकान्नि-रुपसर्गमपि भवति। विप्रासो ज्ञानिनः। विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।२)। वाजयन्तेर्चन्ति। वाजयतिरर्चनकर्मा (निघ० ३।१४।३६)। स इन्द्रो वेदितव्यः। इन्द्रशब्दवाच्यस्य परमात्मनः सामान्यतः स्वरूपनिर्देशोयम् ॥ ६ ॥

३३८. इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामिरिष आ वहतं सुवीराः। वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिडया मदन्ता ॥ ७ ॥ (ऋ. ३।५३।१)

इन्द्रापर्वता इति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः ।

हे इन्द्रपर्वता इन्द्रपर्वतौ हे इन्द्र पर्वत इति वक्तव्ये इन्द्रपर्वता इति वृत्याह। हे इन्द्र परमैश्वर्यसम्पन्न हे पर्वत पालनकर्तः। पृणाति पालयतीति। युवां बृहता महता रथेनास्मदादिशरीररूपेण साधनेन सुवीराः शोभनाः पराक्रमिणो यासु ता वामीर्वननीया इषो धनानि ज्ञानरूपाणि भक्तिरूपाणि वावहतं प्रापयतम्। अस्माकं शरीरं मनोधिष्ठाय सन्मार्गेष्वस्मान्प्रेरयतमितिभावः। हे देवा देवौ ऐश्वर्यवन्पालयितश्चाध्वरेषु हिंसाविरहितेषु भक्ति-यज्ञेषु ज्ञानयज्ञेषु वा हव्यानि श्रद्धाप्रेमरूपाणि वीतं भक्षयतमनु-भवतमितिभावः। वीधातुरत्तिकर्मा (निघ० २।८।५) इडया स्तुत्या चानया मदन्ता मदन्तौ माद्यन्तौ गीर्भिः प्रार्थनावचोभिर्वर्धेथाम्। प्रार्थनया प्रार्थ्यमानस्य गौरवं सूचितं भवतीति लौकिकोपि पन्थाः ॥ ७ ॥

३३९. इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः†प्रैरयत्सगरस्य बुध्नात्। यो अक्षेणेव ‡चक्रियौ शचीभिर्विष्वक्त-स्तभ्भ पृथवीमुत द्याम् ॥ ९ ॥ (ऋ. १०।८९।४)

इन्द्रायेति। रेणुर्वैश्वामित्र ऋषिः।

हे भक्त तस्मा इन्द्राय परमेश्वराय सगरस्य शब्दोत्पत्तिमूल-स्थानस्य बुध्नात्प्रदेशात्। गीर्यत इति गरः शब्द। तेन सह वर्तत इति सगरः। निघण्टौ सगरशब्दोन्तरिक्षनामसु पठितः। तथापि

† प्रेरयम् ‡ चक्रिया

न क्षतिः । शब्दोत्पत्तिमूलस्थानान्तरिक्षस्य मूलादितिभावः । अनिशितसर्गा न निशितो । नितरां तनूभूतः सर्गो यासां ता निरन्तरं प्रवर्तमाना इत्यर्थः । गिरः प्रार्थनावचनान्यपः कर्म च प्रार्थनानुसारि प्रैरयत्प्रेरयति प्रेपयति विदधातीतिभावः । यः परमेश्वरः शचीभिः शक्तिभिः पृथिवीमुत द्यामन्तरिक्षलोकं विष्वक् समन्तात्तस्तम्भ स्तभ्नाति । तत्र दृष्टान्तःअक्षेण रथाक्षेण चक्रियौ चक्रे इव यथा रथाक्षश्चक्रद्वयं सर्वतः स्तभ्नाति तथेतिभावः ॥ ८ ॥

३४०. †आ त्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः पुरू चिदर्णवाञ्जगम्याः । पितुर्नपातमा दधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यानः ॥ ९ ॥ (ऋ. १०।१०।१)

आ त्वेति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

हे परमेश्वर सखायः समानख्यातिमन्त आत्मत्वेन । भक्ताः पुरु विस्तीर्णं व्यापकं चिदेव तिरः प्राप्तम् । तिर इति प्राप्त्यर्थकः शब्दः । तथाहि निरुक्तम्, तिरः सत इति प्राप्तस्य । तिरस्तीर्णं भवति सतः संसृतं भवति (३।२०) । त्वा त्वां सख्या मित्त्रेण मनसा आववृत्युरावर्तयेयुः सखिभावेन पितृभावेण मातृभावेन पुत्रभावेणान्यथापि वा त्वां ते भजेयुरित्यर्थः । तेन ततः परं तेर्णवान् जगम्या अर्णवत्त्वं लक्षणया परिपूर्णमनोरथत्वं भजेयुर्भजन्तीत्यर्थं । अस्मिन्क्षये गृहे मनोरूपे प्रतरामतिशयेन दीद्यानो ज्वलन्प्रकाशमान इत्यर्थः दीदयतिर्ज्वलतिकर्मा (निघ० १।१६।४) । वेधा मेधावी (निघ० ३।१५।६) सर्वजगन्निर्माता वा परमात्मा

† ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् । पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यान इत्यृक्पाठः ।

पितुः पातू रक्षकस्य नपातमभावराहित्यमा दधीत । सर्वदा रक्षकत्वेन स उपस्थित एव स्यादितिभावः ॥ ९ ॥

३४१. को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् । †आसन्नेषामप्सु वाहो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात् ॥१०॥

(ऋ. १।८४।१६)

को अद्येति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

ऋतस्य सर्वगस्य परमात्मनो धुरि प्रलयकारिण्यां दुष्टसंहारिण्यां वा शक्तौ गा वाचोद्य को युङ्क्ते योजयति ? तस्य सर्वसंहारिणीं शक्तिं वर्णयितुं न कोपि शक्त इतिभावः किं भूतस्य तस्य ? शिमीवतो विविधकर्मणः । शिमीतिकर्मनाम (निघ० २।१।२४) । भामिनो दुष्टेषु क्रोधकारिणः । दुर्हृणायून्दुर्हृणायोर्दुष्टेष्वतिशयेन क्रोधवतः । हृणीयतिः क्रुध्यतिकर्मा (निघ० २।१२।४) । षष्ठ्यर्थे द्वितीयाच्छान्दसी । एषां भक्तानामासन्नास्येषु मुखेषु वाक्ष्वितिभावः । अप्सु कर्मसु च मयोभून्मयः सुखं तस्य भावयितॄन् । अत्रापि शष्ठ्यर्थे द्वितीया । भावयितॄणां विचाराणां वाहो वाहको भवति परमात्मेतिशेषः । यो जीव एषां सुखभावयितॄणां विचाराणां भृत्यां भरणकर्म ऋणधत् समर्धयति परिचरति वा । ऋणद्धीति परिचरणकर्मा (निघ० ३।५।७) । स एव जीवात्सफलजन्मा भवतीतिशेषः ॥ १० ॥

इति पञ्चमी दशतिः । इत्येकादशः खण्डः

इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमोर्धः प्रपाठकः

●

† आसन्निषून् हृत्स्वसो ।

३४२. गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥१॥

(ऋ. १।१०।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता । अनुष्टुप् अच्छन्दः । ऋषिनिर्देशं करिष्यामः । गायन्तीति । अस्य मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः ।

हे शतक्रतोनन्तकर्मन्ननन्तप्रज्ञ वा परमात्मन् गायत्रिणः स्तोत्रगातारस्त्वा त्वां गायन्ति स्तुवन्ति । अर्किणोर्चका अर्कमर्चनीयं त्वामर्चन्ति त्वदाज्ञानुरूपमाचरन्ति । ब्राह्मणो ब्राह्मणा ज्ञानिनस्त्वा त्वामुद् येमिर उद्यच्छन्ति समुन्नतं कुर्वन्ति । कमिव ? वंशमिव । यथा राष्ट्रध्वजिनं वंशं लोका उन्नयन्ति सुपुत्राः स्ववंशमुन्नयन्ति शिष्या वा गुरुवंशं तथा । ब्राह्मणः समुन्नयनं नाम तदाज्ञावशवर्तित्वम् ॥ १ ॥

३४३. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ २ ॥

(ऋ. १।११।१)

इन्द्रं विश्वमिति । जेता माधुच्छन्दस ऋषिः

विश्वाः सर्वा गिरः स्तुतिवाच इन्द्रमवीवृधं वर्धितवत्यो वर्धयन्ति च । किंभूतमिन्द्रम् ? समुद्रव्यचसं समुद्रवदन्तरिक्षवद्व्यचसं व्यापकम् । समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम (निघ० १।३।१५) । रथीनां रथिनां जीवानां शरीरस्थस्वामिनां रथीतममतिशयेन रथिनम् । शरीराणि जीवानां रथः । जीवाः शरीराणि च परमेश्वरस्य रथः । अतः स रथितमः । वाजानां सद्गतीनां पतिं स्वामिनम् । सत्पतिं सतां रक्षकम् ॥ २ ॥

३४४. इममिन्द्रसुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने ॥३॥

(ऋ. १।८४।४)

इममिति । गोतमो राहूगण ऋषिः ।

हे इन्द्र ज्येष्ठं श्रेष्ठममर्त्यममरणधर्माणं मदं हर्षकरं सुतं निष्पादितमारब्धमिमं भक्तिरसं पिब । भक्तेर्ज्ञानरूपत्वाज्ज्ञानस्य च परमात्मरूपत्वात्परमात्मनश्चामरणधर्मत्वाद्भक्तेरपि तथात्वं ज्ञेयम् । ऋतस्य परमसत्यस्याविनाशिनो मम सादने सदने हृदये स्थितं त्वा त्वां शुक्रस्य दीप्तस्यातीवोग्रस्य भक्तिभावस्य धाराः परम्परा अभ्यक्षरन्नभिक्षरन्तु सिञ्चन्तु ॥ ३ ॥

३४५. यदिन्द्र चित्र †म इह नास्ति त्वादातमद्रिवः ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्याभर ॥४॥

(ऋ. ५।३९।१)

यदिन्द्रेति । अत्रिर्भौम ऋषिः ।

हे चित्र सर्वविलक्षण चायनीय वाद्रिवो ज्ञानस्वरूप । न दीर्यत इत्यद्रिस्तद्वान् । सामर्थ्यात्तत्स्वरूप इति । त्वादात तुभ्यं दातव्यमिह जगति मे मम समीपे न अस्ति किञ्चिदपि नास्ति । हृदयस्य नीरसत्वात्प्रेमापि नास्तीतिभावः । तत्तस्माद्धे विदद्वसः सर्वसम्पत्सम्पन्न नोस्मभ्यं राधो ज्ञानरूपं प्रेमरूपं च धनमुभया हस्त्या उभाभ्यां हस्ताभ्यामा भराहर । पदार्थद्वयार्थं हस्तद्वयकल्पना । अत एव श्रीरामोपासकानामाराध्यो देवो द्विभुज एव ॥

† मेहनास्ति ।

३४६. श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति ।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्द्धि महां असि ॥५॥

(ऋ. ८।९५।४)

श्रुधीति । तिरश्चीराङ्गिरस ऋषिः ।

हे इन्द्र परमात्मन्योयं त्वा त्वां सपर्यति पूजयति भक्त्या श्रद्धया च तस्य तिरश्च्यास्तिरश्चीत्यभिधानस्यर्षेर्हवमाह्वानं प्रार्थनां श्रुधि शृणु । अथ च सुवीर्यस्य बलवतोक्षय्यस्य गोमतो ज्ञानवतो रायो धनस्य प्रदानेन मां पूर्धि पूरय पालय वा । यस्त्वं महाँ महानसि ॥ ५ ॥

३४७. असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि ।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न
रश्मिभिः ॥ ६ ॥ (ऋ. १।८४।१)

असावीति । गोतमो राहूगण ऋषिः ।

हे शविष्ठ बलवत्तम । शव इति बलनाम । इन्द्र परमात्मन्सोमः सामरसस्ते तुभ्यं त्वदर्थमसावि निष्पादितः । हे धृष्णो कामक्रोधाद्यभिभावका गह्यागच्छ । आ आगतं त्वामिन्द्रियं धनं सामरसरूपम् । इन्द्रियमितिधननाम (निघ० २।१०।१४) । पृणक्तु पूरयतु प्रकाशयतु । दृष्टान्तमाह—सूर्यो रश्मिभो रजो न रात्रिमिव । रज इति रात्रिनाम (निघ० १।७।१२) ॥ ६ ॥

३४८. एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥

(ऋ. ८।३४।१)

एन्द्र याहीति । नीपातिथिः काण्वः ऋषिः ।

नीपातिथिः कथयति—हे इन्द्र कण्वस्य मेधाविनः । कण्व इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।७) । सुष्टुतिं शोभनां हृदयप्रसूतां स्तुतिं हरिभिर्मनुष्यैर्भक्तैः सह श्रोतुम् उप आ याह्य पायाहि समीपमागच्छ । हे दिवावसो दिवं प्रकाशकं वसु धनं ज्ञानरूपं यस्य स तत्सम्बुद्धौ । अमुष्यामुष्मिञ्जने प्रार्थयितरि दिवो दिवं ज्ञानं ज्ञानलोकं वा शासतः शासति । सर्वत्र विभक्तिव्यत्ययः । यथा त्वं ज्ञानं शास्सि तथैव कण्वेपि शासति ज्ञानं, ज्ञानसम्पन्ने जात इत्यर्थः । दिवं ज्ञानलोकं स्वलोकं यय गच्छ । व्यावहारिकीयं वार्ता । यथा कञ्चन कार्यी कमपि समर्थं प्रार्थयते पूर्णेस्मिन्कार्ये भवता गन्तव्यमिति तथैवेयं लौकिकरीत्यैव प्रार्थना ॥ ७ ॥

२४९. ओ त्वा गिरो रथिरिवास्थुः सुतेषु गिर्वणः ।
अभि त्वा समनूषतं गावो वत्सं न धेनवः ॥

(ऋ. ८।९५।१)

आ त्वेति । तिरश्चीन आङ्गिरस ऋषिः ।

हे गिर्वणः, गीर्भिर्वननीय परमेश्वर सुतेषु भक्तियज्ञेषु गिरो वाचः प्रार्थनारूपा अस्माकम्, त्वा त्वामा अस्थुरातिष्ठन्तु प्राप्नुवन्तु । क इव रथीरिव । यथा रथी स्वगन्तव्यस्थानं प्राप्नोति प्राप्य च विरमति तथैवास्माकं गिरस्त्वां लक्ष्यं प्राप्यैव विरमन्त्वितिभावः । अस्माकं गावः स्तोत्रवचांसि त्वा त्वामभिलक्ष्य समनूषत संनुवन्ति । तत्र दृष्टान्तमाह । धेनवो वत्सं न, गावो वत्समिव । यथा गावो वत्समभिलक्ष्यैव हम्भारवं कुर्वन्ति तद्वत् ॥

। तेन्द्र वत्सं न मातरः ।

३५०. एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं †शुद्धैराशीर्वान्ममत्तु॥

(ऋ. ८।९५।७).

एतोन्विन्द्रमिति। विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः।

आ इत उ नु। नु क्षिप्रम् आ इत एतागच्छत यूयम्। शुद्धेन पवित्रेण साम्ना शान्तिदिने स्तोत्रेणेत्यर्थः। शुद्धं पवित्रमिन्द्रं परमात्मानं स्तवाम वयमिति शेषः। शुद्धै रुक्थैः स्तोत्रैश्च वावृध्वांसं प्रसन्नतया वर्धमानं तमिन्द्रं स्तवाम। शुद्धैः पवित्र्यस्याशीर्वानिच्छावान्स ममत्तु माद्यतु॥ ९॥

३५१. यो ‡रयिं वो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः।
सोमः सुतः स इन्द्रयेऽस्ति स्वधापते मदः॥

(ऋ. ६।४४।१)

यो रयिमिति। तिरश्चीराङ्गिरस ऋषिः।

हे भक्ता यः सोमः सामरसो भक्तिरसः सुत इदानीं निष्पादितः स वो युष्मभ्यं रयिं गतिमूर्ध्वगतिमितिभावः। रीङ्गतौ। प्रदास्यतीतिशेषः। कीदृशः सः? रयिन्तमः सुगतिप्रदतमः। यश्च द्युम्नैः प्रकाशैर्भक्तिजन्यैर्ज्ञानजन्यैर्वा द्युम्नवत्तमोतिशयेनप्रकाशयुक्त। भक्तान्समाश्वास्येदानीं परमात्मानं प्रत्याह—हे स्वधापते स्व त्वयि दधातीति स्वधा जीवगणस्तस्य पते रक्षकेन्द्र परमैश्वर्य ते तव मदो हर्षोस्तु। अथवा स भक्तियज्ञस्ते मदकरो भवतु॥

इति षष्ठी दशतिः। इति द्वादशः खण्डः
इति तृतीयोध्यायः

●

† शुद्ध आशीर्वान्।   ‡ "रयिवो"।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

३५२. प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर।
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चा †दध्वने नरः ॥१॥

(ऋ. ६।४२।१)

अस्यां दशत्यां पञ्चमस्य मरुतो देवताः सप्तमस्य दधिक्रा अन्येषां चेन्द्रः। अनुष्टुप् चच्छन्दः। प्रत्यस्मा इति। अस्य भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः।

मद्भक्ता मदाज्ञावशवर्तित्वरूपां सदाचारपालनपरोपकारादि-सत्कर्मसम्पादनरूपां च भक्तिं कुर्वन्त्वित्येत्सदा कामयते परमात्मा। तदेवोच्यते, हे भक्त पिपीषते भक्तिरसपानं कर्तुमिच्छते विश्वानि ज्ञानानि वस्तूनि च विदुषेजानतेरङ्गमायालङ्गमायाप्रतिहतगतये जग्मये सर्वव्यापकायापश्चादध्वने न पश्चादध्वा यस्य तस्मै सदाग्र-गामिणे नरो नरे। विभक्तिव्यत्ययः। सन्मार्गं प्रापयित्रे परमात्मने प्रति प्रत्यहं भर हर सम्पादय तदिष्टां भक्तिमितिशेषः ॥ १ ॥

३५३. आ नो वयोवयः शयं महान्तं गह्वरेष्ठां महान्तं
पूर्विणेष्ठाम् । उग्रं वचो अपावधीः ॥ २ ॥

(नास्त्ययमृग्वेदे)

आ न इति। वामदेवो गौतमः शाकपूतो वा ऋषिः।

वामदेव उपदिशति। वत्स नोस्माकमस्माभिरुपदिष्टं वयोवयोति-कान्तम्। वी गतिप्रजनकान्त्यादिषु। असुन्। शयं सर्वत्र शेते वर्तत इति सर्वव्यापकम्। महान्तं विभुं गह्वरेष्ठामतिगह्वरेविद्याच्छादि-

† "ह्वने नरे"।

तान्तः करणकुहरे स्थितं पूर्विणेष्ठां पूर्विणः पूर्वं जातानां जीवानां नेतृतमं सन्मार्गं प्रति । तथाविधः स्यात्कश्चिज्जीव एवेति निषेधति-महान्तम् । महान्व्यापको विभुश्च । न तथाविधो जीवः कोप्यस्ति । एतादृशं परमात्मानमा विद्धि सर्वथा जानीहीत्यर्थः । ज्ञात्वा च तदुग्रं भयङ्करं हृदयद्रावकं दीनोस्मि पतितोस्मि संकटाक्रान्तोस्मि त्रायस्व मां भगवन्नित्यादिरूपं वचस्त्वमपावधीर्जहि । तज्ज्ञानानन्तरं तद्रूपतापत्त्या सर्वेभ्यः क्लेशेभ्य आत्यन्तिकं पार्थक्यं गृहाण । यः कश्चिन्निरयनिलयाधिकारवानप्यात्मानं ब्रह्मविदित्युद्घोषयति स पामरो वञ्चक एव । ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति । ब्रह्मत्वप्राप्तौ च कामक्रोधरागद्वेषमदमात्सर्यादीनामात्यन्तिक एव विलयो भवति । न ह्येते महारोगा ब्रह्मविदमाक्राम्यन्ति । यावदेते रोगास्तावत्तस्य ब्रह्मवित्ता तु दूरे तिष्ठतु ब्रह्मनिष्ठतापि नास्ति ॥ २ ॥

३५४. आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि ।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ† सत्पतिम् ॥ ३ ॥

(ऋ. ८।६८।१:)

आ त्वेति । प्रियमेध आङ्गिरस ऋषिः ।

हे इन्द्र समैश्वर्य शविष्ठातिशयेन बलयुक्त, ऊतयेस्माकं रक्षणाय सुम्नाय सुखाय च । सुम्नमिति सुखनाम (निघ० ३।६।१६) । तुविकूर्मि बहुविधकर्माणमृतीषहं हिंसकानां प्राणिपीडकानां हन्तारं सत्पतिं सतां पालकं त्वा त्वामा वर्तयामस्यावर्तयामः पुनः पुनस्त्वां ध्यायाम इति परमार्थः । आवर्तने दृष्टान्तः । यथा रथं रथी पुनः पुनरावर्तयति सुखाय मदाय च तथा ॥ ३ ॥

---

† "सत्पते" ।

३५५. स पूर्व्यो †महोनां वेनः क्रतुभिरानजे ।
यस्य द्वारा ‡मनुः पिता देवेषु धिय अनाजे ॥४॥

(ऋ. ८।६३।१)

स पूर्व्यं इति । प्रगाथः काण्व ऋषिः ।

स परमात्मा महोनां मघवतां ज्ञानधनवतां पूर्व्यः प्रथमो वेनो मेधावी क्रतुभिः प्रज्ञाभिर्हेतुभिरानजे प्रकाशितो भवति । वेन इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५) यस्य परमात्मनो द्वारा द्वाराणि प्राप्तिसाधनानि देवेषु विद्वत्सु मध्ये मनुर्मननशीलः पिता माता स्वस्यान्येषां च, धियः कर्माणि तदुपासनारूपाणि प्रज्ञा-मननादीनि चानजे प्राप प्राप्नोति च । मनुर्मननादिति यास्कः (निरु० १२।३३) । धीरितिकर्मनाम (निघ० १।१।२१) । पूर्वत्रानजिः कान्तिकर्मा । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । उत्तरत्र च प्राप्तिकर्मा ॥ ४ ॥

३५६. यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा ।
पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते ॥ ५ ॥

(नास्त्यृग्वेदे)

यदीति । श्यावाश्व आत्रेय ऋषिः ।

यदि यत्र भ्राजमाना दीप्यमाना आशवोऽश्नुवते गच्छन्ति भक्तिस्थानं ते भक्ता रथेषु रमणीयस्थानेषु भक्तिज्ञानयज्ञाख्येष्वा वहन्ति गच्छन्ति तत्र मदिरं मदकरमानन्दकरं मधु मधुरं भक्ति-रसं ज्ञानरसं च पिवन्तः श्रवांसि धनानि ज्ञानभक्तिवैराग्य-सदाचारादिरूपाणि कृण्वते कुर्वते सम्पादयन्ति ॥ ५ ॥

---

† महानाम्: । ‡ मनुष्पिता ।

३५७. त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम् । इन्द्रं
विश्वासाहं नरं †शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥६॥

(ऋ. ६।४४।४)

त्यमु व इति । शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः ।

हे भक्ता यूयमप्रहणं धर्मे स्थितानामहन्तारं शवसस्पतिं बलस्य ज्ञानरूपस्य पालकं विश्वासाहं सर्वेषां मनोभवादीनां शत्रूणां निवारकं शचिष्ठमतिशयेनोत्कृष्टकर्माणं विश्ववेदसं सर्वज्ञं त्यमु तमेवेन्द्रं गृणीषे गृणीत स्तुत । वचनलकारव्यत्ययः ॥ ६ ॥

३५८. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत्प्रण आयूंषि तारिषत् ॥७॥

(ऋ. ४।३९।६)

दधिक्राव्ण इति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

जिष्णोर्जयनशीलस्याश्वस्य व्यापकस्य वाजिनो वेगवत उत्कृष्टगतिमतो वा दधिक्राव्णो देवस्य परमात्मनः स्तुतिमकारिषं करोमि कुर्मः करिष्यामश्च । दधदेव सर्वं जगत्क्रामतोतिदधिक्रावा पूर्वपदस्य दधच्छब्दस्य पृषोदरादित्वात्तकारलोप इकारान्तादेशश्च । क्रामतेश्च वनिप् । स नोस्माकं मुखा मुखानि चक्षुरादीन्द्रियसहितानि सुरभि सुरभीणि प्रतिभायुक्तानि करत्कुर्यात्करिष्यति । आयूंषि च प्रतारिषत् प्रवर्धयेद्वर्धयिष्यति ॥ ७ ॥

३५९. पूरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥

(ऋ. १।११।४)

† मंहिष्ठम् ।

पुरामिति । जेत माधुच्छन्दस ऋषिः ।

स इन्द्रः परमात्मोपासनामाहात्म्येनास्मदर्थे ह्यजायत प्रादुर्भवति । स कः ? यः पुरा शरीरेन्द्रियप्राणादीनां भिन्दुर्भेदको मोक्षप्रदानेन । युवा न कदापि वृद्धः । कविर्विद्वान् । अमितौजा अपरिमिततेजस्कः । विश्वस्य सर्वस्य कर्मणो धर्ता सृष्टेर्धारयितेतिभावः । वज्री रक्षणसङ्कल्परूपसाधनवान् । पुरुष्टुतो बहुस्तुतश्च ॥ ८ ॥

इति सप्तमी दशतिः । इति प्रथमः खण्डः ।

३६०. प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं †वन्दद्वीरायेन्दवे ।
धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति ॥१॥

(ऋ. ८।६९।१)

अस्यां दशत्यामष्टमस्योषा देवता नवमस्य विश्वेदेवा अन्येषामिन्द्रः । अनुष्टुप् चच्छन्दः । ऋषिनिर्देशं करिष्यामः । प्रप्रेति । अस्य प्रियमेध आङ्गिरस ऋषिः ।

मानवा वो यूयम् । विभक्तिव्यत्ययः । वन्दद्वीराय वन्दन्ते वीरा यस्मै तस्मा इन्दवे परमात्मने । इदि परमैश्वर्ये । इन्धी दीप्तौ वा । त्रिष्टुभं त्रीन् गुणान्सत्त्वरजस्तमोभिधान्स्तोभति स्तभ्नाति तथाभूतं त्रिगुणवर्जितमित्यर्थः । इषमन्नम् (निघ० २।७।१४) भक्तिरूपं ज्ञानरूपं वा प्रप्र भरत प्रभरत । उपसर्गं क्रियारहितं दृष्ट्वा योग्यक्रियाध्याहारः कर्तव्यः सर्वत्र । अवश्यकर्तव्यताबोधनायोपसर्गद्विरुक्तिवशात्क्रियाद्विरुक्तिः । स च पुर-

† मन्द...... ।

न्ध्या पुरन्धिर्बहुकर्मा बहुप्रजो वा। विभक्तिव्यत्ययः। परमात्मा वो युष्माकं मेधसातये भक्तियज्ञसंभजनाय धिया धियो बुद्धेः प्रदानेन विवासति परिचरति परिचरिष्यति युष्मान् ॥ १ ॥

३६१. कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति।
ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य ॥२॥

(नास्त्यृग्वेदे)

कश्यपस्येति। वामदेवो गौतम ऋषिः।

कश्यपस्य ब्रह्मज्ञस्य। कश गतौ। कश्यो गम्यः परमात्मा। तमाप्नोतीति कश्यपः। छान्दसो ह्रस्वः। अथवा कश्यं परमात्मानं पिबति रसयतीति कश्यपः। अथवा कशेति वाङ्नाम (निघ० १।११।४३) तामर्हतीति कश्यः शिष्यः। तं पातीति कश्यपो गुरुः। ऋषिविशेषोपि कश्यपः। कश्यपः पश्यको भवतीति-श्रुत्यन्तरमिति सायणः। तस्य स्वर्विदो वाग्विदोः शिष्याः। स्वर इति वाङ्नाम (निघ० १।११।३१) स्वृ शब्दोपतापयोः। संज्ञायां घः। स्वरं विदन्तीतिस्वर्विदः। अकारलोपश्छान्दसः। यौ जीवन्मुक्तजीवात्मपरमात्मानौ सयुजाविति समानयोगिनाविति समानधर्माणावित्याहुः। ययोश्च जीवन्मुक्तजीवेश्वरयोर्विश्वमपि सर्वमपि व्रतं कर्म। व्रतमिति कर्मनाम (निघ० २।१।७) यज्ञमुपकारकं निचाय्य दृष्ट्वा धीरा विद्वांसो ज्ञानिनो जीवाः सन्तुष्यन्ति तौ स्तुम इतिशेषः। जीवन्मुक्तावस्थास्तीत्येके नास्तीत्यपरे। अत्र तां स्वीकृत्यैव जीवन्मुक्तकृतोपकारं दृष्ट्वेयमुक्तिर्ज्ञातव्या ॥ २ ॥

३६२. अर्चत प्रार्चत †नरः प्रियमेधासो अर्चत।

---

† नर इति नास्त्यृग्वेदे।

अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद्धृष्णवर्चत ॥ ३ ॥

(ऋ. ८।६९।८)

अर्चतेति । प्रियमेध आङ्गिरस ऋषिः ।

हे नरः प्रियमेधासः प्रियप्रज्ञाः कल्याणकामा जीवा घृष्णु घर्षणशीलं पापानां पराभवितारं पुरं ज्ञानदानेन पिपर्ति यस्त गुरुमिद्गुरुमेवार्चत पूजयत प्राचंत प्रकर्षेण पूजयत। न केवलं यूयमेव, पुत्रका युष्माकं पुत्रा उत अपि तथैव तमर्चन्तु। अर्चत, प्राचंत, अर्चत, अर्चतेतिक्रियापदचतुष्टयं ज्ञानप्रदस्याचार्यस्यार्चावश्यकत्वं द्योतयितुम् ॥ ३ ॥

३६३. उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरु †निःषिधे ।

शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत्सख्येषु च ॥ ४ ॥

(ऋ. १।१०।५)

उक्थमिति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः ।

अस्माभिः पुरुनिःषिधे वहूनामनन्तानां दुष्टानां निषेधयित्र इन्द्राय परमसमर्थायेश्वराय वर्धनं वर्धयित्रीश्वरसमीपे प्रापयित्रुक्थं स्तोत्रं शंस्यमुच्चारणीयम्। तथोच्चारणीयं यथा शक्रः तेजस्वी कश्चन नोऽस्माकं सुतेषु पुत्रेषु सख्येषु मित्रेष्वित्यर्थः। रारणदतिशयेन शब्दं कुर्यात्त्वदीयाः पितरः सखायश्चातीवेश्वरभक्ता आसंस्तेन सदाचारसम्पान्नाश्चाप्यासन्नित्यादिरीत्या शब्दं कुर्यात्कथयेत् ॥ ४ ॥

३६४. विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः ।

एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥ ५ ॥

(ऋ. ८।६८।४)

† निष्षिधे ।

विश्वानरस्येति । प्रियमेध आङ्गिरस ऋषिः ।

अहं विश्वानरस्य सर्वानिकस्मादपरं लोकं नेतुः । "वैश्वानरः कस्मात् ? विश्वान्नरान्नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वापि वा विश्वानर एव स्यात्प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानर" इति यास्कः । अथवा विश्वं समस्तं जगत्प्रत्यृतस्य प्राप्तस्य व्याप्य स्थित-स्यानानतस्य कदापि न पराजितस्य शवसो बलस्य शक्तेः पतिं रथानां शरीररूपाणां मनोबुद्ध्यादिरूपाणां वा चर्षणीनां मनुष्याणां वो युष्माकं च पतिं सर्वेषां पतिमित्यर्थः । ऊती ऊतये रक्षायै एवै-र्व्याप्तिभिर्व्यापनशक्तिभिर्युक्तं हुव आह्वयामि प्रियमेधस्योक्ति-रियम् ॥ ५ ॥

३६५. †स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्तस्य शमतः
ऊती ‡स बृहतो दिवो अहो न तरति ॥
(ऋ. ६।२।४)

स घा य इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

यो नरो दिवो दिव्यस्यामर्तस्यामरणधर्मणस्ते । द्वितीयार्थे षष्ठीं । यो नरो दिव्यममरणशीलं त्वाम् । धिया बुद्ध्या ज्ञानेन विवेकेन शमतः शमति पूजयति । वचनव्यत्ययः । शमुधातुः सामर्थ्यादिह पूजार्थकः । स दिवो दिव्यधाम्नो बृहतो महतो द्विषः शत्रून् काम-क्रोधादीनहो न पापमिव तरति । स तस्य । षष्ठ्यर्थे प्रथमा । ऊती ऊत्या रक्षणेन सर्वान्विघ्नानतिक्रम्य परं धाम प्राप्नोतीतिभावः । घेत्यनर्थकम् ॥ ६ ॥

---

† 'ऋधद्यस्ते सुदानवे धिया मर्त्तः शशमते' इति; ‡ ष' इति ऋक्पाठौ ।

३६६. †विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शत-
क्रता । ‡अथा नो विश्वचर्षणे *सुदत्र मंहय ॥
(ऋ. ५।३८।१)

विभोष्ट इति । अत्रिर्भौव ऋषिः ।

हे शतक्रतोनन्तकर्मन्निन्द्र समर्थ परमेश्वर तव विभोर्विभुनो राधसो धनस्य ज्ञानरूपस्य भक्तिरूपस्य वा सदाचाररूपस्य वा रातिर्दानं विभ्वी विभ्वस्ति । अथातो हे विश्वचर्षणे सर्वद्रष्टः सर्वप्रजानाथ हे सुदत्र शोभनं दत्रं हिरण्यं यस्य तत्सम्बुद्धौ । दत्रमिति हिरण्यनाम (निघ० १।३।१४) । नोस्माकं द्युम्नं धनम् । द्युम्नमिति धननाम (निघ० २।१०।१३) । ज्ञानभक्त्यादिरूपं मंहय वर्धय ॥ ७ ॥

३६७. वयश्चित्ते पतत्त्रिणो §द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि ।
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥ ८ ॥
(ऋ. १।४९।३)

वयश्चित्त इति । प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः ।

हे अर्जुनि शुक्लवर्णे उषः ते तवर्तून् गमनानि अनु गमनानन्तरं व्यापारानन्तरं वयो वयांसि सामान्यपक्षिणः पतत्त्रिणो गृध्रादयो द्विपान्मनुष्यश्चतुष्पाद्गवादयो दिव आकाशस्यान्तेभ्यो दूरदेशेभ्यः परि परितः प्रारन् गच्छन्ति । ऋ गतौ ॥ ८ ॥

---

† उरोष्टेति । ‡ अधेति । * सुक्षत्रेति ।
§ द्विपच्चतुष्पदेति च [illegible]

३६८. अमी ये देवाः स्थन †मध्य आ रोचने दिवः ।
कद्व ऋतं‡ कदमृतं वा प्रत्ना व आहूतिः* ॥९॥
(ऋ १।१०५।५)

अमी ये देवा इति । त्रित आप्त्य ऋषिः ।

दिवः सूर्यस्या रोचने सर्वथा प्रकाशेमी ये यूयं देवाः स्थन स्थ तान्युष्मान् पृच्छामि वो युष्माकमृतं सत्यं कत्क्वास्ति क्व वा गतम् ? अमृतं मृत्युपाशादुद्धारकं बलं कत् कुत्र गतम् ? वो युष्मभ्यं मया दत्ता प्रत्ना पूर्वकालीनाहुतिः का कुत्र गतेतिभावः । सन्तप्यते केनचिद्भगवद्भिरहानुभविना भक्तेन । अन्तरिक्षस्थान्देवानुद्दिश्य मया जपतपआदिकं कृतम् । याज्ञिकैः प्रोत्साहितेन मया यागादयोपि विहिताः । अथापि न जातं परमात्मदर्शनम् । किमिदं सर्वं प्रतारणमेव ? अथ च नावाप्यते परमेश्वर आहुतिभिरिति निश्चित्य भक्तिः ज्ञानं चोपासिष्य इति भक्तोद्घोषः ॥ ९ ॥

३६९. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते ।
वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षतः ॥१०॥
(नास्त्यृग्वेदे)

ऋचमिति । वामदेवो गौतम ऋषिः ।

ऋचं वाचं प्रार्थनारूपाम् । ऋगिति वाङ्नाम (निघ० १।११।३४)। साम शान्तं शान्तिप्रदं स्तोत्रं स्तुतिं च यजामह इमे द्वे सङ्गते कुर्मः । याभ्यां कर्माणि मनीषितानि कृण्वते कुर्वन्ति जनाः । ते स्तुतिप्रार्थने मनीषितफलप्राप्तिहेतुभूते सदसि सभायां वि राजतो

† "त्रिष्वा रोचने" ‡ इतः परं "वित्तं मे अस्य रोदसी" इत्यधिकः पाठः ।
* "कदनृतम्" ।

विशेषेण शोभेते देवेषु विद्वत्सु च यज्ञमुत्कृष्टं कर्म वक्षतो वदत उपदिशतः ॥ १० ॥

इत्यष्टमी दशतिः । इति द्वितीयः खण्डः



३७०. विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे । †क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम् ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९७।१०)

अस्यां दशत्यां नवमस्य द्यावापृथिवी देवते । शेषाणामिन्द्रो देवता । दशमस्य महापङ्क्तिश्छन्दः । शेषाणां जगती । ऋषिः निर्देशं करिष्यामः । विश्वा इति । अस्य मन्त्रस्य रेभः काश्यप ऋषिः ।

विश्वाः विश्वे सर्वे पृतना मनुष्याः । पृतना इतिमनुष्यनाम (निघ० २।३।२५) । नरो नेतारः सजूः संगताः सन्तः स्थेमन्यतिशयेन स्थायिनि वरे श्रेष्ठे क्रत्वे कर्मणि भक्तिसम्पादनरूपे ज्ञानसम्पादनरूपे वेन्द्रं परमात्मानं ततक्षुस्तेजस्विनं कुर्वन्ति । राजस आत्मानं शोभयितुं चेन्द्रं जजनुः प्रादुर्भावयन्ति । किंभूतमिन्द्रम् ? अभिभूतरं सर्वेषां दुराचाराणमभिभवितारम् । स्तुत्या प्रार्थनया च स्तुत्यः प्रार्थ्यश्च तेजस्वी भवतीति समेषामपरोक्षम् । पुनरामुरीं सर्वेषां कामादिविकाराणामा समन्तान्मारयितारमुग्रं दुष्टैरसह्यमोजिष्ठमतिशयेनौजस्विनं तरसं तारकं तरस्विनं बलवन्तम् ॥ १ ॥

† "क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनमित्यृक्पाठः ।

३७१. श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद्दस्युं नर्यं
विवेरपः। उभे यत्त्वा रोदसी †धावतामनु
भ्यसाते शुष्मात्पृथिवी चिदद्रिवः॥ २॥

(ऋ. १०।१४७।१)

श्रत्ते दधामीति। सुवेदाः शैलूषिर्ऋषिः।

प्रथमाय श्रेष्ठाय मन्यवे दुष्टसंहारकर्मणि क्रोधस्वरूपाय दीप्ति-हेतवे वा ते श्रद्दधामि तवादरं करोमित्यर्थः। यद्यस्मात्त्वं नर्यं दूरं नेतव्यं दस्युं पीडकं प्रजानामहन्हंसि ततः परमपः कर्म कर्तव्यं विवेर्विवृतं करोषि। दस्युभिर्निरुद्धाः सदाचारास्तद्धननेन त्वया पुनः प्रचारिता भवन्तीत्याशयः। यद्यस्मादुभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ त्वामनु धावतां त्वदाज्ञाधीने भक्त इत्याशयः। तस्माद् हे अद्रिवः = वज्र-धारिन्दुरितापाकृतये साधनसम्पन्न परमात्मँस्तव शुष्माद्बलात्पृथिवी-चित्पृथिव्यप्यभ्यसाते बिभेति कम्पते वा। भ्यसते रेजते इतिभयार्थौ कम्पार्थौ वा (निघ० ३।२९।२०।२६)॥ २॥

३७२ समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद्भूरति-
थिर्जनानाम्। स पूर्व्यो नूतनमा जिगीषन्तं वर्तनी-
रनु वावृत एक इत्॥ ३॥

(नास्त्ययमृग्वेदे मन्त्रः।)

समेतेति। वामदेवो गौतम ऋषिः।

हे भक्ता विश्वा विश्वेन समस्तेनौजसा बलेन शक्त्या दिव आनन्दस्य पतिं रक्षकं परमात्मानं समेत प्राप्नुत। यः परमात्मा

---

† वृत्रं ‡ अनुरेजते शुष्मात्....।

जनानां प्राणिनामेक इदेक एवातिथिरभ्यतितो भूर्भवति । "अतिथिरभ्यतितो गृहान्भवति । अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा परगृहाणीति वा । अमयपीतरोतिथिरेतस्मादेवेति" यास्कः । स पूर्व्यः सर्वेभ्यः पूर्वंभवः सनातनः । अस्तीतिशेषः । नूतनं प्रतिक्षणं नवमिव भान्तमा जिगीषन्तं समन्तात्सर्वाञ्जनमनोविदूषकाननिष्टान्कामादीञ्जेतुमिच्छन्तमित्परभात्मानमेव वर्तनीर्वर्तनीभिर्व्यवहारैस्तत्प्रियैरेकोहमनु वावृतेनुवर्ते ॥ ३ ॥

३७३. इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि
प्रभूवसो । न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणी-
रिव प्रति तद्धर्य नो वचः ॥ ४ ॥ (ऋ. १।५७।४)

इमे त इति । सव्य आङ्गिरस ऋषिः ।

हे प्रभूवसो बहुद्रविण पुरुष्टुत बहुभिः सर्वैः स्तुत ये वयं त्वदधीना भक्तास्त्वा त्वामारभ्याश्रित्य चरामसि कालक्षेपं कुर्मस्त इमे वयं ते तव । शरणागतिस्वीकारोयमेव नाम । हे गीर्वणो गीर्भिर्वननीय त्वदन्यस्त्वत्तोन्यः कोपि गिरोस्मत्कृताः स्तुतीर्नः सघत्प्राप्नोति । षघ हिंसायाम् । इह प्राप्तौ । त्वदर्थान्येवास्माकं स्तुतिवचनानि । अनन्यभक्तिस्वीकारः । तत्तस्मान्नोस्माकं वचः स्तुतिरूपं प्रति हर्य प्रतिगच्छ स्वीकुरु । हर्य गतिकान्त्योः । दृष्टान्तमाह । क्षोणीरिव पृथिवीव । यथा माता पृथिवी सर्वदास्माकं प्रार्थनामाकर्ण्यैव जलफलान्नादिप्रदानेन निवासप्रदानेन च निर्वाहयत्यस्मांस्तथैव त्वमपि कुर्वितिभावः ॥

---

† नो हर्य तद्वचः ।

३७४. चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्या३मिन्द्रं गिरोबृहतीरभ्यनूषत ।
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे ॥५॥
(ऋ. ३।५१।१)

चर्षणीधृतमिति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः ।

बृहतीर्बृहत्यो बह्वोस्माकं गिरो वाचश्चर्षणीधृतं मनुष्याणां धारकं मघवानमनन्तज्ञानधनवन्तमुक्थ्यं स्तुत्यं वावृधानं सर्वदा वर्धमानं ह्रासरहितं पुरुहूतं बह्वाहूतममर्त्यममरणधर्माणं सुवृक्तिभिः शोभनाभिर्वृक्तिभिर्ऋक्तिभिः स्तुतिभिर्जरमाणं स्तूयमानमिन्द्रं परमेश्वरं दिवेदिवे प्रतिदिनमभ्यनूषताभि सर्वतो नुवन्तु स्तुवन्तु ॥५॥

३७५. अच्छा †व इन्द्रं मतयः *स्वर्युवः सध्रीचीर्-
विश्वा उशतीरनूषत । परि §ष्वजन्त जनयो
यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥ ६ ॥
(ऋ. १०।४३।१)

अच्छेति । कृष्ण आङ्गिरस ऋषिः ।

स्वर्युवः स्वर्गस्य दुःखामिश्रितसुखस्य प्रापिकाः सध्रीचीः सानुकूला उशतीरुशत्यो युष्मदर्थं परमात्मानमनुकूलं कामयमाना वो युष्माकं विश्वाः सर्वा मतयो बुद्धयो भगवद्विषयिण्य इन्द्रं परमेश्वरमच्छानूषताभ्यनूषत स्तुवन्तु । शाकपूणिमतेच्छ प्राप्तुं परमात्मानमनूषत । अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः (निरु० ५।२८) । यथा मर्यं मनुष्यं पतिं भर्तारं जनयो भार्याः । "पतिर्जनीनां पालयिता जायानाम्" (निरु० १०।२१) । "य ऋतुर्जनीनाम् = य ऋतुः कालो जायानाम्" (निरु० १२।४६) । परिष्वजन्त्यालिङ्गन्ति

† वथ्य१मिन्द्रं····। ‡ म। * स्वर्विदः। § ष्वजन्ते।

तथा शुन्ध्युं सर्वशोधकं सर्वपापेभ्यो विमोचकं मघवानं परमपूज्यं परमेश्वरमूतये स्वरक्षायै परिष्वजन्तालिङ्गत तस्मिन्निरता भवते-त्यतिभावः ॥ ६ ॥

३७६. अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिन्द्रं गीर्भिर्म-
दता वस्वो अर्णवम् । यस्य द्यावो न विचरन्ति
†मानुषं भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत ॥ ७ ॥

(ऋ. १।५१।१)

अभि त्यमिति । सव्य आङ्गिरस ऋषिः ।

हे कल्याणकामा जीवा यूयं गीर्भिः स्तुतिभिस्त्यं तं मेषं सर्वमनोरथपूरकं तर्पयितारं वा । मिषु सेचने । पुरुहूतं बहुभिराहूतमृग्मियमृग्भिः स्तुतिभिर्मीयत शब्द्यते यस्तं स्तुत्यमित्यर्थः । ऋग्मियमृग्मन्तमिति वार्चनीयमिति वा पूजनीयमिति वा" (निरु० ७।२६) । वस्वो वसुनः सर्वविधधनस्यार्णवं समुद्रं निवासस्थानमेवंभूतमिन्द्रं मदत मादयत प्रसादयत । यस्य परमेश्वरस्य मानुषं मानुषाणि मनुष्येभ्यो हितानि रक्षणकर्माणि विचरन्ति विशेषेण चरन्ति प्रवर्तन्ते । का इव ? द्यावो न द्याव इव । दिवाकररश्मय इव । यथोष्णरश्मे रश्मयो मनुष्याणामन्येषां च कल्याणायैव प्रवर्तन्ते तद्वत् । भुजे भोगाय परधामैश्वर्यानुभवाय मंहिष्ठं महान्तं विप्रं मेधाविनम् । विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३।१४।२) । "विप्रास ईडते अध्वरेषु" इतिमन्त्रव्याख्याने "यं मेधाविनः स्तुवन्ति यज्ञेषु" इतियास्कः (निरु० १०।१९) । तं परमेश्वरमभि अर्चत सम्यक पूजयत ॥ ७ ॥

† मानुषा ।

३७७. त्यं सु मेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य †सुभुवः
साकमीरते । अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथि:-
‡मिन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः ॥ ८ ॥
(ऋ. १।५२।१)

त्यं स्विति । सव्य आङ्गिरस ऋषिः ।

भक्तं त्वं त्यं तं स्वर्विदं परमानन्दलम्भकं मेषं सर्वमनोरथ-साधकं परमेश्वरं सु महया सुष्ठु पूजय । यस्य यं शतमनेके सुभुव आनन्दशालिनो विद्वांसः साकं सहैव संघीभूयैवेरते प्रार्थ-यन्ते । किं च हवनस्यदमाहूते सति स्यदेन जवेनागन्तारमिन्द्रं परमात्मानं सुवृक्तिभिः सुमनोहराभिः कर्णप्रियाभिश्च स्तुतिभिर-वसेस्माकं रक्षाया आ ववृत्यामावर्तयामि । कमिव ? अत्यं शीघ्र-गमनशीलं वाजमश्वं रथं चेव । यथा रथिका वाजं रथं चावर्तयन्ति, तद्वत् ॥ ८ ॥

३७८. घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा ।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कम्भिते अजरे
भूरिरेतसा ॥ ९ ॥ (ऋ. ६।७०।१)

घृतवतीति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ घृतवती घृतवत्यौ स्याताम् । घृ क्षरणदीप्त्योः । पृथिवी क्षरणवती द्यौश्च दीप्तिमती स्यादित्याशयः । भुवनानां लोकानामभिश्रिया अभिश्रियावाश्रयणीये च स्याताम् । किंभूते द्यावापृथिव्यौ ? उर्वी उर्व्यौ महत्यौ । पृथ्वी पृथिव्यौ विस्तार-वत्यौ । मधुदुघे ज्ञानदुग्धदोग्ध्र्यौ । तयोः शान्त्याभिवृद्धया च जनानां

† सुभ्वः ‡ मेन्द्रम् ।

ज्ञानार्जने न भवेत्क्लेशः। सुपेशसा सुरूपे सुहिरण्ये वा। पेश इति हिरण्यनाम (निघ० १।२।६) रूपनाम च (निघ० ३।७।११)। किं च वरुणस्य वरणीयस्य परमात्मनो भूरिरेतसा बहुबलेन धर्मणा सामर्थ्येनाजरे जराधर्मरहिते नित्ये परमात्मन्येव विष्कभिते धृते संस्थिते ॥ ९ ॥

३७९. उभे यदिन्द्र रोदसी आ पप्राथोषा इव।
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥१०॥
(ऋ. १०।१३४।१)

उभे यदीति। मेधातिथिः काण्व ऋषिः।

हे इन्द्र परमेश्वर यद्यस्त्वमुषा इवोषः काल इव रोदसी द्यावापृथिव्यौ आ पप्राथ आप्रास्यापूरयसि व्याप्नोषीत्यर्थः। तं त्वा त्वां महीनां महतां पूज्यानामपि महान्तं चर्षणीनां मनुष्याणां च सम्राजं परमेश्वरं या भक्तिरजीजनज्जनयति प्रादुर्भावयति भक्तानां हृदयेषु, सा जानित्री जनयित्री देवी भद्रा कल्याणस्वरूपा च। भक्तेर्माहात्म्यवर्णनमेतत् ॥ १० ॥

३८०. प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा
निरहन्नृजिश्वना। अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं
मरुत्वन्तं सख्याय †हुवेमहि ॥ ११ ॥ (ऋ. १।१०१।१)

प्र मन्दिन इति। कुत्स आङ्गिरस ऋषिः।

हे भक्ता मन्दिने स्तुतिमते स्तोतव्यायेत्यर्थः। परमानन्दस्वरूपाय वा। मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। भौवादिकः।

† हवामहे।

मन्दो मन्दतेः स्तुतिकर्मण इतियास्कः (निरु० ४।२४) परमात्मने पितुमद्रक्षाप्रार्थनावद्वचः प्र अर्चत समर्पयतोच्चारयत। अस्मान्नक्षेतिवचसा परमात्मनं प्रार्थयध्वमितिभावः। यः परमात्मा ऋजिश्वना यस्याजंनेन वर्धते भक्तस्तेन ज्ञानेन कृष्णगर्भा दुरन्ता वृत्तीर्निरहन् नितरां हन्ति। अवस्यवो रक्षणमिच्छन्तो वयं वृषणं सेचकं मनोरथपूरकं वज्रदक्षिणं निरन्तरं रक्षाकुशलं सावधानं मरुत्वन्तं हिरण्यवन्तं ज्ञानरूपहिरण्यवन्तम्। मरुदिति हिरण्यनाम (निघ० १।२।१३)। मितराविणो वा मितरोचनो वा महद्द्रवन्तीति वा" इति यास्कः (निरु० ११।१३)। सख्याय सख्युः कर्मणे रक्षणाय हुवेमह्याह्वयामः। संकटकाले रक्षणमेव सखिलक्षणम् ॥ ११ ॥

इति नवमी दशतिः। इति तृतीय खण्डः



३८१. इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं †पुनीष उक्थ्यम्।
विदे वृधस्य ‡दक्षस्य महां हि षः ॥ १ ॥

(ऋ. ८।१३।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्रेन्द्रो देवता च्छन्दश्चोष्णिक्। ऋषिनिर्देशं करिष्यामः। इन्द्र सुतेष्विति। अस्य मन्त्रस्य नारदः काण्व ऋषिः।

सुतेष्वारब्धेषु सोमेषु सामरसेषु भक्तियज्ञेषु हे इन्द्र भक्त त्वं वृधस्य वर्धकस्य दक्षस्य बलस्य बलस्वरूपस्म विदे लाभायाक्थ्यं स्तुत्यं क्रतुं ज्ञानम्। तृतीयार्थे द्वितोया व्यत्ययेन। उक्थ्येन क्रतुना स्तुत्येन ज्ञानेनात्मानं पुनीषे पवित्रं करोषि। स परमात्मा महानस्ति हिर्निश्चयद्योतकः ॥ १ ॥

---

† पुनीत। ‡ दक्षसो महान्हि षः।

३८२. †तमु अभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ २ ॥

(ऋ. ८।१५।१)

तमु अभीति । गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायना ऋषिः ।

हे भक्ताः पुरुहूतं सकलैरेवाहूतं पुरुष्टुतं सर्वैश्च स्तुतं तमु तमेव परमेश्वरमभि गायताभिमुखीभूय प्रकर्षेण गायत स्तुत । तविष इति महन्नाम (निघ० ३।३।७) । तमिन्द्रं परमेश्वरं गीर्भिः प्रार्थनावाग्भिरा विवासत परिचरत । विवासतिः परिचरणकर्मा (निघ० ३।५।१०) । विवासतिः परिचर्यायामिति यास्कः (निरु० ११।२३) ॥ २ ॥

३८३. तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृक्षु सासहिम् ।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ ३ ॥

(ऋ. ८।१५।४)

तं त इति । ऋषी उपर्युक्तावेव ।

हे अद्रिवोद्रिवन् रक्षणसाधनीभूतसङ्कल्पास्त्रसम्पन्न । अद्रिरादृणात्यनेनापि वात्तेः स्यादिति निरुक्तम् (४।४) । वृषणं मनोरथदातारं पृक्षु पृक्षे संग्रामे (निघ० २।१७।३३) । कामाकामयो रागवैराग्ययोः सासहिमनिष्टं पक्षमभिभवितारं लोककृत्नुं लोकानां भक्तानां सहायकारिणं हरिश्रयं मनुष्यैराश्रयणीयम् । हरिरिति मनुष्यनाम (निघ० २।३।१०) । मदमानन्दप्रदातारं ते त्वाम् । छान्दसः प्रयोगः । गृणीमसि प्रशंसामः ॥ ३ ॥

---

† तम्वभि ।

३८४. यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये ।
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥ ४ ॥

(ऋ. ८।१२।१६)

यत्सोममीति । पर्वतः काण्व ऋषिः ।

हे इन्द्र समर्थेश्वर विष्णवि विष्णौ व्यापके त्वयि संलीने त्रिते सत्यमहिंसा ब्रह्मचर्यं चेति त्रीणि तत्त्वानि तनोति वर्धयति स त्रितस्तस्मिन्नाप्त्य आप्तानां हितकारकेथवाप्नोति सर्वमित्याप्त्यः । आप्नोतेर्यत्प्रत्ययस्तुगागमश्च निपात्यते । आप्त्यमाप्तव्यमिति यास्कः (निरु० ११।२१) । एतादृशे भक्ते यत्सोमं सामरसं भक्तिरसं स्वदसे यद्वा मरुत्स्वन्येषु देवेषु भक्तेषु भक्तिरसं पिबसि, परन्तु त्वमिन्दुभिर्भक्तियज्ञैर्मदीयैरपि सं सम्माद्य । समित्युपसर्गवशाद्योग्यक्रियालाभः । सर्वेषामेव भक्तानां हृदये स्थितस्त्वं स्वभक्तिरसमाज्वदसे तर्हि कृपया मदीयेपि हृदये समागच्छ पिब च तत्रत्यं भक्तिरसमिति प्रार्थनाया अभिप्रायः ॥ ४ ॥

३८५. एदु †मधोर्मदिन्तरं ‡सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः ।
एवा हि वीरः स्तवते सदावृधः ॥ ५ ॥

(ऋ. ८।२४।१६)

एदु मधोरिति । विश्वमना वैयश्व ऋषिः ।

हे अध्वर्यो हिंस्रकर्मविरहित भक्त मधोर्मधुरस्यान्धसोन्नस्य भक्तिरूपस्य मदिन्तरमतिशयेन मादयितारं रसमिति शेषः । इदेव । रसमेवेत्यर्थः । आ सिञ्च स्वान्तःकरण इत्यर्थः । सदावृधो भक्तिरसेन सदा वर्धनीयो वीरो वीरयिता सर्वान्विकारान्स परमात्मैव हि स्तवते स्तूयते । दृढा भक्तिरेव तस्य वास्तविकी स्तुतिः ॥ ५ ॥

† मध्वो । ‡ सिञ्च वाध्वर्यो ।

३८६. एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु ।
प्र †राधांसि चोदयते महित्वना ॥ ६ ॥
(ऋ. ८।२४।१३)

एन्दुमीति । उपर्युक्त ऋषिः ।

हे उपासका इन्द्राय परमात्मन इन्दुं सर्वोत्तमं यज्ञं भक्तिरूपमा सिञ्चतोपस्थापयत प्रादुर्भावयत । स परमेश्वरः सोम्यं शान्तं मधु मधुरं रसं भक्तिरूपं पिबाति पिबति । तदनन्तरं महित्वना स्वमाहात्म्येन स्वस्यौदार्येण स्वाभाविकेन राधांसि ज्ञानरूपमन्नमाध्यात्मिकं भोज्यं वस्तु भवतेभ्यो युष्मभ्यं प्र चोदयते ददाति दास्यति॥६॥

३८७. एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥ ७ ॥
(ऋ. ८।२४।१९)

एतो न्वीति । उक्त ऋषिः ।

हे सखाय उपासकबन्धवो नु क्षिप्रमु शीघ्रमेव आ इतागच्छत । स्तोम्यं स्तवनीयं नरं नेतारं सन्मार्गान्प्रति इन्द्रं परमेश्वरं स्तवाम । यः परमात्मा विश्वा सर्वान्कृष्टीर्मनुष्यान्भवितरहितान् । सदाचाररहितान्वा एक इत् एकाक्येवाभ्यस्त्यभिभवति ॥ ७ ॥

३८८. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
‡ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ ८ ॥
(ऋ. ८।९८।१)

इन्द्रायेति । नृमेध आङ्गिरसः ऋषिः ।

---

† राधसा चोदयाते । ‡ धर्मकृते ।

हे उपासका यूयं विप्राय मेधाविने सर्वज्ञान बृहते महते व्यापकाय ब्रह्मकृते ज्ञानकर्त्रे ज्ञानदात्रे विपश्चिते विदुषे पनस्यवे र्चामिच्छत इन्द्राय परमेश्वराय बृहन्महत्साम स्तोत्रं गायत। लोकाः स्वकल्याणाय मदाज्ञावर्तिनो भवेयुरितीच्छैव पूजेच्छा ॥

३८९. य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे।
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ ९ ॥

(ऋ. १।८४।७)

य एक इति। गौतम राहूगण ऋषिः।

य इन्द्रः परमात्मैक इदेकाक्येव दाशुषे हृदयमर्पितवते भक्ताय मर्ताय मनुष्यायाङ्ग क्षिप्रम्। अङ्गेति क्षिप्रनाम (निरु० ५।१७) वसु ज्ञानधनं विदयते विशेषेण ददाति। सोप्रतिष्कुतः कैश्चिदपि प्रतिकूलशब्दैरशब्दितः सर्वैः शस्य इत्यर्थः। ईशान ईश्वरः सर्वशासक इत्यर्थः। अप्रतिष्कुतोप्रतिस्खलितो वेति यास्कः (निरु० ६।१६) अप्रतिष्कुतोप्रतिगत इति देवराजयज्वा निघण्टौ (४।३।६९) स्कुञ् आप्रवणे। आप्रवरणमागमनम्। स्कवतेर्गत्यर्थाद्वा निष्ठा। अषोपदेशत्वाद्व्यत्ययेन षत्वमिति स एवाह ॥ ९ ॥

३९० सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे ॥ १० ॥

(ऋ. ८।२४।१)

सखाय इति। विश्वमना वैयश्वः।

हे सखाय उपासकबन्धवो वज्रिणे परमगतिमत इन्द्राय परमेश्वराय ब्रह्म धनं भवितरूपमा शिषामह आशास्महे। ब्रह्मेति धननाम (निघ० २।१०।२४)। वो युष्माकं श्रेयस उ एव नृतमायातिशयेन नेत्रे धृष्णवे सर्वेषां दुर्जनानां दुराचारविचाराणां च

संकल्पमात्रेण पराभवं सम्पादयित्रे परमात्मने द्वितीयार्थे चतुर्थी। सु स्तुमः शोभनं स्तुमः ॥ १ ॥

इति दशमी दशतिः। इति चतुर्थः खण्डः

इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयोर्धः

चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः

अथ पञ्चमे प्रपाठके

प्रथमोर्धः पाठकः

३९१. गृणे तदिन्द्र ते शव उप †मां देवतातये।
यद्धंसि वृत्र‡मोजसा शचीपते* ॥ १ ॥

(ऋ॰ ८।६२।८)

अस्यां दशत्यां पञ्चमसप्तमयोरादित्या देवता अन्येषांमिन्द्रः। उष्णिक् च्छन्दः। ऋषिनिर्देशं करिष्यामः। गृण इति। अस्य प्रगाथो घौरः काण्व ऋषिः।

हे इन्द्र परमात्मन्यत्त्वमोजसा बलेन वृत्रं पापं हंसि तस्मात्ते तव शवो बलं देवतातये देवाय भक्तायोपमामुपमेन्तिके गृणे स्तुवे। देवो भगवान्स्तूयते यत्र येन वेति देवतातिः। "देवतातौ यज्ञे" इतियास्कः (निरु १२।४४) सर्वदेवात्तातिल् (पा॰ ४।४।१४२) इति सूत्रेण तु देवशब्दात्स्वार्थे तातिल्। उपमेन्तिक इति निघण्टुः (३।१६।११) ॥ १ ॥

† मं। ‡ मोजसा। * मद्रा इन्द्रस्य रातयः—इत्यधिकः पाठः।

३९२. यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय †रन्धयन् ।
अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ॥ २ ॥
(ऋ. ६।४३।१)

यस्य त्येति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ।

हे इन्द्र परमेश्वर यस्य मद आनन्दे यज्जन्यानन्दे यदानन्दानुभवे स्थितस्त्वं दिवोदासाय दिवः स्तुत्यस्य परमेश्वरस्य दासाय किंकराय भगवद्भक्तार्थमितिभावः । त्यत्प्रसिद्धं शम्बरं वलं पापानामितिशेषः । शम्बरमिति बलनाम (निघ० २.९।२८) । रन्धयन्नरन्धयोर्हिंसीर्हिनस्सि च सोयं सोमः सामरसः शान्तिरसो भक्तिरूपस्ते तुभ्यं सुतः सम्पादितः । तमनुभवेतिशेषः ॥ २ ॥

३९३. एन्द्र नो गधि ‡प्रिय सत्राजिदगोह्य ।
गिरिर्न *विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ॥ ३ ॥
(ऋ. ८।९८।४)

एन्द्र न इति । नृमेध आङ्गिरस ऋषिः ।

हे इन्द्र सर्वसामर्थ्यसम्पन्नागोह्य केनापि गूहितुमशक्य हे प्रिय हृद्य प्रियकर त्वं सत्राजिदसि । सत्रा सत्यं तज्जयतीति । सत्यजेतासि । सत्यस्वरूपोसीति रहस्यम् । अथवा सत्त्रासजिदसि सतां महापुरुषाणां त्रासं त्रासजनकं वा जयतीतितथाभूतोसि । पृषोदरादित्वात्सकारलोपः । गिरिर्न पर्वत इव विश्वतः सर्वतो दिवो द्युलोकस्य प्रकाशलोकस्य पृथुर्महान्पतिरप्यसि । एवंभूतस्त्वं नोस्माकं समीप आ गधि आगच्छ ॥ ३ ॥

---

† रन्धयः । ‡ प्रियः । * विश्वतस्पृथुः ।

३९४. य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।
येना हंसि †न्या३त्रिणं तमीमहे ॥ ४ ॥

(ऋ. ८।१२।१)

य इन्द्र इति । पर्वतः काण्व ऋषिः ।

हे शविष्ठातिशयबलयुक्त त्वं सोमपातमः सोमस्य सामरसस्य भक्तिरसस्यातिशयेन पाता रसयितासि । तेनेत्याध्याहार्यम् । तेन सोमपानेन भक्तिरसपानेन मद आनन्दस्तवेत्यर्थः । चेतति जागर्ति । नित्यजाग्रदानन्दोपि स भक्त्या जात इव जातानन्द इव प्रतीयत इतिभावः । येन मदेन जातेनानन्देनात्रिणं भक्तिभक्षयितारं कामादिविकारराशिं नि हंसि विनाशयसि तमानन्दमपीमहे याचामह इति निघण्टुः (३।१९।१) ॥ ४ ॥

३९५. तुचे ‡तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे ।
आदित्यासः *समहसः कृणोतन ॥ ५ ॥

(ऋ. ८।१८।१८)

तुचे इति । इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः ।

हे आदित्यासोदितेरखण्डनीयस्यादीनस्य वा भक्ताः समहसोत एव सतेजस्का नोस्मभ्यं तुचेपत्याय । ष्टुच प्रसादे । क्विप् । स्तुच्यन्ते प्रसाद्यन्ते पितरोनेनेति । तुगित्यपत्यनाम (निघ० २।२।१) तुनाय तनाय धनाय । तनेतिधननाम (निघ० २।१०।१९) तनोति विस्तारयति त्रिवर्गसाधनं हि तत् । तुन इत्यत्रोकारोकारस्य च्छान्दसः । जीवसे जीवितुं तत्प्रसिद्धं द्राघीयोतिदीर्घं भूयश्च शरदः शतादितिरीत्यायुः सु सुष्ठु कृणोतन कुरुत । वीतरागेभ्यो दीर्घायुः प्रार्थनम् ॥ ५ ॥

† न्य१त्रिणं । ‡ तनाय । * सुमहसः ।

३९६. वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् ।
अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥ ६ ॥
(ऋ. ८।२४।२४)

वेत्थेति । विश्वमना वैयश्व ऋषिः ।

हे वज्रहस्त वज्र इव दृढो हस्तो यस्येत्थम्भूत परमेश्वर निर्ऋतीनां दौर्भाग्यानामलक्ष्मीणां परिवृजं परिवर्जनं वेत्थ हि त्वमेव जानासि । दृष्टान्तमाह—अहरहः प्रत्यहं शुन्ध्युः शुनस्य सुखस्य ध्याता भक्तानां त्वं परिपदामापदां परिवृजमिव । यथा त्वं प्रत्यहं भक्तेष्वापतन्तीनामापदां निवारणं जानासि तथा तेषामलक्ष्मीणां नारकीयदुःखानां परिवर्जनमपि जानासि ॥ ६ ॥

३९७. आपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम् ।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥ ७ ॥
(ऋ. ८।१८।१०)

अपामीति । इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः ।

हे आदित्यासोदितेर्भगवतो भक्ता अस्माकममीवां रोगम् । अमीवा इति रोगनाम हिंसकनाम वा (निघ० ४।३।४६) । अप सेधतापनयत । स्रिधं शत्रुमप सेधत । दुर्मतिं दुर्बुद्धिं दुरन्तचिन्तकसमवायं वाप सेधत । अंहसः पापाच्च नोस्मान्युयोतन पृथक्कुरुत ॥ ७ ॥

३९८. पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः । सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥ ८ ॥
(ऋ. ७।२२।१)

पिबेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिः ।

हे इन्द्र परमेश्वर सोमं तं भक्तिरसं पिब यं हे हर्यश्व हरिषु मनुष्येषु व्यापनशील, अद्रिभंक्तः । न दीर्यंत इति । नहि पारमेश्वरो भक्तो जन्ममरणावाप्तिरूपं विनाशं कदाप्यधिगच्छति । सुषाव प्रादुरभावयत्प्रादुर्भावियति वा । स भक्तिरसः पीतः सँस्त्वा त्वां मन्दतु मादयतु । स च रसः सोतुः सम्पादयितुर्बाहुभ्यां मनोबुद्धिभ्याम् । बाधेते इति बाहू । मनोबुद्धी एव मनुष्यान्बाधेते सन्मार्गात्परिच्याव्यासच्चिन्तने प्रवर्तयतः । सुयतोतिशयेन रक्षितः । दृष्टान्तः । अर्वा न, अश्व इव । यथा नियमितोश्वोश्विनः सुखायोत्कर्षाय च भवति तथैव सुयतो मनोबुद्धिभ्यां स्थिरीकृतो रसो भक्तस्य सुखायोत्कर्षाय च भवति ॥ ८ ॥

इति प्रथमा दशतिः । इति पञ्चमः खण्डः



३९९. अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषाः
सनादसि । युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १ ॥

(ऋ. ८।२१।१३)

अस्यां दशत्यां सप्तमस्याष्टमस्य च मरुतो देवताः शेषाणामिन्द्रः । छन्दश्च ककुप् । सप्तमस्याष्टमस्य च नृमेध आङ्गिरस ऋषिः । अन्येषां सोभरिः काण्वः ।

हे इन्द्र परमात्मँस्त्वं जनुषानादिकालादेवाभ्रातृव्यः सपत्नरहितोनानृकोनेतृकोनापिरबन्धुः सनाच्च सनातनश्चासि । किं च त्वं युधेद्युद्धेनैव, कामादिषु खलेषु संप्रहरन्नेवापित्वं बन्धुत्वमिच्छसि । उपकारेण जीवेष्वबन्धोरपि ते बन्धुतेतिभावः ॥

४००. यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आ निनाय
तमु वःस्तुषे। सखाय इन्द्रमूतये ॥ २ ॥
(ऋ. ८।२१।९)

सौभरिर्ऋषिरन्यो वा कश्चिद्भक्तो वदति—हे मित्रभूताः समानधर्माणो यो नोऽस्मदर्थमिदमिदं ज्ञानरूपं भक्तिरूपं च वस्यो वस्वो वसुनः। द्वितीयार्थे षष्ठी व्यत्ययेन। वसु धनं पुरा पूर्वं प्र आनिनाय प्रकर्षेणानीतवान्प्रापितवान्। यत्कृपयेदं सर्वं लब्धमस्माकं तमु तमेवेन्द्रं परमात्मानं वो युष्माकमूतये रक्षायै स्तुषे स्तौम्यहम् ॥ २ ॥

४०१. आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो माप
†स्थात समन्यवः। ‡दृढा चिद्यमिष्णवः ॥३॥
(ऋ. ८।२०।१)

हे प्रस्थावानः प्रकर्षेण स्थावानः स्थिरतया स्थातुं शीलवन्तो विवेकवैराग्यशमदमादयो दिव्यगुणा आ गन्तागच्छतास्मान्प्रति। मा रिषण्यत मा हिंस्तास्मान्युष्मद्विरहेण। युष्माभिर्विनास्माकं विनाश एव स्यात्। समन्यवः सक्रोधाः सन्तो मा अप स्थात दूरे मा तिष्ठत यतो यमयिष्णवो भक्तान्सज्जनान्यमयितुं नियमयितुं नियमेषु स्थापयितुं शीलवन्तो दृढ़ा चिद्दृढाश्चिद्दृढा एव स्थिरा एव एव भवन्ति। अस्मान्नियमेषु स्थापयितुं भवतां शीलम्। ततो मन्युनापि न दूरे स्थातव्यमितिभावः। अचेतना एव हि विवेकवैराग्यादयः चेतनत्वमारोप्यैव तेषु विज्ञेयेयमुक्तिः। विवेकादिभ्यः स्पृहयतां महतामियमुक्तिः ॥ ३ ॥

† स्थाता। ‡ स्थिरा चिन्नमयिष्णवः।

४०२. आ †याह्ययमिन्दवेऽश्वपते गोपत उर्वरापते ।
सोमं सोमपते पिब ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।२१।३)

अयं प्रस्तुतो भक्तियाग इदन्वे परमैश्वर्याय तुभ्यं परमात्मनेस्ति । हे अश्वपतेश्वानां कर्मफलं प्रतिगतानां जीवानां पते गोपते ज्ञानपते उर्वरापते उरुरा निर्धनताज्ञानता येषां तेषां पते सोमपते शान्तिरक्षक परमात्मन्ना याह्यागच्छ । आगत्य चास्माकं शान्तिरसं पिबानुभव । अथवास्मान् शान्तिरसं पायय । अन्तर्णीतण्यर्थः ॥४॥

४०३. त्वया हि स्विद्युजा वयं प्रतिश्वसन्तं वृषभ
ब्रूवीमहि । संस्थे जनस्य गोमतः ॥ ५ ॥
(ऋ. ८।२१।११)

हे वृषभ सर्वश्रेयःसाधनसमर्थं । वृषु सेचने । गोमतो विद्यावतो धनवतो वा जनस्य संस्थे स्थाने पुरुस्ताच्छ्वसन्तमभिमानेन विद्याया धनस्य च, तिरस्कुर्वन्तमस्माँस्त्वया स्वित्त्वयैव युजा सहायेन हि खलु वयं प्रति ब्रुवीमहि प्रतिवचनं दातुं शक्नुयाम । चतुर्थ्यर्थे द्वितीया । विद्यावन्तो धनवन्तश्च स्वस्थानमधिष्ठायाविद्यान्निरक्षरान् भक्तांस्तिरस्कुर्वन्ति । तदुत्तरं तु परमेश्वरकृपालाभेनैव ते दातुं शक्नुवन्ति नान्यथेतिभावः ॥ ५ ॥

४०४. गावश्चि‡द्घा समन्यवः सजात्येन मरुतः
सबन्धवः । रिहते ककुभो मिथः ॥ ६ ॥
(ऋ. ८।२०।२१)

सजात्येन साजात्येन समानजातित्वात्समनन्यवः सक्रोधाः सबन्धवः समानबन्धना मरुतो घातुका गावो वाचो मिथः परस्परं

† याहीम इन्दवो···· । ‡ द् घा ।

ककुभः स्विद् ह दिश एव रिहते लिहन्ति। दुर्जना भवतेभ्यः क्रुद्धाः सन्तोरुन्तुदानि मन्युपूर्णानि वचांसि ब्रुवते परन्तु भगवद्भक्ततया सर्वाणि सहमानास्ते न किञ्चत्प्रत्युत्तरं वाचा विदधति। ततस्तेषां गिरः केवलं दिशो लिहन्ते न भक्तानां हृदयमितिभावः। भक्तै-दुर्जनगिरोवहेलनीया इति तु रहस्यम् ॥ ६ ॥

४०५. त्वं न इन्द्रा †भर ओजो नृम्णं शतक्रतो

विचर्षणे। आ वीरं पृतना‡सहम् ॥ ७ ॥

(ऋ. ८।९८।१०)

हे शतक्रतोनन्तकर्मन्विचर्षणे विशेषद्रष्टरिन्द्र परमात्मन्नोजस्तेजो नृम्णं धनं ज्ञानरूपं भक्तिरूपं चा भराहराथवा पूरय। पृतनासहं मनुष्याणां दुष्टानामभिभावकम्। पृतना इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।२५) षहधातुश्छन्दस्यभिभवार्थः। वीरं विक्रान्तं निर्भयं निर्दोषं हृदयमिति शेषः। देहि। तथाभूतं हृदयं देहि यत्र दुर्जन-दुर्वचनप्रहारोन्येषां च कामादिविकाराणामाक्रमणं वैयर्थ्यं भजेत ॥ ७ ॥

४०६. अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा *काम ईमहे

ससृग्महे। उदेव §ग्मन्त उदभिः ॥ ८ ॥

(ऋ. ८।९८।७)

हे गिर्वणो गीर्भिर्वननीयेन्द्र परमेश्वर कामे सति, जाते हि मनोरथे मोक्षाभिलाषे त्वा त्वामुप ईमह उपगच्छामः ससृग्महे संसृजामश्च। दृष्टान्तमाह। उदोदकेनोदकनिमित्तेन। विद्यया वस-तीतिवत्तृतीया। ग्मन्तो गच्छन्त उदभिर्जलैरिव। जलकामाः

† भरं। ‡ षहम्। * कामान्महः ससृज्महे। § यन्त।

गच्छन्तो जलं दृष्ट्वा यथा तत्समीपे गच्छन्ति तेन संसृष्टा भवन्ति तद्वत् ॥ ८ ॥

४०७. सीदन्तस्ते वयो यथा गोश्रीते मधौ मदिरे
विवक्षणे। अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥ ९ ॥

(ऋ. ८।२१।५)

हे इन्द्र परमेश्वर गोश्रीते गोश्रिते। छान्दसो दीर्घः। परमेश्वर-नामपरिजुष्टे मधौ मधुरे नयनानन्दकरे मन्दिरे हृदयमादके विवक्षणे विशिष्टा वक्षणा नदी यत्र तस्मिन्स्थाने पूजास्थान उपासनास्थाने सीदन्त उपसीदन्तो वयं ते तव। त्वां वयं प्रपन्ना इत्यर्थः। त्वामभि नोनुमः पौनःपुन्येन नुमः। दृष्टान्तमाह। वयो यथा। यथा पक्षिण एतादृशे स्थाने संगत्य सातत्येन मुदिताः कूजन्ति तद्वत्। शान्ते हृदयाह्लादके च नद्यास्तीरे कृता भक्तिरुपासितश्च परमात्मा प्रसीदत इति भावः। वक्षणेति नदीनाम (निघ० १:१३।९) ॥ ९ ॥

४०८. वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽव-
स्यवः। वज्रिञ्चित्रं हवामहे ॥ १० ॥

(ऋ. ८।२१।१)

वयमु इति। हे अपूर्व्य विलक्षण परमेश्वर भरन्तो हृदये त्वां धारयन्तोवस्यवो रक्षणमिच्छन्तो वयमुपासका वज्रि दृढं चित्रं चायनीयमवर्णनीयं वा त्वामु त्वामेव हवामह आह्वयामः। कमिव? कत् चित्स्थूरं न। यथा कश्चित्स्वसाहाय्यार्थं कञ्चित्स्थूरं स्थिरं स्वस्मादधिकं बलादिभिः पुरुषमाह्वयति तद्वत् ॥ १० ॥

इति द्वितीया दशतिः। इति षष्ठः खण्डः

४०९. स्वादोरित्था विषूवतो †मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति ‡शोभथा
वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ १ ॥

(ऋ. १।८४।१०)

अस्यां दसत्यां नवमस्य विश्वेदेवा देवता दशमस्याश्विनावन्येषां चेन्द्रः । नवमस्य त्रित आप्त्य ऋषिर्दशमस्यावस्युरात्रेयोन्येषां गोतमः सम्मदो वा राहूगणः । पंक्तिश्छन्दः सर्वत्र ।

विषूवतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च स्थितवतो व्यापकस्येन्द्रस्य परमात्मनः स्वादोरास्वाद्यं स्वादुं मधोर्मधुरं रसम् । द्वितीयार्थे षष्ठी । इत्था इत्थम् । गौर्योस्माकं वाचः पिबन्ति । वाचस्तन्नामोच्चारयन्तीतिभावः । कास्ता गौर्यः ? या वृष्णा तर्पकेणेन्द्रेण परमेश्वरेण सयावरीः सयावर्यः सह गच्छन्त्यः सहैव तिष्ठन्त्यः सर्वदा तन्नामोच्चारयन्त्य एव मदन्ति माद्यन्ति । गौरीति वाङ्नाम (निघ० १।११।५) । यूयमपि स्वराज्यमनु विधर्मणामनार्याणां राज्यसमाप्त्यनन्तरं जाते च सुखकरे राज्ये शान्त्या वस्वीः परधामनि वासयित्रीस्तास्तन्नामस्मरयित्रीर्वाचः शोभथा शोभयध्वमुच्चारयतेतिभावः । यावदार्याणां राज्यं तावदेव शान्त्या भक्तेरवकाशः । अनार्ये राज्यं शासति न शान्तिस्तदभावान्न भक्तिस्तदभावान्न मुक्तिरिति मुक्तपरम्पराविरतिः । अनेन मन्त्रेण ज्ञायतेस्य मन्त्रस्य रचनाकालेनार्या आर्यान्पराजित्यार्यावर्ते स्वशासनं स्थापयामासुरिति तदानीमेव स्वराज्यप्राप्तिर्जातेति वेति ॥ १ ॥

४१०. इत्था हि सोम*इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम् ।

† मध्वः । ‡ शोभसे । * मदे ब्रह्मा ।

शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा
अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ २ ॥
(ऋ. १।८०।१)

इत्था हि एवमेव मदो मदकरः सोमो भक्तिरसो वर्धनशीलं ब्रह्म ज्ञानं चकार करोति। जीवानां ज्ञानं वृद्धिक्षयशीलम्। भक्त्या ज्ञानवृद्धिर्भवतीत्यनुभविनः। मन्त्रर्षिर्गोतम उपासकानेवमुक्त्वा परमेश्वरं प्रार्थयते—हे शविष्ठातिशयबलयुक्त हे वज्रिन्दृढरक्षणसंकल्पौजसा बलेन तेजसा वा पृथिव्या अहिं हिंसकं मानवशत्रुम्। आङ्पूर्वाद्धन्तेरिणप्रत्ययो डिच्च। आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्चेतिसूत्रमौणादिकम्। निः शशा अशेषेणाशशाः। शश प्लुतगतौ। अत्र वधार्थः। किं कुर्वन्? स्वराज्यं परमेश्वरं राज्यमनु अनुलक्ष्यार्चन्सत्कुर्वन्स्वराज्यमेव। न स्यात्तावद्धर्मराज्यस्थापनं यावन्न स्यान्मानवद्रुहामुपद्रविणां सर्वनाश इति स्वराज्यसत्काराय दुष्टानामाततायिनां वेदधर्मविरोधिनां वध आवश्यक इति सूचितम्। समूलघातं जहि दुष्टानित्यभ्यर्थना ॥ २ ॥

४११. इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे स वाजेषु-
प्रनोऽविषत् ॥ ३ ॥ (ऋ. १।८१।१)

वृत्रहावरणनाशकः परमात्मा नृभिर्नीतिमद्भिर्मनुष्यैः सहमदाय प्रहर्षाय शवसे बलाय च वावृधेतिशयेन वर्धते। परमात्मा न केवलं स्वयं वर्धते मनुष्यानपि वर्धयतीतिभावः। सतां सत्यनिष्ठानां सदाचाराणां देशभक्तानां वर्धनमेव परमात्मनो वर्धनम्। न हि पृथिवी वर्धते तद्गतस्यापरमाणि सरस्थानि हि वर्धन्ते। तस्यवृद्धौ पृथिवीवृद्धि-रुपचर्यते यथा तथा परमेश्वरवृद्धिविषयेपि मन्तव्यम्। महत्स्वस्मा-

भिर्जेयेष्वाजिषु युद्धेषु रागत्यागयोर्भेल्पेचाजौ खलबलविदलनादौ त्तमित्तमेव वृत्रहणं परमात्मानं हवामहे । स परमेश्वरो वाजेषु बलेषु वलविषय इत्यर्थः । नोस्मान्प्र अविषत्प्रावतु प्रकर्षेण रक्षतु ॥ ३ ॥

४१२. इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन्वीर्यम् । यद्ध
त्यं मायिनं मृगं † तव त्यन्माययावधीरर्चन्ननु
स्वराज्यम् ॥ ४ ॥ (ऋ. १।८०।७)

हे इन्द्र परमेश्वर हे अद्रिवोविनाशिशक्तिमन्, अनुत्तं केनापि नापमानितं वीर्यं बलं तुभ्यमित्तुभ्यमेव तवैवेतिभावः। नान्यस्य कस्यचित् । यद्यस्माद्ध त्यं मायिनं मायोपाधिकं मृगं जन्तुं मनुष्यमात्मानम् । मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः (निरु० १।२०) मार्ष्टि कर्मवशाच्छरीरान्तरं गच्छतीति मृगो जोवः । तव त्यन्मायया । मायेति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९।९) । तेन प्रसिद्धेन ज्ञानेनावधीर्हंसि । विशिष्टे संभवन्ती क्रिया क्वचिद्विशेषणे क्वचिद्विशेष्ये च संक्राम्यति । अत्र मायाविशिष्टस्य मायोपाधिकस्य वा ज्ञानिनो वा जीवस्य नित्यत्वाद्धननासंभवेन विशेषणांशे मायामात्रे हनिक्रियासमाप्तिः । अनादिकालतो मायावशगं मुह्यमानं जीवं मायाविनाशेन त्वमुद्धारयसीतिभावः । किं कुर्वन् ? स्वराज्यमनु अर्चन् स्वस्य राजस्य धर्मराज्यस्येत्यर्थः । प्रतिष्ठां संरक्षन् ॥ ४ ॥

४१३. प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपो-
ऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ५ ॥ (ऋ. १।८०।३)

हे इन्द्र परमेश्वर प्रेह प्रकर्षेण गच्छास्मदीयान्कामक्रोधादीन-

† तमु त्वं मायया ।

नार्यन्वा शत्रून्प्रति। अभीह्याभिमुख्येन गच्छ तान्प्रत्येव। गत्वा किं कर्तव्यं तत्र ? घृष्णुहि पराभव तान्। न ते पराभवः शंकनीयः। यतस्ते तव वज्रो गतिर्न नि यंसते न नियम्यते। अपरिभाव्या हि ते गतिः। ते तव शवो बलं नृम्णं नमयितृ सर्वेषां शत्रूणाम्। नृनमन शब्दस्य वर्णलोपादिभिर्नृम्णमितिरूपम्। अतो वृत्रमावरणं पापादिकं हनो जहि। अपस्तस्य दुष्टसमूहस्य दुष्टं कर्म जय निवारय। अर्चन्ननिवतिपूर्ववत् ॥ ५ ॥

४१४. यदुदीरत आजयो घृष्णवे धीयते † धनम्।
मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्मां
इन्द्र वसौ दधः ॥ ६ ॥ (ऋ. १।८१।३)

यद्यदा विषयरागत्यागयोराजयः संग्रामा उदीरत उद्गच्छन्त्युत्पद्यन्ते तदा त्वया हे इन्द्र परमेश्वर घृष्णवे विषयरागं पराजयमानाय ज्ञानिने धनं सौभाग्यं धीयते। त्वत्साहाय्यमन्तरेण न रागजय इत्याह—मदच्युता मदच्युतौ सकलगर्वच्यावयितारौ महाबलवन्तौ हरी वात्सल्यकारुण्यधर्मौ युङ्क्ष्व योजय स्मरसीतिभावः। तदा च कं कञ्चिच्छत्रुं हनो हंसि कं कञ्चिच्च भक्तं वसौ स्वाश्रये दधः स्थापयसीतिभावः। एवंभूतस्त्वमस्मांस्त्वद्भक्तान्वसौ स्वाश्रये दधः स्थापय ॥ ६ ॥

४१५. अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती
योजान्विन्द्र ते हरी ॥ ७ ॥ (ऋ. १।८२।२)

हे इन्द्र परमेश्वर ते हरी वात्सल्यं कारुण्यं च यदा योजा

† धना युक्त्वा।

योजयसि तदा तव प्रिया भक्ता अक्षन्भक्षयन्ति सन्तोषमनुभवन्तीतितात्पर्यम् । अमीमदन्त प्रसीदन्ति च । अधूषत सर्वविकारान्सर्वविषादांश्च धुन्वन्ति । त्वयि रक्षके सत्येव स्वभानवः स्वप्रकाशा लब्धस्वप्रकाशा इत्यर्थः । विप्रा मेधाविनः । विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।२)। नविष्ठया नवितृतमया सर्वतः स्तुतया मत्या बुद्धया ज्ञानेनास्तोषत त्वां स्तुवन्ति ॥ ७ ॥

४१६. उपो षु शृणुही गिरो मघवन्मातथा इव ।
†कदा नः सूनृतावतः कर ‡इदर्थयास इद्योजा
न्विन्द्र ते हरी ॥ ८ ॥ (ऋ. १।८२।१)

हे मघवन् ज्ञानधनवन्परमेश्वर उप उ समीपेन समीपमागत्य गिरोस्मदीयाः प्रार्थनावाचः सु शृणुहि शोभनं शृणु । अतथा इव पूर्वं यथास्तोद्भिन्न इव मा भूः यथा पूर्वं कृपां कुर्वाण आसीस्तथाद्यापि भव । त्वं कदा कस्मिन्भाग्यशालिनि दिने नोस्मान्सूनृतावतः सत्यवचः सत्यस्वरूपान्वा करः करिष्यषि ? प्रार्थनां श्रुत्वा यदा त्वं साक्षाद्धृदय उपस्थितो भविष्यसि तदैव सूनृतवत्त्वं नान्यथेतिभावः । अर्थयास इत्त्वमस्माभिरर्थ्यस एव । योजा न्विन्द्रेति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

४१७. चन्द्रमा *अप्स्वाऽ३न्तरा सुपर्णो धावते दिवि
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो
वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ ९ ॥ (ऋ. १।१०५।१)

ऋग्वेदेयं मन्त्रः कूपं पतितस्य त्रितस्य महतीं व्यथां वर्णयति । "अमी ये देवाः स्थन" (साम० ३६८) इत्ययमपि मन्त्रस्तथैवः । मयान्यथा व्याख्यायते । सुपर्णो जीवात्मा । स चाप्सु कर्मस्वन्तर्व-

† यदा । ‡ आदर्थयास । * अप्स्व१न्तरा ।

र्तमानस्तत्रैव लीन इत्यर्थः । चन्द्रमा आह्लादवान् । चदि आह्लादे । दिवि स्वर्गे स्थानमाप्तुमा धावते प्रयतते । परन्तु हे हिरण्यनेमयः । हिरण्यमिति द्विधातुजं रूपम् । हिनोते रमतेश्च निष्पन्नोयं शब्दः । हिरण्यं परमात्मा । सर्वदा हितकरोपि भवति रमयति चापि सर्वान् । इदं लौकिकमपि हिरण्यमत एव । बाहुलकाद्रूपसिद्धिः । नेमिर्नयतेः । नयति सन्मार्गमितिनेमिर्नेता हिरण्यं परमात्मानं प्रति नेमयो नेतारो विद्युतो विशेषेण द्युतिमन्तो ज्ञानिनोनन्यभक्ता वा, वो युष्माकं पदं स्थानं न विन्दति कर्मिणो जीवाः । हे रोदसी द्यावा-पृथिव्यौ मे मम । द्वितीयार्थे षष्ठी । मामस्य विद्युतां हिरण्यनेमीनां पदस्य सम्बन्धिनं वित्तं जानीतम् । नास्ति मम दिव्य ऐश्वर्ये रतिर्न वा पार्थिवे । मया तु तत्पदं लभ्यं यदस्ति विद्युतां हिरण्यने-मीनाम् ॥ ९ ॥

४१८. प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम् । स्तोता वामश्विनावृषिः †स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ १० ॥ (ऋ. ५।७५।१)

"श्रोत्रे अश्विनौ" (शत० १२।९।१।१३) इति शतपथवचनाद्धे श्रोत्रे वां युवयोः प्रियतममतिशयेन प्रियं वृषणं वसुवाहनं सर्वान्स्व-स्मिन्वासयतीति वसुः परमात्मा । तस्य वाहनं वाहकं परमात्मे-तिशब्दनेतारं युवयो रथं वायुं प्रति वायुमुद्दिश्यायमवस्युर्ऋषिः स्तोता स्तुतिकर्तास्ति । स्तोमेभिः स्तोत्रैस्तं वायुरूपं रथं प्रतिभूषत्य-लङ्करोति सः । हे माध्वी मधुरशब्दरसास्वादनकतृणीश्रोत्रे युवां मम हवमाह्वानं श्रुतं शृणुतम् । अयमेवं मन्त्रः परमात्मनो भक्तस्य तद्भक्तस्य च सेवां कर्तव्यत्वेन समर्पयति । श्रोत्रे हि परमेश्वरगुण-

---

† स्तोमेन प्रति भूषति ।

श्रवणनिरते ततस्ते तत्प्रिये। वायुश्च गुणशब्दाञ्श्रोत्रे प्रापयति ततः स तयोः प्रियः। तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमितिन्यायाद्वायोरपि परमात्मप्रियत्वम्। ततश्च वायुस्तुतिर्न भवत्यस्थाने ॥ १० ॥

इति तृतीया दशतिः। इति सप्तमः खण्डः



४१९. आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषं
स्तोतृभ्य आ भर ॥ १ ॥ (ऋ: ५।६।४)

अस्यां दशत्यामन्तिमं बृहती छन्दः। अन्यत्र सर्वत्र पङ्क्तिः। प्रतिमन्त्र देवतामृषिं च निर्देक्ष्यामः। आ त इति अस्याग्निर्देवता। वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः।

हे अग्ने सर्वव्यापक हे देव स्तुत्य परमात्मन्द्युमन्तं तेजस्विन-मजरं जरादिरहितं ते त्वाम्। षष्ठी छान्दसी। आ इधीमहि समन्ता-द्दीपयामः। युद्ध या खलु ते तव पनीयसी स्तुत्या समिद्दीप्तिरस्ति स्या सा द्यवि दिव्यलोकेषु दीदयति दीप्यते। स्तोतृभ्योस्मभ्यं भक्तेभ्यस्त्वमिषमन्नं भक्तिरूपमा भराहर ॥ १ ॥

४२०. अग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे।
†शीरं पावकशोचिषं वि वो मदे यज्ञेषु
स्तीर्णबर्हिषं विवक्षसे ॥ २ ॥ (ऋ. १०।२१।१)

अग्निर्देवता। विमद ऐन्द्र ऋषिः।

† यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वि वो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे इत्यृक्पाठ उत्तरार्धे।

स्ववृक्तिभिः स्वकीयानां दोषाणां वर्जनैः स्वदोषवर्जनपूर्वकमित्यर्थः। होतारं सर्वदोषनिवर्तकं शीरं सर्वत्र शयनशीलं सर्वव्यापकमितिभावः। पावकशोचिषं वह्निवत्प्रकाशकं प्रकाशरूपं वा वस्तव। छान्दसं बहुवचनम्। वि मदे विमदाय प्रहर्षाय। यज्ञेषु भक्तिज्ञानसदाचारपालनादिरूपोत्कृष्टकर्मसु स्तीर्णबर्हिषमाच्छादितहृदयावकाशं त्वा त्वामा वृणीमहे शरणत्वेन स्वीकुर्महे। यतस्त्वं विवक्षसे त्वं महानसीतिभावः। विवक्षस इतिपदं महद्वाचकत्वेन निघण्टौ (३।३।१५) पठितम्। निरुक्ते च "महन्नामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः। महान् कस्मात्? मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिः। महनीयो भवतीति वा। तत्र ववक्षिथ विवक्षस इत्येते वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासात् (३।१३)॥ २॥

४२१. महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते
अश्वसूनृते॥ ३॥ (ऋ. ५।७९।१)

सत्यश्रवा आत्रेय ऋषिः उषा देवता।

हे उषः अद्य नोस्मान् महे महते राये भक्तिधनाय ज्ञानधनाय वा दिवित्मती द्युमती प्रकाशवती त्वं बोधय जागरय। हे सुजाते प्रियेश्वसूनृते अश्वाय व्यापकाय परमेश्वराय सूनृते सत्यात्मिके सत्यश्रवसि वाय्ये। द्वितीयार्थे सप्तमी। वाय्यं वय्यर्षिपुत्रं सत्यश्रवसं प्रस्तुतमन्त्रर्षिं यथा चित् यथैवाबोधयस्तद्वत्। प्रातरारभ्यैव भगवच्चिन्तनं कार्यमितिभावः॥ ३॥

४२२. भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
† अथा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे ‡ रणा
गावो न यवसे विवक्षसे॥ ४॥ (ऋ. १०।२५।१)

† अधा। ‡ रणन्।

विमद ऐन्द्र ऋषिः । सोमो देवता ।

हे परमात्मन् ! नोस्माकमपि मनो भद्रं कल्याणचिन्तकं दक्षमुत्साहवत्, उत अपि च क्रतुं क्रियाशीलं सत्कर्मविधायि वा वातय कुरु । अथ ते तव सख्ये मित्रतायामुपासका रणा रणन् रमन्ताम् । कदा रमन्ताम् ? वस्तव । वचनव्यत्ययः । अन्धसोन्नस्य भक्तिरूपस्य । तृतीयार्थे षष्ठी । भक्तिरूपेणान्नेन, तव विमदे प्रहर्षे जाते तव मित्रतायां सर्वे रमन्तामिति भावः । दृष्टान्तमाह । गावो न यवसे घासादिभक्ष्यवस्तुनः प्राप्तौ यथा गावो रमन्ते तद्वत् । रमणहेतुमपरमाह । विवक्षसे यतस्त्वं महानसि, अतस्तव मित्रतायां रमणमेव स्यात् ॥ ४ ॥

४२३. क्रत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ †वावृते शवः श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवां दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ॥ ५ ॥ (ऋ. १।८१।४.)

गोतमो राहूगण ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

भीमो भयङ्करो दुर्मतीनाम् । महान् सर्वश्रेष्ठः क्रत्वा क्रतुना सृष्टिव्यापारेण प्रज्ञया वा । क्रतुरितिकर्मनाम प्रज्ञानाम च (निघ० २।१।१०; ३।९।५) अनुस्वधं स्वस्य धानं समर्पणमिति स्वधा । परमात्मनि स्वात्मसमर्पण कृते सति स शवो बलं ज्ञानरूपमावावृते आवर्त्तयति विस्तारयति । अथवा शवः स्वयमेवावर्तते वर्धते । स च ऋष्वो महान् । ऋष्व इति महन्नाम (निघ० ३।३।३) हरिवान् वात्सल्यकारुण्यवान् शिप्री व्यापकश्च । सृप्लृ गतौ । रक् । शभावः । श्रियेस्माकं कल्याणाय वृद्धये चोपाकयोः समीपस्थयोरितिभावः । उपाक इति अन्तिकनाम (निघ० २।१६।७) ।

---

† वावृधे ।

हस्तयोः हस्तरहितस्यापि रक्षानिमित्तं हस्तकल्पना। आयसम् अयो हिरण्यम् (निघ० १।२।४) तेजस्वि वज्रं रक्षणसाधनं दधे दधाति ॥ ५ ॥

४२४. स घा तं वृषणं रथमधि तिष्ठाति गोविदम्।
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्र चिकेतति
योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ६ ॥ (ऋ. १।८२।४)

गोतमो राहूगण ऋषिः। इन्द्रो देवता।

स घ खलु परमात्मा वृषणं भक्त्या भगवत्तर्पकं गोविदं शास्त्रज्ञं रथं रमणस्थानमात्मानं तमधितिष्ठति अधितिष्ठतु। यो हारियोजनं हरयोमनुस्या ज्ञानिनो योज्यन्ते यत्र तद्धारियोजनं पूर्णं पात्रं रक्षकं स्थानं मोक्षरूपं हे इन्द्र परमात्मन् चिकेतति जानाति तदर्थं हे इन्द्र परमात्मंस्ते तव हरी प्रसिद्धे वात्सल्यकारुण्ये नु क्षिप्रं योजय ॥ ६ ॥

४२५. अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन
इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ७ ॥ (ऋ. ५।६।१)

वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः। अग्निर्देवता।

तमग्निं व्यापकं परमात्मानं मन्ये पूजयामि यो वसुः सर्वेषां वासकोस्ति। धेनवो वाचो वेदरूपा भक्तानां स्तुतिरूपाश्च यमस्तं गृहरूपं यन्ति प्राप्नुवन्ति। यमुद्दिश्य एता वाचः प्रवर्तन्त इत्यर्थः। अस्तमिति गृहनाम (निघ० ३।४।५)। आशवो वृत्त्या परमात्मानं व्याप्तवन्तोर्वन्तः संसारमार्गस्य पारं गतवन्तो यमस्तं यन्ति। नित्यासो नित्या वाजिनोर्चका जीवा यमस्तं यन्ति। हे अग्निशब्दाभिधेय परमेश्वर स्तोतृभ्योस्मभ्यमिषं ज्ञानधनमा भराहर ॥

४२६. न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम् । सजो षसो यमर्यमा मित्रो †नयति वरुणो अति द्विषः ॥ ८ ॥ (ऋ. १०।१२६।१)

अंहोमुग्वामदेव्य ऋषिः । विश्वे देवा देवताः ।

हे देवासो देवा यं भक्तजीवमर्यमा कामादीनामरीणां नियन्ता मित्रः स्निग्धो दयालुस्त्राणकर्ता वा वरुणोघहरणो वरेण्यः । त्रयः सजोषसः समानभावेन रक्षन्तो द्विषो द्वेष्टॄनति अतिक्रम्य नयति नयन्ति स्वधाम तं मर्त्यं नांहो पापं न दुरितं दुराचरणमष्ट व्याप्नोति । अशूङ् व्याप्तौ । परमात्मैव भिन्ननामभिर्भिन्नस्वरूपैश्च नानात्वमुपगच्छन्नानात्वेन बहुत्वेन वोपचर्यते ॥ ८ ॥

इति चतुर्थी दशतिः इत्यष्टमः खण्डः ।

●

४२७. परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥ १ ॥ (ऋ. ९।१०९।१)

अस्यां दशत्यां सप्तमस्य वशिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिरष्टमस्य वामदेवो गौतमः । अन्येषामृणत्रसदस्यू; देवता च सप्तमस्य मरुतोष्टमस्याग्निर्नवमस्य वाजिनोन्येषां पवमानः सोमः । परिप्रेति । द्विपदा विराट् छन्दः ।

हे सोम सामरस भक्तिरस स्वादुः संग्रहणीयस्त्वम् इन्द्राय परमैश्वर्याय मित्राय परमस्निग्धाय त्राणकर्त्रे पूष्णे पोषणकर्त्रे भगाय भजनीयाय परमात्मने परि परितः प्र धन्व प्रगच्छ । धन्वतिर्गत्यर्थः । द्वितीयार्थे चतुर्थी ॥ १ ॥

† नयन्ति ।

४२८. पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः । द्विषस्तरध्या ऋणया न †ईरसे ॥

(ऋ. ९।११०।१)

त्रिपदा अनुष्टुप् पिपीलिकामध्या ।

हे सोम भक्तिरस त्वं परि परित उ एव सु सुष्ठु वाजसातये । गतिप्रदाननाय सायुज्यप्रदानायेत्यर्थः । प्र धन्व प्रकर्षण गच्छ परमात्मानं प्रतीतियावत् । त्वं सक्षणिरुत्साहसम्पन्नोसि गतिशीलोसि वा । सक्षतिर्गति कर्मा (निघ० २।१४।३२) । अतो वृत्राणि पापानि सायुज्यनिरोधकानि कर्माणि परि प्र परितः प्रधर्षय । उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः । द्विषो द्वेष्टॄञ् शत्रून् तरध्यै तरीतुं हन्तुं त्वं ऋणया न ऋणया इव ऋणान् घातकान् यातोति । शत्रुघातक इव ईरसे सर्वतः प्रचरसि ॥ २ ॥

४२९. पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥ ३ ॥ (ऋ. ९।१०९।४)

द्विपदा विराट् छन्दः ।

हे सोम सामरस भक्तिरस महान्तं परमात्मनं प्रापयसीति । त्वं महानसि । समुद्रोसि । उन्दी क्लेदने । समुन्दनशीलोसि । हृदयं भक्तानामुनत्सीति । देवानामिन्द्रियाणां विश्वा विश्वानि धाम धामानि अभि पवस्य सर्वाण्येवेन्द्रियाणि पवित्राणि कुरु ॥ ३ ॥

४३०. पवस्व सोम ‡महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥ ४ ॥ (ऋ. ९।१०९।१०)

---

† ईयसे । ‡ क्रत्वे ।

द्विपदा विराट्छन्दः ।

हे सोम भक्तिरस महे महते दशायोद्देश्यपूर्तिकुशलाय धनाय भक्तिधनाय ज्ञानधनाय वा परमेश्वररूपधनाय वा अश्वो न अश्व इव निक्तः शुद्धो वाजी वाजो गतिः परमं पदमितियावत् । तद्वानिव त्वं पवस्वास्मानिति शेषः ॥ ४ ॥

४३१. इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कवि-
भंगाय ॥ ५ ॥ (ऋ. ९।१०९।१३)

द्विपदा विराट् छन्दः ।

चारू रमणीयो हृदयानां, कविः कवनकुशल इन्दुर्यज्ञो भक्तियज्ञः । इन्दुरिति यज्ञनाम । न हि यज्ञः कवनकुशलो भवति । भक्तैर्यत्तत्र गीयते तदेवास्मिन्नुपचर्यते । अपां जलानामुपस्थे समीपे नदीनां तटेष्वित्यर्थः । मदाय हर्षाय भगाय ऐश्वर्याय च भवति । शान्तं हि जलं शान्तं च जलतटम् । तत्राचरिता भक्तिर्महत आनन्दाय भवति । शान्त्या समुपासिता सा भगाय भगवत्प्राप्तये च भवतीति भावः । स इन्दुर्भक्तियज्ञोस्मान् पविष्ट पुनीयात् ॥५॥

४३२ अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥ ६ ॥
(ऋ. ९।११०।२)

त्रिपदा अनुष्टुप् पिपीलिकामध्या ।

हे सोम सामरस भक्तियज्ञ सुतमनुष्ठितं त्वा त्वामनु अनुलक्ष्य मदामसि वयं माद्यामः प्रसीदामः । महे महते समर्यराज्ये समर्यराज्याय सम् श्रेष्ठानामर्याणां मनुष्याणां राज्याय राज्यपालनाय पुरुषोत्तमानभिरक्षितुमित्यर्थः । हे पवमान हृदयानां पवित्रकर्तस्त्वं

वाजान्प्रगतिशीलान्भक्तानभि अभिलक्ष्य प्र गाहसे प्रकर्षेण गच्छसीत्यर्थः ॥ ६ ॥

४३३. क ईं व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या
अथा स्वश्वाः ॥ ७ ॥ (ऋ ७।५६।१)

व्यक्ता विशेषेण कान्तियुक्ताः । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । सनीडा एकावासाः रुद्रस्य परमात्मनः । रु शब्दे । शब्दायत इव हि स स्वकीयान् भक्तान् । रोदयतीति वा । रोदयति हि स दुष्टान् दण्डप्रदानेन । मर्या मनुष्या अथ स्वश्वाः शोभनं परमात्मानमश्नुवानाः परस्मिन्नात्मनि लीना इत्यर्थः । ईम् इमे के ? इमेति-प्रकाशवन्त इति । भगवद्भक्तान्समवेतान्भगवद्ध्याने व्यापृतान् दृष्ट्वा केषांचिदाश्चर्यवचनमेतत् ॥ ७ ॥

४३४. अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदि-
स्पृशम् । ऋध्यामा त ओहैः ॥ ८ ॥ (ऋ. ४।१०।१)

पदपङ्क्तिश्छन्दः ।

हे अग्ने प्रकाशस्वरूप परमात्मन् अद्य वयं तं प्रसिद्धं भद्रं कल्याणस्वरूपं हृदिस्पृशं मनसैव वेदितव्यं ते त्वाम् । छान्दसो व्यत्ययः । ओहैर्वोढृभिः स्तोमैः स्तोत्रैर्ऋध्यामः समर्धयामः । अश्वं न अश्वमिव । यथाश्वमश्वारोहा मधुरैर्वचोभिर्वर्धयन्ति । क्रतुं न क्रतुमिव च । कर्मणोपि यथा वेदमन्त्रैः स्तोमैश्च क्रतुं यागं वर्धयन्ति तद्वत् ॥ ८ ॥

४३५. आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्मं देवस्य
सवितुः सवम् । स्वर्गां अर्वन्तो जयत ॥ ९ ॥
(नास्ति ऋग्वेदे)

मिघा द्विपदा विराट् छन्दः ।

पुर उष्णिक् छन्दः ।

वाजिनां स्तुतिः । वाजिनो ज्ञानभक्तिरूपधनबलवन्तो मर्या मनुष्याः सवितुः सर्वोत्पादकस्य देवस्य परमात्मनः परमात्मसंबन्धि बलवत् सवं ज्ञानं सान्निध्यं वा आ समन्तत आविर् अग्मम् आविरगमयन् आविर्भावयन्तीतिभावः पुरुषवचनव्यत्ययः । अर्वन्तः परमात्मानं प्रति गच्छन्तस्तं ध्यायन्त इत्यर्थः । ते स्वर्गां स्वर्गं महासुखं मोक्षं जयत जयन्ति ॥ ९ ॥

४३६. पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो †महाँ अवीना-
मनु पूर्व्यः ॥ १० ॥ (ऋ. ९।१०९।७)

द्विपदा विराट् छन्दः ।

हे सोम सामरस भक्तियज्ञ द्युम्नी यशस्वी । द्युम्नमिति यशोनाम । द्युम्नं द्योततेर्यशोवान्नं वा इति यास्कः । सुधारः सुशोभना धा परम्परा यस्य एवं भूतः । अवीनां जगतस्त्रातॄणां साधनानां महान् । पूर्व्यः पुरातनश्च त्वमसि । स त्वमस्माननु पवस्व पुनीहि ॥ १० ॥

इति पञ्चमी दशतिः । इति नवमः खण्डः ।

●

४३७. विश्वतोदावन्विश्वतो न आ भर यं त्वा
शविष्ठमीमहे ॥ १ ॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

अस्यां दशत्यां सप्तमस्य संवर्त आङ्गिरस ऋषिरन्येषां त्रसदस्युः । षष्ठस्य विश्वेदेवा देवताः सप्तमस्य चोषाः । अन्येषामिन्द्र । सर्वत्र द्विपदा विराट् ।

---

† महामवीनामनु ।

हे विश्वतोदावन् सर्वतोदानशील परमात्मँस्त्वं विश्वतः सर्वतो नोस्माना भर आपूरय। त्वं कः? यं शविष्ठमतिशयेन बलवन्तं त्वा त्वामीमहे वयमुपगच्छामः ॥ १ ॥

४३८. एष ब्रह्म य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥

(नास्ति ऋग्वेदे)

य ऋत्विय ऋतुः कालः सामयिकः कोपि, समये समये य आहूयते स ब्रह्मा परमात्मैव। इन्द्र इति नामापि तस्यैव श्रुतः प्रख्यातः। तं गृणे स्तौमि ॥ २ ॥

४३९. †ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये
हन्तवा उ ॥ ३ ॥ (ऋ. ५।३१।४)

ब्रह्माणो ब्रह्मज्ञा इन्द्रं परमात्मानमर्कैः स्तोत्रैर्महयन्तः पूजयन्तस्तमवर्धयन्, अन्येषामपि मनसि तस्य प्रतिष्ठामस्थापयन् वर्धयन्ति स्थापयन्ति वा। किमर्थम्? अहये मोक्षाय। अहिर्मोक्षः। न हीयते इति। द्वितीयार्थे चतुर्थी। मोक्षं हन्तवै हन्तुं गन्तुम्। उर्निश्चयार्थकः ॥ ३ ॥

४४०. अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत
द्युमन्तम् ॥ ४ ॥ (ऋ. ५।३१।४)

हे पुरुहूत! अनवो मनुष्याः। अनन्ति जीवन्ति परोपकारायात्मस्वरूपलाभाय चेति। ते तवाशुगमनाय रथं रमणीयं स्थानं हृदयकमलं तक्षुः ततक्षुः पापानि संतक्ष्य-संतक्ष्य निर्मलं चक्रुर्भवताः।

---

† ऋग्वेदे तु, "अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम्। ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ ॥ (५।३१।४) इत्येवमेको मन्त्रः।"

रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वास्याद्विपरीतस्य, रममाणेस्मिन् तिष्ठतीति वा। रपतेर्वा रसतेर्वेति निरुक्ते (९।११)। त्वष्टा त्वष्टारो निर्मातारो निर्माणकुशलास्ते मनुष्या भक्ता ज्ञानिनो वा तव द्युमन्तं प्रकाशवन्तं वज्रं ज्ञानरूपं निग्रहानुग्रहसाधनं च तक्षुर्निर्ममुः। यद्यपि न परमात्मनो ज्ञानं केनापि निर्मितं तस्य नित्यत्वात्। नापि तन्निग्रहानुग्रहसाधनमपि शुद्धत्वादुदासीनत्वाच्च। तथापि भक्ताः कल्पयन्ति परमात्मानेन कर्मणा प्रसन्नः सन्ननुगृह्णाति जीवम्, निगृह्णाति चानेनाप्रसन्नः सन्निति॥ ४॥

४४१. शं पदं मघं रयीषिणो न काममव्रतो हिनोति
न स्पृशद्रयिम्॥ ५॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

रयीषिणो मोक्षधनकामा हि मघं महनीयं शं कल्याणास्पदं पदं परधामेत्यर्थः। हिन्वन्ति गच्छन्ति। अव्रतः परमात्मप्राप्तिसंकल्पशून्यो जनो न काममत्यन्तं तत्पदं हिनोति गच्छति। न च रयिं मोक्षधनं मोक्षपदं स्पृशत् स्पृशति॥ ५॥

४४२. सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा देवा
अरेपसः॥ ६॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

विश्वधायसो विश्वपालिका गावो धेनवः सदा शुचयः पवित्राः सन्ति। देवास्तथाभूता भक्ता दिव्यगुणविशिष्टा जना अपि अरेपसो निष्पापाः सन्ति। उभयत्र न कश्चन दोषो द्रष्टव्य इति भावः॥ ६॥

४४३. आ याहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं
यदूधभिः॥ ६॥ (ऋ. १०।१७२।१)

हे उषः उषःकाल वनसा वननीयेन तेजसा सह आ याह्यागच्छ। गावोस्मद्वाचो यद् यस्मात् ऊधभिरूधोभी रात्रिभिः (निघ०-

१।७।२०)। सह वर्तनि तव प्रत्यावर्तनं सचन्त सचन्ते सेवन्ते प्रतीक्षन्त इति भावः। प्रायेण प्रातरेवोपासनाकालः ॥ ७ ॥

४४४. उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं
धीमहे त इन्द्र ॥ ८ ॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

प्रक्षे प्रकृष्टा क्षा भूमिर्यत्र तत्र निवासस्थाने मधुमति माधुर्ययुक्ते त्वयि उप क्षियन्तो निवसन्तस्त्वां ध्यायन्त इत्यर्थः। हे इन्द्र परमेश्वर वयं ते तव रयिमैश्वर्यं धीमहे ध्यायामः प्रार्थयामह इत्यर्थः ॥ ८ ॥

४४५. अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति। श्रुतो
युवा स इन्द्रः ॥ ९ ॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

स्वर्काः शोभनमन्त्रयुक्ता मरुतो मनुष्या अर्कं परमात्मानमर्चन्ति पूजयन्ति। "अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति। अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति संवृत्तः कटुकिम्ने"ति यास्कः (निरु० ५।४) श्रुतः श्रुति श्रुतः प्रसिद्धः स युवा सर्वेषु पदार्थेषु मिश्रितः संगतो व्यापक इन्द्रः परमात्मा आ स्तोभति सर्वमास्तभ्नाति। ष्टुभु स्तम्भे। सर्वं नाशयतीति वा। सौत्रः स्तम्भुधातुः ॥ ९ ॥

४४६. प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं
गायत यं जुजोषते ॥ १० ॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

वो यूयं वृत्रहन्तमायातिशयेन पापानां हन्त्रे विप्राय परिपूर्णायेन्द्राय परमात्मने गाथं गाथासमूहं स्तोत्रसमूहम्। गाथेति वाङ्नाम (निघ० १।११।३७)। गायत भजत। यं जुजोषत इच्छति ज्ञानिसम्प्रदायः ॥ १० ॥

इति षष्ठी दशतिः इति प्रथमः खण्डः

४४७. अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाण्न सुमद्रथः ॥†

(ऋ. ८।५६।५)

पृषध्रः काण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । दशमे एकपदा अन्यत्र द्विपदा विराट् छन्दः ।

सुमत् स्वयमिति यास्कः । (निरु० ६।२२) स्वयंरथः स्वयं-रमणशीलो गतिशीलो वा चिकितिर्ज्ञानवाग्निः प्रकाशस्वरूपश्च परमात्मा सर्वं जानाति सर्वज्ञो हि सः । हव्यवाड् न लौकिकोग्नि-रिव । यथा लौकिकोग्निरपि प्रकाशशीलस्तद्वत् ॥ १ ॥

खिलसूक्तेष्वष्टमं सूक्तमिदम् । योग्निः परमात्मा चिकितुश्चेत-नावन्तम् । विभवितव्यत्ययः । लाभालाभहिताहितविचारकुशलं भक्तमचेति चिन्तयति न विस्मरतीति भावः । कभूतः सः ? हव्य-वाड् भक्तानां शरीररक्षणसामग्रीणां वोढा । सुमद्रथः सुमत्स्वयमिति निरुक्तम् । स्वयंगतिशीलः । भक्तानुद्दिश्य स्वयं तान्प्रति गच्छति । अथवा मननं मत् । शोभनं मद्यस्य स सुमत् । समुद्रथो यस्य सः । रथो रमणस्थानम् । शुद्धविचारवत्येव परमात्मा रमत इति भावः । स च शुक्रेण वीर्यवता शोचिषा तेजसा महता तेजसेत्यर्थः । बृहत् बृहन्सन् सूरः सुष्ठु दाता ईर्रयिता वा भवन् पृथिव्यामितिशेषः । अरोचत रोचते । सूर्यो व्यापकश्च भवन् दिवि द्युलोकादिषु चारो-चत रोचते प्रकाशते ।

४४८. अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो वरूथ्यः ॥ २ ॥

(ऋ. ५।२४।१)

बन्धुर्ऋषिः । अग्निर्देवता ।

---

† अचेत्यग्निश्चिकितुर्हव्यवाट् स सुमद्रथः । अग्निः शुक्रेण शोचिषा बृहत्सूरो अरोचत दिवि सूर्यो अरोचत = इत्यृक्पाठः ।

हे अग्ने परमात्मँस्त्वं नोस्माकमन्तमोन्तिकतमस्त्राता रक्षकः शिवः कल्याणकर उत वरूथ्योत एव वरणीयो भजनीयश्च भुवः भव ॥ २ ॥

४४९. भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम् ॥

(नास्ति ऋग्वेदे)

सुबन्धुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

भगो न धनमिवास्माकं सूर्य इव वा प्रकाशकः स चित्र आश्चर्यं करोग्निः परमात्मा महोनां मह्यानां पूज्यानां भगवद्भक्तानां रत्नं धनं मोक्षरूपं दधाति । लौकिका हि धने रमन्ते । महान्तो महात्मानस्तु परमात्मनि रमन्ते । आत्मारामास्ते भवन्ति । अतस्तेषां रत्नमात्मैव ॥ ३ ॥

४५०. विश्वस्य प्र स्तोभ पुरो वा सन्यदि वेह
तूनम् ॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

बन्धुः श्रुतबन्धुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

हे परमैश्वर्यं परमेश्वर सन्सत्यस्वरूपस्त्वं पुरः पूर्वं वा अपि विश्वमिदमस्तभ्ना यदि वा अथ च इहेदानीमपि नूनं खलु विश्वमिदं प्र स्तोभ स्तभान ॥ ४ ॥

४५१. उषा अप स्वसु†ष्टमः सं वर्तयति वर्तनिं सु-
जातता ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।१७२।४)

संवर्त आङ्गिरस ऋषिः । उषा देवता ।

उषाः प्रातःकालः स्वसुर्भगिन्या रात्रेस्तमोन्धकारमप अपगमयति । उषा रात्रिश्च परस्परं स्वसारौ । अस्तमनसमये रात्रिं जन-

† स्त्व ।

यति भगवान्भानुरुदयनसमये च भगवतीमुषसम् । समानजनकजन्यत्वाद्द्वयोः स्वसृत्वम् । सुजातता स्वस्याः सत्कुलप्रभवत्वं च वर्तनिं स्वमार्गं संवर्तयति निर्मातीति भावः । न ह्युषा उषा एव तिष्ठति । अग्रगामिनी सा स्वामहोरूपेण परिणमयतीतिभावः ॥

४५२. इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे च
देवाः ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।१५७।१)

भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवन ऋषिः । विश्वे देवा देवताः ।

इमा इमानि भुवना भुवनानि इन्द्रः परमात्मा विश्वे सर्वे च देवाश्चारित्रवन्तो महात्मानो नु क्षिप्रमस्माकं कं शिवं सीषधेम साधयन्तु । छान्दसो व्यत्ययः ॥ ६ ॥

४५३. विस्रुतयो यथा पथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥
(नास्त्यृग्वेदे)

कवष ऐलूष ऋषिः । विश्वे देवाः ।

हे इन्द्र परमात्मन् यथा येन प्रकारेण विस्रुतयो विविधाः प्रवाहाः पथा मार्गेण यन्ति समुद्रमिति शेषः । तथा रातयः सर्वाणि धनानि ज्ञान-भक्ति-चारित्र-रूपाणि त्वत्त्वत्तोऽस्मान्यन्तु प्राप्नुवन्तु ॥ ७ ॥

४५४. अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः
सुवीराः ॥ ८ ॥ (ऋ. ६।१७।१५)

भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

हे परमेश्वर ! अया अनया भक्तया पवित्रबुद्धया देवहितं महात्मनां रुचिकरं देवस्य जीवस्य वा हितं हितकरं वाजं धनमन्नं वा भक्तिरूपं वा सुवीराः शोभनपुत्रपौत्रादिमन्तः सन्तः शत-

हिमाः शतं वर्षाणि यावत् सनेम संभजाम मदेम माद्याम च वयम् ॥ ८ ॥

४५५. ऊर्जा मित्रो वरुणः पिन्वतेडाः पीवरीमिषं
कृणुही न इन्द्र ॥ ९ ॥ (शु. य. ३६।८)

आत्रेय ऋषिः । विश्वे देवा देवताः ।

हे इन्द्र परमात्मन् मित्रः स्निग्धो वरुणो वरणीयस्त्वमिडाः सर्वा भूमयश्चास्मान् पिन्वत तर्पयत । किं च त्वमूर्जा बलेन पीवरीं महतीमिषं सम्पदं भक्तिरूपां मुक्तिरूपां वास्माकं कृणुहि कुरु ॥

४५६. इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥ १० ॥ (नास्त्यृग्वेदे)

वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषि । इन्द्रो देवता । एकपदाष्टाक्षरा गायत्री ।

इन्द्रः परमेश्वरो विश्वस्य सर्वस्य हृदये राजति विराजते ॥

इति सप्तमी दशतिः । इत्येकादशः खण्डः

४५७. †त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्म-
‡स्तृम्पत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं *यथावशम् ।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं
सश्चद्देवो देवं §सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥१॥
(ऋ. २।२२।१)

गृत्समदः शौनक ऋषिः । इन्द्रो देवता । अष्टिश्छन्दः ।

† कद्रू । ‡ तृपत् । * यथावशत् । § सत्यमिदं सत्य इन्दुः ।

त्रिकद्रुकेषु क्रन्दन्तीति कद्रवः आह्वानकर्तारो रोदितारो वा। कद्रव एक कद्रुकाः। त्रयः कद्रुकास्त्रिकद्रुकास्तेषु। कद्रुका इति ज्ञानि-भक्त-दीनानां समुदितानां संज्ञा। दिक्संख्ये संज्ञायामिति समासः। अथवा त्रयः कद्रुका ज्ञानि-भक्त-दीना येषु तेषु भक्ति-यज्ञेषु। एते त्रय एव भक्तिपरिचारका नान्ये। तेषु त्रिषूपस्थिते-षूपासनावसरे तुविशुष्मो महाबलो महिषः पूज्यो महत्तमो वा परमात्मा विष्णुना विष्णौ यज्ञे। सप्तम्यर्थे तृतीया वैदिकी। विष्णुरितियज्ञनाम (निघ० ३।१७।१२)। सुतमनुष्ठितं यवाशिर-मज्ञाननाशिनम्। यु मिश्रणामिश्रणयोः। यौतीतियवोज्ञानम्। अज्ञानं हि मिथ्या वस्तु मिश्रयति सत्यं च पृथक्करोति। अतस्मिंस्तद्बुद्धिमद्धि तद्भवति। यवमज्ञानमा शृणाति इति यवाशिरस्तं यवाशिरमज्ञाननाशकं सोमं सामरसं भक्तिरसं यथा-वशं यथेच्छमपिबत्तृम्पत् अतृम्पच्च। पिबति तृम्पति च। स ममाद माद्यति हृष्यति। ईमिति पादपूरणार्थम्। किमर्थम्? महि महत् पूज्यमुत्कृष्टं वा कर्म कर्तवे कर्तुम्। मोक्षदानरूपं सर्वोत्कृष्टं लोकातिशायि कर्म कर्तुमित्यर्थः। स सत्य इन्दुः भक्तयैश्वर्यो ज्ञानैश्वर्यो वा देवः स्तोता सत्यो जीवो महास् महान्तमुरुं विस्तीर्णं सत्यं त्रिकालाबाधितमेनमिन्द्रं परमात्मानं सश्चद् गच्छति स सेवते। सश्चतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।४१)। अत्र ब्रह्मण इव जीवस्यापि सत्यत्वं प्रतिपादितम् ॥ १ ॥

४५८. अयं सहस्रमानवो दृशः कवीनां मतिर्ज्योति-
विधर्म। ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयदरेपसः
सचेतसः स्वसरे मन्युमन्तश्चिता गोः ॥ २ ॥

(नास्ति ऋग्वेदे)

गौराङ्गिरस ऋषिः। सूर्यो देवता। अतिजगती छन्दः।

सहस्रमानवः सहस्राणि मानवा ज्ञानिनो मनुष्या वा यस्य सन्ति, सर्वेषां चेतनानामुपलक्षणविधयाचेतनानां च धारको रक्षको वा कवीनां क्रान्तदर्शिनां विदुषां दृशो दृश्यो मतिर्ज्ञानरूपो ज्योतिरखिला विद्यातमःपटलविचालनपटुर्विधर्मं दयादाक्षिण्यादिविविधधर्मशाली धर्मराहित्यवान् वा ब्रध्नः सर्वेषामुत्पन्नानामुत्पत्स्यमानानां च भौतिकपदार्थानां मूलं कारणमयं सूर्यः सर्वेषां हृदयाकाशे सरणशीलः परमात्मा समीचीः सम्यगञ्चनशीला उषसोज्ञानदाहिका वृत्तीर्बुद्धीर्वा समैरयत्समीरयति भक्तानुद्दिश्य। तेन सर्वं एवोपासका अरेपसो निष्पापाः सचेतसः संज्ञानवन्तः स्वसरे स्व आत्मा सरति उपसरत्युपगच्छति यं तस्मिन्परमात्मनि मन्युमन्तो ज्ञानवन्तो गोर्विद्यया चिता उपचिताश्च भवन्ति ॥२॥

४५९. एन्द्र याह्युप नः परावतो नायमच्छा विदथा-
नीव सत्पति †रस्ता राजेव सत्पतिः । हवामहे
त्वा प्रयस्वन्तः ‡सुतेष्वा पुत्रासो न पितरं
वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये ॥ ३ ॥

(ऋ. १।१३०।१)

परुच्छेपो दैवोदासिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । अत्यष्टिश्छन्दः ।

हे इन्द्र परमात्मन् नोस्माकमुप समीपमा याह्यागच्छ। कस्मात्? परावतो दूरदेशात्। यद्यपि सर्वव्यापकस्य तस्य नास्ति किमपि दौर्यं तथापि तदस्त्येवास्मदज्ञानकृतमितिभावः। किं कर्तुम्? अयमिमम् प्रथमा द्वितीयार्थे। भक्तियज्ञप्रदेशमच्छाभिमुख्येन प्राप्तुम्। कः कानीव? सत्पतिः सतां योग्यप्रजानां पती राजा अस्ता इव। अस्तं गृहम् (निघ० ३।४।५) यथाहूतः

† रस्तं । ‡ सुतेसचा ।

कश्चित्सत्पतो राजा कस्यचिद्गृहं प्राप्नोति तद्वत्। सुतेषु भक्ति-यज्ञेष्वनुष्ठितेषु सत्सु प्रयस्वन्तो भक्तिधनवन्तो वयं त्वा त्वां हवामह आह्वयामः। प्रय इति अन्ननाम (निघ० २।७।४) तत्र दृष्टान्तः पुत्रासः पुत्रा वाजसातये अन्नावाप्तये पितरं न जनकमिव। यथा वा वाजसातये प्रजा मंहिष्ठं महनीयं राजानमिव ॥ ३ ॥

४६०. तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधा-
नमप्रतिष्कुतं †श्रवांसि भूरि। मंहिष्ठो गी-
र्भिरा च यज्ञियो ‡ववर्त राये नो विश्वा
सुपथा कृणोतु वज्री ॥ ४ ॥　　(ऋ. ८।९७।१३)

रेभः काश्यप ऋषिः। इन्द्रो देवता। अतिजगती छन्दः।

मघवानं ज्ञानधनवन्तमुग्रं कामादिशत्रूणामसह्यं सत्रा सत्यमप्रतिष्कुतमधर्षणीयम्। स्कुञ् आप्रवणे। निष्ठा। (निघ० ४।३।६) भूरि भूरीणि बहूनि श्रवांसि यशांसि पतितोद्धाररूपोदारकृत्यजन्यानि। श्रवः प्रशंसेति निरुक्ते (४।२४)। दधानं धारयन्तं तं प्रसिद्धमिन्द्रं सर्वैश्वर्यं परमात्मानं जोहवीमि आह्वयामि। मंहिष्ठः पूज्यतमो गीर्भिः स्तोत्ररूपाभिः स्तुतो यज्ञियो भक्तियज्ञसम्बन्धी च स परमात्मा ववर्त आगच्छतु। वज्री रक्षकश्च स नोऽस्माकं राये धनाय भक्तिरूपाय ज्ञानरूपाय च विश्वानि सर्वाणि सुपथा सुपथानि कृणोतु च ॥ ४ ॥

४६१. अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध आ नु
*त्यच्छर्धो दिव्यं वृणीमह इन्द्रवायू वृणीमहे।
यद्ध क्राणाऽविवस्वते नामा सन्दाय नव्यसे।

† शवांसि।　　‡ ववर्तद्राये।　　* तच्छर्धो।

§ विवस्वति नाभा संदायि नव्यसा।

अध†प्र नूनमुप यन्ति धीतयो देवाँ‡अच्छ न
धीतयः ॥ ५ ॥ (ऋ. १।१३९।१)

परुच्छेपो दैवोदासि ऋषिः । विश्वेदेवा देवता । अत्यष्टिश्छन्दः ।

पुरः पुरस्तादुपस्थितमग्नि परमात्मानं धिया मनसा दधे धारयामि मनसि स्थापयामीत्यर्थः । त्यत् तत् दिव्यमलौकिकं स्तुत्यं शर्धो बलं नु क्षिप्रमा वृणीमहे सर्वथा याचामहे । कं प्रति ? इन्द्रवायू वृणीमहे । इन्द्रं परमसमर्थं वायुं सर्वगं च तं परमात्मानं प्रत्येव । यद्यस्मान्नाभा नाभौ पृथिव्यां पृथिव्या एकस्मिन्कस्मिश्चिद्भागे वा सन्दाय बद्ध्वा हस्तौ नव्यसे नवतराय विवस्वते प्रकाशस्वरूपाय क्राणा कुर्वाणोस्मि भक्ति, ततस्तद्दिव्यं बलं वृण इति सम्बन्धः । अध अथ नूनं धीतयः कर्माणि भक्तिरूपाणि । धीतिभिः कर्मभिरिति निरुक्तम् (२।२४; ११।१६) प्रज्ञा वा (निरु० १०।४१) । प्र उप यन्ति प्रकर्षेणास्माकं समीपे प्राप्नुवन्ति । दृष्टान्तमाह । धीतयो भक्तिकर्माणि अच्छ आभिमुख्येन देवान् न विदुषो ब्रह्मविदुष इव । अस्तु श्रौषट् इदं प्रार्थनावचः श्रुतं भवतु ॥

४६२. प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते
गिरिजा एवयामरुत् । प्र शर्धाय प्र यज्यवे
सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय
शवसे ॥ ६ ॥ (ऋ. ५।८७।१)

एवयामरुदात्रेय ऋषिः । मरुतो देवताः । अतिजगती छन्दः ।

एवयामरुत् । षष्ठ्या लुक् । एवयामरुत ऋषेर्गिरिजा वाच्युत्पन्ना मतयो बुद्धयः सामर्थ्यात्स्तुतयो वस्तुभ्यम् । वचनव्यत्ययः ।

† प्र सु न उपयन्तु । ‡ अच्छा ।

मरुत्वते मनुष्यस्वामिने महेमंहते विष्णवे सर्वव्यापकाय परमात्मने प्र यन्तु गच्छन्तु प्राप्नुवन्तु। कथंभूताय विष्णवे ? प्र शर्धाय प्रकृष्टयशसे प्रकृष्टबलाय वा। शर्धो बलम् (निघ० २।९।७)। प्र यज्यवे प्रकर्षेण यष्टव्याय सुखादये खादिरलङ्कारविशेषः। सुष्ठु-खादये। शोभनालंकारवते। निर्मायितैव तस्यालंकारः। अथवा खादिराहारः। शोभानाहारवते। भक्तैरुपासिता सती मेधैव तस्याः शोभन आहारः। तवसे बलवते। तवो बलम् (निघ० २।९।५)। भन्ददिष्टये भन्दनमर्चनमेवेष्टिर्यागो यस्य तस्मै। भन्दतिरर्चतिकर्मा (३।१४।१९) धुनिव्रताय दुष्टानां धूननमेव कर्म यस्य तस्मै शवसे सर्वव्यापकाय। शवतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।१७) ॥ ६ ॥

४६३. अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि
तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः। धारा
पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः। विश्वा
यद्रूपा परियात्स्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋ-
क्वभिः ॥ ७ ॥   (ऋ. ९।१११।१)

अनानतः पारुच्छेपिर्ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। अत्यष्टिश्छन्दः।

अया अनया हरिण्या हारिण्या रुचा कान्त्या विश्वा विश्वानि सर्वाणि द्वेषांसि द्वेषान् द्विष्टान्वा पुनानो दूरीकुर्वन् सयुग्वभिः स्वसंयुक्तरश्मिभिः सूरो न सूर्य इव भक्तियज्ञोयं तरति तानेव। यथा सूर्यस्तमांसि नाशयति तथैव भक्तियज्ञः कामदीन्नाशयति। पृष्ठस्य पृथिव्यां उपरि स्थितस्य भक्तियज्ञस्य धारा धारया परम्प-

† त्यु।

रया अविच्छिन्नत्वेन अरुषः प्रसन्नो हरिः परमात्मा। हरति पापानि। रोचते दीप्यते। यद्यश्च हे परमात्मँस्त्वं विश्वा विश्वानि रूपा रूपाणि रूपवन्ति वस्तूनीत्यर्थः। सप्तास्येभिः सप्तास्यानि रश्मिरूपाणि येषां तैः सूर्यैः सूर्यसदृशैरित्यर्थं। ऋक्वभिस्तेजोभिः परियासि परितो गच्छसि व्याप्नोषीत्यर्थः। एकम् ऋक्वभिरिति-पदमदृष्टजननार्थम् ॥ ७ ॥

४६४. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चा-
मि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्। ऊर्ध्वा
यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिर-
मिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः ॥ ८ ॥

(शु० य० ४।२५ अ० ७।१४।१,२)

नकुल ऋषिः। सविता देवता। अत्यष्टिश्छन्दः।

त्यं तं सवितारं जगदुत्पादकं परमात्मानमभि अर्चामि सम्यक्पूजयामि मनसा वाचा कर्मणा च। किंभूतं सवितारम्? ओण्योर्द्यावापृथिव्यो। ओण्योरितिद्यावापृथिवीनाम। (निघ० ३।३०।१५)। देवं क्रीडन्तम्। कविक्रतुं कविः क्रान्तिदर्शिनी क्रतुः प्रज्ञा यस्य तम्। सत्यसवं सत्यः सवो यस्य तम् सवनं सवः प्रसवः। जगदुत्पत्तिरूपः प्रसवायस्य सत्य इतिभावः। नह्यत्र सत्यं त्रिकालाबाधितं ग्राह्यम्। प्रत्यक्षतो विरोधात्। नह्युत्पन्नं किञ्चिन्नित्यं भवितुमर्हति। जगदुपत्तिस्तु सहस्रकृत्वो वेदे महारवेणोद्घोषिता। रत्नधां रत्नं रमणीयं वस्तु ज्ञानभक्तिसदाचारादिरूपं दधाति तथाविधम्। अभि प्रियं सर्वतः प्रियं प्रियकर्माणं वा। यस्योद्ध्वा सर्वोत्कृष्टा भा दीप्तिरमतिरमानामेया सवीमनि, अन्तःकारणे ज्ञाने वा। सूयते इति सवीमन्। औणादिक इमनिच्। दीर्घत्वं छान्दसम्। अदिद्युतद्

द्योतते । इत्थंभूतो हिरण्यपाणिः रमणीयरक्षो रमणीयव्यवहारो वा सुक्रतुः सत्कर्मा सत्प्रज्ञो वा कृपा सामर्थ्येन स्वः सुखं मोक्षरूपममिमीत निर्मिमीते ॥ ८ ॥

४६५. अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं
सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य
ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा । घृतस्य
विभ्राष्टिमनु †शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य
सर्पिषः ॥ ९ ॥ (ऋ. १।१२७।१)

परुच्छेपो दैवोदासि ऋषिः । अग्निर्देवता । अत्यष्टिश्छन्दः ।

अहमग्निं सर्वश्रेष्ठं परमात्मानमीदृशं मन्ये । कीदृशम् ? होतारं जगत्प्रलयकर्तारम् । हु दानादनयोः । अथवा ह्वातारं सर्वेषां स्वसन्निधौ । दास्वन्तं परमदानिनं वसोर्वसुं वासयितारं रक्षणकर्तारमित्यर्थः । सहसो बलस्यात्मिकस्य सूनुं पुत्रम् । आत्मिकबलेनैव स प्राप्यते उत्पाद्यत इवेति भावः । अथवा बलस्य सूनुं सवितारमुत्पादकम् । जातवेदसं जातं जातं वेत्ति तथाभूतं जातवेदसं लब्धज्ञानं विप्रं न मेधाविनमिवेति । यः स्वध्वरः शोभनकर्मा देवो दिव्यगुणविशिष्ट ऊर्ध्वया श्रेष्ठया देवाच्या देवान्प्रत्यक्तया कृपा शक्त्या आजुह्वानस्य परमेश्वरे समर्पितस्य घृतस्य दीप्तस्य । घृ क्षरणदीप्त्योः । सर्पिषः प्रसरणशीलस्य चेतसः शुक्रशोचिषः उज्ज्वलज्वालस्य विभ्राष्टिमनु विभ्राजनतः पश्चात् स्वयं भ्राजत इत्यर्थः अनूपसर्गबलाद्योग्यक्रियालाभः ।

---

† वष्टि शोचिषा ।

४६६. तव त्यन्नयं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि-
प्र वाच्यं कृतम् । †यो देवस्य शवसा प्रारिणा
असुं रिणन्नपः । ‡भुवो विश्वम*भ्यदेवमो-
जसा §विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदे दिषम् ॥ १० ॥

(ऋ. २।२२।४)

गृत्समदः शौनक ऋषिः । इन्द्रो देवता । अष्टिश्छन्दः ।

हे नृतः सर्वेषां नर्तयितः स्वेच्छया सर्वेषां प्रवर्तयितः इन्द्र समर्थ परमात्मन् तव त्यत्तत् नर्यं नरोपकारकं प्रथमं मुख्यम् । प्रथम इति मुख्यनाम । प्रतमो भवतीतित यास्कः (नि० २।२२) । पूर्व्यं प्राथमिकं पूर्वभवं वा कृतं त्वयेतिशेषः । अपः कर्म दिवि द्युलोके विद्वद्वर्गे प्र वाच्यं प्रकर्षेण वर्णनीयमस्ति । (किं तत्कर्म ?) यस्त्वं शवसा बलेन संकल्पबलेनेत्यर्थः । देवस्य विषयेषु क्रीडतो मनसोसुं प्राणान् रिणन् अपः कर्म भक्तिरूपं अरिणाः प्र प्रैरयः । यश्च त्वं विश्वं सर्वमदेवं नास्ति पूज्यत्वेन देवः स्तुत्यः परमात्मा यस्य तं त्वदपूजकमोजसा बलेन संकल्पेनेत्यर्थः । अभि भुवः अभ्यभवः अभिभवसि । शतक्रतुर्बहुविधकर्मा स परमात्मा ऊर्जं बलं कामादीनामभिभावकं विदेल्लभेत । इषम् उ विदेत् धनमपि विदेल्लभेत । लब्धमेव बलं लब्धमेव धनमपि तस्य । न किमपि तेन लब्धव्यम् । लाभोक्तिश्च उपासकार्था । परमात्मा भक्तेभ्यस्तादृशं बलं भक्तिरूपं धनं च वितरतु येन क्षणमपि न स्यादितरच्चिन्तनम् ॥ १० ॥

इत्यष्टमी दशतिः । द्वादशः खण्डः

इत्यैन्द्रं काण्डं पर्व वा समाप्तम्

इति चतुर्थोध्यायः

† यद् । ‡ भुवद् । * भ्यादेव । § विदात् ।

अथ पावमानं काण्डम्

अथ पञ्चमोध्यायः

४६७. उच्चा ते जातमन्धसोदिवि †सद्भूम्या ददे ।
उग्रं शर्म महि श्रवः ॥ (ऋ. ९।६१।१०)

अस्यां दशत्यां सर्वत्र पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । ऋषयो निर्वेक्ष्यन्ते । उच्चा त इति । अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः ।

हे सोम भक्तियज्ञ ते तवान्धसोन्नस्यानन्दस्य जातं जन्मोच्चा उत्कृष्टम् । तच्च तमानन्दं दिवि द्युलोके देवानां मध्ये सत् सन्तमपि भूम्या भूमिरा ददे । भूमिशब्देन साधारणजना उच्यन्ते । यद्यपि त्वद्भक्तिजन्यानन्दानुभवो ज्ञानिनामेव तथापि साधारणजना अपि यथाकथञ्चित्तं लभन्ते । तज्जन्म कीदृशम्? उग्रं क्षणेनैव दोषनिवर्तकं शर्म सुखकारकं महि महनीयं महद्वा श्रवो यशःपूर्णम् ॥ १ ॥

४६८. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ १ ॥ (ऋ. ९।१।१)

मधुछन्दा वैश्वामित्र ऋषिः ।

हे सोम भक्तिरस इन्द्राय परमेश्वराय पातवे पानकर्मणे सुतोनुष्ठितस्त्वं स्वादिष्ठयातिशयेन स्वाद्वया मदिष्ठया अतिशयेन मादयित्र्या धारया पवस्य सर्वान् पवित्रान्कुरु ॥ २ ॥

---

† षद् ।

४६९. वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः।
विश्वा दधान ओजसा ॥ ३ ॥ (ऋ. ९।६५।१०)

भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वर्षिः ।

हे भक्तिरस ! ओजसा त्वदीयेन सामर्थ्येन विश्वा विश्वानि सर्वाण्यभिलषितानि भक्तेभ्यो दधानो धारयन्वृषा तर्पकश्च त्वं धारया विच्छेदाभावेन मरुत्वते भक्तप्रियाय भगवते मत्सर आनन्दप्रदः सन् पवस्व भक्तान् प्रति गच्छ। पवतिर्गतिकर्मा (निघ० २।१४।१०८) । मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः (निरु० २।५)॥

४७०. यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा ।
देवावीरघशंसहा ॥ ४ ॥ (ऋ. ९।६१।१९)

अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः ।

हे भक्तिरस यस्ते तव वरेण्यो वरणीयो देवावीर्भगवत्प्रापकोघशंसहा कामदीनामघानां निहन्ता मद आनन्दो विद्यते तेनान्धसा आध्यानीयेन स्पृहणीयेन सह पवस्व भक्तान् प्रति गच्छ ॥

४७१. तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः ।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥ ५ ॥ (ऋ. ९।३३।४)

त्रित आप्त्य ऋषिः ।

हे सोम भक्तिरस त्वय्यनुष्ठीयमाने सति तिस्रो वाच ऋग्यजुःसामाख्याः पश्यन्तीमध्यमावैखर्यो वा उदीरत उद्गच्छन्ति । ताश्च धेनवो भगवत्प्रीणयित्र्यो गावो वाचो मिमन्ति शब्दं कुर्वन्ति । मीमृ शब्दे । ततः प्रसन्नो हरिर्हरति पापानीति परमेश्वरः कनिक्रदच्छब्दमाश्वासनजनकं प्रियवत्सेत्यादिकं कुर्वाण एति सविधे उपासकानाम् ॥ ५ ॥

४७२. इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।
अर्कस्य योनिमासदम् ॥ ६ ॥ (ऋ. ९।६४।२२)

कश्यपो मारीच ऋषिः ।

हे इन्दो भक्तजीव । इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा (निरु० १०।४७)। मरुत्वते पार्षदसहितायेन्द्राय परमात्मने त्वं मधुमत्तमोतिशयेन मधुरो भवसि । अर्कस्यार्चनीयस्य परमात्मनो योनिं स्थानमासदमासत्तुम् । सप्तम्यर्थे द्वितीया । भाग्यशाली च भवसि । अर्को देवो भवति यदेन-मर्चन्ति (निरु० ५।४) ॥ ६ ॥

४७३. असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः ।
श्येनो न योनिमासदत् ॥ ७ ॥ (ऋ. ९।६२।४)

जमदग्निर्भार्गव ऋषिः ।

अप्सु बहुविधेषु कर्मसु दक्षः कुशलः परमात्मानं प्रापयितुं प्रवृद्धो वा गिरिष्ठा वाचि स्थितः परमेश्वरनामोच्चारणेन, असावुपस्थितोंशु जीवनाय कल्याणकारको भक्तियज्ञोसावि उदपादि मया भक्तेन । अंशुः शमष्टमात्रो भवति । अननाय शं भवतीति वा इति यास्कः (निरु० २।५)। श्येनो न श्येन इव शीघ्रगतिकोश्व इव स योनि-मन्तःकरणम् मिश्रयति तद् ध्यानेन परमात्मानम् । आसदद् हृदये आसीदति । श्येनः शंसनीयं गच्छति (निरु० ४।२४)। श्येन इत्य-श्वनाम (निघ० १।१४।२०) ॥ ७ ॥

४७४. पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥ ८ ॥ (ऋ. ९।२५।१)

दृढच्युत आगस्त्य ऋषिः ।

हे हरे सकलदोषापाकर्तर्भक्तिरस दक्षसाधन आत्मिकबलसिद्धि-

प्रदो मदो हर्षप्रदश्च त्वं देवेभ्यो भगवद्भक्तेभ्यो मरुद्भ्यो मनुष्येभ्यो वायवे प्राणेभ्यश्च पीतये पानाय तृप्तये वा । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । पवस्व भक्तान्प्रति गच्छ । आगते भक्तिरसे प्राणाः प्रसन्ना भवन्तीत्येव तत्पानम् ॥ ८ ॥

४७५. परि ¦स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत् ।
मदेषु सर्वधा असि ॥ (ऋ. ९।१८।१)

असितः काश्यपो देवलो वर्षिः ।

सोमो भक्तिरसः पवित्रे निर्दोषे मनसि परि अक्षरत् परिक्षरति । स्वानः सूयमान उत्पाद्यमानो गिरिष्ठा वाचि अपि भक्तानां स्थितो भवति । मदेष्वर्चकेषु । मदन्त्यर्चन्तीति मदाः । मदतिरर्चार्थं इति स्कन्दस्वामी । सर्वधा सर्वेष्टप्रापकोसि भवसि ॥

४७६. परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः ।
¦स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥ (ऋ. ९।९।१)

असितः काश्यपो देवलो वर्षिः ।

नप्त्योर्न पतन्त्योर्वाङ्मनसयोर्हितो निहितः कविः कुशलः कविक्रतुर्विद्वत्कर्मरूपः स भक्तिरसो दिवो द्युलोकस्य परि प्रिया प्रियाणि सर्वथा प्रियाणि वयांसि गतीः । वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु । स्वानैः सुवानैः सूयमानैरुत्पादकैः सह याति प्राप्नोति ॥ १० ॥

इति नवमी दशतिः । इति प्रथमः खण्डः



¦ सुवानो । ¦ सुवानैः ।

४७७. प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् ।
सुता विदथे अक्रमुः ॥ १ ॥ (ऋ. ९।३२।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्र पवमानः सोमो देवता । गायत्री चच्छन्दः । ऋषयो निर्देक्ष्यन्ते । प्र सोमास इति । श्यावाश्व आत्रेय ऋषिः ।

विदथे भक्तियज्ञे मदच्युतो हर्षोत्पादकाः सोमासः सामरसा भक्तिरसा इति यावत् सुता अनुष्ठिता नोस्माकं मघोनां भक्तिधनिनां श्रवसे श्रेयसे प्र अक्रमुः प्रगच्छन्ति भवन्ति ॥ १ ॥

४७८. प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः ।
वनानि महिषा इव ॥ २ ॥ (ऋ. ९।३३।१)

त्रित आप्त्य ऋषिः ।

अस्मिन्मन्त्रे सोमशब्दः सोमिनमाह । विपश्चित इतिविशेषणत् । विपश्चितो मेधाविनः । विपश्चिदिति मेधाविनाम । विपो वाचश्चेतयत इति । सोमासः सोमिनो भक्तिरसिनो भक्तियज्ञं प्रति नयन्ते प्रापयन्ति जनान् । तत्रोदाहरणमाह । अप इव । वचनव्यत्ययः । अपामूर्मय इवेति शेषः । यथा जलानामूर्मयस्तटं मुहुर्मुहुर्जलस्थपदार्थान्नयन्ति तद्वत् । महिषा महापुरुषाः । महिष इति महन्नाम । वनानि प्रकाशानिव । वनमिति रश्मिनाम । यथा भगवद्ध्याननिरता महापुरुषाः प्रकाशमुपगच्छन्ति तद्वत् । इदं द्वितीयमुदाहरणम् ॥ २ ॥

४७९. पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने ।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥ (ऋ. ९।६१।२८)

अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः ।

हे इन्दो परमवैभवयुक्त भक्तिरस सुतो निष्पादितोनुष्ठितः सन्

वृषा मनोरथपूरकस्त्वं जने जनेषु नोस्मान्यशसो यशस्विनः कृधि कुरु। विश्वा सर्वान् द्विषो द्वेष्टॄन् कामक्रोधादीन् अप जहि विनाशय ॥ ३ ॥

४८०. वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे।
पवमान स्वर्दृशम् ॥ ४ ॥ (ऋ. ९।६५।४)

अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः।

त्वं वृषा हि असि मनोरथानां पूरकः खल्वसि। अतो भानुना तेजसा द्युमन्तं दीप्तिमन्तं त्वा त्वां भक्तिरसं हवामहे आह्वयामः। हे पवमान पवित्रकर्तः, त्वत्कृपया स्वर् सुखं शिवं दृशम् पश्यामः ॥ ४ ॥

४८१. इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां †मतिः।
सृजदश्वं रथीरिव ॥ (ऋ. ९।६४।१०)

कश्यपो मारीच ऋषिः।

चेतनो ज्ञानस्वरूपः कवीनां मेधाविनां प्रियो मतिर्मतिदाता चासि त्वं ततो हे परमात्मन्! स त्वं पविष्ट पुनीहि प्राप्नुहि वास्मान्। रथीरिव रथी अश्वं सजत् सृजति गच्छति तद्वत्। अनेन दृष्टान्तेन परमात्मा नियामको जीवश्च नियम्य इति विज्ञायते ॥५॥

४८२. असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया।
शुक्रासो वीरयाशवः ॥ ६ ॥ (ऋ. ९।६४।४)

कश्यपो मारीच ऋषिः।

वाजिनो बलवन्तः शुक्रासो दीप्तिमन्त आशवोश्वा वेगवन्तः शीघ्रमेव परमात्मानं प्रापयन्तीति। सोमासो भक्तिरसा भक्तैर्गव्या

† मती।

ज्ञानेच्छयाश्वया वेगप्राप्तीच्छया वीरया भगवन्मार्गे वीरजनप्राप्तीच्छया च प्र असृक्षत अनुष्ठीयन्त उत्पाद्यन्ते ॥ ६ ॥

४८३. पवस्व †देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
वायुमा रोह धर्मणा ॥ ७ ॥ (ऋ. ९।६३।२२)

निध्रुविः काश्यप ऋषिः ।

हे भक्तिरस ! पवस्व गच्छ परमात्मानं तोषयितुम् । ते तव देवः स्तुत्यो मदो हर्ष आयुषगानुषगनुषक्तं निरन्तरमिन्द्रं परमात्मानं गच्छतु । आनुषगिति नामानुपूर्वस्यानुषक्तं भवति (निरु० ६।१४)। अनुपूर्वात् षञ्जेः क्विप् । अनुषक्तमुपर्यंपरि लग्नमिति देवराजयज्वा । त्वमपि तं गच्छ तवानन्दोपि त्वयैव सह परमात्मानमानन्दस्वरूपमनन्दयितुं गच्छत्विति भावः । धर्मणा धर्मेण तव स्वभावेन स्वाभाव्यात् वायुं व्यापकं परमात्मानमा रोह परमात्मनि स्थितो भवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

४८४. पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम् ।
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥ ८ ॥ (ऋ. ९।६१।१६)

अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः ।

पवमानः पवित्रो भक्तिरसो वृहन्महद्वैश्वनरं परमतेजस्वि ज्योतिरजीजनत् जनयति । तत्र दृष्टान्तः । दिवो द्युलोकस्य चित्रमाश्चर्यं करं तन्यतुं तन्तुं विद्युतमिव । तन्यतुस्तनित्री वाचोन्यस्या इति यास्कः (निरु० १२।३०)। अनेनावगम्यते टेलीफोन-वायर्लेस् प्रभृतीनां ज्ञानवानासीद्यास्कः ॥ ८ ॥

† देवायुष ।

४८५. परि †स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
‡मधो अर्षन्ति धारया ॥ (ऋ. ९।१०।४)

असितः काश्यपो देवलो वर्षिः ।

इन्दवो दिव्याः सामरसा भक्तिरसा बर्हणा बर्हणया परिवृढया गिरा परि स्वानासः परितः सूयमाना उत्पाद्यमानाः सन्ति । मधो माध्व्या मधुरया धारया मदात हर्षाय अर्षन्ति गच्छन्ति च ॥ ९ ॥

४८६. परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्माविधि श्रितः ।
कारुं बिभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ १९ ॥ (ऋ ९।१४।१)

असितः काश्यपो देवलो वर्षिः ।

पुरुस्पृहं बहुभिः स्पृहणीयं कारुं स्तोतारं परमभक्तं बिभ्रद्धारयन् सिन्धोः स्यन्दमानस्य हृदयस्योर्मौ तरङ्गे श्रितः हृदयतरङ्गं श्रित इत्यर्थः । कविः क्रान्तदर्शी सोमो भक्तिरसः परि प्रासिष्यदत् परितः प्रकर्षेण स्यन्दते । अधोत्युर्मावित्यस्याः सप्तम्या अनुवादार्थम् ॥१०॥

इति दशमी दशतिः । द्वितीयः खण्डः

इति द्वितोयोर्धः प्रपाठकः

पञ्चमश्च प्रपाठकः समाप्तः

●

अथ षष्ठे प्रपाठके प्रथमोर्धः

४८७. उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥ १ ॥ (ऋ. ९।६१।१३)

† सुवानास । ‡ सुता ।

अस्यां दशत्यां सर्वत्र पवमानः सोमो देवता गायत्री छन्दश्च । ऋषिनिर्देशं करिष्यामः । उपोष्विति । अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः ।

सुजातं सम्यगुत्पादितमप्तुरं कर्मणां तरितारं भङ्गं सांसारिकाणां दुःखानां भञ्जकं स्तोत्ररूपाभिः गोभिर्वाग्भिः परिष्कृतमलंकृतमिन्दुं शोभमानं सोमं भक्तिरसं भक्तियागं वा देवाश्चारित्रवन्त उप अयासिषुः उपयान्ति उपगच्छन्ति ॥ १ ॥

४८८. पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः ।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥ २ ॥ (ऋ ९।४०।१)

बृहन्मतिराङ्गिरस ऋषिः ।

विचर्षणिर्विविधं द्रष्टा विश्वस्य द्रष्टा वा । विपूर्वाद्विश्वपूर्वाद्वा कृष विलखने इत्यस्मादति प्रत्ययः । भक्तियागोपि विविधं पश्यति चातुर्वर्ण्यं कुक्षीकरोति । विश्वं सर्वं पश्यतीतिपक्षेपि तथैव संगतिः । पुनानः पवित्रीकुर्वाण उपासकान्, विश्वा मृधः शत्रून् कामक्रोधादीनक्रमीदतिक्राम्यति । ततश्च धीतिभिः स्तुतिभिर्भक्ता विप्रं विशेषेण पूरयति सद्गुणानात्मसु तं परमात्मानं शुम्भन्ति दीपयन्ति ॥ २ ॥

४८९. आविशन्कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः ।
†इन्दुरिन्द्राय धीयते ॥ ३ ॥ (ऋ. ९।६२।१९)

जमदग्निर्भार्गव ऋषिः ।

सुतोनुष्ठितः कलशं परमात्मानम् । कलयति सर्वं जगदितिकलः परमात्मा । तस्मिञ्शेते इति कलशो भक्तजीवस्तमाविशन्प्रविशन् विश्वा निखिलाः श्रियो भक्त्यनुकूलसद्गुणरूपा अभि अर्षन् भक्ता-

† शूरो न गोषु तिष्ठति ।

न्प्रापयन्निन्दुर्भक्तिरस इन्द्राय परमात्मने । धीयते स्थाप्यते । परमेश्वरं प्रीणायितुं भक्तियज्ञः सम्पाद्यत इतिभावः ॥ ३ ॥

४९०. असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुतः ।
कार्ष्मन्वाजी न्यक्रमीत् ॥ ४ ॥ (ऋ. ९।३६।१)

प्रभूवसुराङ्गिरस ऋषिः ।

चम्वोर्द्यावापृथिव्योः । चम्वौ द्यावापृथिव्याविति निघण्टुः (३।३।१६)। उभयोर्लोकयोः पवित्रे कामादिरहिते हृदये सुतः सोमः सामरसो भक्तिरसोऽसर्जि उत्पादितः । उत्पाद्यते । रथ्यो रथे नियुक्तो वाजी हय इव स कार्ष्मन् रागवैराग्ययुद्धं न्यक्रमीत् नितरामाक्राम्यति ॥ ४ ॥

४९१. प्र †यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो
अक्रमुः । घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥ ५ ॥
(ऋ. ९।४१।१)

मेध्यातिथिः काण्व ऋषिः ।

कृष्णां पापीयसीं त्वचमावृतिमावरणमितियावत् । अप घ्नन्तो विनाशयन्तो भूर्णयः पाषकाः । भुरण धारणपोषणयोः । त्वेषाः प्रदीप्ताः । अयासोया गतिशीलाः परमेश्वरं प्राप्तुं शीलं येषां ते । भक्तिरसाः प्र आ अक्रमुः प्राक्राम्यन्ति पराक्रमन्ते । दृष्टान्तः । गावो न गाव इव । यथा गावो जलघासवत्सादीन् प्राप्तुं पराक्रमं कुर्वन्ति तद्वदिति भावः ॥ ५ ॥

४९२. अप घ्नन्पवसे मृधः क्रतुवित्सोम मत्सरः ।
नुदस्वादेवयुं जनम् ॥ ६ ॥ (ऋ. ९।६३।२४)

†ये गावो ।

निध्रुविः काश्यप ऋषिः ।

हे सोम सामरस भक्तिरस क्रतुवित् आत्मलाभकारिन् मत्सरः प्रसन्नः । मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मण इति यास्कः त्वं मृधो धर्मभावहिंसकान्कामक्रोधस्वार्थपरायणत्वादीन् अप घ्नन् विनाशयन्पवसे भक्तहृदयं प्राप्नोषि । हे भक्तिरस नुदस्व नुद प्रेरय दूरं गमयादेवयुं देवं परमात्मानमकामयमानं जनं मनुष्यम् ॥ ६ ॥

४९३. अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।
हिन्वानो मानुषीरपः ॥ ७ ॥ (ऋ. ९।६३।७)

निध्रुविः काश्यप ऋषिः ।

हे भक्तिरस यया धारया वाचा (निघ० १।११।२) त्वं सूर्यं परमात्मानं सर्वत्र सरणशीलम् अरोचयो रोचयसि दीपयसि तया अनया स्तोत्ररूपया वाचा सह हिन्वानः प्रेरयन्सर्वान् पवस्व गच्छ । कुत्र ? मानुषीः मनुष्यै र्निर्वर्तितानि अपः कर्माणि विविधभक्तिरूपाणि प्रति ॥ ७ ॥

४९४. स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे ।
वव्रिवांसं महीरपः ॥ ८ ॥ (ऋ. ९।६१।२२)

अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः ।

हे भक्तिरस यस्त्वं महीर्महतीर्महान्ति अपः कर्माणि भक्तियज्ञरूपाणि वव्रिवांसमा वृण्वानं निरुन्धानमिति यावत् । वृत्राय वृत्रं पापं हन्तवे हन्तुम् । पापहननेनेत्यर्थः । इन्द्रं जीवात्मानमाविथ अवसि रक्षसि स त्वं पवस्व भक्तान्प्रति गच्छ ॥ ८ ॥

४९५. अया वीती परि स्रव यस्त इन्द्रो मदेष्वा ।
अवाहन्नवतीर्नव ॥ (ऋ. ९।६१।१)

अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः।

हे इन्दो ई लक्ष्मीं दुवति गच्छतीति। कुः। लक्ष्म्याः प्रापक सामरस, अयानया वीत्या रक्षणेन रक्षणार्थमिति यावत्। त्वम् आ परि स्रव सम्यक् परिस्रवोत्वद्यस्वेति भावः। यस्ते तव रस इति शेषः। मदेषु हर्षेषु जातेषु नव नवसंख्याकानि नवतीररक्षणानि अकल्याणान्यशुभानीति यावत्। अवनमवतिः। न अवतिर्नवतिः। छान्दसोकारलोपः। अवाहन् अवहन्ति। पञ्चभिर्ज्ञानेन्द्रियैरन्तः करणचतुष्टयेन चेत्येतैर्नवभिरज्ञानवशादाचरितैर्विचारितैश्च दुरितैर्यान्यशिवानि तानि नवैवेति विज्ञेयम् ॥ ९ ॥

४९६. परि द्युक्षं †सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा।
‡स्वानो अर्ष पवित्र आ ॥ १० ॥ (ऋ. ९।५२।१)

उचथ्य आङ्गिरस ऋषिः।

स नोस्माकं भक्तिरसो द्युक्षं दीप्तां सनद्रयिं सनन्नित्यः परमात्मैव धनं यत्र इत्थं वाजं गतिमन्धसा निरन्तरमाध्यानेन सह अथवा निरन्तराध्यानरूपान्नेन सह परि भरत् परिभरतु ददातु किंच स्वानः सुवानः सुन्वानो वोत्पद्यमानः सन् हे भक्तिरस पवित्रे पवित्रहृदये आ अर्ष आगच्छ ॥ १० ॥

इति प्रथमा दशतिः। इति तृतीयः खण्डः

●

४९७. अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः।
सं सूर्येण दिद्युते ॥ १ ॥ (ऋ. ९।२।६)

† सनद्रयिः। ‡ सुवानो।

अस्यां दशत्यां सर्वत्र पवमानः सोमो देवता। गायत्री चच्छन्दः। ऋषिनिर्देशं करिष्यामः। अचिक्रददिति। मेधातिथिः काण्वः ऋषिः।

वृषा वर्षकः सर्वकामानां हरिर्मनोहरः पापानां हर्ता वा दर्शतो दर्शनीयो महान् सर्वश्रेष्ठो मित्रो न सखेवाचिक्रदत् शब्दं करोति आह्वयत्यस्मान्। यथा मित्त्रं मित्त्रमाह्वयति तथैवायं भक्तिरसोप्य-स्मानाह्वयतीव। स च सूर्येण परमात्मना सह सम् संगत्य दिद्युते द्योतते ॥ १ ॥

४९८. आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ २ ॥ (ऋ ९।६५।२८)

भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वर्षिः।

हे भक्तिरस मयोभुवं सुखोत्पादकं वह्निं ज्ञानरत्नवोढृ पान्तं सर्वथा रक्षकं पुरुस्पृहं बहुभिः स्पृहणीयं ते तव दक्षं बलम्। दक्ष इति बलनाम (निघ० २।९।१४)। अद्या वृणीमहे आया-चामहे ॥ २ ॥

४९९. अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्रे आ †नय।
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३ ॥ (ऋ. ९।५१।१)

उचथ्य आङ्गिरस ऋषिः।

हे अध्वर्यो हिंसारहित भक्तियागेच्छो भक्त अद्रिभिरदरणो-यैर्भगवद्भक्तैः सह। सहार्थे तृतीया। पवित्रे हृदये सुतं त्वयावि-र्भावितं सोमं सामरसं भक्तिरसम् आ नयास्मान् प्रापय। इन्द्राय परमात्मने पातवे पातुं परमात्मनः पानायेत्यर्थः पुनाहि त्वं पुनः पुनरुत्पादय ॥ ३ ॥

† सृज

५००. तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ (ऋ. ९।५८।१)

अवत्सारः काश्यप ऋषिः ।

स तरत्तरति सर्वेभ्यः पापेभ्यो विमुक्तो भवति यो मन्दी प्रसन्नचेताः सुतस्याविर्भावितस्यान्धसोऽन्नस्य भक्तिरूपस्य धारा धाराम् । द्वितीयार्थे प्रथमा । धावति अनुसरति । आदरार्था पादावृत्तिः ॥ ४ ॥

५०१. आ पवस्व सहस्त्रिणं रयिं सोम सुवीर्यम् ।
अस्मे श्रवांसि धारय ॥ ५ ॥ (ऋ. ९।६३।१)

निध्रुविः काश्यप ऋषिः ।

हे सोम भक्तिरस ! सहस्त्रिणमत्यधिकां सुवीर्यमतिबलां चिरस्थायिनीं नित्यामित्यर्थः । रयिं गतिमा पवस्व सम्यग्गमय प्रापयास्मानिति भावः रि गतौ । अस्मे अस्मासु श्रवांसि ज्ञानानि च धारस्य स्थापय ॥ ५ ॥

५०२. अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः ।
रुचे जनन्त सूर्यम् ॥ ६ ॥ (ऋ. ९।२३।२)

असितः काश्यपो देवलो वर्षिः ।

प्रत्नासः प्राचीना अनुभविन इत्याशयः । आयवो मनुष्या नवीयो नवतरं भव्यं पदं मोक्षरूपमनु अक्रमुः अनुक्राम्यन्ति । भगवत्पदप्राप्या ईदृशं प्रकाशमुत्कृष्टं लभन्ते येन सूर्यप्रकाशोऽवर एव भवतीतिभावः ॥ ६ ॥

५०३. अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् ।
†सीदन्योनौ वनेष्वा ॥ ७ ॥ (ऋ. ९।६५।१९)

भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वर्षिः ।

हे सोम सौम्य भक्त ! वनेष्वरण्येषु योनौ सकलजगत्कारणे परमात्मनि आ सीदन् स्थितो द्युमत्तमोतिशयेन द्युतिमाँस्त्वं रोरुवत् परमेश्वरनामाक्षराणि सर्वथोच्चारयन् द्रोणानि ऊर्ध्वंगतीरर्ष गच्छ । ऋषि गतौ ॥ ७ ॥

५०४. वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः ।
वृषा धर्माणि दध्रिषे ॥ ८ ॥ (ऋ. ९।६४।१)

कश्यपो मारीच ऋषिः ।

हे सोम सामरस त्वं वृषा कामानामभिवर्षको द्युमांस्तेजस्वी वृषव्रतो भक्तकामपूरणाय गृहीतव्रतश्चासि । हे देव वृषा त्वं लोकस्य हितकारीणि धर्माणि कर्माणि दध्रिषे धारयसि । भक्त्यैव जना हितकारिषु कर्मसु प्रवर्तन्त इति भावः ॥ ८ ॥

५०५ इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।
इन्दो रुचाभि गा इहि ॥ (ऋ. ९।६४।१३)

कश्यपो मारीच ऋषिः ।

हे सोम मनीषिभिः सद्बुद्धिभिर्भक्तैर्मृज्यमानः शुध्यमानोङ्गीक्रियमाण इत्यर्थः । धारया परम्परया अविच्छिन्नगत्या इषेस्मदिच्छापूर्तये पवस्व क्षर इहागच्छेति भावः । हे इन्दो सुभग रुचा स्वेच्छया कान्त्या वा गाः स्तोत्राण्यभि इहि । अस्माकं स्तोत्राणि श्रुत्वास्मासु स्थितो भव ॥ ९ ॥

†सीदञ्छ्येनो न योनिना ।

५०६. मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः ।
†अव्या वारेभिरस्मयुः ।। १७ ।। (ऋ. ९।६।१)

असितः काश्यपो देवलो वर्षिः ।

हे सोम भक्तिरस त्वं देवयुर्देवकामोस्मयुरस्मत्कामश्चासि । उभयथा ते प्रवृत्तिः । परमात्मानमपि कामयसे । तद्द्वारास्मानपि कामयसे । भक्तानां शिवं भवेदित्येव तेस्मान्प्रति कामः । अत एव वृषा सेचकः कामानामभिवर्षकश्चासि ततो वारेभिर्वारैः अयं मदीयो जन इति ते प्रतिप्रार्थनं स्वीकारः । स्वीकारैर्हेतुभिर्मन्द्रया हर्षप्रदेनाव्या रक्षकेण धारयाविच्छिन्नप्रवाहेण पवस्वास्मान्प्राप्नुहि । अस्मत्समीप आगच्छ ।। १० ।।

५०७. अया‡सोम सुकृत्यया*महान्त्सन्नभ्यवर्धथाः ।
मन्दान §इद्वृषायसे ।। ११ ।। (ऋ. ९४७।१)

कविर्भार्गव ऋषिः ।

हे सोम भक्तिरस अयानया वर्तमानया सुकृत्यया भगवत्प्रसादनरूपया तद्द्वारा भक्तानां शिवसम्पादनेच्छारूपया च महान् पूज्यः सन् अभ्यवर्धथा अभितो वर्धसे त्वम् । भगवत्प्रसादनं परोपकारसम्पादनं हि महत्त्वकारणं सर्वेषाम् । मन्दान इत् प्रसीदन्नेव त्वं वृषायसे कामानां वर्षक इवा चरसि ।। ११ ।।

५०८. अय विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति ।
हिन्वान आप्यं बृहत् ।। १२ ।। (ऋ. ९।६२।१०)

जमदग्निर्भार्गव ऋषिः ।

विचर्षणिर्विविधं द्रष्टा हितः सर्वेषां हितकारकः सोयं पवमानः

†अव्यो वारेभ्मयुः । ‡ सोमः । * महाँ अभ्यवर्धत । § उद्... ।

पवित्रो भक्तिरसो बृहत् महद् आप्यं प्राप्यं परमात्मरूपं हिन्वानः प्रापयन्निव चेतति चेत्यवे सर्वैर्दृश्यते ॥ १२ ॥

५०९. प्र न इन्दो महे तुन ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि ।
अभि देवाँ अयास्यः ॥ १३ ॥ (ऋ. ९।४४।१)

अयास्य आङ्गिरस ऋषिः ।

हे इन्दो सामरस त्वं नोऽस्माकं महे महते तुन तुनाय तनाय धनाय । ज्ञानमेव महद्धनम् । तन इति धननाम । उर्मिमुत्साहतरङ्गं बिभ्रद्धारयन् । प्र अर्षसि प्रकर्षेण गच्छसि भक्तियज्ञभूमिम् । न सम्प्रति । देवान् भक्तानां ज्ञानेन्द्रियाणि च अभि अयास्यः अभियास्यसि । तान्यपि भक्तियज्ञभूमिं गमयितुं प्रयस्यसि प्रयत्नं करोषि ॥ १३ ॥

५१०. अपघ्नन्पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः । गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १४ ॥ (ऋ.९।६१।२५)

अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः ।

सोमः सौम्यो भक्तो मृधः कामादीञ्शत्रून् अपघ्नन् हिंसन् अराव्णः परमेश्वराय मनोनर्पयतो जनानपघ्नन् तथाचरणादपगमयन् गच्छन्स्वयं तं प्रति, इन्द्रस्य परमात्मनस्तस्य निष्कृतमानृण्यं पवते गच्छति । महद्धि परमात्मन ऋणं मनुष्येषु । तच्च तद्भक्त्याभक्तानां तद्भक्तौ प्रेरणया चापनीतं भवतीति भावः ।

इति द्वितीया दशतिः । इति चतुर्थः खण्डः

ण । तन ।

५११. पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि। आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥ १ ॥ (ऋ. ९।१०७।४)

अस्यां दशत्यां सर्वत्र पवमानः सोमो देवता बृहती छन्दश्च। पुनान इति। सप्तर्षयः ऋषयः। ((भारद्वाजो बार्हस्पत्यः, २ कश्यपो मारीचः, ३ गोतमो राहूगणः, ४ अत्रिर्भौमः, ५ विश्वामित्रो गाथिनः, ६ जमदग्नि-र्भार्गवः, ७ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः)

हे सोम भक्तिरस पुनानः सर्वं भक्तगणमपः पवित्रीकरणरूपं कर्म वसान आच्छादयँस्त्वं धारयाविच्छिन्नप्रवाहेणार्षसि गच्छसि। रत्नधा रत्नं परमात्मा। रमतेऽस्मिन्निति। तस्य धारयिता उत्स ऊर्ध्वंपदनेता। उद्गूर्ध्वं सारयतीति। अथवोत्स्यन्दनशील इति। अथवा उत्कृष्टे स्थाने सादयतीति। देवः कमनीयो हिरण्ययः सर्वेषां हितरमणीय एवंभूतश्च त्वमृतस्य परमात्मनो योनिं गृहमा सीदसि सम्यक् तिष्ठसि स्थापयसि च त्वद्रसिकान् ॥

५१२. परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः। दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वा३न्तरा सुषाव सोम-मद्रिभिः ॥ २ ॥ (ऋ. ९।१०७।१)

हे भक्ताः सुतं सोममनुष्ठितं सामरसं भक्तिरसमितोत्र परि षिञ्चत परितः क्षारयत वर्धयतेत्यर्थः। यः सोमो भक्तानामुत्तमं हविर्भक्तियज्ञे श्रद्धया प्रक्षेपणीयं होतव्यं वस्त्वस्ति। यश्च भक्ति-रसो दधन्वान् भक्तहृदयेषु परमात्मानं धारयन् स्थापयन् नर्यो मनुष्यहितसाधकोस्ति। यं च सोममद्रिभिर्भक्तैरविदरणशीलैः स्थिरै-रप्सु कर्मसु अन्तर्मध्ये बहूनां कर्मणां मध्ये श्रेष्ठमा सुषाव भक्तजन उत्पादयामास ॥ २ ॥

५१३. आ सोम †स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया । जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे ॥ (ऋ. ९।१०७।१०)

हे सोम भक्तिरस स्वानः सुवानः उत्पाद्यमानोऽद्रिभिर्दृढभक्तैस्त्वमव्ययाविमय्या रक्षणमय्या शक्त्या अथवा अव्ययया विनाशिन्या शक्त्या वाराणि वार्याणि तिरस्कर्तव्यानि दुष्कर्माणि तिरः तिरस्करोषि । तिर इति श्रुत्या योग्यक्रियाध्याहारः । पारोक्ष्येणाह । जनो न पुरि मनुष्यो यथा पुरं विशति पुरे निवसति तथैव हरिर्मनोहरो भक्तिरसश्चम्वोर्द्यावापृथिव्योर्द्यावापृथिव्यौ सर्वाँल्लोकांश्च विशद्विशतिप्रविशति । वनेषु वननीयेषूत्तमेषु प्रदेशेषु हृदयेषु च सदा निवासस्थानं दध्रिसे दधाति ॥ ३ ॥

५१४. प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा । अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥ ४ ॥ (ऋ. ९।१०७।१२)

हे सोम भक्तिरस देववीतये श्रेष्ठजनानामास्वाद्याय सिन्धुः स्यन्दनशीलः प्रसरणशीलो वर्धनशील इत्यर्थः । त्वमर्णसा श्रद्धया । अर्य्यते जनैरिति । प्र पिप्ये प्रकर्षेण वर्धसे । ओप्यायी वृद्धौ । अंशोर्भक्तस्य । अननाय शं भवतीति यास्कः । पयसा गत्या परिचर्ययेत्यर्थः । पय गतौ । मदिरो मोदकरः । न साम्प्रतम् । भक्तस्त्वां परिचरति तेन त्वं साम्प्रतमेव योग्यमेव मोदकरो भवसीत्यभिप्रायः । किं च जागृविर्जागरणशीलो भक्तानां रक्षणे आचारशोधने च । किं च मधुश्चुतं मधुररसं च्यावयितारं कोशमन्तःकरणचतुष्टयमच्छ अभिमुखं गच्छसीत्यध्याहारः ॥ ४ ॥

---

† सुवानो ।

५१५. सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम् ।
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति
धारया ॥ ५ ॥ (ऋ. ९।१०७।८)

सोतृभिरुत्पादकैर्भक्तैः स्वान उत्पाद्यमान एव सोमो भक्तिरसोवीनाम् रक्षाणां स्नुभिः प्रस्रवणैः सह अधि अधिकान् ज्ञानसदाचारादिभिरुत्तमजनान् याति प्राप्नोति । किं च हरिता मनोहारिण्या अश्वया स्थिरया धारयेव मन्द्रया प्रसन्नया च धारया सोधिकान्यातीत्यन्वयः । टुओश्वि गति वृद्ध्योः ॥ ५ ॥

५१६. तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे ।
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधींरति
ताँ इहि ॥ ६ ॥ (ऋ. ९।१०७।१९)

हे सोम शान्त इन्दो परैश्वर्यं परमात्मन् तव सख्ये सखिकर्मणि सखिभावेनोपासनायां वा दिवेदिवे प्रतिदिनमहं रारण तव नामाक्षराणि जपामि । रणधातुः शब्दार्थः । हे बभ्रो पालक । डुभृञ् धारणपोषणयोः । पुरूणि पुरवो बहवः कामक्रोधादिदोषान चरन्ति नितरां चरन्ति मम बाधनार्थमिति भावः । ततो मामवरक्ष । तान् परिधीन्परिरोधकाञ्शत्रूनतीहि अतिकाम्य दण्डय जहीहि वा ॥ ६ ॥

५१७. मृज्यमानः †सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि ।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥
(ऋ. ९।१०७।२१)

हे पवमान सर्वेषां शोधक परमात्मन् । पूङ् पवने । भौवादिकः । पवत इति । शानन् । हे सुहस्त्य शोभनहस्तव्यापारवन् समुद्रेन्तः-

† सुहस्त्य ।

करणे। समुद्द्रवन्ति समुद्गच्छन्ति वृत्तयो यस्मात्। अयं समुद्द्रो ह्रिदकारकः। मृज्यमानः परिमार्ग्यमाणस्त्वं वाचमिन्वसि प्रेरयसि। अहमत्रास्मीति वदन्निव प्रतीयस इत्यर्थः। किं च पिशङ्गं प्रदीप्तम्। पिश प्रदीपनायाम्। पिंशति दीपयतीति पिशङ्गः। बहुलमनन्तं पुरुस्पृहं बहुभिः स्पृहणीयं रयिं ज्ञानधनमभ्यर्षसि प्रयच्छसि भक्तेभ्य इति भावः।

५१८. अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्।
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो
†मदच्युतः ॥ ८ ॥ (ऋ. ९।१०७।१४)

मनीषिणो मनस ईषिणो जितेन्द्रिया मत्सरास आनन्दिनो मदच्युतो मदं च्यावयन्तोन्यार्थमपि। सोमासः सौम्या आयवो मनुष्या भक्ता इत्यर्थः। समुद्द्रस्य हृदयस्य अधि विष्टपि उत्कृष्टेन्तरिक्षे दिवि हृदयान्तराकाश इत्यर्थः। मद्यं मदयितारं मदमानन्दमभि पवन्ते अभिक्षरन्ति। भक्ताः स्वहृदये परमात्मानं ध्यायन्त आनन्दिनो भवन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

५१९. पुनानः सोम जागृविर‡व्या वारैः परि प्रियः।
त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तम*मध्वा यज्ञं
मिमिक्ष§णः ॥ ९ ॥ (ऋ. ९।१०७।६)

हे सोम सामरस भक्तिरसाव्या अवनस्य रक्षणस्य वारैः क्रमैः परिपाटीभिः पुनानः शोधयन्सर्वान्भक्तान् जागृविस्तद्रक्षणे जागरूकश्च त्वं परि प्रियः प्रियो भवसि। हे आङ्गिरस्तम अङ्गति प्राप्नोति जानाति वा सर्वं सोङ्गिराः। अतिशयेनाङ्गिरा अङ्गिरस्त-

† स्वर्विदः। ‡ व्यो वारे। * तमो। § नः।

मस्तत्सम्बुद्धै। विप्रो विशेषेणेच्छां प्रातीति तथाभूतस्त्वमभवो भवसि। नोस्माकं यज्ञमुत्कृष्टं कर्म त्वदुत्पादनरूपं मध्वा मधुना स्वस्य माधुर्येण मिमिक्ष सिञ्च ॥ ९ ॥

५२०. इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः।
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः॥
(ऋ. ९।१०७।१७)

मरुत्वते धार्यत्वेन मनुष्याः सन्ति यस्य तस्मा इन्द्राय परमसमर्थाय परमेश्वराय सुतो निष्पादितो मदः प्रसत्तिकरः सोमः सामरसो भक्तिरसः पवते क्षरति। क्षरंश्च स सहस्रधारो बहुधारो भवन्नव्यं रक्ष्यं भक्तमति अर्षति अतिशयेन प्राप्नोति। आयवो मनुष्यास्तमी तमीं तमेव मृजन्ति शोधयन्ति। मा स्थात्तत्र कश्चन दोष इति ॥ १० ॥

५२१. पवस्व वाज†सातमोऽभि विश्वानि‡वार्या।
त्वं*समुद्रः प्रथमे वि धर्मं देवेभ्यः सोम
मत्सरः ॥ ११ ॥ (ऋ. ९।१०७।२३)

हे सोम भक्तिरस वाजसातमः परमगतिदातृषु साधनेषु श्रेष्ठ त्वं वार्या वार्याणि निरोधव्यानि विश्वानि कर्माणि अभि पवस्व अभितः पुनीहि। अथवा अभितो गच्छ। त्वं प्रथमे प्रथम एव समुद्रो हृदयानां सम्यक्क्लेदयितासि। हृदयं क्लेदयसि। ततो भक्तिर्वर्धत इति भावः। किं च त्वं मत्सरो मदकरो मोदयितासि। ततो धर्मं दयादानादैन्येत्यादिकं कर्म देवेभ्यः शुद्धचेतस्केभ्यो वितर। उपसर्गदर्शनात्क्रियाध्याहारः ॥ ११ ॥

† सातयेऽभि। ‡ काव्या। * समुद्रं प्रथमो विधारयो।

५२२. पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया।
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि
प्रयांसि च ॥ १२ ॥ (ऋ. ९।१०७।२५)

पवमाना गच्छन्तो भक्तियज्ञं भक्तहृदयं वा मरुत्वन्तो माद्यत्वेन मनुष्या येषां ते मत्सरा मदयितारो भक्तिरसा धारया सातत्येन पवित्रं भक्तानां हृदयमति असृक्षत अतिशयेन सृजन्ति। मेधां नवनवोन्मेषशालिनीं बुद्धिं प्रयासि प्रकर्षेणेन्द्रियोपरतिं चाभि उद्दिश्य इन्द्रिया इन्द्रियाणि हया हिन्वन्ति गमयन्ति च ॥

इती तृतीया दशतिः। इति पञ्चमः खण्डः

•

५२३. प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो
अभि वाजमर्ष। अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जय
न्तोऽच्छा बर्हीं रशनाभिर्नयन्ति ॥ १ ॥

(ऋ. ९।८७।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्र देवता पवमानः सोमस्त्रिष्टुप् छन्दश्च। ऋषयो निर्देक्ष्यन्ते। प्र तु द्रवेति। उशना काव्य ऋषिः।

हे भक्तिरस तु क्षिप्रं प्र द्रव प्रकर्षेण गच्छ। कोशं नि षीद हृदये निषीद। छादनकर्मणः क्रोशतेरच्। रेफलोपः। नृभिर्नॄन् लोकान् पुनानो वाजमभि गतिमूर्ध्वगतिमितिभावः। अर्ष गच्छ प्राप्नुहि भक्तानूर्ध्वां गतिं प्रापयेतिभावः। इमे भक्ता अश्वं न अश्वमिव त्वा त्वां मर्जयन्तः शोधयन्तीच्छ आभिमुख्येन रशनाभी रसनाभिर्जिह्वाभिस्त्वां बर्हिर्हृदयाकाशं नयन्ति ॥ १ ॥

५२४. प्रकाव्यमुशनेव †ब्रवाणो देवो देवानां जनिमा
विवक्ति। महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा
वराहो अभ्येति रेभन् ॥ २ ॥ (ऋ. ९।९७।७९)

वृषगणो वासिष्ठ ऋषिः।

उशना जिज्ञासुः। वष्टीति। वश कान्तौ। कान्तिरिच्छा। काव्यं वृद्धिं प्र ब्रवाण इव। यथा कश्चिज्जिज्ञासुर्गुरोः सकाशाल्लब्धां वृद्धिं प्रकर्षेण पुनः पुनर्ब्रूते तथैव देवो भवतो देवानां भक्तानामन्येषां जनिमा जन्मनः फलं विवक्ति प्रख्यापयति। महिव्रत उत्कृष्टकर्मा शुचिबन्धुरात्मज्ञानधनवान्। बन्धुरिति धननाम (निघ० २।१० २१)। बध्नातीति। पवित्रबान्धवो वा। पावकः शोधको भक्तो रेभन्नाह्वानशब्दं कुर्वन् स भक्तिरसो वराहो वरं च तदहश्च पवित्रदिनमभि आभिमुख्येन एति गच्छति। शुचिबन्धुर्भवन्नेव कश्चन तत्पवित्रदिनमभ्येति। यस्मिन दिने स भक्ति प्रारभते स पवित्रदिनमुच्यते। तस्मिन्दिने भक्ति प्रतिगमनं दिव्यदिनगमनमित्युच्यते। इदमेव जन्मफलाख्यानम् ॥ २ ॥

५२५. तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं
ब्रह्मणो मनीषाम्। गावो यन्ति गोपतिं
पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥

(ऋ. ९।९७।३४)

पराशरः शाक्त्य ऋषिः।

वह्निर्भक्तियज्ञस्य वोढा भक्तजनस्तिस्रो वाचः—आगच्छ, इह तिष्ठ, नाम स्मर इति तिस्रो वाचः प्रेरयति तत्रोपस्थितां भक्त-

† ब्रुवाणो।

मण्डलीं श्रावयतीत्यर्थः। किं च स ऋतस्य परमसत्यस्य ब्रह्मणः परमात्मनो धीतिं कल्याणस्य धारयित्रीं मनीषां बुद्धिमभिप्रायञ्चेत्यर्थः। प्रेरयति कथयति। परमेश्वरभक्त्यैव परं धाम कामयेति पारमेश्वरीच्छेति भक्तः सर्वाञ्श्रावयतीत्यर्थः। पृच्छमाना अर्च्यमाना अर्च्यमानाः। पृच्छतिरचर्थिः (निघ० ३।१४।१०) गावो विद्या गोपतिं वाचस्पतिं यथा यन्ति गच्छन्ति तथैव वावशानाः परमात्मानं कामयमाना मतयोमेधाविनः। मतिरिति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।२२)। सोम सामरसं भक्तिरसं यन्ति ॥ ३ ॥

५२६. अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्। सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥ ४ ॥ (ऋ. ९।९७।१)

वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः।

अस्य भक्तिरसस्य प्रेषा प्रेरकेण। प्रेषतेः क्विपि रूपम्। हेमना हेम्ना गमनेन। हि गतौ। पूयमानः पवित्रोभवन्देवः स्तुत्यो भक्तो देवेभिर्देवैरन्यैर्भक्तैः सह रसं समपृक्त संपृणक्ति। भक्तिरसगतिर्हि प्रेरिका भवति। आगतायां तस्यां (गतौ) सर्वे परमात्मनि संपृक्ता भवन्ति। सुत उत्पादितश्च रसो रेभन् शब्दं कुर्वन्पवित्रं पुरुषं मनो वा पर्येति परिगच्छति। भक्तिरसे उत्पन्ने भगवन्नामोच्चारणं स्वाभाविकं कर्म। तथा च शब्दोपि स्वाभाविकः। तदेव रेभन्नित्यनेन व्यनक्ति। तत्रोदाहरणम्। यथा होता मिता मितानि निर्मितानीति यावत् पशुसहितानि सद्म सद्मानि पर्येति तद्वत् ॥ ४ ॥

५२७. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥५॥ (ऋ. ९।९६।५)

प्रतर्दनो दैवोदासिर्ऋषिः ।

मतीनां ज्ञानानां जनिता जनयितोत्पादकः सोमो भक्तिरसः पवते उद्गच्छति । दिवो द्युलोकस्य जनिता पृथिव्या मातृभूमेर्जनिताग्नेर्यज्ञादेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत अथवा विष्णोर्जनिता सोमः पवते । अयं भावः । नहि भक्तेरगतिर्विद्यते । अनधिगतबन्धना हि सा । अतः कस्यचिद्बुद्धौ भक्तिर्भवति । कस्यचिद्द्युलोके कस्यचिच्च मातृभूमौ । एवं कश्चिद्यज्ञे भक्तिमान् कश्चित्सूर्यस्य भक्तः कश्चिदिन्द्रस्य कश्चिच्च विष्णोः । यो यस्य भक्तिं करोति स तस्य साक्षाद्भवति । भक्तेरेवैतन्माहात्म्यम् । विभिन्नेच्छा हि पुरुषाः । यद्यस्मै रोचते तस्मिन्स भक्तिमान्भवति । भक्तिसामर्थ्यात्स्वोपास्यस्य भक्तः पुनः पुनर्दर्शनं करोति । एतदेव तस्य जनयितृत्वम् ॥ ५ ॥

५२८. अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधा †माङ्गोषिणमवाव-
शन्त वाणीः । वना वसानो वरुणो न
‡सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि ॥ ६ ॥

(ऋ. ९।९०।२)

वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

अङ्गोषिणमाङ्गूषिणामाघोषवताम् । आङ्गूष आघोष इति निघण्टुः (४।२।४४) । विभक्तिवचनव्यत्ययः । स्तोत्र-पाठिनां वाणीर्वाण्यो वाचस्त्रिपृष्ठं द्यावापृथिव्यौ पातालश्चेति त्रीणि पृष्ठानि यस्य तं वृषणं सेचकं कामानां वर्षकं वयोधां ज्ञाननिधिं परमात्मानमभि अवावशन्त आह्वयन्ति । वना वनानि रश्मीन् प्रकाश-

† मंगूषाणा"" । ‡ सिन्धून् ।

नित्यर्थः। वनमितिरश्मिनाम (निघ० १।५।८)। वसान आच्छादयन् धारयन्नित्यर्थः। स च वरुणो वरणीयः सिन्धुः स्यन्दनशीलो दयया द्रवणशीलः रत्नधा परमानन्दनिधिर्वार्याणि वरयितव्यानि प्राथ्र्यानि वि दयते विशेषेण ददाति ॥ ६ ॥

५२९. अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मं जनयन्प्रजा
भुवनस्य गोपाः। वृषा पवित्रे अधि सानो
अव्ये बृहत्सोमो वावृधे †स्वानो अद्रिः ॥ ७ ॥

(ऋ. ९।९७।४०)

पराशरः शाक्त्य ऋषिः।

समुद्रो मुद्रया मर्यादया सहेति। शरणागतानां रक्षणं विधेयमिति दुर्जना दण्डद्या इति हि परमात्मनो मर्यादा। मर्यादा नियमो न तु सीमा। भुवनस्य सर्वस्य लोकस्य गोपा रक्षकः परमात्मा प्रथमे विस्तृते महति विधर्मन् विधर्मणि रूपादिधर्मरहितेन्तरिक्षे प्रजा जनयन्नुत्पादयन अक्रान् सर्वमतिक्राम्यति। स च पुनः, वृषा कामानां वर्षिता पवित्रे पवित्रहृदये स्वानः सूयमानो जायमान उदीयमानोद्रिरविदरणशीलोविनश्वरः अधि सानो सानौ अत्युच्चैः स्थाने स्थितोव्येवनकर्मणि व्याप्तो बृहत्सोमो महाशान्तिसहितो वावृधे वर्धते ॥ ७ ॥

५३०. कनक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन्वनस्य
जठरे पुनानः। नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं
‡गामतो मतिं जनयत स्वधाभिः ॥ ८ ॥

(ऋ. ९।९५।१)

† सुवानो। ‡ गा अतो मती····।

प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः ।

आ सृज्यमान उत्पाद्यमानो हरिः पापहर्ता परमात्मा वनस्य वननीयस्य पवित्रस्य भक्तस्य जठरे हृदये सीदँस्तिष्ठन् पुनानश्च तं कनिक्रन्ति मुहुर्मुहुराश्वासयति । आश्वासनप्रदशब्दमुच्चारयतीतिभावः । नृभिर्मनुष्यैर्भक्तैर्यतः स्ववशीकृतः स परमेश्वरः निर्णिजं सर्वविद्याशोधकं गां ज्ञानं कृणुते करोति । अतोस्मै परमात्मने स्वधाभिः स्वात्मार्पणैर्मति वुद्धि श्रद्धां वा जनयत हे भक्ताः ॥ ८ ॥

५३१. एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा †वृष्णः
परि पवित्रे अक्षाः । ‡सहस्रदाः शतदा भूरि-
दावा शश्वत्तमं बर्हिरा वाज्यस्थात् ॥ ९ ॥

(ऋ. ९।८७।४)

उशना काव्य ऋषिः ।

हे इन्द्र परमेश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर एष स्य स मधुमान् माधुर्ययुक्तो वृषा भक्तेभ्यो हर्षवर्षणशीलश्च सोमो भक्तिरसो वृष्णो वर्षितुः परमानन्दस्य ते तव, तव प्रसादनार्थमित्यर्थः । पवित्रे शुचिनि हृदये परि अक्षाः परि क्षरति आविर्भवति । स च शतदाः शतसंख्यकानां मनोरथानां प्रदाता सहस्रदाः सहस्रसंख्यकानां मनोरथानां दाता भूरिदावानन्तानां मनोरथानां पूरको वाजी सामर्थ्यवान् शश्वत्तमं नित्यं बर्हिर्हृदयस्थानमा अस्थात् अधितिष्ठति । हृदयस्य शश्वत्तमत्वं यावज्जीवं हृदये तव भक्तिरसप्रवाहः प्रवक्ष्यतीत्यभिप्रायेण । अथवा बर्हिर्जीवात्मा । बृहि वृद्धौ । स च वेदमते नित्य एव ॥ ९ ॥

---

† वृष्णे । ‡ सहस्रसा शतसा ।

५३२ पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो वसानो अधि
सानो अव्ये। अव द्रोणानि घृतवन्ति† रोह
मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः ॥ १० ॥ (ऋ. ९।९६।१३)

प्रतर्दनो दैवोदासिर्ऋषिः।

हे सोम भक्तिरस मधुमान् परममाधुर्योपेत ऋतावा ऋतं परमात्मा तद्वांस्त्वमपः कर्माणि दयादानदुःखिसाहाय्यादीनि वसान आच्छादयन् संगृह्णन्नित्यर्थः, अधि सानो अधिके महत्त्वपूर्णे स्थाने तिष्ठन्, द्रोणानि विनाश्यानि। द्रू हिंसायाम्। घृतवन्ति प्रकाशवन्ति प्राणवन्ति। घृ क्षरणदीप्त्योः। शरीराणि तद्गतानि मनआदीनि वा मदिन्तमोतिशयेनानन्दकरो मत्सरः स्वयमानन्दस्वरूप इन्द्रपानः परमात्मना पेय आस्वाद्य आरोह॥

इति चतुर्थी दशतिः। इति षष्ठः खण्डः

५३३. प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते
अस्य सेना। भद्रान्कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य
आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते॥ १॥ (ऋ. ९।९६।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्र पवमानः सोमो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। ऋषयो निर्देक्ष्यन्ते। प्र सेनानीरिति। प्रतर्दनो दैवोदासिः।

सेनानीः सेनायाः परमेश्वरं स्वामित्वेन स्वीकृत्य तदुपासनया कालक्षेपं कुर्वतामन्ते परधाक प्रयातानां जीवानां नेता। सेना सेश्वरा समानगतिर्वेति यास्कः (निरु० २।११)। शूरो विक्रान्तः शमयिता पापानाम। शूरः शक्तेर्गतिकर्मणः (निरु० ४।१२)। गव्यन् गाः

† सीद।

स्तोत्ररूपा वाचो भक्तानामिच्छन् रथानां रमन्त एभिरेति रथाः शरीराणि, जीवात्मनां शरीराणि जीवदेहाः । परमात्मनः शरीराण्युभये जीवा जीवा जीवदेहाश्च । भक्तिरसस्यापि रथा जीवा जोवदेहाश्च । भक्तिरसो हि गुणः । तदाश्रयो भक्तात्मा । आत्मना सह मनोपि सम्बद्धम् । मनसैव च द्वारेण रसस्यावतार इति मनोपि रथः । एवं च रथानां जीवात्मनामग्रे पुरतः सोमो भक्तिरस एति गच्छति । क्व गच्छति ? नास्ति किमपि सांसारिकं निर्दिष्टं स्थानम्, तेन देहावसाने भक्तिद्वारा परधामप्राप्तिर्भवतीति भक्तिर्भक्तिरसो नेता रथानां पुरतो गन्तेति । तदानीमस्य भक्तिरमस्य सेना हर्षते हृष्यति । किं च सोम इन्द्रहवान् परमात्मानमुद्दिश्य भक्तैः कृतान्याह्वानानि सखिभ्यो भक्तेभ्यो भद्रान् भद्राणि कल्याणकराणि कृण्वन्कुर्वन् रभसानि महान्ति लोकोत्तराणीत्यर्थः । वस्त्रा वस्त्राणि दिव्यशरीराणि आ दत्ते जोवेभ्यः सम्यग्दत्ते आदापयति ॥ १ ॥

५३४. प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन्वारं† यत्पूतो अत्येष्यव्यम्‡ । पवमान पवसे धाम गोनां* जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः ॥ २ ॥ (ऋ. ९।९७।३१)

पराशरः शाक्त्य ऋषिः ।

हे पवमान भक्तिरस ! यद्यदा त्वं पूतः सन् अव्य रक्षणसम्बन्धिनं वारमाच्छादनं निरोधमिति यावत् । वृञ् आवरणे । चौरादिकः । येन हेतुना कश्चित्कंचिद् नावितुमिच्छति स वार इत्युच्यते । अत्येषि अतीत्य गच्छसि, अवश्यं रक्षसि स्वजनं तदा ते तव मधुमतीर्मधुमत्यो माधुर्यवत्यो धारा दयाधाराः प्रेमधारा वा प्र असृग्रन् प्रसृज्यन्ते । यदा त्वं रक्षणविघ्नमतीत्य रक्षायां प्रवर्तसे तदा गोनां गवां

† वारान् । ‡ अव्यान् । * जज्ञानः ।

स्तोतॄणाम् । गौरिति स्तोतृनाम (नि० ३।१६।७)। धाम स्थानं भक्तिमण्डपं पवसे गच्छसि। तत्र च जनयन् भक्तभक्त्या जायमान-स्त्वमर्कं रचनीयैः स्वकिरणैः सूर्यमपिन्वः पूरयसि ॥ २ ॥

५३५. प्र गायताम्यर्चाम देवान्त्सोमं हिनोत महते
धनाय। स्वादुः †पवतामति वारमव्यमा
‡सीदतु कलशं *देव इन्दुः ॥ ३ ॥ (ऋ. ९।९७।४)

इन्द्रप्रमितिर्वासिष्ठ ऋषिः ।

ऋषिरुपदिशति—भक्तिमण्डपे उपस्थितैर्भगवद्भक्तैरित्थं परस्परं वक्तव्यम्—यूयं सोमं सामरसं शान्तिरसं प्र गायत प्रकर्षेण स्तुत। वयं च देवानागतान्सज्जनानभ्यर्चाम सत्कुर्मः। एवं कृते किं भविष्यति ? ऋषिर्वदति यूयं महते धनाय मोक्षरूपाय। मोक्षरूपं धनं प्राप्तुमित्यर्थः। सोमं भक्तिरसं हिनोत प्रेषयिष्यथ। एवं करणेनैव भक्तिः प्रवृद्धा भवति तथाभूता च सा मोक्षं प्रापयतीतिभावः। स्वादुर्हृदयङ्गम इन्दुर्भक्तियज्ञोऽव्यं वारं रक्षासम्बन्धिनं विघ्नमति पवतामतीत्य गच्छतु अतिक्राम्यत्वित्यर्थः। तदा च स देवः कलशं कलं मनोहरं च तत् शम् मनोहरकल्याणं भगवत्साक्षात्काररूपम् आ सीदतु आसादयतु प्रापयतु ॥ ३ ॥

५३६. प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं
सनिषन्नयासीत्। इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशि-
शानो विश्वा वसु हस्तयोरा दधानः ॥ ४ ॥
(ऋ. ९।९०।१)

वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः ।

---

† पवाते। ‡ सीदति। * देवयुर्नः।

जनिता भवतै: प्रादुर्भाविता हिन्वान: प्रेर्यमाणश्च स रथो रमणीय: सोमो भक्तिरसो रोदस्योर्द्यावापृथिव्योरुभयोरपि लोकयोर्वाजं गतिमूर्ध्वंगति सनिषन्निव दास्यन्निव प्र अयासीत् प्रकर्षेण गच्छति। अयं भाव:। भक्तैर्यदा भक्तिरस उत्पाद्यते तदा न ते केवलं तज्जन्यमानन्दमुपभुञ्जते किं तु सर्वत्र भक्तिरसं प्रचारयन्ति। रोदस्योरित्युपलक्षणम्। स च भक्तिरस: सर्वत्र प्रसरन्नन्तत: परमात्मानं गच्छतीत्याह—आयुधानि शमदमत्यागवैराग्यादीनि। आयुध्यते एभिरित्यायुधानि। लौकिके युद्धे भवन्त्यायुधानि खड्गभल्लादीनि। पारमार्थिके च काम-क्रोधलोभमोहादिभि: शत्रुभि: सह जायमाने युद्धे शमदमादीनि सुष्ठ्वायुधानि। तानि संशिशान: सम्यक् तीक्ष्णी कुर्वन् तेषु परिपूर्णतामापादयन्नित्यर्थ:। विश्वानि सर्वाणि वसूनि लौकिकानि हस्तयोरादधान: स्ववशे कुर्वन् इन्द्रं गच्छन् भवति गच्छतीत्यर्थ:। अयं भाव:। शमदमादिभि: साधनैर्महानुभावो भवन् जीवो भक्तो न लौकिकानि वसूनि कामयते। कामयते चेदनायासेनैव सर्वाणि तस्य प्राप्तानि भवन्ति। एतदर्थलाभायैव वसू हस्तयोरादधान इति मन्त्र उक्तम्। एवं च भक्त्या लौकिकं परमार्थिकं च लाभं लभते भक्त इति निर्व्याजोक्ति:॥ ४॥

५३७. तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग् ज्येष्ठस्य† धर्मं
द्युक्षोरनीके। आदीमायन्वरमा वावशाना
जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम्॥ ५॥ (ऋ० ९।९७।२२)

कर्णश्रुद्वासिष्ठ ऋषि:।

यदि यदा द्युक्षोर्दिव्यवचनवतो वेनतो वेनस्य। सार्वविभक्तिकस्तसि:। वेन इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।५)। मेधाविनोनीके

† धर्माणि क्षोरनीके।

मुखे ज्येष्ठस्य श्रेष्ठस्य पवित्रस्य मनसः सम्बन्धिनी वाग् धर्मं तक्षत्संस्करोति आत् ईम् तदनन्तरमेव वरं वरेण्यं वरणीयं मनोहरं कलशे कलशाय सुन्दरकल्याणाय मोक्षाय मोक्षं प्राप्तुमित्यर्थः। जुष्टं सेवितं पतिमिन्दुं परमैश्वर्ययुक्तं परमात्मानं वावशानाः कामयमाना गावो वाचः स्तोत्ररूपा आयन् गच्छन्ति। अयं भावः। भक्तया बुद्धिः शुद्धयति तता धर्माधर्मविवेको जायते। ततश्च परमात्मस्मरणमेव जीवधर्मं इति मत्वा भक्तस्तस्मिन्नेव लयमाप्नोति ॥ ५ ॥

५३८. साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य
धीतयो धनुत्रीः। हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य
द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥ ६ ॥ (ऋ. ९।९३।१)

नोधा गौतम ऋषिः।

साकमुक्षः सहैव संगत्य सिञ्चन्त्यस्तर्पयन्त्यो दश दशसंख्याकाः स्वसारोङ्गुलयः। स्वसारोंगुलय इति निघण्टुः (२।५।१३) भक्तिरसं मर्जयन्त अलंकुर्वन्ति। यद्यंगुलयो न स्युः किमपि हस्तेन क्रियमाणं सेवाकार्यं नैव स्यात्। अतस्ता एव सेवादिभिर्भक्तिरसमलंकुर्वन्तीत्युक्तम्। धीरस्य भक्तस्य ता एव दश धीतयोंगुलयः। धीतयोंगुलय इति निघण्टुः (२।५।१३)। धीतिः प्रज्ञेति यास्कः। धीतिभिः कर्मभिरित्यपि यास्कः (नि० ११।१६) धनुत्रीर्भक्तिरसस्य प्रेरयित्र्योपि भवन्ति। सेवाप्रधानो हि भक्तिरसः। ततश्च भक्तिरसस्य प्रेरणमंगुलिभिरेव। नान्यथा। अथवा धीरस्य भक्तस्य धीतयः कर्माणि उपासनारूपाणि भक्तिरसस्य धनुत्र्यः प्रेरयित्र्यः प्रेरयितॄणि तदुपासनानि दृष्ट्वान्येपि तथा प्रवर्तन्त इति भावः। एवं भूते सति हरिः परमात्मा सूर्यस्य जा अपत्यानि दिशः। जा इति अपत्यनाम (निघ० २।२।९) उदिते सूर्ये दिग्व्यवहारो भवतीति दिशामेव सूर्यजात्वं विवक्षितम्। पर्यद्रवत् परितो गच्छति। परमात्मा

दिक्षु गच्छतीत्युक्ते सर्वत्र तस्य भक्तिर्भवतीत्युक्तं भवति । ततश्च द्रोणं द्रुतं भक्त्यार्द्रीभूतं जनं हृदयं वा ननक्षे व्याप्नोति । नक्षतिर्गतिकर्मा (निघ. २।१४।३१) व्याप्तिकर्मा च (निघ० २।१८।२) । तत्र दृष्टान्तः । अत्योतनशीलो गमनशीलो वाजी न अश्व इव । यथा धावन्नश्वः स्वेष्टे प्रदेशे विश्राम्यति तथा ॥

५३९. अधि यदस्मिन्वाजिनीव शुभः स्पर्धन्ते धियः
सूरे न विशः । अपो वृणानः पवते कवी-
यान्व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म ॥ ७ ॥

(ऋ. ९।९४।१)

कण्वो घोरः ।

यद्यदा अस्मिन् वाजिनि गृहीतोत्तममार्गे भक्तजीवे शुभो धियः शुभानि कर्माणि अधि स्पर्धन्ते परस्परं स्पर्धया सूरे न विशः सूर्ये उदिते यथा विशो मनुष्या वर्धन्ते तथा तदा कवीयान् अतिशयेन बुद्धिमान् अपो भक्तिमार्गोचितानि भगवत्कैङ्कर्यरूप-कर्माणि वृणानः स्वीकुर्वन् पशुवर्धनाय ज्ञानवृद्धये । समानं पश्यं-तीति पशु ज्ञानम् । मन्म मननीयं स्पृहणीयमात्मप्रियं व्रजं ज्ञानिनां समाजं पवते गच्छति । न साम्प्रतम् । वाजिनीवेत्यत्र इव पादपूरणे ॥ ७ ॥

५४०. इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह
इन्वन्मदाय । हन्ति रक्षो बाधते †पर्यराति
वरिवस्कृण्वन्वृजनस्य राजा ॥ ८ ॥

(ऋ. ९।९७।१०)

---

† पर्यरातीः ।

मन्युर्वासिष्ठ ऋषिः ।

इन्दुर्दीप्तः । इन्धी दीप्तौ । वाजी बलवान् गोन्योघ गोषु वाक्षु विद्यासु नितरामोघ ऊहो वितर्को यस्य तथाभूतः सोमो भक्तिरस इन्द्रे जीवे मदाय हर्षाय प्रसादाय सहो बलमिन्वन्प्रेरयन् रक्षः कामक्रोधादिकं हन्ति हिनस्ति अरातिमशान्ति च परिबाधते । किं कुर्वन् ? वृजनस्य बलस्य । वृजनमिति बलनाम (निघ० २।९।२१) । राजाधिष्ठाता वरिवो धनं (निघ० २।१०।५) भक्तिरूपं ज्ञानरूपं च भक्तेभ्यः कुर्वन् ॥ ८ ॥

५४१. अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो
सरसि प्र धन्व । ब्रध्न†श्चिद्यस्य वातो न
जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात् ॥ ९ ॥
(ऋ. ९।९७।५२)

कुत्स आङ्गिरस ऋषि ।

हे इन्दो भक्तिज्योतिःप्रदीप्त भक्त अयानया पवा पाविकया पावनसाधनया भक्त्या एना एनानि वसूनि धनानि शमदमादिरूपाणि पवस्व प्राप्नुहि । किंच मांश्चत्वे ज्ञानपूर्णतायाम् । मन धातोश्च-रधातोश्च पृषादित्वाद्रूपम् । मांश्चत्व इत्यश्वनाम निघण्टौ (१।१४।१८) । सरसि वाचि । सर इति वाङ्नाम (निघ० १।११।५५) । प्रधन्व प्रकर्षेण गच्छ । भक्त्या शमादिधनं ज्ञानपूर्णां वाचं च प्राप्नुहीतिभावः । यस्य ब्रध्नो मूलं वातो न चित् वात इव एव, यस्मिन्नैर्बल्यं विद्यत इति भावः । स पुरुमेधा अतिशयेन मेधावी तकवे गतये । तकतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।६८) । तं नरं

†चिदन्नवाता न जूतः

मनुष्यं, सप्तम्यर्थे द्वितीया। मनुष्ये जूतिं बलं वेगं वाधात् दधातु ॥ ९ ॥

५४२. महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृ-
णीत देवान्। अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽ-
जनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥ १० ॥ (ऋ. ९।९७।४१)

पराशरः शाक्त्यः ।

महिषो महान् सोमो भक्तिरसस्तन्महदाश्चर्यप्रदं कृत्यं चकार करोति। किं तत्? यत् अमामपसां कर्मणां गर्भः प्रसूतः सन्देवान् मेधाविनोवृणीत वृणीते। अर्चनवन्दनादि कर्म हि भक्तिरसं जनयति। अतः कर्मणां गर्भ इत्युक्तम्। किमत्राश्चर्यम्. इदमाश्चर्यम्, न हि सोमयागगोमेधादीनि कर्माणि भक्तानाकर्षन्ति। अयं भक्तिरसस्तु कर्मजन्योपि न कर्मवद्विद्वदनाकर्षणे समर्थः। विद्वांसो विवेकिनः कर्मणां गर्भेणाकृष्यन्त इत्येवाश्चर्यम्। सच पवमानः पवित्र इन्द्र जीव ओजोदधात् दधाति, इति द्वितीयमाश्चर्यम्। नहि कर्मणां गर्भणेदं कर्तुं शक्यते। स चेन्दुः प्रदीप्तो भक्तिरसः सूर्ये जीवात्मनि। सरतीति सूर्यः। सरत्येव जीवात्मोकां योनिं देहं वा परित्यज्यान्यामन्यं वा। ज्योतिः प्रकाशं ज्ञानमजनयत् जनयति। इदं तृतीयमाश्चर्यम्। न हि केनापि कर्मणेदं सर्वं कर्तुं शक्यम्। भक्तिरसस्तु कर्मप्रसूतोपि कर्तुमिदं शक्नोतीत्याश्चर्यमेव ॥ १० ॥

५४३. असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता
†प्रथमा मनीषा। दश स्वसारोअधि सानो
अव्ये मृजन्ति वह्निं‡सदनेष्वच्छ ॥ ११ ॥
(ऋ. ९।९१।१)

†प्रथमो मनीषी। ‡सदनान्यच्छ।

कश्यपो मारीचः ।

वक्वा शब्दं कुर्वन् । भक्तिमण्डपे स्तोत्रपाठजन्यः शब्दो भवत्येव । मनोता मनसि भक्तानानामोतः प्रोतश्च भक्तिरसो धिया बुद्ध्या कर्मणा वा शमदमादिपालनरूपेणासर्जि प्रकटीकृतः । तत्र दृष्टान्तः । रथ्ये रथैर्वोढव्य आजी युद्धे यथाश्वः सृज्यते स्थाप्यते तथा । यदेतज्जातं तत्प्रथमा मनीषा बुद्धिरिच्छा वा । दश स्वासारोंगुलयः सानो सानौ अत्युच्छ्रिते प्रशस्तेव्येवनकर्मणि सदनेषु भक्तिमण्डपेषु अच्छ आभिमुख्येन वन्हि वाहकं भक्तान् परधाम नेतारं परमेश्वरम् अधि मृजन्ति शोधयन्ति ॥

५४४. अपामिवेदूर्मयस्ततुराणाः प्र मनीषा इरते
सोममच्छ । नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं चा च
विशन्त्युशतीरुशन्तम् ॥ १२ ॥ (ऋ॰ ९।९५।३)

प्रस्कण्वः काण्वः ।

अपां जलानामूर्मयस्तरङ्गा इव ततुराणास्त्वरमाणा भक्ताः सोममच्छ परमात्माभिमुखं मनीषा मनस इष्टाः स्तुतीः प्रईरते प्रेरयन्ति स्तुतिं कुर्वन्तीतिभावः । ताश्च नमस्यन्तीर्नमस्यन्त्यः परमात्मानं पूजयन्त्य उप यन्ति च तमेव गच्छन्ति । उशती रुशत्यः कामयमानास्ता उशन्तं कामयमानं परमात्मानम् आ सं विशन्ति च सम्यग्भुञ्जते च ॥ १२ ॥

इति पञ्चमी दशतिः । इति सप्तमः खण्डः

इति षष्ठस्य प्रपाठकस्य प्रथमोर्धः ।

५४५. पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे।
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्वचम् ॥

(ऋ० ९।१०१।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्र पवमानः सोमो देवता। अनुष्टुप् छन्दश्च। सप्तमे तु बृहती छन्दः। ऋषिनिर्देशं करिष्यामः। पुरोजितीति। अन्धीगुः श्यावाश्विः।

हे भक्ताः पुरोजिती पुरोजितेः पुर उपस्थितो जितिर्जयो यस्य स तस्य। सर्वदा विजयिन इत्यर्थः। अन्धसः आध्यातव्यस्य परमात्मनो मादयित्नवे मदयित्नवे प्रसादकराय। सुतायोत्पादिताय भक्तिरसाय श्वानं वर्धमानमथवा श्वानमिव स्थितं दीर्घजिह्वचम् दीर्घा जिह्वा यस्य, वाचालं छद्मवेषं, हृदये न प्रेम न भक्तिर्जिह्वया च भक्ति गायति यः स दीर्घजिह्वो भवति। यूयं सखायः समानख्याता भगवद्भक्ता अप श्नथिष्टन अपहत श्नथतिर्हन्त्यर्थः (नि० २।१९।८) ॥ १ ॥

५४६. अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति।
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ॥ २ ॥

(ऋ. ९।१०१।७)

नहुषो मानव ऋषिः।

अयं पूषा पोषको रयिर्दाता भग ऐश्वर्यवान् सोमो मोक्षदाता। सूते मोक्षमिति। विश्वस्य भूमनो भूम्नो महतो लोकस्य पृथिव्या वा पती रक्षकः परमात्मा तुनानो जगत्पवित्रीकुर्वन्नर्षति गच्छति व्याप्नोति उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ व्यख्यत् विख्याति प्रकाशयति च ॥ २ ॥

५४७. सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥

(ऋ. ९।१०१।४)

ययातिर्नाहुष ऋषिः ।

इन्द्राय परमात्मने परमेश्वरार्थं सुतासः निष्पादिता मधुमत्तमा अतिशयेन माधुर्योपेताः। मन्दिनो हर्षकराः पवित्रवन्तः पवित्रेषु हृदयेषूत्पन्नाः सोमा भक्तिरसा अक्षरन् क्षरन्ति उत्पद्यन्ते। वो युष्माकमुपासकानां मदा आनन्दा देवान् दिव्यगुणविशिष्टाँल्लोकान्प्रति गच्छन्तु । तेपि भक्तिरसमनुभूयानन्दिनो भवन्त्वित्यर्थं ॥ ३ ॥

५४८. सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।
मित्राः†स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥

(ऋ. ९।१०१।१०)

मनुः सांवरण ऋषिः ।

गातुवित्तमा गातुर्गमनमिति निघण्टुः (४।१।५५)। गमनं विदन्तीति गातुविदः। अतिशयेन गातुविदो गातुवित्तमा विवेकपुरस्सरगतिशालिनो धर्मज्ञा इत्याशयः। इन्दवः प्रदीप्ताः। इन्धी दीप्तौ। स्वाना सुन्दरमननं जीवनं येषां ते पवित्राचारा मित्त्रा : स्निग्धहृदयाः सर्वेषां मित्त्रभूता वा अरेपसो निर्दोषाः स्वाध्यः सुष्ठुध्यायिनः स्वर्विदः परमात्मज्ञाः। स्वृतो भासेति स्वर्निरुक्तौ यास्कः (निरु० २।१४)। सोमाः सौम्या भक्ताः पवन्ते गच्छन्ति दर्शनेन सर्वान्कृतार्थयितुं सदाचारे स्थापयितुं चेति भाव ॥ ॥४ ॥

† सुवानाः ।

५४९. †अभी नो वाजसातमं रयिमर्षं‡शतस्पृहम् ।
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं *विभासहम् ॥
(ऋ. ९।९८।१)

अम्बरीषो वार्षागिर ऋजिष्वा भारद्वाजश्च ऋषी ।

हे इन्द्रो भव्यजीव नोस्माकं वाजसातममतिशयेन बलदातारं रयिं मोक्षदातारं शतस्पृहं बहुभिर्भव्यैः स्पृहणीयं सहस्रभर्णसं सर्वेषां पालयितारं तुविद्युम्नं महायशसं विभासहं विभ्वसहं महतामप्यभिभवितारं परमात्मानमभि अर्ष अभिगच्छ ॥ ५ ॥

५५०. अभी नवन्ते अद्रुहः प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
वत्सं न पूर्वं आयुनि जातं रिहन्ति मातरः ॥
(ऋ. ९।१००।१)

रेभसूनू काश्यपावृषी ।

भगवद्भक्तानां स्वभावमाह। जातमुत्पन्नं पूर्वे आयुनि वयसि स्थितं वत्सं न वत्सं यथा मातरो गावो रिहन्ति लिहन्ति तथैव अद्रुहो न कस्मैचिद्द्रुहन्ति ते द्रोहरहिता भगवद्भक्ता इन्द्रस्य परमात्मनः प्रियं हृद्यं काम्यमिष्टं च सर्वं जनमभी नवन्ते अभिगच्छन्ति। अभेदेनैव सर्वं पश्यन्तीतिभावः। नवतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४ २९) ॥ ६ ॥

५५१. आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम् ।
$शुक्रा वि यन्त्यसुराय निर्णिजे विपामग्रे
§महीयुवः ॥ ७ ॥ (ऋ. ९।९९।१)

---

† अभि । ‡ पुरुस्पृहम् । * विभ्वासहम् । ꣡ स्तन्वन्ति ।
$ शुक्रां वयन्त्यसुराय निर्णिजं । § महीयुव ।

रेभसूनू काश्यपावृषी ।

महीयुवः परमात्मनः पूजां कामयमानाः । मह्यते पूज्यत इति महिः परमात्मा तं युवन्ति मिश्रयन्ति स्वस्मिन्धारयन्तीति महीयुव इति वा । शुक्रा दीप्तिमन्तो भक्ता विपां विपानां विपश्चितां मेधाविनाम् । विप इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१४) । अग्रे पुरस्तात् निर्णिजे शुद्धिकर्त्रे असुराय भक्तिरसाय । असून्प्राणान् राति ददातीति । भक्तिर्हि मृततुल्येभ्यो निर्देवमनुष्येभ्यो जीवनं ददाति । भक्तिरसं वर्धयितुं वि यन्ति विशेषेण गच्छन्ति । तत्र गता मेधाविभिरुपदिष्टाश्च ते पौंस्यं बलवत् । पौंस्यं बलमिति निघण्टुः (५।९।२४) धनुः गतिम् । धन्वतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।६४) बलवतीं गतिमित्यर्थः । हर्यताय प्रेप्सिताय । हर्यतिः कान्तिकर्मा (निघ० २।६।१०) । धृष्णवे सर्वदुष्टाभिभावयित्रे परमात्मने आ तन्वन्ति विस्तारयन्ति ॥ ७ ॥

५५२. परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
योदेवान्विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति ॥
(ऋ. ९।९८।७)

अम्बरीषो वर्षागिर ऋषिः ।

भक्तास्त्यं तं हर्यतं प्रेप्सितं बभ्रुंभर्तारं हरिं हर्तारं पापानां परमात्मानं वारेण वारशः क्रमशः पुनन्ति शोधयन्ति अर्चन्तीतियावत् । तं कम् ? यो मदेन सह प्रसादेन सह विश्वा विश्वान्सर्वान्देवान् भक्तान् इत् एव परिगच्छति प्राप्नोति ॥ ८ ॥

५५३. †प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः ।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥९॥
(ऋ. ९।१०१।१३)

---

† प्रसुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः ।

प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ऋषिः ।

मर्तो मनुष्यो भक्तोन्धस आध्यातव्यस्य भगवतः प्रसादाय सुन्वानायोत्पाद्यमानाय भक्तिरसाय तद्वचो विरुद्धमनिष्टं वचो न वष्ट न कामयतु । बहवः सन्ति वक्तारोनिष्टानां वचसां भक्ति-निन्दारूपणाम् । न ते श्रोतव्या इति भावः । श्वानं श्ववेतस्तत-तश्चरन्मनुष्यः श्वोच्यते । आराधसं भगवदनाराधकं च यूयम् । अपहत त्यजत । तत्र दृष्टांतः । भृगवः पक्वज्ञानाः । भ्रस्ज पाके । उः प्रत्ययः । सम्प्रसारणं सलोपश्च । मखं न यज्ञमिव । यथा ज्ञानिनो मखं कर्मातिमकं हिंसात्मकं च परित्यजन्ति तद्वदित्यर्थः ।३

इति षष्ठी दशतिः । इत्यष्टमः खण्डः



५५४ अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो
अधि येषु वर्धते । आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि
रथं विष्वञ्चमरुहद्विचक्षणः ॥ १ ॥ (ऋ. ९।७५।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्र पवमानः सोमो देवता जगती छन्दश्च । प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः । अभि प्रियाणीति । कविर्भार्गव ऋषिः ।

चनोहितो भक्तिप्रियः । चनोन्नम् (निघ० ४।३।६४) । तच्च भक्तिरूपम् । यह्वो महान् भक्तः प्रियाणि नामानि अभि पवते अभिगच्छति । बहुषु नामसु परमात्मनो यानि प्रियाणि तानि स्वीकरोतीत्यर्थः । येषु च नामसु गृहीतेषु भवतोभि वर्धतेभिवृद्धिं गच्छति । पश्चाद् विचक्षणो विविधज्ञानवान्स बृहन् महान् भवतो बृहतो व्यापकस्य सूर्यस्य परमेश्वरस्य । सरति सर्वत्रेति सूर्यः । विष्वञ्चं सर्वासु दिक्षु गमनशीलमधि रथं अधिकं श्रेष्ठं रथमरु-हत् आरोहति । परमात्मरथारोहणं नाम तत्सायुज्यप्राप्तिः ॥

५५५. अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः प्र †स्वानासो बृहद्देवेषु हरयः। वि चिदश्नाना इषयो अरातयोऽर्यो नः सन्तु सनिषन्तु नो धियः ॥ २ ॥

(ऋ. ९।७९।१)

कविर्भार्गव ऋषिः।

अचोदसो न चोदश्चोदना येषां ते स्वतन्त्राः परमात्मनिरता इन्दव इद्धा ज्ञानदीप्ताः स्वानासः सुखेनाननवन्तो हरयः पापहरणशीला भक्ता नोऽस्मान् बृहद्देवेषु बृहन्तो देवा भक्ता येषु तेषु स्थानेषु धन्वन्तु प्रापयन्तु। ये चेषयो भक्तिरूपान्नमिच्छन्तोऽश्नानास्यादृशमन्नं भुञ्जानाः सन्तु। ये च नोऽस्माकमर्यो रयस्तेरातयो निर्धनाः सन्तु। धियो बुद्धयः सद्बुद्धय इत्यर्थः नोऽस्मान् सनिषन्तु भजन्तु ॥ २ ॥

५५६. एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो ‡वपुष्टमः। *अभ्यृ३ तस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाश्रा अर्षन्ति§पयसा च धेनवः ॥३॥

(ऋ. ९।७७।१)

कविर्भार्गव ऋषिः।

मधुमान् माधुर्ययुक्त इन्द्रस्य परमेश्वरस्य वज्रो दुष्टसंहारसाधनं वपुष वप्तुः। वपतीति वपुर्वप्ता। यस्मात्कस्मादपि वप्तुर्वपुष्टमो वप्तृतमोऽतिशयेन वप्ता। बहवः सन्ति वप्तारो बीजानां

† सुवानासो बृहद्दिवेषु हरयः। वि च वशन्न इषो अरातयोऽर्यो नशन्त सनिषन्त नो धियः।

‡ वपुष्टरः। * अभीमृतस्य। § पयसेव।

साधवोसाधवश्च भावाः। असाधुभिर्भावैरुप्तानि बीजानि दुःख-द्रुमं जनयन्ति। साधुभिर्वैश्चोप्तानि तानि सुखद्रुमं जनयन्ति। अयं च वप्तृतमः। तेनोप्तानि बीजानि सुखद्रुमं जनयन्ति। ईदृगेष भक्तिरसः कोशे मनसि स्थितः प्र अचिक्रदत् प्रकर्षेण शब्दं करोति। उत्पन्ने भक्तिरसे नामोच्चारणार्थाः शब्दास्त-स्मिन्नेवोपचर्यन्ते। ऋतस्य सत्यस्य तस्य भक्तिरसस्य सुदुघाः सुष्ठु दोग्ध्न्यो घृतश्च्युतः प्रदीप्ति क्षरन्त्यो वाश्राः शब्दवत्यः। वाश्रृ शब्दे। धारा इति शेषः। अभि अर्षन्ति अभिगच्छन्ति परमात्मानमिति शेषः। दृष्टान्तमाह। धेनवो गावो यथा पयसा दुग्धेन दोहनकाल इत्यर्थः। शब्दं कुर्वन्ति तद्वत् ॥ ३ ॥

५५७. प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा
सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरम्। मर्यं इव युवतिभिः
समर्षति सोमः कलशे|शतयामना पथा ॥४॥

(ऋ. ९।८६।१६)

सिकता निवावरी ऋषिका।

इन्दुः प्रदीप्तो भक्तिरस इन्द्रस्य जीवस्य निष्कृतं संस्कृतं स्थानं मनः प्र उ अयासीत् प्रकर्षेण गच्छत्येव। तत्र स सखाभूतः सन् सख्युर्जीवस्य संगिरं सम्यक्प्रार्थनावचो न प्र मिनाति न हिनस्ति। नापमनुत इत्यर्थः। किन्तु मर्य इव। मर्यो मनुष्यः। यथा मनुष्यो युवतिभिस्तरुणीभिः स्त्रीभिः सम् संश्लिष्टो भवति तथैव स भक्तिरसो युवतिभिर्नवोत्पन्नाभिर्भक्तिप्रधानाभिर्वृत्तिभिः समर्षति श्लिष्यति। पश्चात् स इन्द्रोजीवः शतयामना शतं दुर्वृत्तीर्यमयता

|शतयाम्ना।

पथा कलशे मधुरसुखे परमात्मनि अर्षति श्लिष्टो भवति सायुज्यं गच्छतीति भावः ॥ ४ ॥

५५८. धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवाना-
मनुमाद्यो नृभिः। हरिः सृजानो अत्यो न
सत्त्वभिर्वृथा पाजांसि†कृणुषे नदीष्वा ॥ ५ ॥

(ऋ. ९।७६।१)

कविर्भार्गव ऋषिः ।

दिवो दिव्यलोकस्य मोक्षलोकस्य वा धर्ता धारणकर्ता कृत्व्यः प्राप्यः सर्वेषामित्यर्थः । रसो रसस्वरूप आनन्दमय इत्यर्थः । देवानां विदुषां मेधाविनां दक्षोतिशयेन मेधावी नृभिर्मनुष्यैरनुमाद्यः प्रसाद्यो हरिः पापनिवारकः परमात्मा नदीषु अव्यक्तशब्दकारिणीषु शान्तासु वृत्तिषु पवते गच्छति पाजांसि बलानि च आ कृणुवे कृणुते कुरुते । पुरुषव्यत्ययः । तत्र दृष्टान्तः । सृजानः सज्जोक्रिय-माणोत्योश्वो न इव, सत्त्वभिर्बलैर्वृथानायासेन सज्जीक्रियमाणोश्वो यथा गच्छति तद्वत् । पाज इतिबलनाम (निघ० २।९।२) ॥ ५ ॥

५५९. वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो‡अह्नां प्र
तरी*तोषसां दिवः। प्राणा सिन्धूनां कलशाँ
अचिक्रददिन्द्रस्य हार्द्याविशन्मनीषिभिः ॥ ६ ॥

(ऋ. ९।८६।१९)

सिकता निवावरी ऋषिका ।

मतीनां मेधाविनां वृषा कामसन्तर्पको विचक्षणो विशेषेण द्रष्टा अह्नां दिनानामुषसां ब्राह्ममुहूर्तानां दिवो द्युलोकस्य च प्र

---

†कृणुते । ‡अह्नः । *तोषसो....।

तरीता प्रकर्षेण प्लविता। नास्ति भक्तिरसस्य कापि मर्यादाह्नि वोषसि वा दिवि वा पृथिव्यां वानुष्ठेयः स इति। अतः स सर्वमतिक्रम्य तिष्ठति। सिन्धूनां स्यन्दनशीलानां प्राणिनां मनुष्याणामित्यर्थः। प्राणा प्राणः एवंभूतो भक्तिरसो ममोषिभिर्मेधाविभिः सत्कृत्यस्येन्द्रस्य जीवस्य हार्दि हृदयम् आ विशन्प्रविशन् कलशान् कलं मधुरं माधुर्यं वा श्यन्ति तनूकुर्वन्ति ये तान्क्रूरान् अचिक्रदन्माधुर्यं मा व्यपनयेत्यशव्दायतेत्यर्थः॥ ६॥

५६०. त्रिरस्मै सप्त धेनवो†दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं
परमे व्योमनि। चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे
चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत॥ ७॥

(ऋ. ९।७०।१)

रेणुर्वैश्वामित्र ऋषिः।

परमे सर्वश्रेष्ठेलौकिके व्योमनि व्यापके व्यवति व्याप्नोति सर्वं जगदिति। सर्वरक्षके वा विशेषेणावतीति। यद्यदायं भक्तिरस ऋतैः सत्यैरवर्धत तदा अस्मै भक्तिरसाय सप्त धेनवो भक्तिभूमिकास्त्रिर्वारत्रयं प्रातः सायं मध्याह्ने च, सततमिति तात्पर्यम्। सत्यां सत्यमाशिरमाश्रयम्। आङ्पूर्वाद्श्रयतेरूपम्। दुदुह्रिरे दुहन्ति। सततं सत्यस्वरूपं परमात्मानमाश्रयत्वेनोपस्थापयन्तीतियावत्। किं चायं भक्तिरसोन्या अन्यानि भुवनानि मनःक्षालनसमर्थानि विवेकवैराग्यषट्सम्पत्तिमुमुक्षारूपाण्युदकानि निर्णिजेन्त शोधनाय चक्रे प्रवर्तयति। भुवनमित्युदकनाम (निघ० १।१२।५०) भक्त्यैव भगवद्विषयिण्या रत्यैव विवेकादयो जायन्ते वर्धन्ते च॥ ७॥

†दुह्रे।

५६१. इन्द्राय सोम सुषुतः परि स्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह। मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः ॥ ८ ॥ (ऋ. ९।८५।१)

वेनो भार्गवः ऋषिः ।

हे सोम भक्तिरस इन्द्राय परमात्मने सुषुतः सम्यक् सम्पादितस्त्वं परि स्रव परितः स्रवमैकदेश एव तिष्ठ सर्वतः प्रसरेति भावः। अमीवा हिंसिता बाधको भगवद्विमुख इत्यर्थः। रक्षसा कामेन सह। रक्षो रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा रात्रौ नक्षत इति वेति यास्कः। अप अपगतो भवतु। यत्र यत्रायं रसः प्रसृतो भवति तत-स्तत उच्छृङ्खला लोका कामश्च व्यपगता भवन्ति। कामो हि महान् शत्रुस्तेन रक्ष एवायम्। अस्मादेव जनो विशेषेण रक्ष्यते। रहस्येवायं क्षणोति जनम्। रात्रावेवायं नक्षते गच्छति प्रसरति। द्वयाविनो द्वयम् भगवद्विषयको रागो जगद्विषयकश्चेतिद्वयमवन्ति ते तव रसस्य स्वादेन मा मत्सत न माद्यन्तीतिभावः। अनन्यया भक्त्यैव परमात्मविषयक उन्मादो भवति। यश्च रागासक्तोपि भक्तिरसं पिपासति वस्तुतो नैव भवति स तद्रसास्वादभाक्। ये चेन्दवः प्रदीप्ताः प्रदीप्त-वैराग्या इत्यर्थः। ते इहास्मिन् भक्तियज्ञे द्रविणस्वन्तः परमेश्वररूप-धनसम्पन्नाः सन्तुः ॥ ८ ॥

५६२. असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत्। पुनानो वार†मत्येष्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतव‡न्तमासदत् ॥ ९ ॥

(ऋ ९।८२।१)

† पर्येत्यव्ययं। ‡ मासदम्।

वसुर्भारद्वाज ऋषिः ।

अरुषः शान्तो वृषा कामानां वर्षको भगवत्तत्त्वोपस्थापक इत्यर्थः । हरिर्मनोहरो दस्मः सर्वविकारोपक्षेप्ता । दसु उपक्षये । सोमो भक्तिरसोसावि सूयते प्रादुर्भवति । राजेव गा अभि सर्वा गाः पृथिवीरभि अभितश्चाचिक्रदत् शब्दं करोति । पुनानः सन्सर्वान्मनुष्यान्; अव्ययमविनश्यं चिरस्थायिनमित्यर्थः । वारं विभागस् । वृङ् संभक्तौ । भेदमिति यावत् । अत्येषि अत्येति अतिक्रामति । घृतवन्तं प्रकाशवन्तं योनिं जगदुत्पादकं परमात्मानं श्येनो न श्येनः प्रशस्यः प्रशस्यगतिको वा । श्येनः शंसनीयं गच्छतीति यास्कः । स आसदत् आसीदति प्राप्नोतीत्यर्थः । न साम्प्रतार्थे ॥ ९ ॥

५६३. प्रदेवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव
आ न धेनवः । बर्हिषदो वचनावन्त ऊधभिः
परिस्रुतमुस्त्रिया निर्णिजं धिरे ॥ १० ॥

(ऋ. ९।६८।१)

वत्सप्रिर्भालन्द ऋषिः ।

मधुमन्तो मधुरभक्तिरसास्वादिन इन्दवो भक्ता देवमच्छ परमात्माभिमुखं प्र असिष्यदन्त प्रस्यन्दन्ते गतिमन्तो भवन्तीत्यर्थः । तत्र दृष्टांतः । आ धेनवो गावो न । धेनवः प्रीणयित्र्यः । धेनुर्धयतेर्वाधिनोतेर्वेति यास्कः (निरु० ११।४२) । गावो वाच इव । यथा प्रीणनकुशला वाचः परमात्मानं गच्छन्ति तद्वत् । किं च वचनावन्तः शब्दवन्तः स्तोत्रपाठिन इत्यर्थं । बर्हिषदो भक्तियज्ञमण्डपस्थिता उस्त्रियाः रश्मिवन्तो भक्ता परिस्रुतमुत्पन्नं निर्णिजं पोषकं परमात्मानम् ऊधभी रसैः । उन्दी क्लेदने । रसो हि क्लिन्नो भवति । धिरे धारयन्ति ॥ १० ॥

५६४. अञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति † मध्वाभ्यञ्जते
सिन्धोरुऽच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः
‡पशुमप्सु गृभ्णते ॥ ११ ॥ (ऋ. ९।८६।४३)

गृत्समदः शौनक ऋषिः ।

हिरण्यपावा ज्योतिस्स्वरूपेश्वरनिरता भक्ताः क्रतुं कर्तारं जगतः परमात्मानमित्यर्थः अञ्जते गच्छन्ति । व्यञ्जते व्यक्तं कुर्वन्ति साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः । समञ्जते कान्तिमन्तं कुर्वन्ति । मध्वा मधुरेण भक्तिरसेन अभ्यञ्जते आर्द्रीकुर्वन्ति । रिहन्ति लिहन्ती आस्वादयन्ति च । सिन्धोः स्यन्दनशीलस्य जीवस्य उच्छ्वासे उछ्वासनाय पतयन्तमायान्तमाविर्भवन्तमुक्षणं मनोरथसेचकं पशुं द्रष्टारम् । सर्वं समानं पश्यतीति । अप्सु उपासनाप्रवाहेषु गृभ्णते गृह्णन्ति ॥ ११ ॥

५६५. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि
पर्येषि विश्वतः । अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते
श्रृतास इद्वहन्तः *सं तदाशत ॥ १२ ॥
(ऋ ९।८३।१)

पवित्र आङ्गिरस ऋषिः ।

हे ब्रह्मणस्पते जानपते ते तव पवित्रं रश्मयः प्रकाशा विततं वितताः । तेन प्रभुः समर्थः सन् विश्वतो विश्वस्य सर्वस्य गात्राणि शरीराणि पर्येषि व्याप्नोषि । "पवित्रं पुनातेः । मन्त्रः पवित्रमुच्यते । ·········रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते । ·······आपः पवित्रमुच्यन्ते ।

† मधुना । ‡ पशुमासु । * तत्समाशत ।

"........अग्नि पवित्रमुच्यते । वायुः पवित्रमुच्यते । ....सोमः पवित्रमुच्यते । सूर्यः पवित्रमुच्यते । ....इन्द्रः पवित्रमुच्यते" इति यास्कः (निरु० ५।६) । अतप्ततनूर्येन न तप्ता स्वतनूर्व्रतादिना ब्रह्मचर्यादिना च सः, अत एव आमः संश्लिष्टः संसारसुखदुःखादिभिः । अम गत्यादिषु । गत्यादयश्च गतिप्रेरणश्लेषणदीप्तिकान्त्यादयः । तं सर्वव्यापकमपि सर्वशरीरेषु संन्निहितमपि परमात्मानं न अश्नुते प्राप्नोति । शृतास इत् शृता एव यमनियमादिपालनैः परिपक्वा दग्धकषाया एव तत् तं वहन्तो धारयन्तो हृदयप्रदेश इति यावत् । सम् आशत समश्नुते ॥ १२ ॥

इति सप्तमी दशतिः । इति नवमः खण्डः



५६६. इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः ।
श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः ॥ १ ॥

(ऋ. ९।१०६।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्र पवमानः सोमो देवता । उष्णिक् छन्दः । प्रतिमन्त्रमृषिं निर्देक्ष्यामः । इन्द्रमिति । अग्निश्चाक्षुष ऋषिः ।

इमे सुता आरब्धा हरयो हारिण इन्दवः प्रदीप्ता जातासः संजाताः स्वर्विद आनन्दानुभविनः सन्तो भक्तिरसाः श्रुष्टे श्रुष्ट्यै परमशिवायास्माकं वृषणं सर्वमनोरथानां वर्षितारमिन्द्रं परमात्मनमच्छ आभिमुख्येन यन्तु गच्छन्तु श्रुष्टीशब्दः सुखवाचकः । व्याप्त्यर्थकोपि (निघ० ४।३।५०) श्रुष्टीति क्षिप्रनामाश्वष्टीति यास्कः (निरु० ६।१२) ॥ १ ॥

५६७. प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परि स्रव ।
द्युमन्तं शुष्ममा भर स्वर्विदम् ॥ २ ॥ (ऋ. ९।१०६।४)

चक्षुर्मानव ऋषिः ।

हे सोम भक्तिरस जागृविर्जागरणशीलस्त्वं प्र धन्व प्रकर्षेण गच्छ परमात्मानम् । रिवि रवि धवि गत्यर्थाः । हे इन्दो प्रदीप्त भक्तिरस इन्द्राय परमात्मने परि स्रव परितः स्रवणशीलो भव । किं च द्युमन्तं द्युमद् दीप्तिमत् स्वर्विदं सुखलम्भकं शुष्मं बलमा भर आहर देहीत्यर्थः ॥ २ ॥

५६८. सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत ।
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥ ३ ॥ (ऋ. ९।१०४।१)

पर्वतनारदौ काण्वौ ऋषी ।

हे सखाय उपस्थिता बन्धव आ आगच्छत । नि षीदतोपविशत । पुनानाय अस्मान् पवित्रान्कुर्वाणाय भक्तिरसाय प्र गायत प्रकर्षेण गायत । तं स्तुतेत्यर्थः । यज्ञैः पूजनैः । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । श्रिये कल्याणाय शिशुं स्तनन्धयं बालं परि भूषत अलङ्कुरुत । बाल्यावस्थात एव भक्तिसंस्कारैः संस्करणीयाः पुत्रादय इति भावः । अथवातिशयप्रेमपात्रताद्योतनाय शिशुशब्दप्रयोगः । नेति साम्प्रतार्थे ॥ ३ ॥

५६९. तं व सखायो मदाय पुनानमभि गायत ।
शिशुं न†हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥ ४ ॥
(ऋ. ९।१०५।१)

पर्वतनारदौ कण्वौ ऋषी ।

हे सखायः पुनानं सर्वान्मनुष्यान् शोधयन्तं तं परमात्मानं मदाय निजानन्दाय वो यूयं प्र गायत प्रकर्षेण स्तुत । गूर्तिभिः स्तुतिभिश्च

† यज्ञैः ।

हव्यैः खाद्यपदार्थैः शिशुं न शिशुमिव । "शिशुः शंसनीयो भवति । शिशीतेर्वा स्याद्दानकर्मणश्चिरलब्धो गर्भो भवति ।" इति यास्कः (निरु० १०।३९) । तं परमेश्वरं स्वदयन्त स्वदध्वम् ।। ४ ।।

५७०. †प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ।। ५ ।।

(ऋ ९।१०२।१)

त्रित आप्त्य ऋषिः ।

महीनां वाचाम् । महीति वाङ्नाम (निघ० १।११।४७) प्राणा प्रीणयिता शिशुः प्रशंसनीयः परमात्मा ऋतस्य सत्यस्य स्वस्य दीधितिं प्रकाशं हिन्वन् सर्वत्र प्रेरयन् प्रिया प्रियाणि विश्वानि सर्वाणि जगन्ति परि भुवत् परिभवति वशीकरोति । अध अथ अत एव द्विता द्वैतं भवति एको वश्योन्यश्च वशयितेति स्पष्टमेवात्र द्वैतम् । जीवाः परमात्मनः प्रियाः सन्त्यत एव स भक्तवत्सल इत्युच्यते ।। ५ ।।

५७१. पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
आ कलशं मधुमांत्सोम नः सदः ।। ६ ।।

(ऋ. ९।१०६।७)

मनुराप्सव ऋषिः ।

हे इन्दो समिद्ध सोम भक्तिरस देववीतये देवानां महतां भक्तानां कातये । वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु । धाराभिः शक्तिभिरोजसा बलेन च पवस्व प्राप्नुहि देवानेव । किंच मधुमान्परममाधुर्ययुक्तस्त्वं नोस्माकं कलशाकारं परमेश्वरकलाधारंवा हृदयम् आ

† प्राणा ।

सद आसीद । कलशः कस्मात्कला अस्मिञ् शेरते मात्राः (निरु० ११।१२) ॥ ६ ॥

५७२. सोमः पुनान ऊर्मिणा†व्यं वारं वि धावति ।
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ॥ ७ ॥
(ऋ. ९।१०६।१०)

अग्निश्चाक्षुष ऋषिः ।

पुनानः शोधयन् सर्वान् स पवमानः स्वयं पूतः सोमो भक्तिरस ऊर्मिणा तेजसा शक्त्या अव्यं रक्ष्यं वारं वृतं स्वीकृतं भक्तं वि धावति । भक्तानां सान्निध्यं दधातीत्यर्थः । वाचः स्तुतिरूपाया अग्रे कनिक्रदत् शब्दं च करोति स्तूयते हि भक्तिः । भक्तिस्तु हृदये संनिहिता एव । स्तुतिरूपाया वाचः पुरस्तात्, आगतास्मीति वदन्त्येव भक्तिरुपस्थितेति कल्प्यते ॥ ७ ॥

५७३. प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच †उच्यते ।
भृतिं न भरा मतिभिर्जुजोषते ॥ ८ ॥ (ऋ. ९।१०३।१)

द्वित आप्त्य ऋषिः ।

पुनानाय शोधकस्य वेधसे मेधाविनः । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । सोमाय शान्तये भक्तिरसाय वच उच्यते प्रार्थ्यते हि सः । किं प्रार्थ्यते ? जुजोषते प्रीतिं त्वयि कुर्वते सेवमानाय वा त्वां मतिभिः कर्मभिर्बुद्धिभिरुपदेशैर्वा भृतिं भर पोषणं कुर्वित्यर्थः । अचेतनेपि भक्तिरसे भक्ताश्चेतनवद्व्यवहरन्तीति नियमः । नेति पादपूरणाय ॥ ८ ॥

---

† व्यो । ‡ उद्यतम् ।

५७४. गामन्न इन्दो अश्ववत्सुतः सुदक्ष †धनिव ।
शुचिं ‡च वर्णमधि गोषु *धारय ॥ ९ ॥
(ऋ. ९।१०५।४)

पर्वतनारदौ काण्वा ऋषीः ।

हे सुत उत्पादित सुदक्ष सुबल । दक्षेतिबलनाम । इन्दो भक्तिरस त्वं नोस्मान् गोमत् गोमतो विद्यावतोश्ववदश्ववतः परमात्मनि व्याप्तिमतश्च धनिव धन्व गमय कुर्वित्यर्थः । तथास्माकं गोषु वाक्षु च शुचिं पवित्रं वर्णमक्षरमधि धारय स्थापय । सदा वयं सत्यं वदेमेतिभावः ॥ ९ ॥

५७५. अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत ।
गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि ॥ १० ॥
(ऋ. ९।१०४।४)

पर्वतनारदौ काण्वा ऋषीः ।

अस्मभ्यमस्माकं वाणीर्वाचः वसुविदं शान्तिधनप्रापकं त्वा त्वामभि अनूषत अभिष्टुवन्ति । ते तव वर्णं गुणकथां गोभिर्वाग्भिर्वासयामसि वासयाम आच्छादयामः ॥ १० ॥

५७६. पर्वते हर्यंतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या ।
‡अभ्यर्षं स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥ ११ ॥
(ऋ. ९।१०६।१३)

अग्निश्चाक्षुष ऋषिः ।

हर्यतः कान्तः । हर्यं गतिकान्त्योः औणादिकोतच् । हरिर्मनोहरो

†धन्व । ‡ते । *दीधरम् । ‡अभ्यर्षन् ।

भक्तिरसो रंह्या वेगेन ह्वरांसि कुटिलान्विचारान् अति पवते अतीत्य गच्छति। नहि भक्तिः कुटिलेषु संभवतीतिभावः। हे भक्तिरस! स्तोतृभ्यः स्तोत्रं पठद्भ्यो वीरवद् वीरैर्भक्तैः प्राप्यं यशोभ्यर्ष अभ्यर्षय प्रापय ॥ ११ ॥

५७७. परि कोशं मधुश्चुतं †सोमः पुनानो अर्षति।
अभि वाणीर्ऋषीणां सप्तानूषत ॥ १२ ॥

(ऋ. ९।१०३।३)

द्वित आप्त्य ऋषिः।

सोमो भक्तिरसो मधुश्चुतं माधुर्यसोतारं कोशं मनः पुनानः पवित्रं कुर्वन् परि अर्षति परितो गच्छति। ऋषीणां वेददृष्टीनां सप्त वाणीर्वाचः सप्तच्छन्दोरूपा अभि नूषत अभ्यनूषत तमभिनुवन्ति ॥ १२ ॥

इत्यष्टमी दशतिः। इति दशमः खण्डः



५७८. पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो
मदः। महि द्युक्षतमो मदः ॥ १ ॥ (ऋ. ९।१०८।१)

अस्यां दशत्यां सर्वत्र पवमानः सोमो देवता। छन्दश्च पञ्चमस्य यवमध्या गायत्री। अन्येषां ककुप्। ऋषयो निर्देक्ष्यन्ते। पवस्वेति। गौरवीतिः शाक्त्य ऋषिः।

हे सोम सामरस भक्तिरस त्वमिन्द्राय परमात्मने परमात्मानं प्रीणयितुमित्यर्थः पवस्व गच्छ। कीदृशस्त्वम्। मधुमत्तमोतिशयेन

† अव्यये वारे अर्षति।

कर्मठो ज्ञानी वा। महि महनीयः द्युक्षतमोतिशयेन दीप्तः। मदो मदयिता। मदस्य द्विरुक्तिः सोढव्या ॥ १ ॥

५७९. अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव
†देवयुम्। वि कोषं मध्यमं युव ॥ २ ॥ (ऋ. ९।१०८।९)

ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरस ऋषिः।

हे इषस्पते कामानामधिपते देव परमात्मन् देवयुं देवकामाय। चतुर्थ्यर्थे द्वितीया। भवन्तमिच्छते भक्ताय द्युम्नं ज्ञानान्नं बृहन्महद्यशश्च दिदीहि देहि। मध्यमं च कोशमन्तःकरणं वि युव उद्घाटय। यु मिश्रणामिश्रणयोः। येन तत्र तव दर्शनं स्यात् ॥

५८०. आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं
रजस्तुरम्। वन‡ प्रक्षमुदप्रुतम् ॥ ३ ॥
(ऋ. ९।१०८।७)

ऋजिष्वा भारद्वाज ऋषिः।

हे भक्ता भक्ति भक्तिरसं वा सोत प्रादुर्भावयत। अश्वं न व्यापकं परमात्मानमिव सम्यक् परि षिञ्चत प्रसादयत। कीदृशं परमात्मानम्? स्तुत्यम्। अप्तुरमपां सत्कर्मणां प्रेरकम्। रजस्तुरं प्रकासप्रेरकम्। रज इति प्रकाशनाम। वनप्रक्षं वनं रश्मिः। (निघ० १।५।८) स एवान्नं यस्य। प्लक्ष अदने रलयोरैक्यम्। उदप्रुतमुदेन जलेन श्रद्धारूपेण प्रुत प्लुतमुद्गमनं यस्य तम् ॥ ३ ॥

५८१. एतमु त्यं मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवो*दुहम्।
विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥ ४ ॥ (ऋ. ९।१०८।११)

† देवयुः। ‡ कक्ष...। * दुहः।

कृतयशा आङ्गिरस ऋषिः ।

हे भक्ता मदच्युतं हर्षवर्षितारम् सहस्रधारमनन्तज्ञानम् । धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११।२) लक्षणया ज्ञानमर्थः । वृषभं सर्वमनोरथपूरकं दिवोदुहं दिव्यस्य तत्त्वस्य दोग्धारं विश्वानि सर्वाणि वसूनि धनानि लौकिकान्यलौकिकानि च बिभ्रतं त्यं तमेतम् एतमेव परमात्मानं स्तुतेतिशेषः ॥ ४ ॥

५८२. स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडानाम् । सोमो यः सुक्षितीनम् ॥ ५ ॥

(ऋ. ९।१०८।१३)

ऋणञ्चयो राजर्षिर्ऋषिः ।

स सोमः सामरसो भक्तिरसः सुन्वे सूयते यो वसूनां सर्वविधधनानां, यो रायां ज्ञानानां यश्चेडानां पृथिवीनां यश्च सुक्षितीनां सुनिवासानां दिव्यलोकानां नेता प्रापकोस्ति ॥ ५ ॥

५८३. त्वं †ह्या३ङ्ग दैव्यं पवमान जनमानि द्युमत्तमः । अमृतत्वाय ‡घोषयन् ॥ ६ ॥

(ऋ. ९।१०८।३)

शक्तिर्वासिष्ठ ऋषिः ।

हे अङ्ग पवमान भक्तिरस ! त्वं हि द्युमत्तमोतिशयेन प्रकाशवान् दैव्यं दैव्यानि जनिमानि दिव्यजन्मनो महाभक्तानमृतत्वाय मोक्षाय घोषयन्घोषयसि दिव्यजन्मस्वेव भगवत्या ईश्वरभक्तेरवतार इति भावः ॥ ६ ॥

† ह्यऽङ्ग दैव्या । ‡ घोषयः ।

५८४. एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः । क्रीडन्नूर्मिरपामिव ॥ ७ ॥

(ऋ. ९।१०८।५)

ऊरुराङ्गिरस ऋषिः ।

एष स्य स जगद्रूपेण सर्वत्र विद्यमानो मदिन्तमः प्रसन्नतमो वारेभिर्वृतैर्भक्तैः अव्या अवये रक्षायै दुःखेभ्यो दुर्मार्गेभ्यश्च, सुतः उत्पादितो भक्तिरसोपां जलानामूर्मिरिव तरङ्ग इव क्रीडन् रममाणो धारया परम्परया एकस्माज्जनादन्यमितिरीत्या पवते गच्छति ॥ ७ ॥

५८५. य उस्रिया †अपि या अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा । अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवा रुज । ओ३म् वर्मीव धृष्णवा रुज ॥ ९ ॥ (ऋ. ९।१०८।६)

ऋजिष्वा भारद्वाज ऋषिः ।

ये उस्रिया रश्मयः प्रकाशा भगवद्भक्तिजन्या अपि च या अन्तरश्मनि अन्तर्व्यापके परमात्मनि गा गावो रश्मयस्ते सर्वे ओजसा तेजसा निर् अकृन्तत् निरकृन्तन् निष्कृन्तन्ति नितरां छिन्दन्ति भवपाशानिति शेषः । ततो हे भक्त गव्यं गोसम्बन्धिनं ज्ञानसम्बन्धिनमश्व्यमश्वसम्बन्धिनं परमात्मसम्बन्धिनं व्रजं स्थानं त्वं तत्निषे तनोषि व्याप्नोषि । हे घृष्णो शत्रुघर्षणशील भक्तजीव ! वर्मीव कवचीव आ रुज आ भङ्ग्धि हिन्धि भवजालमिति । यथा

† अप्या अन्तरश्मनो ।

कवची स्वयमनपहतः शत्रून् हन्ति तद्वत्। ओ३म् वर्मीव धृषणवा रुजेत्यावृत्तिस्तु पूर्वार्चिकसमाप्तिसूचनार्था ॥ ८ ॥

इति नवमी दशतिः। इत्येकादशः खण्डः

इति षष्ठस्य प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः।

इति षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः

इति पञ्चमोध्यायः

इति सौम्यं पावमानं काण्डं पर्व वा समाप्तम्

इति पूर्वार्चिकः (छन्द आर्चिकः)



अथ आरण्यं काण्डम्

अथ षष्ठोध्यायः

५८६. इन्द्र ज्येष्ठं न आ †भर ओजिष्ठं पुपुरि
श्रवः । ‡यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी *उभे
सुशिप्र पप्राः ॥ १ ॥ (ऋ ६।४६।५)

शयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः । इन्द्रो देवता बृहती छन्दः ।

हे इन्द्र ! परमप्रदीप्त परमैश्वर्य वा । "इन्द्र इरां दृणाति वेरां ददातीति वेरां दधातीति वेरां दारयत इति वेरां धारयत इति वेन्दवे द्रवतीति वेन्दौ रमत इति वेन्धे भूतानीति वेति" यास्कः (निरु० १०।८)। हे वज्रहस्त वज्र इव सुरक्षको भक्तानां हस्तो यस्य स तत्सम्बुद्धौ । हे सुशिप्र सुक्षिप्र अविलम्बेन दीनरक्षानिपुण परमात्मन् नोस्माकं ज्येष्ठं श्रेष्ठमोजिष्ठं तेजःकरं पुपुरि-पपुरि सर्वथा मनोरथपूरकं शान्तिप्रदं वा श्रवो यशः । श्रूयत इति । पिपर्ति पपुरिरिति पृणातिनिगमौ प्रीणातिनिगमौ वेति वदन्यास्कः (निरु० ५।२४) पपुरीतिपाठं मन्यते । अन्नं वा ज्ञानरूपम् । तदेव हि ज्येष्ठमोजिष्ठं पुपुरि च भवितुमर्हति । न लौकिकान्नम् । आ भर आपूरयाहर वा । यद् यस्माद्दिधृक्षेम कामादीन् शत्रून् पराभवेम । येन चान्नेन यशसा वा त्वमुभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ पप्राः सर्वथा पूरयसि ॥ १ ॥

---

† भरं । ‡ येनेमे चित्र वज्रहस्त । * ओभे ।

५८७. इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि†क्षमा
विश्वरूपं यदस्य । ततो ददाति दाशुषे वसूनि
चोदद्राध‡उपस्तुतं चिदर्वाक् ॥ २ ॥ (ऋ. ७।२७।३)

वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।

इन्द्रः परमात्मा जगतो जङ्गमस्य । गच्छतीति जगत् । चर्षणीनां मनुष्याणामधिक्षमा पृथिव्यामस्य परमात्मनो यद्विश्वरूपं सर्वरूपम् । दृश्यं सर्वं तस्यैव रूपमितिभावः । अस्तीतिशेषः । तस्यापि चेतिशेषः राजाधिष्ठाता । अस्ति । ततस्तस्मादेव दाशुषे भक्ताय पात्राय अर्वाक् चित् अभिमुख एव शीघ्रमेव वा वसूनि दिव्यसम्पद उपस्तुतं सर्वैः प्रशस्यं राधो धनं भक्तिरूपं ज्ञानरूपं चं चोदत् चोदयति प्रेरयति ददाति ॥ २ ॥

५८८. यस्येदमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः ।
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ ३ ॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गौतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।

रजोयुजो ज्योतिर्मयस्य । रज इतिप्रकाशनाम् । यस्येन्द्रस्य परमेश्वरस्येदमयं प्रत्यक्षतोनुभूयमानः स्वरज्ञानविनाशको वनं रश्मिः । सु ईरण इति स्वर्शब्दव्याख्यावसरे यास्कः (निघ० २।२१।१३)। इह सामर्थ्याद् वज्रतुल्ये शक्तिः । ईश्वरभक्तिजप्रकाशस्य माहात्म्यमेतत् ॥ ३ ॥

५८९. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं
श्रथाय । *अथादित्य व्रते वयं तवानागसो
अदितये स्याम ॥ ४ ॥ (ऋ. १।२४।१५)

---

† क्षमि विपुरूपं यदस्ति । ‡ उपस्तुतः । * अथा वयमादित्य व्रते तवा ।

शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो देवरातो वैश्वामित्रो वा ऋषिः। वरुणो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

हे वरण वरणीय परमात्मन् उत्तमं पाशं यज्ञादिकर्मरूपं बन्धनं मध्यमं पाशं बन्धनं दानपुण्यादिकमधमं निकृष्टं च पाशं बन्धनं पापाचरणादिकमस्मदस्मत्तो वि विशेषेण अव श्रथय विनाशय। सर्वाण्येव कर्माणि स्वर्गनरकप्रदानि बन्धनान्येव। क्षीणेष्वेव कर्मसु मोक्षदर्शनं भवतीति कर्मविलयाभ्यर्थना। अथ येन बन्धाभावेन हे आदित्य अखण्डनीय वयमुपासका तव व्रते उपासनाकर्मणि अनागसस्त्रुटिरहिताः सन्तोदितयेऽदैन्याय मोक्षलाभाय स्याम समर्था भवेम॥ ४॥

५९०. त्वया वयं पवमानेन सोम भरे कृतं वि चिनु-
याम शश्वत्। तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ता-
मदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ५॥

(ऋ. ९।९७।५८)

कुत्स आङ्गिरस (गृत्समदः) ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

हे सोम भक्तिरस! त्वया पवमानेन भक्तान् प्रति सततगमनशीलेन सहायेन। पवत इति पवमानः। शानन्। भरे भरणे शमदमदीनां स्वात्मनि। डुभृञ् धारणपोषणयोः। भर्त्सने वानिष्टानां कर्मणाम्। भृ भर्त्सने। शश्वन्निरन्तरमविनाशि वा कृतं कर्तव्यं भक्तिरूपं सत्कर्म वि चिनुयाम उपार्जयेम। तत्तस्मात् नोस्मान् मित्रस्त्वत्स्वरूपभूतः सूर्यो वरुणस्त्वत्स्वरूपभूतो जलाधिष्ठाता देवोदितिरखण्डनीया तव शक्तिः सिन्धुर्महासागरः पृथिवी भूमिरियं द्यौर्द्युलोकश्च मामहन्तामतिशयेन पूजयन्तु। भक्तियज्ञे समाचरितैः सत्यब्रह्मचर्यादिभिर्जितकृतेभ्यः सत्यब्रह्मचर्यादिभिर्भक्तप्रमत्ता सूर्या-

तिशायि तेजो वरुणातिशायिनी शान्तिः सागरतिशायि गाम्भीर्यं पृथिव्यतिशायिनी क्षमा द्युलोकातिशायिनी स्पृहणीयता चास्मास्वस्त्विति भावः ॥ ५ ॥

५९१. इमं वृषणं कृणुतैकमिन्माम् ॥ ६ ॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । एकपाज्जगती छन्दः ।

इमं वेदप्रतिपाद्यं भक्त्यैकगम्यं वृषणं सर्वकामानां दातारं परमात्मानमेकं केवलं मामिन्मामेव कृणुत हे विश्वे देवाः । उपासको ज्ञानी स्वस्मिन्परमेश्वरत्वमभ्यर्थयते । भक्तेः परमात्मस्वरूपलाभ एव फलमिति द्योत्यतेनेन ॥ ६ ॥

५९२ स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
वरिवोवित्परि स्रव ॥ ७ ॥ (९।६१।१२)

अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमः । गायत्री छन्दः ।

हे सोम भक्तिरस त्वं वरिवोवित् वरिवो मोक्षो धनं वा । भृशं व्रियते मुमुक्षुभिरिति । भृशं व्रियते लौकिकैरिति वा । तस्य विदसि प्रापकोसि । स त्वं नोस्मासु । विभक्तिव्यत्ययः । परिस्रव प्रादुर्भव । किमर्थम् ? यज्यवे यष्टव्याय इन्द्राय परात्मने सर्वप्राणनकर्त्रे वरुणाय वरेण्याय मरुद्भ्य आचार्येभ्यश्च । एतान्सर्वाननुकूलयितुं वयं शक्ताः स्यामेति त्वमस्मासु प्रादुर्भवेति भावः ॥ ७ ॥

५९३. एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
सिषासन्तो वनामहे ॥ ८ ॥ (ऋ. ९।६१।११)

अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।

हे अर्य स्वामिन्सोय सामरस । अर्य वा इत्यत्र सन्ध्यभाव आर्षः । एना एनेन सोमेन भक्तियज्ञेन मानुषाणां मनुष्याणां

विश्वानि निखिलानि द्युम्नानि तेजांसि सिषासन्तः संभक्तुमिच्छन्तश्चा वनामहे त्वां संभजामहे। वनु षणु संभक्तौ संभक्तिश्च वेदे क्वचित्पूजा क्वचिद्विभागः॥ ८॥

५९४. अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो
अमृतस्य नाम। यो मा ददाति स इदेवमा-
वदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

आत्मा ऋषिः। अन्नं देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

अहं परमात्मैव ऋतस्य परमसत्यस्याविनाशिनो जीवस्यामृतस्य मोक्षं गतस्य च जीवस्य प्रथमजा अस्मि। ये संसारिणो जीवा ये च मुक्तास्तेभ्यः सर्वेभ्योहं प्रथमं प्रादुर्भूतोस्मीति भावः। देवेभ्योपि तथा। यो जीवो मा माम् ददाति स्वं मह्यं समर्पयतीतिभावः। स इत् स एव। एवम् आवद् वदति। कीदृशम्? अहं परमात्मान्नमदनीयं भक्षणीयमन्तःकरणे स्थापनीयमिति भावः। तादृशमन्नं माम् अदन्तं भक्षयन्तं हृदये स्थापयन्तमिति भावः। अद्मि, अहमपि तं स्वस्मिन्स्थापयामि। अस्य मन्त्रस्यान्नं देवता अद्यते भक्ष्यतेन्तःकरणे स्थाप्यत इति व्युत्पत्त्यान्नं परमात्मैव॥

इति प्रथमा दशतिः। प्रथमः खण्डः



५९५. त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च।
परुष्णीषु रुशत्पयः॥ १॥ (ऋ. ८।९३।१३)

श्रुतकक्ष आङ्गिरसः ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः।

उपास्यस्य परमात्मनः शक्तिं स्तौति। हे इन्द्र परमेश्वर कृष्णासु कृष्णवर्णासु सरय्वादिषु रोहिणीषु रोहितवर्णासु शोणादिषु च परुष्णीषु कुटिलगामिनीषु नदीषु। "इरावतीं परुष्णीत्याहुः पर्ववती

भास्वती कुटिलगामिनी" तियास्कः (निरु० ९।२६)। एतद्दृश्यमानं रुशत् रोचमानम्। रुच दीप्तौ। पयो जलं त्वमधारयो धारयसि। त्वत्सामर्थ्यादिवैता नद्यः प्रवहन्तीति भावः। अथवा हे परमेश्वर एतद्रुशद्रोचमानं (निघ० ४।३।५२)। पयो ज्ञानवर्धकं भक्तिकर्म। पयः पिवतेर्वा प्यायतेर्वेति निरुक्ते (२।५)। कृष्णासु कृष्णवर्णासु मलिनस्वभावासु रजःप्रधानासु रोहिणीषु शुद्धस्वाभावासु सत्त्वप्रधानासु परुष्णीषु कुटिलस्वभावासु तमःप्रधानासु च प्रजासु त्वमधारयः पुष्णासि। सर्व एव मानवा भक्तेरधिकारिण इति भावः॥ १॥

५९६ अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा †निमेति
भुवनेषु वाजयुः। मायाविनो ममिरे अस्य
मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः॥ २॥

(ऋ. ९।८३।३)

पवित्र आङ्गिरस ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। जगती छन्दः।

उषसः उषसि। विभक्तव्यत्ययः। पृश्निः परमात्मा। प्र कर्षेणाश्नुते स्पृशति वा सर्वमिति। प्राश्नोतेः स्पृशतेर्वा निप्रत्ययः प्राशेः स्पृशेश्च पृश्भावो निपात्यते। अरूरुचत् रोचते। सर्व एवोपासकाः प्रायेण प्रातःकाल एव परमात्मानमुपासत इति हेतोः, स्वस्वव्यापारविरता रात्रौ निद्रामुपगता उषसि सूर्योदयकाले प्रातःकाल उत्थिताः सन्तो लोकाः परमेश्वरप्रेरिताः पुनर्व्यापृता भवन्ति व्यापारेष्विति हेतोर्वा उषसि परमात्मनो रोचनमभिहितम्। कीदृशः सः? अग्रियः सर्वेभ्यः पूर्वं प्रादुर्भूतः। उक्षा कामानां वर्षकस्तर्पकः।

† बिभर्ति भुवनानि।

वाजयुर्भक्तेभ्यो ज्ञानधनस्य दित्सुः सन् भुवनेषु माययति गच्छति व्याप्नोति। मीं गतौ चौरादिकः। क चास्य परमात्मनो मायया प्रज्ञया। मायेति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९।९) माङ्माने। मायन्ते परिच्छिद्यन्ते पदार्था अनयेति। मायाविनः प्रज्ञावन्तो भक्ता ममिरे स्वस्वकार्याणि निर्मान्ति धर्मोपदेशे सदाचारप्रचारे स्ववृत्तिमावहन्ती-त्यर्थः। नृचक्षसो नृणां मनुष्याणां चक्षसो द्रष्टारो नेतारः पितरः पालकाश्च गर्भं स्तुतिं परमात्मने आ दधुरादधति। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वेति निरुक्तम् (१०।२३)॥ २॥

५९७. इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः॥ ३॥ (ऋ. १।७।२)

मधुछन्दा वैश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवताः। गायत्रीछन्दः।

इन्द्र इत्परमात्मैव वचोयुजा भक्तानां वचसा प्रार्थनया—युज्येते इति वचोयुजौ तयोः हर्योर्हारिणोः कारुण्यवात्सल्ययोः सचा यौग-पद्येन आ सम्मिश्लः आसम्मिश्रयिता। मिश्रणं मिश्रः। स एव मिश्लः। सम्यङ् मिश्लो यस्य स सम्मिश्लः। कीदृश इन्द्रः परम-समिद्धः। वज्री व्यापको रक्षणसाधनसम्पन्नो वा। हिरण्ययो हिरण्मयः प्रकाशस्वरूपश्च॥ ३॥

५९८. इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च।
उग्र उग्राभिरूतिभिः॥ ४॥ (ऋ. १।७।४)

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री चच्छन्दः।

हे इन्द्र परमात्मन्नुग्र उद्गूर्णस्त्वं वाजेषु बलेष्वात्मसम्बन्धिषु संग्रामेषु रागविरागयोर्वा सहस्रप्रधनेषु च सहस्रशो भवनीयेषु विज-योत्सुकयुद्धेष्वन्येषु च उग्राभिस्तीव्राभिरूतिभी रक्षणादिभिर्नोऽस्मान् अव रक्ष॥ ४॥

५९९. प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य
हविषो हविर्यत्। धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो
रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।१८१।१)

प्रथो वासिष्ठ ऋषिः । विश्वे देवा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।

प्रथः प्रथयते भगवत्कीर्तिप्रसारकः । सप्रथश्च प्रथैश्च तैः सह वर्तमानः । भगवद्भक्तसमाजसहित आनुष्टुभस्य वाक्सम्बद्धस्य वाग्भिर्यस्य नामोच्चारणं क्रियते तस्य हविषः परमात्मनो यद्यो हविर्हव्यं परमात्मने येनात्मा समर्पितः स वसिष्ठोतिशयेन वासयिता परमेश्वरस्य स्वहृदये, महाभक्तः प्रपन्न इत्यर्थः । धातुः सर्वेषां पालकस्य द्युतानाद्द्योतमानस्य । विभक्तिव्यत्ययः । सवितुः सर्वोत्पादकस्य च विष्णोर्व्यापकस्य परमात्मनो रथन्तरम् अतिशयेन रमणीयं स्थानमा जभार आजहार आहरति । अनुष्टुबिति वाङ्नाम (निघ० १।११।५१) । हूयते दीयते किमपि यस्मै तद्धविः परमात्मा । हूयते यत्तद्धविरिति हव्यम् । रमते यस्मिन्स रथः । अतिशयेन रथो रथन्तरो रमणीय स्थानमिति भावः ॥ ५ ॥

६००. नियुत्वान्वायवा गह्ययं शुक्रो अयामि ते ।
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ ६ ॥ (ऋ. २।४१।२)

गृत्समदः शौनक ऋषिः । वायुर्देवता । गायत्री छन्दः ।

हे वायो ! सर्वत्र गतिशील परमेश्वर ! त्वं नियुत्वानीश्वरोसि । नियुत्वानितीश्वर नाम (निघ० २।२२।३) । नियुवन्ति मिश्रयन्ति शुभान्यशुभानि च कर्माणि ये ते नियुतो जीवाः । यु मिश्रणामिश्रणयोः । क्विप् । ते सन्ति रक्ष्यत्वेन यस्य स नियुत्वान् । आ गहि आ गच्छ । अयं शुक्रः शुचिर्भवतस्ते तुभ्यम् अयामि गृहीतोस्मि । यमु उपरमे । कर्मणि लट् । सुन्वतो हृदये त्वामुत्पा-

दयतोस्य गृहं मनो गन्तासि । त्वया तद्गृहं गन्तव्यमिति-भावः ॥ ६ ॥

६०१. यज्जायथा अपूर्व्य मघवन्वृत्रहत्याय ।
तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम् ॥ ७ ॥

(ऋ. ८।८९।५)

ऋषी नृमेधपुरुमेधावाङ्गिरसौ । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

हे अपूर्व्य नास्ति पूर्वभवः कोपि यस्येत्थम्भूत मघवञ्ज्ञानवन् त्वं यद्येन हेतुना वृत्रहत्याय पापविनाशाय जायथा अजायथास्तत्तेन पापिनो निहत्येमां पृथिवीं महीम् अप्रथयोद्रढयः उतो अथ च दिवं द्युलोकमस्तभ्ना स्थिरमकरोरिति ते महद्वीर्यम् ॥ ७ ॥

इति द्वितीया दशतिः । द्वितीयः खण्डः

६०२. मयि वर्चो अथो यशोथो यज्ञस्य यत्पयः ।
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ १ ॥

(ऋ. ६।६९।३)

वामदेवो गौतम ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

परमेष्ठी परमे व्योमनि स्थितिशीलः प्रजापतिः प्रजानां पाता दिवि द्युलोके द्यां द्युतिमिव मय्युपासके वर्चस्तेजोथो यशो महतीं कीर्तिमथो यज्ञस्योत्कृष्टकर्मणो यत् पयो वृद्धिम् । प्यायतेरसुन् । बाहुलकात्पीभावः । गुणः । दृंहतु द्रढयतु वर्धयतु वा ॥

६०३. सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्य-
भिमातिषाहः । आप्यायमानो अमृताय सोम
दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥ २ ॥ (ऋ. १।९१।१८)

गोतमो राहूगण ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।

हे सोम सौम्य भक्त ! अभिमातिषाहोभिमातीन् सहते इति अभिमातिषाट् तस्य कामादीनां महाशत्रूणामभिभवितुः । शत्रूणामभिभवितारं ते त्वाम् । उभयत्र विभक्तिव्यत्ययः । पयांसि जलानि दुग्धानि वा सम् सङ्गच्छन्तु । वाजा अन्नानि च सम् सङ्गच्छन्तु । मा भूच्छरीरक्षेमसाधनवैकल्ये भक्तस्य मनसि वैकल्यमिति गौतम ऋषिराशिषा संमिश्रयति । किं चामृताय मोक्षाय आप्यायमानः सम्यग् गृहीतनियमपालनादिभिर्वर्धमानस्त्वं दिवि दिव्यलोके प्रकाशमयलोके परमधामनीत्यर्थः । उत्तमानि श्रवांसि यशांसि धिष्व धारय ॥ २ ॥

६०४. त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजन-
यस्त्वं गाः । त्वमा ततन्थोर्व१न्तरिक्षं त्वं
ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ ३ ॥ (ऋ. १।९१।२२)

गोतमो राहूगण ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।

हे सोम जगदुत्पादक । सूते जगदिति सोमः । त्वमिमा दृश्यमाना विश्वाः सर्वा ओषधीरजनय उत्पादितवान् । त्वं विश्वा अपो जलान्यजनयः । त्वं विश्वा गा भूमीरजनयः । त्वमुरु हम दन्तरिक्षं लोकमा ततनोर्विस्तारितवान् । त्वं च ज्योतिषा प्रकाशेन सूर्यचन्द्ररूपेण तमोन्धकारं वि ववर्थ विवृतवान् प्रकाशितवान् ॥

६०५. अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ ४ ॥ (ऋ. १।१।१)

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ।

---

१ वर्न्त ।

अग्निं व्यापकं प्रकाशस्वरूपं वा परमात्मानमीडे स्तौमि। कीदृशम्? पुरोहितं पुरः पूर्वमेव हितं स्थापितं मतं स्वीकृतम्। पुरः पुरो हितकरो भवतीति वा। "पुर एनं दधाती" ति यास्कः (निरु० २।१२)। यज्ञस्य सर्वोत्कृष्टकर्मणः। "यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ता याच्ञो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा। बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः। यजूंष्येनं नयन्तीति वेति" निरुक्तम् (३।१८)। देवं प्रकाशकम्। "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवतेति यास्कः (निरु० ७।१५) ऋत्विजम् ऋतौ ऋतौ यजते ददात्यनुकूलं वस्त्विति तम्। ऋत्विक् कस्मात्? ईरण ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति वा (निरु० ३।१९)। होतारं ह्वातारमाह्वातारं। सत्कर्माचरितुं मनुष्याणाम्। रत्नधातमं रमणीयानां धनानां मोक्षस्य च दातृतममतिशयेन दातारम्॥

६०६. ते मन्वत प्रथमं नाम †गोनां त्रिः सप्त
‡परमं नाम जानन्। *ता जानतीरभ्यनूषत
§क्षाः आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा ꣳगावः॥ ५॥

(ऋ. ४।१।१६)

वामदेवो गोतमो ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

ते स्तोतारः प्रथमं पूर्वं गोनां वाचां वाच्यानामित्यर्थः। नाम वाचकं शब्द मन्वत अजानत। ततः परं परमं परमाणि सर्वोत्तमानि त्रिः सप्त एकविंशति नाम वाचकशब्दान् जानन् अजानन्। एक-

---

† धेनोः। ‡ मातुः परमाणि विन्दन्। * तज्जानती। § व्रा···। ꣳ गोः)।

विंशतिर्वाचकाः शब्दाश्चैते—गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्याख्यानि सप्त च्छन्दांस्येतानि। अतिजगतीशक्वर्यष्ट्यत्यष्टिधृत्यतिधृत्याख्यानि सप्तैतानि संकीर्णच्छन्दांसि। कृतिप्रकृत्याकृतिविकृतिसकृत्यभिकृत्युत्कृतीत्याख्यानि सप्त चैतानि छन्दांसि। ताः सर्वा वाचो जानतीर्जानानाः क्षाः। क्षा इति पृथिवीनाम (निघ० १।१।६)। लक्षणया तन्निवासिनो मनुष्याः साधारणा इत्यर्थः। अभ्यनूषत ताभिः परमात्मनमस्तुवन्। ततः परमरुणीररुण्यो रागात्मिका प्रेमभक्त्यात्मिका गावो वाचो यशसा कीर्त्या सहाविर्भुवन् आविरभूवन्। प्रथममृषय एतदेतेन शब्देन वाच्यमित्यवागमन्। ततः परं तैश्छन्दांस्यन्विष्टानि। ततः परमितरे मनुष्यास्ताश्छन्दोमयीर्वाचोवगत्य भक्त्यात्मकानि स्तोत्राणिविरचय्य परमात्मानं स्तुवन्तीतिस्तोत्रस्रोतः परम्परा ॥ ५ ॥

६०७. समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वं †नद्य-
स्पृणन्ति। तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसम-
‡पान्नपातमुप यन्त्यापः ॥ ६ ॥ (ऋ. २।३५।३)

गृत्समदः शौनक ऋषिः। अपांनपात् देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

समानंवृद्धिक्षयरहितमूर्वं समुद्रमन्याः काश्चन नद्यः सं यन्ति सङ्गच्छन्ति अन्या याः सङ्गतास्तदतिरिक्ता नद्य उपयन्त्युपगच्छन्ति। एवं लयागमाभ्यां नद्य ऊर्वं पृणन्ति पूरयन्ति तर्पयन्ति वा। शुचयः पवित्राणि निर्मलानि पुष्कलानि वा आपो जलानि दीदिवांसं गाम्भीर्येण दीप्यमानं अपां नपातं जलानां रक्षकं शुचिं पवित्रं तम् उ समुद्रमेव उप यन्ति उपगच्छन्ति। अन्योक्तिरियम्। यथा काश्चन नद्यः समुद्रं प्रविशन्ति काश्चन तं प्रवेष्टुं गच्छन्ति,

† नद्यः पृणन्ति। ‡ पां नपातं परितस्थुरापः।

दीप्यमानं जलरक्षकं पवित्रं च तं सर्वा आप उपगच्छन्ति, तथैव यदि कश्चनान्तरविकाररहितो दीप्यमानो गुणैः शरणागतानां रक्षकश्च स्यात् सर्वा एव मनुष्यप्रजास्तमुपयन्ति ॥ ६ ॥

६०८. आ प्रागाद्भद्रा युवतिरह्नः केतून्त्समीर्त्संति ।
अभूद्भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ॥

(नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गौतम ऋषिः । रात्रिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

अह्नो दिवसस्य भद्रा शोभना कल्याणदायिनो युवती रमणीया पत्नी आ समीपे प्रागात्प्रकर्षेणागतास्ति । आगत्य किं चिकीर्षति ? केतून् प्रज्ञा जनानां समीर्त्संति परि चरितुमिच्छति । ऋध्नोतिः परिचरणकर्मा (निघ० ३।५।६) । दिवा कार्येषु व्यापृतानां मनुष्याणां प्रज्ञाः श्रान्ता एव तिष्ठन्ति । रात्रौ व्यापारान्तराभावाद्वि-श्रान्तिसेवनेन अपगतश्रान्तयो भवन्तीति ता दिवसस्य युवत्या तत्परिचरणं कल्प्यते । सा भद्रा रात्री प्रज्ञाविश्रान्तिदात्री विश्वस्य सर्वस्य जगतो निवेशनी स्वस्यां प्रवेशयित्री प्रवेश्य शान्तिदात्री वा अभूत् ॥ ७ ॥

६०९. †प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू ‡महः प्र नो
वचो विदथा जातवेदसे । वैश्वानराय मतिर्न-
*व्यसे शुचिः साम इव पवते चारुरग्नये ॥

(ऋ. ६।८।१)

भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती छन्दः ।

† पृक्षस्य । ‡ महः प्रनु वोचं विदथा जातवेदसः । * व्यसी ।

प्रक्षस्य पृक्षस्य सम्पृक्तस्य सर्वैः पदार्थैः । वृष्णः सर्वरक्षकस्यारुषस्य शान्तस्य जातवेदसे जातं जातं वेत्तीति तस्य परमात्मनः । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । महो बलं तजो वा नोस्माकं विदथा विदथेषु ज्ञानयज्ञेषु नू क्षिप्रं प्र वचः प्रब्रवीमि स्तौमीति भावः । कया रीत्या ? शुचिर्दीप्तिमती मतिस्तस्य परमात्मनः । नव्यसे नवतराय वैश्वानराय विश्वांल्लोकांल्लोकाल्लोकान्तरं नयतीति विश्वानरः परमात्मा । तस्य भक्तो वैश्वानरस्तस्मै । पवते गच्छति । यत्र यत्र परमात्मभक्तास्तत्र परमात्मबुद्धिर्गच्छतीतितद्बलस्तुतिरिति भावः । बलं तेजः । तत्र दृष्टान्तः । यथा चारुः परमात्मनि चरणशोलः सोमः सौम्यः शान्तो भक्तोग्नये व्यापकाय प्रकाशस्वरूपाय वा पवते गच्छति तद्वत् ॥ ८ ॥

६१०. विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञमुभे रोदसी
अपां नपाच्च मन्म । मा वो वचांसि परि-
चक्ष्याणि वोचं सुम्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम ॥

(ऋ. ६।५२।१४)

ऋजिश्वा भारद्वाज ऋषिः । विश्वे देवा देवताः । जगती छन्दः ।

रोदसी रोदस्योर्विश्वे सर्वे देवा भक्ता ज्ञानिनो वा । अपां श्रद्धाजलानां सत्कर्मणां वा नपात् न पातयिता परमेश्वरोपि मम मदीयं मन्म मननीयं यज्ञं यज्ञ उच्चारितं स्तोत्रं शृण्वन्तु । हे विद्वांसो वो युष्माभिः परिचक्ष्याणि प्रत्याख्यातव्यानि वचांसि मा वोचं न ब्रूयाम् । यद्यत्तवाप्रियं न तद्वक्ष्यामीति प्रतिज्ञेति भावः । तेन वो युष्माकमन्तमा अन्तिकतमा अतिनिकटे वर्तमाना वयं सर्वे सुम्नेषु इत् सुखेष्वेव मदेम माद्येम मोदेमहीति वा । सुम्नमिति सुखनाम (निघ० ३।६।१६) । [illegible]

निम्नेतिभोजसूत्रम्। शोभनेन कर्मणा मीयते निमीयते इति वा, सुष्ठु मीयते परिच्छिद्यते भागेनेति वा, सुष्ठु म्नायतेभ्यस्यत इति वा ॥ ९ ॥

६११. यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।
यशो भगस्य विदन्तु यशो मा प्रतिमुच्यताम् ॥
यशसा ३ स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम् ॥

(नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गौतम ऋषिः। लिङ्गोक्ता देवता। महापङ्क्तिश्छन्दः।

द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ मा मह्यं यशो दत्ताम्। इन्द्रवृहस्पती इन्द्रश्च वृहस्पतिश्च मे मह्यं यशो दत्तामिति भावः। भगस्य भजनस्य। भजनं भगः। यशो भजनजन्यं यशो मा मां विन्दतु प्राप्नोतु। यशो मा मह्यं प्रतिमुच्यतां ददातु परमात्मेति तं प्रति प्रार्थना। यशसा कीर्त्या सह वर्तमानोहम्। अस्याः संसदः परिषदः प्रवदिता वक्ता स्याम्। लोककल्याणचिन्तकस्य महापुरुषस्येयमभ्यर्थना ॥ १० ॥

६१२. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार
प्रथमानि वज्री। अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र
वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ ११ ॥ (ऋ. १।३२।१)

हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

वज्री व्यापकः। व्रज गतौ व्रजति सर्वान्निरीक्षणार्थमिति वज्रः शक्तिः। सा अस्त्यस्येति नित्यशक्तियुक्तः। इन्द्रः समिद्धः परमात्मा यानि प्रथमानि श्रेष्ठानि प्रथितानि वा वीर्याणि ज्ञानपावित्र्यचारित्रदानरूपाणि पराक्रान्तिदर्शनयोग्यानि कर्माणि अन्यानि च चकार करोति तानीन्द्रस्य तस्य परमात्मनः कर्माणि

प्र वोचं प्रकर्षेण पुत्रेषु शिष्येषु श्रोतृषु च वर्णयामि। तद्वर्णनेन तन्मयत्वं स्यादिति। किं किं तत्कर्म ? बहुविधं तत्। संक्षिप्योच्यते—सोहिं दुष्टभावम्। आहन्ति आत्मानमिति। दुष्टा भावः सर्वथात्मनामापद्भूयो भवति। तमहन् हन्ति। अपोपं दुर्मनः। न पातीत्यपः। दुष्टं हि मनो निपातयत्यात्मानम्। लिङ्गविभक्तिव्यत्ययः। ततर्द तृणत्ति। पर्वतानां पञ्चपर्वणामविद्यानां वक्षणा नदीः प्रवाहानित्यर्थः। वक्षणेति नदीनाम। अभिनन्निवारयति ॥ ११ ॥

६१३. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्। †त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्रं ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम् ॥ १२ ॥

(ऋ. ३।२६।७)

विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः। आत्मा अग्निर्वा देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

अस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मभावापन्नो विश्वामित्र ऋषिर्वदति—अग्निः सर्वव्यापकोहं जन्मना प्रारम्भतः स्वभावत इत्यर्थः। जातवेदाः सर्वज्ञोस्मि सर्वद्रष्टास्मि। न मम लौकिकानां चक्षुरिव चक्षुः। किं तर्हि ? घृतं दीप्तं ज्ञानं मे मम चक्षुः। अमृतं जन्मजरामरणराहित्यं मे मम आसन् आसनि मुखे। लक्षणया मम वश इत्यर्थः। अहं त्रिधातुस्त्रयाणां त्रिप्रकाराणां सात्त्विकराजसतामसलोकानां धारकः पालको वास्मि। अर्कः सर्वेषां स्तुत्योहमस्मि। ऋच स्तुतौ। रजसो। लोकस्य विमानो रचयिता चास्मि। न हि रचनाकर्मणा ममोपक्षयः। किं तर्हि ? अजस्रमजस्रोविनाश्यस्मि। न मम विनाशः। ज्योतिःप्रकाशरूपः सर्वेषां प्रकाशकश्चास्मि सर्वं दृश्यं हविः पदार्थ-

† अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम।

जातमस्मि। अहमेव पदार्थजातरूपेण दृश्यमानोऽस्मि। यदि त्वमेव सर्वं कथं त्रिधातुरिति रजसो विमान इति? अहमेव स्वाद्भुतसामर्थ्येनात्मानं लोकांस्तथा प्रत्याययामीति भावः। अत्रोपनिषदुक्तोऽद्वैतवादः॥ १२॥

६१४. †पात्यग्निर्विपो अग्रं पदं वः पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य। पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः पाति देवानामुपमादमृष्वः॥ १३॥ (ऋ. ३।५।५)

विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

विपो मेधावी (निघ० ३।१५।१०) बुद्धिमान्सर्वज्ञोऽग्निः परमात्मा वेर्गतिमत्याः पृथिव्या अग्रं मुख्यं स्थानं पाति रक्षति। पृथिवीलोकं रक्षतीत्यर्थः। पृथिवीत एव मोक्षावाप्तिर्भवतीति तस्या मुख्यपदत्वम्। यह्वो महान् (निघ० ३।३।१३) स परमात्मा सूर्यस्य चरणं चलनं चलस्थानमन्तरिक्षलोकं पाति रक्षति। सोऽग्निः परमात्मा नाभा उभयोर्लोकयोर्मध्ये सप्तशीर्षाणं सप्तरश्मिं सूर्यं सूर्यलोकमित्यर्थः। पाति। स च ऋष्वो महान्। ऋष्व इति महन्नाम (निघ० ३।३।३)। ऋषी गतौ। ऋष्यते गम्यते सर्वैरिति। महानेव सर्वैर्गम्यते। स देवानां दिव्यगुणविशिष्टानां विदुषां भक्तानां वा उपमादमुपमादकं हर्षदं ज्ञानं भक्तिं सदाचारादिकं च सद्बुद्ध्या नियोजनेन पाति रक्षति॥ १३॥

इति तृतीया दशतिः। इति तृतीयः खण्डः

---

† पाति प्रियं रिपो अग्रं।

६१५. भ्राजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चर-
त्यन्तरासनि। स त्वं नो अग्ने पयसा वसु-
विद्रयिं वर्चो दृशेऽदाः ॥ १ ॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गौतम ऋषिः। अग्निर्देवता। पङ्क्तिश्छन्दः।

हे समिधान समिन्धान तेजसा प्रकाशमान दीदिवो देदीप्यमान अग्ने सर्वत्र गतिशील परमात्मन् भ्राजन्ती शोभमाना त्वन्नामोच्चारणेनास्माकं जिह्वा अन्तरासनि आस्याभ्यन्तरे चरति गतिमती भवती। वसुवित् सर्वद्रविणप्रापक सर्वद्रविणवेत्तरग्ने परमात्मन् स त्वं नोऽस्मभ्यं पयसा वृद्धये। पयः पिबतेर्वाप्यायतेर्वेति यास्कः (निरु० २।५)। रयिं ज्ञानधनं वर्चो ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मतेजश्च दृशे त्वद्दर्शनाय मायाजालातिक्रमणाय वाऽदा देहि ॥ १ ॥

६१६. वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिरइन्नु रन्त्यः।
(नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गौतम ऋषिः। अग्निर्देवता। पङ्क्तिश्छन्दः।

वसन्त इत् वसन्त ऋतुरेव रन्त्यो रमणीयः। ग्रीष्म इत् ग्रीष्मर्तुरेव रन्त्यो रमणीयः। वर्षाणिवर्षर्तू रमणीयः। अनुततः पश्चाच्छरदः शरदृतू रमणीयः। हेमन्तः शिशिर इत् हेमन्तर्तुः शिशिरर्तुरेव च रन्त्यो रमणीयौ। नुः सर्वत्र पादपूरकः। सर्वं एवर्तवो रमणीयाः। ततो न ऋतुरपेक्षणीयः। सर्वदा भगवदर्चने ज्ञानार्जने च प्रयत्न आस्थेयः। वैदिकसाहित्ये प्रायेण सर्वत्र पञ्चैव ऋतवो निर्दिश्यन्तेत्र षण्णामृतूनां निर्देशः ॥ २ ॥

६१७. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ ३ ॥

(ऋ. १०।९०।१)

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

पुरुषः पुरिशेते इति पुरुषः । पुर-शब्देन शरीरमुच्यते । निखिलमेव जगत्परमात्मनः शरीरम् । तेन पुरुषशब्देन सर्वंजगद्व्यापकः परमात्मा गृह्यते । स च व्यापकत्वादेव सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात् । सहस्राणि शीर्षाणि यस्य सः । सहस्राण्यक्षीणि यस्य सः । सहस्राणि पादा यस्य सः । तद्व्याप्यानां शीर्षाण्यक्षीणि पादाश्च परमात्मन एवेति प्रकल्प्य सहस्रशीर्षादिप्रकल्पनम् । सहस्रपदं न सहस्रसंख्यावाचकमानन्त्य एव तस्य तात्पर्यम् । अत एव सहस्राणि शीर्षाणीति विगृहीतम् । कुतः स पुरुषः सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपादिति हेतुनिदर्शनपूर्वकं तत्साक्षात्कारसाधनमुपवर्णयति स भूमिमिति । स पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डम् । भवतीति भूमिरिति व्युत्पत्त्या निखिलं ब्रह्माण्डमुच्यते । सर्वतो नैखिल्येन कात्स्न्र्येन वृत्वावृत्य दशाङ्गुलमत्यतिष्ठत् । दशाङ्गुलशब्देन हृदयप्रदेशो लक्ष्यते । तस्य तत्रैव ध्यानं साक्षात्कारश्च । स सर्वव्यापकोपि मानवहृदये तिष्ठति । तत्रैव स साक्षात्क्रियत इति भावः ॥ ३ ॥

६१८. त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
†तथा विष्वङ् व्यक्राम ‡दशनानशने अभि ॥

(ऋ. १०।९०।४)

† ततो । ‡ त्साशना.... ।

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

त्रिपात् त्रीन् जन्मजरामृत्यून् पातयतीति त्रिपात्, अथवा त्रिषु कालेषु पद्यते प्राप्यते विद्यत इति त्रिपाद्, अथवा त्रिषु लोकेषु पद्यते इति त्रिपाद्, अथवा त्रीणि ऋग्यजुषं साम च पादयति गमयति प्रापयतीति त्रिपात् पुरुषः परमात्मोर्ध्वो जन्मजरामृत्युरूपसंसारा-स्पृष्टः सन्नुदैत् उदेति नित्यं विराजते । पुनस्तथापि अस्य पुरुषस्य पादो गतिः । पदनं पादः । इह जगत्यभवदस्ति । गतिशब्देन सम्बन्धो ज्ञातव्यः । असम्बद्धोपि जगता मायया तदुत्पादनेन तत्सम्बन्धस्तस्मिन्नस्त्येव । तथैव प्रतिपादयति तथेत्यादिना । तथा तदनन्तरं जगदुत्पादनानन्तरं विष्वङ् विषु सर्वतोऽञ्चति व्याप्नो-तीति विष्वङ् सर्वव्यापकः सन् अभि अभितः सर्वतोशनानशने अश्नातीत्यशनं चेतनम् । नाश्नातीत्यनशनमचेतनम् । चेतनाचेतने उभयविधे जगती व्यक्रामत् विक्रमते विक्रम्य स्ववशे स्थापय-तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

६१९. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
पादोऽस्यसर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥
[ऋ. १०।९०।२ (पूर्वार्द्धं); १०।९०।३ (उत्तरार्द्धं,]

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

इदं सर्वं प्रतीयमानं जगत् पुरुष एव । यद् यदुपादानकं तत् तद्रूपमेव भवति यथा मृदुपादानको घटो मृद्रूपः । जगत उपादानं पुरुष एव ततः सर्वं जगत्पुरुषरूपम् । किं तत्सर्वम् । यद्भूतं भूतेषु कालेषु यज्जातं यच्च भविष्यत्सु कालेषु भाव्यं भविष्यदस्ति तत्सर्वम् । सर्वा सर्वाणि भूतानि अस्य पुरुषस्य पादः पादाक्रान्तानि तद्वशगानीतिभावः । पादशब्देन नांशो ग्रहीतव्यः । निरंशस्य तस्यां-

शाभावत् । न हि जगत्तस्य कश्चनांशो विद्यते । वास्तविकसम्बन्धाभावात्तस्य जगता सह । उत्पद्यमानमप्युत्पन्नमपि जगन्न तस्य कश्चनांशः । अस्य च पुरुषस्य त्रिपाद् त्रिपात् वा जगदश्लिष्टं स्वरूपममृतं सत् दिवि प्रकाशमये दिव्यलोके तिष्ठति । वेदर्षीणां बहूनां मतेस्ति किञ्चिद्दिव्यं स्थानं यत्र परमात्मा निवसतीति । पुरुष एवेत्यत्र सप्तमीविभक्तिस्वीकारे पुरुषाधारे सर्वं स्थितमित्यर्थः ॥ ५ ॥

६२०. तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ ६ ॥

[ऋ. १०।९०।३ (पूर्वार्द्ध)····१ एतावानस्यहिमा अतो
१०।९०।२ (उत्तरार्धं)]

नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

स्वतन्त्रो हि सामवेदर्षिरपरोक्षतयोपक्रान्तस्य परोक्षतयोपवर्णयति तावानिति तत इति च । तावान् प्रसिद्ध इत्यर्थः । अस्य पुरुषस्य महिमा । यत्किञ्चिदिह दृश्यतेनुभूयतेवा तत्सर्वं तस्यैव माहात्म्यापन्नम् । यदि तस्य माहात्म्येनेदं चित्रकरं जगदुत्पन्नं तर्ह्येतावच्छक्तिक एव स स्यादित्याह—ततः प्रसिद्धाद् दृश्यजगद्रूपमहिम्नः स पूरुषो ज्यायानधिकतमः । अनवधिकानवगाह्या च तच्छक्तिरिति भावः । सोमृतत्वस्य मरणदुःखात्यन्तास्पृष्टस्य मोक्षस्य मोक्षलोकस्येशानः स्वामी । स एव मोक्षस्येष्टे । मोक्षस्यैवेष्टे नास्य जगत इति नेत्याह—उत अपि च यत् अन्नेन जीवकृतःकर्मरूपान्नेन हेतुना अतिरोहति यगद्रूपेण जायते तस्यापि स ईश इत्युतेत्यनेन द्योत्यते । उक्तार्थं पुनः पुनः स्मारयन्त्या श्रुत्वा नापराध्यते ॥ ६ ॥

६२१. †ततो विराडजायतं विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥
(ऋ. १०।९०।५)

नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता। अनुष्टुप् छन्दः।

ततस्तस्मात्पुरुषादेव विराड् ब्रह्माण्डं समस्तमजायतोदपद्यत। तस्मादेव स पूरुषो विराजो विराडपेक्षयाध्यधिकः। जात उत्पन्नः स विराडत्यरिच्यतातिरिक्तोभवत्। यथा मृदो जायमानोपि घटो मृदतिरिक्तो भवति जलाद्याहरणादिसाधनेन तद्वत्पुरुषाज्जायमानोपि विराट् तदतिरिक्त एवाभवत्। अथो तदनन्तरं भूमिं विराजमित्यर्थः। भवतीति भूमिः। पश्चात्पश्चाद्भागेन पुरः पुरोभागेन च सर्वत इतिभावः। स पुरुषोशेष जगद् व्याप्नोदिति शेषः॥ ७॥

६२२. मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथे-
थाममितमभि योजनम्। द्यावापृथिवो भवतं
स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥ ८॥ (नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गौतम ऋषिः। द्यावापृथिव्यौ देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ वां युवां सुभोजसौ शोभनतथा पालनकर्त्र्यौ मन्ये जानाम्यहम्। ये युवाममितं मानरहितं योजनं मार्गपरिमाणविशेषमभि सर्वतोप्रथेथां विस्तृते स्थः। नास्ति युवयोः परिमितिरिति प्राणिनामपरिमितानां धारकतया युवां सुभोजसौ मन्य इति स्पष्टार्थः। हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ युवां स्योने सुखकरे भवतम्। स्योनमिति सुखनाम। स्यतेरवस्य-

† तस्माद्।

न्त्येतत्सेवितव्यं भवतीति वा (निरु० ८।९) ते युवां नोऽस्मानं-हसः । पापान्मुञ्चतं मोचयतम् । पृथिव्यन्तरिक्षयोर्मध्ये स्थिता वयं ज्ञानयज्ञं भक्तियज्ञं सम्पादयाम इत्याधारतया जन्मभूमेर्मातृतया च ते प्रति प्रार्थनेयमितिज्ञेयम् ।। ८ ।।

६२३. हरी त इन्द्र श्मश्रूण्युतो ते हरितौ हरी ।
तं त्वा स्तुवन्ति कवयः पुरुषासो वनर्गवः ।।

(नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गौतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

हे इन्द्र परमेश्वर ते तव श्मश्रूणि जगन्ति । श्मनि शरीरे श्रितान्याश्रितानीति । परमात्मन्येव स्थिताः सर्वेलोकाः । हरी हारीणि मनोहारीणीत्यर्थः । अद्भुतरचनादर्शनेन मनो ह्रियत इव । ते तव हरी भक्तान् प्रति त्वां हर्तारौ प्रापयितारौ वात्सल्य-कारुण्यगुणौ हरितौ मनोहरौ । त्वया कृतानि जगन्त्यपि मनो-हारीणि वात्सल्यकारुण्याख्यौ मुख्यौ गुणावपि त्वयि स्थितौ मनोहारिणौ । ततः कवयः क्रान्तदर्शिनो वनर्गवोऽरण्यवासिनो विरक्ताश्च पुरुषासः पुरुषास्तं तथाविधमनोहरजगदुत्पादकं तथा-विधमनोहरगुणाश्रयं च त्वा त्वां स्तुवन्ति । वनं गच्छन्तीति वनर्गवः । वनशब्दोपपदाद् गमेर्मृगय्वादयश्चेत्यौणादिको डुप्रत्य-यो रुडागमश्च निपात्यते । वनर्गुरितिस्तेननाम निघण्टौ (३।२४।९) ।। ९ ।।

६२४. यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत ।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा सं सृजामसि ।।

(नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गौतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

स्वप्रभया दीप्यमानस्य हिरण्यस्य सुवर्णस्य यद्वर्चस्तेजो गवां वेदवाचां धेनूनां वा यद्ववर्चस्तेज उत अपि च सत्यस्य त्रिकालाबाधितस्य ब्रह्मणस्तव यद्वर्चस्तेजस्तेन तेजसा हे परमात्मन् मा मां सं सृजामसि संसृज संश्लिष्टं कुरु। हिरण्यशब्देन सकलं हि रत्नं संगृहीतं वेदितव्यम्। तत्र लौकिकं तेजोस्त्येव। वेदवागध्ययनेन विद्यावर्चस्ततोधिकम्। ब्रह्मवर्चसं तु सर्वाधिकम्। धनवान् विद्यावान्ब्रह्मविच्च भवेयमित्यभ्यर्थना। हिरण्यं कस्माद्धियते आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मण इति यास्कः (निरु० २।१०) ॥

६२५. सहस्तन्न इन्द्र दद्ध्योज ईशे ह्यस्य महतो
विरप्शिन्। क्रतुं न नृम्णं स्थविरं च वाजं
वृत्रेषु शत्रून् सहना कृधी नः ॥ ११ ॥

(नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गौतम ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

हे इन्द्र परमसमर्थं परमात्मन् नोस्मासु। विभक्तिव्यत्ययः। तत्प्रसिद्धं लोकेषु वेदेषु च सहो बलं तवेतिशेषः। ओजः पराक्रमं च दद्धि धारय स्थापय। हे विरप्शिन् महान्। विरप्शीति महन्नाम (निघ० ३।३।२२)। विविधं रपन्तीति विरप्शाः स्तोतारः। ते सन्त्यस्येति। रप लप व्यक्तायां वाचि। विपूर्वाद्रपतेः शक्। तत इन् मत्वर्थीयः। हि यतोस्य दृश्यमानस्य महतोविद्याजालस्य ईशे ईश्महे। अविद्याजालमतिक्रमितुं समर्था भवाम इतिभावः। क्रतुं न प्रज्ञामिव नृम्णं धनं वृत्रेषु। षष्ठ्यर्थे सप्तमी। वृत्राणां पापानां पराभवकर्मसु स्थविरं प्रवृद्धं स्थिरं च वाजो बलं चास्मासु धेहि। किं च नोस्मान् शत्रून् शत्रूणां सहना सोढॄन् पराभवितॄन् कृधि कुरु ॥ ११ ॥

६२६. सहर्षभाः सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि
विभ्रतीर्द्व्यूध्नीः । उरुः पृथुरयं वो अस्तु
लोक इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त ॥ १२ ॥

(नास्ति ऋग्वेदे)

वामदेवो गौतम ऋषिः । गावो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ।

हे गावो विश्वा विश्वानि रूपाणि बिभ्रतीबिभ्रत्यो धारयन्त्यो द्व्यूध्नी द्व्यूध्न्यो द्विदुग्धाशयवत्यः सहर्षभा समलीवर्दाः सहवत्सा वत्सैः सह वर्तमाना यूयमुदेत उदयं प्राप्नुत अस्मान्प्राप्ता भवतेति भावः । अयमुरुर्विशालः पृथुर्विस्तृतो लोको वो युष्माकमस्तु । न कश्चिद्विघ्नकर्तेतिभावः । इमा इमानि । निर्मलान्यापो जलानि सुप्रपाणाः सुखेन प्र पातुं योग्यानि इहास्मिल्लोके स्त भवन्त्विति-भावः । अयमस्य मन्त्रस्याशयः । गोपयो हि सात्त्विकम् । तत्पानेन सात्त्विकं ज्ञानं सात्त्विका च वृत्तिर्भक्तियोग्या जायते । अतः पुष्कल-दुग्धवत्यो गावोस्माकं सन्तु इति प्रथमा प्रार्थना । तासां चरणस्थानं पेया आपश्च कुत्रेति निर्दिशति, अयं लोक इमाः सर्वाः सस्यसम्पन्ना भूमयो युष्मभ्यमेवास्तु । इदं च कूपसागरादिषु पूर्णं जलं सुपेयं वो भवत्विति भावः । युष्मदागमनेनैव वयं सुखेन शान्त्या च भगवन्त-माराधयितुं शक्ता भवेमेतिभावः ॥ १२ ॥

इति चतुर्थी दशतिः । चतुर्थः खण्डः

६२७. अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः ।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ १ ॥ (ऋ. ९।६६।१९)

शत वैखानसा ऋषयः । अग्निः पवमानो देवता । गायत्री छन्दः ।

हे अग्ने परमात्मन् नोस्माकमायूंषि त्वं पवसे रक्षसि। अत इषमन्नं सात्विकमूर्जं बलं चासुव प्रापय प्रेरय। नह्यन्नेन बलेन च विनायुषो रक्षणं भवितुमर्हति। किं च दुच्छुनां दुर्वृत्तिमारे दूरत एव बाधस्व पीडय निवारय। शुनमिति सुखनाम। दुत् इति दुष्टार्थममव्ययपदम्। दुत् दुष्टं शुनं सुखं यस्याः सा ताम्। दुर्वृत्तेर्दुष्टमेव सुखं कामादिकं प्रियं भवति। अयं शब्द ऋग्वेदे बहुधा बहुत्र च प्रयुक्तस्तथाहि—दुच्छुनायते (१०।३७।१२) दुच्छुना (२।२३।६), (८।२०।४) दुच्छुनाः (१।११६।२१) (५।४५।५) दुच्छुनाभ्यः (२।३२।२) दुच्छुनायै (१।१८९।५)। सर्वत्र स्त्रीलिङ्ग एवास्य-प्रयोगः। दुर्वृत्तिनाशनादेव शान्तं पवित्रं च जीवनं दीर्घायायुषे समर्थं स्यादितिभावः॥ १॥

६२८. विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपता-
वविह्रुतम्। वातजूतो यो अभि रक्षति त्मना
प्रजाः पिपर्ति बहुधा वि राजति॥ २॥

(ऋ. १०।१७०।१)

विभ्राट् सौर्य ऋषिः। सूर्यो देवता। जगती छन्दः।

यज्ञपतौ भक्तियज्ञज्ञानयज्ञसंचालकेविह्रुतमकुटिलमदुर्दवमायुर्दधद्रक्षन् विभ्राड् विशेषेण भ्राजमानः परमात्मा बृहन्महत्सोम्यं शान्तं मधु भक्ति ज्ञानं वा पिबत्वनुभवतु। मन्यते जनैरिति मधु। यो विभ्राड् वातजूतो वातैर्गतिमद्भिः प्राणिभिर्जूतो गमितः प्रेरितः त्मनात्मना प्रजा अभि रक्षति दुःखेभ्यो, बहुधा, बहुभिः प्रकारैः क्षित्यबन्नादिदानेन पिपर्ति पालयति पूरयति पुष्णातीति च भावः। विराजति एतादृशं महत्सामर्थ्यं प्रकटय्य च विशेषेण शोभते दीप्यते। नहि प्राणिनो वस्तुतः परमात्मानं प्रेरयन्ति। तान्दृष्ट्वा

तद्रक्षायै स्वयमेव तस्मिन् कारुण्यात्प्रेरणा जायते। यथा कर्तव्यम-वशिष्टं कर्म स्मृत्वा रुग्णं वा कञ्चिद्दृष्ट्वा लोके विवेकी स्वयं तत्कर्म समापयितुं तं रुग्णं च सेवितुं प्रवर्तते, सा च प्रवृत्तिः कर्म-प्रेरिता रुग्णप्रेरिता यथोच्यते तद्वदेवात्र प्रेरणा ज्ञेया ॥ २ ॥

६२९. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुण-
स्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य
आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३ ॥ (ऋ. १।११५।१)

कुत्स आङ्गिरस ऋषिः। सूर्यो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

देवानाम्। दीव्यन्तीति देवाः। अनीकं चित्रमाश्चर्यकारकः मित्रस्य सूर्यस्य वरुणस्य जलाधिष्ठात्र्या देवताया अग्नेरनलस्य। अनिलादीनां सर्वेषां पदार्थानामुपलक्षणमेतत्। चक्षुर्द्रष्टा प्रकाशक इति भावः। उद्यन्सूर्यः सर्वैः सह स्वमपि प्रकाशयत्येव। सूर्य उदगादुदयं प्राप्नोत्। उदयं प्राप्य च स द्यावापृथिवी द्यावापृथि-व्यावन्तरिक्षं चा आ समन्ताद् आ प्रा व्याप्नोत्। यतः स जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य चात्मा मुख्यं तत्त्वम्। लोकेप्युच्यतेयं देवदत्तोस्माकमात्मेति। नानेन विना वयं व्यवहर्तुं शक्नुम इति भावः। सूर्येणैव प्राणिनां वनस्पत्यादीनां च जीवनम्। अनेन मन्त्रे-णोदितः सूर्यः परमात्मोपासनादिषु कार्येषु व्यापृता भवत" इति सूचितं भवति। यथास्तं गतः सवितेति श्रुत्वा सर्वे सायं स्वस्वव्यव-हारेषु व्यापृता भवन्ति तथैवोदितः सूर्य इति श्रुत्वा प्रातःकृत्येषु संलग्ना भवन्ति। अथवा—

देवानामिन्द्रियाणाम्। दीव्यन्तीति देवाः। तान्यपि दीव्यन्ति व्यवहरन्ति। अनीकं प्राणदः। अन प्राणने। ईकन् प्रत्ययः। चित्र-माश्चर्यकरः। मित्रस्य सूर्यस्य वरुणस्य जलदेवस्यानलस्यान्येषां च

सर्वेषां पदार्थानां चक्षुर्द्रष्टा सूर्यः सर्वत्र गन्ता सर्वव्यापक इत्यर्थः। सरतीति सूर्यः। जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य चात्मा, एवं भूतः परमात्मोदगादुदितो द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च आप्राः समन्ताद्व्याप्नोत् ॥ ३ ॥

६३०. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ ४ ॥   (ऋ. १०।१८९।१)

सार्पराज्ञी ऋषिका। सूर्य आत्मा वा देवता। गायत्री छन्दः।

गौर्गमनशीलोयं पृश्निर्जिज्ञासु। प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्। आ अक्रमीत् आक्राम्यत्यागच्छति। पुरः पुरस्ताद्दृश्यमानां मातरं नदीमसदद् गच्छति च। मातर इति नदीनामसु पठितम्। (निघ० १।१३।२६) किं करिष्यन्नदीं गच्छति ? स्वः सुखस्वरूपं पितरं पालकमुत्पादकं वा परमात्मानं प्रयन् प्रकर्षेण गमिष्यन्नुपासनादिद्वारेति भावः। नदीतीरे हि उपासकाः शान्त्या परमात्मानमुपासत इति वैदिक-सम्प्रदायः ॥ ४ ॥

६३१. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ ५ ॥   (ऋ. १०।१८९।२)

सार्पराज्ञी ऋषिका। सूर्य आत्मा वा देवता। गायत्री छन्दः।

अस्य परमात्मनो रोचना शक्तिरन्तः सर्वेषु पदार्थेष्वित्यर्थः। चरति व्याप्नोति। किं कुर्वती ? प्राणात् अपानती। प्राणापानोदानव्यानसमाना इति पञ्च प्राणाः। प्राणनमपाननमुदाननं व्याननं समाननमित्येताः प्राणानां पञ्च वृत्तयः। प्राणात्प्राणनादनन्तरमपानती अपाननं कुर्वती। पञ्चभिः प्राणैर्व्यवहार्यान्व्यवहारानाचरन्ती आचारयन्तीत्यर्थः। महिषो महान स परमात्मा दिवं द्युलोकं व्यख्यत् विचष्टे प्रकाशयति। यस्यैव शक्त्या प्राणनापान-

तादिक्रियाः कुर्वन्ति प्राणधारिणो द्युलोकाद्या लोकाश्च प्रकाशन्त इति भावः ॥ ५ ॥

६३२. त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते ।
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥ ६ ॥ (ऋ० १०।१८९।३)

सार्पराज्ञी ऋषिका । सूर्य आत्मा वा देवता । गायत्री छन्दः ।

तृतीयपादे अह इति निर्धारणे । वस्तोरित्ययं शब्द एवमेव तिष्ठति न विभक्त्यन्तरं भजते । अहर्वाचकश्चासौ । प्रति वस्तोः अहं प्रतिदिनमेवद्युभिः कान्तिभिस्तेजोभिस्त्रिशत्त्रिलोकीं शास्तीति वा त्रिलोकीं शादयति प्रलयं गमयतीति वा, इत्थं भूतं धाम तेजः तेजस्स्वरूपः परमात्मा वि राजति विशेषेण राजते तस्मै पतङ्गाय सर्वव्यापकाय वाग् धीयते प्रार्थना स्तुतिर्वा क्रियते । पतन् गच्छतीति पतङ्गः । उच्चैर्नीचैः सर्वत्र व्यापकत्वात्पतङ्गः । परमात्मा ॥

६३३. अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥ ७ ॥ (ऋ० १।५०।२)

इतः परं दशतिसमाप्तिपर्यन्तं प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः । सूर्यो देवता गायत्री छन्दः ।

यथा विश्वचक्षसे जगत्प्रकाशकं सूराय सूरं सूर्यं दृष्ट्वेतिशेषः । विभक्तिव्यत्ययः । नक्षत्रा नक्षत्राणि अक्तुभी रात्रिभीः (निघ० १।७।३) सह अप यन्ति अपगच्छन्ति तथैव सूराय सर्वव्यापकं विश्वचक्षसे विश्वद्रष्टारं परमात्मानं दृष्ट्वा त्ये ते प्रसिद्धास्तायवश्चोराः । सद्वृत्तीनां चोरयितारः कामादयः । तायुरिति स्तेननाम (निघ० ३।२४।७) । तसु उपक्षये । उण । बाहुलकात्सकारस्य यकारः । अक्तुभी रात्रिभरज्ञानरूपाभिः सहैवापगच्छन्ति ॥

६३४. †अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।

भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ ८ ॥ (ऋ. १।५०।३)

अस्य सर्वव्यापकस्य परमात्मनः केतवः प्रज्ञापकाः । केतुरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९।२) । सामर्थ्यादिह प्रज्ञापक इत्यर्थः । रश्मयः प्रकाशा जनान् लोकान् अनु अनुक्रमेण अदृश्रन् पश्यन्ति । कालव्यत्ययः । परमात्मप्रकाशाः सर्वान् प्रकाशयन्तीति भावः । न हि सूर्यादीनामिव तस्य कश्चन दृश्यः प्रकाशः । स ज्ञानेन नियामकशक्त्या च सर्वान्नियमयन्प्रकाशयतीत्यर्थं प्रतिपादयितुमस्य केतव इत्यादिरीत्योक्तमिति वेदितव्यम् । तत्र दृष्टान्तः । यथा भ्राजन्तः प्रकाशमाना अग्नयो जनान् लोकान् प्रकाशयन्ति तद्वत् ॥ ८ ॥

६३५. तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।

विश्वमा भासि रोचनम् ॥ ९ ॥ (ऋ. १।५०।४)

हे सूर्य सर्वग परमात्मन्, त्वं तरणिः सर्वेषां तारको जन्मादिदुःखेभ्यो विश्वदर्शतो विश्वेषां विश्वैर्वा दर्शतो दर्शनीयो ज्योतिष्कृज्ज्ञानरूपप्रकाशकर्ता चासि । इदं रोचनं सुन्दरं दीप्तं वा विश्वं त्वमेवा भासि त्वमेवा जगदसीतिभावः । अथवा आभासायसि समन्तात्प्रकाशयसि ॥ ९ ॥

६३६. प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् ।

प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ १० ॥ (ऋ. १।५०।५)

हे सर्वग परमात्मस्त्वं देवानां विशः प्रजा देवलोकानित्यर्थः । प्रत्यङ् प्रतिगच्छन्नुदेषि मानुषान्मनुष्यलोकान् प्रयङ् प्रत्यञ्चन्नुदेष्युदयं प्राप्नोषि व्याप्नोषीति भावः । विश्वं निखिल स्वः सुखं

---

† अदृश्रमस्य ।

शिवं प्रत्यङ् प्रतिगच्छन्नुदेषि। किमर्थम्? दृशे दर्शनाय तत्त्वदृष्ट्ये च। सर्वाँल्लोकान्स एव परमात्मा प्रकाशयति शिवदर्शनं च स एव कारयतीत्यर्थः ॥ १० ॥

६३७ येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ ११ ॥ (ऋ. १।५०।६)

हे पावक सर्वशोधक वरुण वरणीय परमात्मन् येन चक्षसा प्रकाशेन त्वं जनान्मनुष्यान् अनु भुरण्यन्तं भुरण्यमानं धार्यमाणं लोकं चानु पश्यसि तेन प्रातिस्विकरूपेण मामपि पश्येति शेषः। यास्काचार्येण बहुधेयमृग्व्याख्याता। तथा हि—भुरण्युरिति क्षिप्रनाम। भुरण्युः शकुनिः। भूरिमध्वानं नयति। स्वर्गस्य लोकस्यापि वोढा। तत्सम्पाती भुरण्युः। अनेन पावक ख्यानेन "भुरण्यन्तं जनाँ अनु त्वं वरुण पश्यसि।" तत्ते वयं स्तुम इति वाक्यशेषः॥ अपि वोत्तरस्याम् "विद्यामेषि रजस्पृथ्वहा०" "व्येषि द्यां रजश्च पृथु महान्तं लोकमहानि च मिमानोक्तुभी रात्रिभिः सह पश्यञ्जन्मानि जातानि सूर्य" ॥ अपि वा पूर्वस्याम्—"येना पावक चक्षसा०" ॥ "प्रत्यङ् देवानां विशः।" प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेषि प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभिपश्यसीति॥ अपि वैतस्यामेव "येना पावक०" तेन नो जनानभिविपश्यसि ॥ इति ॥ ११ ॥

६३८. †उद्द्यामेषि रजः पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥ १२ ॥ (ऋ. १।५०।७)

हे सूर्य परमात्मँस्त्वं द्यां द्युलोकमुद् एषि द्युलोक उदयं प्राप्नोषि। तं प्रकाशयसीतिभावः। पृथु महत् विस्तृतं रजो लोकम्। लोका रजांसीत्युच्यन्ते इति यास्कः। (निरु ४।१९)। उद् एषि

---

† वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा।

उदाययसि प्रकाशयसि । किं कुर्वन् ? अहा अहानि अक्तुभो रात्रिभिः सह मिमानो निर्मिमाणः । जन्मानि जातानि प्राण्यप्राणिजातानि पश्यन्नवलोकमानः । अथवा पृथु विस्तृतं रजो ज्योतिरहानि चाक्तुभिः सह मिमानो निर्मिमाणो जन्मानि जातानि सर्वाणि पश्यंश्च त्वं द्यां दीप्तिं प्रकाशम् उद् एषि उत्कर्षेण प्राप्नोषि ॥१२॥

६३९. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्र्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ १३ ॥ (ऋ. १।५०।९)

सूरः परमात्मा रथस्य स्वरथस्य जीवात्मनो नप्त्र्यो न पातयित्रीः सप्त सप्तसंख्याकाः शुन्ध्युवः शोधयित्रीः शक्तीरयुक्तायोजयत् । "सप्त शिरसि प्राणः" (ताण्ड्य० २।१४।२; २२।४।३) "प्राणा इन्द्रियाणि" (ताण्ड्य० २।१४।२; २२।४।३) इति सामवेदीयताण्ड्यमहाब्राह्मणवचनात् शिरसि प्राणाख्यानि सप्तेन्द्रियाणि सन्ति । पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति द्वे संमिल्य सप्त भवन्ति । तानि शिरस्येव सन्ति । शिर इति उपलक्षणं मुखभागस्य । तानि यदि कुशलानि संयतानि स्युर्न स्यात्परमात्मनो रथस्य जीवात्मनः पातः । ताभिः स्वयुक्तिभिः स्वेनैव कृताभिर्योजनाभिः स परमात्मा याति प्राप्नोति रथं जीवात्मानम् । यदि कश्चन पुण्यशाली जीवः स्वकीयानीन्द्रियाणि मनो बुद्धिं च पारमेश्वरे पथि संदधाति तर्हि पवित्रैस्तैरेव साधनैः स जीवं प्राप्य कार्तार्थ्यं नयतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

६४०. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षण ॥ १४ ॥ (ऋ. १।५०।८)

हे देव द्योतनशील सूर्य व्यापनशील विचक्षण ज्ञानस्वरूप परमात्मन् सप्त सप्तसंख्यका हरितः संयततया मनोहरा ज्ञानेन्द्रिय-

पञ्चमनोबुद्ध्याख्या अश्वाः शोचिष्केशं दीप्तरश्मिं त्वा त्वां रथे जीवात्मनि । चतुर्थ्यर्थे वा सप्तमी । रथाय जीवात्मने वहन्ति प्रापयन्ति जीवहृदयप्रदेशं साक्षात्कारार्थं त्वां नयन्ति ॥

इति पञ्चमी दशतिः । इति पञ्चमः खण्डः

इति षष्ठोऽध्यायः

इति सामवेदसंहितायामारण्यं काण्डं पर्व वा समाप्तम् ।

समाप्तः सामवेदस्य पूर्वार्चिकः

●

सामसंस्कारभाष्यं सच्छुद्धबुद्धिप्रदायकम् ।
विरचय्य यथाप्रज्ञं साम्न एव समर्पये ॥ १ ॥
तुष्यताद्भगवान्सामवेद एनेन कर्मणा ।
श्रीमद्भगवदाचार्य इत्यभ्यर्थयते नतः ॥ २ ॥
प्रमताज्ञानतो वापि त्रुटयः स्युर्यदीह तत् ।
शोधयन्तु सुधीपादास्ता इति प्रार्थना मम ॥ ३ ॥
येषां प्रसादलेशेन दुर्गमो वेदवारिधिः ।
तीर्णो मयाल्पयत्नेन गुरुपादा जयन्तु ते ॥ ४ ॥
आश्विने धवले पक्षे युगखाभ्राक्षिसंमिते ।
वैक्रमेऽब्देगमत्पूर्तिं भाष्यमेतन्मनोहरम् ॥ ५ ॥

इति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-कवितार्किक-परमहंसपरिव्राजक-
स्वामिश्रीभगवदाचार्यमहाराजेन
सामवेदस्य पूर्वार्चिके प्रणीतं
सामसंस्कार भाष्यं समाप्तम्

●

अथ महानाम्न्यार्चिकः

आग्नेयैन्द्रपावमानारण्येत्याद्यभिधैश्चतुर्भिः काण्डैः समाप्त एव पूर्वार्चिकः। अतः परमुत्तरार्चिकस्य प्रारम्भो भवति सामवेदे। उभयोरेतयोरार्चिकयोर्मध्ये निपतितो महानाम्न्यार्चिकः, स च क इति विवेचनीयम्।

ताण्ड्यमहाब्राह्मणस्य त्रयोदशाध्याये चतुर्थे खण्डे विद्यते ह्येकाख्यायिका। सा चेत्थम्—"इन्द्रः प्रजापतिमुपाधावद् वृत्रं हनानीति। तस्मा एतच्छन्दोभ्य इन्द्रियं वीर्यं निर्माय प्रायच्छद् एतेन शक्नुहीति। तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्। सीमानमभिनत् तत् सिमा। मह्लृथमकरोत्तन्मह्लृया। महान् घोष आसीत्तन्महानाम्न्यः" इति। वृत्रासुरस्य जिघांसया देवराज इन्द्रः साहाय्यप्रार्थनार्थं प्रजापतिमुपागच्छत्। स च गायत्र्यादिभ्यः सकाशात्सारमादाय एतच्छक्वर्यात्मकमिन्द्रियं वृत्रहननपटु सामर्थ्यं निर्मायेन्द्राय प्रायच्छत्। एतेन वीर्येण दुश्चरित्रं वृत्रं निहन्तुं शक्नुहीत्याशीर्वचोभिरिन्द्रमवेष्टिष्ट च। एतच्छक्तिजनकमासीत् तत एवैतस्य शक्वर्यं इति नाम सम्पन्नम्। एतासामेव शक्वरीणां सिमा इत्यपरं नाम। अनेनैव वीर्येण वृत्रस्य सीमानमभिनदिन्द्रस्तस्मात्ताः सिमा उच्यन्ते। सीम्नो भेदनानन्तरं मह्लृथमित्येतादृशं शब्दमकरोत्तस्मादासामेव मह्लृया इत्यपि नाम प्रसिद्धिं गतम्। मह्लृयेत्युच्चारणेन महान् घोषः आसीत्तस्मादेतासामेव महानाम्न्य इत्यपि संज्ञा संजातेतिनिर्दिष्टब्राह्मणशब्दसारः। अत्र धातूधोवत्सोपसर्गेत्यादयो बहवो विभागा विद्यन्ते परं न ते शब्दार्थविचारावसर आध्यात्मिकार्थसमर्थनावसरे चातीवोपयुज्यन्त इत्यलं तेषां विचारेण। किं च ताण्ड्यमहाब्राह्मणाख्यायिकानुसारेण वृत्रवधायैव निर्मिता एते मन्त्रा इति न

मया नेया बलात्स्वमनीषितार्थानिति न व्याख्यायन्ते । पाठमात्रफला ह्येते । पाठाश्च लिख्यन्ते ।

प्रजापतिर्ऋषिः । इन्द्रस्त्रैलोक्यात्मा देवता । त्रिकं = १. प्रथमं द्विपदा २. ततस्त्रयः शाक्वराः पादाः ३. तत उपसर्गौ ४. उभयम् (शाक्वरोपसर्गौ) ५. ततः शाक्वरास्त्रयः पादाः ६. उपसर्गः ।

६४१. विदा मघवन्विदा गातुमनुशंसिषो दिशः ।
शिक्षा शचीनां पते । पूर्वीणां पुरूवसो ॥ १ ॥

६४२. आभिष्ट्वमभिष्टिभिः । स्वा३ऽन्नांशुः ।
प्रचेतन प्रचेतये—न्द्र द्युम्नाय न इषे ॥ २ ॥

६४३. एवा हि शक्रो । राये वाजाय वज्रिवः ।
शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे । मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे ॥
आ याहि पिब मत्स्व ॥ ३ ॥

६४४. विदा राये सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु ।
मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे । यः शविष्ठः शूराणाम् ॥

६४५. यो मंहिष्ठो मघोनाम् । अंशुर्न्न शोचिः ।
चिकित्वो अभि नो नय । इन्द्रो विदे तमु स्तुहि ।

६४६. ईशे हि शक्रस् । तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः । क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् ॥ ६ ॥

६४७. इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः । स नः स्वर्षदति द्विषः ॥ ७ ॥

६४८. पूर्वस्य यत्ते अद्रिवों-ऽशुमंदाय। सुम्न आ
धेहि नो वसो। पूर्तिः शविष्ठ शस्यते। वशी
हि शक्रो। नूनं तन्नव्यं संन्यसे ॥ ८ ॥

६४९. प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्येषु ब्रवावहै।
शूरो यो गोषु गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः ॥ ९ ॥

इति महानाम्न्यार्चिकः समाप्तः

अथ पञ्च पुरीषपदानि

६५०. एवाह्यो३ऽ३ऽ३ऽ३ व। एवा ह्यग्ने। एवा हीन्द्र।
एवा हि पूषन्। एवा हि देवाः ॥ १० ॥

इति पञ्च पुरीषपदानि



सामवेदसंहिता

(उत्तरार्चिकः)

अथ प्रथमोध्यायः

६५१. उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे ।
अभि देवाँ इयक्षते ॥१॥१॥ (ऋ. ९।११।१)

अथ सामसंस्कारभाष्यम्—

उपेति । असितः काश्यपो देवलो वर्षिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । हे नरो नीतिमन्तो मनुष्याः । नेतारो वा सर्वेषाम् । यूयम् । पवमानाय पावित्र्यं सञ्चिन्वानाय । इन्दवे भक्तिज्ञानसदाचारविचारसुचारुरत्नैः प्रकाशमानाय । ञि इन्धी दीप्तौ । ज्ञानाद्यैश्वर्यसम्पन्नाय वा । इदि परमैश्वर्ये । देवान् सदाचारादिसम्पन्नान् । अभि इयक्षते–अभितः सर्वतो यष्टुं सम्मानयितुमिच्छते । अस्मै भूरिभव्यताभावितान्तःकरणाय सोमाय वेदयुक्ताय । उङ् शब्दे । उवते शब्दं करोतीत्युमः । छान्दसो मक्प्रत्ययः । शब्दं करोतीत्यस्य शब्देनोपदिशतीत्यर्थः । स च भगवान् वेदः । तेन सह वर्तमानः सोमस्तज्ज्ञ इत्यर्थः, तस्मै । पुरुषाय । परमेश्वरभक्ताय । उप गायत–उपस्तुत । दिव्यगुणगणप्रवणान्महामानवानाश्रित्य सन्तिष्ठमाना निजगुणसम्पदमभिवर्धयितुकामाः सर्वदा सर्वैः स्तोतव्या एवेति भावः । तेषां स्तवनेन स्तावकेषु तत्स्तोतव्यगुणाधानं भवतीति तात्पर्यम् ॥ १।१ ॥

६५२. अभि ते मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्रयुः ।
देवं देवाय देवयु ॥ २।१ ॥ (ऋ. ९।११।२)

अभि त इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम सर्वगुणानां प्रसव वेदज्ञ वा । ते तव, देवं स्पृहणीयं सर्वातिक्रान्तगुणं वा, देवयु देवा-

न्प्रति गन्तुमुत्सुकम्। देवान् यातीति देवयु। देवशब्दोपपदादादादिकयाधातोर्मृगय्वादयश्चेत्यौणादिकसूत्रेण कुप्रत्ययान्तो निपातितो देवयुशब्दः। पयः। पयःशब्देन रस उपलक्ष्यते। मधुना सर्वैरभिमतमिति हेतुना। मन्यतेः फलिपाटिनमिमनीति उप्रत्ययो धोन्तादेशश्च। अथर्वाणोथर्वणशीला अविनश्वरा जीवात्मानः। थर्वतिर्नैरुक्तो धातुश्चरतिकर्मा। थर्वन्ति चरन्तीति थर्वाणः। न थर्वाणोथर्वाणः। उक्तं च निरुक्ते–थर्वतिश्चरतिकर्मा। तत्प्रतिषेधः (११।१८)। देवाय प्रमोदाय सुखाय। अभि अशिश्रयुरभ्यशिश्रियन् आश्रितवन्त इत्यर्थः। हे सोम सदाचारपरायणजीव, सदाचाराभिमुखो यस्ते रसस्तमन्येपि जीवा आश्रितवन्त इति कश्यपर्षिताऽपर्यम्। इदमेवोपगानं देवान्यष्टुमिच्छतो जीवस्य ॥ २।१ ॥

६५३. स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते।
शं राजन्नोषधीभ्यः ॥३।१॥ (ऋ. ९।११।३)

स न इति। ऋष्यादय उक्ताः। हे राजन् दीप्तिमन् सोम। ईदृशः सदाचारचरणपरिचर्योपचितचार्वाचारः स त्वं नोस्माकं गवे गोव्रजाय शं कल्याणं पवस्य देहि। जनाय कौटुम्बिकेभ्यः परिवेशिभ्योन्येभ्यश्च जनाय जनेभ्यः शं देहि। अर्वते भवजलनिधेः परं पारं प्रापयित्रे सद्गुरवे शं देहि। गुरूणामनुशासनावनेन गुरूणां हृदये परमाह्लादो जायते तदेव शम्। ओषधीभ्यो जीवनावनसमर्थाभ्यः सामग्रीभ्यश्च शं देहि। अयमभिप्रायः—यः सदाचारनिष्ठः स पवित्रेणाचारेण विचारेण च सर्वेभ्य आह्लादो भवत्विति सङ्कल्प्यैव प्रवर्तते ॥ ३ ॥

६५४. दविद्युतत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा।
सोमाः शुक्रा गवाशिरः ॥ १।२ ॥ (ऋ. ९।६४।२८)

दविद्युतेति । कश्यपोर्मारीचः ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवतास्य मन्त्रस्येत्यग्निरेव वर्णनीयोत्र । या तेनोच्यते सा देवतेति सिद्धान्तात् । अग्निरिह न भौतिकः किन्तु नयत्यग्रमुपासकान्महापुरुषान्वा सदाचारसम्पन्नान्सोत्र ग्राह्यः । स च गुरुः परमात्मा वा । अग्नेरिति षष्ठ्यन्तं पदमत्राध्याहार्य्यम् । ततश्चायमर्थः । अग्नेर्गुरोः परमात्मनो वा दविद्युतत्या विद्योतमानया परिष्टोभन्त्या परितोर्च्यमानया । स्तोभतिरर्चतिकर्मा नैरुक्तो धातुः । कर्तरि सच्छान्दसः । कृपा स्तूयमानया रुचा दीप्त्येच्छया वा । ज्वलतिकर्मा रोचत इति नैरुक्तो धातुस्तेन दीप्त्येत्यर्थः । रुच अभिप्रीताविति पाणिनिधातुपाठः । तेनाभिप्रीत्येत्यर्थः । अभिप्रीतिरिच्छा । सोमा अभिषुता निष्पन्ना वा शिष्या भगवद्भक्ता वा शुक्रा ब्रह्मवर्चस्विनः सन्तो गवा रश्मिमालया आशिरः आश्रिता मिश्रिता वा भवन्ति । आङ्पूर्वकाद् श्रयतेः शृणोतेर्वा क्विब्वचिप्रच्छि (पा० ३।२।१७८ वार्त्ति० १) इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः (म० भा०) इत्युक्तेः क्विपि प्रकृतेः शीरादेशे आशीरेतिसिद्धमिति देवराजयज्वा । आङ्पूर्वकाच्छ्रयतेः क्विपि श्रयतेः शिरित्यादेशे आशिर इति तु वयम् । आश्रयन्ते ब्रह्मेति आशिरः । न हि गुरोः परमात्मनो वा कृपामन्तरेण कोपि परमार्थप्रवणो भवतीति भावः ॥ १।२ ॥

६५५. हिन्वानो हेतृभिर्हित † आ वाजं वाज्यक्रमीत् ।
सीदन्तो वनुषो यथा ॥ २।२ ॥ (ऋ० ९।६४।२९)

हिन्वान इति । ऋष्यादय उक्ताः अत्र देवता मित्रावरुणौ । मित्रशब्देन स्निग्धो वरुणशब्देन च गुरूपदिष्टमार्गग्राहको ग्रहीतव्यः । एवं न देवताद्वयं प्रत्युतैक एव सद्गुणसम्पन्नः शिष्यः । स च वाजी

† यत इति ऋक्पाठः ।

दृढमनोमितबलो हितः स्वहितसम्पादको हेतृभिः प्रेरकैर्गुर्वादिभिर्हिन्वानः प्रेर्यमाणो वाजं सद्गतिमोक्षमिति भावः। वजधातोरकर्तरि च कारके संज्ञायामिति (पा० ३।३।१९) घञ्। अजिव्रज्योश्च (पा० ७।३।६०) इत्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्व्रजेरपि कुत्वप्रतिषेधः सिद्धो भवति, वाज इति न्यासकारः। आ अक्रमीत् समन्तादाक्रामत्ति। दृष्टान्तेन संघटयति। यथा सीदन्तोवसीदन्तः खिद्यमाना अन्नाभावेन वनुषो याचका वाजमन्नमाक्राम्यन्ति तद्वत् ॥ २ ॥

६५६. ऋधक्सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवा कवे। †

पवस्व सूर्यो दृशे ॥ ३ । २ ॥ (ऋ० ९।६४।३०)

ऋधगिति। ऋष्यादय उक्ताः। हे सोम सौम्य कवे क्रान्तदर्शिञ्छिष्य, दिवा द्योतमानेन धर्ममार्गेण स्वस्तये स्वश्रेयसे संजग्मानः संगच्छमानः संगच्छन्वा ऋधगृध्नोषि वृद्धिमभिगच्छसि। ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति। अथापि ऋध्नोत्यर्थे दृश्यते (निरु० ४। ४।२५)। एवं च त्वं सूर्य ऊर्ध्वंगमनशीलः सूर्यवत्प्रकाशाढ्यो वा दृशे दर्शनाय विशुद्धज्ञानाय पवस्व गच्छ पवित्रो भव वा ॥ ३।२ ॥

६५७. पवमानस्य ते कवे वाजिन्त्सर्गा असृक्षत।

अर्वन्तो न श्रवस्यवः ॥ १।३ ॥ (ऋ० ९।६६।१०)

पवमानस्येति। शतं वैखानस ऋषि। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। हे कवे क्रान्तदर्शिन् वाजिन्नूर्ध्वंगतिशील शिष्य पवमानस्य पवित्रीक्रियमाणस्य सद्गुरुणा, ते तव सर्गा मार्गा असृक्षत सृज्यन्ते। सद्गुरुणा प्रेर्यमाणस्य शिष्यस्य धर्माचारेणोर्ध्वं नेतारो

† दिवः कविरित्यृक्पाठः।

मार्गाः सृज्यन्त इति तात्पर्यम् । श्रवस्यवः श्रवणीयानामादरार्हाणां यशस्विनामर्वन्तोर्वतां परं पारं गच्छतां न इव । यथा मोक्षमार्गं गच्छतां यशस्विनो मार्गाः सृज्यन्ते एवं पवित्रीक्रियमाणस्य मुमुक्षोस्तेपि मार्गाः सृज्यन्ते स्रक्ष्यन्ते वेति भावः । अर्वन्त इत्यत्र श्रवस्यव इत्यत्र च षष्ठ्यर्थे प्रथमा । धर्माचरणप्रकारबहुत्वेन सर्गा इति बहुवचनम् ॥ १।३ ॥

६५८. अच्छा कोशं मधुश्चुतमसृग्रं वारे अव्यये ।
अवावशन्त धीतयः ॥ २ ॥ ३ ॥　　(ऋ० ९।६६।११)

अच्छेति । ऋष्यादय उक्ताः । अव्ययेऽविनाशिनि वारे पापप्रतिरोधके मोक्षपदे मधुश्चुतं महानन्दप्रदायिनं कोशं परमात्मानम् अच्छा अच्छ प्राप्तुम् । अच्छेति निपात आप्तुमित्यस्यार्थे इति शाकपूणिः । असृग्रं सृज्यन्ते जीवा इति भावः । ततो धीतयः विधीयमाना ब्रह्मकर्मणि नियुज्यमाना जीवास्तं कोशमवावशन्त कामयन्ते ॥२।३॥

६५९. अच्छा समुद्रमिन्दवोऽस्तं गावो न धेनवः ।
अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥३।३॥　　(ऋ० ९।६६।१२)

अच्छा समुद्रेति । ऋष्यादय उक्ताः । इन्दव इन्धवो ज्ञानैश्वर्या ज्ञानदीप्तयो वा सोमाः शान्ताः शिष्या लोका वा समुद्रं संमोदन्ते विद्वांसः सदाचारिणो यस्मिन्स तं परमात्मानम् अच्छा प्राप्तुं गच्छन्ति धेनवो नवप्रसूता गावो न गावोऽस्तं गृहमिव । अस्तमिति गृहनाम (निघ० ३।४।४) । यथा गावः स्वं प्रियं वत्सं प्राप्तुं गृहमभिगच्छन्ति तथैव शमिनः परमेश्वरं प्राप्तुं तदभिमुखं गच्छन्ति । सर्वदोषकोषप्रहाणपूर्वकं यमादिसेवनं कारुण्यवात्सल्याद्याश्रयणमेव परमेश्वराभिमुखगमनम् । एतादृश एव महापुरुषा ऋतस्य सत्यस्य सत्यस्वरूपस्य परमात्मनो योनिं पदम् । यु मिश्रणा-

मिश्रणयोः। मिश्रयते सुखमनेनेति वा अमिश्रा भवन्ति पृथग्भवन्ति सर्वं एवानिष्टा यत्रेति वा। आ अग्मन् सर्वदा गच्छन्ति ॥३।३॥

इति प्रथमः खण्डः

अथ द्वितीयः खण्डः

६६०. अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १।४ ॥

अग्न इति। भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके ॥ १।४ ॥†

६६१. तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठच ॥ २।४ ॥ (ऋ० ६।१६।११)

तं त्वेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे इन्द्र जीव, अङ्गिरोऽङ्गनशील तं भगवदभिमुखं त्वा त्वां समिद्भिः सम्यग् ज्ञानवर्द्धयितृभिरुपदेश-वचनैर्घृतेन तमःप्रकाशकेन ज्ञानेन वर्धयामसि वर्धयामः। हे यविष्ठय युवतम जीव, बृहदत्यन्तं शोचा शोच प्रकाशस्व। आचार्यः परम-कारुणिकः स्वशिष्यभूतं जीवं सम्बोध्योपदिशति ज्ञानवर्धकोपदेश-वचनैरेव ज्ञानमधिगत्य प्रकाशं लभस्वेति ॥ २।४ ॥

६६२. स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि।
बृहदग्ने सुवीर्यम् ॥ ३।४ ॥ (ऋ० ६।१६।१२)

स न इति। ऋष्यादय उक्ताः। इन्द्रः शिष्यात्मा प्रार्थयते हे देव दिव्यज्ञानाचारसम्पन्न प्रभो, अग्ने मायातमःपटलप्रकाशक गुरो, स त्वं पृथु विस्तीर्णं श्रवाय्यं श्रोतव्यं बृहन्महत् सुवीर्यं परमा-

† पूर्वार्चिके प्रथमसंख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

त्मप्रापिकां शक्तिं नः अच्छा विवाससि सर्वथाभिगमय। यद्यपि निघण्टौ (३।५।१०) विवासतीति परिचरणकर्मसु पठितो धातुस्तथापि "अच्छा देव विवाससीति तन्नो गमयेत्येवैतदाह" (शत० ब्रा० १।४।१।२७) इति वचनेन प्राकरणिकौचित्याच्च गत्यर्थेनैवात्र व्याख्यातः ॥ ३।४ ॥

६६३ आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥ १।५ ॥ (ऋ० ३।६२।१६)

आ नो मित्रेति। विश्वामित्रो गाथिनो जमदग्निर्वा ऋषिः। मित्रावरुणौ देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके ॥ १।५ ॥ †

६६४. उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथः।
द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रता ॥ २।५ ॥ (ऋ० ३।६२।१७)

उरुशंसेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे मित्रावरुणौ शिष्याचार्यौ! मित्रशब्देन शिष्यः, वरुणशब्देन चाचार्य उपलक्षितः। युवां गुरुशिष्यौ उरुशंसा महत्स्तुतौ नमोवृधा प्रणामाशीर्वचनैर्वृद्धिमन्तौ द्राघिष्ठाभिः प्रतिष्ठाभिः शुचिव्रता पवित्रव्रतशीलैः। दक्षस्योत्साहस्य विद्याधर्मबलस्य वा मह्ना महिम्ना राजथः शोभेथे। गुरुशिष्ययोः पारस्परिकं प्रेम भक्तिं चावलोक्य प्रसीदतां लोकानां वचनमेतत् ॥ २।५ ॥

६६५. गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम्।
पातं सोममृतावृधा ॥ ३।५॥ (ऋ० ३।६२।१८)

गृणानेति। ऋष्यादय उक्ताः। जमदग्निना ज्वलज्ज्ञानेन तीव्रबुद्धिनेति यावत्। जमदिति ज्वलतो नामधेयम् (निघ० १।१७।१)।

---

† पूर्वार्चिके २२० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

गृणाना गृणानौ स्तूयमानौ युवां गुरुशिष्या ऋतस्य सत्यस्य परमेश्वरस्य योनौ क्रोडे सीदतं निषीदतम्। किं च ऋतावृधा ऋतावृधौ आचारविचारप्रचारादिभिः सत्यस्य वर्धयितारौ युवां सोमं शान्ति ध्यानेन सुतं ब्रह्मरसं वा पातं रक्षतं पिबतं वा। यो रसो ध्यानसमाध्यादिना युवाभ्यां निष्पादितः स सर्वदा रक्षणीय इति समाजवादः। ऋतस्य योनिरित्युदकनामसु पठितोपि शब्द इहार्थवशादुपेक्ष्यः। गुरुशिष्यौ ब्रह्मणि लीनाववधार्य महाविदुषो निर्दग्धनिखिलपापावचयस्य कस्यचिदुक्तिरियम्॥ ३।५॥

६६६. आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्।
एदं बर्हिः सदो मम॥ १।६॥ (ऋ० ८।१७।१)

आ याहीति। इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। मन्त्रोयं व्याख्यातः पूर्वार्चिके †॥ १।६॥

६६७. आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना।
उप ब्रह्माणि नः शृणु॥ २।६॥ (ऋ० ८।१७।२)

आ त्वा ब्रह्मेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे इन्द्र जीव, केशिना केशिनौ केशा रश्मयस्तद्वन्तौ ब्रह्मयुजा ब्रह्मयुजौ ब्रह्मनिष्ठौ द्विवचनमविवक्षितम्। रश्मिवन्तो ब्रह्मनिष्ठाश्चेत्यर्थः। हरी हर्तारः सर्वक्लेशानां त्वा त्वामा वहतां ब्रह्म प्रापयन्ताम्। त्वं नोस्माकं ब्रह्माणि धनान्युपदेशरूपाणि सदाचाररूपाणि वा। ब्रह्मेति धननामसु पठितम् (निघ० २।१०।२४) उप शृणु सान्निध्येन शृणु अनुसर पालयेत्यर्थः॥ २।६॥

६६८. ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः।
सुतावन्तो हवामहे॥ ३।६॥ (ऋ० ८।१७।३)

† सामसंस्कारभाष्ये पूर्वार्चिके १९१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

ब्रह्माणस्त्वेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे इन्द्र सोम सौम्य वयं ब्रह्माणो ब्रह्मविदः सोमिनो ज्ञानिनः। सूयत इति सोमः। ज्ञानमपि सूयत एव। गुरोः सकाशात्सेवया श्रद्धया च ज्ञानादानमेव ज्ञानाभिषवः। सुतावन्तः सुतवन्तः ज्ञानं प्राप्तवन्तस्त्वा त्वां सोमपां ब्रह्मरसपातारं युजा योग्येन मार्गेण शब्दराशिना वा हवामहे आह्वयामः स्तुम इत्यर्थः। ज्ञानिनो ज्ञानाभिलाषुकं दृष्ट्वा प्रोत्साहयन्ति स्तववचनैः। अकृतज्ञानलाभानां स्तवो न किञ्चित्कर इति सोमिनः सुतावन्तो ब्रह्माण इति विशेषणत्रयं स्तुतिकर्तॄणाम्। ब्रह्माण इत्यनेन ब्रह्मवित्त्वं सोमिन इत्यनेन ज्ञानाधारत्वं सुतावन्त इत्यनेन सपरिश्रमं ज्ञानसम्पादयितृत्वं प्रत्याय्यते॥ ३।६॥

६६९. इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्।
अस्य पातं धियेषिता॥ १।७॥ (ऋ० ३।१२।१)

इद्राग्नी आ गतिमिति। विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः। इद्राग्नो देवता। गायत्री छन्दः। विश्वामित्रो गाथिनः। हे इन्द्राग्नी गुरुशिष्यौ। सुतं निष्पादितं स्वयंसिद्धिं, गीर्भिर्वाग्भिर्नभो न भवति प्रतिभाति दुर्ज्ञानिभ्यो यत्तद्वरेण्यं वरणीयं सन्मतिभिः सद्गतिभिश्च। अस्येमम्। द्वितीयार्थे छान्दसी षष्ठी। सोमं धिया बुद्ध्या इषितौ कामितौ युवाम् आगतमागच्छतं पातं पिबतञ्च। परमात्मा गुरुशिष्यावुद्दिश्यादिशति यज्ज्ञानं तत्त्वं वा न भवति प्रतिभासनीयं वाग्भिस्तद्युवामागत्य परिश्रम्य ज्ञानाभ्यासे पिबतं प्राप्नुतमित्यर्थः॥ १।७॥

६७०. इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः।
अया पातमिमं सुतम्॥ २।७॥ (ऋ० ३।१२।२)

इन्द्राग्नी जरितुरिति। ऋष्यादय उक्ताः। अत्रेन्द्राग्नीशब्दौ नेन्द्र इति अग्निरिति च पृथगर्थपरौ किन्त्वेकमेव परमैश्वर्यरूपं

प्रकाशरूपं चार्थं बोधयतः। जरितुर्जरित्रास्तोत्रा। जरितेति स्तोतृनाम (निघ० ३।१६।२) सचा सह। सहार्थोयं निपातः। यज्ञो देवो दिव्यगुणविशिष्टः। देवार्थक यज धातोर्निष्पन्नो यज्ञशब्दः। यज देवपूजासंगतिकरण-दानेषु। अत्र देवपूजेति नैकः सम्पुटितोर्थः प्रत्येतव्यः। तथा सति धात्वर्थेनैव कर्मण्युक्तेऽकर्मकत्वं स्यात्तथा च देवं यजतीति न स्यात्। चेतनो ज्ञानवान् बुद्धिमान् जिगाति त्वां गच्छति। अया अनया सह गच्छन्तमिमं सुतं पुत्रं तावकं पातं पाहीत्यर्थः। स्तोत्रा सह चेतनो गच्छति तं च पाहीत्युक्ते स्तोत्रपेक्षया यज्ञचेतने-दिव्यात्मनि बहुमान इति वेदितव्यम् ॥ २।७ ॥

६७१. इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे।
ता सोमस्येह तृम्पताम् ॥ ३।७ ॥

(ऋ० ३।१२।३)

इन्द्रमग्निमिति। ऋष्यादय उक्ताः। यज्ञस्य दिव्यमानवस्य जूत्या प्रेरणया। जू इति सौत्रो धातुः। कविच्छदा कविच्छदौ विद्वद्रक्षकौ। द्विवचनमनपेक्षितं तेन विद्वद्रक्षकमिन्द्रमैश्वर्यवन्तमग्निं प्रकाशकं प्रगतिशीलं वा त्वां वृणे गुरुत्वेनेति शेषः। ता तौ। इन्द्राग्न्यपेक्षया द्विवचनम्। वस्तुतस्त्वेकत्वमेवेष्टम्। स भवान् इह सोमस्य सोमं शान्तं विवेकवन्तं मां तृम्पताम् प्रीणयतु। सोमस्येति द्वितीयार्थे षष्ठी ॥ ३।७ ॥

इति द्वितीयः खण्डः



अथ तृतीयः खण्डः

६७२. उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या† ददे।
उग्रं शर्म महि श्रवः ॥१।८॥ (ऋ० ९।६१।१०)

उच्चा त इति। अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। हे सोम परमात्मन्। अत्र सोमशब्देन शाश्वतिकः शान्तः परमात्मा गृह्यते। औचित्यात्। उच्चा उच्चैर्दिवि दिव्ये मानसे ते तवान्धसः आध्यातव्यस्य रसस्य भूमि भूम्याम्। छान्दसो विभक्तिलोपः। जातमुत्पन्नमुग्रं श्रेष्ठं महि महत् प्रशस्तं शर्म सुखमा ददे सम्यगनुभवामीति भावः। आध्यानीयस्य रसस्य तदैव परमानन्दानुभूतिर्भवति यदा मनः सर्वथा निरुपद्रवं तिष्ठेत् ॥ १।८ ॥

६७३. स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः।
वरिवोवित्परि स्रव ॥ २।८ ॥ (ऋ० ९।६१।१२)

स न इन्द्रायेति। ऋष्यादय उक्ताः। भोः पवमान सोम सर्वपावक शान्तात्मन्, स प्रसिद्धस्त्वं यज्यवे यजनशीलाय वरुणाय सत्पात्रत्वेन वृतायेन्द्रायास्मा आत्मने मरुद्भ्यः मरणधर्मभ्यः सर्वप्राणिभ्यश्च परि स्रवार्द्रो भव। त्वं हि वरिवोवित्, वरिवो धनमिति निघण्टुः (निघ० २।१०।५) भृशं व्रियत इति वरिवोवित् धनस्य प्रापकोसीति। नह्यत्र लौकिकं धनमपेक्षितम्, अपि तु सदाचारादि हि परमोत्तमं धनम्। कश्चिदमहीयुर्वा परमात्मानं प्रार्थयते ॥२।८॥

६७४. एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम्।
सिषासन्तो वनामहे ॥ ३।८ ॥ (ऋ० ९।६१।११)

---

† षद्भूम्येत्यृक्पाठः।

एना विश्वेति। ऋष्यादय उक्ताः। एना एनेन पवमानेन सोमेन द्वारा आर्यः सर्वतो गच्छन्तः मानुषाणां मननशीलानां विश्वानि निखिलानि द्युम्नानि यशांसि तेजांसि वा। द्युत दीप्तौ। नप्रत्ययो मकारान्तश्चादेशो निपात्यते। अथवा, दिवं मनतीति। म्ना अभ्यासे। आतोनुप० (पा० ३।२।३) इति कः। सिषासन्तो नाशयितुमिच्छन्तोऽज्ञानान्यपयशांसि वा। षोन्तकर्मणि। वनामहे याचामहे कामयामहे वा परमेश्वरम्। वनु याचने। विकरणव्यत्ययः॥ ३।८॥

६७५. पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो
हिरण्ययः॥ ११९॥ (ऋ० ९।१०७।४)

पुनानः सोमेति। सप्तर्षयः। पवमानः सोमो देवता। विषमा बृहती छन्दः। हे सोम शान्तजीव, धारया वाचा विद्यया वेदरूपया। धारेति वाङ्नामसु पठितम् (निघ० १।११।२) पुनान आत्मानं पवित्रीकुर्वन्। अपः कर्माणि। अप इति कर्मनाम (निघ० २।१।१) आप्लृ व्याप्तौ। "आपः कर्माख्यायां" (उणा० ४।२०८) इत्यनेन असुन् ह्रस्वो नुट् च वा। वसानः आच्छादयन् फलभोगयोग्यं कुर्वन्नित्यर्थः। अर्षसि गच्छसि। ज्ञानिनां सर्वाण्येव कर्माणि फलभोगयोग्यानि भवन्त्येवेति वैदिकः सिद्धान्तः। ततश्च ऋतस्य सत्यस्य सत्यस्वरूपस्य परमात्मनो योनिं पदम् आ सीदसि तिष्ठसि। ततश्च त्वं रत्नधा रमणीयस्य परमात्मनो धारकोसि। उत्सोसि परमेश्वरेण शान्तीकृतोसि। उत्पूर्वात् सर्तेर्वा सदेर्वा स्यन्देर्वा उप्रत्ययः। उन्देर्वा उत्सेत्यस्य सिद्धिः। देवोसि स्तुतोसि स्तुत्यर्होसि। हिरण्ययोसि सर्वेषां हितरमणीयोसि। यो हि जीवो वेदरूपया वाचात्मानं पुनाति वेदोपदिष्टानि सत्यदयादानादीनि कर्माणि करोति तस्य सर्वाण्येव

बन्धनकर्तृणि कर्माणि नष्टानि भवन्ति। तेन स रत्नधा उत्सो देवो हिरण्ययो भवतीति भावः॥ १।९॥

६७६. दुहान ऊधर्दिव्यं मधु प्रियं प्रत्नं सधस्थमासदत्।
आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षसि† नृभिर्धौतो
विचक्षणः॥ २।९॥ (ऋ० ९।१०७।५)

दुहान ऊधरिति। ऋषिदेवते उक्ते। समा सतो बृहती छन्दः। पवमानः सोमः पवित्रः शान्तश्च शिष्यो दिव्यं सर्वश्रेष्ठं मधु मधुरं प्रियं कान्तम् ऊधः रसाकरं रसरूपम्परमात्मानं दुहानः स्वस्मिन् पूरयन् प्रत्नं पुरातनं सधस्थं स्थानमासदत्–आसीदति। किं च तथाभूतं रसं दुहानो वाजी बलवाञ्जीव आपृच्छ्यं सर्वराप्रष्टव्यमन्वेष्यमिति यावत्। धरुणं सर्वाधारम्, अर्षसि अर्षति गच्छति। पुरुषव्यत्ययः। नृभिनीतियुक्तैर्मनुष्यैर्धौतो धावितोऽनुगतो भवतीत्यर्थः। विचक्षणो विविधदृष्टिवांश्च भवतीत्यर्थः। यथा गोरूधः रसपूर्णं क्लिन्नं च भवति तथैव परमात्मापि रसरूपत्वाद्रसपूर्ण एव। जीवेषु शरणागतेषु तदाज्ञाकारिषु क्लिन्नश्च स भवति। तथाभूतं परमात्मानं यो हृदये दधाति स पुराणं स्थानं परमात्मरूपमासीदति तदेव प्राप्नोतीति भावः। तद्रूपं ध्यायन्नेव सर्वाधारं सर्वगवेष्यं परमगुरुं प्रति जीवो गच्छति। अन्यैश्चापि वीतदोषैरनुयातो भवति। सर्वज्ञोपि भवतीत्यर्थः॥ २।९॥

६७७. प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि-
वाजमर्ष। अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्हो
रशनाभिर्नयन्ति॥ १।१०॥ (ऋ० ९।८७।१)

प्र तु द्रवेति। उशना काव्य ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। त्रिष्टुप छन्दः। हे सोम, तु क्षिप्रम्। प्र द्रव प्रकर्षेण व्रज। कोशं चेदम्। कु शब्दे। कुदापाभ्य श इति भोजदेवः। कौति कुवतीति

† "वाज्यर्षति" इति ऋक्पाठः।

कोशो वेदः। वेदः शब्दं करोति। वेदस्य शब्दराशित्वाच्छब्दकरणे औपचारिको व्यवहारः। परि नि षीद परितो नितरामुपविश। वेदार्थनिष्ठो भवेति भावः। नृभिः सत्पुरुषैः पुनानः पूयमानो वाजमभि अर्षं मोक्षगतिं गच्छ। अश्वं व्यापकं परमात्मानं न इव त्वा वेदोपदेशनिरतं त्वां वाजिनं बलिनं मर्जयन्तः शोधयन्तः, कुर्वन्त इति तु तात्पर्यम्, सत्पुरुषा इति भावः। बर्हीं बृहद्ब्रह्म अच्छा आभिमुख्येन रशनाभिर्यमनियमादिभिः। रशिर्धातुर्यमनार्थः सौत्रः। प्रेरणाभिर्वा। धातूनामनेकार्थत्वात्। नयन्ति प्रापयन्ति सत्पुरुषाः सत्गुरुव इति भावः॥ १।१०॥

६७८. स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाणः।
पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः
पृथिव्याः॥ २।१०॥ (ऋ० ९।८७।२)

स्वायुध इति। ऋष्यादय उक्ताः। हे सोम शिष्य, स्वायुधः शोभनैरायुधैर्विघ्ननिवारकसाधनैः सम्पन्नो देवो दिव्यगुण इन्द्रः प्रकाशमानः। ञि इन्धी दीप्तौ। अशस्तिहा अमङ्गलानि निघ्नन् वृजना पापानि रक्षमाणो निवर्तयन् प्रतिरुन्धानः देवानां महापुरुषाणां पिता पाता जनिता प्रादुर्भावयिता सुदक्षः समुत्साहो दिवो द्युलोकस्य विष्टम्भः स्तम्भयिता पृथिव्या धरुणो धारकः पवते गच्छति त्वां परित इति भावः। हे जीव त्वां परितः परमात्मा सर्वान् विघ्नान् प्रतिरुन्धानस्तव पुरतो गच्छतीति मा भैषीरिति भावः। अगच्छन्नपि गच्छतीति प्रयोगो सर्वव्यापकत्वाभिप्रायः॥ २।१०॥

६७९. ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन।
स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यां३† गुह्यं नाम
गोनाम्॥ ३।१०॥ (ऋ० ९।८७।३)

† अपीच्यं ३ इत्यपपाठः।

ऋषिर्विप्र इति। ऋष्यादय उक्ताः। ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा नामत उशना। विप्रो मेधावी। विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१)। टु वप बीजसन्ताने। रन् प्रत्यये इत्वं गुणाभावश्च निपात्यते (उ० १।२७)। उप्यते मेधा यस्मिन्सः। विशेषेण प्राति ज्ञानं पूरयतीति वा। पुरएता पुरस्ताद्गन्ता जनानां मनुष्याणां सर्वेषां वा जनिमताम्। ऋभुर्महामतिमान्। ऋभुरिति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।८)। उरु अधिकं भातीति। उरुशब्दोपपदात् भातेः कुप्रत्ययः। पूर्वपदस्थोवर्णटिलोपः सम्प्रसारणं च निपात्यते। धीरो बुद्धिमान्। दधातेः क्रन्। घुमास्थेतीत्वम्। धत्ते शास्त्रं शास्त्रीयाचारं च। धियं जनं सत्कर्मणीरयतीति वा धीरः। स चित्स एव आसां गोनां वाचां निहितं तत्र स्थापितं यदपीच्यमन्तर्हितम्। अपीच्यमिति निर्णीतान्तर्हितनाम (निघ० ३।२५।६)। अन्तः स्थितमिति यावत्। अपीच्यमपचितमपगतमपिहितमन्तर्हितं वेति निरुक्तम् (४।२५)। अन्तर्हितमत एव गुह्यं गोप्यं विवेद वेत्ति काव्येनानेन मन्त्रेणेति भावः ॥ ३।१० ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥



चतुर्थः खण्डः

६८०. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १।११ ॥
(ऋ० ७।३२।२२)

अभि त्वा शूर इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिः ऋषिः। इन्द्रो देवता। प्रगाथश्छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके। † ॥ १।११ ॥

† पूर्वार्चिके २३३ संख्याकोमन्त्रो द्रष्टव्यः ॥

६८१. न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥२।११॥
(ऋ० ७।३२।२३)

न त्वावाँ अन्य इयि ऋष्यादय उक्ताः। हे मघवन् सर्वश्रेष्ठ-वदान्य। मंहतिर्दानकर्मा। तस्मात्कप्रत्यये पृषोदरादित्वान्नकारलोपो हकारस्य च घकारः। मघमिति धननाम (निघ० २।१०।१)। अत्र मघं दानार्थकम्। हे इन्द्र परमैश्वर्यपूर्ण! त्वावाँस्त्वादृशोन्यो दिव्यो देवः पार्थिवो भूमिजो वा न जात उत्पन्नो न वा जनिष्यते उत्पत्स्यते। अश्वायन्तोश्वं परमात्मानमिच्छन्तः। वाजिनो गतिं मुक्तिमिच्छन्तः। गव्यन्तो विद्यां सतीमिच्छन्तो वयं त्वा त्वां सुद्गुरुं हवामहे आह्वयामः। अस्माभिराहूतो भवानस्मानाह्वयतु मोक्षमार्ग-मुपदिशत्वित्याशयः॥ २।११ ॥

६८२. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥ १।१२ ॥ (ऋ० ४।३१।१)

कया नश्चित्र इति। वामदेवो गौतम ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके॥ १।१२ ॥†

६८३. कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
दृढा चिदारुजे वसु ॥ २।१२ ॥ (ऋ० ४।३१।२)

कस्त्वा सत्य इति ऋष्यादय उक्ताः। हे इन्द्र परमात्मन् गुरो वा, मदानां मोदवतामस्माकं मध्ये कः सत्यः सत्यनिष्ठो मंहिष्ठोत एव पूजयितव्यः। अन्धस आध्यातव्यस्य ध्येयस्य तव दृढा चित् दृढानि अपि वसु वसूनि धनानि ज्ञानरूपाणि ग्रहीतुं त्वा त्वा-मारुजे सर्वथा पीडयितुं दुःखापयितुं श्रमयितुमिति यावत्। मत्सत्

† पूर्वार्चिके १६९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

मादयेत् ? अयं भावः—अध्यापने गुरूणां श्रमस्तु भवत्येव। अयं श्रमो गुरुणा न सर्वैश्छात्रैः शिष्यैर्वा कारयितुं शक्यः। यो हि सत्यनिष्ठः स्याद्ब्रह्मनिष्ठः स्यात्, स्यान्मे विद्या, व्यपगच्छेदविद्या, सत्येन सत्यमेव परमात्मानं विजानीयामितीदृशी स्याद्यस्य सती निष्ठा स एव शिष्यो गुरुकृपामावर्जयितुं स्वस्मिन्समर्थः स्यात्। तदर्थमेव गुरुः श्रममङ्गीकुर्यादिसि ॥ २।१२ ॥

६८४. अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्।
शतं भवास्यूतये† ॥ ३।१२ ॥ (ऋ० ४।३१।३)

अभी षु ण इति। ऋष्यादय उक्ताः। हे इन्द्र सर्वसामर्थ्यसम्पन्न गुरुदेव, त्वं नोस्माकं सखीनां समानख्यातानां जरितॄणामर्चितॄणां स्तोतॄणां वा। जरिता गरितेति निरुक्तम् (१।६)। जरते इत्यर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।७)। अविता रक्षितासि। अतः शतं शतेन शतरूपेण मातापितृगुरुमित्रादिविविधरूपैस्त्वमूतयेस्माकं रक्षायै अभी आभिमुख्येन सु भवासि सुष्ठु भवसि। वयं शिष्याः सदा तत्रभवन्तं गुरुदेवं भवन्तं स्तुमो भवतो विविधानुपकारान्स्मरामः, भवाँश्च मातृरूपेण पितृरूपेण बन्धुरूपेण सखिरूपेण गुरुरूपेण चास्माकमभिमुखस्तिष्ठतीति। गुरुकुलेषु गुरव एव मातृकर्म-पितृकर्म-बन्धुकर्मादि निर्वाहयन्ति ततस्तेवश्यं सर्वेषां स्तुतिभाजनम् ॥ ३।१२ ॥

६८५. तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ १।१३ ॥
(ऋ ८।८८।१)

तं व इति। नोधागोतम ऋषिः। इन्द्रो देवता। प्रगाथश्छन्दः विषमा बृहती। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके ॥ १।१३ ॥ ‡

† स्यूतिभिरित्यृक्पाठः। ‡ पूर्वार्चिके २३६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

६८६. द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ २।१३ ॥
(ऋ० ८।८८।२)

द्युक्षं सुदानुमिति । ऋष्यादय उक्ताः । इन्द्रः परमात्मात्र । द्युक्षं दिवो द्युतेः क्षो गृहं स्थानम् । क्षि निवासे । सुदानुं कल्याणदानं-तविषिभिः शक्तिभिः । तविषिति बलनाम (निघ० २।९।१०) । तविरिति सौत्रो धातुः । तस्माट्टिषन् । टित्त्वाद् ङीप् । आवृतं परि-वेष्टितं महाशक्तिमन्तं शक्तिरूपं वा । गिरिं न कालमिव । गॄ निग-रणे । गृणाति सर्वमिति गिरिः कालः । काल एव सर्वान् पदार्थान् समये गिलति । पुरुभोजसं बहून् प्राणिनो भुङ्क्ते इति पुरुभोजास्तम् । बाहुलकात्पुरूपपदे "विदिभुजिभ्यां विश्वे" (उणा० ४।२३१) इत्यसिः । अथवा गिरिर्मेघः (निघ० १।१०।१०) पुरुभोजाः पुरुरक्षकः । अभ्यवहारार्थको भुज धातुः । यथा मेघो जलदानेन सर्वं प्राणिजातं रक्षति तथैव परमात्मापि सर्वं रक्षति । क्षुमन्तं वेदवन्तम् । टुक्षु शब्दे । सर्वाश्रयं वा । क्षि निवासे । सर्वैश्वर्यं वा । क्षयतीत्यैश्वर्यकर्मा (निघ० २।२१।३) । बाहुलकात्क्रुप्रत्ययः स च डित् । वाजं बलिनम् । शतिनं बहुरूपवन्तम् । बहुशक्तिमन्तं वा । शतमिति बहुनाम (निघ० ३।१।९) । सामर्थ्याद्रूपशक्त्यादीनामाक्षेपः । सहस्रिणं बल-वन्तम् । सह इति बलनाम (निघ० २।९।१७) । तस्मान्मत्वर्थीयो रः । छान्दसत्वात्पुनर्मत्वर्थीय इन् । गोमन्तं सर्वज्ञानं परमात्मानं मक्षू शोधकं पवित्रकर्तारम् । टुमस्जो शुद्धौ । षुक् प्रत्ययः । पापान्म-ज्जयति शोधयति ईमहे याचामहे । ईमहे इति याच्ञाकर्मा (निघ० ३।१९।१) । त्वयि स्थितं सर्वं ज्ञानं सर्वं च भद्रराशिमस्मभ्यं देहीति याचामहे । भगवत्तुल्यधर्माणो भवेम वयमिति आशंसामहे इति भावः ॥ २१३ ॥

६८७. तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥१।१४॥
(ऋ० ८।६६।१)

तरोभिर्व इति। कलिः प्रागाथ ऋषिः। इन्द्रो देवता। प्रगाथश्छन्दः विषमा बृहती। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिक॥ १।१४॥†

६८८. न यं दुध्रा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदेषु‡ शिप्रमन्धसः।
य आदृत्या शशमानाय सुन्वते दाता जरित्र उक्थ्यम् ॥२।१४॥
(ऋ० ८।६६।२)

न यमिति। ऋषिदेवते उक्ते। समा सतो बृहती छन्दः। परमात्मानं विशिनष्टि। दुध्रा दुर्धरा मानवा यं न वरन्ते न वारयन्ति, स्थिरा दुर्धरेतरे ये मुरो मनुष्याः। अन्धसस्तमसः। अन्ध इति तमोनाम। तमोऽज्ञानम्। अज्ञानस्य मदेषून्मादेषु सत्सु शिप्रं शिरस्त्राणमिव। लक्षणया रक्षकम्। सृप्लृ गतौ। स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षपिसृपि (उ० २।१२) इति रक्। बाहुलकात् सृशब्दस्य शिभावः। यश्च परमात्मा शशमानाय शंसमानाय स्तुतिं कुर्वाणाय। सुन्वते भक्तिरसं प्रवर्तयते। जरित्रेर्चयित्रे। परमात्मानमेवेत्यर्थात्। उक्थ्यं स्तुत्यं धनं ज्ञानरूपम्। दाता तृन्। अत एव न षष्ठी। भवतीति शेषः। स सर्वदा सेव्य इति भावः। रेजयतीति वा ऋग्वेदस्थाव्यवहितोत्तरमन्त्राद् ग्राह्यम्॥ २।१४॥

इति चतुर्थः खण्डः



† पूर्वार्चिके २३७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ मदे सुशि० इति ऋक्पाठः।

पञ्चमः खण्डः

६८९. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ १।१५ ॥ (ऋ० ९।१।१)

स्वादिष्ठयेति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके† ॥ १।१५ ॥

६९०. रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहते‡ ।
द्रोणे* सधस्थमासदत् ॥ २।१५ ॥ (ऋ० ९।१।२)

रक्षोहेति ऋष्यादय उक्ताः । अयोहते हिरण्यनिहते । अय इति हिरण्यनाम (निघ० १।२।५) इण् गतौ । असुन् । अयस्कान्तो मणिर्वा । सर्वथा ह्यत्र नैर्मल्यमुपलक्ष्यते । नैर्मल्येन हते शोधिते इति यावत् । अथवायसा हरण्येनाहते हिरण्यवासनारहिते । द्रोणे मनसि । द्रु गतौ । द्रवति गच्छति परमात्मानमिति द्रोणम् । नप्रत्ययः कृवृजॄसीतिसूत्रेण (उणा० ३।१०) । रक्षोहा रक्षसां कामक्रोधलोभमोहादीनां हन्ता विश्वचर्षणिः सर्वेषां द्रष्टा । विचर्षणिरिति पश्यतिकर्मा (निघ० ३।११।६) । तत्रैव विश्वचर्षणिरित्यपि पठितम् । विविधं द्रष्टेत्यर्थः । परमात्मा । सधस्थं सहस्थानम् । यत्र जीवपरमात्मानावुभौ सह तिष्ठतः । योनिं हृदयम् । यत्र जीवात्मा परात्मना सह मिश्रीभवत्येकीभवतीति तात्पर्यम् । अभि आसदत् आभिमुख्येन तिष्ठति । यत्र निर्मलं मनो भवति तत्रैव परमात्मा प्रकाशते इति तात्पर्यम् ॥ २।१५ ॥

६९१. वरिवोधातमो भुवो§ मंहिष्ठो वृत्रहन्तमः ।
पर्षि राधो मघोनाम् ॥ ३।१५ ॥ (ऋ० ९।१।३)

† पूर्वार्चिके ४६८ संख्या द्रष्टव्या । ‡ ....योहतमित्यृक्पाठः ।
* द्रुणेति ऋक्पाठः । § भवेत्यृक्पाठः ।

वरिवोधातम इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम गुरो परमात्मँस्त्वं भुवो जगतो निखिलस्य वरिवोधातमो धनानां धारकश्रेष्ठः । वरिव इति धननाम (निघ० २।१०।५) । भृशं व्रियत इति वरिवः । वृञ् वरण इत्यस्माद्धातोर्यङ्लुगन्तादसुन् । वृत्रहन्तमो वृत्राणां पापानां हन्तृश्रेष्ठश्चासि । आच्छादनार्थाद्वृधातोः क्त्रन् (उणा० ४।१५९) मंहिष्ठो महनीयतमश्चासि । अतः मघानां धनिनां ज्ञानिनां राधो धनं ज्ञानरूपमिति यावत् । पर्षि प्रयच्छास्मभ्यम् । पृ पूरणे ।। ३।१५ ।।

६९२. पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः ।
महि द्युक्षतमो मदः ।। १।१६ ।। (ऋ. ९।१०८।१)

पवस्वेति । गौरवीतिः शाक्त्य ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । काकुभः प्रगाथश्छन्दः । (विषमा ककुप्) । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके † ।।१।१६।।

६९३. यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीत्वा‡स्वर्विदः ।
स सुप्रकेतो अभ्यक्रमीदिषोऽच्छा वाजं नैतशः ।।२।१६।।
(ऋ. ९।१०८।२)

यस्य ते पीत्वेति । ऋषिदेवते उक्ते । समा सतो बृहती छन्दः । हे सोम परमात्मन् यस्य ते तव रसं पीत्वा अस्य स्वर्विदः स्वातन्त्र्यसौख्यज्ञातुर्गुरोश्च ज्ञानरसं पीत्वा वृषभो वृषस्य धर्मस्य भेव भा यस्य स युवा ब्रह्मचारी वृषायते धर्मायते धर्म इवाचरति । साक्षाद्धर्म इव प्रतीयते इति भावः । स सुप्रकेतः अतिशयेन प्रकृष्टं ज्ञानं यस्य तथाभूतः । त्वद्रसास्वादको ब्रह्मचारी । इषोन्नम् । अन्नशब्देन

† पूर्वार्चिके ५७८ मन्त्रसंख्या द्रष्टव्या । ‡ पीतेत्यृक्पाठः ।।

सर्वे भौतिकाः पदार्थाः संगृहीता वेदितव्याः। सर्वान् भौतिकपदार्थान् अच्छा आभिमुख्येन। अभ्यक्रमीत् अपक्रान्तवान्। अभिरत्र वर्जने। दृष्टान्तमाह यथा-एतशः गमनकुशलः शिष्यः। एतश इत्यश्वनाम (निघ० १।१४।१०)। इण् धातोस्तशन् (उणा० ३।१४५) प्रत्ययः। गमनकुशलोश्व इति भावः। अत्र तु सामर्थ्यादेतश इति विशेषणम्। वाजमन्नम् भौतिकपदार्थजातमभिक्राम्यति परिवर्ज्यं गच्छति॥ २।१६॥

६९४. इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः।
श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः॥ १।१७॥
(ऋ. ९।१०६।१)

इन्द्रमच्छेति। अग्निश्चाक्षुष ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। उष्णिक छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके †॥ १।१७॥

६९५. अयं भराय सानसिरिन्द्राय पवते सुतः।
सोमो जैत्रस्य चेतति यथा विदे॥ २।१७॥
(ऋ. ९।१०६।२)

अयं भरायेति। ऋष्यादय उक्ताः। अयं सानसिर्भजनीयः। षण संभक्तौ। सुतो हृदय उत्पादितः सोमः शान्तरसः। भराय संग्रामवते। भरः संग्राम इति निघण्टुः (२।१७।५)। भरोस्तीत्यस्येति भरः। मत्वर्थीयो डः। परमाप्तुं जगज्जेतुं जगता सह युद्धं कुर्वत इन्द्राय जीवात्मने पवते क्षरति गच्छति वा। पवते इति गतिकर्मा (निघ० २।१४।१०८) तेन सोमोपयोगेन जैत्रस्य जयनशीलस्येश्वरस्य विदे लाभाय। यथा यथावदित्यर्थः। चेतति जानाति जीवात्मा। चेतनायुक्तस्तिष्ठतीति भावः। यस्य कस्यापि

† पूर्वार्चिके १६६ संख्या द्रष्टव्या।

पावित्र्यजुषो हृदये निष्पन्नः शान्तरसो भक्तिरसापरनामधेयः स आत्मा अवश्यं सर्वविजेतारं परमात्मानमवगन्तुं समर्थो भवतीति भावः ॥ २।१७ ॥

६९६. अस्येदिन्द्रो मदेष्वा ग्राभं गृभ्णाति सानसिम् ।
वज्रं च वृषणं भरत्समप्सुजित् ॥ ३।१७ ॥
(ऋ. ९।१०६।३)

अस्येदिन्द्र इति । ऋष्यादय उक्ताः । अस्योपासकस्य बहिरन्तःपूतस्येत् एव । मदेषु कल्याणेषु । चतुर्थ्यर्थे सप्तमी । बहुवचनमनपेक्षितम् । कल्याणायेति यावत् । अथवास्तु विवक्षितं बहुवचनम् । बहुविधेभ्यः कल्याणेभ्य इति यावत् । इन्द्रः परमैश्वर्यः परमदीप्तिर्वा परमात्मा ग्राभं ग्रहणीयं सानसिं भजनीयं च वज्रं शत्रूणां वर्जयितारं कामक्रोधादीनाम् । वृषणं सेचकमाप्यायकमनुग्रहं भरत् भरति दधातीति भावः । यतः सोप्सुजित् अपां कर्मणां कर्मकृतबन्धनानां सुजित् सर्वथा जेतैवास्तीति तात्पर्यम् ॥ ३।१७ ॥

६९७. पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे ।
अपश्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजीह्वचम् ॥१।१८॥†
(ऋ. ९।१०१।१)

पुरोजितीति । अन्धीगुः श्यावाश्विर्ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके † ॥१।१८॥

६९८. यो धारया पावकया परिप्रस्यन्दते सुतः ।
इन्दुरश्वो न कृत्व्यः ॥ २।१८ ॥ (ऋ. ९।१०१।२)

यो धारयेति । ऋषिदेवते उक्ते । गायत्री छन्दः । यः सुतो

† पूर्वार्चिके ५४५ संख्या द्रष्टव्या ।

ज्ञानादिना निष्पादितः सोमः शान्तः कृत्व्यः कर्मणि कुशलः। कृत्वीति कर्म नाम (निघ० २।१।२०)। करोतेस्तुः प्रत्ययः (उ० १।६८)। "इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्" (वा० ७।१।३) इतिविभक्तेरीकारादेशः। शिष्यः। पावकया पावनकर्त्र्या धारया वाचा। धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११।२)। सत्यवाचेत्यर्थः। परिप्रस्यन्दते गच्छति व्यवहरतीत्याशयः। स्यन्दते इति गतिकर्मा (नि० २।१४।५)। स इन्दुरैश्वर्यवान् दीप्तिमान्वा भवति। तत्र दृष्टान्तः। अश्वो न अश्व इव। अश्वानां पश्च गतयो धारा उच्यन्ते। धाराभिर्गच्छन्यथाश्वो दीप्तिमान् भवति तथैव। धारयेत्येकवचनं बहुवचने नेयम् ॥२।१८॥

६९९. तं दुरोषमभी नरः सोमं विश्वाच्या धिया।

यज्ञाय† सन्त्वद्रयः ‡ ॥ ३।१८ ॥ (ऋ. ९।१०१।३)

तं दुरोषमिति। ऋष्यादय उक्ताः। अद्रयोऽदरणीया दृढप्रतिज्ञा नरो नेतारो नायकाः श्रेष्ठा जनास्तं दुरोषं दुर्वधम्। रुष हिंसायाम्। सुमेधसं निष्पापं सोमं शान्तं शिष्यमभि शिष्यमुपलक्ष्येत्यर्थः। विश्वाच्या सर्वतो गामिन्या विचारशीलया धिया बुद्ध्या यज्ञाय प्रमोदाय सन्तु भवन्तु। आशीरेषा। यः शिष्यः सोमो भवत्यवश्यं स दुर्वधो भवति। शान्ताय शिष्यायोपासकाय वा सर्वे जना अद्रयो भवन्ति। न हि तस्मिन्कोप्यनुपकारी वञ्चको वा भवतीति भावः ॥३।१८॥

७००. अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते। आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुहद्विचक्षणः ॥ १।१९ ॥ (ऋ. ९।७५।१)

† यज्ञामित्यक्पाठः। ‡ हिन्वन्त्यद्रिभिरित्यृक्पाठः।

अभि प्रियाणीति । कविर्भार्गव ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । जगती छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके† ॥ १।१९ ॥

७०१. ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः । दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यां३ नाम तृतीयमधि रोजनं‡ दिवः ॥ २।१९ ॥ (ऋ. ९।७५।२)

ऋतस्य जिह्वेति । ऋतस्य सत्यस्य जिह्वा सत्यवादिनी जिह्वेति-भावः । प्रियं प्रियकरं मधु मधुरमिष्टं वस्तु पवते क्षरति । ऋतस्य वक्ता । अस्या धियोऽस्य कर्मणः सत्यभाषणरूपकर्मण इति भावः । पतिः पालको भवति । यः सत्यं वदति स सत्यमेव करोतीति भावः । अत एवादाभ्योऽहिंस्यो भवति । असत्यमेव हिंस्यते न सत्यमिति तात्पर्यम् । पुत्रः सत्यवादीतिशषः । पित्रोर्मातापित्रोर्नाम कीर्तिम् । अपीच्यामन्तर्हितां दधाति प्रकाशयति । दिवो द्युलोकस्य रोचनं प्रकाशितं तृतीयं स्थानमधि अधिदधातीत्यर्थः । सप्तम्यर्थे प्रथमा । द्युलोकेप्युत्तममध्यमाधमा वसन्ति । तृतीयं स्थानमुत्तमानाम् । द्वितीयं मध्यमानाम् । प्रथमं नीचैः स्थानमधमानाम् । सत्यवादी पुत्रः पित्रोर्नाम द्युलोकवासिनामुत्तमे स्थानेप्यधिदधाति नयतीत्यर्थं । अथवा अपीच्यमप्रसिद्धं नाम दिवस्तृतीयस्मिन्रोचने स्थानेधिदधाति प्रकाशयति ॥ २।१९ ॥

७०२. अव द्युतानः कलशाँ अचिक्रदन्नृभिर्येमाणः* कोश आ हिरण्यये । अभी ऋतस्य§ दोहना अनूषताधि त्रिपृष्ठ उषसो वि राजसि£ ॥ ३।१९ ॥ (ऋ. ९।७५।३)

---

† पूर्वार्चिके ५५४ संख्या द्रष्टव्या । ‡ रोचने इत्यृक्पाठः ।
* येमान इत्यृक्पाठः । § अभीमृतस्येत्यृक्पाठः
£ राजतीत्यृक्पाठः ।

अव द्युतान इति । अत्र सोमः परमात्मा । द्युतानो द्योतमानो आ येमानो नितरां नियम्यमानो नियमेन सेव्यमानो नृभिरुपासकैः । कुत्र ? हिरण्यये मिरण्मये कोशे हृदयाकाशे । हर्यतेः प्रेप्साकर्मणः कन्यन् प्रत्ययो हिरश्च । प्रेप्साविषयो हिरण्यम् परमात्मा । तत्सान्निध्याद्धृदयं हिरण्मयम् । कोशत्वं हृदयस्य न दुर्वेद्यम् । वस्त्वाच्छादको हि कोशो भवति । असिकोश इतिवात् । हृदयमपि हृदयदेशसन्निहितं परमात्मानमाच्छादयति । कलशाञ् जीवान् । "कलशः कस्मात् ? कला अस्मिञ्शेरते मात्राः । कलिश्च कलाश्च किरतेर्विकीर्णमात्रः" (नि० ११।१२) । भगवतः कला जीवेषु शेरते इति जीवाः कलशा । अंशो नानाव्यपदेशात् ( ) इति ब्रह्मसूत्रमपीहैवानुकूलम् । अव अचिक्रदत् अवक्रन्दति शब्दायते आह्वयतीति भावः । ऋतस्य सत्यस्य दोहना अभिलाषिणः । अभि अनूषत अभिष्टुवन्ति । परमात्मना समाहूता जीवास्तं सर्वतः स्तुवन्ति । त्रिपृष्ठस्त्रीणि पृष्ठानि स्तोत्राणि प्रातर्माध्यन्दिनसायंकृतानि यस्य स परमात्मा । उषसः अधि, जीवानां हृदये । "उषाः कस्मात् ? उच्छतीति" (नि० २।१८) । विवासयति पापानि कामादिदोषान् स उषाः । वष्टेर्वा । वष्टि सुखं शान्ति परमार्थं वा स उषाः । दाहार्थकोपधातोर्वा । दहति सर्वान् कामानिति । स्त्रीत्वमकिञ्चित्करम् । एकवचनं छान्दसम् । अधीत्यव्ययबलाद्हृदयमित्यध्याहृतम् । एवं चायमर्थः—त्रिपृष्ठः परमात्मा स्तोतॄणां जीवात्मनां हृदयप्रदेशे वि राजसि विराजत इत्यर्थः । पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः ॥ ३।१९ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

अथ षष्ठः खण्डः

७०३. यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥१।२०॥
(ऋ. ६।४८।१)

यज्ञायज्ञा व इति । शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः । अग्निर्देवता । प्रगाथश्छन्दः, विषमा बृहती । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके† ॥ १।२० ॥

७०४. ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये ।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद्वृध उत त्राता तनूनाम् ॥२।२०॥
(ऋ. ६।४८।२)

ऊर्जो नपातमिति । ऋषिदेवते उक्ते । छन्दः समाः सतो बृहती । अग्निर्देवतास्य मन्त्रस्य, स च न लौकिकः । गुरुः परमात्मा वाग्निशब्देन ग्रहीतव्यः । उर्जो बलस्य ज्ञानरूपस्य । ऊर्गित्यन्ननाम (निघ० २।७।१५) । ऊर्जयतीति सतः । पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा (नि० ३।८) । ज्ञानरूपं पक्वान्नमप्यूर्जयति मनोबलम् । नपातमपातयितारम् । न पातयतीति नपात् (पा० ६।३।७५) । निघण्टौ नपाच्छब्दोपत्यनामसु पठितः (२।२।१३) । स्मरामः सेवामहे वेति शेषः । सः अयम्, गुरुः परमेश्वरो वा । हिनेत्यव्ययपदं हीत्यर्थे । नूनम् । अस्मयुरस्मान् कामयमानो (भवतु) हव्यदातये हव्यानां ज्ञानानां दातये दात्रे । दाशेम हृदयं दद्याम वयमिमिति शिष्यवचनम् । दाशतिर्दानकर्मा (नि० १।६) स च गुरुः परमेश्वरो वा वाजेषु संसारे कामक्रोधादिपरमारिभिर्युध्यमानानामस्माकमविता

† पूर्वार्चिके ३५ संख्याकोमन्त्र द्रष्टव्यः ।

रक्षिता भुवद् भवतु। वृधो वृद्धेः। अविता भुवद्रक्षिता भवतु। तनूनाम् उत आचाराणामपि। तनु विस्तारे। तन्वन्ति मोक्षं ज्ञानं वा। आचारैरेवैतयोस्तननं भवति। त्राता रक्षकश्च भुवद्भवतु ॥ २।२० ॥

७०५. एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः।
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ १।२१ ॥ (ऋ. ६।१६।१६)

एह्यू षु ब्रेति। भारद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके ॥ १।२१ ॥†

७०६. यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम्।
तत्र योनिं‡ कृणवसे ॥ २।२१ ॥ (ऋ. ६।१६।१७)

यत्र क्व चेति। अत्राप्यग्निर्न लौकिकः। हे गुरो परमात्मन् वा यत्र क्व च यत्र क्वचित्सदाचारसम्पन्ने जीवे ते तव मनोऽन्तःकरणं दृष्टिर्ध्यानं वा। दधसे त्वं दधासि तस्मिञ्जीव उत्तरमुत्कृष्टम्। दक्षं बलमात्मिकम्। दक्ष इति बलनाम (निघ० २।९।१३)। उत्साहं वा। दक्षतेरुत्साहकर्मण (१।६) इति निरुक्तवचनाद्दक्षतिरुत्साहकर्मा। दधसे। तत्र तस्मिन्महाभाग्यभाजने जने योनिं स्वस्थानं कृणवसे करोषि ॥ २।२१ ॥

७०७. न हि ते पूर्तमक्षिपद्भुवन्नेमानां पते* ।
अथा दुवो वनवसे ॥ ३।२१ ॥ (ऋ. ६।१६।१८)

न हि त इति। ऋष्यादय उक्ताः। हे गुरो परमेश्वर वा ते तव पूर्तं पूरकं ज्ञानरूपं तेजः। अक्षिपत् अक्ष्णोः ज्ञानरूपस्याक्ष्णः पातयितृ विनाशकर्तृ। हि अवश्यम्। न भुवद्भवतु। नेमानामल्पानां

† पूर्वार्चिके सप्तसंख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ तत्रा सदः इत्यृक्पाठः। * वसो इत्यृक्पाठः।

पते रक्षक इति त्वां प्रार्थयामहे। ये हि भगवदाज्ञानुकूलवर्तिनो भवन्ति त एव भगवता परमात्मना रक्ष्या भवन्ति। ये च दुरितवर्तिनस्ते न रक्ष्या दण्ड्या एवेति नेमशब्दस्य प्रयोगः। अथा तेन त्वं दुवः परिचर्यामस्माभिः कृतां वनवसे संभजस्व। दुवस्यतिः परिचरणकर्मा (निघ० ३।५।५)। दुवस्यती राध्नोतिकर्मेति निरुक्तम् (१०।२०)। वनु संभक्ते ॥३।२१॥

७०८. वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः।
वज्रि† चित्रं हवामहे ॥ १।२२ ॥ (ऋ. ८।२१।१)

वयमुत्वेति। सोभरिः काण्व ऋषिः इन्द्रो देवता। काकुभः प्रगाथः छन्दः। विषमा ककुप्। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके‡ ॥१।२२॥

७०९. उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥ २।२२ ॥

उप त्वा कर्मन्निति। ऋषिदेवते उक्ते। छन्दः समा ...तो बृहती। हे परमेश्वर, ऊतये रक्षायै। अव रक्षणे। कर्मन् कर्मणि- गुरूपदिष्टेषु सदाचारेषु। त्वा त्वाम्। उपगच्छामः। उपसर्गबलात् क्रियाध्याहारः। यस्त्वं धृषत् धृष्णोति कामादीञ्शत्रूनभिभवसि स युवोत्साहमिश्रः। उग्रः समवेतस्तेजोभिस्तेजस्वी वा। उच समवाये। ऋज्रेन्द्रेति (उ० २।२८) सूत्रेण निपातितोयं शब्दः। नोस्मान्। चक्राम प्राप्नुहि। अथवा सगर्थिकस्य क्रमते रूपम्। परस्मैपदं व्यत्ययेन। उत्साहयुक्तान् कुरु। पुरुषव्यत्ययः। हे इन्द्र परमेश्वर, सखायः समानधर्माणो वयं सानसिं भजनीयम्।

---

† वाजे इत्यृक्पाठः ‡ ४०८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

अवितारं रक्षितारं सर्वेभ्यो भयेभ्यः । त्वाम् इत् त्वामेव । ववृमहे हि नूनं स्वीकुर्मो भजामहे वा ।।२।२२।।

७१०. अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे† ससृग्महे ।
उदेव ग्मन्त‡ उदभिः ।। १।२३ ।। (ऋ. ८।९८।७)

अधा हीन्द्रेति । नृमेध आङ्गिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । ककुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके ।।१।२३।। *

७११. वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि ।
वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे ।। २।२३ ।।
(ऋ. ८।९८।८)

वार्ण त्वेति । ऋषिदेवते उक्ते । उष्णिक् छन्दः । अद्रिवो हे वज्रिन् हे शूर सर्वारिनिहन्तः, ब्रह्माणि ब्रह्मज्ञानानि दिवेदिवे प्रतिदिनं वावृध्वांसं ववृध्वांसं चित् वर्धनशीलमेव त्वा त्वामिन्द्रमाचार्यं वर्धन्ति वर्धयन्ति । यव्याभिर्नदीभिः । यव्या इति नदीनाम केषुचिन्निघण्टुग्रन्थेषु । युञ् बन्धने । अस्मादघ्न्यादित्वाद्यक् । बध्यते आसु सेतुरिति । वाः न वारीणीव । यथा जलवृद्धिमतीभिर्नदीभिर्वाजिलं वर्धते तद्वत् । यथा नदीवृद्धिर्जलं वर्धयति तथैव ब्रह्मज्ञानमनुदिनमुपासकं वर्धयति ।। २।२३ ।।

७१२. युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे वचोयुजा ।§
इन्द्रवाहा स्वर्विदा ।। ३।२३ ।।

---

† कामान्महः ससृज्महे इत्यृक्पाठः । ‡ यन्त इत्यृक्पाठः ।।

* ४०६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

§ ऋग्वेदे "उरुयुगे" इत्यत्रैव पादसमाप्तिः, वचोयुजा इति नास्ति ।।

§ वचोयुजा इति ऋक्पाठः ।।

युञ्जन्तीति। ऋषिदेवते उक्ते। पुर उष्णिक् छन्दः। इषिरस्यात्मदर्शकस्य विचारशीलस्य वा जीवस्य। रथे रमणीये। उरुयुगे महायोगे उरौ महति समाधौ स्वर्विदा परमात्मानुभवसुखविदौ वचोयुजाचार्योपदेशेन युक्तौ इन्द्रवाहौ इन्द्रः आत्मा तस्य वाहौ मनोबुद्धिरूपौ हरी नेतारौ परमात्मानं प्रति युञ्जन्ति योजयतः। कया ? गाथया वाचा। वेदरूपया वाचेत्यर्थः। वेदाभ्यासद्वारेति भावः। ये वेदाभ्यासिनो वेदानुकूलाचाराश्च स्युस्तेषां मनो बुद्धिश्च महति समाधौ परमात्मसाक्षात्कारं कारयत इति तात्पर्यम् ॥३।२३॥

इति षष्ठः खण्डः।

इति प्रथमप्रपाठके प्रथमोर्धः। इति प्रथमोध्यायः।'

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथ प्रथमप्रपाठके द्वितीयोर्धः

७१३. पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत ।
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥ १।१ ॥
(ऋ. ८।९२।१)

पान्तमा व इति । श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरसः ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । व्यायातोयं मन्त्रः ॥१।१॥†

७१४. पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यां३ सनश्रुतम् ।
इन्द्र इति ब्रवीतन ॥ २।१ ॥ (ऋ. ८।९२।२)

पुरुहूतमिति । ऋषिदेवते उक्ते । गायत्री छन्दः । वेदे सर्वत्र गीयमान इन्द्रः क इति तत्स्वरूपमुपवर्णयितुमाह श्रुतकक्षः— पुरुहूतं पुरुभिर्बहुभिर्हूतमाहूतं स्वरक्षार्थम् । पुरुष्टुतं पुरुभिः बहुभिः स्तुतं सोऽतीव न्यायपरायणो बलशाली पराद्भुतशक्तिवीर्यपित इत्येवं सर्वैरुपगीतम् । गाथान्यं गाथा वेदराशिः । तेन प्राप्तम् । अनितिर्गत्यर्थे इति माधवः । गाथान्यं गेयमित्येव वा । सनश्रुतं सनातनात्कालाच्छ्रुतं प्रसिद्धं पुरुषमिति शेषः । इन्द्र इति ब्रवीतन इन्द्रनामानं जानीत । नास्ति कश्चनेन्द्राख्यः स्वर्गीयो देवोमरावतीश्वरः परमात्मनोन्यो वेदेपूपास्य इति भावः ॥ २।१ ॥

---

† पूर्वार्चिके १५५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

७१५. इन्द्र इन्नो महोनां दाता वाजानां नृतुः ॥

महाँ अभिज्ञ्वा यमत् ॥ ३।१ ॥ (ऋ. ८।९२।३)

इन्द्र इन्न इति। पूर्वोक्ता एवर्ष्यादयः। इन्द्र इत् स ऐवेन्द्रो नोस्माकं सर्वेषां महोनां महतां तेजसां वा। वाजानां बलानां ज्ञानाद्यैश्वर्याणाम्। दाता प्रदातास्ति। स एवास्माकं नृतुर्नर्तयिता सर्वेषु शुभकर्मसु प्रवर्तयिता। महान् सर्वमहानिति भावः। अभिज्ञु अभिज्ञुः सर्वज्ञः। क्लीवत्वं छान्दसम्। आ यमत् समन्ताद् यमयति नियमयति ॥ ३।१ ॥

७१६. प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत।

सखायः सोमपाव्ने ॥ १।२ ॥ (ऋ. ७।३१।१)

प्र व इन्द्रायेति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके ॥ १।२ ॥†

७१७. शंसेदुक्थं सुदानव उत द्युक्षं यथा नरः।

चकृमा सत्यराधसे ॥ २।२ ॥ (ऋ. ७।३१।२)

शंसे दुक्थमिति। हे उपासक जीव, सुदानवे परमोत्तमदानदात्रे सत्यराधसे सत्यमेव धनं यस्य तस्मै सत्यस्वरूपायेति भावः। राध इति धननाम। परमात्मने। द्युक्षं दीप्तिमत् उत्तममिति यावत्। उक्थं सामवेदम्। उच्यते यत्तदुक्थं। वच धातोस्थक् (उ० २।७)। स्तोत्रं वा। शंस इत् उच्चारयैव। यथा नरोन्ये मनुष्या उच्चारयन्ति तथा। चकृम वयमपि तथैव कुर्मः ॥ २।२ ॥

७१८. त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो।

त्वं हिरण्ययुर्वसो ॥ ३।२ ॥ (ऋ. ७।३१।३)

---

† पूर्वार्चिके १५६ संख्या द्रष्टव्या।

त्वं न इन्द्रेति । पूर्वोक्ता एवर्ष्यादयः । हे इन्द्र परमात्मंस्त्वं नोस्माकं वाजयुर्मनोवलकामो भवेति शेषः । हे शतक्रतो विविध-कर्मनिस्पादक त्वं गव्युरस्माकं वाक्शक्तिकामो भव । हे वसो सर्वेषां वासयतिः, सर्वेषामस्माकं हिरण्ययुर्निखिलदोषाभावरूप-सर्वगुणधनकामो भव ॥ ३।२ ॥

७१९. वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ १।३ ॥ (ऋ. ८।२।१६)

वयमु त्वेति । मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके ॥१।३॥†

७२०. न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ ।
तवेदु स्तोमैश्चिकेत ॥ २।३ ॥ (ऋ. ८।२।१७)

न घेमन्यदेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे वज्रिन् सर्वव्यापक । वज गतौ । अपसः सर्वव्यापकस्य तव नविष्टौ नवायामिष्टौ प्रार-भ्यमाणायामुपासनायाम् । अत्यन्त त्वत्तोन्यत् किमपि । न घेम = घ+ईम् = नैव आ पपन आपने स्तौमि । तव इदु तवैव विभक्ति-वचनविपरिणामश्छान्दसः । स्तोमैः स्तोमं स्तुतिं चिकेत जानामि । उपासनावसरे त्वदतिरिक्तं न कमप्युपासे नवा कमपि स्तौमि । इयमेव सती भगवत उपासनेति विज्ञेयम् ॥ २।३ ॥

७२१. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ ३।३ ॥ (ऋ. ८।२।१८)

इच्छन्ति देवा इति । ऋष्यादय उक्ताः । देवा विद्वांसः । विद्वांसो हि देवाः (शत०) । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा

† पूर्वार्चिके १२७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता (नि० ७।१५)। सुन्वन्तं भक्तिरसं निष्पादयन्तं भक्त्यर्थं प्रयतमानं जनम् इच्छन्ति वाञ्छन्ति। तस्मिन् स्निह्यन्तीत्यर्थः। स्वप्नाय विरामाय न स्पृहयन्ति। कस्यापि कर्मणो विरतिरेव स्वप्नः स्वापः। इमे भक्तिरसं प्रतिबद्धं नाभिलषन्ति। प्रतिवद्धो माभूदयं भक्तिरस इति सर्वदा वाञ्छन्तीति भावः। अतन्द्रा निरलसा प्रमादं प्रकर्षेण मदकरं मोदकरं तं यन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ ३।३ ॥

७२२. इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥ १।४ ॥ (ऋ. ८।९२।१९)

इन्द्रायेति। श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरस ऋषि.। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके ॥ १।४ ॥†

७२३. यस्मिन्विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः।
इन्द्रं सुते हवामहे ॥ २।४ ॥ (ऋ. ८।९२।२०)

यस्मिन्विश्वेति। पूर्वोक्ता ऋष्यादयः। यस्मिम् परमात्मनि सर्वाः श्रियः। सर्वं कल्याणमिति भावः। अधि भवन्ति आधिक्येन भवन्ति। अधीत्यनेन क्रियालाभः। यस्मिन्विषये यं विषयीकृत्येति भावः। सप्त समवेताः। सप समवाये। शप्यशृभ्यां तुट् च (उ० १।१५७) इति कनिन् प्रत्ययस्तुडागमश्च। संसदः सभ्याः रणन्ति स्तुवन्ति प्रार्थयन्ते रक्षार्थमिति वा। सुते प्रारब्धे भक्तिरसे तमिन्द्रं परमात्मानं हवामहे आह्वयामो हृदयस्थं कुर्म इति तात्पर्यम् ॥ २।४ ॥

७२४. त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत।
तमिद्वर्धन्तु नो गिरः ॥ ३।४ ॥ (ऋ. ८।९२।२१)

† पूर्वार्चिके १५८ संख्या द्रष्टव्या।

त्रिकद्रुकेष्विति । ऋष्यादय उक्ताः । देवासो देवा विद्वांसः । त्रिकद्रुकेषु कवन्त इति कद्रव औणादिको रुः त एव कद्रुकाः । त्रयाणां वेदानां कद्रुकास्त्रिकद्रुकाः । त्रीन्वेदान् कन्दन्त्याह्वयन्ति । पठन्तीति यावत्, ते त्रिकद्रवस्त एव त्रिकद्रुकाः । वेदत्रयीवक्तारः तेषूपस्थितेषु । चेतनं ज्ञानसाधनं यज्ञं ज्ञानयज्ञमिति भावः । अत्नत अतन्वत । तमित् तमेव यज्ञं । नोस्माकं । गिरो वाचो वर्धन्तु वर्धयन्तु । अन्ये ज्ञानयज्ञं प्रारप्सत मयापि मदीयैर्वाचोपदेशैःस वर्धनीय इत्याशयः ॥ ३।४ ॥

इति प्रथमः खण्डः

❁

द्वितीयः खण्डः

७२५. अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।
एहीमस्य द्रवा पिब ॥ १।५ ॥ (ऋ. ८।१७।११)

अयं त इन्द्रेति । इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।५ ॥†

७२६. शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः ।
आखण्डल प्र हूयसे ॥ २।५ ॥ (ऋ. ८।१७।१२)

शाचिगो इति । हे शाचिगो शाचयः कथिताः प्रख्याता गावो रश्मयः प्रकाशा इति तात्पर्यं, यस्य स तत्सम्बद्धौ । शच व्यक्तायां वाचि । इण् प्रत्ययः । गाव इति रश्मिनाम (निघ० १।५।३) । शाचिपूजन हे प्रख्यातार्चन । ते तव रणाय रमणाय । रमते रास्ना-

† पूर्वार्चिके १९९ संख्या द्रष्टव्या ।

सास्ना० (उ० ३।१३) इत्यादिना नप्रत्ययो मकारलोपश्च निपात्यते बाहुलकमाहात्म्यात्। अयं भक्तिरसः सुतः सम्पादितः। अत आखण्डल हे सर्वतापशापनिवर्तक। आखण्डलशब्दो वधकर्मा (निघ० २।१९।२२) खडि मदे। अस्मादाङ्पूर्वकात् "मङ्गेरलच्" (उ० ५।७२) इति बाहुलकादलच्। प्र हूयसे प्रकर्षेण त्वं हूयसे आहूयसे॥ २।५॥

७२७. यस्ते शृङ्गवृषो णपात्†प्रणपात्कुण्डपाय्यः।
न्यस्मिन्दध्र आ मनः॥ ३।५॥ (ऋ. ८।१७।१३)

यस्ते शृङ्गेति। ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः। हे इन्द्र जीव, यः शृङ्गवृषस्तिग्मरक्षणसामर्थ्यः। शृङ्गाणीति ज्वलन्नामधेयेषु पठितम्। अथवा श्रिञ् सेवायाम् इत्यस्मान्निष्पन्नः शृङ्गशब्दः। "शृङ्गं श्रयतेः" (नि० २।७)। शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा (निरु० २।७)। सर्वदुःखविनाशवर्षको वा। नपात् अपातयिता स्वकर्तव्यात्स्वात्मानम्। कुण्डपाय्यः कुण्डेनेव कुण्ड इव वा पीयते यस्मिन्भक्तिरसः स कुण्डपाय्यः परमात्मा। ते तव। प्रणपात् प्रकर्षेणापातयिता रक्षकः। अस्मिन्नेव परमात्मन्येव मनः आ दध्रे आदधिरे सर्वे पूर्वे विद्वांसो महापुरुषाः। कुण्डपाय्यशब्दो यद्यपि "क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ" (पा० ३।१।१३१) इति सूत्रेण क्रतौ निपातितस्तथाप्यत्र छान्दसत्वात् क्रतुमूलकारणे महाक्रतौ परमात्मनि समर्थः॥३।५॥

७२८. आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय।
महाहस्ती दक्षिणेन॥ १।६॥ (ऋ. ८।८१।१)

---

† 'नपात्' इत्यन्यपाठः।

आ तू न इन्द्रेति। कुसीदी काण्व ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥१।६॥†

७२९. विद्मा हि त्वा तुविकूर्मि तुविदेष्णं तुवीमघम्।
तुविमात्रमवोभिः ॥ २।६ ॥ (ऋ. ८।८१।२)

विद्मा हि त्वेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे इन्द्र परमात्मन्, त्वा त्वाम्। हि ईदृशम्। विद्मो जानीमः। कीदृशम्? तुविकूर्मि बहुकर्माणम्। तुवीति बहुनाम (निघ० ३।१।२)। तवतिर्वृद्ध्यर्थः सौत्रो धातुः। इः प्रत्ययः (उणा० ४।१३४)। कूर्मिः कर्म। तुविदेष्णं बहुदानयुक्तम्। तुवीमघं बहुसामर्थ्यम्। तुविमात्रं बहुप्रमाणं व्यापकमिति भावः। अवोभी रक्षणसामर्थ्यैः। युक्तमित्यध्याहार्यम् ॥ २।६ ॥

७३०. न हि त्वा शूर देवा न मर्तासो दित्सन्तम्।
भीमं न गां वारयन्ते ॥ ३।६ ॥ (ऋ. ८।८१।३)

न हि त्वेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे शूर सर्वकामादिशत्रुविशरणकर्तः, दित्सन्तं श्रेयो दातुं कामयमानं। त्वा त्वां। न मर्तासो मनुष्याः। वारयन्ते निवारयन्ति न वा देवा निवारयन्ति। हीति दार्ढ्यार्थे। मर्ता मनुष्याः (निघ० २।३।१३) तत्र दृष्टान्तमाह। भीमं न गाम्। यथा भीमं भयङ्करं गां वृषभं न केचिद्वारयन्ते तथा। नन्वत्यल्पमिदमुच्यते भीमं न गां वारयन्त इति। सत्यमत्यल्पम्। वेदो न खलु नियोगभूमिः। यथा रोचते तथा वदति। न कश्चित्तन्निवारकः। अथवा सुष्ठूच्यते भीमं न गामिति। दित्सन्तमिति पदमत्रापि योज्यम्। वृषभो हि क्षेत्रपतिः। स हि हलं कर्षति। हलकर्षणेन पृथिवी दीर्णा भवति। यदि दार्ढ्येन हलकर्षणं

---
† पूर्वार्चिके १६७ संख्या द्रष्टव्या।

स्यादधिकं हि दीर्णा भवति भूः। यदि भूरधिकदीर्णा स्यादधिकैवान्नस्योत्पत्तिः। एवं चान्नस्योत्पत्तिकारणं वृषभः। भीमो दृढः। अधिकं धनराशिं दातुमिच्छन्तं दृढं बलीवर्दं यथा नैव कोपि निवारयति तथैव दित्सन्तं भगवन्तमपि न कोपि निवारयतीति भावः॥ ३।६॥

७३१. अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये।
तृम्पा व्यश्नुही मदम्॥ १।७॥　　(ऋ. ८।४५।२२)

अभि त्वेति। त्रिशोकः काण्व ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्र॥ १।७॥†

७३२. मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्।
मा कीं ब्रह्मद्विषं वनः॥ २।७॥　　(ऋ. ८।४५।२३)

मा त्वा मूरा इति। हे इन्द्र, मूरा मूढाः। "मूरा अमूर न वयम्" इति मन्त्रे मूढा वयं स्मः, अमूढस्त्वमसीति निरुक्ते (६।८)। अविष्यवोवनकामा रक्षणकामा इत्यर्थः। त्वा त्वां। मा आ दभन् मा हिंसन्तु। उपहस्वान उपहासकर्तारोपि मूढास्त्वा मा आ दभन् मा हिंसन्तु। अत्रेन्द्रशब्देन जीवो ग्रहीतव्यः। आचार्यस्त्रिशोकः स्वशिष्यमुपदिशति ये च मूर्खाः केवलं स्वदेहरक्षणकामा ये च मूर्खा अन्येषामुपहासकर्तारस्ते त्वां मा हिंसन्तु, तैः सह ते संसर्गो मा भूदित्याशयः। ब्रह्मद्विषो ब्रह्मद्वेष्टॄन् मा कीं वनः मा कदापि सेवस्व। ब्रह्ममार्ग एव गन्तव्यः। यदि ब्रह्मद्वेष्टॄणां संसर्गो भवेन्मार्गोपहतिर्भवेत्स्वध्येयविनाशञ्च स्यादिति भावः॥ २।७॥

७३३. इह त्वा गोपरीणसं‡ महे मन्दन्तु राधसे।
सरो गौरो यथा पिब॥ ३।७॥　　(ऋ. ८।४५।२४)

† पूर्वार्चिके ४६१ मन्त्रसंख्या द्रष्टव्या। ‡ 'गोपरीणसा" इत्यपपाठः।

इह त्वा गोपरीणसमिति । पूर्वोक्ता ऋष्यादयः । हे इन्द्र शिष्य, इहास्मिन्नाश्रमे गोपरीणसं गवा वाचा सम्पन्नम् । "परीणसा" इति वहुनाम (निघ० ३।१।७)। वाचा बहुलमित्यस्य वाचा सम्पन्नमेवार्थः । महे महते पूज्याय वा । राधसे धनाय विद्याधनायेत्यर्थः । राध इति धनमान (निघ० २।१०।१७)। आगतं स्थितं वा । त्वा त्वाम् । मन्दन्तु मादयन्तु मोदयन्त्वपरे मच्छिष्या इति भावः । गौरः सरः यथा पिव यथा गौरो मृगः सरः सरस्थितं जलं पिवति तथा त्वमत्र सरो वाचं विद्यां पिव । सर इति वाङ्नाम (निघ० १।१२।५५) अथवा गौरः सुमेधाः । गौरो रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । अयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मादेव प्रशस्यो भवति (नि० ११।३९)। अथवा गायति शब्दं करोतीति गौरश्छात्रः "किशोरादयश्चे"ति (उ० १।६५) सूत्रेण ओरन्-प्रत्ययान्तो निपातितः । अथवा गवते व्यक्तं शब्दं करोतिति गौरः । ऋज्रेन्द्रा० (उ० २।२८) इति सूत्रेण निपातितः । उभयथार्थः समानः । यथान्ये छात्रा विद्यां पिवन्ति तथा त्वमप्यत्र स्थित्वा पिवेति भावः ॥ ३।७ ॥

७३४. इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
अनाभयिन्नरिमा ते ॥ १।८ ॥ (ऋ. ८।२।१)

इदं वसो सुतेति । विसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।८ ॥†

७३५. नृभिर्धौतः‡सुतो अश्नैरव्या*वारैः परिपूतः ।
अश्वो न निक्तो नदीषु ॥ २।८ ॥ (ऋ. ८।२।२)

† पूर्वार्चिके १२४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ धूत इत्यृक्पाठः । * रव्यो इत्यृक्पाठः ।

नृभिर्धौत इति। पूर्वोक्ता ऋष्यादयः। नृभिर्मनुष्यैर्विद्वद्भिः। धौतः परिशोधितः सम्यक् संस्कृत इति तात्पर्यम्। अश्नैर्व्यापकैः सर्वशास्त्रनिष्णातैः। अशूङ् व्याप्तौ। नक्प्रत्ययः (उ० ३।२)। सुतो निष्पादितः पाठित इति तात्पर्यम्। वारैरध्यापकैः। वृण्वन्ति स्वीकुर्वन्ति छात्रत्वेन ये ते वाराः। परिपूत आचारादिशिक्षादीक्षाभिः पवित्रीकृतः। अत एव अव्या अव्योऽवनीयो रक्षणीयः सर्वैरिति भावः। सर्वशास्त्रनिष्णात आचारपूतः सर्वैः सेव्यते रक्ष्यते चेति लोकदृष्टमपि। तत्र दृष्टान्तः। न यथा। नदीषु निक्तः परिशोधितः स्नपितोऽश्वः सर्वैं रक्ष्यते तद्वदिति भावः॥ २१८॥

७३६. तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः।
इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे॥ ३१८॥ (ऋ. ८।२।३)

तं ते यवमिति। पूर्वोक्ता ऋष्यादयः। अत्रेन्द्रः परमात्मा। हे परमात्मन्, ते तव त्वदर्थमिति भावः। यथा यतः। श्रीणन्तः पाचयन्तः कुशलीकुर्वन्त इति भावः। वयमिति न्यायोपलब्धम्। तं देवदत्तादिम्। गोभिर्विद्याभिः। यवं मिश्रम्। स्वादुं स्वदनीयमाश्रयणीयम्। अकर्म कृतवन्तः। तस्मात् अस्मिन्सधमादे सहमादे सहमदने। यस्य संसर्गेणान्येपि हृष्टा भवन्तीति सहमदनः। सर्वविद्याचारसम्पन्नेस्मिन्पवित्रात्मनि। स्थातुमिति शेषः। त्वा त्वाम् प्रार्थयामहे इति शेषः॥ ३१८॥

इति द्वितीयः खण्डः

तृतीयः खण्डः

७३७. इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते।
पिबा त्वा३ स्य† गिर्वणः॥ ३१९॥ (ऋ. ३।५१।१०)

† त्व१स्येत्यृक्पाठः।

इदं ह्येति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वाचिके ।। १९ ।।†

७३८. यस्ते अनु स्वधामसत्सुते नि यच्छ तन्वम् ।
स त्वा ममत्तु सोम्य ।। २९ ।। (ऋ. ३।५१।११)

यस्त इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे इन्द्र परमात्मन् ! य उपासकः सुते निष्पादिते प्रारब्धे वास्मिन् भक्तियज्ञकर्मणि । ते तव । अनु असत् अन्वस्ति । तव भक्तिं कुर्वाणोस्तीति भावः । स्वधां त्वां हृदये धारयितारम् । स्वधामित्यत्र स्वशब्देनात्मा ग्राह्यः । स च परमात्मा । परमात्मानं हृदये दधातीति स्वधा तम् । चतुर्थ्यर्थे द्वितीया छान्दसी । तस्मा इत्यर्थः । तन्वं स्वां तनुं स्वरूपमिति तात्पर्यम् । नि यच्छ नितरां प्रकटय । हे सोम्य ! परमशान्त परमात्मन्, सत्वद्ध्याता । त्वा त्वामुपास्यं देवं । ममत्तु मादयतु हर्षयतु । रागद्वेषादीनपाकृत्य परमेश्वरस्वरूपं ध्यायँस्त्वत्स्वरूपतां व्रजंश्चोपासकः परमात्मानं प्रमोदयत्येव ।। २९ ।।

७३९. प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः ।
प्र बाहू शूर राधसा‡ ।। ३९ ।। (ऋ. ३।५१।१२)

प्र ते अश्नोत्विति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः । हे इन्द्र, स उपासकस्ते तव कुक्ष्योः कुक्षिसमीपस्थं हृदयम् । कुक्षिशब्देन हृदयमुपलक्ष्यते । सप्तमी द्वितीयार्था । अश्नोतु व्याप्नोतु । भक्तस्तव हृदये स्थानं लभतामित्याशयः । ब्रह्मणा वेदेन वेदोदितत्वत्प्राप्तिमार्गानुसरणेन । ते शिरः प्राश्नोतु शिरो व्याप्नोतु । वेदोक्तपद्धत्या त्वां ध्यायंस्त्वया ध्यातो भवत्विति शिरःशब्दप्रयोगस्याशयः । हे शूर सर्वशत्रुविनाशक, राधसा त्वद्भक्तिसिद्ध्या । बाहू तव भुजौ प्राश्नोतु

† पूर्वाचिके १६५ संख्या द्रष्टव्या । ‡ राधसे इत्यपपाठः ।

व्याप्नोतु। बाहुशब्देन तद्धर्मः स्मर्यते। बाहुधर्मश्च रक्षा। अत एव "बाहू राजन्य" इति श्रुत्या बाह्वोः क्षत्रत्वमुपादिश्यते। भक्ति-सिद्धया त्वदीयो भक्तस्त्वया सर्वदा रक्षितो भवत्विति भावः ॥३।९॥

७४०. आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत।

सखायः स्तोमवाहसः ॥ १।१० ॥ (ऋ. १।५।१)

आ त्वेतेति। मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्र ॥ १।१० ॥ †

७४१. पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्।

इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ २।१० ॥ (ऋ. १।५।२)

पुरूतममिति। ऋष्यादय उक्ताः। अस्यामृचि क्रियापदं कर्तृपदं च न स्त इति प्र गायत सखाय इति पदद्वयमत्रानुवर्तनीयम्। हे सखायः समानशीलस्वभावा यूयम्। सचा सहैव संगत्य। सुते प्रस्तुते सोमे भक्तिरसप्रवाहे। पुरूणां बहूनाम् वार्याणां वरणीयानाम्। वृञ्वरणे इत्यस्माद्ण्यत्। शमदमादीनाम्। अथवा आवश्यकार्थो ण्यत्प्रत्ययः। अवश्यं वरणीयानां क्षमादयासौशील्यार्जवादीनाम्। ईशानं स्वामिनम्। पुरूतमं पुरून् बहून् कामक्रोधरागद्वेषादीन् विघ्नोत्पादकान् तमयति ग्लपयतीति पुरुतमस्तम्। अथवा पुरुषु, बहुषु। सर्वेष्वित्यर्थः, श्रेष्ठम्। इन्द्रं ज्ञानदीप्तिमन्तम्। प्र गायत प्रकर्षेण स्तुत। परस्तवनेन परस्था गुणाः स्वस्मिन्नाहिता भवन्तीति स्तुतिविधानम्। गुणश्रवणपूर्वकमेव स्तुतिः प्रवर्तते। तत्तद्गुणकामै-स्तत्तद्गुणस्तुतिः स्वस्मिंस्तत्तद्गुणाधानार्थमेवाद्रियते। इदं चोपास-कानां कृते। राजादीनां स्तुतिस्तु तत्प्रसादाय भवति। अन्येषां स्तुतिस्तु स्तुत्येषु कार्येषु दार्ढ्यसम्पादनायेति ॥ २।१० ॥

---

† पूर्वार्चिके १६४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

७४२. स घा नो योग आ भुवत्स राये स पुरन्ध्या ।†
गमद्वाजेभिरा स नः ॥ ३।१० ॥ (ऋ. १।५।३)

स घेति। पूर्वोक्ता एवर्ष्यादयः। घेति निपात एवार्थे। स एवेन्द्रः परमात्मा। नोस्माकम्। योगे समाधौ। आ भुवत् समन्ताद् भवतु। स एवास्माकं राये लौकिकधनायाध्यात्मिकधनाय शान्ति-क्षान्तिरूपाय भवतु। स एवास्माकं पुरन्ध्या बहुविधवुद्धिभ्यो पर-मात्मप्राप्तये वा भवतु। "पुरन्धिर्बहुधीः। तत्कः पुरन्धिः? भगः। पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम्। इन्द्र इत्यपरम्। स बहु कर्मतमः पूरां च दाययितृतमः। वरुण इत्यपरम्।" (नि० ६।१३)। स एव नोस्माकम्। संनिधावित्यध्याहार्यम्। वाजेभिर्बलादिप्रदानहेतुना। आ गमत् आगच्छतु। लौकिकीमलौकिकीं वा सिद्धिं सम्पादयितुं परमेश्वर एव योग्यः सहाय इति स एवास्माकं सर्वेषु साध्येषु संनिहितो भवत्वित्याशयः ॥ ३।१० ॥

७४३. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ १।११ ॥ (ऋ. १।३०।७)

योगे योगे इति। शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः। देवताछन्दसी उक्ते। व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।११ ॥‡

७४४. अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् ।
यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥ २।११ ॥ (ऋ. १।३०।९)

अनु प्रत्नेति। पूर्वोक्ता एवर्ष्यादयः। अन्यं कञ्चित्प्रत्याह शुनः-शेपः; अस्य प्रत्नस्य पुरातनस्य। ओकसः स्थानस्य पारमेश्वरपदस्य नरमधिष्ठातारमिन्द्रं परमात्मानं मुक्तिस्थानाधिपतितम्। अनु हुवे

† पुरन्ध्या [illegible] ‡ पूर्वार्चिके १६३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

अन्वाह्वयामि। यं पूर्वं यस्मिन्कस्मिन्नपि समये। ते पिता। हुवे आह्वयत्। कीदृशं तम्? तुविप्रतिं तुविप्राप्तिम् बहूनां धनधान्यज्ञानादिभिः पूरकम्। प्रा पूरणे। तिन् प्रत्ययः। प्रेत्यत्र ह्रस्वत्वं छान्दसम्। अनेन मन्त्रेण ज्ञायते ऋग्वेदकालेपि केचनासन्नेव कल्पकाः परमात्मनो देशविशेषस्येति॥ २।११॥

७४५. आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः।
वाजेभिरुप नो हवम्॥ ३।११॥ (ऋ. १।३०।८)

आ घा गमेति। ऋष्यादयः पूर्वोक्ता एव। घेति निपात एवार्थे। यदि स इन्द्रः परमात्मा। श्रवत् अस्माकं प्राथनापूर्वकं हवमाह्वानं शृणुयात्, अवश्यमेव आ गमत् अस्मत्सविध आगच्छेत्। न केवलं त एवागच्छेदपि तु सहस्रिणीभिः ऊतिभिः सहस्रै रक्षासाधनैर्वाजेभिर्धनैर्बलैर्वा सहागच्छेत्। इत्थं प्रतीयतेयमृषिः शुनःशेपो मन्वान आसीत्प्रार्थनां श्रुत्वा सशरीरः परमात्मा प्रार्थिनां गृहमुपैतीति। ततस्तेन वहुशः प्रार्थितोपि कोपि नोपस्थितः सशरीरो देवः परमात्मा वा तदा तेनानुमितमवश्यं देवेन न श्रुतमस्माकं प्रार्थनावचनं तत एव न स उपस्थित इति। नैराश्यवचनमेतत्॥ ३।११॥

७४६. इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष† उक्थ्यम्।
विदे वृधस्य दक्षस्य‡ महाँ हि ष॥ १।१२॥

(ऋ. ८।१३।१)

इन्द्र सुतेष्विति। नारदः काण्व ऋषिः। इन्द्रो देवता। उष्णिक् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः॥ १।१२॥*

---

† पुनीतेत्यृक्पाठः। ‡ दक्षस इत्यृक्पाठः।
* पूर्वार्चिकं ३८१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

७४७. स प्रथमे व्योमनि देवानां सदने वृधः ।
सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ॥ २।१२ ॥ (ऋ. ८।१३।२)

स प्रथम इति ऋष्यादय उक्ताः । स इन्द्रः परमात्मा प्रथमे मुख्ये व्योमनि महाकाशे स्थित इत्यध्याहार्यम् । सर्वव्यापक इत्यर्थः । तथापि देवानां दिव्यगुणविशिष्टानामुपासकानां सदने हृदयप्रदेशेऽपि स्थितः सन् । वृध उपासकानां शक्तेर्वर्धयिता भवति । यतः स सुपारः सौष्ठवेन भवोद्भवविपज्जालस्य पारं नेता । सुश्रवस्तमोऽतिशयेन कीर्तियुक्तः । समप्सुजित् हृदयान्तरिक्षे स्थितानां कामादिविकाराणां सम्यग् विजेता । आप इत्यन्तरिक्षनाम (निघ० १।३।८) ॥ २।१२ ॥

७४८. तुम हुवे¹ वाजसातय इन्द्रं भराय शुष्मिणम् ।
भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे ॥ ३।१२ ॥ (ऋ. ८।१३।३)

तमु हुव इति । ऋष्यादय उक्ताः वाजसातये वाजानामाध्यात्मिकबलानां सातये दानाय । बलदानप्राप्त्यर्थमिति भावः । भराय संग्रामाय । संग्रामनिवारणार्थमिति भावः । भर इति संग्रामनाम (निघ० २।५) मशकाय धूम इतिवत्प्रयोगः । तं प्रसिद्धम् । शुष्मिणं बलवन्तम् । इन्द्रं परमात्मानम् एव । उरेवार्थे । हुवे आह्वयामि । हे इन्द्र ! सुम्ने सुखेभ्यर्थिते । सुम्नमिति सुखनाम (निघ० ६।१६) शोभनैः कर्मभिर्मीयत इति सुम्नम् । वृधे वृद्ध्यै कल्याणाय । त्वं नोऽस्माकम् । अन्तमान्तिकतमो निकटतमः । सखा मित्रं भव । न हि सुखावाप्तिः कल्याणप्राप्तिश्च परमात्मसाहाय्यमन्तरेण निष्पन्ना भवतीत्यभिप्रायः ॥ ३।१२ ॥

इति तृतीयः खण्डः



1. तुम हुवे इत्यस्य स्थाने "तमह्वे" इत्यपपाठः ।

अथ चतुर्थः खण्डः

७४९. एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१।१३॥
(ऋ. ७।१६।१)

एना व इति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । प्रगाथः—विषमा बृहती छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।१३ ॥†

७५०. स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः ।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् ॥ २।१३ ॥
(ऋ. ७।१६।२)

स योजत इति । ऋषिदेवते उक्ते । छन्दः समा सतो बृहती । अस्य मन्त्रस्य देवता अग्निः स च न प्रसिद्धो लौकिकः किन्तु अग्निवज्जाज्वल्यमानः प्रजारक्षणपरायणो जीवो गृह्यते । स्वाहुतः सम्यक् तृप्तः स जगत्पतिः । अरुषा अरुषौ परमरूपसम्पन्नौ । अरुषमिति रूपनाम (निघ० ६।७) ततो मत्वर्थीयोऽकारः । अथवा रिपूणां कामादानां संमुखं गच्छन्तौ अश्वो । अरुष इत्यश्वनाम (१।१४।१७) कीदृशौ तौ ? विश्वभोजसौ सर्वेषां रक्षकौ । तौ चाश्वौ मनोबुद्धिरूपौ योजते युनक्ति । कुत्र ? अर्थात्प्राप्ते रथे देहरूपे देहसाध्ये वा कर्मणि । ततः किं जातम् ? स दुद्रवत् भृशमद्रवत् । कीदृशः सः सुब्रह्मा सुज्ञानः । यज्ञः पूज्यः । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । अत्र देवे पूजायां च इति पृथगर्थो न तु देवपूजायामित्यर्थो वेदितव्यः, धात्वर्थेनैव कर्मणः संग्रहादकर्मकत्वापत्तेः । सुशमी शोभनकर्मयुक्तः । शमीति कर्मनाम (निघ० २।१।२३) । स ईदृशोस्ति ततो

† पूर्वार्चिके ४५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

वसूनां धननाम् । वस्विति धननाम (निघ० २।१०।१५) । देवं दातारम् । "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा" (नि० ७।१५) । जनानां प्रजानां राधोर्थसम्पादनसमर्थं प्रजानां दारिद्र्यघ्नं वा । राध संसिद्धौ । हिंसार्थकोपि सः । तं स्तुम इति शेषः ॥ २।१३ ॥

७५१. प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती† दुहिता दिवः ।
अपो मही‡ वृणुते* चक्षुषा§ तमो ज्योतिष्कृणोति
सूनरी ॥ १।१४ ॥ (ऋ. ७।८१।१)

प्रत्यु अदेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषि । उषा देवता । प्रगाथश्छन्दः—विषमा बृहती । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।१४ ॥§§

७५२. उदुस्रियाः सृजते सूर्यः सचा उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत् ।
तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि ॥ २।१४ ॥
(ऋ. ७।८१।२)

उदुस्रिया इति । ऋषिदेवते उक्ते । छन्दः समा सतो बृहती । अस्मिन्मन्त्रे मन्त्रदेवताया उषसस्तत्प्रकाशकस्यादित्यस्य च माहात्म्यवर्णनम् । सूर्य आकाशे सरतीति सः । अनेन दृश्यमानस्यैव सूर्यस्य ग्रहणम् । उस्रियाः रश्मीन् सचा स्वेन सहैव उत्सृजते उत्पादयति प्रकाशयति वा । सूर्य एव उद्यदुदयं प्राप्नुवन्नक्षत्रं नक्षत्रमण्डलम्, अर्चिवत् प्रकाशवदुत्सृजते करोति । सूर्यतेजसैव चन्द्रतारकादयः प्रकाशं प्रतिपद्यन्ते इत्याधुनिका अपि वैज्ञानिकाः ।

† त्यु१च्छन्तीत्यृक्पाठः ।
‡ "महि" इत्यृक्पाठः ।
* व्ययतीत्यृक्पाठः ।
§ चक्षसे इत्यृक्पाठः ।
§§ पूर्वार्चिके ३०३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

हे उषः, तव सूर्यस्य च व्युषि प्रकाशे वयं भक्तेन भोजनेनान्नेन वा सं गमेमहि संगता भवामः। न स्याद्यदि भगवत्युषाः सरन्न वाकाशे भगवान्भास्करः पृथिवी निरन्ना भवेत्। सूर्यरश्मिभिः पोषितैव पृथिवी भवति समर्थाऽन्नाद्युत्पादने ॥ २।१४ ॥

७५३. इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः ॥ १।१५ ॥

(ऋ. ७।७४।१)

इमा उ इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः। अश्विनौ देवता। प्रगाथः—विषमा बृहती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।५५ ॥†

७५४. युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते।
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतं पिबतं सोम्यं मधु ॥ २।१५ ॥

(ऋ. ७।७४।२)

युवं चित्रमिति। ऋषिदेवते उक्ते। छन्दः समा सतो बृहती। अस्य मन्त्रस्य देवताश्विनौ। द्विवचनान्त एवायं शब्दः प्रायेण दृश्यते। तौ च कोचिद्देवावपि। इह तु परमात्मैव। शक्त्या सह शक्तिमानपि द्वित्वं भजते। परमेश्वरस्यानादिः शक्तिः, सा च माया-प्रकृतिप्रभृतिभिः बहुभिः शब्दैरुक्ता भवति। शक्तिमांश्च परमेश्वरः। हे शक्ते शक्तिमंश्च युवं युवाम्। चित्रं चयनीयम्। चिञ् चयने। अमिचिमि० (उ० ४।१६४) इति त्रप्रत्ययः। आश्चयप्रदं वा। भोजनं धनम्। भोजनमिति धननाम (निघ० २।१०।१८)। दद-थुर्दत्थः। केभ्यः ? नरा नरेभ्यो मनुषेभ्यः। तद्धनम्, सुनृतावते प्रियसत्यवादिने। चोदेथां चोदयथः। समनसा समनस्कौ सहृदयौ

† पूर्वार्चिके २०४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

थुवाम्रथं गतिम् । रंहतेर्गतिकर्मणः । क्थन् प्रत्ययः (उ० २।२।) । अर्वागभिमुखम् । नि यच्छतं नियमयतम् । किमर्थमिति कारणमाह— सोम्यं शान्तं प्रियकरम् मधु माधुर्ययुक्तं ज्ञानं भक्तिरूपम् पिवतम् आस्वदेथाम् । यथा स्वे स्वे कर्मणि निरतो गच्छन् कश्चित्कार्येण निरुध्यते तद्वच्छक्तिसहितः परमेश्वरो भक्तैर्भक्तिरसपानाय क्वचिद्गच्छन्निव निरुध्यते । भावप्रदर्शनमेतत् ॥ २।१५ ॥

इति चतुर्थः खण्डः



पञ्चमः खण्डः

७५५. अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः ।
पयः सहस्रसामृषिम् ॥ १।१६ ॥ (ऋ. ९।५४।१)

अस्य प्रत्नामिति । अवत्सारः काश्यप ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । अह्रयो न ह्रीर्येषां ते । कुत्सितकृत्यकारिणामेव ह्रीर्भवति नान्येषामिति अह्रय इत्यनेन सत्कर्माण इत्यर्थोऽभिप्रेतः । कवय इति सायणः । अस्य मन्त्रदेवतासोमस्य । वमतीति उमः । कः प्रत्ययः । प्रकृतिरुच्यते । सैव सर्वान् पदार्थान्वमति । उमेन प्रकृत्या सहितस्य अपृथक्सिद्धिसम्बन्धसम्बद्धस्य परमेश्वरस्य प्रत्नां प्राचीनम् द्युतम् द्योतमानम् शुक्रं बलवन्तं । सहस्रसां बहुविधानन्तपदार्थप्रदातारम् । षणु दाने । पयः पेयं रसं भक्तिरसम् । ऋषिं मन्त्रद्रष्टारमवत्साराभिधम् अनु दुदुह्रे अनुदुग्धवन्तः । ये हि सत्कर्माणस्ते अवत्सारमृषिमुपेत्य भगवद्भक्तिरसपानं चक्रिर इति तात्पर्यम् । अस्मिन्मन्त्रे भक्तिरसस्य स्वरूपम् परम्परयाता भक्तिरितिरहस्यं च प्रतिपादितम् ॥१।१६॥

७५६. अयं सूर्यं इवोपदृगयं सरांसि धावति ।

सप्त प्रवत आ दिवम् ॥ २।१६ ॥ (ऋ. ९।५४।२)

अयं सूर्य इति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ता एव । अयं सोमः स्वशक्ति-प्रकृत्या सहितः परमात्मायं सूर्य इवोपदृक् उपद्रष्टा सर्वेषां पदार्थानां सन् । सरांसि प्रार्थनावचनानि हृदयानुरूपप्रार्थनाशब्दान् धावति । यथा सूर्यः सर्वेषां पदार्थानामुपद्रष्टा अर्थादुपदर्शयिता चास्ति तद्वत् प्रकृतिविशिष्टः परमात्मापि सर्वेषां द्रष्टा मार्गदर्शयिता चास्ति । स च प्रार्थनावचोनुधावति । यदि कश्चिद्भावतो भगवन्तं भावयति स भगवानवश्यं तच्छ्रेयः सम्पादयतीति । सर इति वाङ्नाम (निघ० १।१२।५५) सृधातोरसुन् । सरतीति । किंच सप्त प्रवतः मनुष्यान् । दिवं द्युलोकं स्वलोकं वा । नयतीत्यध्याहार्यम् । के ते सप्त मनुष्याः ? दयावन्तो, दानिनोऽहिंस्राः, सत्यव्रता, ऋजुधियः, संयमिनो ब्रह्म-चारिणश्च । एत एव भक्तेरधिकारिणः । अथवा परिचरणकर्मणः सपतेस्तुट् (उ० १।१५७) । भगवच्चरणपरिचरणकुशलान् स्वलोकं स भगवान्नयतीति भावः ॥ २।१६ ॥

७५७. अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि ।

सोमो देवो न सूर्यः ॥ ३।१६ ॥ (ऋ. ९।५४।३)

अयं विश्वानीति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः । अयं सोमो देवः स्वानादिशक्त्या सम्पन्नो दिव्यगुणविशिष्टो भगवान् । विश्वानि पुनानः सर्वान्मनुष्यान् पावित्र्यं नयन् । भुवनोपरि सर्वेषां भुवनाना-मुपरि सर्वश्रेष्ठप्रदेशे तिष्ठति । अथवा भुवनं जलम् । भुवनमित्यु-दकनाम (निघ० १।१२।५०) । यः परमात्मा जले तिष्ठति । अयमेव मन्त्रो जलशायिनं नारायणं साधयेत् । सोमो लताविशेषः । सोपि जल एव तिष्ठति । न स सोमः सर्वान्पवितुं समर्थं इति मन्त्राक्षराभावानुगुणेनात्र परमात्मा गृहीतः । क इव ? सूर्य इव ।

यथा सूर्यो बहूनां भुवनानां नक्षत्रादीनामुपरि वर्तमानो विश्वांश्च लोकान् पुनानस्तिष्ठति तथा ॥ ३।१६ ॥

७५८. एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः।
हरिः पवित्रे अर्षति ॥ १।१७ ॥ (ऋ. ९।३।९)

एष प्रत्नेन जन्मेति। शुनःशेप आजीगर्तिः स देवरातः कृत्रिमो वैश्वामित्र ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। देवेभ्यो देवैर्विद्वद्भिः। तृतीयार्थे चतुर्थी। प्रत्नेन पुरातनेन। जन्मना जलेन गङ्गासरय्वादिजलेनेत्यर्थः। जन्मेति जलनाम (निघ० १।१२।१८)। सुतो निष्पादितः संस्कृत इत्यर्थः। एष देवो दिव्य-गुणवान् हरिर्वैष्णवः। हरति मनांसि परमात्मानमिति हरिः। पवित्रे पवित्रमार्गे। अर्षति गच्छति। परमात्मनः पथि जिगमिषतः शिष्य-स्य संस्कारः प्रतिपादितोऽस्मिन्मन्त्रे। अत्र सोमः शान्तः॥ १।१७॥

७५९. एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि।
†कविर्विप्रेण वावृधे ॥ २।१७ ॥ (ऋ. ९।४२।२)

एष प्रत्नेन मन्मेति। मेध्यातिथिः काण्व ऋषिः। देवता-च्छन्दसी पूर्वोक्ते। अत्रापि सोमदेवता शिष्य उपासको वा। प्रत्नेन पुरातनेन। मन्मना मननीयेन मन्त्रेण। विप्रेण मेधाविनाचार्य्येण। विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१)। संस्कृत एष उपासकः कविर्विद्वान्। कविरिति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१०)। देवो दिव्यगुणविशिष्टो भवन्। देवेभ्योऽन्येभ्यो विद्वद्भ्य उपासकेभ्यः। परिवावृधे समन्ताच्छ्रैष्ठ्यं प्रापत्। मन्त्रोपासनयोपासकाः सर्वश्रेष्ठा भवितुमर्हन्तीत्युक्तम्। आचार्येण शिष्येण च विदुषैव भाव्यमित्य-प्युक्तम् ॥ २।१७ ॥

† धारया पवते सुत इति ऋक्पाठः।

७६०. दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रे परि षिच्यसे ।†
क्रन्दं‡ देवाँ अजीजनः* ॥ ३।१७ ॥　　　(ऋ. ९।४२।४)

दुहानः प्रत्नेति । ऋष्यादयः प्रोक्ताः । हे सोम सौम्य शिष्य, प्रत्नं पुरातनम् । इत् एव । पयो मन्त्ररूपम् अन्नं भक्षयामिति भावः । आध्यात्मिक भोजनमिति तात्पर्यम् । पय इत्यन्ननाम (निघ० २।७।३) । दुहानः प्रपूरयंस्त्वम् । पवित्र पवित्रमार्गे परमात्ममार्गे । परिषिच्यसे परिषिक्तो भवसि । किं च त्वं क्रन्दन् देवान् अजीजनः । शब्दं कृत्वा—शब्दाययित्वा देवानन्यानुपासकानत्र समगृह्णाः । यस्मिन्समये मन्त्रदीक्षातो दीक्षितो भवत्युपासकस्तदा तादृशा अन्येप्युपासका आहूता भवन्तीतिसदाचारः ॥ ३।१७ ॥

७६१. उप शिक्षापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रवे§ ।
पवमान विदा रयिम् ॥ १।१८ ॥　　　(ऋ. ९।१९।६)

उप शिक्षापतेति । असितः काश्यपो देवलो वर्षिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । हे पवमान सर्वपावकपरमेश्वर, अपतस्थुपस्त्वदनुपासकान् उप । उपेक्ष्य । शिक्ष नो धर्ममार्गप्रवर्तिनीं धियं देहि । शिक्षतीति दानकर्मा (निघ० ३।२०।८) । शत्रवे उपद्रवकारिणे धर्मविनाशे प्रवणाय वा । भियसं भयम् । आ धेहि स्थापय । तं भापयेतिभावः । रयिं दातव्यं वस्तु त्वं विदा विन्दसि वेत्सि वा । किमुपासकेभ्यो देयमिति त्वमेव जानासि ततो नास्माभिरुपासकैस्तत्प्रार्थनीयमिति भावः ॥ १।१८ ॥

७६२. उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥ २।१८ ॥　　　(ऋ. ९।६१।१३)

---

† षिच्यते इत्यृक्पाठः ।　　　‡ क्रन्दन् इत्यृक्पाठः ।
* अजीजनत् इत्यृक्पाठः ।　　　§ शत्रुषु इत्यृक्पाठः ।

उपो षु जातेति । अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्र ॥ २।१८ ॥†

७६३. उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे ।
अभि देवाँ इयक्षते ॥ ३।१८ ॥ (ऋ. ९।११।१)

उपास्मायिति । उपशिक्षापेतिमन्त्रोक्ता ऋष्यादयोऽस्यापि मन्त्रस्य । व्याख्यातोयं मन्त्रः ‡ ॥ ३।१८ ॥

इति पञ्चमः खण्डः



अथ षष्ठः खण्डः

७६४. प्र सोमासो विपश्चितोपो नयन्त ऊर्मयः ।*
वनानि महिषा इव ॥ १।१९ ॥ (ऋ० ९।३३।१)

प्र सोमास इति । त्रित आप्त्य ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्र§ ॥ १।१९ ॥

७६५. अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया ।
वाजं गोमन्तमक्षरन् ॥ २।१९ ॥

अभि द्रोणानीति । ऋष्यादय उक्ताः । शुक्रा दीप्तिमन्तः । बभ्रवः प्राणाः । बिभ्रतीति बभ्रवः भृधातोः कुप्रत्ययो द्वित्वं च (उ० १।२२) । ऋतस्य सत्यस्य परमेश्वरस्य । धारया धारणया

† पूर्वाचिके ४८७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ ६५१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
* विपश्चितोपां न यन्त्यूर्मय इत्यृक्पाठः ॥
§ पूर्वाचिके ४७८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ॥

ध्यानेनेति भावः। द्रोणानि हृदयानि। द्रवन्तीति द्रोणाः (उ० ३।१०) । नपुंसकत्वं छान्दसम् । अभीत्युपसर्गश्रुतेर्द्रावियन्तीति क्रियाध्याहारः। अभिद्रा वयन्तीति तात्पर्यम्। प्राणायामेन वृद्धाः प्राणाः सर्वाण्येव मनोमलानि न्यक्कृत्य परमात्मनि निरता हृदयानि द्रावयन्ति। गोमन्तं रश्मिमत् तेजस्वि। वाजं बलं। च अक्षरन् क्षरन्ति ।। २।१९ ॥

७६६. सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः।

सोमा अर्षन्तु† विष्णवे ॥ ३।१९ ॥ (ऋ० ९।३३।३)

सुता इन्द्रायेति। प्रोक्ता ऋष्यादयः। सुताः शिक्षिता उपदिष्टा आचार्येणेति शेषः। सोमा भक्ताः शिष्या वा। विष्णवे सर्वव्यापकाय ऋग्वेदोक्तरास्पदवाच्याय ब्रह्मणे । अर्षन्तु गच्छन्तु ब्रह्मावाप्तुं गच्छन्त्विति भावः । पुष्पेभ्यो गच्छतीतिवत्प्रयोगः । कीदृशाय विष्णवे ब्रह्मणे वा ? इन्द्राय परमैश्वर्याय। इदि परमैश्वर्ये। परमप्रकाशाय वा। इन्धी दीप्तौ। वायवे सर्वगाय। "वायुः प्रथमगामी भवति। वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः। एतेरिति स्थौलाष्ठीविः। अनर्थको वकारः" (नि० १०।१।१)। वरुणाय वरणीयाय। सर्वमावृत्य तिष्ठते वा। वरुणो वृणोतीति सतः (नि० १०।१।३)। मरुद्भ्यः सर्वप्रकाशकाय सर्वस्पृहणीयाय वा। बहुवचनं छान्दसम्। "मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद्द्रवन्तीति वा" (नि० ११।१।१) ॥ ३।१९ ॥

७६७. प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा।

अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम्

॥ १।२० ॥ (ऋ० ९।१०७।१२)

† अर्षन्तीत्युक्तपाठः।

प्र सोमेति । सप्तर्षय ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । प्रगाथश्छन्दः—विषमा बृहती । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।२० ॥†

७६८. आ हर्यतो अर्जुनो‡ अत्के अव्यत प्रियः सूनुर्न मर्ज्यः ।
तमीं हिन्वन्त्यपसो यथा रथं नदीष्वा गभस्त्योः ॥ २।२० ॥
(ऋ० ९।१०७।१३)

आ हर्यत इति । ऋषिदेवते उक्ते । छन्दः समासतो बृहती । हर्यतः कमनीयोः अर्जुनः श्वेतः शुद्ध इति भावः । अर्जुन इति रूपनाम (नि० ३।७।१०) । सूनुर्न पुत्र इव । मर्ज्यः मार्जनीयः शोधनीयः । पित्रा यथा आचारादिविषये स्वपुत्रः शोधनीयो भवति तथा प्रियः प्रियकरः सोमः सुशीलो भक्तः । अत्के परमात्मनि । अततीति अत् । क्विप् । स्वार्थिकः कः । तृतीयार्थे सप्तमी । परमात्मना आ अव्यता रक्ष्यते । अपसः कर्माणि लोकोपकारकाणि परमात्मप्रियकराणि । अप इति कर्मनाम (नि० २।१।१) गभस्त्योः बाह्वोः परमात्मन इति शेषः । गभस्ती (द्विवचनम्) इति बाहुनाम (नि० २।४।६) । तम् ईम् विशुद्धाचारं तमेव भक्तम् आ हिन्वन्ति समन्ततः प्रेरयन्ति । यथा नदीषु शब्दं कुर्वाणासु मात्रादिषु रथं रमणीयं पुत्रं प्रेरयन्ति जनास्तद्वत् । आगच्छ वत्स प्रिय मनोहर प्राणेत्यादिशब्दजालैः पुत्रमाह्वयन्तीषु मात्रादिषु यथा पित्रादयः सुतं तासां समीपे गन्तुं प्रेरयन्ति तथैव विशुद्धानि कर्माणि कुर्वाणं जनं दृष्ट्वा प्रसीदति परमात्माह्वयति च तं जनम् । आप्रीते तस्मिन्नाह्वयति तानि कर्माण्येव तं जीवं परमात्मनि प्रेरयन्ति । साकारपक्षे परमेश्वरस्य गभस्ती इत्यस्य सार्थक्यं स्फुटमेव । निराकारपक्षे तु गौणं लौकिकवचनम् ॥ २।२० ॥

† पूर्वार्चिके ५८४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः । ‡ अर्जुन इत्यपपाठः ।

७६९. प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम्† ।
सुता विदथे अक्रमु ॥ १।२१ ॥ (ऋ० ९।३२।१)

प्र सोमास इति । शावाश्व आत्रेय ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके‡ ॥ १।२१ ॥

७७०. आदीं हंसो यथा गणं विश्वस्यावीवशन्मतिम् ।
अत्यो न गोभिरज्यते ॥ २।२१ ॥ (ऋ० ९।३२।३)

आदीं हंस इति ऋष्यादय उक्ताः । आत् ईम् इत्यव्ययद्वयम् । यथा हंसोश्वः । हंस इत्यश्वनाम (१।१४।२५) । गणं जनसमूहमश्वारोहसमूहम् । अवीवशत् विशति वाशयति वा । विश्धातोर्वा-श्रृधातोर्वा रूपम् । उभयथा अवीवशदितिच्छान्दसः प्रयोगः । तद्वदयं सोमो विश्वस्य सर्वस्य । मतिं मननशक्तिं विशति । यद्ययं शान्तो भक्तः शिष्यो वा नम्रतादिविशिष्टगुणनिरतः, कथं नास्माभिस्तथैवाचरणीयमिति सर्वेषां बुद्धिर्जागरिता भवतीति भावः । अयं सोमः अत्यो न परमेश्वर इव । अततीत्यत्यः । अघ्न्यादयश्च (उ० ४।१०८) इति यत् । यद्यपि निघण्टावत्य इत्यश्वनामसु पठितं तथापीह परमात्मैव ग्राह्यः स्वारस्यात् । गोभिर्वाग्भिः स्तुतिवचनैरिति भावः । अज्यते सोमोयं व्यक्तीक्रियते । शान्तशिष्यस्योपासकस्य वा सर्वैः लोके प्रशंसा क्रियते ॥ २।२१ ॥

७७१. आदीं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ ३।२१ ॥ (ऋ० ९।३२।२)

आदीं त्रितस्येति । आत् ईम् इत्युभयमव्ययपदम् । त्रितनामा कश्चनर्षिः । तस्य योषणोङ्गुलयः (इति सायणाचार्यः) । अद्रि-

† मघोन इत्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके ४७७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ॥

भिर्दृढमनोवृत्तिभिर्या हरिं मनोहरं शिष्यम् हिन्वन्ति प्रेरयन्ति कर्मणि सत्युपासनायां च। इदं कुरु नेदं कुर्वित्यङ्गुलिसङ्केतेनैव सर्वमुपदिष्टं भवतीत्याशयः। नह्यङ्गुलीनां मनोवृत्तयो भवन्तीति सत्यम्, तथापि त्रितस्त मनोवृत्तिभिरिति बोध्यम्। किं च इन्दुं तपोभिर्दीप्तिमन्तं स्वशिष्यम्। इन्द्रायेन्द्रस्य सर्वैश्वर्यस्य परमेश्वरस्य पीतये पानाय। परमेश्वरस्य पानं तद्ध्यानमेव। परमेश्वरध्यानायापि त्रितयाङ्गुलयस्तं प्रेरयन्तीत्याशयः। सर्वैरिवाचार्यैरित्थमेव स्वशिष्याः प्रेरणीया इतिमन्त्रोपदेशः ॥ ३।२१ ॥

७७२. अया पवस्व देवयू† रेभन्पवित्रं पर्येषि विश्वतः।
मधोर्धारा असृक्षत ॥ १।२२ ॥ (ऋ० ९।१०६।१४)

अया पवस्वेति। अग्निश्चाक्षुष ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। हे सोम देवयुर्देवान्कामयमानस्त्वम् अया अनयोपासनया पवस्व स्वाभीष्टं गच्छ प्राप्नुहि। पवित्रं परमात्मानम्। पुनातेः कर्तरि चर्षिदेवतयोः (पा० ३।२।१८६) इतीत्रप्रत्ययः। रेभन् अर्चन्। रेभतीत्यर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।३)। विश्वतः सर्वतः पर्येषि परिगच्छसि। तेन हेतुना मधोर्ज्ञानिस्यानन्दस्य वा। मन ज्ञाने इत्यस्मात् (उं० १।९; १।१८) इत्युप्रत्ययो धोन्तादेशश्च। मद तृप्तौ इत्यस्मादपि तावेव विधी। धारा वाचः। धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११।२) असृक्षत सृज्यन्ते। यतः परमेश्वरः स्मरन्सर्वत्र त्वं गच्छसि तेनानन्दस्य वाच आनन्दयित्र्यो वा वाचः सृज्यन्ते तेन च त्वमनया भक्त्योपासनया वा पवस्व स्वाभिष्टं

† अया पवस्य देवयुर्मधोर्धारा असृक्षत। रेभन्पवित्रं पर्येषि विश्वतः इत्यृक्पाठः। "देवयू रेभन्" इत्यजमीढ पुस्तकपाठः। देवयु इति औन्धपुस्तकपाठः।

प्राप्नुहीति पिण्डितार्थः। धाराः परम्परा इत्यपि। तथा चानन्दस्य परम्पराः सृज्यन्ते इति भावः ॥ १।२२ ॥

७७३. पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या।
अभ्यर्ष† स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥ २।२२ ॥

पवते हर्यत इति। उक्ता ऋष्यादयः। व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ २।२२ ॥

७७४. प्र* सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ ३।२२ ॥
(ऋ० ९।१०१।१३)

प्र सुन्वानायेति। प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ऋषिः। छन्दोदेवते उक्ते। व्याख्यातोयं मन्त्रः§ ॥ ३।२२ ॥

इति षष्ठः खण्डः

इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयोर्धः प्रथमप्रपाठकश्च समाप्तः।

इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः।

---

† अभ्यर्षन् इत्यृक्पाठः। अभ्यर्षमित्यजमीढपुस्तकपाठः।

‡ पूर्वार्चिके ५७६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

* प्र सुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः इत्युत्तरार्धे ऋक्पाठः।

§ पूर्वार्चिके ५५३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथ द्वितीयप्रपाठके प्रथमोऽर्धः

७७५. पवस्व वाचो अग्रियः सोम चित्राभिरूतिभिः ।
अभि विश्वानि काव्या ॥ १।१ ॥ (ऋ० ९।६२।२५)

पवस्य वाच इति । जमदग्निर्भार्गव ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । हे सोम । अत्र सोमशब्देन परमेश्वरो ग्राह्यः, सामञ्जस्यात् । अग्रियः, श्रेष्ठस्त्वम् । चित्राभिः संचिताभिरत्युत्तमाभिर्वा । चिञ् चयने इत्यस्मात् "अभिचिमिमिदिशंसिभ्यः क्त्रः (उ० ४।१५९) इति क्त्रः । ऊतिभी रक्षाभिः सह । सर्वतो रक्षा विदधदिति भावः । वाचः स्तुतिरूपाः प्रार्थनारूपा वा गुरुभ्योधीता वा । अभि पवस्व सर्वतः पावयस्य । कास्ता वाचः ? विश्वानि सर्वाणि काव्या काव्यानि वेदरूपाणि । गुरुभ्योधीता वेदास्त्वया संरक्षणीयाः । तवानुकम्पयैव तेषां विस्मृतिर्न भविष्यतीति-भावः ॥ १।१ ॥

७७६. त्वं समुद्रिया अपोऽग्रियो वाच ईरयन् ।
पवस्व† विश्वचर्षणे ॥ २।१ ॥ (ऋ० ९।६२।२६)

त्वं समुद्रिया इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे विश्वचर्षणे विश्वे चर्षणा मनुष्या यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ । सर्व एव जीवा भगवत्सम्बन्धिन इति विश्वचर्षण इति प्रयोगः । अथवा विश्वे चर्षणा यस्मि-

---

† विश्वमेजय इत्यूहगानः ।

न्निति । सर्वस्याश्रयः परमात्मैवेत्यनेनोक्तं भवति । अग्रियः सर्वश्रेष्ठस्त्वं समुद्रियाः समुद्राणि मोदयितणि अपोपांसि कर्माणि । अप इति कर्मनाम (निघ० २।१।१) । समुद्रः सम्पूर्वकात् मुद हर्षे इत्यस्मात् रक् प्रत्ययः समो मलोपश्च (उ० २।१२) ईरयन् प्रेरयन् सर्वेषां श्रेयःसम्पादकानि कर्माणि कारयन्निति भावः । वाचोस्माभिरधीता विद्याः पावयस्व । अत्रापि सोमः परमात्मैव ॥२।१॥

७७७. तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे ।
†तुभ्यं धावन्ति धेनवः ॥ ३।१ ॥ (ऋ० ९।६२।२७)

तुभ्येमा भुवनेति । ऋष्यादय उक्ताः । मेधाविन् क्रान्तदर्शन । कविरिति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१०) । कविः क्रान्तदर्शनो भवतीति यास्कः (नि० १२।१३) । हे सोम शान्त परमात्मन् । इमा इमानि । भुवना भुवनानि । तुभ्यं तव । छान्दसो विभक्तिव्यत्ययः । महिम्ने माहात्म्याय माहात्म्यं ख्यापयितुमिति भावः । अथवा सप्तम्यर्थे चतुर्थी छान्दसी । महिम्नि तस्थिरे तिष्ठन्ति स्थितानि सन्ति । धेनवो वाचः । धेनुरिति वाङ्नाम (निघ० १।१२।५२) । सर्वा एव वेदवाचः । तुभ्यं त्वाम् । द्वितीयार्थे चतुर्थी । धावन्ति गच्छन्ति तवैव माहात्म्यानुसन्धानं कुर्वन्ति वेदा इति भावः ॥ ३।१ ॥

७७८. पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने ।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥ १।२ ॥ (ऋ० ९।६१।२८)

पवस्वेन्दो वृषेति । अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । हे इन्दो परमैश्वर्यं सोम परमशान्तात्मन्, त्वमत्र हृदये सुतः उपस्थापितः सन् वृषा सेचको हृदयसन्तर्पको

---

† तुभ्यमर्षन्ति सिन्धव इत्यृक्पाठः ।

भवसीति शेषः। किं च नोस्मान्। जने लोकेषु यशसो यशस्विनः कृधि कुरु। किं च विश्वा सर्वान् द्विषः रागद्वेषादीँल्लौकिकान्वा शत्रूनप जहि निवारय ॥ १।२ ॥

७७९. † यस्य ते सख्ये वयं सासह्याम पृतन्यतः।
तवेन्दो द्युम्न उत्तमे ॥ २।२ ॥ (ऋ० ९।६१।२९)

यस्य त इति। पूर्वोक्ता ऋष्यादयः। हे सोम परमात्मन्, यस्य ते तव सख्ये सखित्वे साहाय्ये सति वयमुपासकाः पृतन्यतो युद्धमिच्छतो रागादीन्वा दुर्जनमुख्यान्वा सासह्याम अभिवेम। किं च तवोत्तमे सर्वलोकस्पृहणीये द्युम्ने यशसि। द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा (नि० ५।५) अस्माकं रतिरस्त्विति शेषः ॥ २।२ ॥

७८०. या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे।
रक्षा समस्य नो निदः ॥ ३।२ ॥ (ऋ० ९।६१।३०)

या ते भीमेति। ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः। हे सोम परमेश्वर, या यानि ते तव भीमानि भयङ्कराणि तिग्मानि तीक्ष्णानि आयुधा आयुधानि शस्त्राणियो धनसाधनानि धूर्वणे। शत्रुवधार्थम्। धुर्वी हिंसायाम्। सन्ति तैः समस्य सर्वस्य मिथ्यावादिनो दुर्मुखस्य निदः निन्दाया नोस्मान् रक्ष त्रायस्व ॥ ३।२ ॥

७८१. वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः।
वृषा धर्माणि‡ दध्रिषे ॥ १।३ ॥ (ऋ० ९।६४।१)

वृषा सोमेति। कश्यपो मारीच ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।३ ॥*

---

† अस्य ते सख्ये वय तवेन्दो द्युम्न उत्तने। सासह्याम पृतन्यतः ॥ इत्यृक्पाठः।
‡ दधिषे इत्यृक्पाठः। * पूर्वार्चिके ५०४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

७८२. वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा सुताः † ।
‡ स त्वं वृषन्वृषेदसि ।। २।३ ।।

वृष्णस्त इति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः । हे वृषन् सर्वकामपूरक परमेश्वर, वृष्णः सर्वकामपूरकस्य ते तव शवो बलम् । "शवसा बलेन" इति यास्कः (नि० १०।२९) । वृष्ण्यं तर्पणशीलमस्ति । वनं भजनं सेवनमपि तव वृषा तर्पणशीलं हर्षणशीलं वा । सुतो ध्यातः सन्नपि त्वं वृषा हर्षणशीलो भवसि । यस्येदृशा गुणाः स त्वं वृषेद् हर्षणशील एव सर्वेषां कामानां पूरक एवासि ॥ २।३ ॥

७८३. अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः ।
वि नो राये दुरो वृधि ॥ ३।३ ॥

अश्वो न इति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ता एव । हे सोम परमात्मन् अश्वो न अश्व इव त्वं प्रसन्नः सन् संचक्रदः संक्रन्दसे, संक्रन्दनान्तरं वृषा सेचकः सर्वेच्छापूरको भवसि । तेन त्वमस्मभ्यं हे इन्दो सर्वदानसमर्थ, गाः वाचो निखिला विद्या अर्वतः संसारपारप्रापकान् सदाचार्य्यांश्च सं देहि । किं च नोऽस्माकं राये धनाय मोक्षरूपाय दुरो द्वाराणि वि वृधि वृद्धिविरुद्धानि विवृतानीत्यर्थः । कुरु । विरिति विपरीतार्थकमव्ययपदम् । अथवा वर्ततेः स्थाने वर्धतेः प्रयोगश्छान्दसः । अत्रेदमवधेयम्—न परमेश्वरः संक्रन्दनं करोति न वा मोक्षस्य किमपि द्वारमस्ति । सर्वमात्र लौकिकानुकरणं वेद्यम् । लोके प्रसन्नः शब्दायते, धनस्य द्वारं संवृतं भवति तथैव परमेश्वरोपि शब्दायते मोक्षस्यापि द्वाराणि स्युः । कल्पनामात्रमेतत् । प्रसन्नः परमेश्वरो रागादीन् प्रतिबन्धकान्मोक्षस्य निवारयेदित्यत्रैव तात्पर्यम् ॥ ३।३ ॥

---

† मद इत्यधिकः पाठः । ‡ स त्वम् इत्यस्य स्थाने सत्यमित्युक्तपाठः ॥

७८४. वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।
पवमान†स्वर्दृशम् ॥ १।४॥ (ऋ० ९।६५।४)

वृषा ह्यसीति । भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥१।४॥

७८५. *यदद्भिः परिषिच्यसे मर्मृज्यमान आयुभिः ।
द्रोणे सधस्थमश्नुषे ॥ २।४ ॥ (ऋ० ९।६५।६)

यदद्भिरिति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम परमेश्वर, यद् यदा आयुभिर्मनुष्यैरुपासकैः । आयुरिति मनुष्यनाम (नि० २।३।१७) । इण् गतौ । छन्दसीणः (उ० १।२) इत्युण् प्रत्ययः । मर्मृज्यमानः पुनः पुनः शोध्यमानः । अद्भिर्जलैर्हृदयप्रीतिरसैः परिषिच्यसे परिषिक्तो भवसि तदा त्वं द्रोणे हृदये । द्रवतीति द्रोणः । द्रुधातोः "कृवृजृसिद्रु०" (उ० ३।१०) इति नक प्रत्ययः । सधस्थं सहस्थानमश्नुषे व्याप्नोषि । यदोपासकः श्रद्धाजलैः प्रीतिजलैर्वा परमात्मानं तर्पयति तदा स उपासकहृदये स्थानं गृह्णातीति तात्पर्यम् ॥ २।४ ॥

७८६. आ पवस्व सुवीर्यं मन्दमानः स्वायुध ।
इहो ष्विन्दवा गहि ॥ ३।४ ॥ (ऋ० ९।६५।५)

आ पवस्वेति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः । हे स्वायुध सुष्ठु आयुधानि योधनसाधनानि यस्य तत्सम्बुद्धौ । आयुधमायोधनादिति यास्कः (नि० १०।६) आयुधशब्दोत्र शक्तिपरः । शोभनाः शक्तयो

† पवमान स्वाध्यः" इत्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके ४८० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

* यदद्भिः परिषिच्यसे मृज्यमानो गभस्त्योः । द्रुणा सधस्थमश्नुषे ॥ इत्यृक्पाठः ।

यस्य स इति भावार्थः। मन्दमानो मोदमानः प्रज्वलन् प्रकाशमानो वा। मन्दते इति ज्वलतिकर्मा (निघ० १।१६।६)। सुवीर्यं श्रेयः-साधनसमर्थं वीर्यं बलम् आ पवस्वागमयाप्रापयेत्यर्थः। पवतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।१०८)। हे इन्दो ऐश्वर्यशालिन् परमेश्वर इह उ इहैव सु आ गहि सुष्ठु आगच्छ। अस्माकं हृदय एवागत्य स्थितो भव। वेदेष्वायुधादिशब्ददर्शनेनैव साम्प्रदायिकाः पारमेश्वराण्यायुधानि कल्पन्ते। वस्तुतस्तु नायुधापेक्षोयं परमात्मा। सर्वशक्तेः शिवसंकल्पस्य किं नाम प्रयोजनमायुधानाम्। आयुधान्यन्तरेणैव स सर्वेषां संहार्य्याणां संहर्ता भवति। यथा स संकल्पमात्रेण सर्वं जगन्निर्मिमीते तथैव संकल्पमात्रेणैव सर्वमुन्मूलनीयमुन्मूलयति। यदि नार्पत्यं वर्णयत्ययं मन्त्रस्तर्हि राजपक्षे सर्वं समञ्जसम्। लौकिकानप्यर्थान् बोधयत्येव वेदः॥ ३।४॥

७८७. पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः।
सखित्वमा वृणीमहे॥ १५॥ (ऋ० ९।६१।४)

पवमानस्य त इति। अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। आङ्गिरसा अमहीयवो वदन्ति, पवित्रं सत्यसदाचारपूतं जनम् अभ्युन्दतः सान्त्वयतः पवमानस्य पवित्रमपि पवित्रं कुर्वाणस्य ते तव सखित्वं सख्यं साहाय्यमा वृणीमहे याचामहे॥ १५॥

७८८. ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिक्षरन्ति धारया।
तेभिर्नः सोम मृडय॥ २।५॥ (ऋ० ९।६१।५)

ये ते पवित्रमूर्मेति। ऋष्यादयः प्रोक्ता एव। हे सोम परमात्मन्, ये ते तवोर्मयः करुणातरङ्गा धारया वाचा वेदरूपया पवित्रं पवित्रात्मानम् अभिक्षरन्ति तर्पयन्ति। धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११।२)। अथवा धारया सातत्येन। कारुणिको हि पर-

मात्मा करुणयैव वेदवाचं जगदुद्दिधीर्षया सन्दिदेशोपदिदेश वा। तेन जीवास्तृप्ता भवन्ति। तेभिस्तैरेवोर्भिभिर्नोस्मान् मृडय सुखय प्रीणय वा ॥ ३।५ ॥

७८९. स नः पुनान आ भर रयिं वीरवतीमिषम्।
ईशानः सोम विश्वतः ॥ ३।५ ॥ (ऋ० ९।६१।६)

स नः पुनान इति। ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः। हे सोम परमात्मन्, सः प्रसिद्धस्त्वमीशानः समर्थो नोस्मान् पुनानः पवमान रयिमुदकं वीरवतीं पुत्राद्युपेतमिषमन्नं च विश्वतः समन्तादा भर आहर। अत्रेदं प्रतीयते, आङ्गिरसाः सर्वे कुतोपि कारणात् अवन्नविरहिणः संजाताः। सर्वतो नैराश्यमुपगताः परमकृपं परमेश्वरं शरणं प्रपन्नाः ॥ ३।५ ॥

इति प्रथमः खण्डः

अथ द्वितीयः खण्डः

७९०. अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १।६ ॥ (ऋ० १।१२।१)

अग्निं दूतमिति। मेधातिथिः काण्व ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।६ ॥

७९१. अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्।
हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥ २।६ ॥ (ऋ० १।१२।२)

---

† पूर्वार्चिके ३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

अग्निमग्निमिति । ऋष्यादय उक्ताः । अग्निमग्निं प्रत्येकमग्निम् । अग्निशब्देनाग्निसाध्यो यज्ञ उपलक्ष्यते । प्रत्येकं यज्ञे अग्निहोत्रकर्तारः विश्पतिं विशां प्रजानां पतिं पातारं हव्यवाहं हव्यं परस्मै दातव्यं स्वस्मा आदातव्यं च वस्तुजातं वहति तथाभूतं पुरुप्रियं पुरूणां बहूनां प्रियमग्निं सर्वगं परमात्मानं हवीमभिराह्वानसाधनैः सदा हवन्त आह्वयन्ति । हवीमभिः । ह्वेञ् धातोः कर्तृत्वविवक्षायां मनिन् । तस्य छान्दस ईडागमः । धातोः सम्प्रसारणम् (पा० ६।१।३४) परपूर्वत्वम् । गुणावादेशौ ।। २।६ ।।

७९२. अग्ने देवां इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे ।

असि होता न ईड्यः ।। ३।६ ।। (ऋ० १।१२।३)

अग्ने देवानिति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः । अग्निः परमात्मा । सर्वगत्वात् । हे परमात्मन्, जज्ञानः सर्वत्र स्थितस्त्वं वृक्तबर्हिषे वृक्तं त्यक्तं बर्हिरुदकं व्रतनिमित्तं येन तस्मै ऋत्विजे ऋतौ ऋतौ परमात्मपूजानिरताय । बर्हिरिति जलनाम । (निघ० १।१२।७८) । वृक्तम्-वृजी वर्जने । वृक्तबर्हिष इति ऋत्विङ्नाम (निघ० ३।१९।४) । त्यक्तोदकाय व्रतिने देवान् विदुष इहास्मिन् यजनस्थाने आ वह प्रापय । यतस्त्वं नोस्माकमीड्यः स्तुत्यो होता सर्वप्रदातासि । परमेश्वरयजनकाले केनाप्युपासकेनाबन्नादिकं परित्यक्तं व्रतविधानमनुसृत्य तत्र मेधातिथिः परमात्मनं प्रार्थयते, हे परमेश्वरास्येच्छापूर्त्यै उपासनातत्त्वविदुष उपासकानिह प्रापय येनास्य व्रतं विधिवत्सम्पन्नं भवेदित्याशयः ।। ३।६ ।।

७९३. मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये ।

† या जाता पूतदक्षसा ।। १।७ ।। (ऋ० १।२३।४)

---

† या जातेत्यस्य स्थाने "जज्ञाना" इत्यृक्पाठः ।

मित्रं वयमिति । मेधातिथि काण्व ऋषिः । मित्रावरुणौ देवता । गायत्री छन्दः । या पूतदक्षसा पवित्रबलेन तपोनुष्ठानप्राप्तबलेन । दक्ष इति बलनाम (निघ० २।९।१४) । जातोत्पन्ना निष्पादिता । तस्यै सोमपीतये पारमेश्वररसपानाय वयं वरुणं वरणीयं मित्रं सखायं हवामहे आह्वयामः । परमेश्वरोपासनायां सामूहिक्यां सर्व एव स्निग्धा उपासका आह्वतव्या इतिभावः ।। १।७ ।।

७९४. ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती ।

ता मित्रावरुणा हुवे ।। २।७ ।। (ऋ० १।२३।५)

ऋतेन यावृतेति । ऋष्यादय पूर्वोक्ताः । अस्य मन्त्रस्य देवता मित्रावरुणौ । यद्यप्यत्र द्विवचनं तथापि नात्र द्वे देवते मित्रो वरुणश्चेति पृथक् पृथक् । विशेषणभेदो न विशेष्यभेदः । घटकलशादितिवत् । तथा चात्र मित्रभूतः सर्वप्राणिनां वरणीयश्चैक एव परमात्मा । एवं द्विवचनस्यात्र निर्वाहः कर्तव्यः । ऋतेन परमसत्येन यौ ऋतावृधौ सत्यवर्धकौ, ऋतस्य सत्यस्य ज्योतिषः प्रकाशस्य च यौ पती स्वामिनौ तौ मित्रावरुणौ हुवे सततं पवित्रेषु कर्मसु आह्वयामि ।। २।७ ।।

७९५. वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः ।

करतां नः सुराधसः ।। ३।७ ।। (ऋ० १।२३।६)

वरुणः प्रावितेति । ऋष्यादयः प्रोक्ता एव । वरुणो वरणीयः सर्वैर्मनुष्यैः । मित्रो मित्रं च सर्वेषां प्राणिनां परमेश्वरो नोस्माकं प्राविता प्रकर्षेण रक्षको भुवद् भवतु । किं च वरणीयो मित्रत्वगुणविशिष्टश्च परमात्मास्माकं सुराधसः समीचीनाः सिद्धीः करतां करोतु । तत्र साधनमाह—विश्वाभिर्निखिलाभिरूतिभी रक्षणशक्तिभिः मित्रशब्दो नियतार्थकः । तथा च यास्क,: "मित्रः प्रमीयतेस्त्रायतेः सम्मिन्वानो द्रवतीति वा मेदयतेर्वा" (नि० १०।२१) । यद्यपि

निघण्टो राध इति धननामसु पठितं (२।१०।१७) तथापि राध्नुवन्ति सर्वानुपयोगिनः पदार्थानिति राधसः शक्तयः ॥ ३।७ ॥

७९६. इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ १।८ ॥ (ऋ० १।७।१)

इन्द्रमिद्गेति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ † १।८ ॥

७९७. इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ २।८ ॥ (ऋ० १।७।२)

इन्द्र इद्धर्योरिति । ऋष्यादय उक्ताः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ २।८ ॥ ‡

७९८. इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।
उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ ३।८ ॥ (ऋ० १।७।४)

इन्द्रवाजेष्विति । ऋष्यादय उक्ताः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ ३।८ ॥ *

७९९. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ४।८ ॥ (ऋ० १।७।३)

इन्द्रो दीर्घायेति । ऋष्यादय उक्ताः । अस्मिन्मन्त्रे परमेश्वरकृतोपकारं स्मारयति मधुच्छन्दाः । इन्द्रः सर्वशक्तिपूर्णः परमात्मा दीर्घाय चक्षसे दीर्घदर्शनाय सूर्यमादित्यं दिवि अन्तरिक्ष आरोह-

† पूर्वार्चिके १९८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ पूर्वार्चिके ५९७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

* पूर्वार्चिके ५९८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

यदारोपयत् स्थापितवानित्यर्थः। एवमेव स गोभिरादित्यरश्मिभिः गौरिति रश्मिनाम (निघ० १।५।४). अद्रिं मेघम् । अद्रिरिति मेघनाम (निघ० १।१०।१) । वि ऐरयत् प्रेरयत् । दिवि स्थितः सूर्यो मेघं प्रेरयति, तत्तु परमात्मनो व्यवस्थयैवेति तस्यैवोपकारः ॥ ४।८ ॥

८००. इन्द्रे अग्ना नमो बृहत्सुवृक्तिमेरयामहे ।

धिया धेना अवस्यवः ॥ १।९ ॥

इन्द्रे अग्ना इति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः । इन्द्राग्नी देवता । गायत्री छन्दः । अवस्यवोस्मद्रक्षणकामा वयमिन्द्रे परमैश्वर्ये अग्ना अग्नौ सर्वव्यापके परमात्मनि बृहदादरयुक्तं नमो हृदयम् । यद्यपि निघण्टौ नम इति अन्ननाम (२।८।२२) तथापीह हृदयं ग्राह्यम् । नमति परमात्मनि महात्मनि । च असुन् ( ) । सुवृक्तिमतिशयेन सांसारिकोपनतविषयवर्जनं च एरयामहे प्रेरयाम । धिया कर्मणा । धीरिति कर्मनाम (निघ० २।१।२१) । सहिता धेना वाचः स्तुतिरूपाः । धेनेति वाङ्नाम (निघ० १।११।३९) प्रेरयाम । अयं भावः—महात्मनि पुरुषे परमात्मनि च परमपुरुषे समर्पितं हृदयं समर्पितं कर्म समर्पिताश्च वाचः समर्पकस्य श्रेयसे भवन्ति । ननु किं नाम परमात्मनि महात्मनि च विषयवर्जनप्रेरणम् ? उच्यते । नहि विषयवर्जनं विना परमात्मानं महात्मानं वावर्जयितुं कोपिशक्नोति । अतो विषयप्रवणराहित्यप्रख्यापनमेव कर्मणा मनसा वाचा चापि तत्र विषयवर्जनप्रेरणम् ॥ १।९ ॥

८०१. ता हि शश्वन्त ईडत इत्था विप्रास ऊतये ।

सबाधो वाजसातये ॥ २।९ ॥ (ऋ० ७।९४।५)

ता हि शश्वन्त इति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ता एव । शश्वन्तो

बह्वः। शश्वदिति बहुनाम (निघ० ३।१।४) विप्रासो मेधाविनः। विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१) ऊतये स्वरक्षानिमित्तम्। इत्था हि अनेनैव प्रकारेण। ता तौ इन्द्राग्नी ईडते स्तुवन्ति। सबाधः समाना बाधा येषां ते। समदुःखपीडिता जनाः। छान्दसमेकवचनम्। वाजसातयेऽन्नदानायान्नं प्राप्तुमितिभावः। अथवा बाध इति बलनाम (निघ० २।९।८)। समानबलाः। वाजसातये संग्रामार्थम्। वाजसातिरिति संग्रामनाम (निघ० २।१७।३६)। संग्रामे विजयलाभायापि परमात्मानमित्थमेव स्तुवन्ति। अत्रापि इन्द्रोग्निश्च न पृथक् देवताद्वयम्। य एवेन्द्रः स एवाग्निः। गुणद्वयप्रदर्शनार्थं शब्दद्वयम् ॥ २९ ॥

८०२. ता वां गीर्भिर्विपन्यवः† प्रयस्वन्तो हवामहे।
मेधसाता सनिष्यवः ॥ ३९ ॥ (ऋ० ७।९४।६)

ता वां गीर्भिरिति। ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः विपन्यवो मेधाविनः। विपन्यव इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१७) विपनेः कत्युच् (उ० ३।४८) कुप्रत्ययो (उ० १।३६) वा। प्रयस्वन्तोऽन्नवन्तः। प्रय इत्यन्ननाम (निघ० २।७।४)। सनिष्यवो धनमिच्छन्तः। मेधसाता मेधसातौ। मेध इति यज्ञनाम (निघ० ३।१७।४)। यज्ञो हि बहुविधः। देवार्थोपि यजिः। यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु (पा० धातुपाठः)। अत्र देवपूजेति नैकं पदम्। धात्वर्थेनैव कर्मोक्तेरकर्मकत्वापत्तिः। तेन देवेतिपृथक् पदम्, पूजेति पृथक्। एवं च देवो मोदः। मोदसंभजने। मोदावाप्तये इति भावः। वयं ता तौ वां युवां गीर्भिनम्रवचोभिः। हवामहे आह्व-

† विपन्युव इति आन्ध्रपुस्तकपाठः।

यामः। मेधाविनो न हि लौकिकं धनमाप्तुं परमात्मानमाह्वयन्ति। तेषां प्रयस्तु श्रद्धादयः। एवं सनिष्यव इत्यत्रापि बोध्यम् ॥ ३।९ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

●

अथ तृतीयः खण्डः

८०३. वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः।
विश्वा दधान ओजसा ॥ १।१० ॥ (ऋ० ९।६५।१०)

वृषा पवस्वेति। भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥१।१०॥†

८०४. तं त्वा धर्तारमोण्योः३ पवमान स्वर्दृशम्।
हिन्वे वाजेषु वाजिनम् ॥ २।१० ॥ (ऋ० ९।६५।११)

तं त्वेति। हे पवमान सर्वेषां पावित्र्यसम्पादक परमेश्वर, ओण्योर्द्यावापृथिव्योः। ओण्यौ इति द्यावापृथिवीनाम (निघ० ३।३०।१५)। धर्तारं पालकं स्वर्दृशं सूर्यसदृशम्। स्वर्दृशः सूर्यदृश इति यास्कः (नि० १०।१३)। स्वप्रकाशं सर्वप्रकाशं वा। वाजिनं बलवन्तम्। वाज इति अन्ननाम (निघ० २।७।२) बलनाम च (निघ० २।९।२) तं प्रसिद्धं त्वा त्वां वाजेषु धनेषु बलेषु वा हिन्वे हिनोमि प्रेरयामि। पारलौकिकं धनं बलं वा दातुं प्रार्थय इति भावः ॥ २।१० ॥

८०५. अया चित्तो विपानया हरिः पवस्व धारया।
युजं वाजेषु चोदय ॥३।१०॥ (ऋ० ९।६५।१२)

---

† पूर्वार्चिके ४६९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

अया चित्त इति। ऋष्यादयः प्रोक्ता एव। हे पवमान परमेश्वर, अया अयाभिरितस्ततो गमनशीलाभिः। अय गतौ। अनयाभिः। विपा विभिर्वृत्तिभिर्मनोवृत्तिभिरिति भावः। विप प्रेरणे। सम्पदादित्वात्क्विप्। चित्तः प्रतीतो हरिः सर्वाघौघहरणकर्ता त्वं पवस्वागच्छ। पवस्वेत्यध्येषणाकर्मा (निघ० ३।२१।२) पवस्वेत्युक्तिर्लोकानुसारिणी। युजं जीवात्मानम्। वाजेषु पारलौकिकसम्पत्सु धारया निरन्तरं सातत्येन चोदय प्रेरय॥ ३।१०॥

८०६. वृषा शोणो अभिकनिक्रदद्गा †नदयन्नेषि पृथिवीमुत द्याम्।
इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ ‡प्रचोदयन्नर्षसि वाचमेमाम्॥ १।११॥ (ऋ० ९।९७।१३)

वृषा शोण इति। उपमन्युर्वासिष्ठ ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। शोणो रक्तोनुरक्तो वृषा सेचकः सर्वेच्छापूरको गा हितवचनानि। गौरिति वाङ्नाम (निघ०)। अभिकनिक्रदत् अभितः शब्दायते उच्चारयति। किं च पृथिवीम् उत द्यामन्तरिक्षं च नदयन् वाग्भिर्हितवचनैरभिपूरयन् एषि एति। इन्द्रस्य मेघस्य। इन्द्र इति मध्यस्थानदेवता। इराशब्द उपपदे दृणातेर्दधातेर्दारयतेर्वा 'ऋज्रेन्द्राग्र०' (उ० २।२७) इति रक्प्रत्ययान्तो निपात्यते। निपातनाद्रूपसिद्धिरुन्नेयेति देवराजयज्वानः। इरा अन्नम्। तानि वचनानि कीदृशि? मेघस्य वग्नुरिव वागिव। वग्नुरिति वाङ्नाम (निघ० १।११।२५)। "वचेर्गश्च" (उ० ३।३२) इति वचधातोर्नुक् प्रत्ययः। यथान्नदातुर्मेघस्य शब्दो गर्जनं प्रियं भवति एवं पारमेश्वराणि हितवचनानि प्रियाणि

† नदयन्नेति पृथ्वपाठः। ‡ प्रचोदयन्नर्षसीति पाठः।

भवन्ति। आ शृण्वे तानि वयं सर्वे समन्ततः शृणुमः। स च परमेश्वर इमां वेदरूपां वांच वाणीम्। आजौ जीवेषु। अज गतिक्षेपणयोः। अजति परमेश्वरं गच्छति महतामुपदेशेनाज्ञानं च क्षिपति निरस्यतीति आजिर्जीवः। जातावेकवचनम्। प्रचोदयन्नुपदिशन्ना अर्षसि आ अर्षति समन्ताद् गच्छति। परमदयालुः परमेश्वरः सर्वेषु जीवेष्वनुरक्तो भवति तेषां मनःकामसिद्धिं करोति हितवचनानि श्रावयन्नर्टति तानि च वचनानि वेदरूपाण्येव। तानि च निर्विशेषं सर्वेषु मनुष्येषु स प्रतिष्ठापयतीति भावः। मन्त्रे एषि, अर्षसि, इत्यत्र छान्दसः पुरुषव्यत्ययः॥ १।११॥

८०७. रसाय्यः पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमंशुम्।
†पवमान सन्तनिमेषि कृण्वन्निन्द्राय सोम परिषिच्यमानः॥२।११॥ (ऋ० ९।९७।१४)

रसाय्यः पयसेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे सोम परमेश्वर, रसाय्यो रसनीय आस्वाद्य इतियावत्। अथवा समर्च्यः। रसतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।४०)। पयसा रात्र्या। पय इति रात्रिनाम (निघ० १।७।२१)। पिन्वमानस्तर्प्यमाणः। उपासकाः शान्तसमये रात्रावेव प्रायेण परमात्मानं ध्यायन्ति। ईरयन् प्रेर्यमाणः। भक्तैराराधनशक्त्येतिभावः। मधुमन्तं माधुर्योपेताम्। अंशुं करुणाम्। "अंशुः शम् अष्टमात्रो भवति, अननाय शं भवतीति वा।" (नि० २।५) "व्याप्तमात्रो हि यजमानेन तस्यैव शं भवति, सुखी भवति" अननाय जीवनाय शं सर्वेषां भूतानां भवति, सुखी भवतीति वा" इत्यस्यार्थमाह भगवद्दुर्गाचार्यः। एषि प्राप्नोषि। भगवत्करुणा व्याप्नोति यदा

† पवमानः इत्यृक्पाठः, अजमेरीयपुस्तकपाठश्च।

जीवं शं तदा तस्य भवति जीवनोपायश्च लब्धो भवति। किं च परिपिच्यमानः सत्यसदाचारादिभिर्जीवेन संतोष्यमाणः पवमानः जीवं पवित्रं कुर्वाण इन्द्राय जीवाय सन्तिं वृद्धिं सदाचारादिवृद्धिमिति यावत्। कृण्वन् कुर्वन् एषि आगच्छसि प्राप्नोषीति भावः॥ २।११॥

८०८. एवा पवस्व मदिरो मदायोदग्राभस्य नमयन्वधस्नुम्।†
परि वर्णं भरमाणो रुशन्तं गव्युर्नो अर्ष परि सोम
सिक्तः॥ ३।११॥ (ऋ० ९।९७।१५)

एवा पवस्वेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे पवमान सोम, मदिर आनन्दकरस्त्वमुदग्राभस्योदग्नाभाय। चतुर्थ्यर्थे षष्ठी बाहुलकी। उदकः परमात्मा। अकि अगि गतौ। उत्कृष्टगमनवान्। सर्वव्यापक इत्यर्थः। उदकस्योदादेशः कविमोको वा। तस्य ग्रहणप्रवणायोपासकाय। उपासकस्य श्रेयःसम्पादयितुमित्यर्थः। वधस्नुमुपासकस्य परमपवित्रजीवस्य वधं कामयमानं दुर्जनं दुर्विचारं वा नमयन्निर्बलीकुर्वन्। मदाय मोदाय एव आ पवस्यागच्छ। किं च रुशन्तं रोचमानम्। वर्णं रूपम्। रुशदिति वर्णनाम। रोचतेर्ज्वलतिकर्मण इति यास्कः (नि. २।२०; ६।१२)। परि भरमाणो परिबिभ्राणः सिक्तः परितुष्टो नोस्माकं गव्युर्गा रश्मींस्तेजांसीच्छन् परि अर्ष प्राप्तो भव। ऋषी गतौ। गत्यर्थाः सर्व प्राप्त्यर्थाः॥ ३।११॥

तृतीयः खण्डः



† वधस्नैरित्यृक्पाठः।

चतुर्थः खण्डः

८०९. त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।

त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥ १।१२ ॥

(ऋ० ६।४६।१)

त्वामिद्धीति। शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः। इन्द्रो देवता। प्रगाथश्छन्दः—विषमा बृहती। व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।१२ ॥†

८१०. स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः।

गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥ २।१२ ॥

(ऋ० ६।४६।२)

स त्वं नश्चित्रेति। ऋषिदेवते उक्ते। प्रगाथश्छन्दः—समा सतो बृहती। हे इन्द्र परमेश्वर, हे चित्र चयनीयाश्चर्यकर वा, हे वज्रहस्त वज्र इव दृढो हस्तो यस्य स तत्सम्बुद्धौ, मह पूज्य महन्वा, धृष्णुया धृष्णुर्धर्षयितारीणां तं याति प्राप्नोतीति धृष्णुया, अद्रिवोऽविनाशशील स ईदृक् प्रसिद्धस्त्वमस्माभिः स्तवानः स्तूयमानः सन् नोस्मभ्यमश्वं व्यापिकां रथ्यं रमणीयां गां विद्यां सं किर संप्रयच्छ। जिग्युषे समग्रान्शत्रूञ्जितवते महायमिने सत्रा सत्यम्। सत्रेति सत्यनाम (निघ० ३।१०।३)। वाजं धनं मोक्षधनमितियावत्। न इव। यथा महायमिने मोक्षं प्रयच्छसि तथैवास्मभ्यमुपासकेभ्यो विद्यां त्वत्प्राप्त्युपयोगिनीं प्रयच्छेतिभावः ॥ २।१२ ॥

८११. अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।

यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥१।१३॥

(ऋ. ८।४९।१)

† पूर्वार्चिके २३४ संख्यको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

अभि प्र व इति। बालखिल्याः, प्रस्कण्वः काण्वऋषिः। इन्द्रो देवता। प्रगाथः—विषमा बृहती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥१।१३॥†

८१२. शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२।१३॥‡
(ऋ० ८।४९।२)

शतानीकेवेति। ऋषिदेवते उक्ते। छन्दः समा सतो बृहती। धृष्णुया सर्वेषां शत्रूणां धर्षयिता इन्द्रः परमात्मा शतानीकेव शतानीकान्येव। इवेति एवार्थे। प्र जिगाति प्रकर्षेण जयति। दाशुषे हृदयमर्पितवतः प्रपन्नस्य। षठ्यर्थे चतुर्थी। वृत्राणि पापानि हन्ति विनाशयति। पुरुभोजसो बहूनां पालकस्यास्य परमात्मनो दत्राणि हिरण्यानि। दत्रमिति हिरण्यनाम (निघ० ३।१५।१४)। दत्तानि धनानि प्र पिन्विरे प्रीणयन्ति सर्वानिव प्राणिनः। गिरेर्मेघस्य। गिरिरितिमेघनाम (निघ० १।१०।१०)। रसा उदकानि। रस इत्युदकनाम (निघ० १।१२।३५)। यथा मेघोदकानि सर्वमेव जगत्प्रीणयन्ति तथैव परमात्मदत्तानि सर्वाण्येव पदार्थजातानि जगत्प्रीणयन्तीति भावः ॥ २।१३ ॥

८१३. त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः।
स इन्द्र स्तोमवाहस* इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि ॥१।१४॥
(ऋ० ८।९९।१)

† पूर्वार्चिके २३५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ वालखिल्यसूक्तमिदम्।
* स्तोमवाहसामिहेत्यृक्पाठः।

त्वामिदेति । नृमेध आङ्गिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथः—विषमा वृहती छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ ११४ ॥†

८१४. मत्स्वा‡ सुशिप्रिन्हरिवस्त* मीमहे त्वया§ भूषन्ति वेधसः ।
तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्य& सुतेष्विन्द्र गिर्वणः ॥ २।१४ ॥
(ऋ० ८।९९।२)

मत्स्वेति । ऋषिदेवते उक्ते । प्रगाथः—समा सतो वृहती छन्दः । हे सुशिप्रिन् शोभनगते । यद्यपि "शिप्रे हनू नासिके वेति" यास्कः (नि० ६।१७) तथापीह शिप्रपदेन गतिरेव ग्राह्या । सृपृ गतौ इति धातोः 'स्फादितञ्चिवञ्चिशकिक्षपिसृपि (उ० २।१२) इतिसूत्रेण-रक् । वाहुल्कात्सृशव्दस्य शिभावः । अत एव "सृपः सर्पणात्, इदमपीतरत्सृप्रमेतस्मादेव सर्पिर्वा तैलं वा ।···सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम्" (नि० ६।१७) इति यास्केनाप्युक्तम् । परमात्मनो गतिः सर्वदा शोभनैव भवति । हे हरिवः सर्वदोषहरणशक्तिसम्पन्न गिर्वणः गीर्भिर्वननीय । 'गिर्वणो देवो भवति । गीर्भिरेनं वनयन्ती'ति यास्कः (नि० ६।१४) । मत्स्व हृष्टो भव प्रसीदेति भावः । त्वे आ त्वयि वेधसो मेधाविनः । वेधा इतिमेधाविनाम (निघ० ३।१५।६) । आ भूषन्ति आभवन्ति त्वयि रक्ता अनुरक्ता वा भवन्ति । अतस्त्वं प्रसिद्धं त्वामीमहे याचामहे । ईमहे इति याच्ञाकर्मा (निघ० ३।१९।१) । तव श्रवांसि यशांसि । श्रूयन्त इति । उपमानि उपमान-भूतानि । उक्थ्यानि प्रशस्यानि । उक्थ इति प्रशस्यनाम (निघ० ३।८।६) । सुतेषु सर्वेषूत्पन्नेषु प्राणिषु भवन्त्वितिशेषः ॥ २।१४ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

† पूर्वार्चिके ३०२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ सुशिप्र हरि··· इत्यृक्पाठः । * तदीमहे इत्यृक्पाठः ।

§ त्वे आ इत्यृक्पाठः । & ···युक्थ्या इत्यृक्पाठः ।

पञ्चमः खण्डः

८१५. यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा ।

देवावीरघशंसहा ॥ १।१५ ॥ (ऋ० ९।६१।१९)

यस्ते मद इति । अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके ॥ १।१५ ॥†

८१६. जघ्निर्वृत्रममित्रियं सस्निर्वाजं दिवेदिवे ।

‡ गोषातिरश्वसा असि ॥ २।१५ ॥ (ऋ० ९।६१।२०)

जघ्निरिति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम परमेश्वर त्वममित्रियममित्रेषु परिगणितं वृत्रमज्ञानम् । वृञ् आच्छादने । जघ्निर्हन्तासि । दिवेदिवे प्रतिदिनं वाजं बलम् । वाज इति बलनाम (निघ० २।९।२) । सस्निर्दातासि । षणु दाने । गोषा गवां दाता । गौर्वाक् । सर्वविद्यानां प्रदातासि । अश्वसा अविद्यानां छेदकोसि । श्वा न भवतीत्यश्वाः । अविद्यापि जाते ज्ञाने न भवति । षो तनूकरणे । अतिः सर्वगोसि । अततीति अतिः ॥ २।१५ ॥

८१७. सम्मिश्लो अरुषो *भुवः सूपस्थाभिर्न धेनुभिः ।

सीदञ्छ्येनो न योनिमा ॥ ३।१५ ॥ (ऋ० ९।६१।२१)

सम्मिश्ल इति । ऋष्यादय उक्ता एव । सूपस्थाभिः सम्यगुपस्थिताभिर्धेनुभिर्न वाग्भिरिव । सम्यगुक्ताभिर्वाग्भिरित्याशयः । अरुपः प्रशस्तरूपः । अरुषमिति रूपनाम (निघ० ३।७।१५) । तदस्त्यस्य । मत्वर्थीयोकारः । सूक्तिभिः सदाकारसम्पन्नः प्रसन्न इति यावत् । अत एव संमिश्लः संपृक्तः । मिश्र संपर्के । श्येनः सुन्दर-

† पूर्वार्चिके ४७० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ 'गोषा उ अश्वसा' इत्यृक्पाठः । * भवेति ऋक्पाठः ।

गतिः । श्येनः शंसनीयं गच्छतीति यास्कः (नि० ४।२४) । न सम्प्रति । योनिं हृदयान्तरिक्षम् । योनिरन्तरिक्षं महानवयवः । परिवीतो वायुनेति यास्कः (नि० २।८) हृदयप्रदेशमिति यावत् । आ सीदन् भुवः भव । आतिष्ठेति भावः ।। ३।१५ ।।

८१८. अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति ।
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ।। १।१६ ।।

(ऋ० ९।१०१।७)

अयं पूषेति । नहुषो मानव ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ।। १।१६ ।।†

८१९. समु प्रिया अनूषत गावो मदाय घृष्वयः ।
सोमासः कृण्वते पथः पवमानास इन्दवः ।। २।१६ ।।

(ऋ० ९।१०१।८)

समु प्रिया इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे पवमान ! घृष्वयः प्रदीप्ता उत्तमोत्तमाः । घृषु संघर्षे । इह दीप्तौ । प्रियाः प्रियकर्यौ गावः स्तुतिवाचस्तव मदाय हर्षाय । उ एवकारार्थः । सम् अनूषत स्तुवन्ति । अस्माकमिति शेषः । इन्दवो ज्ञानसम्पन्नाः पवमानसः पावित्र्यं जनानां सम्पादयितारोन्ये सोमासः शान्ता ज्ञानिनः पथो मार्गान् कृण्वते अकुर्वन् । अन्येपि ज्ञानिनस्तव स्तुतिमकुर्वन् कुर्वन्ति च ततस्तेध्वनिर्मातारः । तेषामेव मार्गेण वयमपि गच्छाम इति भावः । उत्तरार्धे सोमपदं पवमानपदं चान्येषां ज्ञानिनामुपलक्षकम् ।। २।१६ ।।

† पूर्वार्चिके ५४८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

८२०. य ओजिष्ठस्तमा भर पवमान श्रवाय्यम् ।
यः पञ्च चर्षणीरभि रयिं येन† वनामहे ॥३।१६ ॥

(ऋ. ९।१०१।९)

य ओजिष्ठ इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे पवमान परमात्मन्, य ओजिष्ठो बलवत्तमस्तेजस्वितमो वा तव श्रोतव्यो गुणोस्ति तं श्रवाय्यं श्रवणीयं गुणमस्मासु आ भर आहार । यश्च गुणः पञ्च चर्षणीर्मनुष्यान् । चरधातोर्बाहुलकादनिप्रत्यये (उ० २।१०२) षुगागमः । अथवा कृष विलेखने इत्यस्यात् "कृषेरादेश्च चः" (उ०) इति सूत्रेणानिप्रत्ययः । ककारस्य च चकारः । लघूपधगुणश्च । स्वामिदयानन्दस्तूज्ज्वलदत्तमनुसृत्य "कृषेरादेश्च ध" इति सूत्रं पपाठ । तन्न युक्तम् । धृषधातोरेवानिप्रत्यये कृते धर्षणिरिति शब्दसिद्धेः । अभि अभितिष्ठति । उपसर्गदर्शनाद्योग्यक्रियाध्याहारः । तं गुणमानन्दरूपं सच्चिदानन्दरूपं वा वनामहे याचामहे रयिं पवित्राचारं मोक्षधनं च याचामहे । निषादः पञ्चमो वर्ण इति वैदिकाचारः । वैष्णवः पञ्चमो वर्ण इति पौराणिकाचारः । सर्वेष्वेव मनुष्येषु पारमेश्वरो गुणस्तिष्ठत्येव स च क्वचिद्व्यक्तः क्वचिदव्यक्तश्च । सर्वेषु तद्गुणस्य व्यक्ति प्रार्थयतेनेनमन्त्रेण ॥३।१६॥

८२१. वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो‡ अह्नां प्रतरीतोषसां
* दिवः । §प्राणा सिन्धूनां& कलशां अचिक्रद दिन्द्रस्य
हार्द्यविशन्मनीषिभिः ॥ १।१७ ॥ (ऋ. ९।८६।१९)

---

† 'वनामहै' इत्यृक्पाठः ।
‡ अह्न इत्यृक्पाठः । *"''तोषसो''''इत्यृक्पाठः ।
§ क्राणा इत्यृक्पाठः । & कलशाँ इत्यृक्पाठः ।

वृषा मतीनामिति । सिकता निवावरी ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । जगतीछन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥†

८२२. मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कविर्नृभिर्यतः परि‡ कोशां *असिष्यदत् । त्रितस्य नाम जनयन्मधु§ क्षरन्निन्द्रस्य£ वायुं सख्याय ¶वर्धयन् ॥ २।१७ ॥ (ऋ. ९।८६।२०)

मनीषिभिः पवत इति । ऋष्यादय उक्ताः । पूर्व्यः सर्वेषां पदार्थानां पूर्णभवः कविः क्रान्तदर्शी सोमः परमेश्वरो मनीषिभिर्मेधाविभिर्नृभिर्जनैर्यतो ध्यातः पवते गच्छति । ध्यातॄणां हृदये प्राप्नोतीतिभावः । यमनं ध्यानमेव । परि कोशान् क्रोशतो जनान् अथवा कोशो हृदयम् । हृदयानि परि । परितः असिष्यदत् सीदति । पावित्र्यं सम्पादयेत्येवं शब्दं कुर्वतो जनान् परितः स परमात्मा सदैव तिष्ठतीति भावः । किं कुर्वन् ? त्रितस्य त्रीतस्य त्रीन् जन्मजरामृत्यून् इतस्य प्राप्तस्य । त्रितस्त्रिस्थान इन्द्र इति यास्कः (नि० ९।२५) । त्रितस्येति च्छान्दसो ह्रस्वः । इन्द्रस्य जीवस्य सख्याय मैत्रीसम्पादनाय सौख्यायेति यावत् । मधु मधुरं नाम आरोग्यम् । अरोगं रोगाभावं वा । अम रोगे । नामेत्युदकनाम (निघ० १।१२।७९) । इदमिहोपेक्षितम् । न आमयति अनेन रोगी न भवत्यनेनेत्यर्थं इत्याह श्रीदेवराजयज्वापि । जनयन्नुत्पादयन् । यत्र परमात्मचिन्तनं भवति तत्र स्वास्थ्यं वर्धते न तु रोग इति तात्पर्यम् । पुनः किं कुर्वन् । वायुरात्मा जीवः । 'वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्यादृगतिक-

† पूर्वाचिके ५५९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ कोशाँ इत्यृक्पाठः ।
* अचिक्रददित्यृक्पाठः ।
§ क्षरदिन्द्र''''इत्यृक्पाठः ।
£ वायोरित्यृक्पाठः ।
¶ कर्तवे इत्यृक्पाठः ।

र्मणः । एतेरिति स्थौलाष्ठीविः, अनर्थको वकारः' (नि० १०।१) । जीवोपि गच्छत्येवोर्ध्वाधःस्थानेषु । तं वायुं जीवं वर्धयंस्तस्योन्नतिं साधयन्नितिभावः ॥ २।१७ ॥

८२३. अयं पुनान उषसो †अरोचयदयं सिन्धुभ्यो अभवदु लोककृत् ।
अयं त्रिः सप्त दुदुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः ॥ ३।१७ ॥

अयं पुनान इति । छन्दोदेवते उक्ते । ऋषिः पृश्नियोजाः । अयं सोमः परमेश्वरः उषसः उषसि । सप्तम्यर्थे षष्ठी छान्दसी । पुनानः पवित्रान् कुर्वाणो लोकानिति शेषः । अरोचयद्व्यरोचयत् प्राकाशयत् । किं च सिन्धुभ्यः प्रस्रुतहृदयेभ्यः । स्यन्दू प्रस्रवणे । 'स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च' (उ० १।११) इत्युप्रत्ययः । यकारस्य सम्प्रसारणम् । स्यन्दन्ते परमात्मानमुद्दिश्येति सिन्धवो हृदयानि । लोककृदालोककृत्प्रकाशक इति भावः । अभवद् भवति । अयं परमात्मा त्रिः सप्त एकविंशतिं तत्त्वानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च शब्दादयस्तद्विषयाः, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि पञ्च भाषणादयस्तद्विषयाश्चैकं च मनो दुदुहानो दुहानो विरचयन्निति भावः । मत्सरः प्रसन्नः हृदे हृदयसन्तोषाय चारु मनोहरमाशिरमाश्रयम् । आङ्पूर्वाच्छ्रयतेः "क्विब्वचिप्रच्छि०" (३।२।१७८ । वा० १) इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिरित्युक्ते क्विपि प्रकृतेः शीरादेशः । पवते ददाति । दानार्थकोत्र पवतिः ॥ ३।१७ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

---

† विरोचयदित्यन्यपाठः ।

अथ षष्ठः खण्डः

८२४. एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
एवा ते राध्यं मनः ॥ १।१८ ॥ (ऋ. ८।९२।२८)

एवा ह्यसीति । श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्गिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।१८ ॥

८२५. एवा रातिस्तुविमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः ।†
अधा चिदिन्द्र‡ नः सचा ॥ २।१८ ॥ (ऋ. ८।९२।२९)

एवा रातिस्तुविमघेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे तुविमघ परमैश्वर्य इन्द्र परमात्मन् । तुवीति बहुनाम (निघ० ३।१।२) । तवतिर्वृद्ध्यर्थः । सौत्रो धातुः । अ च इः (उ० ४।१३४) । मघमिति धननाम (निघ० २।१०।१) । विश्वेभिः सकलैर्धातृभिर्धारणकर्तृभिः पोषणकर्तृभिर्दयादानदाक्षिण्यादिभिर्गुणैः रातिर्दानं देयं वस्त्विति यावत् । धायि धीयत एव त्वया । अधा अथ नः चित् अस्माकमपि । सचा भवेति शेषः । सचा भव सहायको भव । सचेति सहार्थो निपातः ! अस्माभिः सह भवेति यथाश्रुतोर्थः । अस्माकमपि सहायको भवेति भावार्थः ॥ २।१८ ॥

८२६. मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते ।
मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥ ३।१८ ॥ (ऋ. ८।९२।३०)

मो षु ब्रह्मेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे वाजानां बलानां पते रक्षक स्वामिन्वा इन्द्र । अत्रेन्द्रशब्देनात्मा ग्राह्यः, सामञ्जस्यात् । हे जीव, हे शिष्य । जीवोऽपि तपःप्राप्तयमसंयमादिबलानां स्वामी

† पूर्वार्चिके २३२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ [illegible] ।

भवति। त्वम्। तन्द्रयुरलसः। इवार्थेत्र युः। तथा च यास्कः, "इदंयुरिदं कामयमानः। अथापि तद्वदर्थे भाष्यते। वसूयुरिन्द्रो वसुगानित्यर्थः।" (नि० ६।३१)। आलस्ययुक्तो ब्रह्मेव ब्राह्मण इव। मा उ सु भुवः मैवात्यन्तं भव। अलसो मा भवेति भावः। अतः सुतस्य निष्पादितस्य प्रवृत्तस्य वा गोमतो विद्याविचारवतो गोष्ठीषु गत्वा मत्स्वा माद्य प्रसन्नो भव॥ ३।१८॥

८२७. इन्द्रं विश्वा अवीवृधंत्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम्॥ १।१९॥
(ऋ. १।११।१)

इन्द्रं विश्वेति। जेता मधुच्छन्दस, ऋषिः। इन्द्रो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१९॥

८२८. सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्र‡ नोनुमो जेतारमपराजितम्॥२।१९॥
(ऋ. १।११।२)

सख्ये त इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। शवसस्पते गतिपते वृद्धिपते वा। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः। असुन्। हे इन्द्र परमेश्वर, वाजिनो बलवतः सर्वशक्तिमतस्ते तव सख्ये सखित्वे साहाय्ये सति मा भेम वयं न बिभीमः। जेतारं कामादिसर्वशत्रूणामपराजितं च केनापि त्वामभि त्वां सर्वतः प्र नोनुमः प्रकर्षेण स्तुमः॥ २।१९॥

† पूर्वार्चिके ३४३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ प्रणोनुमो इत्यृक्पाठः।

८३९. पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः ।
†यदा वाजस्य गोमतः स्तोतृभ्यो मंहते मघम् ॥ ३।१९॥

(ऋ. १।११।३)

पूर्वीरिन्द्रस्येति । ऋष्यादय उक्ताः । अत्रेन्द्रः परमात्मा । इन्द्रस्य परमात्मनो रातयो दानानि पूर्वीः पूर्वभवाः अनादिकाल-प्रवृत्ता । अस्योतयो रक्षणानि रक्षणकर्माणि न वि दस्यन्ति नोपक्षीयन्ते । दसु उपक्षये । यदा स्तोतृभ्यः परमेश्वरस्तुतिकर्तृभ्यः-थवा स्तुतकर्मकर्तृभ्यो गोमतो विद्यायुक्तस्य वाजस्य बलस्य सद्विचाररूपस्य । द्वितीयार्थे षष्ठी छान्दसी । विद्याद्युक्तं सद्विचाररूपं बलं मघं तदेव धनम् । मघ इति धननाम (निघ० २।१०।१) मंहते ददाति । मंहते इति दानकर्मा धातुः (निघ० ३।२०।१०) । तदा तु तस्य रक्षणकर्माणि नैव हीयन्त इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥३।१९॥

इति षष्ठः खण्डः

इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमोर्धः । इति तृतीयोध्यायः ।

† 'यदी' इत्युक्पाठः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथ द्वितीयप्रपाठके द्वितीयोऽर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

८३०. एत असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः ।
विश्वान्यभि सौभगा ॥ १।१ ॥ (ऋ. ९।६२।१)

एत असृग्रेति । जमदग्निर्भार्गव ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । विश्वानि सर्वाणि सौभगा सोभाग्यानि अभि उद्दिश्यैते उपस्थिता आशवः क्षिप्रगामिन इन्दवो ब्रह्मचर्यादिव्रतोत्तमैश्वर्यवन्तः कान्तिमन्तो वा उपासकास्तिरः प्राप्तम् । "तिरः सत इति प्राप्तस्य । तिरस्तीर्णं भवति, सतः संसृतं भवति" इति यास्कः (नि० ३।२०) । उपासनाबलेन साक्षात्कृतं पवित्रं परमात्मानम् असृग्रं सृजन्ति पुनः पुनः साक्षात्कुर्वन्तीति भावः । यदोपासकाः आत्मशुद्ध्यादिभिरन्तःकरणे परमात्मानं पश्यन्ति तदा तेषामुत्सवो वर्धते पुनः पुनश्च तथैव ते सृजन्ति कुर्वन्ति । परमात्मदर्शनं नाम परमात्मगुणानां सत्त्वचित्त्वानन्दादीनां स्वस्मिन् प्रादुर्भावः ॥ १।१ ॥

८३१. विघ्नन्तो दुरिता पुरु सुगा तोकाय वाजिनः ।
† त्मना कृण्वन्तो ‡ अर्वतः ॥ २।१ ॥ (ऋ० ९।६२।२)

विघ्नन्तो दुरितेति । ऋष्यादयः प्रोक्ताः । वाजिनो बलवन्तः संयमादिबलवन्तः सोमा उपासकाः पुरु पुरूणि बहूनि दुरितानि,

---

† "तना इत्यृक्पाठः । ‡ अर्वते इत्यृक्पाठः ।

आत्मना स्वयमेव सुगा सुखानि लौकिकानि। तोकाय तोकानि दुःखानि च विघ्नन्तो नाशयन्तः। अर्थतः परमेश्वरं प्रापयितॄन् सद्गुरून् कृण्वन्तः कुर्वन्तः सम्पादयन्त ऊर्ध्वं गच्छन्तीति शेषः। आगतानामागच्छतामागमिष्यतां च सर्वेषां विघ्नानां लौकिकानां सुखानां च प्रणाशः सद्गुरोः प्राप्तिश्चात्मोन्नतेः कारणमित्युक्तं भवति सुग्म्यमिति सुखनाम (निघ० ३।६।८) तत्साम्यात्सुगेत्यपि सुखनाम ॥ २।१ ॥

८३२. कृण्वन्तो वरिवो गवेऽभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम्।

इडामस्मभ्यं संयतम् ॥ ३।१ ॥ (ऋ. ९।६२।३)

कृण्वन्त इति। ऋष्यादयः प्रोक्ताः। गवे विद्यायै अस्मभ्यमाचार्येभ्यश्च सयतं संयमयुक्तं वरिवो भृशं व्रियते यत्तत् धनम्। वरिव इति धननाम (निघ० २।१०।५)। सुष्टुतिं शोभनां स्तुतिम्। इडां दीप्तिं च। ञि इन्धी दीप्तौ इत्यस्माद् अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (पा. ३।३।१९) इति घञ्। पृषोदरादित्वादिन्धेर्नकारलोपो धकारस्य डकारो गुणाभावश्च। कृण्वन्तः कुर्वन्तः सोमाः शिष्या अभ्यर्षन्ति आभिमुख्येन प्राप्नुवन्ति। गुरोरात्मसन्तोषोनेन सूच्यते ॥ ३।१ ॥

८३३. राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि।

अन्तरिक्षेण यातवे ॥ १।२ ॥ (ऋ० ९।६५।१६)

राजा मेधाभिरिति। भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। मनौ मननशीले मनुष्ये अधि सदाचारं समाचरति पवमानः सर्वान् पवित्रान् कुर्वाणो राजा राजमानः परमेश्वरो मेधाभिः संगमैः। हेत्वर्थे तृतीया। संगमं हेतूकृत्य। अन्तरिक्षेण हृदयाकाशप्रदेशे। सप्तम्यर्थे तृतीया छान्दसी। यातवे यातुं प्राप्तुमीयते आगच्छति। यदा यदा उपासकाः सदा-

चारसम्पन्ना मनुष्याः सदाचार एव वर्तमानास्तिष्ठन्ति तदा तदा परमेश्वर उपासकहृदये तान् संगन्तुं प्रादुर्भवत्येव। परमेश्वरप्रादुर्भावः केवलचारित्रशुद्धिविवृद्धिरेव ॥ १।२ ॥

८३४. आ नः सोम सहो जुवो रूपं न वर्चसे भर।
सुष्वाणो देववीतये ॥ २।२ ॥ (ऋ. ९।६५।१८)

आ नः सोमेति। ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः। उपासकाः परमात्मानमाचार्यं वा प्रार्थयन्ते। हे सोम परमेश्वर गुरो वा नोऽस्मभ्यं सहो बलं कामाद्यमित्रमर्दनसमर्थं जुवो गतिं सदाचारप्रवृत्तिरूपां न ज्ञाननिरूपणसामर्थ्यं च। नेति चार्थे। रूप रूपक्रियायाम्। चौरादिकः। अथवा रौति शब्दापयतीति रूपम् स्तुतिकरणसामर्थ्यं वा। "खष्पशिल्पशष्पवाष्परूप"(उ० ३।२८) इति निपातितः। देववीतये परमेश्वरज्ञानाय सुष्वाणोऽभिषूयमाणः सेव्यमान उपस्थाप्यमानो वा त्वं वर्चसेऽस्माकमुपासकानां तेजसे तेजोविवृद्ध्यर्थमितियावत्। आभर आहार ॥ २।२ ॥

८३५. आ न इन्दो† शातग्विनं गवां पोषं स्वश्व्यम्।
वहा भगत्तिमूतये ॥ ३।२ ॥ (ऋ. ९।६५।१७)

आ न इन्द इति। ऋष्यादयः प्रोक्ताः। हे इन्दो दीप्तिमन् भगवन्, नोऽस्मभ्यं बहुसंख्याभिर्गोभिर्वाग्भिर्विद्याभिरित्यर्थः, युक्तं गवां पोषं पोषणसामर्थ्यं स्वश्व्यं शोभनविद्याव्याप्तिं शोभनविद्याप्राप्तिं वा। भगत्तिं भगदानमैश्वर्यदानं च। ऊतयेऽस्माकं रक्षणाय। आ वहा आवह प्रापय। भगशब्देन न लौकिकैश्वर्यं ग्राह्यम्। लौकिकाः सर्व एव पदार्थाः स्वपुरुषार्थेनैव प्राप्या। न तदर्थं

† शतग्विनमित्यृक्पाठः।

परमेश्वरः क्लेशनीयः। न चेदं कार्यं परमेश्वरः कदापि करोति ॥ ३।२ ॥

८३६. तं त्वा नृम्णानि विभ्रतं सधस्थेषु महो दिवः।
चारुं सुकृत्ययेमहे ॥ १।३ ॥ (ऋ. ९।४८।१)

तं त्वा नृम्णेति। कविर्भार्गव ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। हे सोम परमात्मन्, सधस्थेषु सहस्थानेषु यत्र सर्वे संगत्य तिष्ठन्ति तेषु स्थानेषु। सधस्थे सहस्थाने इति यास्कः (नि० ३।१५)। दिवो द्युलोकस्य मोदात्मकस्य महस्तेजो नृम्णानि बलानि। नृम्णमिति बलनाम (निघ० २।९।९)। "नृम्णां च बलं, नृन् नतम्" इति यास्कः (नि० ११।९)। चारुं शुभं च बिभ्रतं धारयन्तं त्वा त्वाम् सुकृत्यया शोभनक्रियया। हेत्वर्थे तृतीया। विद्या वसतीतिवत्। शोभनक्रियानिमित्तमीमहे याचामहे। ईमहे इति याच्ञाकर्मा (निघ० ३।१९।१) ॥ १।३ ॥

८३७. संवृक्तधृष्णुमुक्थ्यं महामहिव्रतं मदम्।
शतं पुरो रुरुक्षणिम् ॥ २।३ ॥ (ऋ. ९।४८।१)

संवृक्तधृष्ण्विति। ऋष्यादयः प्रोक्ताः। हे सोम परमेश्वर, संवृक्तधृष्णुं संवृक्ता निषेधिता धृष्णवः शत्रवो येन सः तम्। वृजी वर्जने। धृषु प्रसहने। सर्वशत्रूच्छेदकम्। उक्थ्यं प्रशस्यम्। उक्थ्य इति प्रशस्यनाम (निघ० ३।८।६)। वच परिभाषणे। थक् प्रत्ययः (उ० २।६) सम्प्रसारणं च। उक्थशब्दः स्तुतिपर्यायः। उक्थमर्हतीत्युक्थ्यं स्तुत्यम्। महामहिव्रतं महान्ति महीनि बहूनि व्रतानि कर्माणि यस्य स तम्। निरुक्ते "प्र वो महे" इति मन्त्रे स्थितस्य महिशब्दस्य महदिति व्याख्यानम्। महद्रूपोर्थो महाशब्देनैवोपलभ्यतेतो महिशब्दस्य "बहु" इत्यर्थो मया स्वीकृतः। मदमाह्लादकम्। पुरो निवासस्थानानि असुराणां वृत्तिरूपाणि शत्रूणां

कामादीनां शतं शतानि बहूनि रुरुक्षणि भञ्जयन्तम् । रुजो भङ्गे । त्वामीमहे याचामहे दिव्यानि धनानीति पूर्वतो ग्राह्यम् । वेदेषु समस्ताः शब्दा अत्यल्पाः । अस्मिन्मन्त्रे द्वे पदे समस्ते इति ध्येयम् ॥ २।३ ॥

८३८. अतस्त्वा† रयिरभ्ययद्राजानं सुक्रतो दिवः ।
सुपर्णो‡अव्यथी भरत् ॥ ३।३ ॥ (ऋ. ९।४८।३)

अतस्त्वेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सुक्रतो सत्कर्मन् ईश्वर, अतोस्मादेव हेतोस्त्वं सर्वेषां द्विषतामुच्छेदकरो महनीयकर्मा चेति-हेतोः सुपर्णः शोभनरक्षायुक्तोव्यथी अत एव सर्वव्यथाविरक्तस्त्वदु-पासकः । रयिः अभि रयिमभि । द्वितीयार्थे प्रथमा । रयिर्धनम् । रयिरिति धननाम । रतिर्दानकर्मणः इतियास्कः (नि० ४।१७) । ज्ञानधनमभिलक्ष्य त्वा त्वां अयत् आयत प्राप्नोत् । अय गतौ । आडभावः पदविपर्ययश्च छान्दसः । राजानं दीप्यमानं दिवो दिव्य-लोकात् । सद्विचारात् । भरदाहरत् ॥ ३।३ ॥

८३९. अधा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे ।
अभिष्टिकृद्विचर्षणिः ॥ ४।३ ॥ (ऋ. ९।४८।५)

अधा हिन्वान इति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः । अधा अथ । विच-र्षणिर्विविधद्रष्टा । विचर्षणिरिति पश्यतिकर्मा (निघ० ३।११।६) । सोमः परमात्मा । अभिष्टिकृदभीष्टसम्पादकः । इन्द्रियमैश्वर्यं सत्य-सदाचाररूपम् । इन्द्रियमिति धननाम (निघ० २।१०।१४) । हिन्वानः प्रेरयन् ददत् । हि गतौ । ज्यायोधिकं महित्वं पूज्यत्व-मानशे प्राप्नोति ॥ ४।३ ॥

† रयिमभिराजनम् इत्यृक्पाठः ॥ ‡ अव्यथिर्भरदित्यृक्पाठः ।

८४०. विश्वस्मा† इत्स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम् ।
गोपामृतस्य विर्भरत् ॥ ५।३ ॥ (ऋ० ९।४८।४)

विश्वस्मा इति । ऋष्यादयः उक्ताः । विश्वस्मा इत् विश्वस्मै सर्वस्मा एव स्वर्दृशे परमेश्वरदृशे परमेश्वरदर्शनोत्साहवते उपासकाय साधारणं सर्वैः सामान्येन प्राप्यं रजस्तुरं ज्योतिर्गमयितारम् । रजइति ज्योतिर्नाम (निघ० ४।१।३९) । तुरीयतीति गतिकर्मा नैरुक्तो धातुः । तस्मादेव तुरेतिपदं निष्पन्नम् । अमृतस्य मोक्षस्य सत्यस्य वा गोपां गोपायितारं सोमाख्यं परमेश्वरं विः उपासकः । गतिकर्मणो वेतेर्निष्पन्नो विशब्दः । वेति गच्छति परमात्मानामाचार्यं वेति विः । "विरिति शकुनिनाम वेतेर्गतिकर्मणः । अथापीषुनामेह भवत्येतस्मादेव" इति यास्कः (नि० २।६) । वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रम्······(ऋ०) इति मन्त्रेपि विशब्दो जीववाचक एव । अथापीषुनामेहेति वदता भगवता यास्केन विरिति विहग एवेति निर्बन्धो दूरमपसारितः । तेन विर्जीव उपासक एव । भरत् आभारत् आहरत् आहरतीत्यर्थः ॥ ५।३ ॥

८४१. इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।
इन्द्रो रुचाभि गा इहि ॥ १।४ ॥ (ऋ. ९।६४।१३)

इषे पवस्वेति । कश्यपो मारीच ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्यांख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।४ ॥‡

८४२. पुनानो वरिवस्कृध्यूर्जं जनाय गिर्वणः ।
हरे सृजान आशिरम् ॥ २।४ ॥ (ऋ. ९।६४।१४)

† इ स्वर्दृशे इत्योंघपुस्तकपाठः ।
‡ पूर्वार्चिके ५०५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

पुनान इति। ऋष्यादय उक्ताः। हे गिर्वणो गीर्भिर्वननीय। गीःशब्दोपपदात् वनोतेर्ण्यन्तादसुन्। घटादित्वेन मित्वाद्ध्रस्वत्वम्। गिर्वण इति दीर्घाभावश्छान्दसः। गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्तीति यास्कः (नि० ६।१४)। हरे सर्वपापापहारक सोम परमेश्वर। टुवम उद्गिरणे। वमति वहिर्निष्काशयति सर्वान् पदार्थानित्युमा शक्तिः। शक्त्यैव सर्वे पदार्था विरचिता भवन्ति। वमतेः कप्रत्ययः। छान्दसं सम्प्रसारणम्। अजादित्वाट्टाप्। उमया शक्त्या सह वर्तमानः सोमः परमात्मा। तत्सम्बुद्धौ सोम। आशिरं शरणम्। आशीराश्रयणाद्वा श्रपणाद्वेति यास्कः (नि० ६।८)। सृजानो ददानः। पुनानः सर्वान्। जनाय स्वभक्तायोपासकाय वरिवो धनं मोक्षरूपं सत्यसदाचार रूपं वा। ऊर्जं बलं मानसिकं च कृधि कुरु॥ २।४॥

८४३. पुनानो देववीतये इन्द्रस्य याहि निष्कृतम्।
द्युतानो† वाजिभिर्हितः॥ ३।४॥ (ऋ. ९।६४।१५)

पुनानो देववीतय इति। ऋष्यादय उक्ताः। हे सोम सर्वशक्तिमन्नीश्वर! हितः सर्वेषां हितसम्पादकस्त्वं वाजिभिरनन्तबलैरनन्तशक्तिभिर्वा सर्वान् पुनानः पावित्र्यं नयन् देववीतये देवानामुपासकमनुष्याणां वीतये पानाय रक्षणाय वा कान्तिप्रदानाय वा। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। द्युतानो द्योतमानः। इन्द्रस्योपासकजीवस्य निष्कृतं नितरां कृतं सुसज्जितं पवित्रमिति यावत् मन इत्यध्याहार्यम्। याहि प्राप्नुहि॥ ३।४॥

इति प्रथमः खण्डः

---

† वाजिभियंत इत्यृक्पाठः।

अथ द्वितीयः खण्डः

८४४. अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा ।

हव्यवाड् जुह्वास्यः ॥ १५ ॥ (ऋ. १।१२।६)

अग्निनाग्निरिति । मेधातिथिः काण्वः ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । अग्निना सर्वगतिना परमात्मना । अग्निर्देहाद्देहान्तरं गच्छतीति जीवः । अगि गतौ । समिध्यते दीप्यते । परमात्मना संगतो जीवः संदीप्यते प्रकाशत इति भावः । कीदृशोग्निः । कविः क्रान्तदर्शी । 'मेधावी कविः । क्रान्तदर्शनो भवति । कवतेर्वेति यास्कः (नि० १२।१३) क्रामतेर्वा । क्राम्यति जीवो देहाद्देहान्तरम् । गृहपतिरन्तःकरणस्वामी । गृह्यन्ते सर्वाणि वस्तूनि येन तदन्तःकरणं मनः । तस्य पतिः । गृहस्वामीत्येव वा । युवा परमेश्वरार्चकः । अर्चार्थो यौतिर्नैरुक्तो धातुः (निघ० ३।१४।२७) । हव्यवाड् हव्यः परमेश्वरः । हूयत आदीयते मनसीति हव्यः । तं वहतीति हव्यवाट् । जुह्वास्यो जुहूर्मन आस्यं क्षेपणीयं यस्य सः । हु दानादनयोः । जुहोति अत्ति गृह्णाति सर्वानेव विकारान् या सा जुहूर्मनः । मन एव सर्वान् विकारान् गृह्णाति । तादृशं मनो यस्य क्षेपणीय भवत्युपासकस्य स जुह्वास्यः ॥ १५ ॥

८४५. यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति ।

तस्य स्म प्राविता भव ॥ २।५ ॥ (ऋ. १।१२।८)

यस्त्वामग्न इति । ऋष्यादयः उक्ताः । हे अग्ने सर्वव्यापक परमेश्वर, हे देव दिव्यगुणविशिष्ट, यो हविष्पतिर्जीवः । हूयत इति हविर्मनः । तस्य पती रक्षको विषयेभ्यो (जीवः) । दूतं त्वामाह्वयतो भक्तस्य समीपं गन्तारम् । दवति गच्छतीति दूतः । दुधातोः - "दुतनिभ्यां दीर्घश्च" (उ० ३।९०) हविष्मान् । त्वां सपर्यति परि-

चरित तस्य त्वच्छरणापन्नस्य जीवस्य । त्वं प्राविता प्रकर्षेण रक्षिता भव स्म भवस्येव । लकारव्यत्ययश्छान्दसः । स्मेत्येवार्थेऽव्ययः ॥ ३।५ ॥

८४६. यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति ।
तस्मै पावक मृडय ॥ ३।५ ॥ (ऋ. १।१२।९)

यो अग्निमिति । ऋष्यादय उक्ताः । हे पावक सर्वस्य सर्वथा संशोधक परमेश्वर, यो हविष्मान् पवित्रान्तःकरणो जीवो देववीतये देवस्य परमात्मनस्तव प्राप्तये । वी गतौ गत्यर्थाः प्राप्त्यर्था: अपि । वीतये पानायेति यास्कः (नि० ५।१८) । तन्मते देवस्य तव पानं दर्शनम् । तदर्थम् । अग्निं सर्वप्रकाशकं त्वाम् आविवासति परिचरति । परिचर्या सेवा । येन कर्मणा यः प्रसीदति तत्तस्य सेवा । नहि परमेश्वरो जलपुष्पाक्षतमिष्टान्नाद्यपेक्षते । स तु अबुभुक्षुरपिपासो वर्तते । अकाम आप्तकामश्च । तेन न स्वार्थं किमपीहमानस्तिष्ठति । सर्व एवेश्वरपुत्राः सत्यसदाचारादिसत्कर्मप्रवणा भवेयुरित्येव तस्य माङ्गलिकः कामः । अतः सत्यसदाचाराद्यनुष्ठानमेव तस्य वास्तविकी सेवा । परोपकारोपि तस्य सेवैव । ईदृशीं यः परिचर्यां परिचरति तस्मै तं मृडयं सुखय । द्वितीयार्थे चतुर्थी छान्दसी ॥ ३।५ ॥

८४७. मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् ।
धियं घृताचीं साधन्ता ॥ १।६ ॥ (ऋ. १।२।७)

मित्रं हुव इति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । मित्रावरुणौ देवता । गायत्री छन्दः । पूतदक्षं पवित्रबलम् । दक्ष इति बलनाम (निघ० २।९।१४) । रिशादसं रिशतां शत्रूणामसितारं क्षेप्तारं नाशयितारमित्यर्थः । मित्रं सर्वेषु जीवेषु स्निग्धं वरुणं वरणीयं च

परमात्मानं हुवे आह्वयामि। सर्वदा सर्वत्र स्निग्धो भवितुं वरणीयो भवितुं दुष्टसंहारको भवितुं च परमेश्वरं स्मरामि। तद्धर्मावाप्तिरेव तत्स्मृतिफलम्। कीदृशो मित्रो वरुणश्च ? घृताचीं घृतं दीप्तिमञ्चति गच्छति पूजयतीति वा दीप्तिसम्पन्नामित्यर्थः। धियं प्रज्ञां साधन्ता साधयन्तौ कुर्वन्तौ। नह्यत्र मित्रो वरुणश्च पृथग्देवता। तयोः सहावस्थानं भाषासम्प्रदायसिद्धम्। अनयोः शब्दयोः सहावस्थयोरर्थस्तु समानः परमेश्वररूपोऽत्रेति बहुश उक्तमत्रापि स्मर्तव्यम्॥ १।६॥

८४८. ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।
क्रतुं बृहन्तमाशाथे॥ २।६॥ (ऋ. १।२।८)

ऋतेत मित्रेति। ऋष्यादय उक्ताः। मित्रो वरुणश्च देवतात्रापि। ते च न भिन्ने देवते इत्युक्तमेव। हे स्नेहयुक्त वरणीय परमात्मन्, बृहन्तं महान्तम्। क्रतुं कर्तारं पुण्यकर्मकर्तारमुपासनाकर्तारं वा जीवम्। अथवा क्रतुं प्रज्ञास्वरूपम्। क्रतुरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९।५)। महान्तमित्युक्तं तत्सत्कर्मप्रवणत्वेन जीवस्य स्वरूपमहत्त्वेन वापि संगच्छते। विशिष्टाद्वैतवादिनो जीवस्वरूपमणु स्वीकुर्वन्ति। तदौपनिषदं मतमिति समाधेयम्। वैदिकमते तु तत्स्वरूपमण्वनणु चेति। अणु सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्। अनणु बृहन्महदित्यर्थं। आशाथे मित्ररूपेण वरुणरूपेण च त्वमश्नुषे व्याप्नोषि। विकरणव्यत्ययश्छान्दसः। कीदृशो मित्रः कीदृशश्च वरुण इति ? ऋतावृधौ सत्यस्य वर्द्धयितारौ। ऋतस्पृशा ऋतस्पृशौ सत्यस्य स्प्रष्टारौ दातारावितितात्पर्यम्। परमात्मा स्वरूपेणर्तेनोपासकानामृतं वर्धयतीतिभावः॥ २।६॥

८४९. कवी नो मित्रावरुणा तुवीजाता उरुक्षया।
दक्षं दधाते अपसम्॥ ३।६॥ (ऋ० १।२।९)

कवी नो मित्रेति। ऋष्यादय उक्ताः। मित्राख्यो वरुणाख्यश्च स परमात्मा कवी क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ इति भावः। तुविजातौ बहुजातौ बहुधा जातः। परमैश्वरस्यैवदं जगद्विस्तारः। जगद्रूपेण स एव परिणतः। यद्यपि परिणामवादोनेनायाति। एवं च परमेश्वरः परिणामी स्यात्। परिणामश्चैको विकारः षट्सु विकारेषु। परिणामित्वादनित्योपि स्यात्सः। तथापि प्रकृतिरूपेण स्वशरीरभूतेन द्वारा परिणममानः स न विकारभाग्भवति। सर्व एव विकारास्तस्य शरीरभूतायां प्रकृतावेव भवन्ति, शरीरशरीरिणोरभेदं स्वीकृत्य शरीरिणि तानारोपयन्ति। आरोपितं च वस्तु न धर्मिणं सविकारं कर्तुं शक्नोति। गुञ्जापुञ्जे वह्निरारोपितो न दाहाय प्रभवति। तुवीति बहुनाम (निघ० ३।१।१२)। तवतिर्वृद्ध्यर्थः सौत्रो धातुः। अच इः। (उ० ४।१३४)। उरुक्षयौ उरुः क्षयो निवासो ययोस्तौ उरुक्षयौ। उरु इति बहुनाम (नि० ३।१।११)। क्षि निवासे। एवं च बहुनिवासः सर्वव्यापक इति भावः। ईदृशः परमात्मा नोस्माकमुपासकानां सन्मार्गगामिनां जीवानां वा दक्षमुत्साहम्। बलं वा। दक्ष इति बलनाम (निघ० २।९।१४)। दक्षतिरुत्साहकर्मेति निरुक्तम् (१।६)। अपसं कर्म पवित्रं कर्मेत्यर्थः। दधाते पुष्णाति। अप इति कर्मनाम (निघ० २।१।१)॥ ३।६॥

८५०. इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा।
मन्दू समानवर्चसा ॥ १।७ ॥ (ऋ० १।६।७)

इन्द्रेण सं हीति। मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः। मरुतः इन्द्रश्च देवता। गायत्री छन्दः। मधुच्छन्दाः स्वं शिष्यमुपदिशति—अबिभ्युषा भीतिरहितेन। ञिभी भये। क्वसुः। नञ्समासः। इन्द्रेण परमात्मना संजग्मानः संगच्छमानस्त्वं सं दृक्षसे सम्यग् दृश्यसे। स च त्वं च कीदृशौ? मन्दू मदिष्णू। समानवर्चसौ तुल्यतेजस्कौ।

परमात्मनः सायुज्येन जीवेपि तद्धर्मापत्तिर्भवत्येवेत्युक्तम् । परमेश्वरोपासनयोपासके दृश्यमानेन तेजसा परमेश्वरोपि सतेजो इति गम्यते । हिर्निश्चयार्थे निरुक्तेपि मन्त्रोयं व्याख्यातस्तथाहि—'इन्द्रेण संदृश्यसे संगच्छमानोबिभ्युषा गणेन । मन्दू मदिष्णू युवां स्थः, अपि वा मन्दुना तेनेतिस्यात् । समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम्' (४।१२) । निरुक्तमते 'अविभ्युषा इन्द्रेण संजगमानस्त्वं च स च मन्दू समानवर्चसी च दृश्येथे' इति व्याख्यातव्यं भवति ।। १।७ ।।

८५१. आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे ।
दधाना नाम यज्ञियम् ।। २।७ ।। (ऋ० १।६।४)

आदहेति । ऋष्यादय उक्ताः । देवता अस्य मरुत एव नेन्द्रोपि । आदहेत्यत्र आत् अहेत्यव्ययद्वम् । आदित्यानन्तर्यार्थको निपातः । अहेत्यवधारणार्थः । परमेश्वरलीनतासम्मादनानन्तरमेव । स्वधाम् स्वस्मिंस्तं परमात्मनं दधातीति स्वधा तम् । यज्ञियं यज्ञार्हं नाम दधाना यज्ञार्हा ज्ञानिनः । अनु तं लक्ष्यीकृत्य । पुनर्गर्भत्वं पुनर्गर्भभावम् एरिरे कम्पयन्ति दूरीकुर्वन्तीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति । यदा परमेश्वरोपासकस्तल्लीनो भवति तदनन्तरमेव स्वस्मिन्परमात्मभावमवतारयति । पारमेश्वरधर्मैरात्मानं धर्मिणं कुरुते । तदा च यज्ञार्हा ज्ञानिनस्तस्य पुनर्जन्म न मन्वते । गर्भशब्देन गर्भगतो जन्तुरुच्यते । एवं च पुनर्गर्भजन्तुत्वं न स प्राप्नोतीति भावः ।।२।७।।

८५२. वीडु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः ।
अविन्द उस्रिया अनु ।। ३।७ ।। (ऋ०.१।६।५)

वीडु चिदेति । ऋष्यादय उक्ताः । ऋषिः संसारसरणोपरतः कंचन स्वशिष्यं प्रशंसति । चिदिन्द्र चितां जीवानामिन्द्र सर्वश्रेष्ठ जीवेतिभावः । चिदारुजत्नुभिश्चिच्छक्तिपीडनशीलाभिर्वह्निभिर्वा-

हिकाभिर्नेत्रीभिरन्तःकरणवृत्तिभिरुस्रिया रश्मयो ज्ञानरश्मयो गुहा गुहायामज्ञानान्धकार इत्यर्थः। स्थापिता इत्यध्याहार्यम्। तानुस्रियान्रश्मींस्त्वं वीडु वीडुना बलेन। ज्ञानसम्पादनप्रीतिरेव बलम्। ज्ञानसम्पादनप्रीतिमता सत्यसदाचारादिनिषेवणं परमावश्यकम्। अनु पश्चात् अविन्द लब्धवानसि ॥ ३।७ ॥

८५३. ता हुवे ययोरिदं पप्ने विश्वं पुरा कृतम्।
इन्द्राग्नी न मर्धतः ॥ १।८ ॥ (ऋ. ६।६०।४)

ता हुवे इति। भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः। इन्द्राग्नी देवता। गायत्री छन्दः। धर्मविशेषेण धर्मिविशेषमङ्गीकृत्य द्विवचनम्। अग्निः सर्वप्रकाशकः सर्वगो वा। इन्द्रः परमैश्वर्यसम्पन्नो दीप्तिमान् वा। ता तौ इन्द्रमग्निं च परमात्मानं हुवे आह्वयामि। ययोर्याभ्यामिन्द्रेणाग्निना च पुरा कृतमिदं विश्वं जगत् पप्ने पन्यते सर्वैः स्तूयते। तौ च इन्द्रोग्निश्च न मर्धतो न हिंस्तः। सर्वदा रक्षत एवेति भावः। मृधु हिंसायाम् ॥ १।८ ॥

८५४. उग्रा विघनिना मृध इन्द्राग्नी हवामहे।
ता नो मृडात ईदृशे ॥ २।८ ॥ (ऋ. ६।६०।५)

उग्रा विघनिनेति। ऋष्यादय उक्ताः। उग्रा उग्रौ भयङ्करौ दुर्जनानामितिभावः। मृधो हिंसकाञ्शत्रून् दुर्जनान् दुरिन्द्रियरूपान्वा। विघनिना विघनिनौ हतवन्तौ। इन्द्राग्नी इन्द्ररूपोग्निरूपश्च परमात्मा सर्वानेव दुष्टान्हन्तीत्यर्थः। इन्द्राग्न्यपेक्षया द्विवचनं गौणम्। ईदृशे विपत्तिकाले साहाय्यप्रदानावसरे ता तौ नोस्मान् मृडाते पालयतः। परमात्मास्मान्पालयत्येव कष्टकरेषु दिनेषु। अथवोपदयते सोस्माकम्। मृडतिर्दानकर्मा (नि० १०।१५) मृडयतिरुपदयाकर्मा पूजाकर्मा वा (नि० १०।१६)। तमेव परमेश्वरं हवामहे आह्वयामः ॥ २।८ ॥

८५५. *हथो वृत्राण्यार्या *हथो दासानि सत्पती ।
*हथो विश्वा अप द्विषः ॥ ३।८ ॥ (ऋ० ६।६०।६)

हथो वृत्राण्येति । ऋष्यादय उक्ताः । हे आर्यौ श्रेष्ठतमौ सत्पती सतां रक्षकौ, वृत्राणि सत्ववृत्त्यावरकाणि पापानि हथो हिंस्थः । दासानि उपक्षयकर्तॄणि कर्माणि हथः । विश्वाः सर्वा द्विषः शत्रुभूता अन्तःकरणवृत्तीर्दुर्वृत्तीरिति भावः । अप हथः विनाशयथः । सर्वाण्येवानिष्टानि वारयथ इति भावः । "वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः । त्वाष्ट्रोसुर इत्यैतिहासिकाः । अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति । वृत्तवृत्तु खलु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च । विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार, तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिरे आपः" (नि० २।१६) इति 'वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्ता वर्धतेर्वा ।' 'यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । 'यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते ।' यदवर्धत तद् वृतस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते" इति च यास्काचार्याः । अब्ज्योतिः संसर्गेण वर्षा भवन्ति । तयोः संसर्ग एव समररूपेण वर्णितोन्यत्र । मेघो जलस्रोतांस्यावृणोति । इन्द्रो ज्योतिस्तन्निवारयति तेन स्यन्दन्त आप इति वैदिकः पन्थाः ॥ ३।८ ॥

इति द्वितीयः खण्डः



* "हतो" इत्युभयपाठः ।

अथ तृतीयः खण्डः

८५६. अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम् ।
समुद्रस्याधि† विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो‡ मदच्युतः ॥१॥१९॥
(ऋ. ९।१०७।१४)

अभि सोमास इति । सप्तर्षय ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । विषमा बृहती छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः * ॥ १।९ ॥

८५७. तरत्समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत् ।
§अर्षा मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र& हिन्वान ऋतं
बृहत् ॥ २।९ ॥ (ऋ. ९।१०७।१५)

तरत्समुद्रमिति । सप्तर्षय ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । समा सतो बृहती छन्दः । राजा दीप्यमानो देवो दिव्यगुणः ऋतमृतः सत्यः पवमानः स्वस्य पवित्रकर्त्ता सोमो जीवः । ऊर्मिणा ऊर्मिणं महोर्मि बृहत् बृहन्तं समुद्रं संसाररूपं तरत् तरति । बृहत् महद् ऋतं सत्यं प्रति वरुणस्य वरणीयस्य । निष्कपटस्येति यावत् । मित्रस्य सुहृदो धर्मणा धर्मेण प्र हिन्वानः प्रेरयन्नन्यान् अर्षा अर्षयिता प्रापयिता च । पवित्रात्मा स्वयं तरत्यन्यांश्च तारयतीति भावः ॥ २।९ ॥

---

† "विष्टपि" इत्यृक्पाठः ।

‡ "स्वर्विदः" इत्यृक्पाठः ।

* पूर्वार्चिके ५१८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

§ "अर्षन्" इत्यृक्पाठः ।

& "हिन्वात" इत्यजमेरपुस्तकपाठः ।

८५८. †नृभिर्येमाणो हर्यतो विचक्षणो राजा देवः
‡समुद्र्यः ॥ ३१९ ॥ (ऋ. ९।१०७।१६)

नृभिर्येमाण इति । ऋषिदेवते उक्ते एव । छन्दो द्विपदा विराट् । पारमेश्वरं स्वरूपमनेनमुपवर्ण्यते । नृभिः सत्यसदाचारसम्पन्नैर्जनैर्येमानो नियम्यमानो वशीकृतः । हर्यतः सर्वेष्टः सर्वस्पृहणीयो वा । हर्यतिः प्रेप्साकर्मेति यास्कः (नि० २।१०)। विचक्षणः विशेषेण द्रष्टा सर्वद्रष्टेत्यर्थः । राजा दीप्यमानः । देवः कान्तो मनोहरः । समुद्र्यः समुद्रियः आन्तरिक्षः । समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम (निघ० १।३।१५)। अत्र हृदयान्तरिक्षं ग्राह्यम् । हृदयान्तरिक्ष एव तत्प्रतीतिर्भवति ॥ ३१९ ॥

८५९. तिस्रो वाच ईरयति प्रवह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥ ११० ॥ (ऋ. ९।९७।३४)

तिस्रो वाच इति । पराशरः शाक्त्य ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः पूर्वार्चिके* ॥ ११० ॥

८६०. सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः ।
सोमः सुतऽ§ ऋच्यतेऽ§ पूयमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः
तं नवन्ते ॥ २११० ॥ (ऋ. ९।९७।३५)

सोमं गाव इति । गावो गवां स्तोतॄणां सताम् । गोरिति स्तोतृनाम (निघ० ३।१६।७) विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः । धेनवो

† नृभिर्येमानः इत्यृक्पाठः । ‡ समुद्रियः इत्यृक्पाठः ।
* पूर्वार्चिके ५२५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
§ पूयते इत्यृक्पाठः । § अज्यमानः इत्यृक्पाठः ।

वाचः । धेनुरिति वाङ्नाम (निघ० १।११।५२)। धेट् पाने । "धेट इच्च" (उ० ३।३३) इति नु प्रत्ययः । सोमं परमात्मानं वावशानाः आह्वयन्तः प्रार्थयमाना वा । वशकान्तौ वाश्रृशब्दे वा । लिटः कानज्वा । न वशः इति यङि लिटि सम्प्रसारणनिषेधात्कानच्यपि न भवति । भवन्ति । सन्तः सर्वदा तं स्मरन्तीति भावः । विप्रा विद्वांसः । विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१)। मतिभिर्विद्वद्भिः । मतिरिति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।२२)। पृच्छमानाः पृच्छ्यमाना भवन्ति । विद्वांसः परस्परं परमात्मविषयिणीमेव चर्चां कुर्वन्तस्तिष्ठन्तीतिभावः । पूयमानः पवमानः सुतो निष्पादितः प्रार्थनाकाले उपस्थापितो मनसा, सोम ऋच्यते स्तूयते । त्रिष्टुभस्त्रैकालिकीं भगवदर्चां कर्तारः । स्तोभतिरर्चाकर्मा (निघ० ३।१४।३)। अर्काः मन्त्राः । देवा विद्वांसो वा । 'अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति । अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्तीति यास्काचार्याः (नि० ५।४)। सोमे परमात्मन्येव सं नवन्ते संगच्छन्ते संगता भवन्तीति भावः । नवते, गतिकर्मा (निघ० २।१४।२९)॥ २।१० ॥

८६१. एवा नः सोम परिषिच्यमान आ अवस्व पूयमानः स्वस्ति । इन्द्रमा विश बृहता|मदेन वर्धया वाचं जनया पुरन्धिम् ॥ ३।१० ॥ (ऋ० ९।९७।३६)

एवा नः सोमेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम परमात्मन्, परिषिच्यमानोनुदिनं वर्धमानया श्रद्धया तर्क्यमाणो ध्यायमानो वा पूयमानः पवमानः सर्वेषु पावित्र्यं दधानस्त्वम् । नोस्माकं स्वस्ति एव कल्याणमेवापवस्व आ गमय प्रापयेति भावः । पवते, गतिकर्मा

† रवेणेत्यपपाठः ।

(निघ० २।१४।१०८)। बृहता महता मदेन हर्षेण। इन्द्रं जीवमुपासकम्। जातावेकवचनम्। जीवानिति भावः। आ विश समन्तात्प्रविश। वाचं विद्यामस्य एषां वर्धय वृद्धिं नय। पुरन्धि बहुधियः। व्यत्ययेनैकवचनम्। 'पुरन्धिर्बहुधीः' इति यास्कः। जनय प्रकटय ॥ ३।१० ॥

इति तृतीयः खण्डः



अथ चतुर्थः खण्डः

८६२. यद्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।

न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥१।११॥

(ऋ० ८।७०।५)

यद्याव इति। पुरुहन्मा आङ्गिरस ऋषिः। इन्द्रो देवता। विषमा बृहती। व्याख्यातोयं मन्त्रः॥ १।११ ॥†

८६३. आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वा शविष्ठ शवसा।

अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे‡ वज्रि चित्राभि-

रूतिभिः॥ २।११ ॥ (ऋ० ८।७०।६)

आ पप्राथेति। ऋषि देवते युक्ते। समा सतो बृहती छन्दः। हे वृषन् सर्वमनोरथप्रदातस्त्वं महिना महता वृष्ण्या सर्वकामपूरकेण शवसा बलेन विश्वा विश्वानि जगन्ति आ पप्राथ आपूरयसि व्याप्नोषीति भावः। हे मघवन् सर्वैश्वर्यसम्पन्न वज्रिन् सर्वाघौ-

† पूर्वार्चिके २७८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ 'वज्रिन्' इत्यूक्पाठः।

घनिवर्तक । वज्रः कस्माद्वर्जयतीति सतः इति यास्कः (नि० ३।११)। गोमति विद्यावति व्रजे उपासनायाम्। व्रज गतौ। व्रज्यते परमात्मसमीपे गम्यतेनेनेति व्रजः। चित्राभिराश्चर्यकरीभिरूतिभी रक्षाभिरस्मानुपासकानव रक्ष ॥ २।११ ॥

८६४. वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥ १।१२ ॥
(ऋ० ८।३३।१)

वयं घ त्वेति। मेध्यातिथिः काण्वः ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः।†

८६५. स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गमदिन्द्र स्वब्दीव
वंसगः ॥ २।१२ ॥ (ऋ० ८।३३।२)

स्वरन्तीति। हे वसो सर्वेषां वासयितरिन्द्र, उक्थिनः स्तुतिमन्तः स्तुत्या इत्यर्थः। उक्थशब्दः स्तुतिपर्यायः। वच परिभाषणे। अथवा उच समवाये। बाहुलकात् थक्। समवेता उत्कृष्टे कर्मणि। नरो नेतारो मनुष्या वा। निरेके निरेति निर्गच्छति समाप्तिमेतीति निरेकस्तस्मिन्। इण् गतौ। कन्। (उ०—) सुते प्रारब्धे उपासनकर्मणि समाप्तिं गच्छति सति त्वा त्वां स्वरन्ति शब्दायन्ते। उपासना मौनभावेन कृता भवति। तस्यां समाप्तिं गच्छन्त्यामुपासका उच्चैःस्वरेण परमात्मानं स्तुवन्तीति सम्प्रदायः। किं च वंसगे वननीयं प्रतिगन्ता। वनु संभक्तौ। वन्यत इति वंसः। वननीय इति भावः। वननीयं गच्छतीति वंसगः। स्वब्दी इव, अब्दो रक्षको

† पूर्वार्चिके २६१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

रक्षणसामर्थ्यं वा। स्वब्दी सुष्ठुरक्षणयामर्थ्यवान् इव सुतमुपासनां तृषाणस्तृष्यन्। ओकः स्थानमुपासनाया इति भावः। कदा शिवप्रदः। कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वेति यास्कः (नि० १०।२२)। एवं च कं कमनं कमनीयं ददातीति कदा। शिवमेव कमनीयं भवति। तथा सन् त्वमा गमत् आगच्छसि। अयमाकूतः। उपासकाः समवेत्य परमेश्वरमुमासते। उपासनान्ते चोच्चैःस्वरेण परमेश्वरं स्तुवन्ति। तेन यथा कश्चिद्रक्षकस्स्वस्य रक्ष्यं रक्षितुमागच्छति तद्वत्परमात्मापि तदर्थामुपासनामभिलषन् उपासनास्थाने उपासकान् रक्षितुमागच्छति। उपासनातर्षा न स्वार्था, परार्थैव। जीवा उपासनां कृत्वा सुखिनः स्युरित्येव उपासनातर्षा ॥ २।१२ ॥

८६६. कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्रिणम्।
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ३।१२ ॥

(ऋ० ८।३३।३)

कण्वेभिरिति। ऋष्यादय उक्ताः। हे धृष्णो शत्रुप्रसहन, मघवन् परमपूज्य, विचर्षणे विद्रष्टः। विचर्षणिरिति पश्यतिकर्मा (निघ० ३।११।६) इन्द्र परमैश्वर्यं परमप्रकाश इति वा। कण्वेभिः कण्वेभ्यः। चतुर्थ्यर्थे तृतीया। विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः। कण्व इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।७)। मेधाविभ्यः सहस्रिण सहस्रसंख्याकम्। सहस्रशब्दो बह्वर्थः। पिशङ्गरूपं सर्वक्लेशनिवर्त्तयितारम्। पिश अवयवे। पिशत्यवयवीकरोति दोषानिति पिशङ्गः। अङ्गच् प्रत्ययः (उ० १।१२१)। पिशङ्ग एव रूपं यस्य तं पिशङ्गरूपम्। गोमन्तं ज्ञानवन्तम्। गौरिति वाङ्नाम (नि० १।११।३६) वागिति विद्या। विद्या ज्ञानमेव। प्रकाशवन्तं वा। गोरिति रश्मिनाम (निघ० १।५।३)। रश्मिः प्रकाशसाधनम्। कार्यकारणयोरैक्यात्प्रकाश इत्यर्थः। त्वाम्। धृषत् सर्वप्रसहनम्।

वाजम् ज्ञानरूपं धनम्। आ ईमहे याचामहे दर्षि देहि। मक्षु शीघ्रम्। अथवा सहस्त्रिणं धृषत् सर्वपराभवकरणसमर्थं वाजं लौकिकं धनं दर्षि विदारय विनाशयेतिभावः। दॄ विदारणे। पिशङ्गरूपं गोमन्तं वाजं मक्षु याचामहे ॥ ३।१२ ॥

८६७. तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा।
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव
† सुद्रुवम् ॥ १।१३ ॥ (ऋ० ७।३२।२०)

तरणिरिति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। विषमा बृहती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः ‡ ॥ १।१३ ॥

८६८. न* दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते न स्रेधन्तं रयिर्नशत्।
सुशक्तिरिङ्§मघवं तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि ॥ २।१३ ॥
(ऋ० ७।३२।२१)

न दुष्टुतिरिति। ऋष्यादयः पूर्वोक्ता एव। द्रविणोदेषु धनस्य बलस्य ज्ञानस्य सदाचारस्य वा दातृषु। द्रविणं धनन्। तस्य सकार उपजनः। ददातेरसुनि बाहुलकादाकारलोपः। द्रविणोदां धनदातारः। द्रविणोदाः कस्मात् ? धनं द्रविणमुच्यते। यदेनदभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणम्। यदेनेनाभिद्रवन्ति। तस्य दाता द्रविणोदा इति यास्कः (नि० ८।१)। यत्किञ्चिद्दातृष्विति तात्पर्यम्। दुष्टुतिर्दुष्टा स्तुतिर्मिथ्यास्तुतिरिति भावः। न शस्यते प्रशस्यते

† सुद्रुम् इत्यृक्पाठः।
‡ पूर्वार्चिके २३८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
* न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु न स्रेधन्तामित्यृक्पाठः।
§ रिन्मघवन् इत्यृक्पाठः।

न युक्ता भवतीति भावः। स्त्रेधन्तं हिंसन्तं वाचा वा मनसा वा कर्मणा वा यं कमपि प्रतारयन्तं रयिर्धनं ज्ञानरूपं सदाचाररूपं वा न नशत् न व्याप्नोति न प्राप्नोतीतिभावः। नशदिति व्याप्तिकर्मा (निघ० २।१८।७)। हे मघवन् सर्वसम्पन्न मावते माहृशाय पार्ये पारयितुं योग्ये द्विवि अहनि। द्यौरित्यहर्नाम (निघ० १।९।२) यद् देष्णं दातव्यमस्ति तत् तुभ्यं तव सुशक्तिरित् सुशकमेव। अयं भावः। कश्चिन्मुमूर्षुः परमात्मानं प्रार्थयते भगवन्नेतं मृत्युकालं त्ववश्यमेवाहं पारयिष्मामि अतीत्य गमिष्यामि। अस्मिन्नपि समये भवता यत्किमपि शक्त्यादि मह्यं दातुं योग्यं मन्यते तन्न तव दुःशकं सुशकमेवेति ॥ २।१३ ॥

इति चतुर्थः खण्डः



अथ पञ्चमः खण्डः

८६९. तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥ १।१४ ॥ (ऋ० ९।३३।४)

तिस्रो वाच इति। त्रित आप्त्य ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१४ ॥

८७०. अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वीर्ऋतस्य मातरः।
‡मर्जयन्तीर्दिवः शिशुम् ॥ २।१४ ॥

† पूर्वार्चिके ४७१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ मर्मृज्यन्ते इत्यक्पाठः।

अभि व्रह्मीरिति। ऋष्यादय उक्ताः। व्रह्मीर्ब्रह्मानुगताः। यह्वीर्यह्वयो महत्यः। ऋतस्य सत्यस्य मातरो जनयित्र्यो मानस्यो वृत्तयः। मनसः एव सत्यस्योदयो भवति। मनस एव सत्यरूपा वृत्तय उत्पद्यन्ते। वृत्तीनां मनःप्रभवत्वान्मनसो मातृत्वम्। दिवो द्युलोकस्य भव्यलोकस्य भव्यहृदयस्य वा। शिशुं प्रशंसनीयम्। शिशुः शंसनीयो भवतीति यास्कः (नि० १०।३९)। सद्यः परमात्मानं प्रत्यक्षीकृतं मर्जयन्तीर्मार्जयन्त्यो लालयन्त्यो वा अभि अनूषत अभिष्टुवन्ति। व्रह्मानुगतानि मनांस्येव सत्यस्य जनकानि भवन्ति। मनसो वृत्तिषु मातृत्वमुपचर्यंते। जायमानं नवं शिशुं यथा मातरो लौकिक्यो लालयन्ति तथा महता श्रमेण भव्ये हृदये जातं शंसनीयं ब्रह्म मनोरूपा मनोवृत्तिरूपा वा मातरो लालयन्तीति। उद्बुद्धव्रह्मधर्मसंरक्षणसंवर्धनादिकमेव व्रह्मलालनम्॥ २।१४॥

८७१. रायः समुद्रांश्चतुरोस्मभ्यं सोम विश्वतः।

आ पवस्व सहस्रिणः॥ ३।१४॥

रायः समुद्रानिति। ऋष्यादय उक्ता एव। हे सोम परमेश्वर, रायो धनस्य ज्ञानरूपस्य सत्यसदाचारादिरूपस्य वा चतुरश्चतुःसंख्याकाः समुद्रान् अन्तरिक्षान् दिश इति यावत्। समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम (निघ० १।३।१५)। अन्तरिक्षशव्देन दिश उपचर्यन्ते। पञ्चम्यर्थे द्वितीया। चतसृभ्यो दिग्भ्य इत्यर्थः। विश्वतः सर्वतोस्मभ्यमा पवस्व आ गमय। पवतिर्गत्यर्थः। सहस्रिणः सामवेदस्य सर्वशाखाध्यायिनः। सहस्रवर्त्मा सामवेद इति महाभाष्यम्। सहस्रशव्दो वह्वर्थो न तु सहस्रसंख्यावाचकः। छात्रान्विदुषश्चाप्यागमय। अथवा चतुरः समुद्रान्वेदान्। संमोदन्ते विद्वांसो येषु ते समुद्राः। सम्पूर्वकात् मुद हर्षे इत्यस्माद्धातोः 'स्फायितञ्चिवञ्चि

(उ० २।१२) इत्यादिनाधिकरणे रक्प्रत्यये समो मलापे च रूपम् । आ पवस्वास्मान्प्रत्यागमय । सहस्रिणश्चागमय ।। ३।१४ ।।

८७२. सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।

पवित्रवन्तो अक्षरं देवान्गच्छन्तु वो मदाः ॥ १।१५ ॥

(ऋ० ९।१०१।४)

सुतास इति । ययातिर्नाहुष ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ।। १।१५ ।।

८७३. इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।

वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान‡ ओजसः ॥ २।१५ ॥

(ऋ० ९।१०१।५)

इन्दुरिन्द्रायेति । ऋष्यादय उक्ताः । इन्दुरात्मा । ञि इन्धी दीप्तौ, इदि परमैश्वर्ये वा । इन्द्राय परमात्मने पवते गच्छति । स्वभावोयमात्मन इति देवासो विद्वांसो ब्रुवन्वदन्ति । विश्वस्य सर्वस्यौजसो बलस्येशानः स्वामी वाचस्पतिर्वेदवचसां स्वामी परमात्मा मखस्यते पूजामिच्छति । मह पूजायाम् । "महेः ख च" (उ०) इति खप्रत्ययो हलोपश्च । मखमिच्छति मखस्यति । अयं भावः । यदात्मा परमात्मानं प्रति धावति तदैव स तस्य पूजामिच्छति । यदा चात्मा प्रेमान्तरेण श्रद्धामन्तरेण वा तमर्चितुमिच्छति न परमात्मा तदा तस्य पूजामिच्छति इति देवासो वदन्ति ॥ २।१५ ॥

---

† पूर्वार्चिके ५४७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ ओजसेत्यपपाठः ।

८७४. सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः ।
†सोमस्पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ३।१५ ॥
(ऋ० ९।१०१।६)

सहस्रधार इति । ऋष्यादयः उक्ताः । सहस्रधारो ह्रस्वेण प्रसादेन सह धारा वाचो यस्य स सहस्रधारः । धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११।२) सोमः उपासकः । दिवेदिवेहन्यहनि पवते गच्छति परमात्मानमितिशेषः । अथवा पवते पुनात्यात्मानमिति शेषः । कीदृशः सोमः ? समुद्रः सम्यग्भक्तिरसक्लिन्नः । वाचमीङ्खयो वाचं सत्यां गिरमीङ्खते गच्छति प्राप्नोतीति वाचमीङ्खयः । खच् प्रत्ययः । नह्युपासकः कदाप्यसत्यां गिरं संगिरते यश्चासत्यं भाषणं कुरुते नासावुपासको धूर्त एव । यश्चोपासनामपि वञ्चनाया द्वारं मन्वानो बकवृत्त्या रामरामेति रटन् स्वार्थं साधयति स तु नरकमेवाश्रयते सत्रिपुण्ड्रकोपि सोर्ध्वपुण्ड्रकोपि सतुलसीकोपि समुद्रोपि जगति ख्यातोपि । रामनामप्रभावात्तस्योद्धारो भविष्यतीति मन्दानां वाचः । न हि केवलं रामेतिशब्दमुच्चारयतः कस्यापि दारिद्र्यं वाविद्यं वा वान्ध्यं वा वाधिर्यं वापगतं दृष्टं श्रुतं वा । यदि नास्ति सदाचारी रामनामरटनेन नैव स्यादुद्धारमार्गावाप्तिः । धर्मभावेन विनापि स्मर्यमाण उच्चार्यमाणो रामो यदि सर्वक्लेशकायांश्छिन्द्याद्धन्त न विषीदेदिदं सकलं जगद्दुःखगर्तानिपातेन । रामनामत एव सर्वेषां सर्वदुःखनिपातो भवेत् । न हि तथा दृश्यते । स्मर्तव्यो रामोसद्धीनिवृत्तये । स तु सर्वाधीश्वरोजरोमरोजातोजायमानोज निष्यमाणश्च । पुनः कीदृशः सोमः ? रयीणां धर्मधनानां पती रक्षकः । इन्द्रस्य परमात्मनः सखा समानधर्मा च ॥ ३।१५ ॥

† सोमः पती इत्यृक्पाठः ।

८७५. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तः† सं तदाशत
॥ १।१६ ॥ (ऋ० ९।८३।१)

पवित्रं त इति । पवित्र आङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । जगती छन्दः । ‡ केचन चक्राङ्किता अनेन मन्त्रेण तप्त-सुदर्शनचक्रस्य धारणं बाहुमूलयोः साधयन्ति तन्मन्दम् । न हि वृथा कर्म वेदा उपदिशन्ति । न हि बाह्यकल्पितप्रकल्पिताचारेण मानसिकी शुद्धिः सम्पद्यते । न मनःशुद्धिमन्तरेण सहस्रैरपि मन्दम-तैरुपायैरीश्वरसान्निध्यं संभवति । स्वयंकृतेन देहदाहेन दन्दह्यमाना लोका निरालोकाः खलु । दर्शयतु काप्यनादिः शक्तिर्लोकानन्धन-यनान्पन्थानमिति ॥ १।१६ ॥

८७६. तपोष्पवित्रं विततं दिवस्प*देऽर्चन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् ।
अवन्त्यस्यप§वितारमाशवो £दिवः पृष्ठमधि ¶रोहन्ति तेजसा§
॥ २।१६ ॥ (ऋ० ९।८३।२)

तपोष्पवित्रमिति । ऋष्यादय उक्ताः । तपोः सन्तापकस्य कामा-दीनामरीणाम् । सोमस्य ज्ञानिन इत्यर्थः । पवित्रं पावयितृ । यश इति शेषः । दिवस्पदे दिव्यस्थानेषु सदाचारसम्पन्नेषु ज्ञानिषु विततं विस्तृतं भवतीतिशेषः । अस्य ज्ञानिनस्तन्तवः शिष्यप्रशिष्यरूपाः

† ""भूस्तत्समाशत इत्यृक्पाठः ।
‡ पूर्वाचिके ५६५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
* शोचन्त इत्यृक्पाठः । § वी""इत्यृक्पाठः ।
£ दिवस्पृष्ठमेत्यृक्पाठः । ¶ तिष्ठन्तीत्यृक्पाठः ।
§ चेतसा इत्यृक्पाठः ।

परस्पराः। अर्चन्तोर्चयन्त्यः पूजयन्त्य एनमितिशेषः। व्यास्थिरन् विविधास्तिष्ठन्ति। अस्योपासकज्ञानिन आशवः क्षिप्रगामीनि ज्ञानानि। आशुः क्षिप्रमिति निघण्टुः (२।१५।१६)। लक्षणया शीघ्रगामीनीति। पवितारं परमात्मानमुद्दिश्य गन्तारं प्रयतितारमन्यमुपासकं ज्ञानिनं वा अवन्ति रक्षन्ति। मार्गप्रदर्शनद्वारावनं वेदितव्यम्। किं च ते आत्मचिन्तकास्तेजसा ज्ञानेन दिवो द्युलोकस्य पृष्ठमुपरिभागं मोक्षधामेतिभावः। अधि रोहन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ २।१६ ॥

८७७. अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा† मिमेति भुवनेषु
वाजयुः। मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः
पितरो गर्भमा दधुः ॥ ३।१६ ॥ (ऋ० ९।८३।३)

अरूरुचेति। ऋष्यादयः प्रोक्ताः। व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥३।१६॥

इति पञ्चमः खण्डः



अथ षष्ठः खण्डः

८७८. प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे।
उपस्तुतासो अग्नये ॥ १।१७ ॥ (ऋ० ८।१०३।८)

प्र मंहिष्ठायेति। सोभरिः काण्वः ऋषिः। विषमा ककुप् छन्दः। अग्निर्देवता। व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।१७ ॥

† "बिभर्ति भुवनानि" इत्यृक्पाठः।

‡ पूर्वार्चिके ५९६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

* पूर्वार्चिके १०७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

८७९. आ वंसते मघवा वीरवद्यशः समिद्धो द्युम्न्याहुतः ।
कुविन्नो अस्य सुमतिर्भवीयस्यच्छा वाजेभिरागमत् ॥२।१७॥
(ऋ० ८।१०३।९)

आ वंसत इति । ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । छन्दः समा सतो बृहती । समिद्धः समेधितो वर्धितः सदाचारादिपालनेन प्रसादितो द्युम्नी दीप्तिमान् आहुत आहूतः । छान्दसं ह्रस्वत्वम् । मघवा पूज्यः परमात्मा । वीरवद् "वीरवन्तः कल्याणवीरा वा । वीरो वीरयत्यमित्रान् वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो वीरयतेर्वा" इति यास्कः (नि० १।७) । कल्याणवीरं सत्रुप्रकम्पकं वा सर्वव्यापकं वा यश आ वंसते आददाति । श्रौतोयं धातुः । अस्य परमात्मनोग्निरूपस्य भवीयसी भव्या सुमतिः सूपदेशना कुविदसकृत् । कुविदिति बहुनाम (निघ० ३।१।१२) । वाजेभिर्ज्ञानधनैः ज्ञानधनदानहेतुना नोस्माकं हृदये । अच्छ आभिमुख्येन आगमत् आगच्छतु । अथवा, 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (नि० ५।२८) इति शाकपूणिमतेस्माकं हृदयमाप्तुं परमात्मोपदेशो बहुवारमागच्छतु ॥ २।१७ ॥

८८०. तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृक्षु† सासहिम् ।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ १।१८ ॥ (ऋ० ८।१५।४)

तं ते मदमिति । गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनावृषी । इन्द्रो देवता । उष्णिक् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्र* ॥ १।१८ ॥

---

* "ने" इत्यृक्पाठः ।

† 'पृत्सु' इत्यृक्पाठः ।

* पूर्वार्चिके १८२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

८८१. येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ।
मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥ २।१८ ॥
(ऋ० ८।१५।५)

येन ज्योतींष्येति। ऋष्यादय उक्ताः। हे इन्द्र परमेश्वर येन तेजसेतिशेषः। आयवे मनुष्याय। आयुरिति मनुष्यनाम (निघ० घ० २।३।१७)। सामान्य मनुष्यायेति तात्पर्यम्। मनवे मननशीलाय विदुषे। ज्योतींषि ज्ञानप्रकाशान् विवेदिथ वेदयसि। छान्दसो लिट्। तेन तेजसा मन्दानो हृष्यन्। अस्योपासकस्य। वर्हिषो वर्हिषि हृदयान्तरिक्षे। बर्हिरित्यन्तरिक्षनाम (निघ० १।३।४)। सप्तम्यर्थे षष्ठी। विराजसि तिष्ठसि। परमात्मा स्वेन तेजसा सामान्यमनुष्याय मननशीलाय धीमते च ज्योतिः प्रयच्छति तेनैव तेजसास्योपासकस्य हृदये तिष्ठतीत्याशयः। अत्रेन्द्रतेजः स्तूयते। इन्द्रस्तु परमात्मैवेति न विस्मर्तव्यम् ॥ २।१८ ॥

८८२. तदद्या चित उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा।
वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥ ३।१८ ॥ (ऋ० ८।१५।६)

तदद्येति। ऋष्यादयः पूर्वोक्ता एव। हे इन्द्र, ते तव तत्प्रसिद्धं तेजः। अद्या चिदद्यापि पूर्वथा पूर्वस्मिन्काल इव। उक्थिनः स्तुतिकर्तारः। अनष्टुवन्ति प्रशंसन्ति। वृषपत्नीर्वृषा सर्वमनोरथपूरकः परमात्मा पती रक्षिता यासां ता अपः कर्माणि दिवेदिवे प्रतिदिनं जय प्राप्नुहि कुरुष्वेति भावः। उत्तरार्धेन गुरुः शिष्यमुद्दिश्योपदिशति येषां कर्मणां परमात्मा रक्षकः तान्येव त्वया कर्तव्यानि नान्यानीति। सत्कर्मणामेव परमेश्वरो रक्षको नासताम्। तेन सन्त्येव कर्माण्याचरितव्यानि नेतराणि। कर्मणां रक्षक इति कथनेन कर्मिणामुपलक्षणविधया बोधो भवति। कर्मरक्षणात्कर्मिरक्षणमेव श्रेयः ॥ ३।१८ ॥

८८३. श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति ।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ॥ १।१९ ॥
(ऋ० ८।९५।४)

श्रुधी हवमिति । तिरश्चीराङ्गिरसावृषी । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्द । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।१९ ॥†

८८४. यस्त इन्द्र नवीयसीं गिरं मन्द्रामजीजनत् ।
चिकित्विन्मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम् ॥ २।१९ ॥
(ऋ० ८।९५।५)

यस्त इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे इन्द्र परमेश्वर यो भक्तस्ते तव त्वदर्थमित्यर्थः । नवीयसीं नवतरामतिस्तुत्यां वा । मन्द्रामानन्दजनिकां गिरं वाचं सत्यात्मिकामजीजनदुत्पादयत्युच्चारयति तस्मै सत्यवादिने प्रत्नां पुरातनमृतस्य सत्यस्य पिप्युषीं प्रवृद्धम् । ओप्यायी वृद्धौ । चिकित्विन्मनसम् । कित ज्ञाने । क्वसौ रूपम् । चिकित्वांसि ज्ञातानि हृदयानि यया धिया येन कर्मणेति तत् चिकित्विन्मनसम् । कर्मणैव सर्वेषां मनोवगतं भवति । यद्यपि दम्भिभिरपि कदाचिदुत्तमं कर्म क्रियत एव न तेन ते श्रेयःकर्माणो भवितुमर्हन्ति । यद्यपि तदनुष्ठीयमानमनुष्ठितं वा कर्म श्रेयोस्त्येव । दम्भिनां कर्माणि यदि दम्भप्रयोज्यान्येव स्युरवश्यं ते तत्फलैस्तत्कर्मजन्यैर्विरहिता एव तिष्ठन्ति । प्रायेण पापाः पापाचारमाचरन्ति पुण्याः पुण्याचारमितिलौकिको दृष्टचरः पन्थाः । धियं कर्म प्रापयेति शेषः ॥ २।१९ ॥

८८५. तमु ष्टवाम यं गिर इन्द्रमुक्थानि वावृधुः ।
पुरूण्यस्य पौंस्या सिषासन्तो वनामहे ॥ ३।१९ ॥
(ऋ० ८।९५।६)

† पूर्वार्चिके ३४६ संख्यको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

तमु ष्टवामेति । ऋष्यादय उक्ताः । ऋषयः कथयन्ति तम् उ तमेवेन्द्रं स्तवाम प्रशंसाम यम् उक्थानि प्रशस्याः । गिरोस्माकम् । उक्थशब्दः स्तुतिपर्यायः । स्तुत्या इति तात्पर्यम् । वावृधुर्वर्धयन्ति, अवर्धयंश्च । अस्य परमेश्वरस्य पुरूणि बहूनि । पौंस्या पौंस्यानि वीर्याणि सिषासन्तः संभक्तुमिच्छन्तो वनामहे संभजामहे । अनेन मन्त्रेणेदमुक्तं भवति—न हि परमेश्वरः स्वनामग्रहणेन कदाचिदपि प्रसीदति । सत्यभाषणं सत्याचाराश्चैव तं प्रसादयन्ति । अतः सदा सत्यप्रवणैरेवास्माभिर्भवितव्यम् । किं च पारमेश्वरा बहवः पराक्रमाः सन्ति ते च सत्य-दया-वात्सल्य-परोपकार-दम्भराहित्यादयस्ते चोपासकैः सदा अनुकर्त्तव्या इति ॥ ३।१९ ॥

इति षष्ठः खण्डः

इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयोर्धः । द्वितीयप्रपाठकश्च समाप्तः ॥ २ ॥

इति चतुर्थोध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथ तृतीयप्रपाठके प्रथमोऽर्धः

८८६. प्र त आश्विनीः पवमान धेनवो| दिव्या असृग्रन्पयसा धरीमणि । प्रान्तरिक्षा‡त्स्था*विरीस्ते असृक्षत ये त्वा मृजन्त्यृषिषाण वेधसः ॥ ११ ॥ (ऋ. ९।८६।४)

प्र त आश्विनीरिति । अकृष्टा माषा ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । जगती छन्दः । हे पवमान पावित्र्यसम्पादक परमेश्वर, ते तव आश्विनीर्व्याप्ताः सर्वत्र नियोक्त्रीरूपेण प्रसृताः । दिव्या उत्कृष्टाः । धेनवो वाचः । धेनुरिति वाङ्नाम (निघ० १।११।५२) । पयसान्धकारेण । पय इति रात्रिनाम (निघ० १।७।२१) । युक्ते ज्ञानविरहिते इत्यर्थः । धरीमणि धारके शरीरधारके देहिनीत्यर्थः । प्र असृग्रन् प्रकर्षेण गच्छन्ति । किं च ऋषिषाण हे ऋषिभिः संभक्त सम्यक्पूजित, ये वेधसो मेधाविनः । वेधस् इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।६) । त्वा त्वां मृजन्ति शोधयन्ति प्रसादयन्तीत्यर्थः। मृजूष् संशुद्धौ । ते ज्ञानिनोन्तरिक्षाद् हृदयान्तरिक्षे इत्यर्थः । स्थाविरीः स्थविराः स्थिरा इत्यर्थः । मतीरितिशेषः । प्र असृक्षत प्रकर्षेण सृजन्ति रचयन्ति उत्पादयन्तीति भावः । अयमाशयोत्र, ये ह्यज्ञानतमःप्रतारिता मानवाः सन्ति तेषां हृदये ज्ञानदीपदीपिकाः परमेश्वरस्य वाच एव सन्ति । ताश्च वाचो वेदरूपा एव । ये च

| [illegible] इत्यूक्पाठः । ‡ [illegible] इत्यूक्पाठः ।

* स्याविरीरसृक्षत इत्यूक्पाठः ।

वेदवचोनिदिध्यासनेन मेधाविनो भवन्ति तेषां हृदये स्थिरा मतिरुत्पद्यत इति ॥ १।१ ॥

८८७. उभयतः पवमानस्य रश्मयो ध्रुवस्य सतः परियन्ति
केतवः। यदी पवित्रे अधि मृज्यते हरिः सत्ता नि
योनौ† कलशेषु सीदति ॥ २।१ ॥ (ऋ. ९।८६।६)

उभयत इति। ऋष्यादय उक्ताः। ध्रुवस्याचलितस्य स्थिरस्य कथमपि कुत्रचिदपि कस्माचिदप्यगच्छतः सतोपरिवर्तनशीलस्य सर्वदा वर्तमानस्य नाशमप्राप्नुवतः पवमानस्य जीवात्मनः रश्मयः सर्वनियन्त्र्यः। रशिर्यमनार्थो धातुः सौत्रः। बाहुलकान्मिः (उ० ४।४३)। केतवः प्रज्ञाः। केतुरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९।२)। उभयतः सर्वत इति तात्पर्यम्। परि यन्ति परिगच्छन्ति। यदि यदा पवित्रे परमात्मनि। निरतइत्यध्याहार्यम्। हरिः सकलाघौघनिवर्तकः। अधि मृज्यते पूयते तदानीं सत्ता सर्वदोषविशरणकर्ता। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। स जीवः। योनौ गृहे स्वस्थाने परमात्मनि। योनिरिति गृहनाम (निघ० ३।४।१४)। कलशेषूपासकाश्रये च। नि सीदति निषीदति। कलशः कस्मात्? कला अस्मिञ् शेरते मात्राः। कलिश्च कलाश्च किरतेर्विकीर्णमात्रः इति यास्कः। (नि० ११।१२)। अयं भावः। अस्मिन् मन्त्रे जीवभूतस्यात्मनो वर्णनं न तु परमात्मनः। पवमानशब्देनात्र जीव एव गृहीतः। स जीवोपि ध्रुवः। एतेन तस्य गतिहीनत्वमुक्तम्। स च सन्। एतेन तस्य नित्यत्वमुक्तम्। शरीरे स्थितस्य ध्रुवस्य जीवात्मनः सर्वेन्द्रियनियामिकाः प्रज्ञाः सर्वत्र प्रचरन्ति। तत्प्रज्ञाबलेनैव स शिरसि मे व्यथा पादे च पीडेत्यादिकं सर्वमनुभवति। इयमेव प्रज्ञा विशिष्टाद्वैतवादिभिर्जीवस्य स्वधर्मभूतज्ञानमित्युच्यते। यदा

† योना इत्यृक्पाठः।

च स पवित्रे परमात्मनि विहरन् मृज्यते तदा स हरिर्भूत्वा स्वयमेव स्वस्य सर्वपापनिवर्तको भूत्वा योनौ परमात्मनि सत्ता सदनशीलश्च भूत्वा कलशे परमात्मन्येव विशीर्णो भवति, तल्लयमधिगच्छति । एकत्वमनुपश्यतीत्यर्थः । कलशेष्विति वहुवचनं त्वाश्रिताश्रयाभिप्रायम् । आश्रयापेक्षिणो बहवो जीवाः सन्ति । सर्वेषामाश्रयः परमात्मैव । परन्तु प्रत्येकमाश्रितस्याश्रयस्यैकत्वेपि तद्बहुत्वादाश्रयबहुत्वकल्पनमिति वेदितव्यम् । अथवा पवमानशब्देन यदि परमात्मग्रहणस्यैवाग्रहस्तर्हि मन्त्रोयमित्थं व्याख्येयः—ध्रुवस्य कथमपि कुत्रचिदपि कस्माच्चिदपि सततमगच्छतः सतोपरिवर्तनशीलस्य सदा वर्तमानस्य परमात्मानः सर्वनियन्त्र्यः प्रज्ञा उभयतः सर्वतः परिगच्छन्ति । यदा सत्यसदाचारादिभिः शुचौ मनुष्ये सकलाघौघनिवर्तकः परमात्मा पूयते तदानीं सत्ता स स्वरूपे स्वमात्रारूपेषु जीवेषु नीषीदति । अयं भावः । सदा पवित्रोपि परमात्मा मलिनान्तःकरणजीवसंस्पर्शेन मलिन इव भवति । दुराधारे पतितं शुद्धमपि वस्त्वशुद्धमिव मन्यते सर्वैः । सदाधारे पतितं वस्तु सर्वैः शुद्धमेव मन्यते इति न्यायः । परमात्मनः पवित्रीभवनं जीवात्मन एव वस्तुतः पवित्रीभवनं भवति । पवित्रीभूतं जीवस्यान्तःकरणं परमात्मनः स्वगृहमिव भवति । पवित्रमेवान्तःकरणं तस्य सर्वेश्वरस्य गृहं न कदापि दुरिताचारविचाराद्युपेतमपि । एवं सर्वं समञ्जसम् ॥ ३।१ ॥

८८८. विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्र|भोष्टे सतः
परियन्ति केतवः । व्यान‡शी पवसे सोम *धर्मणा
परिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥ ३।१ ॥ (ऋ० ९।८६।५)

---

† प्रभोस्ते इन्यृक्पाठः । ‡ व्यानशिरित्यृक्पाठः ।
* धर्मभिरित्यृक्पाठः ॥

विश्वा धामानोति। ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः। हे विश्वचक्षः सकलविश्वद्रष्टः, पवमान सोम प्रभोः समर्थस्य परिवृढस्य सतो नित्यस्य ते तव ऋभ्वसो महत्यः। ऋभ्व इति महन्नाम। "स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वम् ...." इति मन्त्रस्थस्य ऋभ्वशब्दस्योरुभूतस्येति व्याख्यानात् (नि० ११।२१)। केतवः प्रज्ञाः (निघ० ३।९।२)। विश्वा विश्वान् धामानि लोकाँस्तेजोलोकान्वा परि यन्ति व्याप्नुवन्ति प्रकाशयन्ति वा। हे सोम परमात्मन् धर्मणा ज्ञानरूपेण धारणशक्त्या वा व्यानशी व्यापकः सन्। व्यानशिरिति बहुनाम (निघ० ३।१।८) पवसे पूयसे पावयसि वा सर्वान्। विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य सर्वेषां लोकानां पतिः स्वामी त्वं राजसि दीप्तो भवसि ॥३।१॥

८८९. पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम्।
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥ १।२ ॥ (ऋ० ९।६१।१६)

पवमान इति। अमहीयुरङ्गिरस ऋषिः। सोमो देवता। गायत्रीछन्दः। पवमानः परमात्मा दिवो द्युलोकस्य। सप्तम्यर्थे षष्ठी। द्युलोकशब्देन हृदयं गृहीतव्यम्। हृदय इत्यर्थः। चित्रं चित्रामाश्चर्यकरीम् न इव। तन्यतुं वाचं वैखरीमजीजनदुदपादयत्। तन्यतुस्तनित्री वाचोन्यस्या इति यास्कः (नि० १२।३०)। किंच बृहत् वैश्वानरं लोकोपकारकं ज्योतिः सूर्यमुदपादयत्। तदपि चित्रमेव। हृदयस्थितः को वदति कथं वदति कुतः स्वरसंचारो भवतीत्यादि न कथमपि केनापि ज्ञातुमशक्नोत्। वैखर्या वाचैव सर्वः सर्ववाग्व्यवहारं निर्वाहयति, तेन तन्यतुशब्देन वैखरी वाग्ग्रहीतव्या। अथवा मध्यमैव ग्रहीतव्या। मध्यमैव वैखरी तनोति। तदपि चित्रमेव। ज्योतिःशब्देन ज्ञानस्यापि ग्रहणम्। ज्ञानं कथमुत्पद्यते, कीदृशं किं साधनं विधात्रा कुत्र निहितं येन ज्ञानं जायत इत्यप्यविदितचरं सर्वेषाम्। विदितमपि वैज्ञानिकानां साधनं चित्रमेव ॥ १।२ ॥ †

† पूर्वार्चिके व्याख्यातो (४८४) ऽयं मन्त्रो व्याख्यातः पुनः।

८९०. पवमान रसस्तव† मदो राजन्नदुच्छुनः ।
वि वारमव्यमर्षति ॥ २।२ ॥ (ऋ० ९।६१।१७)

पवमानेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे राजन् दीप्यमान पवमान परमेश्वर, तव रसो रसकरो मद आनन्दः अदुच्छुनः सर्वोपद्रव-रहितः । लौकिकेष्वानन्देषु बहुविधा विघ्नाः पदे पदे समापतन्तो दृश्यन्ते न तथा पारमेश्वर आनन्दे । स च तवानन्दो वारं वृतं स्वीकृतम् अव्यं रक्षणीयं त्वदाज्ञानुसारिणं भक्तं ज्ञानिनं प्रति वा वि अर्षति विशेषेण गच्छति । परमात्मा रक्ष्यत्वेन यं कमपि तद्गुणवृद्ध्या स्वीकरोति तमेव जीवं प्रति परमेश्वरानन्दप्रवाहः प्रवहतीति भावः ॥२।२॥

८९१. पवमानस्य‡ ते रसो दक्षो वि राजति द्युमान् ।
ज्योतिर्विश्वं स्वर्दृशे ॥ ३।२ ॥ (ऋ० ९।६१।१८)

पवमानस्येति । ऋष्यादय उक्ताः । हे पवमान, पवमानस्य सर्वं पुनानस्य ते तव दक्षः समर्थो द्युमान् प्रकाशवान् रस आस्वादो वि राजति विशेषेण प्रकाशते दीप्यते । विशिष्टरूपेण प्रकाशने हेतु-माह । विश्वमखण्डं ज्योतिः ज्योतिःस्वरूपं स्वः स्वर्लोकं स्वयं राज-मानं भगवल्लोकमित्यर्थः । दृशे द्रष्टुं राजति । यतो भगवत्स्वरूपा-स्वादनेन भगवल्लोकावाप्तिर्जायते तत एव स रसो राजतीति भावः । न हि लौकिकाकारः कश्चन विलक्षणो भगवल्लोकः । सच्चिदानन्दता हि तल्लोक इति वेदितव्यम् ॥ ३।२ ॥

८९२. प्र*यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः ।
घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥ १।३ ॥ (ऋ० ९।४१।१)

† पवमानस्य ते रस इत्यृक्पाठः । ‡ पवमान रसस्तव दक्षो.... इत्यृक्पाठः ।
* ये गावो.... इत्यृक्पाठः ।

प्र यद्गाव इति । मेध्यातिथिः काण्वः ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । यद्गावो यस्य परमेश्वरस्य गावो वाचो वेदरूपास्त्वेषाः प्रदीप्ताः सर्वार्थप्रकाशिका इत्यर्थः । भूर्णयो ज्ञान-द्वारा सर्वेषां धारयित्र्यः पोषयित्र्यो वा । भुरण धारणपोषणयोः । अयासोया गतिशीलाः । न इव । कृष्णां तमोरूपं तमोगुणरूपं वा । त्वचं संवरणमावरणमित्यर्थः । त्वच संवरणे । अप घ्नन्तः अप-घ्नन्त्यो दूरीकुर्वत्यः । पुंस्त्वमार्षम् । अक्रमुः क्रामन्ति सर्वतो गच्छन्ति । स पवमानाख्यः परमेश्वरो राजतीति पूर्वेणान्वयः । पूर्वार्चिके (४९१) व्याख्यातोपि पुनर्व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।३ ॥

८९३. सुवितस्य वनामहेऽति† सेतुं दुराय्यम्‡ ।
साह्याम* दस्युमव्रतम् ॥ २।३ ॥ (ऋ० ९।४१।२)

सुवितस्येति । ऋष्यादय उक्ताः । सुवितस्य सुष्ठु इतस्य प्राप्तस्य, अथवा समन्तात्प्राप्तस्य व्यापकस्य परमेश्वरस्य दुराय्यं दुःखेन प्राप्यं सेतुं सर्वदुःखनिवर्तकमाश्रयम् अति वनामहे अतिशयेन याचामहे । येनाव्रतं शमदमदयादानादिरहितं दस्युमुपक्षयकर्तारं शत्रुं साह्यामाभिभवाम ॥ २।३ ॥

८९४. शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः ।
चरन्ति विद्युतो दिवि ॥ ३।३ ॥ (ऋ० ९।४१।३)

शृण्वे वृष्टेरीति । ऋष्यादय उक्ताः । वृष्टेर्वर्षणस्य स्वनः शब्द इव शुष्मिणो बलिनः । शुष्मेति बलनाम (निघ० २।९।११) । पवमानस्य परमेश्वरस्य शब्दः शृण्वे श्रूयतेस्माभिरित्यध्याहार्यम् । दिवि आकाशे विद्युतो विशिष्टप्रकाशवन्तः शब्दाश्चरन्ति वर्तन्ते

---

† मनामहेति, इत्यृक्पाठः । ‡ दुराध्यमित्यृक्पाठः ।
* साह्वांस इत्यृक्पाठः ।

तस्यैवेति शेषः। पूर्वार्धे स्वन इत्येकवचनमुत्तरार्धे विद्युत इति बहुवचनमार्षत्वान्निर्वोढव्यम्। मन्त्रस्यायमाशयः—ये भक्ताः पवित्रा मानवाः सन्ति ते सर्वदा परमेश्वरेणोच्चार्यमाणानिवोपदेशशब्दान्निरन्तरं शृण्वन्ति। इदं कुरु इदं च मा कुरु इत्येवं विधिनिषेधवचनं पारमेश्वरं ते सदा स्मरन्ति, तत्स्मरणमेवान्तरिक्षे श्रूयमाणाः शब्दा इवात्र निर्दिष्टम्। अथवा दिवीत्यस्य प्रकाशमाने हृदये इत्यर्थः। सदाचारपूतानां हृदये सर्वदा पारमेश्वरं विधिनिषेधवाक्यं स्फुरदेव तिष्ठति। तदेव श्रवणम्॥ ३।३॥

८९५. आ पवस्व महीमिषं गोमदिन्दो हिरण्यवत्।
†अश्ववत्सोम वीरवत्॥ ४।३॥ (ऋ० ९।४१।४)

आ पवस्वेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे इन्दो परमैश्वर्य परमदीप्त वा सोम परमेश्वर, सुतो भक्त्योपस्थापितः सान्निध्यं नीतस्त्वं महीं पृथिवीम्। इषमन्नम् (निघ० २।७।१४)। तच्च गोमत् बहुभिर्गोभिस्सहितम्। अश्ववदश्वैरप्युपेतम्। हिरण्यवत् धनधान्यादिसहितम्। वीरवद् वीरैः पुत्रपौत्रादिभिरपि सहितम्। आ पवस्व आगमय प्रापयेत्यर्थः। ईश्वरं भौतिकमैश्वर्यं याचमानेन स्वयं पुरुषार्थपरायणेन भाव्यम्। न हि याच्यमान ईश्वरः किञ्चित्कस्मैचिद्ददाति। य ऐश्वरीमाज्ञामनुरुन्धन्पुरुपार्थमाराधयति स एव पारमेश्वरमनुग्रहमनुभवति। आ पवस्वेति प्रार्थना त्वार्जववृद्धिसिद्ध्यर्थेति भावः॥ ४।३॥

८९६. ‡पवस्व विश्वचर्षण आ मही रोदसी पृण।
उषाः सूर्यो न रश्मिभिः॥ ५।३॥ (ऋ० ९।४१।५)

---

† अश्वावद्वाजवत्सुत इत्यृक्पाठः। ‡ सपवस्वेत्यृक्पाठः।

पवस्वेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे विचर्षण विशेषेण द्रष्टः पवस्वागच्छ । मही महत्यौ रोदसी द्यावापृथिव्यौ । वित्तं मे अस्य रोदसी, जानीतं मेस्य द्यावापृथिव्याविति यास्कः (नि० ४।६), रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यावित्यपि निरुक्तम् (६।१) । आ पृण आतर्पय । तत्रोदाहरणम्, यथोषा उषसमुषःकालं प्रातःकालमित्यर्थः । द्वितीयार्थे प्रथमा । सूर्यो रश्मिभिः किरणैः पूरयति तद्वत् । अयमाशयः । उदीयमानः सूर्यः स्वपूर्वगामिनीमुषसं रश्मिभिः पूरयन्नहर्भावं प्रापयति यथा तथा हे परमेश्वर द्यावापृथिव्यौ स्वतेजसा पूरयन् कार्यसाधनक्षमे विधत्स्वेति ॥ ५।३ ॥

८९७. परि णः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः ।
सरा रसेव विष्टपम् ॥ ६।३ ॥ (ऋ० ९।४१।६)

परि ण इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोमाख्यपरमेश्वर, नोस्माकं शर्मयन्त्या सुखयन्त्या धारया वाचा उपदेशवाचेति भावः । धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११।२) । विश्वतः सर्वतः परि सर परिगच्छ सर्वतस्तिष्ठेति भावः । सर्वतः स्थितस्यैव परमात्मनः स्थितिप्रार्थना कदापि मा वयं तं विस्मार्ष्मेति विज्ञापयितुम् । किमिव ? रसो विष्टपमिव, यथा रस उदकं विष्टपं परितः परिगच्छति तद्वत् । अयं भावः । विष्टवादित्यो भवति । आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषाम्, आविष्टो भासेतिवेति (नि० २।१४) यास्कवचनेन विष्टवादित्यो रसान् प्रविशति स्वरश्मिभिः यो यं प्रविशति स तस्य विश्वतस्तिष्ठत्येव । यथा जलं प्रविष्टस्य पुरुषस्योर्ध्वमधो दक्षिणे वामे च सर्वत्र जलं तिष्ठत्येव । जलं च सुखप्रदम् । एवमेव सर्वतः स्थितः परमात्मास्मान्सुखयत्विति भावः ॥ ६।३ ॥

इति प्रथमः खण्डः

द्वितीयः खण्डः

८९८. आशुरर्ष बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना ।
यत्र देवा इति †ब्रुवन् ॥ ११४ ॥ (ऋ० ९।३९।१)

आशुरर्षेति बृहन्मतिराङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । अत्रापि सोमः परमात्मैव । हे बृहन्मते सर्वत्र परमेश्वर, यत्र यस्मिन्स्थाने देवा विद्वांसः साधवः सदाचाराश्च पीडिताः सन्ति 'तत्र मया गन्तव्यम्' इति ब्रुवन्नुच्चारयंस्त्वमाशुः सर्वव्यापकोपि सन् प्रियेण धाम्ना जन्मना । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति यास्कः (नि० ९।२८) । परि अर्ष परिगच्छ । अनेन मन्त्रेण परपुरुषावतारः प्रतिपाद्यते । यत्र सन्ति साधवस्तत्रैव परमेश्वरावतार इति राजमार्गः । निपीडितानां साधूनामुद्दिधीर्षयैव भगवदवतार इति भगवद्गीतायां भगवान् कृष्णोपि वचनमेतदेवाधारीकृत्य प्रत्यपीपदत् । यत्र कार्यार्थं यच्छरीरमुपयोगि तदेव तस्य भगवतः प्रियं भवति । तेनैव प्रियेण शरीरेणागमनं प्रार्थ्यते भगवताङ्गिरसः पुत्रेण बृहन्मतिना ॥११४ ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं यद्यदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥

८९९. परिष्कृण्वन्ननिष्कृतं जनाय यातयन्निषः ।
‡वृष्टिं दिवः परि स्रव ॥ २१४ ॥ (ऋ० ९।३९।२)

परिष्कृण्वन्नेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम—परमेश्वर, अनिष्कृतमसंस्कृतं जनसमवायम् । परिष्कृण्वन्परिष्कुर्वन् संस्कुर्वन्नित्यर्थः । जनाय सज्जनाय । इषमिष्यमाणम् । इषु इच्छायाम् । इष्यत

† ब्रुवन्निति मूलपाठः । ‡ वृष्टिमि[illegible]पाठः ।

इति । औणादिकः क्विप् । यातयन् यातयन्निर्गमयिष्यन् प्रापयिष्यन्नितितात्पर्यम् । दिवोन्तरिक्षात् स्वस्माल्लोकादित्यर्थः । वृष्टिमभिवर्षणमभिलाषतर्पकं सर्वं परि स्रव परिस्रावय प्रापयेत्यर्थः । अत्र दुर्जनपरिष्कारोपदेशेन वेदः स्वकीयं गौरवं वर्धयति । वधो राक्षसकर्म । रक्षा संवर्धनं च दैवं कर्म । गांधीमहात्माप्यत्रैवानुकूलः ।।२।४।।

९००. अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ ।
सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत् ।। ३।४ ।। (ऋ० ९।३९।२)

अयं स इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । पवित्रे मन्त्रे । मन्त्रः पवित्रमुच्यते । येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदेत्यपि निगमो भवतीति यास्कः (नि० ५।६) । अथवा पवित्रे हृदये इति शेषः । आ आधीयमानः आचिन्त्यमान इति वा । आ इत्युपसर्गवशाद्योग्यक्रियाध्याहारः । अयं स परिकीर्त्यमानः सोमः परमात्मा । रघुयामा लघुगमनः सन् । रघिर्गत्यर्थो धातुः । रलयोरैक्याल्लघ्वर्थको हि रघुः । दिवस्परि द्युलोकस्योपरि प्रदेशे विराजमानः इतिशेषः । तस्यैव भगवतः सिन्धोः स्यन्दनशीलस्य करुणार्द्रहृदयस्योर्मौ परमात्मप्रवणे जीवविशेषे । ऋच्छतीत्यूर्मिः । 'अर्तेरुच्च' (उ० ४,४४) । व्यक्षरद् विशेषेण क्षरति कृपेतिशेषः ।। ३।४ ।।

९०१. सुत एति पवित्र आ त्विषिं दधान ओजसा ।
विचक्षाणो विरोचयन् ।। ४।४ ।। (ऋ० ९।३९।४)

सुत एतीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । पवित्रः सुतः पुत्रो भवन् त्विषिं दीप्तिमादधानो धारयन्, विरोचयन्प्रकाशयन्सर्वं जगदितिशेषः । विचक्षाणः विशेषेण पश्यन् सर्वमितिशेषः । स सोमः परमात्मौजसावतारकार्यसम्पादनक्षमतेजसैति मानवेष्वागच्छति । कोप्यवतारः कस्यापि पुत्रत्वमनुभवन्नपीहागच्छति । ओजसा शत्रुसंहारकबलेन च परिपूर्णो भवति ।। ४।४ ।।

९०२. आविवासन्परावतो अथो अर्वावतः सुतः ।
इन्द्राय सिच्यते मधु ॥ ५।४ ॥ (ऋ० ९।३९।५)

आविवासन्निति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । सुतः पुत्रत्वं गतः सोवतारः परावतो दूरस्थान् अथो अथ अर्वावतः समीपस्थान् भक्तान्साधून्सज्जनान् आविवासन्परिचरन् संरक्षन्नितिभावः । विवासतिः परिचरणकर्मा (निघ० ३।५।१०) इन्द्राय भक्ताय भक्तेभ्य इतिभावः । जातावेकवचनम् । मधु आनन्दम् । माद्यतेर्मधु (निघ० ४।८) । अथा मधु जलं तच्चानन्दरूपमेव । मधु धमतेर्विपरीतस्य (निघ० १०।३१) । सिच्यते सिञ्चति क्षरति ददातीति । अथवा दूरस्थान् समीपस्थांश्च दुर्जनानाद्विवासन् दूरीकुर्वन्निन्द्राय सज्जनाय मधु सिच्यत इत्यर्थोवगन्तव्यः ॥ ५।४ ॥

९०३. समीचीना अनूषत हरिं हिन्वत्यद्रिभिः ।
†इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ ६।४ ॥ (ऋ० ९।३९।६)

समीचीना इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । समीचीना उत्तमा जनाः । अद्रिभिरादरणीयैर्जनैः सह । हिन्वन्ति गच्छन्ति । अद्रय आदरणीया इति (नि० ९।९) । अथवा अद्रिभिः सर्वाघौघविदारणपरायणैर्जनैः सह । 'अद्रिराद्दणात्यनेन' (निघ० ४।४) । अथवा अद्रिभिर्महापुरुषावतारजन्यामोदास्वादकैः सह । 'अपि वात्तेः स्यात्' (निघ० ४।४) ।• इन्द्रं परमैश्वर्यम् । हरिं दोषापहारकम् । हरति पापानिति । अनूषत स्तुवन्ति । कीदृशम् ? इन्द्राय जीवविशेषस्य । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, पीतये पानाय विनाशायागतमिति शेषः । विनाशायेत्यस्य विलोपाय दूरीकरणायेत्यर्थः ॥ ६।४ ॥

---

† योनावृतस्य सीदतेत्युत्तमः ।

९०४. हिन्वन्ति सूरमुस्रयः स्वसारो जामयस्पतिम् ।
महामिन्दुं महीयुवः ॥ १५ ॥ (ऋ० ९।६५।१)

हिन्वन्तीति । भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । उस्रयो भूमौ निवसनशीलाः । वस निवासे । स्फायितञ्चिवञ्चीत्यादिना (उ० २।१२) रक् । सम्प्रसारणं बाहुलकम् । स्वसारः स्वस्वव्यापारं प्राप्तारः । स्वशब्दे उपपदे पद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इत्यस्माद्बाहुलकादर् टिलोपश्च । जामयो मनुष्याः । जनिघसिभ्यामिण् (उ० ४।१२६) नकारस्य मकारो बाहुलकात् । जायन्त इति जामयः । महीयुवः सत्कारं कामयमानाः । महां महनीयं महान्तं वा । इन्दुं दीप्तिमन्तम् । इन्धी दीप्तौ । सूरं सर्वोत्पादकम् । सू धातोः क्रन् (उ० २।२४) । पतिं रक्षकं परमात्मानं हिन्वन्ति गच्छन्ति । परमात्मानं शरणमाश्रित्य सच्छीलादिसम्पन्ना जनाः पवित्रा मोक्षार्हा भवन्ति सत्कारं च लभन्ते ॥ १५ ॥

९०५. पवमान रुचारुचा देवो देवेभ्यः† सुतः ।
विश्वा वसून्या विश ॥ २५ ॥ (ऋ० ९।६५।२)

पवमानेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे पवमान सर्वपावक, देव प्रकाशस्वरूप महेश्वर, रुचारुचा परमतेजसा देवेभ्यः पवित्रजनेभ्यः पवित्रजनानां कल्याणायेतितात्पर्यम् । सुतः स्वयमुत्पन्नस्त्वम् । विश्वा विश्वानि सर्वाणि वसूनि धनानि शमदमादिरूपाणि आ विश प्रविश । प्रवेशय सर्वानिति भावः । णिजर्थः ॥ २५ ॥

९०६. आ पवमान सुष्टुतिं वृष्टिं देवेभ्यो दुवः ।
इषे पवस्व संयतम् ॥ ३५ ॥ (ऋ० ९।६५।३)

---

† देवेभ्यस्परीत्यृक्पाठः ।

आ पवमानेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे पवमान परमेश्वर, देवेभ्यो देवानां महात्मनाम् । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । दुवः चतुर्थ्यालुक् । दुवसे । राधसे कल्याणाय । दुवस्पती राध्नोतिकर्मेति यास्कः (नि० १०।२०) । सुष्टुतिं प्रशंसनीयां वृष्टिं मनःकामसिद्धिम् । आ पवस्व आगमय प्रापयेत्यर्थः । किं च इषे इच्छायै इच्छापूर्तये । संयतं संयममित्यर्थः । आगमयास्मानितिशेषः ॥ ३५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः



९०७. जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे ।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः
शुचिः ॥ १६ ॥ (ऋ० ५।११।१)

जनस्य गोपा इति । सुतम्भर आत्रेय ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती छन्दः । अत्राग्निः सर्वत्र गमनशीलः परमात्मा ग्राह्यः । जनस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य गोपा रक्षको जागृविर्जागरणशीलो जगद्रक्षणविषये । सुदक्षः समुत्साहः समृद्धयुक्तो वा । दक्षतिः समर्धयतिकर्मा । अग्निः परमेश्वरो नव्यसे नवतराय । नवशब्दादीयसुन् । ईकारलोपश्छान्दसः । अतो लोपः । सुविताय सर्वकल्याणाय । अजनिष्ट प्रादुर्बभूव । प्रादुर्भवतीत्यर्थः । प्रादुर्भवन्निव प्रतियत इति भावः । स च घृतप्रतीकः क्षरणप्रतिदर्शनः । घृ क्षरणदीप्त्योः । इह क्षरणशब्दः कृपापरवशां भगवद्द्रुतिमुपलक्षयति । कृपावशाद्द्रवणप्रतिदर्शन इति भावः । प्रतीकं प्रत्यक्तं भवति प्रति दर्शनमिति वेति यास्कः (नि० ७।३१) । बृहता महता दिविस्पृशा हृदयाकाशस्पर्शकृता तेजसेति शेषः । शुचिः शुद्धः प्रदीप्तो वा । शुच दीप्तौ । सन् भरतेभ्य आत्मोन्नतिपरायणेभ्यः । डु भृञ् धारणपोषणयोः । भृमृ[illegible] (उ० ३।११०) अतच् । जीवेभ्यः

द्युमत्प्रकाशवद्यथा तथा वि भाति विशेषेण प्रकाशते। य आत्मोन्नतिपरायणाः शमदमादिसेवननिरतास्तेभ्य एव स परमात्मात्मानं प्रकाशयतीतिभावः ॥ ११६ ॥

९०८. त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दच्छि†श्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥२१६॥
(ऋ० ५।११।२)

त्वामग्न इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। अङ्गिरसो नाम ऋषयः। तेषां विषये यास्क आह "अङ्गारेष्वङ्गिराः" (नि० ३।१७)। "येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसो भवन्" इत्यैतरेयब्राह्मणे (३।३४)। "ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे" इत्यृग्वेदे (१०।६२।५)। एतेन ज्ञायते ते सुप्रसिद्धास्तेजस्विन ऋषय आसन्। तेषामेवेयं कथा सामवेदेनापि कथ्यते। हे अग्ने परमात्मन्, वनेवने प्रतियाच्ञम्। वनु याच्ञायाम्। यदा यदा भगवत्स्वरूपदर्शनं याचितं बभूव तदा अङ्गिरसस्तन्नामानो महापुरुषा हितं निहितं कल्याणकारिणं वा शिश्रियमाणमाश्रेष्यमाणं त्वा गुहायां हृदयगुहायाम् अन्वविन्दत्-अन्वविन्दन्। छान्दसमेकवचनम्। एवमेव गुहायां मथ्यमानोन्विष्यमाणः स त्वं जायसे उत्पद्यसे। हे अङ्गिरः, अङ्गिरोभिर्लब्धत्वात्तत्सम्बन्धित्वादङ्गिर इति सम्बोधनम्। त्वां सहो बलं महत्सर्वश्रेष्ठं सर्वव्यापकं वा। आहुर्ऋषयः। किं च सहसस्पुत्रमप्याहुः। सहसा बलेन श्रमेण महता तपसोत्पाद्यमानत्वात्त्वां सहसो बलस्य पुत्रं जन्यमाहुः ॥ २१६ ॥

† मन्वविन्दं च्छिश्रियाणमित्यौंघपाठः। मन्वविन्दच्छिश्रियमाणमित्यजमेरपाठः। मन्वविन्दञ्छिश्रियाणमित्यृक्पाठः।

९०९. यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समिन्धते† ।
इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः
॥ ३१६ ॥
(ऋ० ५।११।३)

यज्ञस्येति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । नरो मनुष्या भक्ता इति भावः । यज्ञस्याध्यात्मिकयज्ञस्य शमदमदयादानादिरूपस्य केतुं प्रकाशकं प्रथमं सर्वश्रेष्ठं पुरोहितमग्रे हिताधायकम् । अथवा तादृशयज्ञाधायकमग्रे संस्थापयितारम् । पुरोहितः पुर एनं दधातीति यास्कः (नि० २।१२) । अग्निं परमात्मानम् । अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममान इति यास्कः (नि० ७।१४) । त्रिषधस्थे त्रिस्थाने मूर्धनि जिह्वायां हृदये च समिन्धते दीपयन्ति स्थापयन्तीतिभावः । यद्यपि त्रिषु सह तिष्ठतीति त्रिषधस्थ इत्येव विग्रहस्तथापि योग्यत्वात्त्रिस्थानपर्यन्तधावनम् । ध्यानावसरे त्रिष्वेव स्थानेषु जीवेश्वरौ सहैव तिष्ठतः । भक्ता भगवन्तं मूर्धनि ब्रह्मरन्ध्रे ध्यानार्थं हृदये भजनार्थं वाचि च नामजपार्थं स्थापयन्तीति भावः । सुक्रतुः सत्कर्मा होता भक्तः स बर्हिषि हृदयान्तरिक्ष इन्द्रेण जीवेनात्मना सह देवैरिन्द्रियैश्च सह यजथाय भक्तिरूपाध्यात्मिकयज्ञाय सरथं रथो मनोऽत्र । समनो यथा तथा मनसापि सहेति भावः । नि सीदत् निषीदति । इन्द्रियेषु सात्त्विकताप्रतिपादनाय देवैरिति । मनसि रामणीयकत्वप्रतिपादनाय रथ इति । उपासक आत्मनि श्रद्धैश्वर्यप्रतिपादनायेन्द्रेणेति ॥ ३१६ ॥

९१०. अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा ।
ममेदिह श्रुतं हवम् ॥ ३१७ ॥
(ऋ० २।४१।४)

अयं वामिति । गृत्समदः शौनक ऋषिः । मित्रावरुणौ देवता ।

† समीधिरे इत्युक्पाठः ।

गायत्री छन्दः। अस्य मन्त्रस्य देवता मित्रावरुणौ। मित्रावरुणयोः सम्बन्धे पूर्वं यदुक्तं तत्स्मरणीयम्। सत्यपि द्विवचने न ते द्वे देवते। एकैवेति मन्तव्यम्। एवं च वामित्यपि द्विवचनमेकवचनार्थमेव। हे मित्रावरुणा मित्रावरुणौ परमस्निग्ध वरणीय ऋतावृधा ऋतावृधौ सत्यवर्धक परमेश्वर, अयं सोमः शान्तियज्ञो भक्तियज्ञो वां ते त्वदर्थः सुतो निष्पादितोस्ति क्रियते इति तात्पर्यम्। इहास्मिन्यज्ञे मम हवमाह्वानं श्रुतं भवतु इत् भवत्वेव। भवत्वित्यध्याहार्यम्॥ १।७॥

९११. राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे।
सहस्रस्थूण आशाते† ॥ २।७॥ (ऋ० २।४१।५)

राजानेति। ऋष्यादयः उक्ताः। अनभिद्रुहौ अनभिध्रुक् न कस्मायपि द्रोग्धा, राजानौ राजा दीप्तिमान् सहस्रस्थूणः स्थूणाधारस्तम्भ। सहस्राणि आधारस्तम्भा यस्य बहुभिः प्रकारैराश्रयप्रदातेत्यर्थः। परमात्मा ध्रुवे स्थिरे सदसि हृदयरूपे स्थाने आशाते आसाते आस्त इत्यर्थः। भगवान् बहुभिः प्रकारैर्जीवेभ्योवलम्बं ददाति। पवित्रे च तस्य हृदये स आसीनो भवतीत्युक्तम्। द्विवचनं पूर्ववन्निर्वोढव्यम्॥ २।७॥

९१२. ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती।
सचेते अनवह्वरम्॥ ३।७॥ (ऋ० २।४१।६)

ता सम्राजेति। ऋष्यादय उक्ताः। ता तौ सम्राजा सम्राजौ स सम्राट् सम्यग् राजमानो घृतासुती दीप्तीजनकौ दीप्तिजनक इत्यर्थः। घृक्षरणदीप्त्योः। षुञ् अभिषवे। बाहुलकादौणादिकस्तिन्। आदित्या आदित्यौ आदित्य अविनाशी दानुनस्पती दानुनस्पतिर्दानपतिः (नि० २।१३)। परमात्मा अनवह्वरमकुटिलं शुद्धहृदयं भक्तं

† आसाते इत्यूक्पाठः।

सचेते सचते समवैति संगत्य तत्र तिष्ठतीत्यर्थः। अकुटिलमेव जनं स परमात्मानुगृह्णातीति भावः ॥ ३।७ ॥

९१३. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव ॥ १।८ ॥ (ऋ० १।८४।१३)

इन्द्रो दधीच इति। गौतमो राहूगणऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः †। अत्र शाटयायनिन इतिहासमाचक्षते सोन्यत्र द्रष्टव्यः ॥ १।८ ॥

९१४. इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्।
तद्विदच्छर्यणावति ॥ २।८ ॥ (ऋ० १।८४।१४)

इच्छन्नेति। ऋष्यादयः उक्ताः। अश्वस्य सर्वव्यापकस्य। अशूङ् व्याप्तौ। परमात्मनः। यत् शिर आश्रयणीयो भागः। "श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च" (उ० ४।१९४) पर्वते पर्ववत्सु शरीरेषु। शरीराणि पर्ववन्ति भवन्ति। हस्तादयोऽवयवा एव पर्वाणि। अपश्रितमपसृत्य श्रितं स्थितम्। तत् तं भागम्। शर्यणावति शर्यणा नाम देशाः श्मशानप्रदेशाः। शीर्यन्ते देहा यत्रेति। तेषामविदूरे समीपे काले। विदत् तत्वज्ञो वेत्ति। अयं भावः। नास्ति परमात्मनः कोपि भागो विभागरहितस्य। तथापि काल्पनिको भागस्त्वस्त्येव। स चोपास्यो भागः शरीरेष्ववस्थितः। शरीरमेव परमेश्वर इति मत्वाज्ञानिजनस्तदेव सेवत इतितात्पर्यम्। श्मशानगमनसमयो यदा न दूरे भवति तदा मृत्योः समीपस्थे काले शरीरमेवेश्वर इत्यज्ञानमपसृतं भवति याथार्थ्येन च परमात्मनो ज्ञानं जायते। भवाटवीं पर्यटन् जीवः श्रान्तिमनुभवन्नन्तिमे काले यथाकथञ्चित्परमात्म-

† पूर्वार्चिके १७९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

प्रवणो भवतीति मन्त्रस्याशयः। अयमपि मन्त्रो दधीचिकथाङ्गभूत इत्यैतिहासिकाः॥ २१८॥

९१५. अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे॥ ३१८॥　　(ऋ० १।८४।१५)

अत्राहेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। व्याख्यातोयं मन्त्रः †।

९१६. इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः।
अभ्राद्वृष्टिरिवाजनि॥ ११९॥　　(ऋ० ७।९४।१)

इयं वामस्येति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः। इन्द्राग्नी देवता। गायत्री छन्दः। मित्रावरुणाविवेहापि नेन्द्राग्नी द्वे देवते। एकैव देवता य एवेन्द्रः स एवाग्निः। उभाभ्यामेव शब्दाभ्यां परमेश्वर एव वर्ण्यते। हे इन्द्राग्नी परमेश्वर, अस्योपासकस्य ममेत्यर्थः। मन्मनो मननम्। यन्मया मन्यते सेति भावः। मन्मानि मननानीति यास्कः (नि० ८।६)। इयं क्रियमाणा पूर्व्यस्तुतिः पूर्व्या श्रेष्ठा स्तुतिर्वां युवयोस्तवेति भावः। अभ्रादाकाशान्मेघाद्वा-वृष्टिरिवाजन्यजायत। यथा मेघात्पतिता वृष्टिः सर्वान्सुखयति तथैवेयं मत्कृता भावत्की स्तुतिर्भवतः प्रसादाय भवत्विति भावः॥ ११९॥

९१७. शृणुतं जरितुर्हवमिन्द्राग्नी वनतं गिरः।
ईशाना पिप्यतं धियः॥ २१९॥　　(ऋ० ७।९४।२)

शृणुतमिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्द्राग्नी परमात्मन् जरितुः स्तोतुर्मम। जरितेति स्तोतृनाम (निघ० ३।१६।२)। जरतिस्तुतिकर्मा। हवमाह्वानं शृणुतं शृण्वित्यर्थः। गिरो मदी-

† पूर्वार्चिके १४७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

यानि वचनानि प्रार्थनावचनानीतियावत् । वनतं संभजतं संभजेत्यर्थः । प्रार्थनावचांसि श्रुत्वा फलं दातुमिच्छेत्यर्थः । ईशाना ईशानौ ईश्वरौ समर्थौ समर्थस्त्वमित्यर्थः । धियः कर्माणि मदीयानि अनुष्ठितान्यनुष्ठेयानि च । धीरिति कर्मनाम (निघ० २।१।२१) पिप्यतं वर्धयतं वर्धयेत्यर्थः । ओप्यायी वृद्धौ ॥ २।९ ॥

९१८. मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी माभिशस्तये ।

मा नो रीरधतं निदे ॥ ३।९ ॥ (ऋ० ७।९४।३)

मा पापत्वायेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे नरा नरौ नरेत्यर्थः । इन्द्राग्नी परमेश्वर, पापत्वाय हीनत्वाय नोस्मान्मा रीरधतं रीरध वशीकुरु । अभिशस्तये दुष्कर्मणे मा रीरध । निधे निन्दकाय नोस्मान्मा रीरधतं रीरध वशीकुरु ॥ ३।९ ॥

इति तृतीयः खण्डः

अथ चतुर्थः खण्डः

९१९. पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।

मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥ १।१० ॥ (ऋ० ९।२५।१)

पवस्व दक्षेति । दृढच्युत आगस्त्य ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।१० ॥

९२०. सं देवैः शोभते वृषा कविर्योनावधि प्रियः ।

‡पवमानो अदाभ्यः ॥ २।१० ॥ (ऋ० ९।२५।३)

† पूर्वार्चिके ४७४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ वृत्रहा देववीतय इत्यृक्पाठः ।

सं देवैरिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। परमेश्वर उपवर्ण्यते। वृषा सर्वकामानां वर्षको दाता। कविः क्रान्तदर्शी विद्वान्वा। योनौ गृहे भक्तान्तःकरणे। योनिरिति गृहनाम (निघ० ३।४।१४) अधि अधिष्ठितः। अधिरुपसर्गो योग्यं धातुमध्याहरति। प्रियः सर्वेषां प्रियकर्ता। पवमानः पवित्रकर्ता परमेश्वरः। देवैर्विद्वद्भिः सदाचारैर्वा सह अदाभ्यः, न ददतीत्यदास्तेभ्यः परमात्मनि ध्यानं न ददति तेभ्य इति भावः। अदानिवर्तकेभ्य इत्याशयः। मशकाय धूम इतिवत्प्रयोगः। अथवा अदाभ्योहिंस्रेभ्यस्तद्भक्तेभ्यः। दभ्नोतीतिवधकर्मा (निघ० २।१९।१) सं शोभतेधिकं शोभत इत्यर्थः॥ २।१०॥

९२१. पवमान धिया हितो ३ऽभि योनिं कनिक्रदत्।
धर्मणा वायुमारुहः† ॥ ३।१०॥

(ऋ० ९।२५।२)

पवमानेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे पवमान परमात्मन्, धिया कर्मणा जीवकर्मणा हेतुना हितो जीवहितकारकः। योनिम् अभि जीवमभिलक्ष्येत्यर्थः। योनिर्गृहमित्युक्तम्। जीवः पारमेश्वरं गृहम्। तत्र स निवसतीति। कनिक्रदच्छब्दं कुर्वंस्त्वं धर्मणा धारयित्रा बलेन। वायुमूर्ध्वंगमनशीलं जीवमारुहः आरोहयोर्ध्वलोकं मोक्षमित्यर्थः। जीवाः सत्कर्म कुर्वन्ति। तेन प्रसन्न ईश्वर जीवमभिलक्ष्याधिकमुत्तमं कर्म कारयितुं प्रेरयति। प्रेरणैव शब्दः। ईश्वरप्रेरणया प्रेरितो जीवोधिकं सत्कर्माचरन् परमात्मना परं धामारोहितो भवतीतिभावः॥ ३।१०॥

---

† माविशेत्यृक्पाठः।

९२२. तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे । पुरूणि
बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधींरति ताँ इहि ॥ १।११ ॥

(ऋ० ९।१०७।१९)

तवाहमिति । सप्तर्षयः (भारद्वाजो वार्हस्पत्यः, कश्यपो मारीचः । गोतमो राहूगणः, अत्रिर्भौमिः, विश्वामित्रो गाथिनः, जमदग्निर्भार्गवः, वसिष्ठो मैत्रावरुणिः) । पवमानः सोमो देवता । प्रगाथः (विषमा वृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥१।११॥

९२३. ‡तवाहं नक्तमुत सोम ते दिवा *दुहानो बभ्र ऊधनि
घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शकुना इव पप्तिम ॥ २।११ ॥

(ऋ० ९।१०७।२०)

तवाहमिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे बभ्रो ! सर्वदुःखहारिन् । बभ्रूणामित्यत्र "बभ्रूवर्णानां हरणानां भरणानामिति वेति" यास्कः (नि० ९।२८) । हे सोम शान्तस्वरूप परमेश्वर । नक्तं रात्रावुत दिवाहनि । अहोरात्र इत्यर्थः । तव त्वदीयोहमुपासकः । ते तव । ऊधनि समीप इति सायणाचार्यः । अथवा ऊधनि रात्रौ । स्नेहानुप्रदानसामर्थ्याद्रात्रिरप्यूध उच्यत इति यास्कः (नि० ६।१९) । दुहान आत्मानं प्रपूरयन्, त्वत्तो रसं वाददानः । शकुना इव शक्त इव । घृणा दीप्त्या । घृ क्षरणदीप्त्योः । तपन्तं दीप्यमानम् । सूर्यं सर्वप्रेरकम् । प्रेरणार्थात्सुवतेर्निपातनात् क्यपि रुडागमः । अथवा सरति गच्छति भक्तानिति सूर्यस्तम् । परः परम् । द्वितीयार्थे प्रथमा । त्वां परमेश्वरमति

† पूर्वार्चिके ५१६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ उताहमित्यृक्पाठः । * सख्यायेत्यृक्पाठः ।

पतामि अतिशयेन पतामि त्वां प्राप्नोमीति भावः । अयं भावः । भक्तोहोरात्रं भगवन्तं ध्यायति । परं रात्रावतिशान्तो भवन्नुपास्यस्य सकाशाद्बलमधिगत्यात्मानं प्रपूरयन् शक्तश्च तेन भवन्निव परमात्मानं प्रति पतत्यहर्दिवम् ॥ २।११ ॥

९२४. पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः ।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥ १।१२ ॥ (ऋ० ९।४०।१)

पुनानो अक्रेति । बृहन्मतिराङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।१२ ॥

९२५. आ योनिमरुणो रुहद्गमदिन्द्रो‡ वृषा सुतम्* ।
ध्रुवे सदसि सीदतु§ ॥ २।१२ ॥ (ऋ० ९।४०।२ (

आ योनिमेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । अरुण आरोचनो दीप्तिमान् । अरुण आरोचन इति यास्कः (नि० ५।२१) । सोमः शान्तस्वरूपः परमेश्वरः । योनिं भक्तमनोमन्दिरम् । योनिरिति गृहनाम । आ रुहत् आरोहति । ततः परं स वृषा कामानां वर्षक इन्द्रः सर्वैश्वर्यसंपन्नः सुतं पुत्रत्वेन परिगृहीतं भक्तजनं गमद् गच्छति । परमात्मा प्रथममुपासकानां हृदयमधितिष्ठति । जाते च हृदयपावित्र्ये पुत्रत्वेनावगतं तं भक्तमनुगृह्णाति । मनःशुद्धिमन्तरेण न कस्मिन्नप्यनुग्रहः परमेश्वरस्येति तात्पर्यम । ततः परं स परमेश्वरो ध्रुवे निश्चले सदसि भक्तमनसि सीदतु सीदतीति तात्पर्यम् । भक्तानुग्रहानन्तरं भक्तहृदये स सार्वदिकं निवासं तनुत इति मन्त्रोपदेशाशयः ॥ २।१२ ॥

---

† पूर्वार्चिके ४८८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ दिन्द्रमित्यृक्पाठः । * सुत इत्यृक्पाठः । § सीदतीत्यृक्पाठः ।

९२६. नू नो रयिं महामिन्दोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः ।
आ पवस्व सहस्रिणम् ॥ ३।१२ ॥ (ऋ० ९।४०।३)

नू नो रयिमिति । ऋष्यादयः उक्ताः । हे इन्दो परमैश्वर्य सोम परमेश्वर नोऽस्मभ्यं भक्तेभ्यस्त्वं नु क्षिप्रम् (निघ० २।१५।१) । महां महनीयं सहस्रिणमसंख्याकं रयिं धनं विद्यासदाचाररूपं विश्वतः सर्वत आ पवस्व आगमय प्रापयेत्यभ्यर्थना ॥ ३।१२ ॥

इति चतुर्थः खण्डः



अथ पञ्चमः खण्डः

९२७. पिबा सोममिन्द्र मन्दन्तु† त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥ १।१३ ॥ (ऋ० ७।२२।१)

पिबा सोमेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।१३ ॥

९२८. यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि ।
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २।१३ ॥ (ऋ० ७।२२।२)

यस्ते मद इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । अस्मिन्मन्त्रे इन्द्रो जीवात्मा । हे हर्यश्व हरौ परमेश्वरेऽश्व आत्मा यस्य । अशूङ् व्याप्तौ । व्याप्नोति स्वं शरीरमित्यश्वः । एवंभूत हे इन्द्र, यस्ते तव मद आनन्दकरश्चारु रमणीयो युज्य उपास्योस्ति, येन च हेतुना त्वं वृत्राणि पापानि मनोदौर्बल्यानि हंसि नाशयसि, हे प्रभू-

† मदन्त्वित्यौघपाठः ।
‡ पूर्वार्चिके ३१८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

वसो समर्थधन, परमेश्वर एव धनं यस्य एवंभूत जीव, एवंभूतं परमेश्वरोपासकं त्वां स परमेश्वरो ममत्तु मादयतु हर्षयतु। मदी हर्षे ॥ २।१३ ॥

९२९. बोधा सु मे मघवन्वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम्। इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥ ३।१३ ॥

(ऋ० ७।२२।३५)

बोधा सु म इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। वसिष्ठः कथयति—हे मघवन् भक्तिधन जीव, वसिष्ठोयमृषिरस्य मन्त्रस्य ते तव कल्याणयेति शेषः। इमानुपस्थितां यां प्रशस्ति प्रशस्तामितिभावः। वाचमर्चति समर्पयति उपदिशतीतिभावः। तां सु शोभनतया आ बोध समन्ताद्बुध्यस्व। बुद्ध्वा च सधमादे स्वहृदये। सह माद्यतो जीव ईश्वरश्च यत्र। ब्रह्म परमात्मानं जुषस्व सेवस्व। मदुपदेशानुसारं व्यवहृत्य परमात्मानं प्राप्स्यसीति वसिष्ठाशयः ॥ ३।१३ ॥

९३०. विश्वाः पृतना अभिभूतरं नूरः† सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे। ‡क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरिमुतोग्रमोजिष्ठं *तरसं तरस्विनम् ॥ १।१४ ॥ (ऋ० ८।९७।१०)

विश्वाः पृतना इति। रेभः काश्यप ऋषिः। इन्द्रो देवता। अतिजगती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः§ ॥ १।१४ ॥

† नरमित्यृक्पाठः।

‡ क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतो...इत्यृक्पाठः।

* तवसमित्यृक्पाठः।

§ पूर्वाचिके ३७० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

९३१. नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरे† ।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ॥ २।१४ ॥
(ऋ० ८।९७।१२)

नेमिमिति । ऋषिदेवते उक्ते । उपरिष्टाद् बृहतीच्छन्दः । अभिस्वरे अभितः सर्वतः स्वराः शब्दा यत्र तस्मिन् ईश्वरस्तोत्रपाठे विप्रा विद्वांसः । विप्र इतिमेधाविनाम (निघ० ३।१५।१) नेमिं जगन्नेतारं मेषं हृदयतर्पकं चक्षसा दर्शकेन नमन्ति प्रणमन्ति । दर्शनमात्रेण दर्शनेनैव वाचा वा । परमात्मानं मेधाविनः प्रणमन्ति । सुदीतयः सुदीधितयः सुगतयो वा । दीयतिर्गतिकर्मा (निघ० २।१४।६९) । अद्रुहोद्रोग्धारः । तरस्विनो बलवन्तः । वो यूयम् । वसादेशश्छान्दसः । इन्द्रस्य परमात्मनः । कर्णेश्रोत्रयो । ऋक्वभिर्ऋङ्मन्त्रैः स्तुतिवचनैः । सम् संस्तुत । समुपसर्गबलेन क्रियापदाध्याहारः । मेधाविनः सर्वे यं परमात्मानं दर्शनमात्रेण कृतकृत्याः सन्तः प्रणमन्ति तमुपासनामार्गप्रवृत्ता यूयमपि संस्तुत तथा यथा तस्य कर्णे युष्माकं स्तुतिवचनानि प्राप्नुयुः । निर्मलेन चेतसा श्रद्धया च स्तुतेतितात्पर्यम् । न हि परमेश्वरस्य कर्णादीनीन्द्रियाणि सन्ति ॥ २।१४ ॥

९३२. समु‡ रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
*स्वःपतिर्यदी§ वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ॥ ३।१४ ॥
(ऋ० ८।९७।११)

समु रेभास इति । ऋषिदेवते उक्ते । छन्दोप्युक्तम् । सोमस्य शान्तस्य शान्तरसस्य पीतये पानाय रेभासः स्तोतारः । रेभ इति

† अभिस्वरा इत्यृक्पाठः । ‡ समीमित्यृक्पाठः ।
* स्वर्पतिरित्यृक्पाठः । § यदीमित्यृक्पाठः ।

स्तोतृनाम (निघ० ३।१६।१) । इन्द्रं परमात्मानम् सम् उ अस्वरन् समस्वरन् सम्यक् शब्दायन्त्येव । स्वृ शब्दोपतापयोः । यत् ई येनैव हेतुना धृतव्रतः स्वजनरक्षायै गृहीतसंकल्पः स्वःपति, सर्वसुख-स्वामी स ओजसा बलेन । ऊतिभी रक्षाभिः संरक्षणसामर्थ्यैरिति-भावः । हि अवश्यम् । सं वृधे संवर्धते । यदा भक्ताः स्वरक्षार्थं परमात्मानं स्वरन्ति तदा सोवश्यं रक्षणसामर्थ्यैराजसा च सवृद्धो भवति । रक्षासन्नद्धो भवतीतिभावः ।। ३।१४ ।।

९३३. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं† सो वृत्रहा गृणे ।। १।१५ ।।
(ऋ० ८।७०।१)

यो राजेति । पुरुहन्मा आङ्गिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ‡ ।। १।१५ ।।

९३४. इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
*हस्तेन वज्रः प्रति धायि दर्शतो §महां देवो£ न
सूर्यः ।। २।१५ ।। (ऋ० ८।७०।२)

इन्द्रं तमिति । ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । छन्दः प्रगाथः—समा सतो बृहती । पुरुहन्मा ऋषिरात्मानं सम्बोध्य कथयति, हे पुरुहन्मन् यस्य तव विधर्तरि विशेषेण धारके पोषके वेन्द्रे । अवसे रक्षणाय रक्ष्याणामितिशेषः । द्विता द्वैतमस्ति कृपा कोपश्चेति । कृपया सौहार्देनापि स रक्ष्यं रक्षति कोपेनापि । कृपया रक्षा प्रसिद्धा ।

---

† ज्येष्ठ इत्यृक्पाठः ।
‡ पूर्वार्चिके २७३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
* हस्तायेत्यृक्पाठः । § "महो" इत्यृक्पाठः । £ दिवे इत्यृक्पाठः ।

कोपेन च कस्यचिदुद्धतस्य शक्तिमपहृत्याशक्तिकस्य तस्य वधं विधाय तद्द्वारा पापप्रवृत्तिं निरुध्य क्रमशो निष्पापं तं विधाय रक्षणं करोति। तं शुम्भ वद। शुम्भ भाषणे। द्वितीयं कोपरूपसामर्थ्यं विवरीतुमेव वदति, हस्तेन दर्शतो दर्शनीयो वज्रः प्रति धायि प्रतिधीयते। निधीयते दुर्जनानां प्रशमायेति भावः। महान् देयो न सूर्यः, यथा स स्वहस्तेन तिमिरापनोदाय महान् देवः सूर्यो निधीयते तद्वत्॥ २।१५॥

इति पञ्चमः खण्डः



अथ षष्ठः खण्डः

९३५. परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः।
†स्वानैर्याति कविक्रतुः॥ १।१६॥ (ऋ० ९।९।१)

परि प्रिया इति। असितः काश्यपो देवलो वर्षिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः॥ १।१६॥‡

९३६. स सूनुर्मातरा शुचिर्जातो जाते अरोचयत्।
महान्मही ऋतावृधा॥ २।१६॥ (ऋ० ९।९।३)

स सूनुरिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। अत्र सोमशब्देन परमेश्वरभक्तोभिहितः। जात उत्पन्नः शुचिः शुद्धो दीप्तिमान्वा स प्रसिद्धः परमेश्वराज्ञानुकारी महान् पूज्यः सूनुः पुत्रो मही महत्यौ ऋतावृधा सत्यस्य वर्धयित्र्यौ जाते जनयित्र्यौ मातरा मातरौ

† 'सुवानो' इत्यृक्पाठः।
‡ पूर्वार्चिके ४७८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

द्यावापृथिव्यौ। अरोचयत् प्राकाशयत्। महान् पुरुषो यदावतरति पृथिव्यां तदा पृथिवीमपि यत आगतस्तं लोकमपि प्रकाशयति। अथवा मातापितरावुभौ। प्रकाशयति। माता च पिता च मातराविति च्छान्दसः प्रयोगः ॥ २।१६ ॥

९३७. प्रप्र क्षयाय पन्यसे जनाय जुष्टो †अद्रुहः।
वीत्यर्ष ‡पनिष्टये ॥ ३।१६ ॥ (ऋ० ९।९।२)

प्र प्र क्षयायेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। ऋषिः सोमाख्यं परमात्मानं प्रार्थयते हे—सोम परमेश्वर प्रप्र क्षयायात्यान्तिकनिवासस्थानाय। क्षि निवासे। पन्यसे परमेश्वरार्चकाय। परमेश्वरस्तुतिकर्त्रे वा। अद्रुहोद्रुहे कस्मा अपि न द्रुह्यते। जनाय मनुष्याय। अथवा द्रुह इतिपष्ठ्यन्तपदबलेन क्षयाय निवासस्थानभूतस्य। पन्यसे परमेश्वरार्चकस्य। जनाय जनस्य। पनिष्टयै स्तुत्यर्थम्। पनधातोः क्तिन्। सकार उपजनः। वीती वीत्यै तस्योत्कृष्टगतये च। जुष्टः सेवितः सन् अर्ष तत्समीपं गच्छ ॥३।१६॥

९३८. त्वं ह्या३ङ्ग दैव्य* पवमान जनिमानि द्युमत्तमः
अमृतत्वाय घोषयन्§ ॥ १।१७ ॥ (ऋ० ९।१०८।३)

त्वं ह्या३ङ्गेति। शक्तिर्वासिष्ठ ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। काकुभः प्रगाथः—विषमा ककुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः£ ॥ १।१७ ॥

† 'अद्रुहे' इत्यृक्पाठः। ‡ 'चनिष्ठया' इत्यृक्पाठः।
* दैव्या इत्यृक्पाठः।
§ 'घोपयः' इत्यृक्पाठः।
£ पूर्वार्चिके ५८३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

९३९. येना नवग्वा† दध्यङ्ङपोर्णुते येन विप्रास आपिरे ।
देवानां सुम्ने अमृतस्य चारुणो येन श्रवांस्याशत‡ ॥ २।१७ ॥
(ऋ० ९।१०८।४)

येना नवग्वेति । ऊरुराङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । काकुभः प्रगाथः—समा सतो वृहती छन्दः । नवग्वा नवग्वो नवगतिर्नवनीतगतिर्वा (नि० ११।१९) । नवा नवीना गतिरुद्योगो यस्य स नवगतिः । नवे नीतागतिर्येन स नवनीतगतिः शिक्षक आचार्यः । दध्यङ् ध्यानं प्रतिगतः । ध्यानशब्दोपपदादञ्चतेः क्विन् । पृषोदरादित्वाद् ध्यानशब्दस्य दधिभावः । दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानमितिवा, प्रत्यक्तमस्मिन्ध्यानमिति वा (नि० १२।३३) । भगवद्ध्यानपरायणः । येनाचारेण । अपोर्णुते सोमं परमात्मानम् अपाच्छादयति प्राकट्यं नयति । येन चाचरेण विप्रासो विशेषेणात्मानं पूरयन्ति ये ते । आपिरे परमात्मनमाप्तवन्त । आप्नुवन्ति इति भावः । देवानां देवाः । प्रथमार्थे षष्ठी छान्दसी । सुम्ने सुखाय । सुम्नमिति सुखनाम (निघ० ३।६।१६) । चारुणोतिसुन्दरस्यामृतस्य ब्रह्मणः । श्रवांसि यशांसि प्रशंसा वा । येनाचारेण आशत आनशुर्व्याप्नुवन् व्याप्नुवन्तीतिभावः । ईश्वरयशोव्याप्तिर्नाम तन्माहात्म्यानुभवः । तमाचारं पवित्रमाचरतेत्याध्याहारः ॥ २।१७ ॥

९४०. सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं* वारं वि धावति ।
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ॥ १।१८ ॥
(ऋ० ९।१०६।१०)

---

† 'नवग्वो' इत्यृक्पाठः । ‡ '....स्यानशुः' इत्यृक्पाठः ।
* ऊर्मिणाव्य इत्यृक्पाठः ।

सोमः पुनान इति। अग्निश्चाक्षुष ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। उष्णिक् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१८ ॥

९४१. धीभिर्मृजन्ति‡ वाजिनं वने क्रीडन्तमत्यविम्।
अभि त्रिपृष्ठं मतयः समस्वरन् ॥ २।१८ ॥

(ऋ० ९।१०६।११)

धीभिरिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। अत्र सोमशब्देन ऋषिकुमारो गृह्यते। वने ज्ञाने। वनु सम्भक्तौ। वन्यते सेव्यते इति वनं ज्ञानम्। अज्ञानान्धनिवारणाय ज्ञानमेव सेव्यते। तत्र क्रीडन्तं रममाणम्। अत्यविम् अतिशयेनावी रक्षणं यस्य तमतिरक्षायुक्तं वाजिनं ज्ञानधनमृषिकुमारम्। धीभिर्बुद्धिभिर्मृजन्ति शोधयन्ति। के ? ज्ञानिन ऋषयः। किं च मतयो मेधाविनः। मतिरिति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।२२)। त्रिपृष्ठं त्रिभिर्वेदैः स्पृष्टम्। त्रयीज्ञानवन्तमित्यर्थः। शिष्यम् अभि अभितः समस्वरन् सस्तुवन्ति। पृष्ठं स्पृशतेरिति यास्कः (नि० ४।३) ॥ २।१८ ॥

९४२. असर्जि कलशां अभि मीढ्वांत्सप्तिर्न* वाजयुः।
पुनानो वाचं जनयन्नसिष्यदत् ॥ ३।१८ ॥

(ऋ० ९।१०६।१२)

असर्जीति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। सप्तिर्न अश्व इव। वाजयुर्न धनं कामयमान इव मीढ्वान् ज्ञानजलसेकसमर्थः। सप्तिः शास्त्रज्ञानसमवेतः। षप समवाये। आचार्यः सोमपदवाच्यः। कलशान् कलापूर्णान् शिष्यान्। कलशः कस्मात् ? कला अस्मिञ्शेरते

---

† पूर्वार्चिके ५७२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ ....'हिन्वन्ति' इत्यृक्पाठः। * मीढे इत्यृक्पाठः।

मात्रा इति यास्कः (नि० ११।१२) अभि असर्जि अभितः सर्वतः असृजत् । किंचाचार्यः पुनानः शिष्यं ज्ञानेन पवित्रं कुर्वाणः । वाचं वाणीं पदवाक्यरूपाम् । जनयन्नुच्चारयन् वेदानध्यापयन्निति भावः । असिष्यदत् ज्ञानं प्रास्रावयत् । पौर्वकालिकीयं कथा । आचार्याः कलापूर्णानिव शिष्यानुदपीपदन् वेदांश्च तानध्यापयंस्तेन तान् पुनानाः सर्वत्र ज्ञानधारां प्रासिष्यदन् ॥ ३।१८ ॥

९४३. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णो
॥ १।१९ ॥ (ऋ० ९।९६।५)

सोमः पवत इति । प्रतर्दनो दैवोदासि ऋषि । पवमानः सोमो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः †॥ १।१९ ॥

९४४. ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् । श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥ २।१९ ॥ (ऋ० ९।९६।६)

ब्रह्मा देवानामिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । सोमः परमेश्वरः । देवानां विदुषां ब्रह्मास्ति । कवीनां क्रान्तदर्शिनां पदवीः संशोधनकार्यप्रेरयितास्ति । विप्राणां मेधाविनाम् ऋषिरस्ति । ऋषिर्दर्शनादितियास्कः (नि० २।११) मेधाविनां शास्त्रद्रष्टृणां महान् द्रष्टेत्यर्थः । मृगाणामाचारपरिशुद्धानाम् । मृगो मार्ष्टेरितियास्कः (नि० १।२०) । अथवा मृगाणां तत्त्वान्वेषिणाम् । मृगयतेरितियास्कः (नि० ९।१९) । महिषो महान् (नि० ७।२६) । अस्ति । गृध्राणामभिकाङ्क्षितॄणाम् । गृधु अभिकाङ्क्षायाम् । क्रन् (उ० २।२४) । श्येनः प्रशंसनीयगमनः पवित्राकाङ्क्षीत्यर्थः । श्यास्त्येति इनच् ।

† पूर्वार्चिके ५२७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

(उ० २।४६) वनानां रश्मीनां रश्मिमतामित्यर्थः । वनमिति रश्मिनाम (निघ० १।५।८) स्वधितिर्वज्रः वज्रोपि तेजस्वितया-रश्मिमानेव । एवंभूतः स सोमो रेभन् शब्दं कुर्वन् शब्देन वेदवाचो-पदिशन्नित्याशयः । पवित्रं मनसा वाचा च पूतं पूतान्तःकरण-मित्यर्थः । अत्येति अतिशयेन गच्छति प्राप्नोति ॥ २।१९ ॥

९४५. प्रावीविपद्वाच ऊर्मिं न सिन्धुर्गिर† स्तोमान्पवमानो‡ मनीषाः ।
अन्तः पश्यन्वृजनेमावराण्या तिष्ठति वृषभो गोषु जानन्
॥ ३।१९ ॥ (ऋ० ९।९६।७)

प्रावीविपद्वेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । 'पवमानः पुनानः सर्वान् । परमेश्वरः । सिन्धुरूर्मिं न यथा नदी तरङ्गं वेपयति कम्पयति प्रेरय-तीति भावः । तथा स परमेश्वरो वाचो वेदरूपाः प्रावीविपत् प्रैरिरत् । कीदृशो वाचः ? गिरः स्तुत्या अर्च्याः । गृणातिरर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।६) । पुनः कीदृशः ? मनीषाः मनस ईषाः स्तुतयः प्रज्ञा वा । मनसः प्रज्ञा इत्यस्य मनसः शान्तकर्यः प्रज्ञाः । किं च स्तोमान् स्तुतिसाधनानि शमदमादीनि च प्रेरयति । स्तुवन्ति जना येन ते स्तोमाः । अर्तिस्तु इति मन् (उ० १।१४०) किं च वृषभः कामानां वर्षकः । स परमेश्वरः । गोष्विन्द्रियेषु । अवराणि निकृ-ष्टानि । इमा इमानि । वृजना दुरितानि । वृजी वर्जने । वर्जयन्ति धर्मं यानि । जानन् जानानः । पश्यन् जीवकल्याणं विचारयन् । अन्तः तिष्ठति जीवानामुपासकानामन्तःकरणे स्थानं करोति ॥३।१९॥

इति षष्ठः खण्डः

---

† गिर इत्यृक्पाठः ।

‡ सोम इत्यृक्पाठः ।

अथ सप्तमः खण्डः

९४६. अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥ १।२० ॥ (ऋ० ८।१०२।७)

अग्निं व इति । प्रयोगो भार्गव ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।२० ॥

९४७. अयं यथा न आभुवत्त्वष्टा रूपेव तक्ष्या ।
अस्य क्रत्वा यशस्वतः ॥ २।२० ॥ (ऋ० ८।१०२।८)

अयं यथा न इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । त्वष्टा वर्धकिस्तक्ष्याणि निष्पाद्यानि रूपा रूपाणि इव, अयमग्निरञ्जनशीलो व्यापकः परमेश्वरः । तक्ष्याणि निष्पाद्यानि रूपाण्याभुवत् आभावयति प्रकटयति । सर्वेषां जन्यानां स एव जनक इतिभावः । अस्याग्नेः परमात्मनः । क्रत्वा क्रतुना ज्ञानेन । क्रतुः कर्म वा प्रज्ञा वा (नि० २।२७) । युक्ता वयं यशस्वतो यशस्वन्तो भवेमेति शेषः । यो ह्यस्य जगतो निर्माता तस्य परमात्मनो यथार्थज्ञानेन वयं यशस्विनो भवामेति-भावः ॥ २।२० ॥

९४८. अयं विश्वा अभि श्रियोऽग्निर्देवेषु पत्यते ।
आ वाजैरुप नो गमत् ॥ ३।२० ॥ (ऋ० ८।१०२।९)

अयं विश्वा इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । अयमग्निः परमात्मा देवेषु विद्वत्सु सज्जनेषु वा वर्त्तमाना विश्वाः सकलाः श्रियः । सर्वासां श्रियाम् । अभि पत्यते अभितः ईष्टे । पतति: ऐश्वर्यकर्मा (निघ० २।२१।२) । सर्वासां श्रियां परमेश्वर एवाधिष्ठातेति-

† पूर्वार्चिके २१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

भावः। स परमेश्वरो वाजैरैश्वर्यैर्नोस्माकम्। उप समीपे। आ गमदागच्छतु॥ ३।२०॥

९४९. इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्।
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने॥ १।२१॥
(ऋ० १।८४।४)

इममिन्द्रेति। पावकोग्निर्बार्हस्पत्यो वर्षिः। गृहपतियविष्ठौ सहसः पुत्रावन्यतरो वा। इन्द्रो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।२१॥

९५०. न किष्ट्वद्रथीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे।
न किष्ट्वानु मज्मना न किः स्वश्व आनशे॥ २।२१॥
(ऋ० १।८४।६)

न किष्ट्वद्रेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्द्र परमात्मन्, यत् यतः। त्वं हरी भक्तिप्रपत्ती। हरतः सकलान् क्लेशांस्त्रिविधानिति हरी। हरी इति नात्राश्ववाचकौ। अन्यत्रापि शब्दोयमनश्ववाचकौ। यथा—"पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्दस्य हरी, ताभ्यां हीदं सर्वं हरति" इति ताण्ड्यब्राह्मणे (६।१।११)। "ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी" इत्यैतरेयब्राह्मणे (२।३।६)। "ऋक्सामे वै हरी" इति यजुर्ब्राह्मणे (४।४।३६) इत्यादि। यच्छसे ददासि जीवेभ्यस्तस्मात्त्वत्त्वत्तोन्यो कश्चिद् रथीतरोतिशयेन परिपक्वविचारः। न किः नास्ति। जीवानां श्रेयसे भक्तिं प्रपत्तिं च ददत्त्वमतिशयेन परिपक्वविचारः। न कोप्यन्यः पन्था येन जीवस्य श्रेयःसिद्धिः स्यात्। भक्तिर्न केवलं कस्यचित्स्मरणमात्रम्। किन्तु—

† पूर्वार्चिके ३४४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

एषैव मामकाः प्राणा एषैव च परा गतिः ।
एषैव प्रियतमान्यां नैव जाने कदाचन ॥
देहश्चास्यै मनश्चास्यै बुद्धिश्चास्यै दयामृते ।
आत्माप्यस्यै मया दत्तो भक्तिरीदृङ् मतिर्ध्रुवा ॥

इत्यादि मदुक्तयैव रीत्या देहमनोबुद्ध्यात्मसमर्पणं हि भक्तिः । य उपासकः स्वोपास्ये देवे देहमनइत्यादीनि सर्वाणि स्वानि समर्पयति न स पापपङ्के मनो निधाय कदाप्यवसीदति सर्वदुःखमहासागरस्य परं पारं चाधिगच्छति । भक्तेरवतारस्यापि क्रमो विद्यते तद्यथा—

गुणानां यस्य कस्यापि दर्शनाद्वा श्रुतेरपि ।
हृदयं सद्गुणग्राहि द्रवतामेति सर्वथा ॥
द्रुते च हृदये तस्मिन् प्रतिबिम्बन्ति ते गुणाः ।
पुनः पुनः स्मृतेस्तेषां दृढीभूता भवन्ति च ॥
तदा तस्मिन् गुणिजने जायते लौकिकी रतिः ।
अभ्यासाच्च चिरेणैवालौकिकी सैव जायते ॥
ततस्तस्या महेलायास्तस्य दिव्यनरस्य च ।
संजायते समुत्कण्ठा दर्शनार्थं बलीयसी ॥
तैलधारावदच्छिन्ना स्मृतिस्तद्विषया भवेत् ।
तदानीं तस्य हृदयमत्यधिकं द्रुतं भवेत् ॥
अधिकृत्य ततस्तां च तं च नारीं नरं जनः ।
अत्यन्तदर्शनौत्सुक्याद् विरहानलदीपितः ॥
सर्वं समर्पितं तुभ्यं परित्यक्तैषणोभवम् ।
जीवितं स्वदधीनं मे सर्वदेति वदत्यसौ ॥

इत्यादि भक्तिशास्त्रे मदुक्तरीत्या भक्तेः क्रमो विज्ञेयः । भक्तिविषयेधिकं जिज्ञासवो भक्तिशास्त्रं गुर्जरभाषया समलङ्कृतं मयैव विरचितमवश्यमालोचयन्त्विति । रथीतरो नात्र सामान्यलौकिकरथनेता । न वा सामान्योत्र रथः । किन्तु रथः प्रथमागामी भवति । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीतिवा, "रपतेर्वा "रसतेर्वा "इति यास्कः (नि० ९।१२)। स्थिरतिर्नैरुक्तधातुः । विपरीताक्षरः । पुंसि संज्ञायां घः (पा० ३।३।१८) रथ इति परमेश्वरस्यैव संज्ञा । असंज्ञस्यापि तस्य व्यवहारार्थं कल्पिता अनेकाः संज्ञाः । सकारेकारयोर्लोपः । दृढसंकल्पत्वात् स्थिरो हि सः । स्थिर एव रथः इति । किं च मज्मना वलेन (निघ० २।९।२३) । त्वा त्वया तुल्य इतिशेषः । नकिः नास्ति । स्वश्वोपि शोभनगतिमानपि त्वां न किः अनु आनशे अन्वश्नुते अनुगच्छतीतिभावः । व्यापकं त्वां न कोपि कस्यापि सादृश्यं प्रापयितुं पारयति ॥ २।२१ ॥

९५१. इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीतन । सुता अमत्सुरिन्दवो ज्येष्ठं नमस्यता सहः ॥ ३।२१ ॥ (ऋ० १।८४।५)

इन्द्रायेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । भक्तेः क्रमोवबोध्यते । हे शिष्याः । यूयम् नूनमवश्यं क्षिप्रं वा । इन्द्राय परमेश्वरप्रसादनाय । अर्चत पूजयत । तमेवेतिशेषः । उक्थानि स्तोत्राणि परमेश्वरगुणगायकस्तोत्राणितिभावः । ब्रवीतन उच्चारयत । गुणस्मरणेनैव गुणिनि प्रीतिः सम्पद्यते । हे सुताः पुत्राः इन्दवो यूयमैश्वर्यशालिनो धर्मशालिनः सन्तः । अमत्सुः मादयत प्रह्लीकुरुत । तमेवेतिशेषः । सहो वलं वलस्वरूपमिति यावत् । तं ज्येष्ठं सर्वस्यादिगुरुं नमस्यत नमस्कुरुत । अनेन मन्त्रेण भक्तेस्सामान्यो विधिर्निरूप्यते ॥ ३।२१ ॥

९५२. इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिह ।
पिबा सुतस्य मतिर्न मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १।२२ ॥

इन्द्र जुषस्वेति । इन्द्रो देवता । आर्ची त्रिष्टुप् छन्दः । हे इन्द्र परमेश्वर, जुषस्व प्रीतो भव । प्र वह प्रकर्षेणास्मान् वह प्रापय स्वसन्निधिम् । हे शूर विक्रान्त हे हरिह हरिभ्यां भक्तिप्रपत्तिभ्यां हन्ति गच्छतीति हरिहन् । सम्बुद्धौ हरिह । छान्दसः प्रयोगः । आ याहि आगच्छ । मतिर्बुद्धिमान्मेधावी । मधोर्मननशीलस्य विदुषो मदाय हर्षाय हर्षस्येति भावः । चकानो न कामयमान इव । चारुः परमसुन्दरस्त्वम् । सुतस्य सुतम् । द्वितीयार्थे षष्ठी छान्दसी । उपक्रान्तं भक्तिरसम् । पिबानुभवेति ॥ १।२२ ॥

९५३. इन्द्र जठरं नव्यं न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्वा३र्नोप त्वा मदाः सुवाचो अस्थुः ॥ २।२२ ॥†

इन्द्र जठरमिति । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । हे इन्द्र परमात्मन् दिव आकाशस्य मधोर्न जलमिव । मधोरिति प्रथमार्थे षष्ठी । मधुइति जलनाम (निघ० १।१२।११) । जठरं जातपरमेश्वरं न इव नव्यं नवं स्तुत्यं वा इमं भक्तं पृणस्व तर्पय सन्तोषय दर्शनदानेनेति भावः । जायते स्थिरतामेति परमेश्वरो यस्मिन् स जठरो भक्तः । जनेररष्ठ च (उणा०) । इति सूत्रेण जनेः अरः प्रत्ययः ठश्चान्त्यादेशः । यस्य हृदये परमात्मा भक्तिवशात्साक्षात्स्थित इव मतः, तमिव इमं नव्यं स्तुत्यं पवित्रं नवमुपक्रान्तभक्तिं भक्तं पृणस्व । किमिव ? दिव आकाशस्य मधु जलं यथा जलयाचकं पिपासितं वा पृणाति तथा अस्य सुतस्य तव पुत्रस्य मदा मदयन्त्यः सुवाचः शोभना वाचः प्रार्थनारूपाः । त्वा त्वामुप अस्थुरुपतिष्ठन्तु ।

† ऋग्वेदे नास्ति ।

कमिव ? स्वर् न सु शोभने मार्गे ऋच्छति गच्छतीति स्वर्। स्वरं सन्मार्गगामिनमित्यर्थः। छान्दसः प्रथमा द्वितीयार्थे। अस्य वाचो यथा सज्जनान् प्रति उपतिष्ठन्ति तथा त्वामपि उपतिष्ठन्तु। एतस्य वाचः श्रुत्वा यथा सज्जनः प्रसीदन्ति तथा त्वपि प्रसीदेति भावः ॥ ३।२२ ॥

९५४. इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो न जघान वृत्रं यतिर्न।
बिभेद वलं भृगुर्न ससाहे शत्रून्मदे सोमस्य ॥ ३।२२ ॥†

इन्द्रस्तुराषेति। इन्द्रो देवता। पिपीलकमध्या बृहती छन्दः। तुराषाट्। तुर त्वरणे। तुतोर्तीतितुरः। तुरं त्वरावन्तं साहयति अभिभवतीति तुराषाट्। सहे साडः स (पा० ८।३।५६)। इति षत्वम्। अन्येषामपि (पा० ६।३।१३७) इति दीर्घः। इन्द्रः परमैश्वर्यः। वृत्रं ज्ञानाच्छादकमज्ञानम्। जघान हन्ति। क इव ? मित्रो न मित्रः सूर्य इव। अस्मिन् पक्षे वृत्रो मेघः। अपि च यतिर्न यतिरिव। यथा विजितेन्द्रियोऽज्ञानमभिभवति तथा। दृष्टार्थेनादृष्टार्थसंगतिरत्र। सोमस्य शान्तस्योपासकस्य मदे प्रमोदे शत्रून् कामक्रोधादीन् भृगुस्तेजस्वीन्द्रो न ससाहे न सहते हन्त्येवेत्यर्थः। तदेवाह—वलमावरणं विभेद भिनत्त्येव ॥ ३।२२ ॥

इति सप्तमः खण्डः



† ऋग्वेदे नास्ति।

अथ षष्ठोध्यायः

अथ तृतीयप्रपाठके द्वितीयोर्धः

९५५. गोवित्पवस्व वसुविद्धिरण्यविद्रेतोधा इन्दो भुवनेष्वर्पितः।
त्वं सुवीरो असि सोम विश्ववित्तं त्वा †नर उप गिरेम
आसते ॥ १।१ ॥ (ऋ० ९।८६।३९)

गोवित्पवस्वेति। अकृष्टा माषादयस्त्रय ऋषयः। पवमानः सोमो देवता। जगती छन्दः। हे सोम परमात्मन्, हे इन्दो सर्वैश्वर्ययुक्त स्वप्रकाशस्वरूप वा। भुवनेषु सर्वलोकेषु। अर्पितः स्थापितः। ऋ गतिप्रापणयोः। त्वं पवस्व भक्तहृदयं प्रति गच्छ। पवतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।१०८) अथवा पुनीहि पावय। विकरणव्यत्ययश्छान्दसः। सर्वैर्भक्तजनैर्हृदयेषु स्थापितस्त्वं सर्वान् पावयेत्यर्थः। कीदृशस्त्वम्? गोवित् सर्वविद्याव्याख्याता। गौरिति वाङ्नाम (निघ० १।११।४)। हिरण्यविद् स्वभक्तविद्। को भक्तो न वा क इति ज्ञानवान्। हर्यते काम्यत इति हिरण्यम्। हर्यतेः कन्यन् हिरच् (उ० ५।४४)। भक्तो हि काम्यते। भक्तस्तु रागद्वेषादिसर्वदोषविवर्जितः परोपकारपरायणः सत्यप्रिय इति बहुलोक्तम्। वसुविद् ज्ञानिन एवोपलब्धा। वसवो ज्ञानिनः। विवासयन्ति दूरीकरोति तमो ज्ञानमिति वसवः। ज्ञानिन एवाज्ञानं निरस्यन्ति। तान् विन्दतीति वसुविद्। ज्ञानिन एव स प्राप्नोतीति, ज्ञानिन एव तं प्राप्नुवन्तीतिभावः। रेतोधा भक्तिविषयिणीं द्रुतिं दधातीति

---

† नरो इत्यूहपाठः।

रेतोधा । रि गतौ । गतिरत्र स्तुतिः । रिधातोः "स्रुरिभ्यां तुट् च" (उ० ४।२०२) इत्यसुन् तुट् च । यस्योपरि भगवतः कृपा प्रसरति तस्यैव हृदये भक्तिद्रावो भवति । अत एव परमात्मा रेतोधा इत्युच्यते । किं च त्वं सुवीरोसि । शोभना वीरा कामक्रोधलोभ-मदमोहादीनां शत्रूणां प्रक्षेप्तारो यस्योपासकास्तथाभूतोसि । अज गतिक्षेपणयोः । स्फायितञ्चीति (उ० २।१३) रक् । अजेर्वीत्यादेशः (पा० २।४।५६) । विश्ववित् सर्वज्ञः सर्वप्रापको वाप्यसि । तं त्वा त्वाम् । इमे त्वदुपासकाः । नरो मनुष्या नीत्यनुसारिणः । गिरा त्वयैवोपदिष्टया गिरा वेदवाचा । उप आसते उपासते ॥ ११ ॥

९५६. त्वं नृचक्षा असि सोम विश्वतः पवमान वृषभ ता वि धावसि । स नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवद्वयं स्याम भुवनेषु जीवसे ॥ २।१ ॥ (ऋ० ९।८६।३८)

त्वं नृचक्षा इति । ऋष्यादयः उक्ताः । हे सोम परमेश्वर, त्वं नृचक्षा असि सर्वेषां नृणामन्येषां च प्राणिनां द्रष्टासि । सर्वद्रष्टा-सीत्यर्थः । हे पवमान सर्वंग, हे वृषभ सर्वाभिलाषपूरक, त्वं विश्वतः सर्वतः । ता तानि वस्तूनि जगत्सर्ववस्तूनीति यावत् । विधावसि विविधं गच्छसि । वस्तूनां वैविध्यात् तद्गमनेष्वपि वैविध्यं कल्प्यते । भुजगादिषु कुटिलगतिः, पक्ष्यादिषु नभस्यूर्ध्वाधोगतिः, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । स त्वं नोस्मान् पवस्व प्राप्नुहि । अथवा नोस्माकं वसुमत् हिरण्यवच्च धनं प्रापय । वसुहिरण्यशब्दावधुनैव व्याख्यातौ । किमर्थम् ? भुवनेषु लोकेषु यत्र कुत्रापि वा जीवसे जीवितुं वयं स्याम प्रभवाम इत्यर्थः ॥ २।१ ॥

९५७. ईशान इमा भुवनानि †ईयसे युजान इन्दो हरितः सुपर्ण्यः ।
तास्ते क्षरन्तु मधुमद्घृतं पयस्तव व्रते सोम तिष्ठन्तु
कृष्टयः ॥ ३।१ ॥ (ऋ० ९।८६।३७)

ईशान इमेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम परमेश्वर, त्वमीशान ईश्वरः सर्वस्वामी सन्निमा इमानि भुवनानि पदार्थजातानि इमांल्लोकान्वा ईयसे गच्छसि व्याप्नोषीतिभावः । हे इन्दो परमैश्वर्य, हरितो मनोहरान् । आहरन्ति गृह्णन्ति सर्वेषां मनांसीति । सुपर्ण्यः । पिपुरति पालयन्ति पूरयन्ति यथाशक्ति जीवान्ये ते पर्णाः । पृ पालनपूरणयोः । 'धापॄ' (उ० ३।६) इति नः । पर्णानां परोपकारिणां जीवानां हिता इति सुपर्ण्यास्तान् । लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः । पदार्थान् । युजानः संबध्नन्, तादृशैः पदार्थैर्युक्तः सन् ईयसे । सर्वाह्नितान् पदार्थानादायैव त्वं लोकान्व्याप्नोषीति भावः । ता उपासिकास्ते उपासकाश्च तवेतिशेषः । मधुमन्मधुरं । सुन्दरम् । घृतं प्रकाशम् । पयः पेयं भगवद्भक्तिरसम् । पीयत इति पयः । "पिवतेरि च" (दशपा. उ० ९।५०) । क्षरन्तु वर्षन्तु । किं च कृष्टयो मनुष्याः सर्वे तव व्रते उपासनायां त्वदाज्ञानुपालन इति यावत् । तिष्ठन्तु स्थिता भवन्तु ॥ ३।१ ॥

९५८. पवमानस्य विश्ववित्प्र ते सर्गा असृक्षत ।
सूर्यस्येव न रश्मयः ॥ १।२ ॥ (ऋ० ९।६४।७)

पवमानस्येति । कश्यपो मारीच ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । हे विश्ववित् सर्वज्ञ परमेश्वर, पवमानस्य सर्वगस्य व्यापकस्य ते तव सर्गा निर्माणक्रियाः सृष्टय इति यावत् । सूर्यस्य रश्मय इव यथा रश्मयो न सूर्यात्पृथक्स्वसत्तां धारयन्ति सूर्यस्य प्रकाशितकिरणाः सूर्यं एव तथा परमेश्वरस्य सृष्टयो न

† मीयसे इत्यृक्पाठः ।

परमेश्वरात्पृथक्। त्यच्च त्यच्चाभवदितिदिशा परमेश्वर एव सृष्टिरूपतां गतः। तच्च न विवर्तादिरूपेण किन्तु परिणामरूपेण। परिणामश्च परमेश्वरे सद्वारको ज्ञेयो न निर्द्वारकः। द्वारं च प्रकृतिः। प्रकृतिः परमेश्वराङ्गभूता। अङ्गे जातो जायमानो वा परिणामो नाङ्गिनं विकरोति, अङ्गिन्युपचर्यते च। नेति साम्प्रतार्थे। साम्प्रतमपि तव सर्गा असृक्षत सृज्यन्ते। यदा यदा यस्य यस्य वस्तुन आवश्यकतानुभूयते जन्तुभिस्तदा तद् वस्तु जन्तूपकारार्थं दयापारवश्येन परमकुतूहलिना परमात्मना नित्यं नितरां सृज्यत एव। तेन न सृष्टिक्रमोवरुद्धः। इदानीमपि प्रचलत्येव ॥ १।२ ॥

९५९. केतुं †कृण्वन् दिवस्परि विश्वा रूपाभ्यर्षसि।
समुद्रः सोम पिन्वसे ॥ २।२ ॥ (ऋ० ९।६४।८)

केतुं कृण्वन्निति। ऋष्यादय उक्ताः। हे सोम परमेश्वर, केतुं प्रज्ञाम्। केतुरिति प्रज्ञानाम् (नि० ३।९।२)। तत्तद्विषयिणीं प्रज्ञामुत्पादयन्। विश्वा विश्वानि रूपा रुच्यमानानि। रूपं रोचतेरितियास्कः (नि० २।३)। पदार्थजातानि जीवानामिति शेषः। दिवः स्वसामर्थ्येन। परि परितः सर्वतः, यत्र यदपेक्षितं तत्र तत्। अभ्यर्षसि अभिगमयसि। ऋषी गतौ। अन्तर्भावितण्यर्थः। किं च त्वं समुद्रः सर्वभूतसम्मोदयितासि। सम्मोदन्तेस्मिन्भूतानीति यास्कः (नि० २।१०)। अतः पिन्वसे यथायोग्यं सर्वान् प्राप्नोषि। पिगतौ। विकरणव्यत्ययः। सर्वेभ्यो यथायोग्यं वस्तु ज्ञानादि यच्छसीति वा। पिन्वसे प्रयच्छसीति सायनः ॥२।२ ॥

९६०. ‡जज्ञानो वाचमिष्यसि पवमान विधर्मणि।
***क्रन्दन्§ देवो न सूर्यः ॥ ३।२ ॥** (ऋ० ९।६४।९)

† कृण्वं इत्यौंघपुस्तकपाठः। ‡ हिन्वान इत्यृक्पाठः।
* क्रन्दं इत्यौंघपुस्तकपाठः। § अक्रानित्यृक्पाठः।

जज्ञान इति । हे पवमान सर्वंशोधक सर्वव्यापक वा परमेश्वर, जज्ञानो भक्तियज्ञेषूत्पन्न उत्पाद्यमानो वा त्वं विधर्मणि विविधाः संकल्पविकल्पात्मका धर्मा मामतीव हीनं भगवानङ्गीकरिष्यति नवेत्यात्मिका यस्य तस्मिन् वाचम् अभयवाचमवश्यमुद्धरिष्यामि त्वां प्रपन्नमित्यात्मिकाम् इष्यसि इच्छसि । न मूको भूत्वा, अपि तु क्रन्दन् उच्चैः स्वरेण त्वं कथयसि यो मच्छरणागतिं स्वीकरोति निषिद्धेभ्यश्च कर्मभ्यः पार्थक्यं सेवते निस्संशयमहं तमात्मीयं करोमीति । क इव ? देवः प्रदीप्तः सूर्य इव । यथा सूर्यः प्रकाशमिच्छद्भ्यः सर्वेभ्यः प्रकाशं ददाति हीनतामहीनतां च यथा न पश्यति तथा ॥ ३।२ ॥

९६१. प्र सोमासो अधन्विषुः पवमानास इन्दवः ।
श्रीणाना अप्सु †वृञ्जते ॥१।३॥ (ऋ० ९।२४।१)

प्र सोमास इति । असितः काश्यपो देवलो वर्षिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । अत्र पवमानः सोमः क्रान्तदर्शी विद्वानपेक्षितः । तत एव बहुवचनम् । पवमानासो ज्ञानोपदेशेन सर्वेषां शोधका इन्दवः परमैश्वर्या परमदीप्तयो वा । इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा (नि० १०।४१) । सोमासो विद्वांसः श्रीणानाः आश्रीयमाणा भक्तसविधे प्र अधन्विषुः प्र गच्छन्ति । धन्वतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।६४) । आगत्य च अप्सु कर्मसु । अप इति कर्मनाम (निघ० २।१।१) । यद्यपि कर्मवाचकोयमपःशब्दः सकारान्तस्तथापि जलार्थकापृछब्देन समानार्थकत्वादस्यापि कर्मार्थत्वम् । वृञ्जते वर्जनं कुर्वन्ति । इदं कर्म कर्तव्यं न च कर्तव्यमिदमिति विधिनिषेधौ विधत्त इति भावः ॥१।३॥

---

† मृञ्जतेत्यपपाठः ।

९६२. अभि गावो अधन्विषुरापो न प्रवता यतीः।

पुनाना इन्द्रमाशत ॥२।३॥ (ऋ० ९।२४।२)

अभि गाव इति। ऋष्यादय उक्ताः। गावो गमनशीलाः। गच्छन्तीति गावः। विद्वांसो ये गन्तुं शक्नुवन्ति न अशक्ता गमने ते। अभि अधन्विषुः सर्वतोऽभिगच्छन्ति। अन्यान्गच्छतो दृष्ट्वा-परेऽपि गच्छन्तीति भावः। प्रवता प्रवमाणेन गच्छता जलेन सह यतीर्यत्यः आपो न आप इव। यथा गच्छज्जलं दृष्ट्वापराण्यपि जलानि तदनुगच्छन्ति तथेति तात्पर्यम्। पुनाना आत्मानमन्यांश्च पवित्रयन्तस्ते। इन्द्रं परमात्मानम्। आशत व्याप्नुवन्ति प्राप्नुवन्ति प्रापयन्ति चान्यान् ॥२।३॥

९६३. प्र पवमान धन्वसि सोमेन्द्राय मादनः† ।

नृभिर्यतो वि नीयसे ॥३।३॥ (ऋ० ९।२४।३)

प्र पवमाम इति ऋष्यादय उक्ताः। हे पवमान सोम परमेश्वर, इन्द्राय उपासकजीवाय, उपासकं प्रसादयितुमितिभावः। मादनः हर्षगो हर्षप्रदस्त्वं प्रधन्वसि प्रकर्षेण गच्छसि। उपासकैर्नृभिर्मनुष्यैर्यतो वशीकृतस्त्वम्। विनीयसे विशेषेण स्वहृदयमितिशेषः। नीयसे प्राप्यसे ॥३।३॥

९६४. इन्दो यदद्रिभिः सुतः पवित्रं परिदीयसे‡ ।

अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥४।३॥ (ऋ० ९।२४।५)

इन्दो यदद्रीति। ऋष्यादय उक्ताः। हे इन्दो भक्तोपासनया क्लिन्न। इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वेति यास्कः (नि० १०।४१)। यत् यस्मात् अद्रिभिरविचलितमनीषैः। दृ विदारणे। भक्तैः सुत उत्पादितस्त्वम्। पवित्रं स्वजनं प्रति परिदीयसे परिगच्छसि। दीयतिर्गतिकर्मा

† "पातवे" इत्यृक्पाठः। ‡ परिधावसीत्यृक्पाठः।

(निघ० २।१४।६९)। किं कर्तुम् ? इन्द्रस्य तस्योपासकजीवस्य अरम् धाम्ने अत्यन्तं प्रकाशाय । परमात्मैव जीवानां सान्निध्यमेत्य तेषु पावित्र्यं सम्पाद्य प्रकाशं प्रयच्छति मोक्षं ददाति ॥४।३॥

९६५. त्वं सोम नृमादनः पवस्व †चर्षणीधृतिः ।
सस्निर्यो अनुमाद्यः ॥५।३॥

त्वं सोमेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम परमात्मन्, त्वं नृमादनो भक्तानां पवित्राणां मनुष्याणां मादनो मादयिता मोदयितेतिभावः । चर्षणीधृतिश्चर्षणीनां मनुष्याणां धृतिर्धारकश्चासि । चर्षणयो मनुष्याः (निघ० २।३।८)। अथवा चर्षणीनां द्रष्टॄणां परमात्मसाक्षात्कर्तॄणाम् । पश्यतिकर्मसु विचर्षणिपदप्रयोगात् (निघ० ३।११।६)। तेषां त्वं धारकोसि । किं च यस्त्वं सस्निः शुद्धः । ष्णा शौचे । अनुमाद्यः प्रसाद्यः सेवनीयो वासि ॥५।३॥

९६६. पवस्व वृत्रहन्तम‡ उक्थेभिरनुमाद्यः ।
शुचिः पावको अद्भुतः ॥६।३॥ (ऋ० ९।२४।६)

पवस्व वृत्रहन्तम इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम परमेश्वर, त्वं पवस्व पुनीह्यस्मान् भक्तान् । अथवा पवस्व गच्छ प्राप्नुह्यस्मान् । कीदृशस्त्वन् ? वृत्रहन्तमः वृत्राणां दुर्जनानां दुरितानां वातिशयेन हन्ता । "वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वे" तियास्कः (नि० २।१७)। दुर्जना दुरितानि वा सुखमाच्छादयन्ति । उक्थेभिः स्तुतिवचनैः । अनुमाद्यः प्रसाद्यः । शुचिः प्रकाशस्वरूपः । पावकः शोधकः सर्वेषाम् । अद्भुतमभूतं नित्यमितिभावः । "कस्तद्वेद यदद्भुतं कस्तद्वेद

† 'चर्षणीसहे' इत्यृक्पाठः ।
‡ "वृत्रहन्तमोक्थेभि...." इत्यृक्पाठः ।

यदभूत" मिति यास्कः, (नि० १।६)। अथवा महत्सम्भृतम् (नि० ६।२१) ॥६।३॥

९६७. शुचिः पावक उच्यते सोमः सुतः† स मधुमान् ।
देवावीरघशंसहा ॥७।३॥ (ऋ० ९।२४।७)

शुचिः पावक इति । ऋष्यादय उक्ताः । भन्नितयज्ञेषु उत्पादितो ध्यात इति तात्पर्यम् । स सोमः परमात्मा । शुचिः प्रकाशस्वरूपः शुद्धस्वरूपो वा पावकः शोधकः सर्वेषामितिभावः । मधुमाञ् ज्ञानवाञ् ज्ञानस्वरूप इतिभावः । मन ज्ञाने । 'फलिपाटिनमिमनि' (उ० १।१८) इत्युप्रत्ययः । मन्यते तन्मधु ज्ञानम् । देवावार्देवानामविता रक्षकः । अघशंसहा अघशंसा अघप्रिया असुरा दुर्जनास्तेषां हन्ता चेत्युच्यते कथ्यते ॥ ७।३ ॥

इति प्रथमः खण्डः



अथ द्वितीयः खण्डः

९६८. प्र कविर्देववीतयेऽव्या‡ वारेभिरव्यत§ ।
साह्वान्विश्वा अभि स्पृधः ॥१।४॥ (ऋ० ९।२०।१)

प्र कविरिती । असितः काश्यपो देवलो वा ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । कविर्मेधावी क्रान्तदर्शनो वा सोमः परमात्मा, अव्या रक्षाया वारेभिर्वारैः क्रमैः । देववीतये देवानां विदुषां महात्मनां वीतये कान्तये कान्त्यभिवृद्ध्यर्थमितिभावः ।

---

† सुतस्य मध्व इत्यृक्पाठः । ‡ व्यो इत्यृक्पाठः ।
§ रर्षतीत्यृक्पाठः ।

वीधातुः कान्तिकर्मा (निघ० २।६।३)। प्र अव्यत प्रकर्षेण गच्छति प्राप्नोति। वीधातुर्गतिकर्मा (निघ० २।१४।११८)। साह्वान् सोढा शत्रूणां निरोधकः स परमात्मा विश्वाः सर्वान् स्पृधः संघर्षान् अभि भवति। अभीत्युपसर्गवशाद्योग्यक्रियाध्याहारः॥१।४॥

९६९. स हि ष्मा जरितृभ्यः आ वाजं गोमन्तमिन्वति।

पवमानः सहस्रिणम्॥२।४॥ (ऋ० ९।२०।२)

स हि ष्मेति। ऋष्यादय उक्ताः। स हि सोमः परमेश्वरः। जरितृभिः स्तोतृभ्यः परमेश्वरादेशप्रशंसकेभ्यो भक्तेभ्यो गोमन्तं विद्यावन्तं वाजं बलं धनं वा विद्यारूपं धनं बलमिति वेति तात्पर्यम्। आ इन्वति समन्तात्प्रापयति प्रयच्छतीतिभावः। स च पवमानः शोधकः परमेश्वरः सहस्रिणं बलवन्तमुपासकं करोत्येव। मन्त्रे स्मेत्यव्ययपदं भूतार्थद्योतकम्। अतीते कालेऽप्यसौ तथैवाकरोदिति भावः॥२।४॥

९७०. परि विश्वानि चेतसा मृज्यसे† पवसे मती।

स नः सोम श्रवो विदः॥ ३।४॥ (ऋ० ९।२०।३)

परि विश्वानीति। ऋष्यादय उक्ताः। हे सोम परमेश्वर, त्वं चेतसा परमकृपालुना त्वन्मनसा विश्वानि सर्वाणि वस्तूनि सत्यसदाचारादीनि। परि मृज्यसे परि गमयसि प्रापयसीति भावः। मार्ष्टीति गतिकर्मा (निघ० २।१४)। अन्तर्भावितण्यर्थः। मत्या ज्ञानेन ज्ञानदानेन। पवसे पुनासि। उभयत्र भक्तानित्यध्याहार्यम्। हे सोम स त्वं नोऽस्मभ्यं श्रवो यशो ज्ञानं वा विदः लम्भय॥ ३।४॥

---

† मृज्यसे इत्यूहगानम्।

९७१. अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्यो ध्रुवं रयिम् ।
इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ४।४ ॥ (ऋ० ९।२०।४)

अभ्यर्षेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे परमेश्वर, मघवद्भ्यः सत्य-सदाचारादिधनवद्भ्योस्मभ्यं बृहन्महद्यशः कीर्ति ध्रुवमविनाशि रयिं ज्ञानरूपं धनं च अभ्यर्ष प्रापय । स्तोतृभ्यस्त्वदादेशमनुसृत्या-चारवद्भ्यः । इषं तदिच्छां सतीम् । आ भर आहर प्रापयेति भावः । अत्रेदमवधेयम् । हे प्रभो त्वं दयालुरसि, बलवानसि, सर्वज्ञोसीत्यादिरूपेण प्रशंसां कुर्वाणा न भवन्ति वस्तुतः स्तोतारः । ते तु ते भवन्ति ये भगवदाज्ञा हितकरीति मत्वा सदा तदनुसरण-परायणास्तिष्ठन्तीति ॥ ४।४ ॥

९७२. त्वं राजेव सुव्रतो गिरः सोमाविवेशिथ ।
पुनानो वह्ने अद्भुत ॥ ५।४ ॥ (ऋ० ९।२०।५)

त्वं राजवेति । हे सोम परमेश्वर, त्वं गिरोर्चकान् । गृणातिर-र्चतिकर्मा । आ विवेशिथ प्रविशसि । यतस्त्वं सुव्रतः शोभनकर्मा सत्सङ्कल्पो वासि । परमेश्वरो हि सत्कर्मा तेन सत्कर्मण एव स प्रविशति । भगवदर्चका अपि सत्कर्माणः । तेन स तान्प्रविशति । अर्चकशब्देन नात्र लोकप्रसिद्धोर्चको ग्राह्यः । कस्याप्युपदेशानु-सारेण वर्तनमेव वास्तविक्यर्चा तस्य । ईश्वर आदिशति सत्यं वद, धर्मं चरेति । एतद्विरुद्धमाचरन् न भवितुमर्हति तदर्चकः । स तु तद्विरोध्येव । नेश्वरस्तान् प्रविशति प्रवेष्टुं नापि कामयते । क इव ? राजेव । यथा लौकिको राजा राजाज्ञापालकानेव विशति तन्मध्य एव तिष्ठति न च स्वविरोधिनां मध्ये, तद्वत् । हे वह्ने सत्यं मार्गं प्रति वोढः, हे अद्भुत परमाश्चर्यमय त्वमस्मान् पुनानो भवेति शेषः ॥ ५।४ ॥

९७३. स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्त्योः ।
सोमश्चमूषु सीदति ॥ ६।४ ॥ (ऋ० ९।२०।६)

स वह्निरप्स्विति । ऋष्यादयः उक्ताः । वह्निः प्रापको मोक्षधामनि । स एव प्राप्यः स एव प्रापक इतिसिद्धान्तमपेक्ष्येयमुक्तिः । अप्सु संसारभवजलेषु निमग्नैः सांसारिकजीवैरितिभावः । दुष्टरो दुस्तरो दुष्प्राप इत्यर्थः । गभस्त्योः रश्म्योर्मनोबुद्ध्योर्मृज्यमानोन्विष्यमाणः परिशोध्यमानो वा । सोमः परमात्मा चमूषु शुभाशुभविचारसेविनीष्वन्तःकरणवृत्तिषु सीदति, सर्वा वृत्तीरपोह्य तद्ध्यायिन्यां वृत्तौ तिष्ठतीत्यर्थः । अयमाशयः । परमेश्वरप्राप्तावन्यानि साधनानि गौणानि । मुख्यं साधनं स एव । अत एव स मोक्षप्रापक इत्युक्तः । अप्शब्दोत्र भवसिन्धुवाचकः । तत्र ये निमज्जन्ति न ते प्राप्नुवन्ति परमात्मानम् । तरतिरत्र प्लवनम् । प्लवनं प्लुतिः । प्लुतिर्गतिः । सर्वे गत्यर्था धातवः प्राप्त्यर्था अपि । एवम् मनोबुद्धी एव प्राधान्येनान्तःकरणम् । अन्तःकरणचतुष्टयमिति सामान्योक्तिः । मनसैव विजानीयात्, बुद्ध्या तु विजानातीत्यादौ मनोबुद्ध्योरेव ज्ञानसाधनता प्रतिष्ठिता । अतस्ते एव रश्मी । तयोर्विशुद्धयोरन्तराले सम्प्राप्तः परमात्मापि विशुद्ध इति लोकैरप्युच्यते । औपचारिकोयं मार्गः । आधारधर्म आधेय उपचर्यते । सर्वमौपचारिकमेव । वस्तुतस्तु परमात्मनो न कोप्याधारः । सर्वाधारो हि स एव । चमूशब्दोन्तःकरणवृत्तिवाचकोन्तःकरणवाचको वा । पवित्रास्वन्तःकरणवृत्तिष्वेव तदवस्थानम् ॥ ६।४ ॥

९७४. क्रीडुर्मखो न मंहयुः पवित्रं सोम गच्छसि ।
दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥ ७।४ ॥ (ऋ० ९।२०।७)

क्रीडुर्मख इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम परमात्मन्, त्वं पवित्रं परिशुद्धमेव जनं गच्छसि प्राप्नोषि । कीदृशस्त्वम् ? क्रीडुः

क्रीडनशील: । जगदिदं परमात्मन एव लीला । मख: पूज्य: । मह्यते इति मख: । "महेश्च" (दशपादी उ० ३।५४) । मंहयुर्न दानेच्छुरिव । सर्वदैव परमात्मा दित्सति । किं कुर्वन् ? स्तोत्रे तव स्तवने प्रवणाय त्वदाज्ञानुवर्तिन इतिभाव: । सुवीर्यं शोभनविद्याबुद्धिबलं दधत्सम्पादयन् ददिति वा ॥ ७।४ ॥

९७५. यवंयवं नो अन्धसा पुष्टंपुष्टं परि स्रव ।
विश्वा† च सोम सौभगा ॥ १।५ ॥ (ऋ० ९।५५।१)

यवंयवमिति । अवत्सार: काश्यप ऋषि: । पवमान: सोमो देवता । गायत्री छन्द: । हे सोम परमेश्वर, अन्धसा 'अद्यतेऽत्ति च भूतानि' (तै० उ० २, २) इति वचनात्परमात्मना त्वयेति भाव: । पुष्टंपुष्टमतिपुष्टम् । त्वदनन्यभक्तिसम्पन्नमितिभाव: । यवंयवं परमात्मना मिश्रणकर्तारम् संगमयितारम् । आचार्यमितिशेष: । नोस्मभ्यम् । परिस्रव देहि । विश्वा विश्वानि सौभगा सौभगानि सौभाग्यमितियावत् । सर्वाणि दयादानादिकृत्यानि वा । परिस्रव परितो देहि ॥ १।५ ॥

९७६. इन्दो यथा तव स्तवो यथा ते जातमन्धस: ।
नि बर्हिषि प्रिये सद: ॥ २।५ ॥ (ऋ० ९।५५।२)

इन्दो यथेति । ऋष्यादय उक्ता: । हे इन्दो प्रकाशस्वरूप परमात्मन्, यथा यस्माद्धेतो: । तव स्तव: । ते त्वत् । अन्धसोन्नादन्नरूपादितिभाव: । जातं यथा जात इव । द्वितीयं यथापदमिवार्थकम् । ते इति पञ्चम्यर्थे षष्ठी छान्दसी । तस्मात् । प्रिये बर्हिषि उपासकान्तरन्तरिक्षे नि सद: निषीद । परमेश्वरो हि सर्वेषामन्नम्, यत: स मन:संवर्धनार्थं सर्वेर्ज्ञानिभिरद्यते । अन्नरूपात्तस्मादेव परमात्मन:

† सोम विश्वा च सौभगेति व्युत्क्रम ऋक्पाठ: ।

स्तवो जायते । तस्य माहात्म्यं विदित्वा सर्वैः स स्तूयते । तत्स्तवस्तूपासकान्तःकरणेभ्यो जायते न तु परमात्मन इति सन्धायैव यथाशब्दप्रयोगः । यदि परमात्मन्यन्धस्त्वं न स्याज्जीवान्तःकरणेषु तत्स्तवधारापि न प्रवर्तेतेति तज्जातत्वमन्धस इति ज्ञेयम् ।। २।५ ।।

९७७. उत नो गोविदश्वविद्पवस्व सोमान्धसा ।
मक्षूतमेभिरहभिः ।। ३।५ ।। (ऋ० ९।५५।३)

उत नो गोविदेति । ऋष्यादय उक्ताः । उतेति चार्थे । हे सोम परमेश्वर, नोस्माकं गोविद् गोलम्भको गोप्रद इति यावत् । गौरिति वाङ् नाम । वाक्प्रदो विद्याप्रद इत्यर्थः । अश्वविद् अश्वप्रापकः । अश्नुते पदार्थं व्याप्नोतीत्यश्वो मनः । मनः स्ववेगेन सर्वं पदार्थजातमश्नुवदिव लक्ष्यते । अश्वप्रापक इत्यस्याशुबोधिमनप्रद इत्यर्थः । त्वम् । मक्षूतमेभिः शीघ्रतमैरहभिरह्नोभिः । अन्धसा तमसा हेतुना पवस्व प्राप्नुहि । अस्मानितिशेषः । परमेश्वरागमने तम एव हेतुः । तमोनिवारणार्थं तदागमनं प्रार्थ्यते ।। ३।५ ।।

९७८. यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रुमभीत्य ।
स पवस्व सहस्रजित् ।। ४।५ ।। (ऋ० ९।५५।४)

यो जिनातीति । ऋष्यादय उक्ताः । यो जिनाति सर्वमभिभवति । न जीयते स्वयं नाभिभूयते केनापि । जि अभिभवे । शत्रुमकारणमपकर्तारमभीत्याभ्येत्य हन्ति विनाशयति । स सहस्रजित् सर्वजित् त्वं पवस्य प्राप्नुह्यस्मानितिशेषः ।। ४।५ ।।

९७९. यास्ते धारा मधुश्चुतोऽसृग्रमिन्द ऊतये ।
ताभिः पवित्रमासदः ।। १।६ ।। (ऋ० ९।६२।७)

यास्ते धारा इति । जमदग्निर्भार्गव ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । हे इन्दो सर्वैश्वर्य परमेश्वर, यास्ते तव

मधुश्च्युतो माधुर्यस्य श्चोतयित्र्यो धारा वाचो वेदरूपाः। धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११।२)। ऊतये जीवानामस्माकं रक्षायै। असृग्रं सृज्यन्ते ताभिर्धाग्भिः सह पवित्रं हृदयम्। आसद आसीद त्वमित्यध्याहार्यम् ॥ १।६ ॥

९८०. सो अर्षेन्द्राय पीतये तिरो वाराण्यव्यया† ।
‡सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ २।६ ॥　　(ऋ० ९।६२।८)

सो अर्षेन्द्रायेति। ऋष्यादय उक्ताः। वाराणि वर्याणां वरणीयानाम्। अव्यया अव्ययानामविनाशिनां जीवानाम्। लिङ्गविभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः। निर्धारणे षष्ठी। सर्वेषां जीवानां मध्ये इन्द्राय समिद्धाय ज्ञानबलैश्वर्याय जीवाय। स त्वं सोम अर्ष प्राप्नुहि। ऋषी गतौ। कस्मै प्रयोजनाय? पीतये पानाय तृप्तय इति भावः। त्वय्यागते परमभक्तानां तृप्तिर्भवति। तिरः तिरसः प्राप्तस्य। तिरः सत इति प्राप्तस्येति यास्कः (नि० ३।२०)। ऋतस्य सत्यस्य तव योनिं महावयवमन्तरिक्षं स्थानम्। "योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुना" इति (नि० २।८), 'योनिं स्थानम्' (नि० २।१९) इति च यास्कः। सीदँस्तिष्ठन्, आ आगच्छ। उपसर्गबलात् क्रियाध्याहारः। अत्र मन्त्रस्यायमाशयः। बहवः सन्ति जीवा वरणीयाः। सर्वे चाव्ययाः। तेषु यः सत्याहिंसाब्रह्मचर्यादिभिरिन्द्रोऽस्ति तस्य तृप्तये परमेश्वरेण दर्शनं देयम्। तस्य सविध आगन्तव्यम्। तस्यागमनं न स्वीयं स्थानं परित्यज्य, किन्तु व्यापकत्वात्तत्र स्थितः सन्नेव स्वशक्त्या दर्शनदानमवगन्तव्यम्। दर्शनदानं न लौकिकानामिव; किन्तु स्वमहिम्ना स्वीयेषु स्वतेजःप्रकाशनम् ॥ २।६ ॥

---

† 'रोमाण्यव्यया' इत्यृक्पाठः।

‡ 'सीदन् योना वनेष्वा' इत्यृक्पाठः।

९८१. †त्वं सोम परि स्रव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः ।
वरि वो विद्घृतं पयः ॥ ३।६ ॥ (ऋ० ९।६२।९)

त्वं सोमेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम परमेश्वर, त्वं स्वादिष्ठः स्वादुतमोसि । ततः अङ्गिरोभ्यस्तव सुतेभ्यो भक्तेभ्यः । अङ्ग्यतेसावित्यङ्गारः । परमात्मा । स हि सर्वैर्गम्यते । "अङ्गि-मदि…" (द० पा० उ० ८।६४) इत्यारन् प्रत्ययः । अगि गतौ । अङ्गारायेत्यङ्गिरसो भक्ताः । तेभ्यो घृतं प्रकाशं ज्ञानरूपम् । घृ क्षरणदीप्त्योः । पयो भक्तिरसं च । पीयत इति पयः 'पिबतेरि च' (उ० ४।१९५) इति पिबतेरसुन् । परि स्रव परितः स्रव देहीतिभावः । कीदृशस्त्वम् ? वरिवोविद् वरिवो धनम् । तच्च ज्ञानादिरूपम् । तस्य लम्भकः प्रापको दाता वा । विद्लृ लाभे ॥ ३।६ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

●

अथ तृतीयः खण्डः

९८२. तव श्रियो वर्ष्यस्येव ‡विद्युतोऽग्नेश्चिकित्र उषसामिवेतयः ।
यदोषधीरभिसृष्टो वनानि च परि स्वयं चिनुषे
अन्नमासनि* ॥ १।७ ॥ (ऋ० १०।९१।५)

तव श्रिय इति । अरुणो वैतहव्य ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती छन्दः । हे अग्ने परमात्मन्, यद् यदा । अभिसृष्टः संकल्पपुरस्स-

† त्वमिन्दो परीत्यृक्पाठः ।

‡ विद्युतोऽग्नेश्चिकित्व उषसां न केतव इत्यृक्पाठः ।

* 'अन्नमास्ये' इत्यृक्पाठः ।

रमुद्यतस्त्वमोषधीर्वनस्पतीन् वनानि जलानि। अन्नं खाद्यानि वस्तूनि। जीवानां श्रेयोपेक्ष्य आसनि मुखे स्वयमात्मना स्वेच्छयेति-यावत्। परि चिनुषे संगृह्णासि तदा तवाग्नेः परमेश्वरस्य सर्वगस्य श्रियः शोभा वर्षस्य वर्षणशीलस्य मेघस्य विद्युत इव उषसामुषः-कालस्येतयो गतय इव चिकित्रे प्रतीयन्ते। यथोषसो गमने रात्रि-प्रलयो भवति, अन्धकारादावृतो लोकः प्रकाशमुपैति, यथा च मेघकाले विद्युतः प्रतिभान्ति प्रकाशं च प्रसारयन्ति, उभयत्र तमः-प्रलयः प्रदर्श्यते तथैव परानुकम्पया ज्ञानोदयेन च सर्वभौतिक-पदार्थासवितप्रलयकाले सर्व एव जागतिकाः पदार्था विलीयन्ते। पदार्थाविलयकाले परमेश्वरस्य श्रीरपूर्वेव भवति। परमेश्वरस्यापूर्वा श्रीस्तदानुभूयत इति भावः। उषसामित्यत्र इतय इत्यत्र च बहु-वचनं प्रत्येकमुषसं च प्रत्येकं चेतिमपेक्ष्य विज्ञेयम् ॥ १।७ ॥

९८३. वातोपजूत† इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वितिष्ठसे।
आ ते यतन्ते रथ्यो३ यथा पृथक शर्धांस्यग्ने ‡अजरस्य धक्षतः ॥ २।७ ॥ (ऋ० १०।९१।७)

वातोपजूत इति। ऋष्यादय उक्ताः। हे अग्ने परमेश्वर, यद्यदा वातोपजूतो वातैस्त्वद्गतमनोभिर्भक्तैर्ज्ञानिभिर्वा जूतो गतः प्रीतः प्रसादितो वा। 'जूतिर्गतिः। देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वा' इति यास्कः (नि० १०।२८) इषितो भक्तैरेव प्रेरितः प्रार्थनयेति भावः। वशान् वश्यान् त्वद्भक्तान् अनु प्रति। अन्ना अन्नानि प्रेयोवस्तूनि जागतिकानि वेविषद् व्याप्नुवन् पराक्राम्यन्नित्यर्थः। पराक्रम्य निराकुर्वन्नितिभावः। तृषु क्षिप्रम्। तृष्विति क्षिप्रार्थं पदम् (निघ० २।१५।१०)। वितिष्ठसे भक्तहृदयेषु प्रतिष्ठितो भवसि तदा धक्षतः

† ···घृत इत्यृक्पाठः। ‡ अजराणीत्यृक्पाठः।

सर्वानेव पदार्थान्पदार्थासक्ति वा भक्तानां दहतस्तव। अजरस्याजराणि जरारहितानि नित्यानि शर्धांसि क्लिन्नता दयार्द्रता इतिभावः। शृधु क्लेदने। अथवा शर्धांसि पराक्रमाः। शृधु प्रसहने। शर्धतिरुत्साहार्थ इति स्कन्दस्वामी। शर्ध इति बलनाम् (निघ० २।९।७) पृथक् सर्वापेक्षयापूर्वं विलक्षणम्। आ यतन्ते आ गच्छन्ति, उपस्थितानि भवन्तोत्यर्थः। यततिर्गतिकर्मा (निघ० २।१४।४४)। रथ्य इव रथ्या इव रथस्य वोढार इव। यथा रथस्य वोढारो रथादन्येभ्यश्च पृथगुपस्थिता अवलोक्यन्ते तद्वत् ॥ २।७ ॥

९८४. मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं †परिभूतरं मतिम्। ‡त्वामर्भस्य हविषः समानमित्त्वां महो वृणते नान्यं त्वत् ॥ ३।७ ॥ (ऋ० १०।९१।८)

मेधाकारमिति। ऋष्यादय उक्ताः। मेधाकारं ज्ञानाकारं ज्ञानस्वरूपमिति यावत्। विदथस्य विज्ञानस्य प्रसाधनं प्रकृष्टं साधनम्। विदेरथक् (उ० ३।१११)। विदथं वेदनम्। परमात्मन एव सर्वाणि वेदनानि प्रवर्तन्तेतस्स एव तत्साधनन्। अग्निं प्रकाशस्वरूपम्, सर्वव्यापकं वा। होतारं सर्वस्वदातारम्। हु दानादनयोः। परिभूतरं परेषामतिशयेन परिभवितारम्। मतिं मन्तारं ज्ञातारं सर्वज्ञमितिभावः। एवंभूतं हे परमेश्वर त्वाम्। अर्भस्याल्पस्य। अर्भकमल्पमितिनिघण्टुः। हविषो ज्ञानयज्ञस्य महो महतो वा हविषः समानमित् समानमेव वृणते स्वीकुर्वते आह्वयन्ति जनाः। त्वत् त्वत्तोन्यं नाह्वयन्ति। हूयत इति हविरिति व्युत्पत्त्या परमात्मनि हूयमानं समर्प्यमाणं मन एव वाच्यं तथापि मनसः समर्प-

† तममित्यृक्पाठः।

‡ तमिदर्भे हविष्या समानमित्तमिन्महे वृणते इत्यृक्पाठः।

णेर्भकत्वस्य महत्त्वस्य चासम्भवात् हविःशब्देनेह ममोर्पणरूपस्य यज्ञस्य ग्रहणम्। यद्यपि मनोर्पणयज्ञेप्यर्भत्वमहत्त्वयोर्नावकाशस्त-थापि साधारणासाधारणभक्तियोगमादाय निर्वाहः कर्तव्यः ॥ ३।७॥

९८५. पुरूरुणा चिद्ध्यस्त्यवो नूनं वां वरुण।

मित्र वंसि वां सुमतिम् ॥ १।८॥ (ऋ० ५।७०।१)

पुरूरुणेति। उरुचक्रिरात्रेय ऋषिः। मित्रावरुणौ देवता। गायत्री छन्दः। वेदेषु प्रायेण सर्वत्र मित्रावरुणा इति समस्त एव पाठः उपलभ्यते। अत्र व्यस्तः पाठः। मया सर्वत्रैवैतादृक्स्थले मित्रावरुणयोरेकदेवत्वं समर्थितं न तु द्वित्वम्। तत्रायं व्यस्तपाठोपि प्रमाणम्। स एव परमात्मा वरुणः स एव मित्रः। वरणीयत्वाद्वरुणः स्निग्धत्वान्मित्रः। वामिति द्विवचनमार्षमेकत्ववाचकोव्ययो वा। हे वरुण परमेश्वर, नूनमवश्यं वा तव। अवो रक्षणं त्वत्कृतरक्ष-णमितियावत्। पुरूरु पुरोरपि वहोरपि उरु बहु पुरूरु अधिकाधि-कमत्यन्तमधिकमितियावत्। पुरूरु प्रथमैव। सुपां सुलुक् (पा०) इत्याकारः। चिदति पूजायाम्। तच्च अवेत्यनेन संसृज्यते। हीति हेत्वपदेशे। यतस्त्वदवनं पुरूरु तत एव हे मित्र परमस्निग्ध परमेश्वर वां तव सुमतिं शोभनां मतिमनुग्रहवुद्धिं वंसि संभजेये-च्छामि वा ॥ १।८॥

९८६. ता वां सम्यगद्रुह्वाणेषमश्याम †धाम च।

वयं ‡वां *मित्रा स्याम ॥ २।८॥ (ऋ० ५।७०।२)

ता वामिति। ऋष्यादय उक्ताः। हे वरुण हे मित्र परमेश्वर, त्वाम् अद्रुह्वाणा अद्रुह्वाणम्। द्विवचनं नामद्वयमपेक्ष्य। कस्मैचिदपि

† धायसे इत्यृक्पाठः। ‡ ते इत्यृक्पाठः।

* रुद्रा इत्यृक्पाठः।

अद्रुह्यन्तम् । तौ तं प्रसिद्धं वां त्वाम् प्रार्थयामह इति शेषः । किम् ? सम्यगिषं मनोभिलषितं पदार्थं धाम ब्रह्मतेजश्च, अश्याम प्राप्नुयाम । किं च वयमुपासका वां तव मित्रा मित्राणि स्निग्धाः श्रद्धावन्तः स्याम ॥ २।८ ॥

९८७. पातं नो मित्रा† पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा ।
‡साह्याम *दस्युं तनूभिः ॥ ३।८ ॥ (ऋ० ५।७०।३)

पातं न इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे वरुण हे मित्र परमेश्वर, नोस्मान्मित्राणि पायुभी रक्षाकर्मभी रक्षार्थमितियावत् । विद्यया वसतीतिवत्प्रयोगः । पातं पिवतं पिबेत्यर्थः । द्विवचनमविवक्षितम् । रक्षार्थं पिवेत्यस्य रक्षार्थं पश्येत्यर्थः । उत्कटाभिलाषं द्यातयितुं पाधालुप्रयोगः । उत अपि च सुत्रात्रा शोभनस्त्राता त्वं त्रायेथां त्रायस्व । पातमित्यनेन निरीक्षणप्रार्थना । त्रायेथामित्यनेन रक्षणप्रार्थनम् । तथा त्रायस्व येन तनूभिः शरीरैर्दस्युमपक्षयकर्तारं शत्रुम् साह्याम परिभवेम ॥ ३।८ ॥

९८८. उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वा§ शिप्रे अवेपयः ।
सोममिन्द्र चमू सुतम् ॥ १९ ॥ (ऋ० ८।७६।१०)

उत्तिष्ठन्निति । कुरुसुतिः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । हे इन्द्र सर्वैश्वर्य परमेश्वर, चमू चम्वोर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये सुतमुत्पादितं सोमं शान्तरसं वैराग्यरसं भक्तिरसमिति यावत् । पीत्वानुभूय । ओजसा बलेन तेजसा वा सहोत्तिष्ठन् तेजसा शोभमान इति भावः । न हि परमेश्वर उत्तिष्ठति तिष्ठति वा । अत

---

† रुद्रा इत्यृक्पाठः । ‡ तुर्यामेत्यृक्पाठः ।
* दस्यूनित्यृक्पाठः । § पीत्वीत्यृक्पाठः ।

उत्तिष्ठन्नित्यस्य शोभमान इति वर्तमान इति वार्थः। शिप्रे गतौ गतिसाधनौ चरणावित्यर्थः। अवेपयो वेपयसे। पादौ चालयसि, पद्भ्यां गच्छसीतिभावः। उत्थानं गमनमित्यादि सर्वं भक्त्या परिकल्पितं मन्तव्यम्। न हि व्यापकः परमात्मा कस्मिंश्चिदवकाश उत्तिष्ठति न वा गच्छति। शिप्रशब्दो गत्यर्थकः। सृपृ गतौ। 'स्फायितञ्चि०' (उ० २।१२) इति रक्। बाहुलकात् सृशब्दस्य शिभावः। तदेवाह यास्कः—'सृप्रः सर्पणात्। सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम्" (नि० ६।१७) ॥ १।९ ॥

९८९. अनु त्वा रोदसी उभे स्पर्ध†मानमददेताम्।
इन्द्र यद्दस्युहाभवः ॥ २।९ ॥ (ऋ० ८।७६।११)

अनु त्वेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे इन्द्र यद् यस्मात्त्वं दस्युहा दस्यूनामपक्षयकर्तॄणां हन्ता। अभवः असि। तस्मात् स्पर्धमानं दुर्जनैः सह संघर्षं कुर्वाणं दुर्जनान् पराजयमानमिति यावत्। त्वा अनुत्वामुपलक्ष्य। उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ अनु अददेताम् अवकाशं ददाते। त्वादृश उपकारिणेवकाशं दत्त इति भावः। रोदस्योर्मध्ये वर्तमानाः सर्वे त्वां भजन्त इत्यर्थः ॥ २।९ ॥

९९०. वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृ‡तावृधम्।
इन्द्रात्परितन्वं* ममे ॥ ३।९ ॥
(ऋ० ८।७६।१२) (ऋ० ६।६०।७)

वाचमष्टेति। ऋष्यादय उक्ताः। अहमुपासको ज्ञानभिक्षुर्वा। अष्टापदीम् अष्टौ दिशः पादा यस्याः सा ताम्। अष्टासु दिक्षु व्याप्तामित्यर्थः। 'अष्टापदी दिग्भिरवान्तरदिग्भिश्च' इति

† ऋक्षमाणमक्रुपेतामित्यूक्पाठः ‡ मृतस्पृशमित्यूक्पाठः।
* परितन्वमित्यूक्पाठः।

यास्कः (नि० ११।४०)। नवस्रक्ति नवसृष्टामभिनवामित्यर्थः। सृज विसर्गे। क्तिन्, अमागमश्च बाहुलकात्। जकारस्य षकाराभावश्छान्दसः। अथवा नामधात्वव्ययोपसर्गस्वरव्यञ्जनानुस्वारविसर्गाः पादा यस्याः सा ताम्। ऋतावृधं सत्यवर्धिनीं तन्वमतिसूक्ष्माम्। वाचं वेदरूपाम्। इन्द्रात्परमात्मनः परि ममे परिमिमे बोधामीत्याशयः। वेदाः परमात्मनः समुत्पन्ना इति मन्त्रेणानेन परिबोध्यते ॥ ३।९ ॥

९९१. इन्द्राग्नी युवामिमे ३ऽभि स्तोमा अनूषत।
पिबतं शम्भुवा सुतम् ॥ १।१० ॥

इन्द्राग्नि इति। भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः। इन्द्राग्नी देवता। गायत्री छन्दः। हे इन्द्र, हे अग्ने परमेश्वर, इमे स्तोमाः स्तुतिकर्तारो युवामिन्द्ररूपमग्निरूपं च त्वाम् अनूषत नुवन्ति स्तुवन्ति। शम्भुवा शम्भुवौ शंभावयितारौ। धर्मभेदेन धर्मिद्वयं परिकल्प्य द्विवचनम्। शम्भावयिता त्वम्। सुतं निष्पादितं भक्तिरसं पिबतं पिब अनुभवेतिभावः। रसस्य निष्पादयिता रससम्बन्धी चोभावेव रसमनुभवतः। रसो हि कश्चन हार्दिकभावो वाचा वक्तुमशक्यः। स च द्विष्ठो भवति। अनुभवितर्यपि, अनुभाव्येपि स तिष्ठति। अनुभाव्यो हि परमेश्वरः। परमेश्वरेपि स रसः। वस्तुतः परमेश्वर एव रसः। रसो वै स इत्युपनिषद्। उपासकसौकर्याय रसाधारः परमेश्वरः परिकल्पितः। रसानुभविता जीवो रसास्वादेन प्रसीदति, रसाधारश्च परमात्मा, अयं माम् मदाज्ञां चानुसरतीति प्रसीदति। एवं चोभयोः प्रसादः ॥१।१०॥

९९२. या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा।
इन्द्राग्नी ताभिरा गतम् ॥ २।१० ॥ (ऋ० ६।६०।८)

या वामिति। ऋष्यादय उक्ताः। हे नरा नरौ नेतारौ इन्द्राग्नी। द्विवचनं पूर्ववज्ज्ञेयम्। हे नेतः परमेश्वर, दाशुषे मनःप्रदानकर्त्रे हृदयसमर्पयित्रे भक्ताय। वां तव पुरुस्पृहः पुरुभिर्बहुभिः स्पृहणीयाः। नियुतः सृष्टिसामग्रीमिश्रणकर्त्र्यः, जीवान् त्वया परमात्मना सह संमिश्रयित्र्यो याः कृपाशक्तयः सन्ति ताभिः आ गतमागच्छतमागच्छेति तात्पर्यम्। जीवकल्याणायैव परमेश्वरशक्तय इति ताभिः सहैव परमेश्वरागमनं प्रार्थ्यते। न हि शक्तिमपहाय शक्तिमानागन्तुं शक्नोतीति स्वतः शक्तिमदागमने शक्तिनामागमनं सिद्धं तथापि स्पृहां शक्तीः प्रति द्योतयितुं तथोक्तिः॥ २।१०॥

९९३. ताभिरागच्छतं नरोपेदं सवनं सुतम्।
इन्द्राग्नी सोमपीतये॥ ३।१०॥　　　　(ऋ० ६।६०।९)

ताभिरेति। ऋष्यादय उक्ताः। उक्तार्थमेव पुनरावर्तयति महतौत्सुक्येन। हे नरा नर, इन्द्राग्नी इन्द्रश्चाग्निश्च, इदमिमं सुतं निष्पादितं सवनं सोममुप प्रति। अथवा उपलक्ष्य। सोमपीतये भक्तिरसपानाय ताभिः पूर्वोक्ताभिः शक्तिभिरा गच्छतमागच्छ। अत्र वक्तव्यमुक्तम्॥ ३।१०॥

इति तृतीयः खण्डः



अथ चतुर्थः खण्डः

९९४. अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्।
†सीदन्योनौ वनेष्वा॥ १।११॥　　　　(ऋ० ९।६५।१९)

† 'सीदञ्छ्येनो न योनि मा' इत्यृक्पाठः।

अर्षा सोमेति । भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।११ ॥

९९५. अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
‡ सोमा अर्षन्तु* विष्णवे ॥ २।११ ॥ (ऋ० ९।६५।२०)

अप्सा इन्द्रायेति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः । अप्सा रूपवन्तो दर्शनीयाः । अप्स इति रूपनाम (निघ० ३।७।६) तद्वन्तोय्यप्साः । अकारान्तः सकारान्तोप्येष शब्दः । अप्स इतिरूपनाम । अप्सातेरप्सानीयं भवति । आदर्शनीयं व्यापनीयं वा स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिरिति निरुक्ते (५।१३) यास्कः । सोमाः शान्ता भक्ता परमेश्वरायार्षन्तु गच्छन्तु । तत्प्राप्तये प्रयतन्तामिति यावत् । कीदृशाय ? इन्द्राय परमैश्वर्याय । इदि परमैश्वर्ये । प्रकाशस्वरूपाय वा । इन्धी दीप्तौ । वायवे गमनशीलाय व्यापकायेत्यर्थः । वरुणाय सर्वैर्वरणीयाय । मरुद्भ्य ऋत्विग्भ्यः ऋत्विजां परमेश्वरोपासकानाम् । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । कामदायेति शेषः । विष्णवे सर्वव्यापकाय सर्वान्तर्यामिणे वा ॥ २।११ ॥

९९६. इषं तोकाय नो दधदस्मभ्यं सोम विश्वतः ।
आ पवस्व सहस्रिणम् ॥ ३।११ ॥ (ऋ० ९।६५।२१)

इषं तोकायेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम परमेश्वर नोस्माकं तोकाय अपत्याय । तोकमित्यपत्यनाम (निघ० २।२।२) । शिष्यादयोपि ग्रहीतव्याः । तुद व्यथने । पुंसि संज्ञायां घः (३।३।११८) पृषोदरादित्वाद्दकारस्य ककारः तोकं तुद्यतेरितियास्कः (नि० १०।७) अस्मभ्यमुपासकेभ्यश्च विश्वतः सर्वत इषमिष्टं दधद्द-

† पूर्वार्चिके ५०२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ 'सोमो' इत्यन्यपाठः । * अर्षतीत्यन्यपाठः ।

दित्यर्थः । सहस्रिणं सहस्रसंख्याकं सहस्रसंख्याकान् बहून् शिष्यांस्तनयांश्च आ पवस्व आगमय प्रापयेत्यर्थः ॥ ३।११ ॥

९९७. सोम उ ष्वाणः† सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम् ।
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ॥१।१२॥
(ऋ० ९।१०७।८)

सोम उ ष्वाण इति । सप्तर्षय ऋषयः (भारद्वाजो बार्हस्पत्यः, कश्यपो मारीचः, गोतमो राहूगणः, अत्रिर्भौमः, विश्वामित्रो गाथिनः, जमदग्निर्भार्गवः, वसिष्ठो मैत्रावरुणिः) । पवमानः सोमो देवता । बृहती छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ‡ ॥ १।१२ ॥

९९८. अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः ।
समुद्रं न संवरणान्यग्मन्मन्दी मदाय तोशते ॥ १।१२ ॥
(ऋ० ९।१०७।९)

अनूप इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । गोमान् विद्यावान् सोमः शान्तः उपासकः । अनूपे लोकानुग्राहके परमात्मनि "अनूपा अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा" इति यास्कः (नि० २।२२) । गोभिर्वाग्भिः प्रार्थनावचनैर्यदा अक्षाः अश्नुते व्याप्नोति उपासनयैकाग्रो भवति, दुग्धाभिरुपासनासारभूताभिः शुद्धाभिर्वृत्तिभिः अक्षाः निवसति । क्षि निवासे । तदा मन्दी हृष्टः स मदायानन्दाय आनन्दमनुभवितुम् । तोशते कामक्रोधादिविघ्नराशिं निहन्ति । तोशतिर्वधकर्मा (निघ० २।१९।२९) । उदाहरणमाह । न यथा । संवरणानि संव्रियन्ते राशीक्रियन्ते इति, जलानि समुद्रं महासागरम्

† षुवाण इत्यृक्पाठः ।
‡ ऋ० पूर्वार्चिके ५१५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

अग्मन् गच्छन्ति ताद्रूप्यमवाप्यानन्दीनि च भवन्ति। उपासकस्य दशानेन मन्त्रेण निरूपिता भवति ॥ २।१२ ॥

९९९. यत्सोम चित्रमुक्थ्यं दिव्यं पार्थिवं वसु।
तन्नः पुनान आ भर ॥ १।१३ ॥ (ऋ० ९।१९।१)

यत्सोमेति। असितः काश्यपो देवलो वार्षिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। हे सोम परमेश्वर, चित्रमाश्चर्यंकरं चयनीयं वा। उक्थ्यं प्रशस्यं स्तुत्यम्। दिव्यं सुन्दरम्। पार्थिवं प्रख्यातम्। प्रथ प्रख्याने। वसु धनं मोक्षरूपं यदस्ति तत् पुनानोस्मान्, नोस्मभ्यमा भर आहर ॥ १।१३ ॥

१०००. वृषा पुनान आयूंषि† स्तनयन्नधि बर्हिषि।
हरिः सन्योनिमासदः‡ ॥ २।१३ ॥ (ऋ० ९।१९।३)

वृषा पुनान इति। ऋष्यादय उक्ताः। वृषा सर्वकामानां वर्षकः सेचकः सोमः परमेश्वरः। आयूंषिः जीवनकालान् पुनानः शोधयन्पावयन्। बर्हिषि मनसि। वृहि वृद्धौ। वर्द्धतेनेनेति। मनसैव सर्वेषां वृद्धिर्भवति। यस्य नास्ति मनोबलं वृद्धिरपि नास्ति तस्य। अधि स्तनयन् शब्दं कुर्वन् उत्तेजयन्नित्यर्थः। हरिः सन् हरति पापानि मनांसि वा तादृशो भवन् योनिं गृहम् अन्तःकरणरूपम्। योनिरिति गृहनाम (नि० ३।४।१४)। आसद आसीदति। पुरुषव्यत्ययः ॥ २।१३ ॥

१००१. युवं हि स्वःपती* इन्द्रश्च सोम गोपती।
ईशाना पिप्यतं धियः ॥ ३।१३ ॥ (ऋ० ९।१९।२)

युवं हि स्थ इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सोम परमेश्वर, युवं युवां त्वम् इन्द्रो जीवात्मा च स्वः पती स्थः सुखस्वामिनौ स्थः।

† आयुष्वित्यृक्पाठः। ‡ मासददित्यृक्पाठः। * स्वर्पती इत्यृक्पाठः।

एकश्च सिद्धोन्यो जीवात्मा भविष्यति भविष्यन्स्वामीति भावः। युवामेव गोपती विद्यापती ज्ञानिनावपि स्थः। अत्राप्येकः सिद्धोपरो भविष्यन्। ईशानौ ईश्वरौ समर्थौ युवाम्। धियः कर्माणि बुद्धीर्वा पिप्यतं प्यायतम्। एकः प्रेरयिता सन्नपरः प्रेर्यः सन्निति भावः॥ ३।१३॥

इति चतुर्थः खण्डः



अथ पञ्चमः खण्डः

१००२. इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र
नोऽविषत्॥ १।१४॥ (ऋ० १।८१।१)

इन्द्रो मदायेति। गोतमो राहूगण ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। पङ्क्तिश्छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः †॥१।१४॥

१००३. असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि परादिदः।
असि दभ्रस्य चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते
भूरि ते वसु॥ २।१४॥ (ऋ० १।८१।२)

असि हि वीरेति। ऋष्यादय उक्ताः। वीरयति विशेषेणेरयति सर्वविधान्कामादिशत्रूनिति वीरः। तत्सम्बुद्धौ हे वीर कामादिशत्रुपरिकम्पक, परमेश्वर, त्वं सेन्योसि, सिनोति बध्नाति शत्रुनिति सेना। शत्रुपराभवित्री शक्तिः। तामर्हतीति सेन्यः। तथाभूतोसि। अथवा इनैरीश्वरैः कामादिशत्रुपराभवसमर्थैः सह वर्तन्त इति सेना

† पूर्वार्चिके ४११ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

जीवविशेषाः। तानर्हसीति सेन्यः। ये स्वयं स्वोद्धरणे समर्थास्तेभ्य एव त्वं योग्योसि न कातरेभ्यो न कदर्येभ्यः। भूर्यधिकं परादादिः परादाता परेषां श्रेष्ठानामासमन्ताद् दातासि। दभ्रस्याल्पस्य चित् एव वृधोसि वर्धकोसि। यस्य तनुजनुरादीनां नास्ति मद आश्रयो वा तस्यैव त्वं वर्धको भवसि, नान्यस्येतियावत्। ते तव यजमानायोपासकाय भूर्यधिकं वसु सत्यादिकं शिक्षसि ददासि। शिक्षतिर्दानकर्मा (निघ० ३।२१।८)। सुन्वते चोत्पादयसि च ॥२।४॥

१००४. यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते †धनम्।

‡युङ्क्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ

इन्द्र वसौ दधः ॥ ३।१४ ॥ (ऋ० १।८१।३)

यदुदीरतेति। ऋष्यादयः उक्ताः। व्याख्यातोयं मन्त्रः।*
॥ ३।१४ ॥

१००५. स्वादोरित्था विषूवतो §मधोः पिबन्ति गौर्यः।

या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथाऽ वस्वीरनु

स्वराज्यम् ॥ १।१५ ॥ (ऋ० १।८४।१०)

स्वादोरित्थेति। गोतमो राहूगण ऋषिः। इन्द्रो देवता। पङ्क्तिश्छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।१५ ॥ £

१००६. ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः।

प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु

स्वराज्यम् ॥ २।१५ ॥ (ऋ० १।८४।११)

---

† 'घना' इत्यृक्पाठः। ‡ युक्ष्वा इत्यृक्पाठः।

* पूर्वार्चिके ४१४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः। § मध्व इत्यृक्पाठः।

$ 'श्रोणते' इत्यृक्पाठः। £ पूर्वार्चिके ४०९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

ता अस्येति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। ताः प्रसिद्धाः। पृशनायुवः परमेश्वरस्पर्शकामाः। पृश्नयः परमेश्वरस्पृष्टा उपासिका जीवचितः। 'पृश्निरादित्यो भवति। प्राश्नुत एवं वर्ण इति नैरुक्ताः। संस्प्रष्टा रसान्। संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्। संस्पृष्टो भासेति वा इति निरुक्ते (२।१४)। अस्य परमेश्वरस्य सम्बन्धिनं सोमं शान्तं भक्तिरसम्। श्रीणन्ति पाचयन्ति। परमेश्वरसम्बन्धिनीं भक्तिं परिपक्वां कुर्वन्तीति भावः। इन्द्रस्य परमात्मनः। प्रिया धेनवो वाचो वेदरूपाः। वज्रं निषेधकं मार्गं हिन्वन्ति प्रेरयन्ति दर्शयन्तीति भावः। परमेश्वरस्य सर्वप्रीतिहेतुभूता वेदवाचो जीवानीश्वरमार्गं प्रदर्शयन्ति। "वज्रः कस्मात्? वर्जयतीति सतः" इति यास्कः (नि० ३।११)। मार्गान्तरं परिवर्ज्य पारमैश्वरे मार्गे द्रढयन्ति वेदा इति तात्पर्यम्। कीदृशं वज्रम्? सायकं मार्गान्तरान्तकारकम्। पारमेश्वरे मार्गे विचरतो मोक्षावाप्तौ संसृतिशातनं भवति न तेन पुनर्मार्गान्तरग्रहणसम्भवः। वस्वीः परमात्मनि निवासं कारयित्र्यो वेदवाचः। स्वराज्यमनु। अनुर्लक्षणे। स्वराज्यं ब्रह्मभावं लक्षयित्वा निवर्तन्त इति भावः॥ २।१५॥

१००७. ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः। व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्
॥ ३।१५॥ (ऋ० १।८४।१२)

ता अस्येति। ता जीवचितः प्रचेतसः प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं ज्ञानसाधनं वा यासां ताः। सत्यः। अस्येन्द्रस्य परमात्मनः सहो बलम्। नमसा नमोवाकेन सपर्यन्ति समर्चन्ति। सपर्यति : परिचर्यार्थकः (निघ० ३।५।३)। सपर पूजायाम्। येषां ज्ञानं गुरूपासनया प्रकृष्टं भवति ते परमेश्वरं नमस्कुर्वन्ति पूजयन्ति च। तदीयाज्ञापालनं तदीयानामाराधनं च तत्पूजा वेदितव्या। अस्येन्द्रस्य

परमेश्वरस्य पुरूणि महान्ति व्रतानि शत्रुनिवर्तनं स्वकीयरक्षणं चेत्यादीनि। सश्चिरे गच्छति अधिगच्छन्तीति भावः। उपासते। परमेश्वरव्रतेष्वनुपक्ता भवन्तीति भावः। किमर्थं तं सपर्यन्ति? पूर्वचित्तये पूर्वकर्मभ्यः। पूर्वकृतकर्मणां निवृत्तय इत्यर्थः। चितिभिः कर्मभिरिति यास्कः (नि० २।९)। परमेश्वरार्चया सर्वाणि कर्माणि निवर्तन्ते मोक्षयोग्यता च प्राप्ता भवतीति भावः। कियदवधिकं तदुपासनम्? वस्वीर्वासयित्र्यः परमात्मनि तदुपासना स्वराज्यमनु। आमोक्षं तदुपासना। ब्रह्मस्वरूपज्ञानावधिः सा प्रवर्तते। स्वरूपज्ञानानन्तरं सा निवर्तते इति भावः॥ ३।१५॥

इति पञ्चमः खण्डः

अथ षष्ठः खण्डः

१००८. असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः।
श्येनो न योनिमासदत्॥ १।१६॥ (ऋ० ९।६२।४)

असाव्यंशुरिति। जमदग्निर्भार्गव ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥१।१६॥

१००९. शुभ्रमन्धो देववातमप्सु धौतं नृभिः सुतम्।
स्वदन्ति गावः पयोभिः॥ २।१६॥ (ऋ० ९।६२।५)

शुभ्रमन्ध इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। शुभ्रं दीप्तं देववातं देवैर्विद्वद्भिः परमेश्वरभक्तैर्वा वातं दत्तमुपस्थापितं वा। योग्यत्वाद्वातिरत्र दाने उपस्थापने वा। नृभिर्भक्तैर्जनैः सुतं गतं प्राप्तम्। सु

† पूर्वार्चिके ४७२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

गतौ। अप्सु परमात्मनि धौतं निर्मलीकृतम्। आप्नोति व्याप्नोतीत्यप्। अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। अथवा अपः परमात्मानं सवति प्रसवतीत्यप्सु। सुधातोः क्विप्। बाहुलकात्तुगभावः। धौतं शुद्धम्। अन्धोन्नं परमेश्वरध्यानरूपम्। गावः स्तोतारो भक्ताः। गौरति स्तोतृनाम (निघ० ३।१६।७)। पयोभी रात्रिभितर्द्वारभूताभिः। पय इति रात्रिनाम (निघ० १।७।२१)। प्यायते वर्धते धर्मो यत्रेति पयः। योगिभिः प्रायेण रात्रावेव धर्मोपासना क्रियते। स्वदन्ति आस्वदन्ते॥ २।१६॥

१०१०. आदीमश्वं न †हेतारमशूशुभन्नमृताय।
‡मधो रसं सधमादे॥ ३।१६॥ (ऋ० ९।६२।६)

आदीमश्वमिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। उपासकाः परमेश्वरभक्ताः। सधमादे सहमदने (नि० ७।३०)। यत्र सर्वैर्मिलित्वा भक्तिरसमनुभवद्भिर्माद्यते स सधमाद इत्युच्यते। मधोः सोमस्य परमात्मनः। ईमितम्। रसमानन्दम्। अमृतायामरणाय मोक्षायेतियावत्। आत् सर्वथा। अशूशुभन् शोभयन्ति सादरं पिबन्तीति भावः। कीदृशं रसम्? अश्वं व्यापकं सर्वजनप्रियम्। कमिव? हेतारं न हेतारमिव प्रेरयितारमिव। स रसः प्रेरयितेव प्रतीयते। ईदृगानन्दः समजायत तदास्वादने येनान्येपि जनास्तत्राकृष्टा भवन्ति। अतः स रसो हेतेत्युक्तम्। हि गतौ॥ ३।१६॥

१०११. अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुम्।*
वि कोशं मध्यमं युव॥ १।१७॥ (ऋ० ९।१०८।९)

---

† 'हेतारोऽ' इत्यृक्पाठः। ‡ 'मध्वो.....' इत्यृक्पाठः।

* देवयुरित्यृक्पाठः।

अभिद्युम्नमिति । उर्ध्वसद्मा आङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । विषमा ककुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।१७ ॥

१०१२. आ वच्यस्व सुदक्ष चम्वोः सुतो विशां वह्निर्न विश्पतिः ।
वृष्टिं दिवः पवस्व रीतिमपो‡ जिन्वन्* गविष्टये
धियः ॥ २।१७ ॥ (ऋ० ९।१०८।१०)

आ वच्यस्वेति । कृतयशा आङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । समा सतो वृहती छन्दः । हे सुदक्ष सूत्साह सोम परमेश्वर । चम्वोर्मनोवुद्धयोः सुतो गतः प्राप्त इति यावत् । सु गतौ । विशां, भक्तिमार्गे सन्मार्गे इति यावत्, प्रवेशं कुवर्ता जनानां वह्निर्न वोढेव वहनकर्तेव । परमेश्वरं सेवते यः स तं वहत्येव । विश्पतिर्मनुष्याधिपतिः । विश इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।५) । त्वम् आ वच्यस्व आ ब्रूहि आभाषस्वेत्यर्थः । छान्दसो विकरणव्यत्ययः । उपासकानुपदिश मार्गमिति तात्पर्यम् । किं च दिवो मोदस्य । वृष्टिं वर्षणम् । पवस्व क्षर । किं हे जिन्वन् सर्वप्रसादक परमेश्वर । जिविः प्रीणनार्थको धातुः । धियो ध्यायतो गविष्टये ज्ञानमिच्छतः । चतुर्थी षष्ठ्यर्थी । अपो व्यापनशीलस्य जीवस्य । रीतिं गतिम् । रि गतौ पवस्व । मोक्षं प्रापयेतिभावः ॥ २।१७ ॥

१०१३. प्राणाः§ शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥ १।१८ ॥

(ऋ० ९।१०२।१)

---

† पूर्वाचिके ५७९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ ""मपामित्यृक्पाठः । * जिन्वेत्यृक्पाठः ।

§ क्राणा इत्यृक्पाठः ।

प्राणा इति। त्रित आप्त्य ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। उष्णिक् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१८॥

१०१४. उप त्रितस्य पाष्योऽ३रभक्त यद्गुहा पदम्।
यज्ञस्य सप्त धामभिरध प्रियम् ॥ २।१८॥
(ऋ० ९।१०२।२)

उप त्रितस्येति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। गुहायामन्तःकरणगुहायामज्ञानगुहायां वा। सप्तम्यर्थे प्रथमा। गुप्तमितिशेषः। यत्पदं स्थानं परमेश्वराख्यमस्ति। तत् त्रितस्य सत्याहिंसासंयमवतः। त्रीणि वस्तूनि सत्याहिंसासंयमरूपाणि तनोति विस्तारयतीति त्रितः। तनु विस्तारे। बाहुलकाड्डः। पाष्योः पाषी। द्वितीयार्थे षष्ठी। मनोबुद्धी। पषतीति पाषिः। पष बाधे इति भानुजिदीक्षितः। उप अभक्तोपासेवत। किं भूतं पदम्? यज्ञस्य भक्तिरूपस्य सप्त सप्तभिर्धामभिस्तेजोभिः—विषयविरक्ति-नम्रता-समता-क्षमा-दया-उदारता-धैर्याख्यैः परिवेष्टितमितिशेषः। पुनः कीदृशम्? प्रियं प्रेमाश्रयम् ॥ २।१८॥

१०१५. त्रीणि त्रितस्य धारया ‡पृष्ठेष्वैरयद्रयिम्।
मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः ॥ ३।१८॥
(ऋ० ९।१०२।३)

त्रीणि त्रितस्येति। हे सोम परमेश्वर, त्रितस्य सत्याहिंसासंयमवतो जीवस्य। त्रीणि सत्याहिंसासंयमतत्त्वानि। धारय संरक्षय। पृष्ठेषु चरमेषु सर्वविधहीनेष्विति यावत्। रयिं सर्वविधां सम्पदम्। ऐरयत् ईरय प्रेषय देहीति यावत्। लकारकालव्यत्ययः।

† पूर्वार्चिके ५७० सङ्ख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ पृष्ठेष्वेरया रयिमित्यृक्पाठः।

सुक्रतुः सुप्रज्ञः । क्रतुरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९।५) । सद्बुद्धिरुपासकोस्य सोमाख्यपरमेश्वरस्य योजना योजनानि तत्संगमनसाधनानि वि मिमीते याचते (निघ० ३।१९।८) । त्वत्सम्बन्धोपायं प्रदर्शयेति याचत इति भावः ॥ ३।१८ ॥

१०१६. पवस्व †वाजसातये पवित्रे धारया सुतः ।
इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो ‡मधुमत्तरः ॥ १।१९ ॥
(ऋ० ९।१००।६)

पवस्व वाजसातय इति । रेभसूनू काश्यपौ ऋषी । पवमानः सोमो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । हे सोम परमेश्वर, पवित्रे हृदये धारया वाचा । धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११।२) । सुत उत्पादितः स्थापितः प्राप्तो वा । षुञ् अभिषवे । सु गतौ । वाजसातये बलप्रदानाय प्रकृत्या सह वर्तमानस्य समरस्य जयाय वा । वाजसातिरिति संग्रामनाम (निघ० २।१७।३६) । पवस्व प्राप्नुहि । कीदृशस्त्वम् ? विष्णवे देहव्यापकायेन्द्राय जीवाय देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च मधुमत्तरोतिशयेन मधुरः प्रियतम इति तात्पर्यम् ॥१।१९॥

१०१७. त्वां रिहन्ति *धीतयो हरिं पवित्रे अद्रुहः ।
वत्सं जातं न §मातरः पवमान विधर्मणि ॥ २।१९ ॥
(ऋ० ९।१००।७)

त्वां रिहन्तीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे पवमान, सर्वपावनकर्त्तः परमेश्वर, विधर्मणि विरुद्धधर्मणि शरीरे । आत्मा नित्यः । शरीरं नश्वरम् । अतः शरीरमात्मनो विरुद्धधर्मं । अद्रुहो द्रोह-

† वाजसातम इत्यृक्पाठः । ‡ मधुमत्तम इत्यृक्पाठः ।
* मातर इत्यृक्पाठः । § धीतय इत्यृक्पाठः ।

रहिताः सत्यो धीतयोऽङ्गुलयः। धीतिरित्यङ्गुलिनाम (निघ० २।५।७)। हरिं सर्वदोषनिवर्तकं, त्वां पवित्रे हृदये रिहन्ति पूजयन्ति। रिहतिरित्यर्चनकर्मा (निघ० ३।१४।११)। अङ्गुलिभिरेव पूजा निष्पाद्यते। केचनाज्ञानिनः शरीरमनपेक्ष्याध्यात्माध्वनि निरता भवन्ति। अत्र वेदेनोपदिश्यते शरीरमपेक्ष्यैव परमेश्वरपूजायां निरतेन भाव्यम्। तत्रोदाहरणम्। यथा जातं नवजातं वत्सं मातरो जनन्यः पूजयन्ति रक्षन्तीतिभावः। नहि पूजाशब्देन पुष्पाक्षतादिभिरेव कृता पूजा मन्तव्या। रती रक्षणमपेक्षा शिक्षेत्यपि पूजैव ॥ २।१ ॥

१०१८. त्वं द्यां च महिव्रत पृथिवीं चाति जभ्रिषे।
प्रति द्रापिममुञ्चथाः पवमान महित्वना ॥ ३।१९ ॥
(ऋ० ९।१००।९)

त्वं द्यां चेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे महिव्रत महासङ्कल्प पवमान परमेश्वर, त्वं द्यां द्युलोकं पृथिवीं पृथिवीलोकं च अति जभ्रिषे अत्यन्तं बिभर्षि। डुभृञ्धारणपोषणयोः। छान्दसं रूपम्। किंच त्वं महित्वना स्वमहत्त्वेन द्रापिं कुत्सितगतिम्। द्रा कुत्सायां गतौ। अमुञ्चथा मुञ्चसि मोचयसि दूरीकरोषीतिभावः ॥ ३।१९ ॥

१०१९ इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय।
हन्ति रक्षो बाधते †पर्यराति वरिवस्कृण्वन्वृजनस्य
राजा ॥ ११२० ॥ (ऋ० ९।९७।१०)

इन्दुर्वाजीति। मन्युर्वासिष्ठ ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्र ॥ ११२० ॥‡

† पर्यरातीर्वरिवः कृण्वन्नित्यृक्पाठः।
‡ पूर्वार्चिके ५४० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१०२०. अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रिदुग्धः।
इन्दुरिन्द्रस्य सख्यं जुषाणो देवो देवस्य मत्सरो
मदाय ॥ २।२० ॥ (ऋ० ९।९७।११)

अध धारयेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। अध अथ। अद्रिदुग्धः, न द्रियते इत्यद्रिः जीवात्मा। तेन दुग्धः ज्ञानेन भक्त्या वोत्पादितः साक्षात्कृतः सोमः परमेश्वरो मध्वा मधुरया धारया वाचा पृचानः सम्पर्कं कुर्वाणो मधुरया वाचोपदिशन्नित्याशयः। तिरः प्राप्तं रोमशब्दं प्रार्थनाशब्दमार्तशब्दं वा प्रति पवते गच्छति। तिर इति प्राप्त्यर्थकः। रौतीति रोम (उ० ४।१५१)। इन्दुर्जीव इन्द्रस्य देवस्य दिव्यगुणविशिष्टस्य परमात्मनः सख्यं जुषाणः सेवमानो देवः स्वयमपि दिव्यगुणो भवन्, मत्सरो हृष्टश्च भवन् कालयापनं करोतीति शेषः ॥ २।२० ॥

१०२१. अभि †व्रतानि पवते पुनानो देवो देवान्त्स्वेन रसेन पृञ्चन्।
इन्द्रर्धर्माण्यृतुथा वसानो दश क्षिप्रो अव्यत सानो
अव्ये ॥ ३।२० ॥ (ऋ० ९।९७।१२)

अभि व्रतानीति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। व्रतानि वृतानि संकल्पितानि धर्माणि कर्माणि। ऋतुथा समये समये पुनानः कुर्वाण इत्याशयः। सोमो देवः परमेश्वरः। स्वेनात्मीयेन रसेन परमानन्देन देवान् महात्मनः पृञ्चन् देवैः सह सम्पर्कमनुभवन्नित्याशयः। पवते देवान्प्रत्येव गच्छति प्राप्नोति। प्राप्तोप्यप्राप्त इव प्रतीमानः परमात्मा विशुद्धाचारान्मनुष्यान्प्राप्नुवन्निव प्रतीयते। इन्दुर्दश दशसंख्याकानि। क्षिपः क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्ते कर्मस्विति इन्द्रियाणि।

† 'प्रियाणि' इत्यृक्पाठः।

वसानो धारयन्। अथवा क्षिप इत्यङ्गुलिनाम (निघ० २।५।४) हस्तदशाङ्गुलं धारयन्नञ्जलिं कुर्वन्नित्याशयः। अव्ये प्राप्तव्ये। अव गत्यादिषु। सानो सानौ सर्वदातरि परमेश्वरे। षणु दाने। अव्यत गच्छति ॥ ३।२० ॥

इति षष्ठः खण्डः



१०२२. आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ १।२१ ॥ (ऋ० ५।६।४)

आ ते अग्न इति। वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः। अग्निर्देवता। पङ्क्तिश्छन्दः। हे अग्ने प्रकाशस्वरूप देव परमेश्वर, द्युमन्तं दीप्तिमन्तं प्रकाशस्वरूपमजरं जरारहितम् अजं मोक्षं राति ददातीत्यजरं मोक्षप्रदं वा। ते त्वाम्। आ इधीमहि प्रकाशयामस्त्वदाज्ञामनुसृत्य सत्यसदाचारादीनुपास्य सर्वत्र सर्वेषु त्वां प्रथयाम इति तात्पर्यम्। यत् हेत्युभयमव्ययपदं निश्चयार्थकम्। स्या सा ते तव पनीयसी स्तुत्यतमः समित् प्रकाशो द्यवि अहनि प्रत्यहमित्यर्थः। दीदयति ज्वलति। दीदयतिर्नैरुक्तो धातुः। 'दीदयद्दीप्यसे' इति यास्कः (नि० १०।१९)। ज़्वलतिकर्मायमिति निघण्टौ (१।१६।४)। स्तोतृभ्य उपासकेभ्य इषम् इष्टमा भर आहार देहीतियावत् ॥१।२१॥

१०२३. आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य ज्योतिषस्पते†।
सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥२।२१ ॥ (ऋ० ५।६।५)

† 'शोचिषष्पते' इत्यृक्पाठः।

आ ते अग्न इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे ज्योतिपष्पते प्रकाशाधिपते अग्ने सर्वव्यापक परमेश्वर, शुक्रस्य प्रकाशस्वरूपस्य। चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। प्रकाशस्वरूपाय। ते तुभ्यमृचा स्तुतिवाक्येन हविरन्तःकरणं मनआदिकं हूयते दीयते। हे सुश्चन्द्र, परमाह्लादक दस्म रक्षोविनाशक। दसु उपक्षये। विश्पते विशा प्रजानां पते रक्षक, हव्यवाट् मनआदेः स्वं प्रति वोढः धर्ममार्गं प्रति वा वोढः त्वाम् प्रार्थये इतिशेषः। का प्रार्थना ? स्तोतृभ्य उपासकेभ्यः इषमाहरेति पूर्वं गतम् ॥ ३।२१ ॥

१०२४. †ओभे सुश्चन्द्र विश्पते‡ दर्वी श्रीणीष आसनि।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर
॥ ३।२१ ॥ (ऋ० ५।६।९)

ओभे सुश्चन्द्र इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सुश्चन्द्र शोभनतमाह्लादक, विश्पते प्रजापते उभे दर्वी दृगीत इति दर्वी मनोबुद्धी। एते एव जीवस्य विदारिके विनाशिके। दुष्टं मनो दुष्टा च बुद्धिर्जीवान् विनाशपथं नयत इति तात्पर्यम्। आसनि परमात्मनि स्वस्मिन् त्वयीति भावः। आ समन्तादस्यते सर्वं प्रलयकाले यस्मिन्त्स आस्यः परमात्मा। असु क्षेपणे। ण्यत् (६।३।११३)। आ श्रीणीषे समन्तात्पाचय उभे पक्वे कुरु त्वदाराधनसमर्थे कुर्विति भावः। लकारव्यत्ययश्छान्दसः। उतो अपि च नोस्मानुक्थेषु भक्तियज्ञेषु ज्ञानयज्ञेषु वा उत्पुपूर्या उत्पूरय उत्कर्षेण पिपूर्धीति वा। हे शवसस्पते बलपतेस्तोतृभ्य इषमा भरेति गतम् ॥ ३।२१ ॥

---

† उभे इत्यूपाठः। ‡ सर्पिषो पृत्स्याहः।

१०२५. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। †ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ १।२२ ॥ (ऋ० ८।९८।१)

इन्द्राय सामेति। नृमेध आङ्गिरस ऋषिः। इन्द्रो देवता। उष्णिक् छन्दः। मन्त्रोयं व्याख्यातः ‡ ॥ १।२२ ॥

१०२६. त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥ २।२३ ॥ (ऋ० ८।९८।२)

त्वमिन्द्राभीति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्द्र परमात्मन्, त्वमभिभूः सर्वेषां तमसां दुरितानामभिभावकोसि। त्वं सूर्यं प्रकाशमरोचयः प्राकाशयः। प्रकाशं प्रकाशयतीतिभावः। त्वं विश्वकर्मा विश्वानि सर्वाणि कर्माणि यस्य स तथाभूतोसि। विश्वदेवः सर्वेषां देवोसि महांश्चासि सर्वश्रेष्ठोसीतिभावः ॥ २।२२ ॥

१०२७. विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः। देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥ ३।२२ ॥ (ऋ० ९।९८।३)

विभ्राजन्निति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्द्र परमात्मन्, ज्योतिषा प्रकाशेन ज्ञानेनेतियावत्। स्वरात्मानम्। सुपूर्वादीरयतेर्विच् इति स्कन्दस्वामी। सुखायेरणं गमनं यस्य। परमेश्वरस्यागमनं प्राप्तिः सुखायैव भवति। स्वर्यत इति स्वरिति केचित्। स्वृ शब्दोपतापयोः। स्वरति अप्राप्त्या उपतापयतीति स्वर् इति भानुजिदीक्षितः। सर्वथा स्वःशब्दः परमात्मवाचकोत्र। विभ्राजन् विभ्राजयन् प्रकाशयंस्त्वम्। दिवो मोदस्य। रोचनं प्रकाशकं

† धर्मकृते इत्यृक्पाठः।

‡ पूर्वार्चिके ३८८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

मन इति यावत्। मन एव मोदस्य दुःखस्य च प्रकाशकम्। अगच्छः प्राप्नोषि। लकारव्यत्ययः। देवा विद्वांसः सदाचारसम्पन्नास्ते तव सख्याय समानख्यातये समानख्यातिप्राप्तये इतिभावः। येमिरे प्रायतन्त प्रयतन्ते च ॥ ३।२२ ॥

१०२८. असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥ १।२३ ॥
(ऋ० १।८४।१)

असावि सोमेति। गोतमो राहूगण ऋषिः। इन्द्रोदेवता। अनुष्टुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।२३ ॥

१०२९. आ तिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी।
अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना ॥२।२३ ॥
(ऋ० १।८४।३)

आ तिष्ठेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे वृत्रहन् सर्वपापनिवर्तक परमेश्वर, रथं रमणीयं मन इति यावत्। आ तिष्ठ सर्वतस्तिष्ठ। ते त्वदर्थम्, तव स्थानार्थमितिभावः। ब्रह्मणा ब्रह्मज्ञानिना हरी मनोबुद्धी युक्ता युक्ते समाहिते अकृपाताम्। युजिर् समाधौ। हरति सर्वत्रात्मानमिति हरिर्मनो बुद्धिश्च। ग्रावा उपासकः। ग्रसते परमात्मानमितिग्रावा। ग्रसु अदने। वनिप्। पृषोदरादित्वान्निर्वाहः। वग्नुना स्त्रोत्रेण स्तुतिवचनेन। वग्नुरिति वाङ्नाम (निघ० १।११।२५)। वच परिभाषणे। वचेर्गश्चोत नुः (उ० ३।३३)। ते तव मनः। सु अर्वाचीनमत्यन्तं प्रवणं कृणोतु करोतु। शिष्यायाचार्यस्य परमेश्वरं प्रति प्रार्थना ॥ २।२३ ॥

† पूर्वाचिके २४७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१०३०. इन्द्रमिद्धरी वहतो ऽप्रतिधृष्टशवसम् ।
ऋषीणां †सुष्टुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ॥ ३।२३ ॥
(ऋ० १।८४।२)

इन्द्रमिद्धेति । ऋष्यादय उक्ताः । हरी मनोबुद्धी । इत् एव । ऋषीणां तत्त्वदिदृक्षूणां सुष्टुतीः शोभनाः स्तुतीः, यज्ञं च भक्तियज्ञं प्रति ज्ञानयज्ञं प्रति च । अप्रतिधृष्टशवसं न केनापि धर्षितं शवो बलं यस्य तम् । इन्द्रं परमात्मानं वहतः प्रापयतः । तस्मात्ते यथा सर्वथा पवित्रे भवतस्तथा सर्वैः कर्तव्यम् ॥ ३।२३ ॥

इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयोर्धः । तृतीयः प्रपाठकश्च समाप्तः ।

इति षष्ठोध्यायः ।

† च स्तुतीरुपेत्यक्पाठः ।

अथ सप्तमोध्यायः

अथ चतुर्थे प्रपाठके प्रथमोर्धः ।

१०३१. ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः । दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्यं मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः ॥ १।१ ॥ (ऋ० ९।८६।१०)

ज्योतिर्यज्ञस्येति । अकृष्टमाषादयस्त्रय ऋषयः । पवमानः सोमो देवता । जगती छन्दः । पवमानः परमात्मा प्रियं प्रियकरं मधु मधुरं रसं पवते क्षरति ददाति । कीदृशः परमात्मा । यज्ञस्य दानोपकारादिरूपस्य सत्कर्मणो ज्योतिः प्रकाशक आत्मा वा । देवानां क्रीडाभूतानां सर्वपदार्थानां जनितोत्पादकः पिता पाता च । विभूवसुरनन्तधनोनन्तशक्तिर्वा । किं च स्वधयोर्द्यावापृथिव्योः । स्वधे इति द्यावापृथिव्योर्नाम (निघ० ३।३०।१) द्यावापृथिव्योः सर्वत्र द्विवचनान्तः पाठः । अपीच्यमन्तर्हितं रत्नं रमणीयतमं वस्तु दधाति धारयति । अपीच्यमिति निर्णीतान्तर्हितनाम (निघ० ३।२६।६) अपीच्यमपचितमपगतमपिहितमन्तर्हितं वेति यास्कः (नि० ४।२५) । मदिन्तमोतिशयेन मादयिता प्रसादयिता । मदी हर्षे । मत्सरो मोदयिता । इन्द्रिय इन्द्रेणात्मनाजीवेन सेवितो रस आनन्दप्रदं वस्तु ॥ १।१ ॥

१०३२. अभिक्रन्दन् कलशं वाज्यर्षति पतिर्दिवः शतधारो विचक्षणः । हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मृजानोऽविभिः सिन्धुभिर्वृषा ॥ २।१ ॥ (ऋ० ९।८६।११)

अभिक्रन्दन्निति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। पवमानः परमेश्वरोभिक्रन्दन् शब्दं कुर्वाण उपदिशन्नित्यर्थः। उपदेष्टुकाम इत्याशयः। कलशं जीवात्मानमर्षति गच्छति। कलशः कस्मात्। कला अस्मिञ्छेरते मात्रा इति यास्कः (नि० ११।१२)। कलामात्राशब्दाभ्यामवयवा उच्यन्ते। शरीरावयवा जीवात्मन्यध्यस्य क्वलाधारत्वाज्जीवा एव कलशा इत्युच्यन्ते। उपदेष्टुकाम इव परमेश्वरस्तान् प्रति गच्छतीव। कीदृशः परमेश्वरः? वाजी वेगवान्। सर्वव्यापकत्वात्सर्वत्र स इति वेगवत्त्व तस्मिन्नुपपद्यते। हि वेगवत्त्वं विना युगपत्सर्वत्र तदुपलब्धिः सुलभा। दिव आनन्दस्य मोदस्य पतिः स्वामी। सर्वेषामानन्दानां स एव नियामकः। शतधारः शतं धारा वाचो यस्य सः। धारा इति वाङ्नाम (निघ० १।११।२)। शतशब्दो बहुत्ववाचकः। वेदवाचां बहुत्वात्, वेदानां च तस्यैव स्वामित्वाच्छतधारत्वं तस्य। विचक्षणो परमज्ञानः। विशेषेण द्रष्टा वा। स हरिः पापहर्ता परमेश्वरो मित्रस्य स्निग्धस्य स्वोपासकस्य सदनेषु हृदयेषु सीदति निषीदतीत्यर्थः। कीदृशः स हरिः? सिन्धुभिः स्यन्दनशीलैः। परमात्मानं स्मारं स्मारं स्यन्दन्ते प्रस्रवन्ति ते सिन्धवः। अविभी रक्ष्यैः। अवनमवः। सोस्ति परमात्मकृतो येषां तविनो रक्ष्या इति तात्पर्यम्। तैमर्मृजानः। परिमृग्यमाणः। वृषा सर्वकामवर्षकः ॥ २।१ ॥

१०३३. अग्रे सिन्धूनां पवमानो अर्षस्यग्रे† वाचो अग्रियो गोषु गच्छसि‡। अग्रे वाजस्य भजसे* महद्धनं§ स्वायुधः सोतृभिः सोम£ सूयसे$ ॥ ३।१ ॥ (ऋ० ९।८६।१२)

---

† अर्षत्यग्रे इत्यृक्पाठः। ‡ गच्छतीत्यृक्पाठः। * भजते इत्यृक्पाठः। £ महाधनमित्यृक्पाठः। § पूयते इत्यृक्पाठः। $ वृषेत्यृक्पाठः।

अग्रे सिन्धूनामिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे सोम, त्वं पवमानः सर्वान् जनान् भक्तानित्याशयः । पावयन् सिन्धूनां स्यन्दनशीलानां भक्तिजलार्द्राणामग्रेर्षसि गच्छसि । मार्गप्रदर्शको भवसीतिभावः । सिन्धूनां वाचः स्तुतिरूपाया अग्रेर्षसि । वाचोग्रे गमनं नाम स्तुति-काले स्तोतॄणां सम्मुखोप्रस्थितिः । भक्तैः संभाव्यतेऽस्माकमिष्टो देवोस्माकं पुर एवोपतिष्ठत इति । अग्रियोग्रगन्ता सन् अग्रगमन-योग्यो वा सन् गोषु वाक्षु गच्छसि । स्तोतॄणां वाक्ष्वपि तवोप-स्थितिरितिभावः । वाजस्य धनस्य कामयित्रे इति शेषः । अग्रे प्रथममेव । तत्कालमित्याशयः । महन्महनीयं धनं ज्ञानरूपं भजसे ददासीत्याशयः । हे सोम परमेश्वर, स्वायुधः सम्यक्प्रहारकर्ता दुर्जनेषु । सोतृभिः त्वामुद्दिश्य गमनशीलैर्भक्तैः । सु गतौ । त्वं सूयसे प्रत्यहं प्रतिपलं गम्यसे । भक्ताः सततं त्वां ध्यायन्ती-त्याशयः ॥ ३।१ ॥

१०३४. असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।

शुक्रासो वीरयाशवः ॥ १।२ ॥ (ऋ० ९।६४।४)

असृक्षतेति । कश्यपो मारीच ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।२ ॥

१०३५. शुम्भमाना ऋतायुभिर्मृज्यमाना गभस्त्योः ।

पवन्ते वारे अव्यये ॥ २।२ ॥ (ऋ० ९।६४।५)

शुम्भमाना इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । ऋतायुभिः सत्यकामैः शुम्भमाना दीप्यमानाः । गभस्त्योर्मनोबुद्धिभ्यां मृज्यमानाः परि-शोध्यमानाः । बभसतो दीप्येते ज्ञानोदयेनेति बभस्ती ताभ्याम् । 'भसेर्गट् च' इति भोजसूत्रेण तिप्रत्ययो धातोर्गडागमश्च । मनसा

---

† पूर्वार्चिके ४८२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

वुद्ध्या च परिशोध्यमानाः। भक्ता इतिभावः। तृतीयार्थे सप्तमी। वारे वृते स्वीकृतेव्ययेविनाशिनि परमात्मनि पवन्ते क्षरन्ति तत्प्रवणा भवन्तीतिभावः॥ २।२॥

१०३६. ते विश्वा दाशुषे वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा।
पवन्तामान्तरिक्ष्या॥ ३।२॥ (ऋ० ९।६४।६)

ते विश्वेति। ऋयादयः पूर्ववत्। ते सोमाः शान्तरसनिरता भक्ताः। दाशुषे परमेश्वराय सर्वमर्पणं कुर्वते भक्ताय। दिव्यानि दिवि भवानि सर्वोत्तमानीति यावत्। पार्थिवानि पृथिव्यां भवानि। अन्तरिक्ष्या अन्तरिक्षे भवानि विश्वानि वसूनि धनानि आ पवन्तां ददतु। अस्मिन्मन्त्रे सोमशव्दो भक्तानां वाचकः॥ ३।२॥

१०३७. पवस्व देववीरति पवित्रं सोम रंह्या।
इन्द्रमिन्दो वृषा विश॥ १।३॥ (ऋ० ९।२।१)

पवस्व देववीरेति। मेधातिथिः काण्व ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। हे सोम परमेश्वर, देववीर्देवेच्छुस्त्वम्। मम देवा दुर्गुणरहिता भक्ता भवेयुरिति कामयमानस्त्वम्। अति रंह्या महावेगेन। वृषा वर्षकः सर्वेच्छापूरकस्त्वं। हे इन्दो परमेश्वर, पवित्र पावनमिन्द्रं जीवात्मानं प्रति पवस्व गच्छ तं च प्रविश। पवित्रहृदयेष्वेव परमेश्वरवास इतिभावः॥ १।३॥

१०३८ आ वच्यस्व महि प्सरो वृषेन्दो द्युम्नवत्तमः।
आ योनिं धर्णसिः सदः॥ २।३॥ (ऋ० ९।२।२)

आ वच्यस्वेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सोम परमेश्वर, हे इन्दो परमैश्वर्य, आ वच्यस्व अस्मान्प्रत्यागच्छ। तव प्सरो रूपं महत्। प्सर इति रूपनाम (निघ० ३।७।१२) स्फुर संचलने।

असुन् । पृषोदरादित्वात् सकारपकारयोर्व्यत्ययः । त्वं वृषा सर्व-कामानां वर्षकश्चासि । द्युम्नवत्तमः अतिशयधनवानसि । अथवा प्रकाशवानसि । धर्षणिर्धारको जगतां, त्वं योनिं स्वस्थानमन्तःकरणम् आसद आगत्य विभूषयस्व ॥२।३॥

१०३९. अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः ।
अपो वसिष्ट सुक्रतुः ॥ ३।३॥ (ऋ० ९।२।३)

अधुक्षतेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । सोमः सुतस्य प्राप्तस्य भक्तस्य वेधसो मेधाविनो हिताय धारा धारया वाचा । धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११।२) वेदरूपवाचेत्यर्थः । प्रियं मधु मधुरं तत्त्वं परमात्मरूपमितियावत् । अधुक्षत दोग्धि ददातीत्यर्थः । सुक्रतुः सत्कर्मा स परमेश्वरः अपः कर्माणि सत्कर्माणीतियावत् । वसिष्ट आच्छादयति । वस आच्छादने । परमात्मा सत्कर्माण्याच्छादयतीत्युक्त्या सर्वेषु कर्मसु तस्यैव प्रभुत्वम्, अत एव सर्वेषां सदसत्कर्मणां फलदातापि स एवेत्यवगम्यते ॥ ३।३ ॥

१०४०. महान्तं त्वा महीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः ।
यद्गोभिर्वासयिष्यसे ॥४।३॥ (ऋ० ९।२।४)

महान्तं त्वेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम, यद्यस्मात् त्वम्, गोभिः सदुपदेशैर्ज्ञानैर्वा वासयिष्यसे निवासयिष्यसि निवासयसि जीवान्, तस्मात्, महीर्महत्य आपो जलानि अनु यथा सिन्धवो नद्यो गच्छन्ति, तथैव सिन्धवः त्वामुद्दिश्य स्पन्दनशीला भक्तजीवा महान्तं महनीयं त्वा त्वामर्षन्ति वां प्रति गच्छन्ति । अस्मिञ्जगति ज्ञानेन सदाचारादिना च जीवनमेव वास्तविको निवासः । परमेश्वरः स्वोपदेशैर्जनान्विस्तुतो वासयति ॥ ४।३ ॥

१०४१. समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः ।
सोमः पवित्रे अस्मयुः ॥ ५।३ ॥ (ऋ० ९।२।५)

समुद्र इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । अस्मयुरस्मत्कामो भक्तकाम इत्यर्थः । दिवो द्युलोकस्य प्रकाशस्येतियावत् । धरुणो धारकः ! विष्टम्भः सर्वस्य जगतो विष्टम्भयिता । समुद्रः, समुन्दयति क्लेदयति सन्तापरहितान् सर्वान् करोतीति समुद्रः परमात्मा । सोमः शान्तः । अप्सु जीवेषु मध्ये पवित्रे जीवे मामृजे गच्छति । पवित्र एव जीवात्मनि पारमेश्वरो वास इति भावः । मृजू शुद्धौ । इह गत्यर्थः (निघ० २।१४।१५) ॥ ५।३ ॥

१०४२. अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।
सं सूर्येण दिद्युते† ॥ ६।३ ॥ (ऋ० ९।२।६)

अचिक्रदेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥६।३॥‡

१०४३. गिरस्त इन्द ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युवः ।
याभिर्मदाय शुम्भसे ॥ ७।३ ॥ (ऋ० ९।२।७)

गिरस्त इन्द इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । सोम एवेन्दुशब्देनाप्युच्यते । हे इन्दो, परमैश्वर्य परमेश्वर, अपस्युवः कर्मच्छवस्ते तव गिरो वेदवाचः । सर्वे सत्कर्मपरायणा भवेयुरितीच्छन्त्यः । ओजसा बलेन । मर्मृज्यन्ते मृजन्ति जनान् । याभिर्गीर्भिर्वेदवाणीभिः । हेतौ तृतीया । मदाय प्रमोदायान्येषां त्वं शुम्भसे दीप्यसे । सर्वेषां प्रमोदस्य हेतुर्वेदवाच एवेति । परमेश्वरेण वेदाः प्रदत्ताः । लोकास्ताननुसृत्यानन्दिनो भवन्ति । तेन च परमात्मा प्रसन्नतया दीप्यते शोभते ॥ ७।३ ॥

---

† रोचते इत्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके ४९७ संख्यको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१०४४. तं त्वा मदाय घृष्वय उ लोककृत्नुमीमहे ।
तव प्रशस्तये† महे‡ ॥ ८।३ ॥ (ऋ० ९।२।८)

तं त्वेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे सोम घृष्वये कामादीनां रिपूणां धर्षणशीलाय तव भक्ताय लोककृत्नुं सल्लोककर्तारं त्वत्पददातारमित्यर्थः । तं प्रसिद्धं त्वा त्वां मदाय स्वमदाय स्वानन्दायेमहे याचामः । ईमहे इति याच्ञाकर्मा (निघ० ३।१९।१) । किं च तव महे महत्यै प्रशस्तये स्तुतये त्वां याचामहे । सर्वदा वयं तव स्तुतिं करवामेति याच्ञा ॥ ८।३ ॥

१०४५. गोषा इन्दो नृषा अस्यश्वसा वाजसा उत ।
आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ॥ ९।३ ॥ (ऋ० ९।२।१०)

गोषा इन्द इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे इन्दो परमात्मन्, त्वं गोषा गवां विद्यानां दातासि । षणु दाने । नृषासि नृणां सज्जनानां दातासि । सत्सङ्गेनैव श्रेयोलाभ इति भावः । अश्वसासि अश्वानां ज्ञानद्वारेण सर्वत्रव्याप्तानां ज्ञानिनामित्यर्थः । दातासि । ज्ञानोपदेशलाभाय ज्ञानिनामपेक्षा । उत चार्थे । वाजसा चासि वाजानां धनानां सत्यसदाचारादिरूपाणां च दातासि । किं च त्वं यज्ञस्य पूजायाः । पूर्व्यः श्रेष्ठः । आत्मासि । यज देव-पूजा-संगति करण-दानेषु । इह देवपूजेति नैकं पदम् । देवार्थे पूजार्थे संगतिकरणार्थे दानार्थे च यजधातोः प्रवृत्तिः । देवपूजेत्येकार्थस्वीकारे धात्वर्थेनैव कर्मोपसंग्रहादकर्मकत्वं स्यात् तथा च स देवं यजतीति प्रयोगो न स्यात् । इदमुक्तं भवति मन्त्रेणानेन । परमेश्वर एव पूजाया आत्मा । न स्याद्यदीश्वरः पूजापि न स्यात् । अतः परमेश्वरस्य पूजाया आत्मत्वम् ॥ ९।३ ॥

† प्रशस्तय इत्यृक्पाठः । ‡ महीरित्यृक्पाठः ।

१०४६. अस्मभ्यमिन्दविन्द्रियं᳕ मधोः᳕ पवस्व धारया ।
पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ॥ १०।३ ॥ (ऋ० ९।२।९)

अस्मभ्यमीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे इन्दो परमेश्वर, अस्मभ्यमस्मान् । धारयोपदेशवाचा पवस्व प्राप्नुहि पावय वा । किं च मधोर्नियतरसेभ्यः रूपरसादिभ्यः । इन्द्रियमिन्द्रियगणं पवस्य पावय पवित्रं कुरु । मास्माकमिन्द्रियाणि स्वस्वविषयेषु निमाङ्क्षुरितिभावः । यथा वृष्टिमान् पर्जन्यो जलदो मेघः सर्वेभ्यः सुखं ददाति दुखं च सर्वेषां निवारयति तथा त्वयापि भाव्यमितिभावः ॥ १०।३ ॥

इति प्रथमः खण्डः



अथ द्वितीयः खण्डः

१०४७. सना च सोम जेषि च पवमान महि श्रवः ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १।४ ॥ (ऋ० ९।४।१)

सना च सोमेति । हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । हे सोम परमेश्वर, हे पवमान पावनकर्तः नोस्मभ्यं महि महन्महनीयं वा श्रवो धनं यशो वा सन देहि । जेषि च अस्मद्यशोविघातिनो दुर्नराञ् जेषि जय । प्रथमश्चकारः पादपूर्त्यर्थः । अथ नोस्मान् वस्यसः श्रेयसः कृधि कुरु । अस्मांस्तवोपासकाञ् श्रेयो देहीत्यर्थः ॥ १।४ ॥

१०४८. सना ज्योतिः सना स्वर्विश्वा च सोम सौभगा ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ २।४ ॥ (ऋ० ९।४।२)

᳕ त्रि-त्यमिन्द्र इत्यत्र पाठः ।

सना ज्योतिरिति। ऋष्यादयः आद्वितीयखण्डान्तं पूर्ववत्। हे परमेश्वर, ज्योतिर्द्युतिं ब्रह्मतेजो वा सन देहि। स्वः रमणीयं सुखमात्मप्राप्तिरूपं सन देहि। हे सोम विश्वा विश्वानि सर्वाणि सौभगा सौभाग्यानि च सनेत्यध्याहार्यमावर्त्यं वा। अन्यद्व्याख्यातम् ॥ २।४ ॥

१०४९. सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि।

अथा नो वस्यस्कृधि ॥ ३।४ ॥ (ऋ० ९।४।३)

सना दक्षेति। हे सोम दक्षं बलमात्मिकं सन देहि। दक्ष इति बलनाम (निघ० २।९।१४)। उतेति चार्थे। क्रतुं ज्ञानं च सन देहि। मृधः शत्रून् कामादीन् जहि विनाशय। अन्यद्व्याख्यातम् ॥ ३।४ ॥

१०५०. पवीतारः पुनीतन सोममिन्द्राय पातवे।

अथा नो वस्यसस्कृधिः ॥ ४।४ ॥ (ऋ० ९।४।४)

पवीतार इति। पवीतारो हे ज्ञानेन सर्वेषां पावका महापुरुषाः, इन्द्रायेन्द्रम्। द्वितीयार्थे चतुर्थी। परमेश्वरं पातुं रसयितुं सोमं भक्तजीवात्मानं पुनीतन पावयत। अन्यद्व्याख्यातम् ॥ ४।४ ॥

१०५१. त्वं सूर्ये न आ भज तव क्रत्वा तवोतिभिः।

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ५।४ ॥ (ऋ० ९।४।५)

त्वं सूर्ये न इति। हे सोम परमेश्वर, त्वं तव क्रत्वा क्रतुना कर्मणा दयावात्सल्यौदार्यादिना तवोतिभी रक्षाभिर्नोऽस्मान्त्सूर्ये सूर्यलोकमाभजाभाजय प्रापयेत्यर्थः। सूर्यलोको नासौ प्रतीयमानो दृश्यमान आदित्यः। सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वे (नि० १२। १४) ति निरुक्तेः सूर्यः परमात्मैव ग्राह्यः। स एवान्येषां सूर्यस्यापि च प्रेरयितास्ति। अन्यद्व्याख्यातम् ॥ ५।४ ॥

१०५२. तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक्पश्येम सूर्यम् ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ६।४ ॥ (ऋ० ९।४।६)

तव क्रत्वेति । हे सोम परमेश्वर, तव क्रत्वा कर्मणा दयादिना सामर्थ्येन वा तवोतिभी रक्षणकार्यैश्च सूर्यं प्रकाशस्वरूपं त्वां ज्योक् शीघ्रं पश्येमेति हृदयाभिलाषः । अन्यद्व्याख्यातम् ॥ ६।४ ॥

१०५३. अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हसं रयिम् ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ७।४ ॥ (ऋ० ९।४।७)

अभ्यर्षेति । हे स्वायुध स्वमेवायुधं यस्य तत्सम्बुद्धौ । स्वातिरिक्तं न किञ्चिदायुधं यस्य । आयुधस्वरूपेत्यर्थः । सोम परमेश्वर, त्वमस्मान् द्विबर्हसं द्वयोः स्थानयोर्द्यावापृथिव्योः सर्वत्रेति तात्पर्यम् । बृंहतीति द्विबर्हाः । वृहि वृद्धौ । असुन् । सर्वत्रवर्धनशीलम् । द्विबर्हा द्वयोः स्थानयोः परिवृढो मध्यमे च स्थाने उत्तमे चेति यास्कः (नि० ६।१७) रयिं धनं ज्ञानरूपमभ्यर्षाभिगमय । अन्यद्व्याख्यातम् ॥ ७।४ ॥

१०५४. अभ्य३र्षानपच्युतो †वाजिन्समत्सु सासहिः ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ८।४ ॥ (ऋ० ९।४।८)

अभ्य ३र्षेति । हे वाजिन् सर्वविध बलवन्त्सोम परमेश्वर, त्वं समत्सु संग्रामेषु जीवनशत्रुभिः सह युध्यमानेषु त्वदीयेषु भक्तेषु । सासहिः त्वद्भक्तशत्रूणामभिमर्षयितासि । तत एवानपच्युतोऽच्युतोसि । न भवन्त्यपच्युता यदीया इति । एवं भूतस्त्वमभ्यर्षाभिगमय प्रापय रयिमित्यध्याहार्यम् । अन्यद्व्याख्यातम् ॥ ८।४ ॥

१०५५. त्वां यज्ञैरवीवृधन्पवमान विधर्मणि ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ९।४ ॥ (ऋ० ९।४।९)

† रयिं समत्स्वित्यृक्पाठः ।

त्वां यज्ञैरिति। हे पवमान पावयितः परमेश्वर, विधर्मणि विविधेषु धारणकर्मसु रक्षणपोषणादिकर्मसु सम्प्राप्तेषु तत्रद्भक्तास्त्वां यज्ञैः सत्कर्मभिस्त्वत्प्रियैरवीवृधन्नवर्धयन्समर्चयन् प्रासादयन्वा प्रसादयन्ति। अन्यद्व्याख्यातम् ॥ ९।४ ॥

१०५६. रयिं नश्चित्रमश्विनमिन्दो विश्वायुमा भर।

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १०।४ ॥ (ऋ० ९।४।१०)

रयिं नश्चित्रमेति। हे इन्दो परमैश्वर्यं परमेश्वर, त्वं नोस्मभ्यं चित्रमाश्चर्यकरं विश्वायुं विश्वमेतीति। सर्वगं रयिं धनं ज्ञानरूपम्। 'अश्विनं गतिरहितं निश्चलमितिभावः। टुओश्वि गतिवृद्धयोः। बाहुलकादिन्। न श्वी अश्वी तमश्विनम्। आ भर आहर ॥१०।४॥

१०५७. तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।

तरत्स मन्दी धावति ॥ १।५ ॥ (ऋ० ९।५८।१)

तरत्स मन्दीति। अवत्सारः काश्यप ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्र† ॥ १।५ ॥

१०५८. उस्रा वेद वसूनां मर्तस्य देव्यवसः।

तरत्स मन्दी धावति ॥ २।५ ॥ (ऋ० ५।५८।२)

उस्रा वेदेति। ऋष्यादय उक्ताः। वसूनां लोके वसतां पशुपक्ष्यादीनां मर्तस्य मनुष्यस्य। जातावेकवचनम्। मनुष्याणामवसो रक्षणस्य। सर्वान्रक्षितुमित्यर्थः। देवी दिव्या उस्रा पारमेश्वरी शक्तिः। वसन्ति लोका यत्र सोस्रा। परमेश्वरशक्तावेव सर्वे लोका निवसन्ति। परमेश्वरे निवसन्तस्तच्छक्तावुपचयन्ते। सैव वेद जानाति। सर्वानवितुं परमेश्वरशक्तिरेव जानातीति पिण्डिताशयः। स एव

† पूर्वार्चिके ५०० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

शक्तिमान्परमात्मा तरत्सर्वांस्तारयन् दुःखान्मन्दी मन्दयिता प्रसादयिता सर्वेषां च भवन् धावति सर्वं व्याप्नोतीतिभावः ॥ २।५ ॥

१०५९. ध्वस्रयोः पुरुषन्त्योरा सहस्राणि दद्महे ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ३।५ ॥ (ऋ० ९।५८।३)

ध्वस्रयोरिति । ऋष्यादय उक्ताः । ध्वस्रयोर्ध्वंस्रस्य । पुरुषन्त्योः पुरुषन्तेः । ध्वंसयति सर्वेषां कार्याणि स ध्वंस्रः । पुरुषमत्तीति पुरुषन्तिः । द्विधा हि मनुष्या लोके विद्यन्ते । अकारणं ध्वसयन्ति सर्वेषां हितानि कार्याणीत्येके । पुरुषानेवात्तीत्यपरे । पुरुषकार्यध्वंसकाः पुरुषध्वंसकाश्च । ध्वस्रा च ध्वस्रश्चेति ध्वस्रौ तयोः । पुरुषन्ती च पुरुषन्तिश्चेति पुरुषन्ती तयोः पुरुषन्त्योः । पुरुषन्तीति वैदिकशब्दः । पुरुषभक्षयितरि रूढः । स्त्रीपुंसयोरुभयोर्विवक्षयोरुभयत्र द्विवचनम् । द्विवचने नादरः । तेन ध्वस्राणां पुरुषन्तीनां मनुष्याणां सहस्राणि सर्वाणि बलान्या दद्महे आ दद्महै । तेषामन्तं कर्तुं शक्नुयामेत्यभ्यर्थना । अन्यद्व्याख्यातम् ॥ ३।५ ॥

१०६०. आ ययोस्त्रिंशतं तना सहस्राणि च दद्महे ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ४।५ ॥ (ऋ० ९।५८।४)

आ ययोरिति । ऋष्यादय उक्ताः । ययोर्ध्वंस्रपुरुषन्त्योरुपर्युक्तयोस्त्रिंशतं त्रिंशता दिनैरर्जितानि लुण्ठितानि वा तना तनानि धनानि । तनेति धननाम । तनु विस्तारे । अचाद्यच् । सहस्राणि नैकानि च आ दद्महे आदद्महै । तरत्स इत्यादि व्याख्यातम् । अयमत्राशयः । ये च लुण्टाका ये च पुरुषादास्तेषां नैर्बल्यमापादयितुं मनुष्यैः किमपि कर्तव्यमेव । यथा तेषां दुर्मेधसां शक्तिह्रासो वा शक्तिनाशो वा स्यात्तथा विधातव्यमेव । तेषां प्रत्यहं लुण्ठितं धनं लुण्ठनसाधनानि च तेभ्य आच्छिद्य यथायोग्यं तेषां विनियोगः कर्तव्य इत्युपदिश्यतेत्र वेदेन । परमेश्वरोपि सर्वांस्तारयति दुःखेभ्य

एतेनैवोपायेन। तत एव स मन्दी तिष्ठति तत एव च स सर्वत्रगो भवति। बाधकाभावात् ॥ ४।५ ॥

१०६१. एते सोमा असृक्षत गृणानाः †शवसे महे।
मदिन्तमस्य धारया ॥ १।६ ॥ (ऋ० ९।६२।२२)

एते सोमा इति। जमदग्निर्भार्गवऋषिः। पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। गृणानाः प्रशस्यमाना एते पुरस्तादुपस्थिताः सोमाः शान्ताः भक्ताः महे महते शवसे बलायाध्यात्मिकबलायेतिभावः। आध्यात्मिकवृद्धयेवा। टु ओ श्वि गतिवृद्धयोः। मदिन्तमस्य परमप्रमुदितस्य प्रमोदस्वरूपस्येतियावत्। परमात्मनो धारया वाचा असृक्षत सृज्यन्ते निर्मीयन्ते ॥ १।६ ॥

१०६२. अभि गव्यानि वीतये नृम्णा पुनानो अर्षसि।
सनद्वाजः परि स्रव ॥ २।६ ॥ (ऋ० ९।६२।२३)

अभि गव्यानिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सोम परमेश्वर, पुनानः सर्वान् नरान् पवित्रान् कुर्वन् वीतये निरासाय तेषां दुरितस्य। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। गव्यानि गौर्वाक् तद्विकारभूतानि शास्त्रवचनान्युपदेशवचनानि वा। नृम्णा नृम्णानि बलान्याध्यात्मिकानि। अभि अर्षसि अभिगच्छस्यभिगमयसीतितात्पर्यम्। सनद्वाजो नित्यबलो नित्यधनो वा। सनदित्यव्ययपदं; नित्यार्थकम्। परमेश्वरस्य नित्यं धनं ज्ञानमेव। तदेव बलं चापि एवंभूतस्त्वं परि स्रव परितो देहि तद्धनं ज्ञानरूपमिति ॥ २।६ ॥

१०६३. उत नो गोमतीरिषो विश्वा अर्ष परिष्टुभः।
गृणानो जमदग्निना ॥ ३।६ ॥ (ऋ० ९।६२।२४)

---

† श्रवसे इत्यृक्पाठः।

उत नो गोमेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । उत अपि चहे सोम, विश्वा विश्वानि सर्वाणि गोमती गोभिर्विद्याभिर्युक्तानि परिष्टुभः परितः सर्वतः स्तोतव्यानि इष इष्टानि प्रति अर्ष गच्छ देहीतितात्पर्यम् । सर्वाणि शुभानीष्टान्यानय प्रापयेति भावः । कश्चित्कंचिकिञ्चित्प्रति प्रेषयति तर्हि तदानयनमेव तत्राभिप्रेतं भवति । कीदृशस्त्वम् ? जमदग्निना प्रज्वलिततेजस्केन । जातावेकवचनम् । प्रज्वलिततेजस्कैर्ज्ञानिभिर्गृणानः स्तूयमानः । जमदिति ज्वलतो नामधेयम् (नि० ११।१७।१) । अग्निशब्दोत्र तेजोवाचकः । तेजसि लाक्षणिको वा । 'जमदग्निभिराहुत इति जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवती''ति यास्कः (नि० ७।२४) ॥ ३।६ ॥

१०६४. इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा
वयं तव ॥ १।७ ॥ (ऋ० १।९४।१)

इमं स्तोममेति । कुत्स आङ्गिरस ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती छन्दः । इमं वर्तमानमुच्चार्यमाणं वा रथमिव रमणीयम् । इव पादपूर्तये । स्तोमं स्तोत्रमर्हते स्तुत्याय जातवेदसे प्रत्येकजातवस्तुज्ञानवतेऽग्नये प्रकाशस्वरूपाय परमेश्वराय मनीषया निश्चितबुद्ध्या सं महेम सम्यक् पूजयामः । सर्वत्र द्वितीयार्थे चतुर्थी । अनेन स्तोत्रेण परमेश्वरं स्तुम इति भावः । अस्य तव परमेश्वरस्येतिभावः । संसदि संसर्गे नोस्मकं भद्र कल्याणि प्रमतिर्हि प्रकृष्टा मतिर्हि । हिर्निश्चयार्थे । हे अग्ने परमेश्वर तव सख्ये सखित्वे वयं मा रिषाम न नश्याम । त्वं हि नः सखा वयं वा ते सखायः । एवं तर्हि तव सखित्वे प्राप्ते यदि वयं नश्याम तवैवापकीर्तिर्नास्माकमिति ॥१।७॥

१०६५. भरामेध्यं कृणवामा हवींषि ते चिन्तयन्तः पर्वणापर्वणा वयम्। जीवातवे प्रतरां साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ २।७ ॥ (ऋ० १।९४।४)

भरामेध्यमिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे अग्ने स्वयंप्रकाश परमेश्वर, वयं पर्वणापर्वणा प्रतिसायं प्रतिप्रातः। इदमेव मुख्यं पर्व चतुर्विशतिहोरात्मकस्य दिवसस्य। इध्मं ब्रह्मतेजो भराम धारयाम, हवींषि मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराख्यान्यन्तःकरणानि कृणवाम त्वत्प्रवणानीति शेषः। कथं भूता वयम्! ते त्वां चिन्तयन्तो ध्यायन्तः। अथवा ते तवानन्तगुणेषु कांश्चिद्गुणान् ध्यायन्तः। जीवातवेऽस्मज्जीवनाय प्रतरां सुतरां धियः कर्माणि सन्ति ज्ञानानि वा साधयोपस्थापय। अन्यद्व्याख्यातम् ॥ २।७ ॥

१०६६. शकेम त्वा समिधं साधया धियस्त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्। त्वमादित्याँ आ वह तान्ह्यु ३ श्मस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ ३।७ ॥ (ऋ० १।९४।३)

शकेम त्वेती। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे अग्ने परमेश्वर, त्वा त्वां समिधं सदीप्तिं सप्रसादमितितात्पर्यम्। कर्तुमिति शेषः। शकेम वयं शक्नुयाम। त्वं च धियः सन्ति कर्माणि पुरः स्थापयास्माकम्। त्वे त्वय्युपस्थिते त्वयागत इति कल्पिते देवा दिव्यगुणवन्तो जना आहुतं तुभ्यं समर्पितं हविरन्तःकरणम् अदन्ति न द्यन्ति। दोवखण्डने। नञ् समासः। विकरणव्यत्ययः। अनिष्टैर्विचारैरन्तः करणानां नियतो नाशः। त्वमिहासीतिकल्पनया भीता वयं त्वय्येवान्तःकरणानि योजयाम इति भावः। किं च त्वमादित्यान् अदितेस्तव पुत्राननश्यमानाँस्त्वयि संलग्नानित्यर्थः। आ वह प्रापय। तान् हि केवलं तानेवोश्मसि कामया-

महे वयम् । त्वद्भक्तान्कामये नाभक्तानितिभावः । अन्यद्व्याख्यातम् ॥३।७॥

इति द्वितीयः खण्डः



१०६७. प्रति वां सूर उदिते मित्रं गृणीषे वरुणम् ।
अर्यमणं रिशादसम् ॥ १।८ ॥ (ऋ० ७।६६।७)

प्रतिवामिति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः । आदित्यो देवता । गायत्री छन्दः । सूरे सूर्ये उदिते उदयं प्राप्ते मित्रं परमस्निग्धं वरुणं वरणीयम् । अर्यमणं सर्वगम्यम् । ऋच्छति सर्वमर्यते वा सर्वैः । 'श्वन्नुक्षन्...' (उ० ६।५५) इति निपातितः । रिशादसं शत्रूणामसितारं नाशयितारमित्यर्थः । रिशादस् इति शत्रुनाम (निघ० ४।३।५३) । रिश हिंसायाम् । लटः शतरि च्छान्दसो दीर्घः । अस्यतेविच् । रिशतां शत्रूणां क्षेप्तारम् । परमात्मानं वां त्वां प्रति प्रातः गृणीषे स्तुवे मित्रावरुणौ घ्नति वहूक्तं पूर्वं तत्स्मर्तव्यम् ॥ १।८ ॥

१०६८. राया हिरण्यया मतिरियमवृकाय शवसे ।
इयं विप्रा मेधसातये ॥ २।८ ॥ (ऋ० ७।६६।८)

राया हिरण्ययेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हिरण्यया हितरमणेन हृदयरमणेन वा राया धनेन विद्यारूपेणाचाररूपेण वा युक्तायेतिशेषः । हिरण्यं कस्मात् ? ह्रियत आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनाज्जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवतीति वा, हर्यतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मण इति यास्कः (नि० २।१०) । अवृकायाहिंसकाय । वृक आदाने इगुपधलक्षणः कः । आदत्ते

शत्रुप्राणान् स वृकः ! न वृकोवृकः । शवसे वलायास्माकमितिशेषः । इयं सर्वैः शस्यमाना मतिर्वुद्धिर्भवत्विति शेषः । हे विप्रा विद्वांसः, इयमेव सर्वप्रिया मतिर्मेधसातये मेधो यज्ञः (निघ० ३।१७।४) । तस्य सातये लाभाय । यज्ञो हि परमेश्वरः । उत्तमा मतिरेवेश्वर-लाभाय भवतीतिभावः ॥ २।८ ॥

१०६९. ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह ।
इषं स्वश्च धीमहि ॥ ३।८ ॥ (ऋ० ७।६६।९)

ते स्यामेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे वरुण वरणीय मित्र पर-मस्निग्ध देव दिव्यगुण परमात्मन् सूरिभिः स्तोतृभिः सह वयं ते तव स्याम । सूरिरिति स्तोतृनाम (नि० ३।१६।८) । सूरिः सुमहतो बलस्येरयितेतियास्कः (नि० १२।३) । ये परमेश्वरस्तोतारः सन्ति ते न्येषु महद्बलं प्रेरयन्त्येव । किं च इषमिष्टमिष्यमाणं वा धीमहि धारयाम । कीदृगिषम् ? स्वः सु ईरणं सम्यक् प्रेरयित्रीं सत्कार्येषु सद्विचारेषु वा । 'स्वरादित्यो भवति सु अरणः, सु ईरणः स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा' (नि० २।१४) । ॥ ३।८ ॥

१०७०. भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १।९ ॥ (ऋ० ८।४५।४०)

भिन्धि विश्वेति । त्रिशोकः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।९ ॥

१०७१. यस्य ते विश्व‡मानुषग्भूरेर्दत्तस्य वेदति ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ २।९ ॥ (ऋ० ८।४५।४२)

† पूर्वार्चिके १३४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ विश्वमानुषी भूरेरित्यृक्पाठः ।

यस्य त इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे इन्द्र परमेश्वर, यस्य यस्मिंस्ते त्वयि विश्वं सर्वमानुषगनुषक्तं तिष्ठतीतिशेषः । अनुपूर्वात् षञ्ज संगे इत्यस्मात् क्विप् । अनिदिताम् (पा० ६।४।२४) इति न लोपः । अनोरकारस्य दीर्घश्छान्दसः । तेन त्वया भूरेर्भूरि पुष्कलं दत्तस्य दत्तं वेदति सर्वो जनो जानाति । तत् स त्वम् स्पार्हं स्पृहणीयं वसु धनं ज्ञानरूपमा भर आहरेत्यर्थः ॥ २।९ ॥

१०७२. यद्वीडाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने परामृतम् ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ ३।९ ॥ (ऋ० ८।४५।४१)

यद्वीडेति । ऋष्यादय उक्ताः । व्याख्यातोयं मन्त्रः * ॥३।९॥

१०७३. यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु ।
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ १।१० ॥ (ऋ० ८।३८।१)

यज्ञस्येति । श्यावाश्व आत्रेय ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । गायत्री छन्दः । हे इन्द्राग्नी ऐश्वर्यपूर्ण प्रकाशस्वरूप परमेश्वर, एतत्स्वरूपद्वयेन त्वं यज्ञस्य सत्कर्मणः सस्नी सस्निर्विशुद्ध ऋत्विजा ऋत्विग् याजयिता कारयितासि । कदा ? वाजेषु धर्मवलप्रदेषु कर्मसु । यानि कर्माणि मनोबलवर्धकानि तेषु कर्मसु त्वं जीवानां प्रेरयितासीति तात्पर्यम् । हे इन्द्र हे अग्ने तस्य तवोपासकस्य प्रार्थनां बोधतं बोध जानीहि ॥ १।१० ॥

१०७४. तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता ।
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ २।१० ॥ (ऋ० ८।३८।२)

तोशासेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । तोशासा कामादीञ्छत्रून् हिंसन् । तोश इति नैरुक्तो धातुर्हिंसार्थकः (निघ० २।२०।२९) ।

* पूर्वार्चिके २०७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

रथयावाना रथं रमणीयं पवित्रमन्तःकरणं यातीति। वृत्रहणा सर्वपापनिवर्तकोपराजिता न केनापि कदापि पराजितः, एवंभूत इन्द्राग्निपदवाच्य हे परमात्मन्, तस्य तवोपासकस्य प्रार्थनां बोधतं बोध॥ २।१०॥

१०७५. इदं वां मदिरं मध्वधुक्षन्नद्रिभिर्नरः।
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्॥ ३।१०॥ (ऋ० ८।३८।३)

इदं वेति। हे इन्द्र हे अग्नि, नरो भक्तश्रेष्ठा इदं पुरो वर्तमानं मदिरमामोदकरं मधु मधुरं भक्तिरसमद्रिभिरविनाशिभिः प्रेमभिर्वां तव त्वदर्थमितिभावः। अधुक्षन् अदुहन् समपादयन्। तस्य तं बोधतं जानीहि स्वीकुर्वित्यर्थः॥ ३।१०॥

इति तृतीयः खण्डः



अथ चतुर्थः खण्डः

१०७६. इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः।
अर्कस्य† योनिमासदम्॥ १।११॥ (ऋ० ९।६४।२२)

इन्द्रायेन्द इति। कश्यपो मारीच ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः *॥ १।११॥

१०७७. तं त्वा विप्रा वचोविदः परिष्कृण्वन्ति ‡धर्णसिम्।
सं त्वा मृजन्त्यायवः॥ २।११॥ (ऋ० ९।६४।२३)

† ऋतस्येत्यृक्पाठः।
* पूर्वार्चिके ४७२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ वेदस इत्यृक्पाठः।

तं त्वेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। वचोविद उपदेष्टारो विप्रा ब्रह्मविदः प्राज्ञा आयवो मनुष्याः। विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५।१)। आयव इति मनुष्यनाम (निघ० ३।३।१७)। इण् गतौ। छन्दसीण (उ० १।२) इत्युण् प्रत्ययः। धर्णसिं सर्वाधारं तं प्रसिद्धं त्वा त्वां परिष्कृण्वन्ति शोभयन्ति। यथा पुत्राणां पित्राज्ञाकारित्वं पितुः परिष्कारं जनयति तथैव परमपितुः परमात्मनः परिष्कारं तदाज्ञापालनपुरस्सरं तत्पुत्रा धार्मिकाः सदाचारसम्पन्ना जनयन्तीतिभावः। किं च आयवो मनुष्यास्त्वा त्वां संमृजन्ति संशोधयन्ति स्वात्मशुद्धिद्वारा परमेश्वरशुद्धिमुपचरन्ति। न हि जीवब्रह्मणोः परमार्थतो भेद इति मतेन जीवशुद्धिर्ब्रह्मशुद्धिरेवेति मतमपि संग्राह्यमेव ॥ २।११ ॥

१०७८. रसं ते मित्रो अर्यमा पिबन्तु† वरुणः कवे।
पवमानस्य मरुतः ॥ ३।११ ॥ (ऋ० ९।६४।२४)

रसमिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे कवे क्रान्तदर्शिन् परमेश्वर मित्रः स्निग्धजनः। अर्यमा विद्वज्जनः। वरुणः सदाचारादिहेतुना वरणीयो जनः। पवमानस्य सर्वेषां पावनस्य मरुतोमितं रोचमानस्य ते तव रसं पिबन्तु आस्वादन्ताम्। अत्राधिकारिनिर्णयः ॥ ३।११ ॥

१०७९. मृज्यमानः सुहस्त्या‡ समुद्रे वाचमिन्वसि।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥ १।१२ ॥
(ऋ० ९।१०७।२१)

मृज्यमान इति। सप्तर्षयः (भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, कश्यपो मारीचः, गोतमो रहूगणः, अत्रिर्भौमः, विश्वामित्रो गाथिनो,

---

† पिबन्तीत्यृक्पाठः। ‡ सुहस्त्य इत्यृक्पाठः।

जमदग्निर्भार्गवः, वसिष्ठो मैत्रावरुणिः) । पवमानः सोमो देवता ।। प्रगाथश्छन्दः (विषमा बृहती) । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ।। १।१२ ।।

१०८०. ‡पुनानो वारे पवमानो अव्यये *वृषो अचिक्रदद्वने ।
देवानां सोम पवमान निष्कृतं गोभिरञ्जानो अर्षसि ।।
।। १।१३ ।।

पुनानो वार इति । ऋषिदेवते उक्ते । छन्दः समा सतो बृहती । पुनान आत्मानम् । पवमानः पूयमान आचार्येण । वृष आत्मसेक्ता स्वेष्टस्य स्वयं वर्षक इतिभावः । जीवात्मा । वारे वरणीये । अव्ययेविनाशिनि वने वननीये संभजनीये परमात्मनि लीनः सन्नचिक्रदत्क्रन्दति परमात्मानं स्मरतीतिभावः । ततो हे देवानां सद्गुणसम्पन्नानां सोम शान्तिप्रद परेश पवमान गोभिरुपदेशवचनैरञ्जानो व्यक्तिमापद्यमानस्त्वं निष्कृतं संस्कृतं तं जीवात्मानमर्षस्युपगच्छसि ।। १।१३ ।।

१०८१. एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम् ।
समादित्येभिरख्यत ।। १।१३ ।। (ऋ० ९।६१।७)

एतमु त्यमिति । अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । सिन्धुमातरं स्यन्दनशीला अन्तर्वृत्तय एव मातरो यस्य । द्विधा हि वृत्तयो भवन्ति, अधः पातयित्र्य ऊर्ध्वं नेत्र्यश्चेति । ऊर्ध्वं नेत्र्यो वृत्तयो मातर इव जीवान् रक्षन्ति । त्यं तम् । एतमात्मानम् । दश दशसंख्यानि क्षिप उ इन्द्रियाण्येव । क्षिपन्तीतस्ततो विषयेषु प्रेरयन्तीति क्षिपः । मृजन्ति मार्जन्ति ।

† पूर्वार्चिके ५१७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ मृजानो इत्यृक्पाठः ।

* वृषाव चक्रदो वने इत्यृक्पाठः ।

इन्द्रियाण्यपि द्विधा शुद्धान्यशुद्धानि च । शुद्धानीन्द्रियाणि सर्वान् शोधयन्ति । आदित्येभिरदितेरविनाशिनः पुत्रैर्भक्तैः सह सम् अख्यत संख्याता भवन्ति ते जीवा, येषामिन्द्रियाणि विशुद्धानि मनोवृत्तयश्चोद्ध्वंनेत्र्यः ॥ १।१३ ॥

१०८२. समिन्द्रेणोत वायुना सुत एति पवित्र आ ।
सं सूर्यस्य रश्मिभिः ॥ २।१३ ॥　　(ऋ० ९।६१।८)

समिन्द्रेणोतेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । सुतः पवित्राचारविचारादिभिरुत्पादित इव भक्तजीवः । इन्द्रेण परमैश्वर्येण, वायुना व्यापकेन परमात्मना समेति संगच्छते, उत अपि च सूर्यस्य दिवाकरस्य रश्मिभिः किरणैः समेति समतामाप्नोति । सूर्यवत् प्रकाशस्वरूपो भवतीत्यर्थः ॥ २।१३ ॥

१०८३. स नो भगाय वायवे पूष्णे पवस्व मधुमान् ।
चारुर्मित्रे वरुणे च ॥ ३।१३ ॥　　(ऋ० ९।६१।९)

स नो भगायेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । सः सोमाख्य परमेश्वर त्वं नोस्मभ्यं भक्तजीवेभ्यो भगाय सुखाय वायवे वायुदेवाय पूष्णे पोषकाय स्वकिरणैर्भास्कराय मधुमान् मधुररसवान् भवन् पवस्व क्षर । वायुसूर्यादयोपि जीवानामानुकूल्यसाधनम् । अतस्तेषामपि मधुमत्ता प्रार्थिता । मित्रे स्निग्धजने वरुणे सज्जने च चारुर्भवेतिशेषः । सर्वेषां हितकामना स्वहितायैव भवतीति सर्वकल्याणाभ्यर्थना ॥ ३।१३ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

अथ पञ्चमः खण्डः

१०८४. रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ १।१४ ॥ (ऋ० १।३०।१३)

रेवतीरिति । शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१४ ॥

१०८५. आ घ त्वावान् त्मना‡ युक्तः स्तोतृभ्यो धृष्णवीयानः* ।
ऋणोरक्षं न चक्र्योः ॥ २।१४ ॥ (ऋ० १।३०।१४)

आ घेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे धृष्णो शत्रूणां धर्षक इन्द्र परमेश्वर, त्वावान् त्वत्सदृश त्मनात्मना युक्त उद्युक्त ईयानो याच्यमानः । ई गतौ दिवादौ । इह याच्ञाकर्मा (निघ० ३।१९।१) । त्वं स्तोतृभ्यो घ अवश्यम् आ ऋणोः आनाय्य ऋणोः प्रक्षिप तेषामभीष्टमर्थम् । ऋणु गतौ, लङ् । तनादित्वादुः । सार्वधातुकगुणः । अडागमाभावश्छान्दसः । तत्र दृष्टान्तः । चक्र्यो रथयोरक्षं नाक्षमिव । यथा रथस्य चक्रयोः क्षिप्तमक्षं चक्रे गतिं कारयित्वा रथस्वामिन इष्टमर्थमानाय्य ददाति तद्वदित्यर्थः ॥ २।१४ ॥

१०८६. आ यद्दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम् ।
ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥ ३।१४ ॥ (ऋ० १।३०।१५)

आ यद्दुव इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे शतक्रतोनन्तज्ञान, अनन्तकर्मन् वा, जरितॄणां तव स्तोतॄणां भक्तानां यद् दुवो दुःखमस्ति तत्काममत्यन्तमासमन्तादपनयेति शेषः । आ ऋणोः

† पूर्वार्चिके १५३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ त्मनासः स्तोतृभ्य इत्यृक्पाठः । * वियानमित्यृक्पाठः ।

समन्तात्प्रापय च श्रेयः । किमिव शचीभिः कर्मभिरक्षं न अक्षमिव । अक्षमिन्द्रियम् । यथा सत्कर्मद्वारेन्द्रियाणि दुःखान्यपनयन्ति सुखानि चानयन्ति तद्वत् ॥ ३।१४ ॥

१०८७. सुरूप कृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१।१५॥ (ऋ० १।४।१)

सुरूपकृत्न्विति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१५ ॥

१०८८. उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब ।
गोदा इद्रेवतो मदः ॥ २।१५ ॥ (ऋ० १।४।२)

उप न इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे सोमपा सोमं भक्तं पातीति सोमपाः । सम्बुद्धौ । नोस्माकम् । सवना सवनानां यज्ञानां भक्तियज्ञानामित्यर्थः । उप समीपे । आ गहि आगच्छ । आगत्य च सोमस्य शान्तभक्तस्योत्पाद्यमान भक्तिरसमिति शेषः । पिबानुभव । रेवतो धनस्याखिलस्येशितुस्तव मदो हर्षो गोदा ज्ञानदा भवति । अस्मदुत्पादितत्वद्भक्तिरसानुदर्शनेन तव प्रीतिः स्यात् सा चास्माकं ज्ञानप्रदाने हेतुः स्यात् ॥ २।१५ ॥

१०८९. अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मानो अति ख्य आ गहि ॥ ३।१५ ॥ (ऋ० १।४।३)

अथा त इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे इन्द्र, अथ शान्तरसभक्तिभावनानन्तरं वयं ते तवान्तमानामन्तिकतमानामतिसमीपवर्तिनां सुमतीनां सद्बुद्धीनां महापुरुषाणां संसर्गेण त्वां विद्याम जानीमहे त्वं च नोस्मानति अतिहाय मा ख्यो मा प्रकथय ।

† पूर्वार्चिके १६० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

अस्मांस्त्वद्भक्तान् प्रत्येव स्वरूपमाविष्कुर्वित्यर्थः। आ गहि आगच्छास्मानेव ॥ ३।१५ ॥

१०९०. उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव। महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम् ॥ † देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥१।१६॥ (ऋ० १०।१३४।१)

उभे यदिन्द्रेति। मान्धाता यौवनाश्व ऋषिः। इन्द्रो देवता। महापङ्क्तिश्छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः ‡ ॥ १।१६ ॥

१०९१. दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः। पूर्वेण मघवन्पदा* वयामजो यथा यमः।§ देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥२।१६॥ (ऋ० १०।१३४।६)

दीर्घमिति। मन्तुमः ज्ञानवन् परमेश्वर, मनुर्ज्ञानम्। मन्वते येन। 'कमिमनि' (उ० १।७३) इत्यादिना तुः। तद्वन्। मतुवसो रुः इति सम्बुद्धौ नकारस्य रुत्वम्। त्वं यथाङ्कुशं शासनम्। 'सरणादङ्कुशः, अञ्चतेराकुंचितो भवतीति वा' (नि० ५।२८)। अञ्च्यते पूज्यते मम्यते गम्यते सन्मार्गो येन। तथा शक्तिं सामर्थ्यं कर्म वा। शक्तिरिति कर्म नाम निघ० (२।१।२५)। विभर्षि धारयसि। हे मघवन् सर्वविधधनस्वामिन्, अजो नजातो नित्य इति भावः। यथा पूर्वेण पदा पादेन बाल्येन। चत्वारः पादा आयुषः। बाल्यं प्रथमः पादः। यौवनं द्वितीयः पादः। वार्द्धकं तृतीयः पादस्ततः परं चतुर्थः पादः। वयां शाखाम्। परमात्मा हि मूलम्। तस्य शरीरत्वादात्मानस्तस्य शाखा इव

† ऋग्वेदे नास्ति द्वितीयपादविभागः।

‡ पूर्वार्चिके ३७९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

* पदाजो यथा यथेयमृक्पाठः। § ऋग्वेदे नास्ति द्वितीयपादविभागः।

भवन्ति। एवं च वयां जीवान् यथा योजयसि यथोत्पादयसि तथैव यमस्त्वं तान्नियमेपि स्थापयसीति तात्पर्यम्। यद्यपि नात्मानो जायन्ते तेपि खलु नित्या एव। तथापि जन्यशरीरसम्बन्धेन तेषामपि जन्यत्वमुपचर्यते लोके शास्त्रे च। मन्त्रस्यान्तिमं चरणं पूर्वार्चिके व्याख्यातम्॥२।१६॥†

१०९२. अव स्म ‡दुर्हृणायतो मर्तस्य तनुहि स्थिरम्।
अधस्पदं तमीं कृधि यो अस्माँ *अभिदासति।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ ३।१६॥
(ऋ० १०।१३४।२)

अव स्मेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्द्र परमेश्वर, दुर्हृणायतो दुःखजनकं क्रोधं कुर्वतः। हृणीङ् रोषे वैमनस्ये च। सर्वैः सह वैमनस्यं वाचरतः। हृणीयत इत्यस्य स्थाने हृणायत इति छान्दसः प्रयोगः। मर्तस्य मनुष्यस्य स्थिरं स्थैर्यमवतनुहि अवतनु अल्पं कुर्विति भावः। किं च यो दुर्जनोस्मांस्त्वद्भक्तान् अभिदासति विनाशयति तम् अधस्पदम् ईम् पादयोरध एव कृधि कुरु। तं पादैर्विमर्दयेति भावः। तृतीयं पादं व्याख्यातं। तच्च पूर्वार्चिके (३७९) द्रष्टव्यम्॥ ३।१६॥

इति पञ्चमः खण्डः

●

---

† ३७९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ 'दूर्हृणायतः इत्यृक्पाठः।　　* आदिदेशतीत्यृक्पाठः।

अथ षष्ठः खण्डः

१०९३. परि †स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो ‡अक्षरत् ।
मदेषु सर्वधा असि ॥ १।१७ ॥ (ऋ० ९।१८।१)

परि स्वान इति । असितः काश्यपो देवलो वर्षिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।१७ ॥

१०९४. त्वं विप्रस्त्वं कविर्मधु प्र जातमन्धसः ।
मदेषु सर्वधा असि ॥ २।१७ ॥ (ऋ० ९।१८।२)

त्वं विप्र इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे सोमाख्य गुरो, त्वं विप्रो विशेषेण पूरयिता स्वजनानां शिष्याणाम् । कविः क्रान्तदर्शनो मेधावी वा । अन्धस आध्यानीयात् । अन्ध इत्यन्न नाम । आध्यानीयं भवतीतियास्कः (नि० ५।१) परमात्मनः जातमुत्पन्नं मधु मधुररसं ददासीति शेषः । मदेषु हर्षेषु जातेषु त्वं सर्वधा सर्वाधायकोसि । इह सोम आचार्यः ॥ २।१७ ॥

१०९५. §त्वे विश्वे सजोषसो देवासः पीतिमाशत ।
मदेषु सर्वधा असि ॥ ३।१७ ॥ (ऋ० ९।१८।३)

त्वे विश्व इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । विश्वे सर्वे सजोषसः समानप्रीतिसम्पन्ना देवासो विद्वांसस्तव सोमाख्यस्य परमेश्वरस्य पीतिं पानं पारमेश्वररसास्वादमाशताश्नुवन्ति स्वदन्ते इत्याशयः अन्यदुक्तम् ॥ ३।१७ ॥

---

† सुवान इत्यृक्पाठः । ‡ अक्षाः इत्यृक्पाठः ।
* पूर्वार्चिके ४७५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
§ तवेत्यृक्पाठः ।

१०९६. स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडानाम् ।
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥ १।१८ ॥ (ऋ० ९।१०८।१३)

स सुन्व इति । ऋणञ्चयो राजर्षिः, पवमानः सोमो देवता । यवमध्या गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१८ ॥

१०९७. यस्य त‡ इन्द्रः पिबाद्यस्य मरुतो यस्य वार्यमणा भगः ।
आ येन मित्रावरुणा करामह एन्द्रमवसे महे ॥ २।१८ ॥
(ऋ० ९।१०८।१४)

यस्य त इति । शक्तिर्वासिष्ठः । पवमानः सोमो देवता । सतो वृहती छन्दः । यस्य ते उपासकस्य भक्तिरसमिन्द्रः परमैश्वर्यशाली परमात्मा पिबात्पिबति त्वं पिवसीतिभावः । लेट् । यस्य ते तव भक्तिरसं मरुतो मितममितं वा रोचयितारः । पिबन्ति यस्य वा च तव भक्तिरसम् अर्यमणा परमेश्वरोपासकेन ईश्वरज्ञानवतेत्यर्थः । सह । सहार्थे तृतीया । अर्यं मिमीते मन्यते इत्यर्यमा । अर्य ईश्वरः (निघ० २।२२।२) । भग उपासकः । भजत इति भगः । संज्ञायां घः (पा० ३।३।११८) । येन हेतुना वयं मित्रावरुणौ स्निग्धं वरणीयं च परमात्मानं आ करामहे समन्तात्कुर्म आत्मीयमितिशेषः । येन च हेतुना महे महते अवसे रक्षणाय इन्द्रं परमैश्वर्यम् आ करामहे आत्मीयं कुर्मः स हेतुः सफलो भवत्विति भावः । परमात्मा स्निग्धोतो वरणीयोतो वयं तमात्मीयं कुर्मः । किं च स इन्द्रः परमैश्वर्योतस्तमस्मद्रक्षायायात्मीयं कुर्म इति तात्पर्यम् ॥ २।१८ ॥

---

† पूर्वार्चिके ५८२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ नः इत्युक्पाठः ।

१०९८. तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत।
शिशुं न †हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥ १।१९ ॥
(ऋ० ९।१०५।१)

तं व इति। पर्वतनारदौ काण्वा वृषी। पवमानः सोमो देवता। उष्णिक् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।१९ ॥

१०९९. सं वत्स इव मातृभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते।
देवावीर्मदो मतिभिः परिष्कृतः ॥ २।१९ ॥
(ऋ० ९।१०५।२)

सं वत्स इवेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हिन्वानो गतिं कुर्वन् पारमेश्वरे पथि गच्छन्नित्यर्थः। इन्दुरैश्वर्योपेत उपासको लौकिकशक्त्या मातृभिः स्वजननीभिर्वत्स इव, सम् अज्यते सम्यगक्तो भवति सम्यक्कान्तो भवति। वत्सोपि मातृभिः संपर्कमेत्यैव कान्तिमान् भवति दुग्धपानेन मातृलालनेन च। किं भूत इन्दुः? देवावीर्देवा इन्द्रियाणि तेषां संयन्ता। इन्द्रियसंयमकुशल इत्यर्थः। मदो हृष्टः। मतिभिः सत्कर्मभिः सद्विचारैः परिष्कृतः संशोभितः। अथवा मतिभिर्मेधाविभिर्विद्वद्भिः संशोधितः सन्मार्गं प्रापित इत्यर्थः ॥ २।१९ ॥

११००. अयं दक्षाय साधनोऽयं शर्धाय वीतये।
अयं देवेभ्यो मधुमत्तरः सुतः ॥ ३।१९ ॥
(ऋ० ९।१०५।३)

अयं दक्षायेति। ऋष्यादयः उक्ताः। अयमुपासक ईदृगुपासको दक्षाय दाक्ष्याय दाक्ष्यं प्राप्तुं साधनः साधको भवति। अयं शर्धाय

† यज्ञैरित्यृक्पाठः।

‡ पूर्वार्चिके ५६९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

बलाय वीतये परमात्मानं प्रति गमनाय साधनः साधको भवति। अयमीदृश एवोपासको देवेभ्योन्यविद्वदपेक्षया मधुमत्तरोतिशयेन मधुरः प्रिय इति भावः। सुतः पुत्रो भवति परमेश्वरस्य ॥ ३।१९॥

११०१. सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः। मित्राः
†स्वानाः अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥ १।२० ॥
(ऋ० ९।१०१।१०)

सोमाः पवन्त इति। मनुः सांवरण ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।२० ॥‡

११०२. ते* पूतासो§ विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः।
ꣿसूरासो न दर्शतासो जिगत्नवो ध्रुवा घृते ॥ २।२० ॥
(ऋ० ९।१०१।१२)

ते पूतास इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। ते प्रख्याताः पूतासः पवित्राः विपश्चितो विद्वांसो विपो वाचश्चेतयन्तो वाक्प्रयोगकुशलाः वा। दध्याशिरः दधातीति दधिः परमात्मा। तस्य आशिर आश्रयणकर्तारः। आङ् पूर्वात् श्रयतेः 'क्विब्वचिप्रच्छि' (पा० ३।२।१७८) इत्यत्र प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिरित्युक्तेः क्विपि प्रकृतेः शीरादेशः। सूरासो न सूर्या इव प्रकाशशीलाः। ध्रुवा दृढाः सन्तो घृते दीप्तिमति परमात्मनि। घृ क्षरणदीप्त्योः। जिगत्नवो गन्तारः सोमासो भक्ताः शान्ताः। दर्शतासो दर्शनीया भवन्ति, सर्वैरनुकरणीया भवन्तीति भावः ॥ २।२० ॥

† सुवाना इत्यृक्पाठः।
‡ पूर्वार्चिके ५४८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः। * एते इत्यृक्पाठः।
§ पूता इत्यृक्पाठः। ꣿ सूर्यास इत्यृक्पाठः।

११०३. सुष्वाणासो व्यद्रिभिश्चिताना गोरधि त्वचि।
इषमस्मभ्यमभितः समस्वरन्वसुविदः ॥ ३।२० ॥
(ऋ० ९।१०१।११)

सुष्वाणास इति। ऋष्यादय उक्ताः। एते सोमा भक्ताः। अस्मभ्यं तदन्तेवासिभ्यः। इषमिष्टमभितः सर्वतः समस्वरन् संशब्दयन्ति समाह्वयन्ति ददतीतिभावः। कीदृशः सोमाः? सुष्वाणासः सम्यगभिषूयमाणाः सम्यक् परीक्ष्यमाणाः। आचार्यैरितिशेषः। अथवा शोभनाः स्वानाः शब्दाः परमेश्वरवाचका येषां जिह्वायां ते। गोर्विद्याया अधि त्वचि अधिके संवरणे जाते। अद्रिभिर्न दीर्यन्ते तैः स्थिरैर्ज्ञानिभिर्वि चिताना विशेषेण बोध्यमानाः। वसुविदो ब्रह्मज्ञाः। वसति सर्वत्रेति वसुरीश्वरः ॥ ३।२० ॥

११०४. अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व। ब्रध्नश्चिद्यस्य† वातो न जूतिं‡ §पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात्ꣳ ॥ १।२१ ॥ (ऋ० ९।९७।५२)

अया पवेति। कुत्स आङ्गिरस ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।२१ ॥*

११०५. उत न एना पवया पवस्वाधि श्रुते श्रवाय्यस्य तीर्थे।
षष्टिं सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय
॥ २।२१ ॥ (ऋ० ९।९७।५३)

---

† ....श्चिदत्रेत्यृक्पाठः। ‡ जूत इत्यृक्पाठः।
§ पुरुमेधश्चित्तेत्यृक्पाठः। ꣳ दात् इत्यृक्पाठः।
* पूर्वाचिके ५४१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

उत न इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । उत अपि च हे सोम परमेश्वर, एना एनया पवया पावनशक्त्या श्रवाय्यस्य श्रोतव्यस्य । मन्तव्यस्य निदिध्यासितव्यस्य चाप्युपलक्षणतः । तव परमेश्वरस्य श्रुते प्रसिद्धे तीर्थे भक्तरूपे अधि पवस्वाधिकं क्षर आनन्दोपवर्षणं कुर्वित्यर्थः । नैगुतो नितरां शब्दायन्ते परमेश्वरमाह्वयन्तीति निगुतो भक्ताः । तेषामयं नैगुतो भक्तानां स्वामीत्यर्थः । षष्टि सहस्रा सहस्राणि वसूनि वसून् रश्मीन् शक्तीरित्यर्थः । वसुरिति रश्मिनाम (निघ० १।५।१०) । रणाय संग्रामायाध्यात्मिकाधिभौतिकपदार्थयोरहमहमिकया युद्धाय, युद्धं विजेतुमित्याशयः । धूनवद्धूनयति कम्पयति ददातीत्यर्थः । कं किमिव ? यथा वृक्षं वृक्षः पक्वं रसवत्फलमित्यर्थः । ददाति । षष्टि सहस्राणीति वैदिकानामानन्त्ये पारिभाषिकः शब्दः ॥ २।२१ ॥

११०६. महीमे अस्य वृ† नाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने
वा वधत्रे । अस्वापयन्निगुतः स्नेहयच्चापामित्राँ
अपाचितो अचेतः ॥ ३।२१ ॥ (ऋ० ९।९७।५४)

महीमे इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे वृष वर्षणशील सर्वच्छातपंक, अस्य सोमस्य परमात्मनस्तव महि महत् नाम महद्यशः । इमे सर्वे त्वदीयोपासकाः । कीर्तयन्तीतिशेषः । क्व ? शूषे सुखकरे मांश्चत्वे वा ज्ञाने वा त्वज्ज्ञानकाले वा त्वत्स्मरणकाले वेत्यर्थः । पृशने वा स्पर्शने त्वत्स्पर्शनकाले त्वत्तत्त्वविवेचनकाल इति भावः । वधत्रे वा इन्द्रियदमनकाले इति भावः । निघण्टौ माश्चत्व इत्यश्वनाम (१।१४।१८) परमिह ज्ञानम् । मन ज्ञाने । मन्यत इति मांश्चत्वः । पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः । स चायं परमेश्वरो निगुतः

† वृषनामेति समुदितः पाठः ऋग्वेदे ।

शत्रून् अस्वापयत् विनाशयतीतिभावः। अमित्रान्परमदुष्टजनान् अप स्नेहयत् न स्निह्यति दुष्टजनेषु। किन्तु तान् सर्वविधान् अप अच अपगमयति अपहन्ति। उपसर्गवशात्क्रियाध्याहारः। अचितः चिन्वन्ति सत्कर्माणि ये ते चितः। न चितोचितः सत्कर्मविमुखानितिभावः। इतोस्मात्स्थानात् अप अच अपगमय ॥ ३।२१ ॥

इति षष्ठः खण्डः

●

अथ सप्तमः खण्डः

११०७. अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो†
वरूथ्यः ॥ १।२२ ॥ (ऋ० ५।२४।१)

अग्ने त्वमिति। बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च ऋषी। अग्निर्देवता। द्विपदा विराट् छन्दः। अस्मिन् खण्डे प्रायेण सर्वे मन्त्राः खण्डिता न पूर्णाः। ऋग्वेदत उद्धृत्य निर्मित्तोयं सामवेद इति मत इयमुक्तिः। यदि स्वातन्त्र्येणैवास्य सत्ता स्वीक्रियेत, नात्र खण्डितत्वविचारः। इयदेव मन्त्रस्वरूपमिति मन्तव्यम्। ऋग्वेदेपि मन्त्रस्यास्य खण्डितत्वनिर्देशः प्राप्यते। हे अग्ने परमात्मन्, त्वं भुवो जगतः। वरूथ्यो वरणीयः। वृञ् वरणे। अत एव त्वमन्तमोन्तिकतमोऽस्माकम्। उत अत एव त्राता रक्षकः। यः सान्निध्यं धत्ते स एव रक्षां विधत्ते। शिवः स्वयं कल्याणस्वरूपः सन् शिवकरः। व्याख्यातोपि (४४८) पुनरिह व्याख्यातः ॥ १।२२ ॥

---

† भवा इत्यृक्पाठः।

११०८. वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमो† रयिं दाः
॥ ३।२२ ॥ (ऋ० ५।२४।२)

वसुरग्निरिति । ऋष्यादय उक्ताः । हे परमेश्वर त्वं वसुः सर्वेषां निवासदाताश्रयः । अग्निः प्रकाशस्वरूपोग्रणीर्वा । अग्रोपपदान्नयतेः 'सत्सूद्विष' (३।२।६१) इत्यादिना क्विप् । पृषोदरादित्वादग्निः । परमात्मा सर्वेषामग्रणीरेव । वसुश्रवा रात्रिधनम् । वसू रात्रिः । श्रवो धनम् । रात्रावेव योगिनश्चिन्तयन्ति परमात्मानं तेन स रात्रेर्धनमित्युच्यते । द्युमत्तमोतिशयेन द्युतिमान् । अतस्त्वम् अच्छ आभिमुख्येन नक्षि व्याप्नुह्यस्मान् । नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा (निघ० २।१८।२) । व्याप्तस्यापि व्याप्तेः प्रार्थना, उपास्योपासकयोरैकान्तिकीं निष्ठां द्योतयितुम् । अयं ममोपास्योयं च ममोपासक इति निष्ठा द्विष्ठा यथा स्यादिति प्रार्थना । ततः परमस्मभ्यमुपासकेभ्यो रयिं धनं ज्ञानरूपं दा देहीत्यर्थः ॥ २।२२ ॥

११०९. त्वं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे
सखिभ्यः ॥ ३।२२ ॥ (ऋ० ५।२४।४)

तं त्वेति ऋष्यादय उक्ताः । हे शोचिष्ठ अतिशयेन दीप्तिमन्, दीदिवः सर्वेषां रमयितः । दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः । देवनं क्रीडनम् । धकारस्य दकारो व्यत्ययेन । अथवा दीदयतिर्ज्वलतिकर्मा (निघ० १।१६।४) नित्यज्वलितः । सखिभ्यः सम्बन्धिभ्यः । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । सुम्नाय सुखाय । सुम्नमिति सुखनाम (निघ० ३।६।१६) । तं प्रसिद्धदानिनं त्वा त्वां नूनमीमहे याचामहे । ईमहे इति याच्ञाकर्मा (निघ० ३।१९।१) ॥ ३।२२ ॥

---

† द्युमत्तममित्यूक्पाठः ।

१११० इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च†
विश्वे च देवाः ॥१।२३॥ (ऋ० १०।१५७।१)

इमा नु कमिति । भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवन ऋषिः । विश्वेदेवा देवता । द्विपदा त्रिष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।२३ ॥

११११. यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह
सीषधातु* ॥२।२३ ॥ (ऋ० १०।१५७।२)

यज्ञं चेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । इन्द्रः परमात्मा आदित्यैः स्वभक्तैरविनश्वरैः सह नोस्माकं यज्ञं शुभं कर्म तन्वं शरीरं प्रजां च सन्तर्ति शिष्यान्वा सहधर्मिणो वा सह सहैव सीषधातु सिद्धिमार्गं नयतु ॥ २।२३ ॥

१११२. आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं§ भेषजा
करत् ॥ ३।२३ ॥

आदित्यैरिति । ऋष्यादय उक्ताः आदित्यैः स्वाविनश्वरपुत्रैर्महाभक्तैर्मरुद्भिर्भक्तकल्पैरस्थिरभक्तिभिः । मृञ् मरणे । रुति प्रत्ययः । अस्थिरभक्तयो म्रियन्त एव । (भक्तैः) सह अस्मभ्यं भेषजा भेषजानि सुखानि । भेषजमित्ति सुखनाम (निघ० ३।६।१३) करत् करोतु, अस्मान्सुखयत्वित्यर्थः । कः ? सगणो दयादानदाक्षिण्यादिभिः सहित इन्द्रः परमात्मा ॥ ३।२३ ॥

---

† सीषधा—इत्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके ४५२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

* चीक्लृपाति इत्यृक्पाठः ।

§ अस्माकं भूत्वविता तनूनामित्यृक्पाठः ।

११११३. प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं
जुजोषते ॥ १।२४ ॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

प्र व इन्द्राय । ऋष्यादयो न दृश्यन्ते । छन्दस्तु गायत्री । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।२४ ॥

१११४. अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति श्रुतो युवा स
इन्द्रः ॥ २।२४ ॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

अर्चन्त्यर्कमिति । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ २।२४ ॥

१११५. उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त
इन्द्रः ॥ ३।२४ ॥

उप प्रक्ष इति । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ ३।२४ ॥

इति सप्तमः खण्डः

---

† पूर्वार्चिके ४४६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ पूर्वार्चिके ४४५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

* पूर्वार्चिके ४४४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१११६. प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति
रेभन् ॥ ११ ॥ (ऋ० ९।९७।७)

प्र काव्यम्विति । वृषगणो वासिष्ठ ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । उशना इव सर्वेषां श्रेयः कामयमान इव देवः परमात्मा काव्यं चतुरो वेदान् प्र ब्रुवाण उपदिशन् देवानां विदुषां जनिमा जन्मानि विवक्ति विशेषेण ब्रवीति । वेदोपदेशेनैव परमात्मा ज्ञापयति किमकुशलं कर्म किं च कुशलम्, कुशलेन कर्मणा विदुषां प्रवाहोकुशलेन चेतरेषामिति । उशना इत्यत्र वशेः कनसिः (उ० ४।२३९) इति कनसिः प्रत्ययः । वश कान्तौ । कान्तिरिच्छा । कथं भूतो देवः ? महिव्रतो महनीयसङ्कल्पः । शुचिबन्धुः शुचीनां वाह्याभ्यन्तरपावित्र्योपेतानां बन्धुः सहायकः । पावकः पावनकर्ता सर्वेषाम् । रेभन् शब्दं कुर्वन् वराहो वराहे वरं च तदहश्च । राजाहः सखिभ्यष्टच् इति टच् । सप्तम्यर्थे प्रथमा छान्दसी । पदा पदानि स्थानानि तानि चान्तःकरणरूपाणि । अभ्येति अभिगच्छति । शब्दं कुर्वन्निति लौकिककल्पनामात्रम् । लोके दृश्यते कस्यचिद्रक्षां चिकीर्षन् कश्चिद् मा भैषीरागतोहमिति ब्रुवन्नेव रक्ष्यसमीपं प्राप्नोति तथैव परमेश्वरोपि करोतीति मतं स्यात्तदा । पूर्वमपि (९२४) व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ ११ ॥

११३७. प्र हंसासस्तृपला† ‡वग्नुमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः । *अङ्गोषिणं पवमानं सखायो दुर्मर्षं §वाणं प्र वदन्ति साकम्£ ॥ २।१ ॥ (ऋ० ९।९७।८)

प्र हंसास्त्विति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हंसा मिश्रितयोर्दुग्धजलयोर्दुग्धं पिबन्ति जलं च मुञ्चन्तीति प्रसिद्धिमनुसृत्योच्यते । हंसासो हंसा इव सदसद्विवेकिनोसत्परिहाणपूर्वकं सत्प्रतिपादिनो वृषगणा वृषाणां ज्ञानोपदेशेनान्तःकरणतर्पकाणां विदुषामित्यर्थः । गणाः समूहाः । अमाच्छत्रूणां मूर्खाणां वा शब्दाद् दुश्शब्दादित्यर्थः । अम गत्यादिषु । हेतौ पञ्चमी । तृपलाः । क्षिप्रगतयः । तृपलप्रभर्मेतिव्याख्यावसरे तृप्रप्रहारी क्षिप्रप्रहारी सृप्रप्रहारीति (नि० ५।१२) यास्कवचनाद् तृपलशब्दः क्षिप्रार्थकः । अर्श आदित्वादच् । वग्नुं परिभाषणशीलम् । वग्नुरितिवाङ्नाम (निघ० १।११।२५) । इह वग्नुमत्परः । अस्तमाश्रयम् । अस्तमिति गृहनाम (निघ० ३।४।५) इह लक्षणयाश्रयः । तादृगाश्रयः परमेश्वरः कश्चिदन्यः सज्जनोपि । सत्यं ब्रवीपि मा भैषीः सत्यमेव जयति नानृतमित्यादिभाषणशीलम् आश्रयम् अच्छाभिमुख्येन प्र अयासुः प्रयान्ति सत्यवादिनः । इतिहासोप्यत्र समृद्धः । अत एव भूतकालनिर्देशः । कीदृशमस्तम् ? अङ्गोषिणम्, अङ्गूषो गमनकर्ता । अङ्गूष इत्ययं शब्दो गत्यर्थादगिधातोर्निपातितः (द. पा. उ० ९।१९) । गमनकर्तारस्तत्समीपगमनकर्तारः सन्ति यस्य सोङ्गूषी तमङ्गूषिणम् । अङ्गोषिणमिति छान्दसप्रयोगः ।

---

† तृपलमित्यृक्पाठः । ‡ मन्युमित्यृक्पाठः ।
* आङ्गूष्यमित्यृक्पाठः । £ साकमित्यृक्पाठः ।
§ वाणमित्यृक्पाठः ।

आश्रयग्रहणाय यत्सविधे वह्वो गच्छन्ति तम्। पवमानं पवित्रकर्तारम्। दुर्मर्षमसह्यम्। न कोपि तस्य कोपं सोढुं क्षमः। वाणं शब्दायमानम्। आगच्छागच्छेति ब्रुवन्तम्। शब्दार्थो वण धातुर्भौवादिकः। साकम् कं सुखम्। न कमकम्। दुःखम्। अकेन दुःखेन सह वर्तमानमिति साकम्। क्रियाविशेषणम्। प्र वदन्ति सदुःखं स्वीयं दुःखं निवेदयन्तीतिभावः। कीदृशों वृषगणाः? सखायः समानधर्माणः॥ ३।१॥

१११८. स योजत† उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमते न गावः। परीणसं कृणुते तिग्मशृङ्गो दिवा हरिर्ददृशे नक्तमृज्रः॥ ३।१॥ (ऋ० ९।९७।९)

स योजत इति। ऋष्यादय उक्ताः। स सोमः परमेश्वरोपासक आत्मा उरुगायस्य वहुयशस्कस्य परमेश्वरस्य जूतिं गतिं मार्गमित्याशयः। योजते युनक्ति गच्छतीत्यर्थः। वृथा अनायासेन निसर्गतः क्रीडन्तं जगन्निर्माणादिव्यवहारं कुर्वन्तं परमेश्वरं गावः शब्दायन्तारो मनुष्या वा न मिमत मातुं न शक्नुवन्ति। तिग्मशृङ्गस्तीक्ष्णतेजस्कः सः। शृङ्ग इति ज्वलन्नाम (निघ० १।१७।११)। तिग्मं तीक्ष्णम्। दिवा दिवसे परीणसं बहु। परीणसेति बहुनाम (निघ० ३।१।६)। वहु तेजः कृणुते कुरुते। नक्तं रात्रौ अपि स हरिः पापहारकः ऋज्रो नायकः। सर्वपापदाहको वा। ऋजि भर्जने। ददृशे दृश्यते। नक्तन्दिवं स स्वतेजसा स्वकर्मणा च प्रकाशत इत्यर्थः॥ ३।१॥

१११९. प्र स्वानासो रथा इवार्वन्तो न श्रवस्यवः। सोमासो राये अक्रमुः॥ ४।१॥ (ऋ० ९।१०।१)

† रंहत इत्यृक्पाठः।

प्रस्वानास इति । असितः काश्यपो देवलो वर्षिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । अस्मिन्मन्त्रे सत्पुरुषाणां स्वभावो वर्ण्यते । श्रवस्यवो ज्ञानमिच्छन्तः परेषाम्, सोमासः शान्ताः पुरुषाः स्वानासः स्वनन्तः शब्दं कुर्वन्तो रथा इव स्वानासोर्वन्तो न अश्वा इव राये धनाय ज्ञानरूपायाक्रमुराक्राम्यन्ति आगच्छन्ति । न हि सामान्यं धनं परमात्मा प्रयच्छति न वा तदभ्यर्थनीयं कुतश्चित् । तत्तु स्वयमर्जनीयम् । भिक्षावृत्तिः पापायात्मावनतये च भवति । ज्ञानभिक्षणं तु न पापाय । कल्याणाय भवति । शुश्रूषया च लभ्यते । धनं यदि शुश्रूषया लभ्यते न सा भिक्षावृत्तिर्भवति । वेदकाले रथानामर्वतां च बहुलोपयोग आसीत्तत इयमुपमा ॥ ४।१ ॥

११२०. हिन्वानासो रथा इव दधन्विरे गभस्त्योः ।
भरासः कारिणामिव ॥ ५।१ ॥ (ऋ० ९।१०।२)

हिन्वानास इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । कारिणामुपकारिणां भरासो भरा उपकारभरा इव हिन्वानासाः प्रेर्यमाणाः कैश्चित् स्वयमेव वागच्छन्तो रथा रमणीया रमयितारो वा विद्वांसो गभस्त्योर्बाह्वोरन्तराले दधन्विरे धार्यन्ते । ज्ञानरसपिपासुभिस्ते सत्क्रियन्त इति भावः ॥ ५।१ ॥

११२१. राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते ।
यज्ञो न सप्त धातृभिः ॥ ६।१ ॥ (ऋ० ९।१०।३)

राजान इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । प्रशस्तिभिः प्रशंसावाक्यैः प्रशस्तवाक्यैर्वा राजानो न राजान इव यज्ञो न अथवा यथा सप्त यज्ञः यज्ञा धातृभिर्याजकैर्दीप्यन्ते तद्वत् सोमासो भक्ता गोभिर्विद्याभिरञ्जते दीप्यन्ते ॥ ६।१ ॥

१११२२. परि †स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
‡मधो अर्षन्ति धारया ॥ ७।१ ॥ (ऋ० ९।१०।४)

परि स्वानास इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । स्वानासः शब्दं कार्यमाणा अध्याप्यमाना इति भावः । अथवा स्वानासः सुवानासः सूयमानाः शिक्ष्यमाणा इत्याशयः । इन्दव ऐश्वर्यशालिनो बुद्धि-शालिनः शिष्या इत्यर्थः । मदाय हर्षाय । बर्हणा परिवृढेन गिरा वचसा 'गुरो मामध्यापये', त्यादिवचसेतिभावः । धारया वाचा हेत्वर्थे तृतीया । वाङ्निमित्तमित्यर्थः । अध्ययनार्थमितिभावः । मधो हे मधुर, आचार्य त्वां परि अर्षन्ति परितो गच्छन्ति । ब्रह्म-विद्यामध्येतुं त्वत्समीपमागच्छन्तीतिभावः । अनेन मन्त्रेण विद्या-चार्यः स्तूयते ॥ ७।१ ॥

११२३. आपानासो विवस्वतो *जिन्वन्त उषसो भगम् ।
सूरा अण्वं वि तन्वते ॥ ८।१ ॥ (ऋ० ९।१०।५)

आपानास इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । आपानासो व्याप्ताः सर्वेषु सद्गुणेषु । विवस्वन्तो मनुष्याः । सद्गुणमनुष्या आचार्या इत्यर्थः । आपानासो इति व्याप्तार्थकं पदम् (नि० २।१८।६) । विव-स्वन्त इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।२४). उषसः परमेश्वरस्य । उच्छी विवासे । उषाः कस्मात् ? उच्छतीति यास्कः (नि० २।१८) उच्छति विवासयति दूरी करोति मानसिकं दुःखमिति । भगमैश्वर्यं कान्तिमित्यर्थः । जिन्वन्तः प्रीणयन्तः । जिविः प्रीणात्यर्थः । सूरा विद्वांसः सन्तः । अण्वं छात्रसमूहम् । अणति शब्दं करोतीत्यणुः (उ० १।८) । वितन्वते विस्तारयन्ति । औषसमानन्दमनुभवन्त आचार्याश्छात्रान्पाठयन्तीतिभावः ॥ ८।१ ॥

† सुवानास इत्यूहपाठः । ‡ सुता इत्यूहपाठः । * जनन्त इत्यूहपाठः ।

११२४. अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋण्वन्ति कारवः ।
वृष्णो हरस आयवः ॥ ९।१ ॥ (ऋ० ९।१०।६)

अप द्वारेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । कारवः स्तोतारः परमात्मनः । वृष्णः सर्वमनोरथप्रदस्य परमेश्वरस्य । हरसः प्रापका । हृञ् हरणे । हरणं प्रापणम् । प्रत्नाः प्राचीनाः । आयवो मनुष्याः । आयुरिति मनुष्यनाम (निघ० २।३।१७) । मतीनां बुद्धीनां द्वारा द्वाराणि अस ऋण्वन्ति अप गमयन्ति । ऋवि गतौ । निवारयन्तीति ॥९।१॥

११२५. समीचीनास †आशत होतारः ‡सप्तजानयः ।
पदमेकस्य पिप्रतः ॥ १०।१ ॥ (ऋ० ९।१०।७)

समीचीनास इति । ऋष्यादय उक्ताः । सप्तजानयः सप्तसंख्याका जाया पञ्चेन्द्रियशक्तयो द्वे मनोबुद्धयोः शक्ती इत्येता जायावद्धित-कारिण्यो येषां ते समीचीनासः समीचीना होतारः परमेश्वरस्या-ह्वातारः पिप्रतः सर्वपूरकस्य सर्वव्यापकस्यैकस्य परमेश्वरस्य पदं स्थानमाशत व्याप्नुवन्ति प्राप्नुवन्तीतिभावः ॥१०।१॥

११२६. नाभा नाभिं न आ ददे *चक्षुषा सूर्यं दृशे ।
कवेरपत्यमा दुहे ॥ ११।१ ॥

नाभा नाभिमिति । ऋष्यादय उक्ताः । नाभा नाभौ मम । नाभिं परमात्मानम् । णह बन्धने । नह्यति बध्नाति सर्वान्प दार्थान्नियम इति नाभिः । आ ददे गृह्णामि स्थापयामीति भावः । किमर्थम् ? चक्षुषा ज्ञानचक्षुषा सूर्यं सरति सर्वत्र तं परमेश्वरं, दृशे द्रष्टुम् । कवेर्विदुषां सर्वेषामपत्यं नपातयितारमुद्धारकमितिभावः । तं आ दुहे आपूरयामि स्वहृदये ॥ ११।१ ॥

---

† आसते इत्यृक्पाठः । ‡ सप्त, जामय इत्यृक्पाठः ।

* चक्षुश्चित्सूर्ये सचेत्यृक्पाठः ।

११२७. अभि †प्रियं दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम् ।
सूरः पश्यति चक्षसा ॥ १२।१ ॥ (ऋ० ९।१०।९)

अभि प्रियमिति । अध्वर्युभिरध्वरं यज्ञं कामयमानैरनुष्ठातृभिर्वा । अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्त्यध्वररस्य नेताऽध्वरं कामयत इतिवेति यास्कः (नि० १।८) । प्रियं प्रियकरं । दिवस्पदं दिव्यस्थानं पवित्रे स्थाने हृदये निवासंशीलं परमात्मानं गुहा गुहायामज्ञानगुहायां हितं निहितं स्थापितमिति भावः । न हि याज्ञिका यद्वा तद्वा यज्ञविधिकर्तारः परमात्मानं प्राप्तुं शक्तुवन्तीतिभावः । सूरः सूरिः परमेश्वरस्तोता चक्षसा चक्षुषा दिव्यदृष्ट्या तं पश्यति अनुभवति ॥ १२।१ ॥

इति प्रथमः खण्डः

अथ द्वितीयः खण्डः

११२८. असृग्रमिन्दवः पथा धर्मन्नृतस्य सुश्रियः ।
विदाना अस्य योजना‡ ॥ १।२ ॥ (ऋ० ९।७।१)

असृग्रमिति । असितः काश्यपो देवलो वर्षिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । सुश्रियः शोभना श्रीर्येषां ते । इन्दवो जीवाः । अस्य सोमस्य परमेश्वरस्य योजना योजनानि सम्वन्धान् । वहुविधा हि सम्वन्धाः । विदाना जानानाः । ऋतस्य परमसत्यस्य परमेश्वरस्य धर्मन् धर्मणि कर्मणि । येन सदाचारादिकर्मविशेषेण परमात्मा प्रसीदति स तस्य कर्म । निरताः

† प्रिया इत्यृक्पाठः । ‡ योजनमित्यृक्पाठः ।

सन्तः। यथा मार्गेण विध्यनुसारेण। असृग्रं सृजन्ति सत्कर्म कुर्वन्ति ॥ १।२ ॥

११२९. प्र धारा मधो† अग्रियो महीरपो वि गाहते।
हविर्हविःषु वन्द्यः ॥ २।२ ॥ (ऋ० ९।७।२)

प्र धारेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हविःष्वन्तःकरणेषु। हूयन्ते परमात्मनीति हवींषि अन्तःकरणानि मनोवुद्ध्यादानि। तेष्वन्तःकरणेषु यद् वन्द्यो वन्द्यं श्रेष्ठं हविरन्तःकरणस्ति तदेव, अग्रियोग्रिममग्र्यं सत् मधो हे मधुर, अपः परमेश्वरस्य तव। आप्यत इति अप्। महीर्महतीः। धारा वाचो वि गाहते प्रविशति अवगाहते नान्यत् ॥ २।२ ॥

११३०. प्र युजा‡ वाचो अग्रियो वृषो* §अचिक्रदद्वने। सद्माभि सत्यो अध्वरः ॥ ३।२ ॥ (ऋ० ९।७।३)

प्र युजा वाच इति। अग्रियः श्रेष्ठः। सत्यः सत्यस्वभावः। अध्वरो हिंसारहितः। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा। तत्प्रतिषेध इति निरुक्ते (१।८)। वृषः स्वकामपूरको जीवः। वने वनने प्रार्थने प्रार्थना-समये सद्म सद्मन्यन्तःकरणे मनसि। युजा वाचो युक्ता वाचः आत्मनः पावित्र्ये समर्था वाचो वेदवाचः। अभि प्र अचिक्रदत् अभितः प्रकर्षेण क्रन्दत्युच्चारयति ॥ ३।२ ॥

११३१. परि यत्काव्या कविर्नृम्णा $पुनानो अर्षति।
स्वर्वाजी सिषासति ॥ ४।२ ॥ (ऋ० ९।७।४)

---

† 'मध्वो' इत्यृक्पाठः। ‡ युज इत्यृक्पाठः। * वृषावेत्यृक्पाठः।
§ 'चिक्रद.....' इत्यृक्पाठः। $ वसान इत्यृक्पाठः।

परि यत्काव्येति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। कविः क्रान्तदर्शी ब्रह्मज्ञानी नृम्णा नृम्णानि बलानि मनआदीनि। अन्तःकरणान्येव महद्बलं मनुष्याणाम्। नृम्णं नृम्नतम् (नि० ११।९) इति यास्कः। पुनानः पवित्राणि कुर्वन्। यद्यदा। काव्या काव्यानि वेदमन्त्ररूपाणि परि अर्षति परिगच्छति प्राप्नोति विजानाति तदा स स्ववर्जी सुखधनः सन् सिषासति स्वं प्राप्तं धनं संभक्तुमिच्छति। अन्येभ्योपि तद्धनं दित्सतीत्यर्थः ॥ ४।२ ॥

११३२. पवमानो अभि स्पृधो विशो राजेव सीदति।
यदीमृण्वन्ति वेधसः ॥ ५।२ ॥ (ऋ० ९।७।४)

पवमानो अभीति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। वेधसः कर्मकर्तारो जीवाः। यदा ईम् एनं परमात्मनमृण्वन्ति गच्छन्ति प्राप्तुं प्रयत्नं कुर्वन्ति। ऋण्वतिर्गतिकर्मा (निघ० २।१४।५२)। तदा पवमानः परमात्मा। स्पृधः स्पर्धमानाः। विशः प्रजाः। विघ्नकर्तारो ये जना इति भावस्तान् सोभि सीदति अभिपादयति नाशयति। क इव? राजा इव यथा राजा स्वस्पर्द्धिनो हन्ति तद्वत् ॥ ५।२ ॥

११३३. अव्या[1] वारे परि प्रियो हरिर्वनेषु सीदति।
रेभो वनुष्यते मती ॥ ६।२ ॥ (ऋ० ९।७।६)

अव्या वार इति। अव्यो रक्ष्यो हृदये स्थाप्यः। वारे वारो वरणीयः। वृञ् वरणे। प्रियः प्रियकरी हरिः परमात्मा। वनेषु वननीयेषु भक्तानां हृदयेषु परि सीदति परितः सीदति निषीदति। रेभः शब्दं कुर्वंश्च मती मननसाधने मनोवुद्धी वनुष्यते दातुम् इच्छति। वनोतिः कान्त्यर्थकः (निघ० २।६।८)। हृदये स्थितः प्रसन्नः स शुद्धं मनः शुद्धां च वुद्धि प्रयच्छतीतिभावः ॥ ६।२ ॥

---

[1] 'अव्यो' इत्यूक्पाठः।

११३४. स वायुमिन्द्रमश्विना साकं मदेन गच्छति ।
रणा यो अस्य †धर्मणा ॥ ७।२ ॥ (ऋ० ९।७।७)

स वायुमिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । यो भक्तोस्य परमेश्वरस्य प्रसादके धर्मणा धर्मणि कर्मणि रण रमते । "नाहमिन्द्राणि रारण" इति मन्त्रव्याख्याने रमे इति यास्कव्याख्यानाद्रमणार्थकोयं प्रयोगः । सायनाचार्योपि तथैव व्याख्यातोयं शब्दः । स भक्तजीवा मदेन हर्षेण साकम्, परमानन्दः सन्नित्यर्थः । वायुं व्यापकमिन्द्रमैश्वर्यवन्तमश्विना अश्विनमाशुगमनमाशुतोषमितिभावः । परमात्मान गच्छति ॥ ७।२ ॥

११३५ आ ‡मित्रे वरुणे भगे मधोः पवन्त ऊर्मयः ।
विदाना अस्य शक्मभिः ॥ ८।२ ॥ (ऋ० ९।७।८)

आ मित्र इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । ऊर्मयो जीवाः । इयृति देहाद्देहान्तरं गच्छन्तीत्यूर्मयः । 'अर्तेरू च' (उ० १।१४) इत्यनेन अर्तेर्मिप्रत्यय ऊ इत्यादेशश्च । शक्मभिः परोपकारिकर्मभिः । शक्मेति कर्मनाम (निघ० २।१।९) । मधोर्मधुरमस्येमम् । द्वितीयार्थे षष्ठी । विदाना जानानाः सन्तः । मित्रे मित्रं स्निग्धम् । वरुणे वरणीयम् । भगे भगमैश्वर्यशालिनम् । द्वितीयार्थे सप्तमी । परमेश्वरम् आ पवन्त समन्ताद् गच्छन्ति परमात्मानमेव प्राप्नुवन्तीतिभावः ॥ ८।२ ॥

११३६. अस्मभ्यं रोदसी रयिं मध्वो वाजस्य सातये ।
श्रवो वसूनि सञ्जितम् ॥ ९।२ ॥ (ऋ० ९।७।९)

---

† धर्मभिरित्यृक्पाठः ।

‡ मित्रावरुणा भग मध्व इत्यृक्पाठः ।

अस्मभ्यं रोदसी इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे रोदसी द्यावापृथिव्यौ, मध्वो मधुरस्य मोदकरस्य वा वाजस्य धनस्य ज्ञानरूपस्य परमात्मरूपस्य वा सातये लाभाय । अस्मभ्यमुपासकेभ्यो रयिं धनं सदाचारादिरूपम् । श्रवः कीर्तिम् शास्त्रज्ञानं वा । वसूनि वासकानि जीवनयोग्यानि वसूनि च सं जितं सम्यग् जयतमस्मानिमानि वस्तूनि प्रापयतमित्यर्थः ॥ ९।२ ॥

११३७. आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे ।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १०।२ ॥ (ऋ० ९।६५।२८)

आ ते दक्षमिति । भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः । हे सोम परमशान्त परमेश्वर, वयमुपासकास्तव, आ आभिमुख्येन ते तव मयोभुवं सुखभावयितृ वह्निं ज्ञानादीनां वाहकं पान्तं सर्वविघ्नेभ्यो रक्षकं पुरुस्पृहं पुरुभिर्बहुभिः स्पृहणीयं दक्षं वलम् । द्रक्ष इति वलनाम (निघ० २।९।१४) । अथेदानीमेव । आ वृणीमहे आवृणुमः ॥१०।२॥

११३८. आ मन्द्रमा वरेण्यमा विप्रमा मनीषिणम् ।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ ११।२ ॥ (ऋ० ९।६५।२९)

आ मन्द्रमेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । प्रत्येकमा पूर्वत अध्याहृतेन वृणीमहे इतिक्रियापदेन सम्वध्यते । मन्द्रमानन्दरूपमानन्ददातारं वा त्वाम् आ वृणीमहे । वरेण्यं वरणीयं विप्रं मेधाविनं मेधारूपं मनीषिणं मनःशासकं स्वतन्त्रमितिभावः । पान्तं रक्षकं पुरुस्पृहं त्वामा वृणीमहे ॥ ११।२ ॥

११३९. आ रयिमा सुचेतुनमा सुक्रतो तनूष्वा ।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १२।२ ॥ (ऋ० ९।६५।३०)

आ रयिमेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । सुक्रतो हे शोभनज्ञान, वयं तव रयिं शक्तिधनं सुचेतुनं संज्ञानम् आ वृणीमहे । न केवलं स्वार्थम्, किन्तु तनुषु अस्माकं सन्ततिष्वपि तानि सर्वाणि सन्त्वित्यपि वृणीमहे । पान्तमित्यादि व्याख्यातम् ॥ १२।२ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

अथ तृतीयः खण्डः

११४०. मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ
जातमग्निम् । कविं सम्राजमतिथिं जनानामा†सन्नः
पात्रं जनयन्त देवाः ॥ १।३ ॥ (ऋ० ६।७।१)

मूर्धानं दिव इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ‡ ॥ १।३ ॥

११४१. त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभि
सं नवन्ते । तव क्रतुभिरमृतत्वमायन्वैश्वानर
यत्पित्रोरदीदेः ॥ २।३ ॥ (ऋ० ६।७।४)

त्वां विश्व इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । अमृत हे अमरणधर्मन्, परमेश्वर, विश्वे सर्वे देवा जायमानमुत्पद्यमानमिव भक्त्यानन्यया साक्षात्क्रियमाणमिवौपनिषदज्ञानेनात्मस्वरूपं साक्षात्क्रियमाणमिव वा त्वां सर्वेश्वरं शिशुं न सर्वाज्ञाननाशकमिव । शो तनूकरणे । तनूकरोत्यज्ञानमिति शिशुः । अभि सं नवन्ते अभितः संस्तुवते ।

† 'मासन्ना' इत्यृक्पाठः ।
‡ पूर्वार्चिके ६७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

हे वैश्वानर, विश्वेषां प्राणिनां लोकाल्लोकान्तरं नेतः, तव त्वत्सम्बन्धिभिः क्रतुभिः कर्मभिर्ज्ञानैर्वा । अमृतत्वं मोक्षमायन् प्राप्नुवन् प्राप्नुवन्ति च मानवाः । कदा ? यद् यदा पित्रोः पालकयोमनोवुद्ध्योरदीदेः दीप्यसे तदा । मनोवुद्धी यदा सन्मार्गगामिन्यौ भवतस्तदा जीवस्य पालनं भवति, असन्मार्गगामिन्यौ चेत्ते तदा जीवस्य विनाशो भवति । जीवस्य विनाशो नाम जीवश्रेयोनाशः ॥ २।३ ॥

११४२. नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त । वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः ॥ ३।३ ॥ (ऋ० ६।७।२)

नाभिं यज्ञानामिति । ऋष्यादः पूर्ववत् । यज्ञानां सर्वेषां शुभकर्मणां नाभिं वन्धकम् । णह् वन्धने । रयीणां सन्मतिसद्गतिसद्रत्यादीनां सदनं सद्म निवासस्थानम् । महां महान्तम् । आहावमाहूयन्ते सर्वे धर्मा यस्मिन् तम् । वैश्वानरं परमात्मानम् अभि सं नवन्त अभि संस्तुवन्ति देवाः । तथा अध्वराणां सर्वविधहिंसाविवर्जितानां कर्मणां रथ्यं रथिनम् कर्मणां वाहकं फलदायकं च, यज्ञस्य सत्कर्मणः केतुं विज्ञापकं च त्वां परमात्मानं देवा जनयन्ति प्रत्यक्षितं कुर्वन्ति ॥ ३।३ ॥

११४३. प्र वो मित्राय गायत वरुणाय विपा गिरा । महिक्षत्रावृतं बृहत् ॥ १।४ ॥ (ऋ० ५।६८।१)

प्र वो मित्रायेति । यजत आत्रेय ऋषिः । मित्रावरुणौ देवता । गायत्री छन्दः । आचार्यः शिष्यानुपदिशति, वो यूयं मित्राय स्निग्धाय वरुणाय वरणीयाय परमेश्वराय विपा प्रेरिकयातिमनोहरयेत्यर्थः । यद्यपि विपेति वाङ्नाम । (निघ० १।११।४१) तथापि गिरेतिप्रयोगात् विपेत्यस्य विशेषणत्वं कल्पनीयम् । गायत तं प्रसादयितुं स्तुवीत । कीदृशं मित्रं वा वरुणं वा ? महिक्षत्रौ महिक्षत्रं

महाधनम्। ज्ञानाद्येव तस्य धनम्। क्षत्रमितिधननाम (निघ० २।१०।९), ऋतं सत्यम्। बृहद् व्यापकम्॥ १।४॥

११४४. सम्राजा या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च।
देवा देवेषु प्रशस्ता॥ २।४॥ (ऋ० ५।६८।२)

सम्राजा येति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। गायतेति पूर्वस्मान्मन्त्रादनुवर्तते। मित्रवरुणशब्दयोरेकार्थवाचकत्वेपि द्वित्वं परिकल्प्य द्विवचनप्रयोगो वेदमार्गानुसारेणेति बहुश उक्तम्। सम्राजा सम्यग् राजमानं घृतयोनी घृतस्य दीप्त्यास्तेजसो योनिः कारणं मित्रः स्निग्ध आर्द्र इत्यर्थः। वरुणो वरणीय। देवेषु प्रशस्तगुणेषु जनेषु प्रशस्ता प्रशस्तो देवा देवो यौ योस्ति तं गायत स्तुवीत। मन्त्रे चकारद्वयं धर्मभेदेन धर्मिभेदं काल्पनिकं सूचयति। उभेतिपदं परिकल्पितं तं धमिभेदं स्वीकृत्य प्रयुक्तम्॥२।४॥

११४५ ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य।
महि वां क्षत्रं देवेषु॥ ३।४॥ (ऋ० ५।६८।३)

ता न इति। तेति द्विवचनं पूर्ववज्ज्ञेयम्। सः परमस्निग्धो वरणीयश्च परमात्मा पार्थिवस्य पृथिव्याः अन्तरिक्षस्यान्तःकरणस्येत्यर्थः। प्रथते इति पृथिवी। प्रथ विस्तारे। प्रथेः षिवन्.... सम्प्रसारणं च (उ० १।१५०)। षित्वान् ङीप् (पा० ४।१।४१)। दिव्यस्यालौकिकस्य रायो दीयमानस्य तत्त्वस्य ज्ञानस्येत्यर्थः। महस्तेजो नोस्मभ्यं दातुमिति शेषः। शक्तं शक्तोस्ति। हे मित्र हे वरुग वां तव क्षत्रं धनं वलं वा देवेषु सर्वदेवापेक्षया महि महदस्ति॥ ३।४॥

११४६. इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः।
अण्वीभिस्तना पूतासः॥ १।५॥ (ऋ० १।३।४)

इन्द्रा याहीति। मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः, हे इन्द्र भूतानां प्रकाशक। इन्धे भूतानीति वेति यास्कः (नि० १०।८)। हे चित्रभानो आश्चर्यप्रदतेजस्क परमेश्वर, त्वायवस्त्वां कामयमाना इमे सुताः पुत्रास्तवेति शेषः। एते पूतासः पूताः पवित्रा भवन्तस्तना धनानि। तनेति धननाम (नि० २।१०।१५) सत्याहिंसादि रूपाणि। अण्वीभिरल्पाभिरपि तव कृपाभिः प्राप्नुवन्त्वितिशेषः। इतिहेतोरायाहि आगच्छ ॥१।५॥

११४७. इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २।५ ॥ (ऋ० १।३।५)

इन्द्रा याहि धियेषीति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्द्र परमेश्वर, आ याहि आगच्छ। कीदृशस्त्वम् ? धिया बुद्ध्या भक्तिरूपया। भक्तिर्धीविशेषः। इषितः कामितः। विप्रजूतो विप्रैर्मेधाविभिः प्राप्तः। जु गतौ। आगत्य च सुतावतो भक्तयुक्तस्य वाघत उपासकस्य मुख्यस्त ब्रह्माणि ब्रह्मप्रतिपादवाक्यानि स्तोत्राणि वा उप समीपतोनुभव ॥ २।५ ॥

११४८. इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ३।५ ॥ (ऋ० १।३।६)

इन्द्रा याहि तूत्विति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। इन्द्र आ याहि, हे हरिवः आगच्छ। हरन्ति दोषानिति हरयः शक्तयस्तद्वन् हरिवः। मतुपि 'छन्दसीरः' (पा० ८।२।१५) इति मकारस्य वत्वम्। सम्बुद्धौ उगिदचामिति नुमि संयोगान्तलोपे नकारस्य "मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि" (पा० ८।३।१) इति रुत्वम्। विसर्गः। कीदृशस्त्वम् ? तूतुजानस्त्वरमाणः। न भक्ता वयं त्वदागमनविलम्बं सहामहे। त्वमपि न सहसे भक्ताननुग्रहीतुं विलम्बम्। आगत्य ब्रह्माणि स्तोत्राणि उप समीपस्थः सन्

शृण्विति शेषः। सुते उत्पादिते प्रारब्ध इत्यर्थः। अस्मिन् भक्तिरूपे कर्मणि नोऽस्माकं चनो देयं वस्तु दधिष्व धारयाङ्गीकुर्वित्यर्थः। चनेति अन्ननाम (निघ० ४।३।६४) पच्यत इति पचनम्। पचनेत्यत्र पकारलोपः सकारोपजनश्च ॥ ३।५॥

११४९. तमीडिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत्।

कृष्णा कृणोति जिह्वया ॥ १।६॥ (ऋ० ६।६०।१०)

तमीडिष्वेति। भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः, इन्द्राग्नी देवते। गायत्री छन्दः, हे शिष्य, य इन्द्रोऽग्निर्वा इन्द्राख्योऽन्याख्यो वा परमेश्वरोऽर्चिषा स्वतेजसा विश्वा विश्वान् वना वनानि रश्मीन्। वनमिति रश्मिनाम (निघ० १।५।८)। परिष्वजत् परितो वेवेष्टि यश्च विश्वानि वनानि तेजांसि कृष्णा कृष्णानि जिह्वया जयनशक्त्या। जयति यया सा जिह्वा शक्तिः। शेवायह्वजिह्वा (उ० १।१५४) इत्यादिना निपातितो जिह्वाशब्दः। तमीडिष्व स्तुहि ॥ १।६॥

११५०. य इद्ध आ विवासति सुम्नमिन्द्रस्य मर्त्यः।

द्युम्नाय सुतरा अपः ॥ २।६॥ (ऋ० ६।६०।११)

य इद्ध इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। यो मर्त्यो भक्तमनुष्य इद्धे दीप्ते ज्ञानादिना संस्कृते आत्मनीतिशेषः। इन्द्रस्य परमात्मनः सुम्नं सुखम् आ विवासति समन्तात्परिचरति तत्सुखमात्मन्यानयति परमात्मस्वरूपो भवतीतिभावः। तस्य द्युम्नस्य तेजःस्वरूपस्य अपोऽपांसि कर्माणि सुतरा -सुतराणि स्युः। परमात्मन आनन्दमनुभवतः कस्यापि शास्त्रीयकर्मणो न विद्यते तस्यावश्यकर्तेतितात्पर्यम् ॥ २।६॥

११५१. ता नो वाजवतीरिष आशून् पिपृतमर्वतः ।
एन्द्रमग्निं च वोढवे ॥ ३।६ ॥ (ऋ० ६।६०।१२)

ता न इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्द्राख्य परमेश्वर, अग्न्याख्य परमेश्वर। न हि द्विधा परमेश्वरः। विशेषणभेदेन विशेष्ये भेदः परिकल्पितः। ता तौ स प्रसिद्धो युवां त्वम्। नोऽस्माकं वाजवतीर्बलवत्त इष इष्टान् पदार्थान् आशून् शीघ्रगामिनीर्दूरगामिनीरर्वतः प्रज्ञाः शक्तीर्वा पिपृतं पिपूर्हि देहीतिभावः। किमर्थम्? इन्द्रं परमैश्वर्यमग्निं सर्वव्यापकं च त्वां वोढवे वोढुं स्वहृदयं प्रापयितुम् ॥ ३।६ ॥

इति तृतीयः खण्डः



अथ चतुर्थः खण्डः

११५२. प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरम्। मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे †शतयाम्ना पथा ॥ १।७ ॥ (ऋ० ९।८६।१६)

प्रो अयासीदीति। सिकता निवावरी ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, जगती छन्दः, व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।७ ॥

११५३. प्र वो धियो मन्द्रयुवो विपन्युवः पनस्युवः *संवरणेष्वक्रमुः। §हरिं §क्रीडन्तमभ्यनूषत स्तुभोऽभि धेनवः पयसेदशिश्रयुः॥ २।७ ॥ (ऋ० ९।८६।१७)

† शतयाम्नेत्यृक्पाठः। ‡ पूर्वाचिके ५५७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
* संवसनेष्वेत्यृक्पाठः। § सोममित्यृक्पाठः।
$ मनीषा अस्येत्यृक्पाठः। & पयसेम... इत्यृक्पाठः।

प्रवो धिय इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे सोमाख्य परमेश्वर, मन्द्रयुवो हर्षं कामयमानाः । पनस्युवः स्तुतिं कामयमानाः । विपन्युवो विपन्यवो मेधाविनः । संवरणेषु संवरणकालेषु मृत्युकाल इति यावत् । वस्तव, धियः कर्माणि । प्र अक्रमुः । प्रक्रान्ताः । कर्तुमारभन्त इत्यर्थः । स्तुभः स्तोतारः । क्रीडन्तं रममाणं जगद्रचनामिषेणेतियावत् । तम्परमेश्वरमभ्यनूषत अभिष्टुवन्ति । धेनवः पातारः परमेश्वररसपातारः सदाचारादिना परमेश्वरतर्पका वा भक्ताः पयसा इत् वृद्धया एव हेतुना । हेतौ तृतीया । अभि अशिश्रयुः अभितः श्रयन्त्याश्रयन्ति ॥ २।७ ॥

११५४. आ नः सोम संयतं पिप्युषीमिषमिन्दो पवस्व
पवमान †ऊर्मिणा । या नो दोहते त्रिरहन्नसश्चुषी
क्षुमद्वाजवन्मधुमत्सुवीर्यम् ॥ ३।७ ॥ (ऋ० ९।८६।१८)

आ नः सोमेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे सोम शान्त इन्दो, देदीप्यमान, हे पवमान परमेश्वर, नोस्मभ्यं संयतं सुरक्षितं पिप्युषी प्रवृद्धम् । ओप्यायी वृद्धौ । इषमिष्टं ज्ञानादिकं पवस्व प्रापय देहि । किं च याअसश्चुषी अप्रतिवन्धा स्थिरा वा । सश्चतिर्गत्यर्थः । अहन्नहनि त्रिः त्रिःकृत्वः क्षुमच्छब्दवत् । टुक्षुशब्दे । वाजवच्छ्रद्धाधनवत्, सुवीर्यं सुदृढं ध्यानं तवेतिशेषः । दोहते ददाति तां भक्तिमपि पवस्वेत्यध्याहार्यम् ॥ ३।७ ॥

११५५. न किष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् । इन्द्रं न
यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णु‡मोजसा ॥ १।८ ॥
(ऋ० ८।७०।३)

† अस्रिधमित्यृक्पाठः । ‡ धृष्ण्वोजसमित्यृक्पाठः ।

न किष्टमिति। पुरुहन्मा आङ्गिरस ऋषिः। इन्द्रो देवता। प्रगाथः विषमा बृहती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ ११८ ॥

११५६. अषाढमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः ‡क्षामीरनो-
नवुः ॥ २१८ ॥ (ऋ० ८।७०।४)

अषाढमुग्रमिति। ऋषिदेवते उक्ते। छन्दः प्रगाथः समा सतो बृहती। अषाढमसोढं केनाप्यधृष्टमधृष्यं च। उग्रं भयङ्करम्। पृतनासु सर्वविधसंग्रामेषु सासहिं शत्रूणामभिभवितारम्। न हि परमेश्वरस्य कोपि शत्रुः। यः सदा दुर्विनयेन प्रजासु वर्तते दुर्विनयां च प्रजां करोति स परमेश्वरस्य शत्रुर्लोकैः परिगण्यते। इत्थम्भूतं परमात्मानमाश्रयाम इति भावः। यस्मिञ्जायमाने उपास्यमाने महीर्महत्य उरुज्रय बहुवेगाः। ज्रयतिर्गत्यर्थो धातुः। धेनवो वाचः। धेनुरिति वाङ्नाम (निघ० १।११) सम् अनोनवु। संस्तुवन्ति तमेव। द्यावो द्युलोकवासिनः। क्षामीः पृथिवीवासिनश्च। क्षामः क्षमा इति पृथिवीनाम (निघ० १।१)। समनोनवुः संस्तुवन्ति ॥ २१८ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

अथ पञ्चमः खण्डः

११५७. सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्रगायत।
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥ ११९ ॥ (ऋ० ९।१०४।१)

† पूर्वार्चिके २४३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ क्षामो अनोनवुरिति पाठः।

सखाय आ नीति। पर्वतनारदौ काण्वावृषी, पवमानः सोमो देवता, उष्णिक् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।९ ॥

११५८. समी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम्।
देवाव्यं३मदमभि द्विशवसम् ॥ २।९ ॥ (ऋ० ९।१०४।२)

समी वत्समिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। आचार्य उपदिशति। ईम् एनद् गयसाधनं ज्ञानरूपधनसाधनं तद्वर्तनं मातृभिर्वत्समिव युष्मदन्तःकरणवृत्तिभिः सं सृजत संश्लिष्टं कुरुत। सद्वर्तनसंश्लेषेण च देवाव्यं देवैर्विद्वद्भिरव्यं रक्षणीयं द्विशवसं द्विगुणितं शवो वलं येन तं मदमानन्दमभि अभितो लभध्वम्। गण इति धननाम (निघ० २।१०)। शव इति वलनाम ॥ २।९ ॥

११५९. पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्धाय वीतये।
यथा मित्राय वरुणाय ‡शन्तमम् ॥ ३।९ ॥ (ऋ० ९।१०४।३)

पुनातेति। ऋष्यादय उक्ताः, शर्धाय बलाय। वीतये कान्तये प्रतिभायै। यथा शंतमं हितकरं वर्धकं वा भवति तथा पुनात पुनीत पवित्रं कुरुत। किं च मित्राय परमसुहृदे वरुणाय वरणीयाय परमेश्वराय च प्रसादकं भवति तथा तत्सद्वर्तनमङ्गीकुरुत ॥३।९॥

११६०. प्र *वाज्यक्षाः सहस्रधारस्तिरः पवित्रं वि वारमव्यम्
॥ १।१० ॥ (ऋ० ९।१०९।१६)

प्र वाज्यक्षा इति। अग्नयो धिष्ण्यो ऐश्वरा ऋषयः, पवमानः सोमो देवता, द्विपदा विराट् छन्दः। सहस्रधारः सहस्रधा इयर्ति

† पूर्वार्चिके ५६८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ शंतम इत्यृक्पाठः।

* सुवानो अक्षाः इत्यृक्पाठः।

ऋच्छति गच्छति स सहस्रधारः। अथवा सहस्राणि धाराः सत्यासत्यरूपा वाचो यस्य सः जीवः। धारेति वाङ्नाम (निघ० १।११। २)। अव्यमवकं वारं वरणीयं पवित्रं स्वभावशुद्धं परमात्मानं तिरः तिरस्कृत्य वाजी गमनशीलो भवन् प्र वि अक्षाः विविधेपूच्चावचेषु मार्गेषु प्रकर्षेण क्षरति धावतीत्यर्थः ॥ १।१० ॥

११६१. स वाज्यक्षाः सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः
श्रीणानः ॥ २।१० ॥ (ऋ० ९।१०९।१७)

स वाज्यक्षा इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। सहस्ररेता अनेकवीर्यः सन् अद्भिः प्राप्तैर्विद्वद्भिर्मृजानः शोध्यमानः। गोभिः सद्वचनैः श्रीणानः परिपच्यमानः पक्वबुद्धिः क्रियमाणः स वाजी लोकाल्लोकं व्रजन्नात्मा अक्षाः क्षरति चलितो भवति। कुमार्गे व्रजन् स विद्वद्भिर्बोध्यमानः कुमार्गाच्चलितो भवतीतिभावः ॥ २।१० ॥

११६२. प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षा नृभिर्येमानो अद्रिभिः
सुतः ॥३।१०॥ (ऋ० ९।१०९।१८)

प्र सोमेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सोम जीवात्मन्, नृभिर्नीतिमद्भिर्जनैः। येमानो नियम्यमानो नीतिमार्गे प्रेर्यमाणः। अद्रिभिरविदरणशीलैर्वचनैः सुतो निष्पाद्यमानः शोध्यमानो वा त्वमिन्द्रस्य परमात्मनः कुक्षा कुक्षौ शरणं याहि गच्छ ॥ ३।१० ॥

११६३. ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे।
ये वादः शर्यणावति ॥१।११॥ (ऋ० ९।६५।२२)

ये सोमास इति। भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा ऋषिः। पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। ये सोमासः भक्तजीवाः। वमनमुमः। छान्दसः कः सम्प्रसारणं च। उमेन सह वर्तन्ते ते सोमाः। भक्तजनाः। सांसारिकविषयाणां वमनं कृतम्, ततोग्राह्यं

हि पुनस्तत् तेषाम्। परावति दूरदेशे ये च अर्वावति समीपदेशे सुन्विरे परमेश्वरभक्ति सुन्वन्ति कुर्वन्तीतिभावः। ये वा जना शर्यणावति कुरुक्षेत्रस्य कस्मिंश्चिद्भागे (प्रदेशे) अद अमूं भक्तिं कुर्वन्ति ॥ १।११ ॥

११६४. य आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम्।
ये वा जनेषु पञ्चसु ॥ २।११ ॥ (ऋ० ९।६५।२३)

य आर्जीकेष्विति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। ये सोमा ऋजीकानां समीपस्थे प्रदेशे कृत्वनामनि प्रदेशे वा। पस्त्यानां प्रदेशविशेषाणाम्। सरस्वत्यादीनां नदीनामिति सायणाचार्यः। मध्ये समीपे ये वा पञ्चसु जनेषु पञ्चनदेष्वित्यर्थः। अमूं भक्तिं कुर्वन्ति ॥ २।११ ॥

११६५. ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम्।
स्वाना देवास इन्दवः ॥ ३।११ ॥ (ऋ० ९।६५।२४)

ते नो वृष्टिमिति। ते पूर्वोक्ता भक्ता स्वानाः सुखेन प्राणन्तो देवासो दिव्यगुणा इन्दवः समृद्धिशालिनश्च सन्तो नोऽस्मभ्यं दिवस्परि दिवं परित्यज्य। द्युलोकभवां मोहिनीं सम्पत्तिं परित्यज्य सुवीर्यं शोभनवीर्यवत् वृष्टिं वर्षणमापवन्तां प्रेरयन्तु ॥ ३।११ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

अथ षष्ठः खण्डः

११६६. आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्।
अग्ने त्वां कामये† गिरा ॥ १।१२ ॥ (ऋ० ८।११।७)

---

† 'कामया' इत्यृक्पाठः।

आ ते वत्स इति । वत्सः काण्व ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।१२॥

११६७ पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि ‡ दिशो विश्वा अनु प्रभुः ।
समत्सु त्वा हवामहे ॥ २।१२ ॥ (ऋ० ८।११।८)

पुरुत्रा हीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे अग्ने सर्वव्यापक परमेश्वर, त्वं पुरुत्रा बहूनां सर्वेषां त्रातासि । सदृङ् असि समानं द्रष्टासि । विश्वाः सर्वासां दिशो दिशाम् । अनु समानरूपेण । प्रभुः स्वाम्यसि । अन्विति सादृश्यापरभावम् (नि० १।३) । षष्ठ्यर्थे द्वितीया । अथवा सर्वा दिशोनुलक्ष्य प्रभुरसीतियोजना । समत्सु भक्त्युत्सवरूपपरमानन्दावसरेषु । समदो वात्तेः, सम्मदो वा मदतेरितियास्कः (नि० ९।१७) । सम्पूर्वाद् मदो हर्षे इत्यस्मात्क्विपि समो मलोप आर्षः । त्वा त्वां हवामहे आह्वयामश्चिन्तयामः ॥२।१२ ॥

११६८. समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे ।
वाजेषु चित्रराधसम् ॥ ३।१२ ॥ (ऋ० ८।११।९)

समत्स्वेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । वाजेषु सर्वेषु धनेषु चित्रराधसमाश्चर्यप्रदसिद्धिम् । अग्निमग्ने नेतारम् । अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः न क्नोपयति न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्योजायत इति शाकपूणिः—इताद् अक्ताद् दग्धाद्वा नीतात् । स खलु एतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः इति यास्कः (नि० ७।१४) । अवसेऽस्मद्रक्षणार्थम् । वाजयन्तो बलं

† पूर्वार्चिके ८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ 'विशः' इत्यृक्पाठः ।

मानसिकं कामयमाना वयम् । समत्सु भविकाभविकलोभसंग्रामेषु । हवामहे आह्वयामः ॥ ३।१२ ॥

११६९. त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे ।
आ वीरं पृतनासहम्† ॥ १।१३॥ (ऋ० ८।९८।१०)

त्वं न इन्द्रेति । नृमेध आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, ककुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।१३ ॥

११७०. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अथा* ते सुम्नमीमहे ॥ २।१३ ॥ (ऋ० ८।९८।११)

त्वं हि न इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे शतक्रतोनन्तवीर्य, वसो सर्वेषां वासयितः, परमेश्वर, त्वं नो माता त्वं पिता जनकः पालको वा बभूविथासि । हिर्निश्चयार्थकः । अथातस्ते तव मातुः पितुश्च सुम्नं सुखमीमहे याचामहे ॥ २।१३ ॥

११७१. त्वां शुष्मिन् पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे सहस्कृतऽ ।
स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ३।१३ ॥ (ऋ० ८।९८।१२)

त्वां शुष्मिन्निति । ऋषिदेवते पूर्ववत् । छन्दस्तु पुर उष्णिक् । हे शुष्मिन् परमबलवन् पुरुहूत बहुभिरखिलैर्हूताथित, सहस्कृत सहसा बलेन कृत सम्पादित ध्यात इन्द्र परमेश्वर, वाजयन्तमस्मदर्थं धनं शमदमादिरूपं बलं वा मानसिकमिच्छन्तं त्वां सर्वशक्तिमन्तम् । उप ब्रुवे उपस्तुमः । एकवचनं बह्वर्थे । ततः स त्वं नोस्मभ्यं सुवीर्यं सुबलं ज्ञानादिसम्पन्नं मानसिकम् । रास्व देहीति ॥ ३।१३ ॥

† पृतनाषहम् इत्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके ४०५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

* अधेत्यृक्पाठः । ऽ शतक्रतो इत्यृक्पाठः ।

११७२. यदिन्द्र चित्र म† इह नास्ति त्वादातमद्रिवः ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्याभर ॥ १।१४ ॥
(ऋ० ५।३९।१)

यदिन्द्र चित्रेति । अत्रिर्भौम ऋषिः. इन्द्रो देवता, अनुष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ॥ १।१४ ॥ ‡

११७३. यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर । विद्याम
तस्य ते वयमकूपारस्य *दावनः ॥ २।१४ ॥ (ऋ० ५।३९।२)

यन्मत्यस इति । ऋष्यादयः उक्ताः । हे इन्द्र परमेश्वर, यद्वस्तु वरेण्यं वरणीयमस्माभिः संग्रहणीयं मन्यसे धारयसि तद् द्युक्षं क्षिप्रम् दिव्यं वा । द्युक्षमित्यन्ननामेति सायगः । आ भराहर । वयमुपासकाः । तस्य ते तव । अकूपारस्याकुपरणस्या कुत्सितं पालनं पूरणं वा यस्या तस्य । द्वितीयार्थे षष्ठी । तदित्यर्थः । कोर्दीर्घत्वं छान्दसम् । यस्यागमेन न वयं दूष्याः स्यामेति तात्पर्यम् । दावनो दानस्य दानमित्यर्थः । दाधातोर्वनिप् । विद्याम लभेमहि ॥ २।१४ ॥

११७४. यत्ते दित्सु§ प्रराध्यं मनो अस्ति श्रुतं बृहत् ।
तेन दृढा चिदद्रिव आ वाजं दर्षि सातये ॥ ३।१४ ॥
(ऋ० ५।३९।३)

---

† मेहनास्तीत्यृक्पाठः ।
‡ पूर्वार्चिके ३४५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
* दावने इत्यृक्पाठः ।
§ दित्सु इत्यृक्पाठः ।

यत्ते दिक्ष्विति। ऋष्यादय उक्ताः, हे अद्रिवः सर्वानिष्टदारण-समर्थ, दिक्षु चतसृषु यत् ते तव प्रराध्यं प्रकर्षेण राध्यं साध्यं मनो मननीयं बृहन्महद् श्रुतं ज्ञानमस्ति वर्तते तेन ज्ञानेन तज्ज्ञान-प्रदानेन। सातये लाभायास्मद्धितायेत्यर्थः। दृढमविकम्पं वाजं धनं शान्तिरूपं आ दर्षि आदर्शय। अथवा वा, अजमितिच्छेदः। अजमज्ञानम्। दृढाचित् दृढमपि। अनादिकालादेव प्रवृत्तमपि। आ दर्षि आदृणीहि विदारयेति भावः। वेति पादपूरणार्थम्॥ ३।१४॥

इति षष्ठः खण्डः।

इति चतुर्थेप्रपाठके द्वितीयोर्धः। चतुर्थःप्रपाठकश्च समाप्तः।

इति अष्टमोध्यायः

अथ नवमोध्यायः

अथ पञ्चमप्रपाठके प्रथमोर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

११७५. शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति विप्रं† मरुतो गणेन। कविर्गीर्भिः काव्येना कविः सन्त्सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥ १।१॥ (ऋ० ९।९६।१७)

शिशुमिति। प्रतर्दनो दैवोदासिर्ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः। मरुतामितं रोचमाना विद्वांसः। मृजन्ति शोधयन्ति। सोमम् आत्मानमितिशेषः। कीदृशं सोमम्? जज्ञानं ज्ञानेपूत्पन्नं ज्ञानेच्छासम्पन्नमिति भावः। शिशुमुपलब्धज्ञानेनाविद्यां तनूकुर्वन्तम्। विप्रं विशेषेणात्मानमेव सत्यसदाचारादिभिः पूरयन्तम्। हर्यतं सर्वत्र सर्वासु योनिषु वा गच्छन्तम्। हर्य गतिकान्त्योः। भृमृदृशि यजी (उ० ३।११०) इत्यादिना अतच्। गणेन धर्मार्थकामादिना विवेकवैराग्यादिना वा मोक्षं परमार्थं परमप्राप्नुवन्तः। शुम्भन्ति शोभयन्ति। विद्वांसः स्वतः परमपुरुषार्थं प्राप्नुवन्तस्तदर्थं प्रयतमाना अन्यानपि तामेव दिशं नयन्तीतिभावः। तेषां गीर्भिरुपदेशवाग्भिः। काव्येनर्ग्वेदादिना च। कविःक्रान्तदर्शी सम्भवन्। सोम आत्मा कश्चिदितिभावः। रेभन् ओमादिशब्दं कुर्वन् ओमिति शब्दं रटन् जपन् वा। पवित्रं परमपवित्रं

---

† वह्निमित्यृक्पाठः।

परमात्मानम् । अति अतिशयेन । एति प्राप्नोति । कीदृशः सोमः ? कविः स्वरूपतो ज्ञानवान् । 'सोयं पुरुषः सर्वमयः सर्वज्ञानोपि क्लृप्तः' इति यास्कः (नि० १४।५) ॥ ३।१ ॥

११७६. ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः †सहस्रनीथः पदवीः
कवीनाम् । तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो
विराजमनु राजति ष्टुप् ॥ २।१ ॥ (ऋ० ९।९६।१८)

ऋषिमना इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । स सोम आत्मा विराजं विराट्स्वरूपं विदीप्तं वा परमात्मानम् । अनु राजति अनुशोभते । पूर्वोक्तमन्त्रोक्तरीत्याचरन्नात्मा पश्चात्परमात्मशोभां धत्त इतिभावः। कीदृशः सोमः ? यः ऋषिमना ऋषिर्वेद ईश्वरो वा । तस्मिन्मनो यस्य, वेदमननशीलः परमात्ममननशीलो वा । ऋषिकृत् यः सर्वेषां वेदानां कर्ता ज्ञाता वा । स्वर्षाः स्वरादित्यः । तं सनुते विभजतीति । आदित्यपदं दिनोपलक्षकम् । कदा कस्मिन्वा दिने किं कर्तव्यमिति कर्मविभाजनमेवादित्यविभाजनं ज्ञेयम् । सहस्रनीथः सहस्राणि नीथाः स्तुतयो यस्य सः । कवीनां क्रान्तदर्शिनां सर्वज्ञानां पदवीः पदगन्ता । महिषो महान् । तृतीयं धाम स्वर्लोकम् । भूरिति प्रथमं धाम परमात्मनः । भुवरिति द्वितीयम् । स्वरिति तृतीयम् । स्वयं राजत इति स्वर् । प्रकाशस्वरूपमिति यावत् । 'धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानी'ति (नि० ९।२८) यास्कोक्तं धामात्र न विवक्षितम् । यदीदमेव विवक्षितमत्रेति कस्यचिदाग्रहस्तर्हि व्युत्क्रमेण तृतीयं ग्राह्यम् । तच्च स्थानरूपम् । यथोक्तक्रमेण ग्रहणे तु न वेदार्थसिद्धिः । कश्चिद्यदि परमात्मनो जन्म सिषासेन्मूर्ख एव सः । नाजन्मनो जन्मसिद्धिः । ननु परमेश्वर-

† सहस्रणीथ इत्यृक्पाठः ।

स्यापि जन्मास्त्येव परं तन्न कर्मायत्तं स्वेच्छायत्तमेवेति चेत् भ्रान्तोसि। कर्मायत्तं स्वेच्छायत्तं वापि जन्म जन्मैव। अजन्मेति श्रुत्या श्रावितम्। नहि स्वेच्छायत्तं जन्म गृह्णन्नजन्मेति वक्तुं शक्यः परमात्मा। नाम सिषासन्नपि मूस्वं एव। न हि परमेश्वरस्य किञ्चिन्नियतं नाम। परमेश्वरः परमात्मेति ना नहि तस्य नाम। गुणबोधकं हि तत्पदम्। एवं च जन्मरूपं तृतीयं धामासिद्धमेव। अगत्या व्युत्क्रमः स्वीकर्तव्यः। अथवास्थानेत्र निरुक्तोक्तधामग्रहणम्। औपधेरेव तत्र प्रकरणम्। न हि प्रकरणान्तर उक्तं प्रकरणान्तरेनुसञ्जयितुं युक्तम्। सिषासन् प्रेप्सन्। धातूनामनेकार्थत्वात्। ष्टुप् स्तुप् स्तूयमानः। परमात्मनि प्रयतः प्रवणश्चात्मा सर्वैः स्तुत्य एव भवतीतिभावः ॥ २।१ ॥

११७७. चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्। अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥ ३.१ ॥ (ऋ० ९।९६।१९)

चमूषच्छ्येन इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। सः सोमः परमेश्वरप्रवण आत्मा तुरीयं वागतीतं धाम स्वरूपं विवक्ति सेवते। कथंभूतः सः? चमूषत् चमति सर्वानत्ति प्रलयकाले इति चमूः परमात्मा। तस्मिन्निषीदतीति सः। श्येनः शंसनीयः। श्येनः शंसनीयं गच्छति' (नि० ४।२६)। शकुनः शक्तिशाली। 'शकेरुनोन्तो....' (उ० ३।४९) इति शकेरुनः। विभृत्वा परमेश्वरे विहरणशीलः। हरतेः क्वनिप्। गोविन्दुः गोर्ज्ञानं तस्य विन्दुलम्भकः। विद्लृ लाभे। 'विन्दुरिच्छुः' (पा० ३।२।१६९)। द्रप्सो भक्त्या द्रवणशीलः भक्त्या सम्भृतो वा। द्रप्सः संभृतः प्सानीयो भवतीति यास्कः (नि० ५।१४)। आयुधानि शमदमादीनि मनोनिग्रहसमर्थानि। बिभ्रत् धारयन्। अपां जगतामूर्मिं प्रेरकं परमेश्वरं

सचमानः सेवमानः। महिपो महान्। कीदृशं तुरीयं धाम ? समुद्रं समेषां सम्मोदकम्। समुद्रः कस्मात् ? समुद्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेस्मिन्भूतानि ....इति यास्कः (नि० २।१०)। संख्यासंख्येयातीतत्वं ब्रह्मणो धाम्नो द्योतयितुमेव तुरीयपदोल्लेखः। आनन्दो ह्यखण्डोखण्डयश्च। न हि तस्यावयवा विद्यन्ते। यानाश्रित्य प्रथमद्वितीयतृतीयतुरीयादीनां व्यवहारो भवेत्। आनन्दो हि ब्रह्म। स एव तस्य स्वरूपम्। न हि तत्र तृतीयतुरीयत्वादीनामवसरः। आनन्त्याखण्डत्वादिद्योतनायैव तथाविधपदप्रयोगो विज्ञेयः ॥ ३।१ ॥

११७८. एते सोमा अभि प्रियमिन्द्रस्य काममक्षरन्।
वर्धन्तो अस्य वीर्यम् ॥ १।२ ॥ (ऋ० ९।८।१)

एते सोमा इति। असितः काश्यपो देवलो वर्षिः। पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। एते सोमा भक्ता आत्मान इन्द्रस्य परमेश्वरस्यास्योपासकहृदयस्थस्य वक्तृहृदयस्थस्य वा। वीर्यं शक्तिं रक्षणसामर्थ्यं वर्धन्तो वर्धयन्तः प्रियं प्रीतिकरं काममभिलाषमभि अक्षरन् अभिवर्षन्ति सम्पादयन्तीति यावत्। अयमाकूतः। परमेश्वरस्य वलं तु अनन्तमेव। न हि तत्र ह्रासो न वा वृद्धिः। वर्धन्त इत्युक्तिस्तु साधकश्रेयःसाधनार्था। साधकस्य कामादिदुर्जयारिविजयार्थं विजयसाधनीभूतविवेकवैराग्यादिसाधनवृद्धिरपेक्षितैव। यथा पुत्रवृद्धिः पितृवृद्धिरभिमता तथैव साधकाभिवृद्धिः साध्यस्य परमेश्वरस्याभिवृद्धिरभिमता ॥ १।२ ॥

११७९. पुनानासश्चमूषदो गच्छन्तो वायुमश्विना।
ते नो †धत्त सुवीर्यम् ॥ २।२ ॥ (ऋ० ९।८।२)

पुनानास इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। अश्विनौ वैदिककाले

† धान्त्विति ऋक्पाठः।

कौचन प्रसिद्धौ देवौ। चमूषदः परमात्मप्रवणा आत्मानोऽश्विनौ च देवौ पुनानासः सत्यसदाचारैः पवित्रीभवन्तो वायुं सर्वगं परमात्मानं गच्छन्तो गच्छन्ति। ते परमेश्वरं प्रति गन्तारः पवित्रात्मानः। नोऽस्मासु। सप्तम्यर्थे षष्ठी। सुवीर्यं शोभनं सामर्थ्यं परमात्मानं प्रति गमनाय धत्त दधतु॥ २।२॥

११८०. इन्द्रस्य सोम राधसे पुनानो हार्दि चोदय।
†देवानां योनिमासदम्॥ ३।२॥ (ऋ० ९।८।३)

इन्द्रस्य सोमेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सोम पवित्र जीवात्मन्, इन्द्रस्य परमेश्वरस्य राधसे संराधनाय प्रीणनाय पुनानो मां पावयंस्तथा चोदय प्रेरय यथा देवानां विदुषां हार्दि प्रियमभिलषितं योनिं स्थानं परमात्मरूपमासदमासीदेयम्॥ ३।२॥

११८१. मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतयः।
अनु विप्रा अमादिषुः॥ ४।२॥ (ऋ० ९।८।४)

मृजन्ति त्वेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। दश क्षिप इन्द्रियाणि त्वा त्वां हे सोम मृजन्ति शोधयन्ति पावयन्ति। इन्द्रियाणां शुद्धिरेव जीवानां शुद्धिः। सप्त सप्तसंख्याका धीतयो ज्ञानभूमिकाः शुभेच्छा-सुविचारणातनुमानसासत्त्वापत्त्यसंसक्तिपदार्थाभाविनीतुरीयगास्त्वां हिन्वन्ति प्रेरयन्ति परमात्मप्राप्तये। विप्रा विद्वांसोऽनु अमादिषुः अनुमादयन्ति प्रसादयन्ति। ततस्त्वया परमात्मावाप्तय एव प्रयतितव्यमितिभावः॥ ४।२॥

११८२. देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानमति मेष्यः।
सं गोभिर्वासयामसि॥ ५।२॥ (ऋ० ९।८।५)

† ऋतस्यत्यृक्पाठः।

देवेभ्यस्त्वेति । ऋष्यादय् उक्ताः । हे सोम, त्वम् अति अतिशयेन । मेष्यः सेच्यः रक्षितव्य इत्याशयः । असि । मिषु सेचने । अतः देवेभ्य इन्द्रियेभ्यो दुष्पथगामिभ्यो वारयितुम् रक्षितुम् । मदाय प्रमोदायानन्दावाप्तय इत्यर्थः । कं सुखं सृजानमुत्पादयन्तं त्वां गोभिर्विद्याभिः सदुपदेशवाक्यैरिति यावत् । सं वासयामसि संवासयाम आच्छादयामः पूरयाम इत्यर्थः । अयं भावः । परमानन्दरूपताप्राप्तये जीवः शनैः शनैः क्रमिकं सुखं सृजति । तच्च सुखमिन्द्रियजयेनैव प्राप्तं भवति । रसनेन्द्रियजयेनास्वादाभिरुचिर्निवर्तते । घ्राणेन्द्रियजयेन सुगन्धदुर्गन्धज्ञानं निवर्तते तेन रागद्वेषाभावो भवति । चक्षुरिन्द्रियजयेन रूपेष्वाकर्षणं निवर्तते । एवमन्यद्विज्ञयम् । क्रमश इन्द्रियविषयविजयेन क्रमश आमोदः प्राप्यते । अन्ते च परमानन्दप्राप्तिर्भवति । एतद्विजयलाभायोपदेशवचनमपेक्षितम् । तद्विद्वदधीनम् । अतो विद्वांसः आश्वासयन्ति गोभिः सं वासयामसीति ॥ ५।२ ॥

११८३. पुनानः कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरिः ।
परि गव्यान्यव्यत ॥ ६।२ ॥ (ऋ० ९।८।६)

पुनान इति । ऋष्यादय उक्ताः, अरुषो रोषरहितः प्रसन्न इति यावत् । हरिः सर्वपापहर्ता परमेश्वरः कलशेषु जीवेषु । कलशः कस्मात् ? कला अस्मिञ् शेरते मात्राः इति यास्कः (निघ० ११।१२) । जीवेष्वपि परमात्मनः कलाः शेरते । जीवानां परमात्मनः कलात्वादंशत्वात्तथा प्रयोगो नान्याय्यः । वस्त्राणि आच्छादकानि आश्रयरूपाणि आ पुनानः आतन्वानः । औचित्याद्धातोरर्थान्तरता । गव्यानि गौर्वाक् गव्यान्यपि वाच एव । वेदरूपा वाचः । परि अव्यत । पर्यवति परिरक्षति । अथवा परिगमयति । अन्तर्भावितण्यर्थः अवधातुरवगमार्थोपि ॥ ६।२ ॥

११८४. मघोन आ पवस्व नो जहि विश्वा अप द्विषः ।
इन्दो सखायमा विश ॥ ७।२ ॥ (ऋ० ९।८।७)

मघोन इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्दो परमैश्वर्यसम्पन्न परमप्रकाशरूप इति वा । इदि ऐश्वर्ये; इन्धी दीप्तौ, उभाभ्यामेव धातुभ्यां निष्पाद्यतेयं शब्दः । मघोनो मघं महनीयं ज्ञानमस्ति येषां ते मघवानः । तान्मघोनो महनीयज्ञानवतो नोस्मान् प्रति आ पवस्व आक्षर, अस्मासु दयां वितरेति भावः । दयायाः फलमाह—विश्वाः सर्वा द्विषः कामक्रोधादिरूपाञ्छत्रून् अप जहि हिन्धि। सखायं सखीन् समानधर्मणोस्मानाविश समन्तात् प्रविश । जातावेकवचनम् । यावत्कामादयो रिपवो जीवेषु तिष्ठन्ति तावत्परमेश्वरस्य जीवेषु न प्रवेशः । अतः प्राथ्यंते, पूर्वं कामादीन् जहि पश्चात् नः प्रविश । यद्यपि सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य सर्वत्र प्रवेशः सिद्ध एव तथापि निर्विकाराणां जीवानां परमेश्वरज्ञानं भवत्विति तथोक्तिः ॥ ७।२ ॥

११८५. नृचक्षसं त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वर्विदम् ।
भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥ ८।२ ॥ (ऋ० ९।८।९)

नृचक्षसमिति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सोम परमात्मन्, वयमस्य मन्त्रस्य स्रष्टारस्त्वा त्वां भक्षीमहि भजेमहि भजामह इतिभावः । कीदृशं त्वाम् ? नृचक्षसं नृणां नराणां द्रष्टारम् रक्षितारमितिभावः । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । अत्र दर्शनार्थो धातुः । तथा हि यास्कोऽभिचष्टे, अभिपश्यतीति व्याख्यातवान् (नि० १०। २२; १२।२७) । इन्द्रपीतमिन्द्रैर्विद्वद्भिः पीतमास्वादितं सेवितं ध्यातं वा । स्वर्विदं सुखविदं सुखरूपमिति भावः । स्वः सारयति दुःखानीति निरुक्ताः । स्वर्ज्ञानमपि । सारयत्यज्ञानमिति । प्रजामिषं

प्रजातर्पकं प्रजाह्लादकम् । सर्वेषामानन्दप्रदातारमित्यर्थः । मिषु सेचने ॥ ८।२ ॥

११८६. वृष्टिं दिवः परि स्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि ।
सहो नः सोम पृत्सु धाः ॥ ९।२ ॥   (ऋ० ९।८।८)

वृष्टिमिति । ऋष्यादय उक्ताः, स एवर्षिः प्रजाश्रेयःसाधनार्थं परमात्मानं प्रार्थयते; हे सोम शान्त परमेश्वर, दिवो द्युलोकाद् पृथिव्या उपरि वृष्टिं वर्षणं जलप्रवाहं परि स्रव परिश्रावय वर्षयेति-भावः । द्युम्नमन्नम् अधि अधिकं परि स्रवोत्पादयेतिभावः । किं च पृत्सु भवेन सह जायमाने संग्रामे नोस्माकम् । अस्मास्वितिभावः । सहो बलं धा धेहि ॥ ९।२ ॥

इति प्रथमः खण्डः

अथ द्वितीयः खण्डः

११८७. सोमः पुनानो अर्षति सहस्रधारो अत्यविः ।
वायोरिन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १।३ ॥   (ऋ० ९।१३।१)

सोम इति । असितो देवलो वा काश्यप ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । अयं सोमः पवित्रात्मा जीवो वायोः सर्वगस्येन्द्रस्य सर्वैश्वर्यसम्पन्नस्य च परमेश्वरस्य निष्कृतं स्वयंसिद्धं स्थानं प्रत्यर्षति गच्छति । "निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्" (नि० १।३) इतियास्कवचनान्निरिति प्रतिलोमार्थमाह तेन निष्कृत-मित्यस्य न कृतमित्यर्थः । स च स्वयंसिद्धार्थे पर्यवस्यति । किं भूतः सोमः ? पुनान आत्मानं पावयन् । सहस्रधारः सहस्राणि धाराः

प्रार्थनावचनानि यस्य सः। बहुविधप्रार्थीतिभावः। अत्यविः सर्वेच्छाशून्यः। कान्त्यर्थो इहाविः। कान्तरिच्छा। यः सर्वा एव लौकिकीरिच्छा अतिक्राम्यति स एव परमात्मानं गन्तुं समर्थो भवतीतिभावः। मन्त्रर्षिवचनमेतत् ॥ १।३ ॥

११८८. पवमानमवस्यवो विप्रमभि प्र गायत।
सुष्वाणं देववीतये ॥ २।३ ॥ (ऋ० ९।१३।२)

पवमानेति। ऋष्यादय उक्ताः, हे अवस्यवोवनकामाः सोमाः, यूयं देववीतये देवः परमेश्वरस्तत्सविधे वीतये गमनाय परमात्मप्राप्तय इति भावः। पवमानं पवित्रकर्तारं सुष्वाणं सूयमानमुपदेशेन जीवान् परमेश्वरप्रवणान् कर्तारम्। विप्रं मेधाविनं विद्वांसं प्र गायत प्रार्थयध्वम्। विद्वदुपदेशेन हि जीवाः शुद्धाः पवित्राश्च भूत्वा पारमेश्वरं पदं प्राप्नुवन्तीति तात्पर्यम् ॥ २।३ ॥

११८९. पवन्ते वाजसातये सोमाः सहस्रपाजसः।
गृणाना देववीतये ॥३।३॥ (ऋ० ९।१३।३)

पवन्त इति। ऋष्यादय उक्ताः, सहस्रपाजसः सहस्राण्यनन्तानि पाजांसि बलानि येषां ते। पाजः पालनादिति यास्कः (नि० ६।१२)। पालनं हि बलेनैव भवति। पा रक्षणे। पातेर्बले जुट् च (उ० ४।२०८)। तथाभूता अपि सोमा जीवा अज्ञानात्स्वरूपं विस्मृत्य वाजसातये बलावाप्तये, गृणाना स्तूयमाना अपि, एते जीवा ब्रह्मांशा एव तदंशत्वात्स एव, तच्छरीरकत्वात्स एवेति वा सर्वैः स्तूयमाना अपि देववीतये परमेश्वरप्राप्तये पवन्ते इतस्ततो गच्छन्तीत्याश्चर्यम्। अथवा अनन्तबलवन्तः सन्तोपि ततोप्यधिकबलावाप्तये ज्ञानित्वेन स्तूयमाना अपि परमेश्वरप्राप्तये पवन्ते इति नाश्चर्यम् ॥ ३।३ ॥

११९०. उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरिषः ।
द्युमदिन्दो सुवीर्यम् ॥ ४।२ ॥ (ऋ० ९।१३।४)

उत न इति । ऋष्यादय उक्ताः, उत अपि च, नोस्माकं वाजसातये बलावाप्तये, हे इन्दो परमेश्वर, बृहतीर्महतीरिष इच्छाः द्युमत्प्रकाशवत्सुवीर्यं महत्सामर्थ्यं च पवस्व क्षर, देहीतियावत् ॥ ४।२ ॥

११९१. अत्या हियाना न हेतृभिरसृग्रं वाजसातये ।
वि वारमव्यमाशवः ॥ ५।२ ॥ (ऋ० ९।१३।६)

अत्या इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हेतृभिः प्रेरकैरश्वसंचालकैरत्या अश्वा न इव वाजसातये धनलाभाय ज्ञानधनलाभाय हेतृभिः प्रेरकैः सदाचार्यैर्हियानाः प्रेर्यमाणाः । हि गतौ । आशवः शीघ्रगामिनो जिज्ञासवोव्यं दीप्यमानं वारं वरणीयं परमेश्वरं प्रति वि असृग्रं विसृज्यन्ते प्रेष्यन्ते ॥ ५।२ ॥

११९२. ते नः सहस्रिणं रयिं पवन्तामा सुवीर्यम् ।
स्वाना† देवास इन्दवः ॥ ६।२ ॥ (ऋ० ९।१३।५)

ते न इति । ऋष्यादय उक्ताः, आचार्योभिलषति—ते नोस्माकं स्वानाः सूयमाना शिक्षादीक्षानिरीक्षादिभिर्निष्पाद्यमाना देवासो विद्वांस इन्दवस्तेजस्विनः शिष्याः सुवीर्यं शोभनबलवत्सहस्रिणं हस्रो हासः, हासेन सह सहस्रः प्रसन्नः परमेश्वरः । सोस्ति यस्मिञ्ज्ञाने तत्सहस्रिणं प्रसन्नपरमात्मज्ञानमेव रयिं धनमापवन्तां गच्छन्तु प्राप्नुवन्त्विति भावः ॥ ६।२ ॥

११९३. वाश्रा अर्षन्तीन्दवोऽभि वत्सं न ‡मातरः ।
दधन्विरे गभस्त्योः ॥ ७।२ ॥ (ऋ० ९।१३।७)

---

† सुवाना इत्यृक्पाठः । ‡ धेनव इत्यृक्पाठः ।

वाश्रा इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । वाश्राः शब्दं कुर्वन्त इन्दवः प्रतिभाशालिनो जिज्ञासवः परमेश्वरं प्रति तथा अर्षन्ति गच्छन्ति यथा मातरो धेनवो वत्सं प्रति । धावतस्तान् भक्ताञ् जिज्ञासून् परमेश्वरः गभस्त्योर्बाह्वोः अन्तराले दधाति । भक्ताश्च बाह्वोर्दधन्विरे दधति गृह्णन्ति परमं प्रियं परमात्मानम् । गभस्ती इति बाहुनाम (निघ० २।४।६) । गृह्णाति पदार्थानाभ्यामिति । ननु वैदिकस्याकायस्य परमेश्वरस्य बाहुभ्यां ग्रहणं कुतः ? सत्यं न तस्यैवं ग्रहणम् । लाक्षणिकोयं प्रयोगः । यथा कश्चित्कञ्चित्प्रियं बाह्वोरन्तराले दधाति तथैव परमेशं भक्तो भक्तं च स स्वहृदये दधाति ध्यायतीत्याशयः ॥ ७।३ ॥

११९४. जुष्ट इन्द्राय मत्सरः पवमानः कनिक्रदत् ।

विश्वा अप द्विषो जहि ॥ ८।३ ॥ (ऋ० ९।१३।८)

जुष इति । ऋष्यादय उक्ताः, जुष्टः प्रीतः, जुषी प्रीतिसेवनयोः, मत्सरो हृष्टः, मदी हर्षे । पवमानः पूयमानः सोमो जीवः इन्द्राय परमात्मने, परमात्मानमुद्दिश्येतिभावः । कनिक्रदत् शब्दं करोति । कीदृशं शब्दम् ? विश्वाः सर्वान् दिषो द्वेषकर्तॄन् अप जहि विनाशयेति ॥ ८।३ ॥

११९५. अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः ।

योनावृतस्य सीदत ॥ ९।३ ॥ (ऋ० ९।१३।९)

अपघ्नन्त इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सोमा भक्ताः, अराव्णः ईश्वरभक्तौ मनोददानान् पामाराञ् जीवानपघ्नन्तः परित्यज्य गच्छन्तः । हन हिंसागत्योः । स्वर्दृशः सर्वस्य सर्वत्र वा द्रष्टारो यूयम् । ऋतस्य सत्यस्य परमेश्वरस्य योनावाश्रये सीदत ॥ ९।३ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

अथ तृतीयः खण्डः

११९६ सोमा† असृग्रमिन्दवः सुता ऋतस्य धारया ।
इन्द्राय मधुमत्तमाः ॥ १।४ ॥ (ऋ० ९।१२।१)

सोमा इति । असितः काश्यपो देवलो वर्षिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । ऋतस्य सत्यस्वरूपस्य परमेश्वरस्य मधुमत्तमा सत्यसदाचारादिभिरत्यन्तमधुरा अत्यन्तप्रिया धारया वेदवाचा सुता निष्पादिताः संस्कृता अत एव इन्दवः प्रकाशवन्तः सोमा उपासकाः इन्द्रय परमात्मने असृग्रं सृज्यन्ते सर्वे जीवाः परमेश्वरोपयोगायैवेत्याशयः । अनेन मन्त्रेण श्री राममन्त्रार्थो वर्णितः ॥ १।४ ॥

११९७. अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न धेनवः ।
इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥ २।४ ॥ (ऋ० ९।१२।२)

अभि विप्रा इति । ऋयादय उक्ताः, धेनवः सकृत्प्रसूता गावो वत्सं न इव, यथा धेनवो वत्समनूषत नुवन्ति स्तुवन्ति स्पृहयन्ति वत्सायेतिभावस्तथा सोमस्य परमात्मनः पीतये पानायानुभवायोपासनाय इति भावः । विप्रा विद्वांस इन्द्रं जीवम् शिष्यमिति भावः । अभि अनूषत अभितः स्पृहयन्तीति भावः ॥ २।४ ॥

११९८. मदच्युत्क्षेति सादने सिन्धोरूर्मा विपश्चित् ।
सोमो गौरी अधि श्रितः ॥ ३।४ ॥ (ऋ० ९।१२।३)

मदच्युदिति । ऋष्यादय उक्ताः । मदच्युन् हर्षवर्षको विपश्चित् विद्वान् सोम उपासक सादने द्वे सदने स्थाने क्षेति क्षियति निव-

---

† सादने इत्यृक्पाठः ।

सति । द्वितीया सप्तम्यर्थे । द्वयोः स्थानयोर्निवसतीत्यर्थः । के ते ? उच्यते । सिन्धोर्नद्याः । सिन्धुरिति नदीनाम (निघ० १।१३।२१) ऊर्मा ऊर्मौ, गौरी अधि गौर्यामित्यर्थः । अधिः सप्तम्यर्थद्योतकः । श्रितः स्थितः । गौरीति वाङ्नाम (निघ० १।११।५) । अयं भावः, उपासकेन एकान्ते नद्यास्तीरे स्थातव्यम् । यदि दुःशकमेतत्तर्हि गृहे स्थित्वा केवलं विद्याया आदानप्रदानाभ्यां कालो यापनीय इति । न कदाप्युपासकेन सांसारिकव्यवहारेण संसारिव्यवहारेण वा कालो निर्गमनीयः । तेनोपासनायां विक्षेपो भवति ।। ३।४ ।।

११९९. दिवो नाभा विचक्षणोऽव्या† वारे महीयते ।
सोमो यः सुक्रतुः कविः ।। ४।४ ।। (ऋ० ९।१२।४)

दिव इति । ऋष्यादय उक्ताः, यः सोम उपासकः सुक्रतुः सत्कर्मा कविर्विद्वान् क्रान्तदर्शी वा विचक्षणः सूक्ष्मदर्शी च भवति स दिवोन्तरिक्षस्य नाभा नाभौ नाभिभूतायां पृथिव्यामव्यो रक्षितव्यो भवन् वारे वरणीये महति परमेश्वरे महीयते पूज्यते । परमेश्वरे तस्य महती स्थितिर्भवतीतिभावः ।। ४।४ ।।

१२००. यः सोमः कलशेष्वा‡ अन्तः पवित्र आहितः ।
तमिन्दुः परि षस्वजे ।। ५।४ ।। (ऋ० ९।१२।५)

यः सोम इति । ऋष्यादय उक्ताः, यः सोम उपासकः कलशेषु ब्रह्मवित्सु । कलयति सर्वानिति कलः परमात्मा । तस्मिन्न् शेरत इति कलशा ब्रह्मविदः परमेश्वरभक्ताः । तेषु आ आस्ते निवसति, यश्च पवित्रे शुद्धे अन्तर्मनसि आहितः स्थितः, यस्य मनः पवित्रं जातमित्यर्थः । तमुपासकमिन्दुः परमेश्वरः परि षस्वजे परिष्वजत इत्यर्थः ।। ५।४ ।।

† विचक्षणोऽव्यो इत्यृक्पाठः । ‡ कलशेष्वा इत्यृक्पाठः ।

१२०१. प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्याधि विष्टपि ।
जिन्वन्कोशं मधुश्चुतम् ॥ ६।४ ॥ (ऋ० ९।१२।६)

प्र वाचमीति । ऋष्यादय उक्ताः, मधुश्चुतमानन्दस्य श्चोतयितारं कोशमाच्छादयितारं रक्षकमितिभावः । छादनार्थः क्रोशतिः । पचाद्यचि पृषोदरादित्वाद्रेफलोपः । परमेश्वरं जिन्वन् प्रीणयन् समुद्रस्य अधि अधितटम् । विष्टपि गृहादौ वा । ष्टभि प्रतिवन्धे । विपूर्वात् क्विप् । अकारस्य पकारो व्यत्ययेन । गृहादीनि प्रतिबन्धकानि भवन्तीति सर्वानुभूतिः । स्थित इतिशेषः । इन्दुः सप्रकाशो भवन् । इन्धी दीप्तौ । वाचं प्रार्थनावाचम् । प्र इष्यति प्रेरयति, परमात्मानं प्रार्थयत इति भावः ॥ ६।४ ॥

१२०२. नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धेनामन्तः† सबर्दुघाम् ।
हिन्वानो मानुषा युजा‡ ॥ ७।४ ॥ (ऋ० ९।१२।७)

नित्यस्तोत्र इति । ऋष्यादय उक्ताः, नित्यस्तोत्रो नित्यं स्तोत्रं भवति यस्य सः, वनस्पतिर्वनानां रश्मीनां पतिः स्वामी एवं भूतः परमात्मा । वनमिति रश्मिनाम (निघ० १।५।८) । वन्यते सेव्यते तमःशीतादिनिवारणाय । वनु षणु संभक्तौ । अथवा वन्यते हिंस्यते तमोनेन । हिंसार्थो वनतिः । वन्यते शब्द्यते स्तूयत इत्यपि । एवं च सर्वेषां स्तूयमानानां स्तुतानामपि पतिः । युजा भक्तियोगवतो मानुषा मानुषान् हिन्वानः सन्मार्गे एव प्रेरयन् सवर्दुघां दुग्धदात्रीम् । सवःशब्दो दुग्धवाचीतिवेदसम्प्रदायविदः । अत्र दुग्धशब्देन परमोत्तमं तत्त्वं ग्रहीतव्यम् । परमोत्तमतत्त्वप्रदात्रीमित्यर्थः । धेनां वाचं वेदविद्यां भगवन्मन्त्रादिजपनीयवाचं वा । धेना इति

† धेनामित्यन्यपाठः । ‡ युगा इत्यन्यपाठः ।

वाङ्नाम (निघ० १।११।३९) । अन्तरुपासकानामन्तःकरणे मनसि बुद्धौ वा स्थापयतीति शेषः ॥ ७।४ ॥

१२०३. आ पवमान धारया† रयिं सहस्रवर्चसम् ।
अस्मे इन्दो स्वाभुवम् ॥८।४ ॥ (ऋ० ९।१२।९)

आ पवमान इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे पवमान पावनकर्तः हे इन्दो प्रकाशस्वरूप, परमेश्वर, अस्मे अस्मासु भवदुपासकेषु स्वाभुवं सुखेन आ समन्ताद् भवतीति तथा विधं सहस्रवर्चसं बहुतेजस्कं रयिं धनं ज्ञानरूपं आ धारय सर्वथा स्थापय ॥ ८।४ ॥

१२०४. ‡अभि प्रिया दिवः कविर्विप्रः स धारया सुतः ।
सोमो हिन्वे परावति ॥ ९।४ ॥ (ऋ० ९।१२।८)

अभि प्रियेति । ऋष्यादय उक्ताः, कविः क्रान्तदर्शी धारया वाचा वेदवाचेत्यर्थः । सुतः उत्पादितः संस्कृत इति भावः । स विप्रः विशेषेणात्मानं सद्गुणादिभिः पूरयिता । सोमो जीवः । दिवोन्तरिक्षस्य दिव्यलोकस्येत्यर्थः । प्रिया प्रियं वस्तु परमेश्वरमित्यर्थः । परावति दूरदेशे स्थितमपि हिन्वे प्राप्नोति । हि गतौ । छान्दसो व्यत्ययः । अज्ञानमाहात्म्येन दूरस्थित इव प्रतीयमानोपि परमेश्वरः संस्कृतेन भाग्यवता जीवेन नेदिष्ट इवानुभूयत इत्यर्थः ॥ ९।४ ॥

इति तृतीय खण्डः

---

† धारय इत्यृक्पाठः ।

‡ अभि प्रिया दिवस्पदा सोमो हिन्वानो अर्षति । विप्रस्य धारया कविः ॥ इत्यृक्पाठः ।

अथ चतुर्थः खण्डः

१२०५ उत्ते शुष्मास ईरते सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः ।
वाणस्य चोदया पविम् ॥ १।५ ॥ (ऋ० ९।५०।१)

उत्ते शुष्मास इति । उचथ्य आङ्गिरस ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । हे सोम परमेश्वर, सिन्धोः समुद्रस्योर्मेस्तरङ्गात्स्वनः शब्द इव ते तव शुष्मासोबलानि उद् ईरते उद्गच्छन्ति । शुष्ममिति वलनाम (निघ० २।९।११) । शुष्ममिति वलनाम शोषयतीति सतः इतियास्कः (नि० २।२२) । तव बलान्युद्गच्छन्ति सर्वेषां वलानामुपरि गच्छन्तीति त्वं सर्वबलानां सर्वबलिनां चाधिष्ठाता । ततः प्रार्थये, वाणस्य शब्दायत उपदिशतः सृष्टिकाले वेदमुखेन तव परमेश्वरस्य पविं वाणीं चोदय प्रेरय प्रदेहीत्याशयः । पविरिति वाङ्नाम (निघ० १।११।१४) ॥ १।५ ॥

१२०६. प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः ।
यदव्य एषि सानवि ॥ २।५ ॥ (ऋ० ९।५०।२)

प्रसवे त इति, ऋष्यादय उक्ताः, हे सोम उपासक, यद् यदा, त्वं सानवि बुधेतिश्रेष्ठे वा परेशे, अव्यो रक्षणीयः सन् गच्छसिः तदा मखस्युवः मह्यते इति मखः परमात्मा । परमात्मानमिच्छतस्ते तव प्रसवे उपासनाप्रारम्भे तिस्रो वाच ऋग्यजुःसामाख्या उदीरते उद्गच्छन्ति प्राकट्यं गच्छन्ति । तवोपक्रमो वेदानुमोदित इति भावः ॥ २।५ ॥

१२०७. अव्या† वारैः‡ परि प्रियं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
पवमानं मधुश्चुतम ॥ ३।५ ॥ (ऋ० ९।५०।३)

† 'अव्यो' इत्यक्पाठः । ‡ वारे इत्यक्पाठः ।

अव्या इति। ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः, अव्या रक्षणीयाः परेशेनेतियावत्। सोमा उपासका अद्रिभिर्दृढैः संकल्पैर्वारैः क्रमशः पवमान सर्वान् शोधयन्तं मधुश्चुतमानन्दं क्षारयितारं प्रियं प्रियकरं प्रेयांसं वा हरिं सर्वपापहर्तारं परमेश्वरं परि हिन्वन्ति परितो गच्छन्ति॥ ३।५॥

१२०८. आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे।
अर्कस्य योनिमासदम्॥ ४।५॥ (ऋ० ९।५०।४)

आ पवस्वेति। ऋष्यादय उक्ताः, हे मदिन्तम परमानन्दिन् कवे विद्वन् सोम उपासक, त्वमर्कस्य स्तुत्यस्यार्चनीयस्य वा पवित्रं पावनं योनिं स्थानमासदमासादयितुं धारया वेगेन आ पवस्व सर्वथा गच्छ। अथवा धारया वाचा विदुषाम्। विद्वद्वचोनुसृत्य गच्छेति भावः॥ ४।५॥

१२०९. स पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभिः।
†एन्द्रस्य जठरं विश॥ ५।५॥ (ऋ० ९।५०।५)

स पवस्वेति। हे मन्दितम परमानन्दिन् सोम उपासक, अक्तुभिर्म्रक्षणसाधनभूतैर्गोभिर्वचोभिर्वेदैरितियावत्। अञ्जानो व्यक्तः शुद्धो वा भवन्निन्द्रस्य परमात्मनो जठरमुदरमाविश प्रविश। आलङ्कारिकं वाक्यम्। परमात्मनि स्थितो भवेतितात्पर्यम्॥५।५॥

इति चतुर्थः खण्डः

---

† इन्दविन्द्राय पीतये इत्यृक्पाठः।

अथ पञ्चमः खण्डः

१२१०. अ॒या वी॒ती परि॑ स्रव॒ यस्त॑ इन्दो॒ मदे॒ष्वा ।
अ॒वाह॑न्नव॒तीर्नव॑ ॥ १।६ ॥ (ऋ० ९।६१।१)

अया वीतीति । अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । हे इन्दो परमैश्वर्यसम्पन्न सोम उपासक, अया अनया वीत्या गत्योपासनामार्गेण त्वं परि स्रव परिगच्छ । ते तव य उपास्यः परमात्मा स मदेषु त्वदानन्दसम्पादनाय नव नवतीर्नवनवतिसंख्याका अगणिता इत्यर्थः । योनीरितिशेषः । आ अव अहन् विनाशयतीत्यर्थः । व्याख्यातोपि पुनर्व्याख्यातः† ॥ १।६ ॥

१२११. पुरः॑ स॒द्य इ॒त्थाधि॑ये॒ दिवो॑दासाय॒ शंब॑रम् ।
अध॒ त्यं तु॒र्वशं॒ यदु॑म् ॥ २।६ ॥ (ऋ० ९।६१।२)

पुरः सद्येति । ऋष्यादय उक्ताः, अध अथ, पुरः पुरस्तादेव । सद्योधुनैव । स उपासकैरुपास्यः परमेश्वर, इत्थाधिये सत्यकर्मणे सत्यज्ञानाय वा । इत्थेति सत्यनाम (निघ० १०।५) । धीरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम वा (निघ० २।१।२१) । दिवोदासाय परमानन्दस्वरूपपरमात्मोपासकाय तदर्थमित्यर्थः । त्यं तं शम्बरं वलवन्तम् शम्बरमिति बलनाम (निघ० २।९।२८) । योग्यतयात्र वलवदर्थेवर्तते । यदुमपथप्रवृत्तमपि निवारितम् । तुर्वशं हिंसकमत्याचारप्रवृत्तमवाहन् अवहन्ति । तत्कालमेव परमात्मा स्वोपासकविरोधिनमपहन्ति । यदुः तुर्वश इति च मनुष्यनामसु निघण्टौ पठितौ (निघ० २।३।१५,१८) । यमु उपरमे । 'यमेर्दुक्' ( ) इति भोजदेवः । यम्यते नियम्यते इति यदुः ।

---

† पूर्वार्चिके ४९५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

तुर्वी हिंसायाम्। वाहुलकात् 'कलेरशच्' ( ) इत्यशच् प्रत्ययः। प्राणिनो हिनस्तीति ॥ २।६ ॥

१२१२. परि णो अश्वमश्वविद्गोमदिन्दो हिरण्यवत्।

क्षरा सहस्रिणीरिषः ॥ ३।६ ॥ (ऋ० ९।६१।३)

परि ण इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्दो सोम परमेश्वरोपासक, अश्वविद् अश्वः परमात्मा सर्वत्राशुगमनात्। तस्य लम्भकः। विद्लृ लाभे। त्वं परमेश्वरस्य लम्भकोसि, अतो नोस्मभ्यमपि अश्वं परमेश्वरं परि क्षर प्रकटयेतिभावः। किं च हिरण्यवत् प्रकाशवत् गोमत् ज्ञानवत् तत्त्वं सहस्रिणीर्बह्वीरिष इच्छाश्च सात्त्विकीः परि क्षर पूरयेतिभावः ॥ ३।६ ॥

१२१३. अपघ्नन्पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः।

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १।७ ॥ (ऋ० ९।६१।२५)

अपघ्नन्निति। अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। अयं सोम उपासकः। मृधो हिंसकान् दुर्जनान्। अराव्णो गतेरप्रदातारं गत्यवरोधकमितिभावः। अपघ्नन्नपोहयन्, इन्द्रस्य परमेश्वरस्य निष्कृतं स्थानं गच्छन् पवते सर्वान् पुनाति ॥ १।७ ॥

१२१४. महो नो राय आ भर पवमान जही मृधः।

रास्वेन्दो वीरवद्यशः ॥ २।७ ॥ (ऋ० ९।६१।२६)

महो न इति। ऋष्यादय उक्ताः, अत्र सोमः परमेश्वरः। हे पवमान सर्वान् पुनान परमेश्वर, नोऽस्मभ्यं महस्तेजो रायो ज्ञानसम्पत्तीश्च आ भर आहर। अस्माक मृधः शत्रून्कामादीन् जहि व्यपनय। हे इन्दो परमैश्वर्य, वीरवद् वीरैर्यशस्विभिर्गीयमानं गेयं वा यशः कीर्ति रास्व देहि ॥ २।७ ॥

१२१५. न त्वा शतं च† न ह्रुतो राधो दित्सन्तमा मिनन् ॥
यत्पुनानो मखस्यसे ॥ ३।७ ॥ (ऋ० ९।६१।२७)

न त्वेति। ऋष्यादय उक्ताः, हे सोम परमेश्वर, यद् यदा पुनानः सर्वाञ् शोधयंस्त्वं मखस्यसे धनं ज्ञानरूपं मोक्षरूपं वा दित्ससि। मह्यते पूज्यत इति मखो धनम्। हस्य खः। तदा राधो धनं ज्ञानरूपं दित्सन्तं दातुमिच्छन्तं त्वा त्वां परमेश्वरम्। शतं चन शतान्यपि वहवोपि ह्रुतो विरोधिनो न मिनन् न हिंसन्ति न निवारयन्तीति भावः। मीञ् हिंसायाम् ॥ ३।७ ॥

१२१६. अया पवस्य धारया यया सूर्यमरोचयः।
हिन्वानो मानुषीरपः ॥ १।८ ॥ (ऋ० ९।६३।७)

अया पवस्वेति। निध्रुविः काश्यप ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। व्याख्यतोयं मन्त्रः‡ ॥ १।८ ॥

१२१७. अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि।
अन्तरिक्षेण यातवे ॥ २।८ ॥ (ऋ० ९।६३।८)

अयुक्तेति। ऋष्यादय उक्ताः। अन्तरिक्षेणान्तर्ज्ञानदर्शनेन। इक्षेत्यत्र ह्रस्व इकार आर्षः। हेतुना यातवे यातुं परमेश्वरं प्रति गन्तुं मनौ अधि उपासके मनुष्ये उद्यते सतीत्यध्याहार्यम्। सूरः सर्वत्र सरणशीलः पवमानः शोधकः परमात्मा तमुपासकमनुष्यमेतशं गमनशीलमयुक्त कुरुत इत्यर्थः ॥ २।८ ॥

१२१८. उत त्या हरितो रथे* सूरो अयुक्त यातवे।
इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन् ॥ ३।८ ॥ (ऋ० ९।६३।९)

---

† नेति क्वाचित्कः पाठः।

‡ पूर्वार्चिके ४९३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः। * 'दश' इत्यपपाठः।

उत त्या इति। ऋष्यादय उक्ताः। उत अपि च, इन्दुर्ज्ञान-सम्पन्न उपासकः। इन्द्र इति ब्रुवन् अहमिन्द्रो भवामीति वदन्। उपास्यरूपतैवोपासकचरमावस्था। यातवे ब्रह्मरूपतां गन्तुम्। सूरः परमात्मानं प्रति सरणशील उपासकः। त्यास्तास्तानि प्रसिद्धानि हरितो हारीणि विषयान् प्रति नेतॄणि इन्द्रियाणि रथे रमणीये परमेश्वरे अयुक्त योजयति ॥ ३।८॥

इति पञ्चमः खण्डः

●

अथ षष्ठः खण्डः

१२१९. अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम्। यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः ॥ १९ ॥ (ऋ० ७।३।१)

अग्निं व इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, अग्निर्देवता, त्रिष्टुप् छन्दः। हे विद्वांसः, वो यूयम्। छान्दसो वः। अग्निभिरन्यैर्विद्वद्भिः सजोषाः सजोषसं सहितम्। द्वितीयार्थे प्रथमा छान्दसी। यजिष्ठं दातृतमं पूज्यतमं वा। यज देवपूजा-संगति-करण-दानेषु। देव इति पूजेति च पृथकपदे। न तु देवपूजेत्येकपदम्। तथा सति ध्वात्वर्थेनैव कर्मणि संगृहीते यजधातोरकर्मकत्वं स्यात्। अग्निं सर्वगं प्रकाशस्वरूपं वा परमेश्वरमध्वरेऽहिंसके यज्ञे भक्तियज्ञे दूतं दुर्मार्गनिवारकं नेतारमिति यावत्। 'दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वेति' यास्कः (नि० ५,१)। कृणुध्वं कुरुत। योग्निर्देवः परमेश ऋतावान्सत्यवान्। घृतान्नो दीप्त्यन्नः प्रकाश एवान्नं भक्ष्यं स्वरूपस्थापकं यस्य। तपुर्मूर्धा तेजःपूर्णं

शिराः । पावकः शोधक एवंभूतः सन् मर्त्येषु मनुष्येषु निध्रुविर्ध्रुवगतिकः, अस्ति ।। १।९ ।।

१२२०. प्रोथदश्वो न यवसे ऽविष्यन्यदा महः संवरणा-द्व्यस्थात् । आदस्य वातो अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति २।९ ।। (ऋ० ७।३।२)

प्रोथदश्व इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । यदा यवसे परमात्मपर उपासके जीवे । यु मिश्रणामिश्रणयोः । असच् प्रत्ययः औणादिकः । द्वितीयार्थे सप्तमी । उपासकं जीवमितियावत् । अविष्यन् रक्षिष्यन् प्रोथत् प्रोथतः पर्याप्नुवतोऽश्वोश्वस्य । प्रोथदित्यत्र छान्दसो नुमभावः । तत्र अश्व इत्यत्र च षष्ठ्यर्थे प्रथमा । अश्वो व्यापकः । महस्तेजः । संवरणादवरोधाद् व्यस्थाद् वितिष्ठते जागर्तीतिभावः । धातोरनेकार्थत्वात् । आत् तदा । अस्य महसः शोचिरनु अर्चिषोनुकूलो वातो वायुरनुवाति । कृपायै उत्थितस्य महसोनुकूला गतिरुत्पद्यत इतिभावः । अद्य अथ हे अग्ने परमात्मन् ते तव व्रजनमिति अंहसो वजनं तस्यैवेति मत्वा प्रयोगः । कृष्णः सर्वतमोविलेखनमस्ति भवति । कृषतीति कृष्णः । कृष विलेखने । स्मेति पादपूरणे ।। २।९ ।।

१२२१. उद्यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः । अच्छा द्यामरुषो धूम एषि† सं दूतो अग्न हि देवान् ।। ३।९ ।। (ऋ० ७।३।३)

उद्यस्येति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे अग्ने परमात्मन्, नवजातस्य कृपां जीव उपासके प्रथमं कुर्वतो यस्य ते तव वृष्णः सर्वेच्छा-

† एतीत्यपपाठः ।

पूरकस्य इधाना दीप्ता उत्कटा इति भावः। अजरा जरामप्राप्नुवत्यो दया उद् चरन्ति उद्गच्छन्ति तदा त्वमरुषो रोषरहितः शान्तः सन् धूमः शत्रूणां कम्पकश्च भवन् अच्छा आभिमुख्येन द्यां कान्ति शोभामेपि प्राप्नोपि। दूतः संतापक एव भवन् दुर्जनानाम्। टुदु उपतापे। 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' (उ० ३,९०) इत्यनेन क्तः प्रत्ययो धातोर्दीर्घत्वं च। देवान् सज्जनान् उपासकान् संम् ईयसे प्राप्नोपि ॥ ३।९ ॥

१२२२. तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥ १।१० ॥ (ऋ० ८।९३।७)

तमिन्द्रमिति। सुकक्ष आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१० ॥

१२२३. इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स बले‡ हितः।
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ २।१० ॥ (ऋ० ८।९३।८)

इन्द्रः स इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। इन्द्रो जीवः, स इन्द्रो जीवो दामने सर्वपदार्थदात्रे परमात्मने कृतो नियतः। जीवेन न किञ्चिदन्यत्सम्पादयितुं प्रयत्नः कार्यः। विरक्तजीवार्थमिदम्। गृहस्थैस्तु सांसारिकव्यवहारनिर्वाहाय योग्यं युक्तं च सर्वं सम्पादनीयमेव। तथापि चतुर्थे वयसि सर्वैरेव जीवैः। सर्वं तन्त्रं परिहृत्य परमात्मन्येव मनो निवेशनीयमेव। किंभूतः स इन्द्रः? ओजिष्ठः परमौजस्वी। न ग्लानः। किं च बले स्थित एव हितो हितकारकः स्वस्य परस्य च भवति। परमेश्वरनिष्ठो जीवः स द्युम्नी तेजस्वी श्लोकी यशस्वी सोम्यः शान्तश्च भवति॥ २।१० ॥

† पूर्वार्चिके ११९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ मदे इत्यृक्पाठः।

१२२४. गिरा वज्रो न सम्भृतः सबलो अनपच्युतः ।
वबक्ष उग्रो† अस्तृतः ॥ ३।१० ॥ (ऋ० ८।९३।९)

गिरा वज्र इति । ऋष्यादय उक्ताः, स इन्द्रो जीव उपासकः । गिरा आशीर्वचसा परमेश्वरस्य । वज्रो न वज्र इव सर्वशत्रुनिवारक इव सम्भृतः पूर्ण इव भवति । 'वज्रः कस्मात् ? वर्जयतीति सतः" इति यास्कः (नि० ३,११) । सबलो मनोबलयुक्तः । अनपच्युतः स्वकर्तव्यादपच्युतो भ्रष्टो न भवति । उग्रोधर्ष्यः, अस्तृतोऽहिंसितः कामक्रोधादिविकारैर्विनष्टो न भवन् ववक्ष आत्महितं वहति निर्वहतीति भावः ॥ ३।१० ॥

इति षष्ठः खण्डः

अथ सप्तमः खण्डः

१२२५. अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ नय‡ ।
पुनाहीन्द्राय* पातवे ॥ १।११ ॥ (ऋ० ९।५१।१)

अध्वर्य इति । उचथ्य आङ्गिरस ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः§ ॥ १।११ ॥

१२२६. तव त्य इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्याशत$ ।
पवमानस्य मरुतः ॥ २।११ ॥ (ऋ० ९।५१।३)

तव त्य इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे इन्दो परमेश्वर, मरुतो रोचमानस्य, मितममितं वा रोचते । मातेर्म इति रौते रुत् इति

† 'ऋभ्वो' इत्यृक्पाठः । ‡ सृजेत्यृक्पाठः । * पुनीहीत्यृक्पाठः ।
§ पूर्वार्चिके ४९९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
$ व्यश्नते इत्यृक्पाठः ।

वा। पृषोदरादित्वात्साधुः। पवमानस्य परेशस्य परमेश्वरो योगिभ्योमितं वा रोचते, मितं च भोगिभ्यः। तव मधोर्मधु मधुरम्। अन्धसो ध्यानम्। उभयत्र द्वितीयार्थे षष्ठी। त्ये ते प्रसिद्धा देवा दिव्यगुणविशिष्टा जना व्याशत भक्षयन्ति कुर्वन्तीति-भावः॥ २।११॥

१२२७. दिवः पीयूषमुत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे।
सुनोता मधुमत्तमम्॥ ३।११॥ (ऋ० ९।५१।२)

दिव इति। ऋष्यादय उक्ताः। हे सोमाः शान्ता उपासकाः, यूयम्। दिवो द्युलोकस्य दिव्यसमुदायस्य पीयूषममृतमुत्तममुत्कृष्ट-तमं मधुमत्तमं मधुरतमं सोमं शान्तं रसं भक्तिरसमितियावत्। वज्रिणे सर्वगाय इन्द्राय परमेश्वराय परमेश्वरं प्रसादयितुमितिभावः। सुनोत निष्पादयत। परमेश्वरस्य भक्तिं कुरुतेत्यर्थः॥ ३।११॥

१२२८. धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो
नृभिः। हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा
पाजांसि कृण्णुषे† नदीष्वा॥ १।१२॥ (ऋ० ९।७६।१)

धर्तेति। कविर्भार्गव ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, जगती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः‡॥ १।१२॥

१२२९ शूरो न धत्त आयुधा गभस्त्योः स्व३ः सिषासन्नथिरो
गविष्टिषु। इन्द्रस्य शुष्ममीरयन्नपस्युभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते
मनीषिभिः॥ २।१२॥ (ऋ० ९।७६।२)

---

† कृणुते इत्यृक्पाठः।
‡ पूर्वार्चिके ५५८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

शूर इति। ऋष्यादय उक्ताः, अयं सोम उपासकः शूरो न पराक्रान्तेव गभस्त्योर्बाह्वोरायुधा आयुधानि अस्त्राणि शस्त्राणि वा धत्ते धारयति। किं कुर्वन् ? स्वर्मोक्षं सिषासन् संभक्तुमिच्छन्। षणु संभक्तौ। प्राप्तुमिच्छन्नितिभावः। किं भूतः ? गविष्टिषु गौर्ज्ञानम्, तस्येच्छायां जातायां रथिरो रथवानिव। अत्युत्साहयुक्त इत्याशयः। इन्दुः प्रकाशयुक्तः। पुनः किं कुर्वन् ? इन्द्रस्य परेशस्य शुष्मं बलमीरयन्प्रेरयन्। यदोपासकः स्वयं यतमानस्तिष्ठति तथा परोपि तत्साहाय्यं सम्पादयतीति भावः। किं च स उपासकः अगस्युभिः कर्माभिलाषैर्मनीषिभिर्विद्वद्भिर्हिन्वानः प्रेर्यमाणः। अज्यते व्यज्यते व्यक्तो भवतीतिभावः।

अत्र पूर्वार्धे स्वरिच्छन् बाह्वोर्बाह्वोर्मूले आयुधा भगवदायुधे धनुर्बाणरूपे धत्ते उपासक इत्यर्थं मन्यन्ते श्री सम्प्रदायानुयायिनः।

उत्तरार्धे चोपासकान् कर्मेच्छवः प्रेरयन्तीत्युक्ते कर्मज्ञानयोः साहचर्यमित्यर्थमपि त एव वर्णयन्ति ॥ १।१२ ॥

१२३०. इन्द्रस्य सोम पवमान ऊर्मिणा तविष्यमाणो जठरेष्वा विश। प्र नः† पिन्व विद्युदभ्रेव रोदसी धिया नो‡ वाजाँ उप माहि* शश्वतः ॥ ३।१२ ॥ (ऋ० ९।७६।३)

इन्द्रस्येति ऋष्यादय उक्ताः, हे पवमान पूयमान सोम जीव, ऊर्मिणा तमःसंघातेन तविष्यमाणो वर्धिष्यमाणो वर्ध्यमान इत्यर्थः। तु गति वृद्धिहिंसासु। ""तवतर्वा वृद्धि कर्मणे इति यास्कः (नि० ९।२५)। जठरेषु मातृुदरेषु आ विश प्रविश। यावत्पर्यन्तमज्ञानं तावज्जन्मादिकमनिवार्यमितिभावः। उत्तरार्धेन

† ण इत्यृक्पाठः। ‡ 'न' इत्यृक्पाठः। * 'मासि' इत्यृक्पाठः।

कर्तव्यं वोधयति। हे परमेश्वर, विद्युदभ्रा इव यथा विद्युदभ्राणि प्रकाशयति तथा त्वं नोस्मभ्यमस्मच्छ्रेयसे इत्यर्थः। रोदसी द्यावापृथिव्यौ पिन्व प्रकाशय ज्ञानादिप्रानेनोभयोर्लोकयोः स्थिताञ्जनान् संवर्धयेत्यर्थः। किं च धिया बुद्ध्या पवित्रेण वा कर्मणा नोस्माकं शश्वतो वहून्। शश्वदिति वहुनाम (निघ० ३,१,५)। वाजान् बलानि रागद्वेषादि शत्रुशमनसमर्थानि ज्ञानसत्यसदाचारादिरूपाणि च। उपमाहि उपदेहि। धातूनामने-कार्थत्वम्। इत्येवं परमात्मानं प्रार्थयस्वेत्याद्यध्याहार्यम्॥ ३।१२॥

११३१. यदिन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग्वा हूयसे नृभिः। सिमा पुरु
नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे॥१।१३॥

(ऋ० ८।४।१, अथ० २०।१२०।१)

यदिन्द्रेति। देवातिथिः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा वृहती) छन्दः। यद् यद्यपि हे इन्द्र परमेश्वर, त्वं प्राक् प्राच्यां दिशि। अपाक् प्रतीच्यां दिशि। उदग् उदीच्यां दिशि। न्यक् नीच्यां दिशि दक्षिणायां दिशि च। देशालेख्ये दक्षिणा दिङ् नीचैरेव प्रदर्श्यते। दिक्सूचकयन्त्रेपि दिगेषा नीचैरेव तिष्ठतीति न्यक्छब्दप्रयोगः। नृभिर्मनुष्यैर्हूयस आहूयसे। वेति चार्थे। तथापि सिम हे श्रेष्ठ सर्व वा, त्वमानवे अनूनां समूहे मनुष्य-समाजे। अनवो मनुष्याः (निघ० २,३,१९)। अन प्राणने। यद्यपि पश्वादयोपि प्राणन्ति तथापि ज्ञानवत्वान्मनुष्या गृह्यन्ते। पुरु वाहुल्येन नृपूतो नृभिरुत्पादित उपस्थापित आहूत इतिभावः। असि भवसि। अतस्तेषां तुर्वशेन्तिके (निघ० २,१६,४) स्थित्वा प्रशर्ध प्रकर्षेण क्लेदय आर्द्रय सन्तोषयेतिभावः। शृधु उन्दने॥ १।१३॥

१२३२. यद्वा रुमे रुशके श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा।
कण्वासस्त्वा †स्तोमेभिर्ब्रह्मवाहस‡ इन्द्रा यच्छन्त्या
गहि ॥ २।१३ ॥ (ऋ० ८।४।२, अथ० २०।१२०।२)

यद्वेति। ऋष्यादय उक्ताः, यद्वा अथवा रुमे प्रार्थनशीले, रु शब्दे। रुशके दुर्वृत्तिहिंसनशीले रागादिहननशीले वा। रुश हिंसायाम्। श्यावके त्वां गन्तुमुत्सुके। श्यैङ् गतौ। कृपे समर्थे रागादिसर्वदोषवर्जिते। इन्द्र हे परमेश्वर। सचा सहैव। मादयसे माद्यसि। एतादृशा येत्वद्भक्तास्तैः सह त्वं रमस इत्यर्थः। ये कण्वासः कण्वासाः। कण्वं पापं तदस्यन्ति निरस्यन्ति ते कण्वासाः। ये च ब्रह्मवाहसो ब्रह्मणः परमात्मनो वोढारः। हृदये वोढार इति भावः। ते स्तोमेभि स्तोमैः स्तोत्रैरा यच्छन्ति अर्पयन्ति तुभ्यमात्मानमितिभावः। आ गहि अत आगच्छ तानितिशेषः। तानागच्छसीत्यभिप्रायः ॥ २।१३ ॥

१२३३. उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
सत्राच्या *मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ
गमत् ॥ १।१४ ॥ (ऋ० ८।६१।१)

उभयमिति। भर्गः प्रागाथ ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथश्छन्दः (विषमा बृहती विराट्), व्याख्यातोयं मन्त्रः$ ॥ १।१४ ॥

---

† ब्रह्मभिरित्यृक्पाठः।

‡ स्तोमवाहस इत्यृक्पाठोथर्वपाठश्च।

* मघवे इत्यृक्पाठः।

$ पूर्वार्चिके २०९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१२३४. तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसा† धिषणे निष्टतक्षतुः ।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते
मनः ॥ २।१४ ॥ (ऋ० ८।६१।२)

तं हीति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती, धिषणे धियं सन्वाते विभजेते इति धिषणे। अथवा सर्वान्पदार्थान्यथायथं धारयत इति धिषणे। मनोबुद्धी। तं प्रसिद्धं स्वराजं स्वप्रभुम्। स्वेन राजमानं वा। हिश्चार्थे। तं च वृषभं सर्वापेक्ष्यपदार्थानां वर्षकम्। ओजसा वलेन शक्त्या वा। निष्टतक्षतुस्तनूकृत्यात्मनि स्थापयामासतुः। मनो वुद्धिश्च स्वस्वामिनं परमात्मानं सर्वव्यापकं स्वस्मिन्नल्पे स्वस्यामल्पायां च तनूकृत्येव स्थापयतः। उत अथ यस्य मनोवुद्धी एवं कुरुतः स त्वम् उपमानामुपमानानामुपमेयानां वा प्रथमः सन् निषीदसि वर्तसे। सर्वश्रेष्ठत्वेन परिगण्यस इत्यर्थः। हि यतस्ते तव मनः सोमकामं सोमं परमेश्वरं कामयते तथाभूतम्। तवोपासकस्य मनः सोमकामं वुद्धिश्च सोमकामेत्यपि वोध्यम्। तत एव त्वं सर्वेपूत्तमतया परिगणितोसीतिभावः ॥२।१४॥

इति सप्तमः खण्डः

●

अथ अष्टमः खण्डः

१२३५. पवस्व देव‡ आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
वायुमा रोह धर्मणा ॥ १।१५ ॥ (ऋ० ९।६३।२२)

---

† तमोजसे इत्यूक्पाठः।
‡ देवायुषगिन्द्रमित्यृक्पाठः।

पवस्वेति । निधुविः काश्यप ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१५ ॥

१२३६. पवमान नि तोशसे रयिं सोम श्रवाय्यम् ।
इन्दो‡ समुद्रमा विश ॥ २।१५ ॥ (ऋ० ९।६३।२३)

पवमानेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे पवमान सोम पवित्रोपासक, त्वं श्रवाय्यं श्रोतव्यं श्रवणार्हं बहुतरमित्यर्थः । रयिं धनं सांसारिकं नि तोशसे निहंसि । तोशस इति नैरुक्तो धातुर्वधकर्मा । यत एवं कुरुषे ततो हे इन्दो दीप्यमान, समुद्रं सम्यक्तर्पयितारम् । उन्दी क्लदने, परमात्मानम् । आ विश प्रविश, परमेश्वरे मनो नियुङ्क्ष्वेतिभावः ॥ २।१५ ॥

१२३७. अपघ्नन्पवसे मृधः (क्रतुवित्सोम मत्सरः । नुदस्वादेवयुं जनम्) ॥ ३।१५ ॥ (ऋ० ९।६३।२४)

अपघ्नन्निति । ऋष्यादय उक्ताः, व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ ३।१५ ॥

१२३८. अभी नो वाजसातमं (रयिमर्ष §शतस्पृहम् । इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं $विभासहम्) ॥१।१६॥ (ऋ० ९।९८।१)

अभी न इति । अम्बरीषो वार्षागिरः ऋजिश्वा भारद्वाजश्च

† पूर्वार्चिके ४८३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ प्रिय इत्यृक्पाठः ।

* पूर्वार्चिके ४९२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

§ पुरुस्पृहमित्यृक्पाठः । $ विभ्वासहमित्यृक्पाठः ।

ऋषो, पवमानः सोमो देवता, अनुष्टुप् छन्दः, व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१६ ॥

१२३९. ‡वयं ते अस्य राधसो वसोर्वसो पुरुस्पृहः ।
नि नेदिष्ठतमा इषः स्याम सम्ने ते अध्रिगो ॥२।१६॥
(ऋ० ९।९८।५)

वयमिति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः, हे पवमान सोम, परमेश्वर, हे वसो सर्वेषां वासप्रदातः, वयमुपासकास्ते तवास्य राधसः सिद्धेः शक्तेर्वा । पुरुस्पृहो बहुलस्पृहाः स्याम । किं भूतस्य तव ? वसोः सर्वेषां वासं प्रदातुः । सर्वाधारस्येत्यर्थः । किं च ते इषः संकल्पस्य नेदिष्ठतमा निकटतमा नि स्याम नितरां स्याम । हे अध्रिगो गमनरहित सर्वत्रगेत्यर्थः । ते सम्नेऽवैक्लव्ये शान्तावित्यर्थः । षम अवैक्लव्ये, स्याम तिष्ठाम ॥ २।१६ ॥

१२४०. परि स्य* स्वानो§ अक्षरदिन्दुरव्येʆ मदच्युतः ।
धारा ऊर्ध्वो अध्वरे भ्राजा न¶ याति गव्ययुः ॥ ३।१६ ॥
(ऋ० ९।९८।३)

परीति ऋष्यादय उक्ताः, अत्र सोमः परमात्मा, स्वानः सुवानः परिष्क्रियमाण हृदये निधीयमान इत्यर्थः, हृदय ईश्वर-

† पूर्वार्चिके ५४९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ वयं ते अस्य वृत्रहन्वसो वस्वः पुरुस्पृहः । नि नेदिष्ठतमा इषः स्याम सुम्नस्याध्रिगो । इत्यृक्पाठः ॥
* ष्य इत्यृक्पाठः । § सुवानो इत्यृक्पाठः । ʆ अक्षा इन्दुरव्ये इत्यृक्पाठः । ¶ नैति गव्ययुरित्यृक्पाठः ।

धारणमेवेश्वरपरिष्कारः । मदच्युतो मदेन हर्षेण च्युतः क्षरित आर्द्र इति भावः, स्य सः, इन्दुर्दीप्तिमान् परमेश्वरः । अव्ये रक्षणीये भक्ते । परि अक्षरत् परितोक्षरत् सर्वथा दयालुर्भवतीतिभावः । गव्ययुर्गोकामः, गौर्विद्या ज्ञानम् । तत्काम उपासकः, अध्वरेऽविनाशिनि परमात्मनि भ्राजा भ्राजमानया धारा धारया वाचा परमेश्वरस्यैवेतिभावः । ऊर्ध्वो याति न उपरि श्रेष्ठगतिं गच्छतीव प्रतिभाति । अथवा नेति निश्चयार्थे । निश्चितं स उपरिदशां प्राप्नोति ।। ३।१६ ।।

१२४१. पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ।। १।१७ ।। (ऋ० ९।१०९।४)

पवस्व सोमेति । अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वरा ऋषयः, पवमानः सोमो देवता, द्विपदा विराट् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ।।१।१७।।

१२४२. शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिवे पृथिव्यै शं च प्रजाभ्यः‡ ।। २।१७ ।। (ऋ० ९।१०९।५)

शुक्र इति । ऋष्यादयः पूर्ववत्, हे सोम शान्तस्वरूपेश्वर देवेभ्यः सर्वेभ्यो विद्वद्भ्यो दिवे द्युलोकाय पृथिव्यै प्रजाभ्यश्च सर्वाभ्यः शं सुखं शान्ति वा पवस्व क्षर देहीति यावत् । किं भूतस्त्वम् ? शुक्रो दीप्तिमान् । शोचतिर्नैरुक्तो धातुः । 'शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः' (नि० ८,११) ।। १।१७ ।।

१२४३. दिवो धर्तासि शुक्रः पीयूषः सत्ये विधर्मन्वाजी पवस्व ।। ३।१७ ।। (ऋ० ९।१०९।६)

† पूर्वार्चिके ४२९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ प्रजायै इत्यृक्पाठः ।

दिव इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सोम परेश, त्वं दिवो द्युलोकस्य प्रकाशस्य वा धर्ता धारणकर्ता, असि। किं भूतस्त्वम्? शुक्रो दीप्तः। पीयूषः पेयः सर्वैभक्तैः। पीयतिः सौत्रो धातुः। 'पीयेरूषन्' (उ० ४,७६) इत्यूषन्प्रत्ययः। वाजी वलवान् सर्वशक्तिमानित्यर्थः, स त्वम्। विधर्मन् विधर्मणि विविधधर्मणि विविधा धर्मा यस्य तस्मिन्। न केवले त्वयि प्रीतिमानपि तु बहुषु जागतिकेषु पदार्थेषु संलग्नः। तस्मिन् सत्ये सत्यस्वरूपे न त्वौपाधिके जीवे पवस्व क्षर। तस्मिन्दयां कुर्विवितिभावः। यदा जीवैर्विविधा व्यापाराः। स्वीक्रियन्ते तदा त्वय्यनन्यमनस्कत्वाभावात्ते दयापात्रं भवन्ति। अतो दयापात्रे जीवे दयां कुर्विति परमार्थः॥ ३।१७॥

इत्यष्टमः खण्डः

•

अथ नवमः खण्डः

१२४४. प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।
अग्ने रथं न वेद्यम्॥ १।१८॥ (ऋ० ८।८४।१)

प्रेष्ठमिति। उशना काव्य ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१८॥

१२४५. कविमिव प्रशस्यं‡ यं देवास* इति द्विता।
नि मर्त्येष्वादधुः॥ २।१८॥ (ऋ० ८।८४।२)

† पूर्वार्चिके ५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ प्रचेतसमित्यृक्पाठः। * देवासो अध द्वितस्यृक्पाठः।

कविमिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्, देवासो विद्वांसः, यं प्रशस्य प्रशंसनीयम्। कविमिव कवयितारम्निव। वेदानां स उपदेष्टेति कविरिव विद्वद्भिर्मन्यते। अथवा क्रान्तदर्शिनम्। अस्मिन्नर्थे इवेतिपदमवकारार्थे। अग्निं परमात्मानम्। मर्तेषु मनुष्येषु इति आदधुरेवं प्रकारेण प्रकाशयन्ति, इति किम्? द्विता, द्वयोर्भावो द्विता। द्वा सुपर्णा सयुजा सखायेत्युक्तदिशा जीवब्रह्मणोर्भेद इतियत्तदोर्नित्यसम्बन्धतया तमित्यध्याहृत्य पूजयन्तीतिशेष इति योजना ॥ २।१८ ॥

१२४६. त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुही† गिरः।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥३।१८॥ (ऋ० ८।८४।३)

त्वं यविष्ठेति। हे यविष्ठ सदा युवतम त्वं दाशुषस्तुभ्यं स्वमनोदातॄन्नॄनुपासकान् पाहि रक्ष। तेषां गिरः प्रार्थनावचांसि शृणुहि शृणु। उत किं च त्मना आत्मना स्वयमेव तोकं पुत्ररूपांस्तान् रक्ष गोपाय। किं प्रार्थनया तवाग्रे? त्वं सर्वद्रष्टा सर्वज्ञश्चासि। अतः स्वयमेव तेषां मनोभावं ज्ञात्वा रक्षापरायणो भवेतिभावः। कस्यचिद्भगवन्निष्ठस्योक्तिरियम् ॥ ३।१८ ॥

१२४७. एन्द्र नो गधि प्रिय‡ सत्राजिदगोह्य*। गिरिर्न
विश्वतः§ पृथुः पतिर्दिवः ॥ १।१९ ॥ (ऋ० ८।९८।४)

एन्द्र न इति। नृमेध आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, उष्णिक् छन्दः, व्याख्यातोयं मन्त्रः¶ ॥ १।१९ ॥

† शृणुधीत्यृक्प ठ।

‡ प्रियः इत्यृक्पाठः। * सत्राजिदगोह्यः इत्यृक्पाठः।

§ विश्वतस्पृथुरित्यृक्पाठः।

¶ पूर्वार्चिके ३९३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१२४८. अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी। इन्द्रासि
सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥ २।१९ ॥ (ऋ० ८।९८।५)

अभि हीति। ऋष्यादय उक्ताः, हे सत्य सत्यस्वरूप सोमपाः सोमानां स्वशान्तभक्तानां रक्षक इन्द्र सर्वैश्वर्यपूर्ण परमेश्वर, त्वमुभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ अभि बभूथ अभि भवसि। अतिसामर्थ्यस्त्वमसि येन सर्वांल्लोकान्स्ववशे स्थापयसीतिभावः। किं च सुन्वत आत्मानं त्वयि स्थापयत दिव्यो दिव्यस्य। उपासकस्य वृधो वर्धकोसि। अतस्त्वदुपासकान्वर्धयेतिभावः। दिव इति षष्ठ्यन्त पदमुपासकस्य विशेषणम्। देवयतीति द्यौः। देवयति क्रीडयति रमयति। जीवो विविधाभिर्भावनाभिः स्तोत्रपाठादिभिश्च परमात्मानं रमयत्येव। 'बहुलमन्यत्रापि संज्ञा छन्दसोः' (उ० द० पा० ८,४०) इति सूत्रेण संज्ञायां छन्दसि च विषये बहुलं णेर्लुग्भवति। ण्यन्तादेव क्विप्॥ २।१९ ॥

१२४९. त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र धर्ता† पुरामसि। हन्ता
दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥ ३।१९ ॥ (ऋ० ८।९८।६)

त्वं हीति। ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्र परमेश्वर त्वं शश्वतीनां बह्वीनाम्। शश्वदिति बहुनाम (निघ० ३,१,५)। पुरां मानवन्यूनतापूरणसामग्रीणां धर्ता धारणकर्ता असि। हिर्निश्चयार्थे। किं च दस्योरुपक्षयकर्तॄणां दुर्जनानां दुर्गुणानां वा हन्ता नाशयितासि। मनोर्मनुष्यजातेर्वृधो वर्धयिता दिवो दिव्यजनानां पती रक्षकश्चासि। पूर्ववदपि व्याख्येयमिदं पदम्॥ ३।१९ ॥

१२५०. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत। इन्द्रो विश्वस्य
कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ १।२० ॥ (ऋ० १।११।४)

---

† दर्तेत्यपपाठः।

पुरां भिन्दुरिति । जेता माधुच्छन्दस ऋषिः, इन्द्रो देवता अनुष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।२० ॥

१२५१. त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम् । त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः ॥ २।२० ॥ (ऋ० १।११।५)

त्वं वलस्येति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अद्रिवः, न दीर्यते इत्यद्रिः सा अस्ति अस्येति । सम्बोधने रूपम् । हे अखण्डशक्ते परमेश्वर, गोमतो विद्यावतः । वलस्य संवृतस्य । विद्यावानपि सदाचार्य्यप्राप्त्यभावात्संवृत इवावृत इव तिष्ठति । बिलं छिद्रं न्यौन्यमिति भावः । न्यूनतैव छिद्रं भवति । अपावः अपावृतवान् अपावृणोषि दूरीकरोषीतिभावः । अबिभ्युषोऽभीता निर्भीकास्त्वद् रक्षणसामर्थ्यादितिभावः । तुज्यमानासो हिंस्यमानाः पीड्यमाना वा पूर्वम् विषयविषैः । त्वाम् आविषुः प्राप्तवन्तः । अवरक्षणादिषु । अत्र गत्यर्थोवतिः ॥ २।२० ॥

१२५२. इन्द्रमीशानमोजसाभि ‡स्तोमैरनूषत । सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः ॥ ३।२० ॥ (ऋ० १।११।८)

इन्द्रमीति । ऋष्यादय उक्ताः, ओजसा तेजसेशानं सर्वेषां लोकानामितिभावः । इन्द्रं महैश्वर्यं परेशं विद्वांसः स्तोमैः स्तोत्रैरनूषत स्तुवन्ति । किंभूतमिन्द्रम् ? यस्य रातयो दानानि सहस्रं सहस्रसंख्याकानि सन्ति । उत वा अथवा भूयसीः संख्यातीताः सन्ति । परमेश्वरेण य उपकारा जगतो मनुष्याणां च सम्पादिताः कस्तान्संख्यातुं समर्थो भवेत् ॥ ३।२० ॥

इति नवम खण्डः इति पञ्चमप्रपाठके प्रथमोर्धः इति नवमोध्यायः

---

† पूर्वार्चिके ३५९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ स्तोमा अनूषतेत्युक्तत्वात् ।

अथ दशमोध्यायः

अथ पञ्चम प्रपाठकस्य द्वितीयोर्धः ।

अथ प्रथमः खण्डः

१२५३. अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य
गोपाः† । वृषा पवित्रे अभि सानो अव्ये बृहत्सोमो
वावृधे स्वानो‡ अद्रिः* ॥ १।१ ॥ (ऋ० ९।९७।४०)

अक्रानिति । पराशरः शाक्त्य ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः, व्याख्यातोयं मन्त्रः§ ॥ १।१ ॥

१२५४. मत्सि वायुमिष्टये राधसे नो$ मत्सि मित्रावरुणा
पूयमानः । मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि
द्यावापृथिवी देव सोम ॥ २।१ ॥ (ऋ० ९।९७।२४)

मत्सीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । सर्वेषां शमिच्छन्प्रार्थयते परोपासकः । हे सोम शान्तपरमेश्वर, नोस्माकमिष्टये इष्टलाभाय राधसे संसिद्धये च वायुमस्मदुज्जीवकं पवनं मत्सि मादय प्रसादय । पूयमानः पुनानः सर्वान् । यक् छान्दसः । मित्रावरुणा मित्रावरुणौ देवौ मत्सि प्रसादय । मारुतं मरुद्देवानां शर्धो वलं मत्सि प्रसादय । हे

---

† राजेत्यृक्पाठः । ‡ सुवान इत्यृक्पाठः । * इन्दुरित्यृक्पाठः ।

§ पूर्वार्चिके ५२९ संख्यको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

$ चेत्यृक्पाठः ।

देव दिव्य सोम, देवान्विदुषो द्यावापृथिवी च मत्सि मादय हर्षय। एते सर्वे सुखिनः सन्तोस्मान्सुखयन्त्विति भावः ॥ ३।१ ॥

१२५५. महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्। अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥ ३।१ ॥ (ऋ० ९।९७।४१)

महत्तदिति। ऋष्यादय उक्ताः, व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ ३।१ ॥

१२५६. एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयते‡।
अभिद्रोणान्यासदम् ॥ १।२ ॥ (ऋ० ९।३।१)

एष देव इति। शुनःशेष आजीगर्तिर्ऋषिः, स देवरातः कृत्रिमो वैश्वामित्रः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। एषः पवमानः सोमो मर्त्योमरणधर्मा देवः। अभि द्रोणानि द्रोणा उपासकास्तान्। द्रवन्ति गच्छन्ति परमात्मानं प्रति मनसा वचसा कर्मणा च ये ते द्रोणाः। लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः। उपासकानभिलक्ष्य। आसदमासादयितुं प्राप्तुम् पर्णवीरिव पर्णाभ्यां पतत्त्राभ्यां वेति गच्छतीति पर्णवीः पक्षी। स इव दीयते गच्छति। दीयतीति गतिकर्मा (निघ० २,१४,६९)। उपासकान् प्रति गन्तुं न स मनागपि विलम्बं सहत इत्यर्थः ॥ १।२ ॥

१२५७. एष विप्रैरभिष्टुतोऽपो देवो वि गाहते।
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ २।२ ॥ (ऋ० ९।३।६)

एष इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। विप्रैर्मेधाविभिः, विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३,१५,२) अभि ष्टुतोत्यन्तं स्तुतः। एष देवः

† पूर्वार्चिके ५४२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ दीयतीत्यकपाठः।

सोमः परमात्मा। दाशुषे स्वमनोर्पणकर्त्रे उपासकाय। रत्नानि रमणीयवस्तूनि सत्यशमदमादीनि। दधद्धारयन्। अपः स्वकर्तव्यं भक्तरक्षारूपम्। विगाहते विलोडयति आचरतीत्यर्थः ॥ २।२ ॥

१२५८. एष विश्वानि वार्या शूरो यन्निव सत्त्वभिः।
पवमानः सिषासति ॥ ३।२ ॥ (ऋ० ९।३।४)

एष विश्वानीति। ऋष्यादय उक्ताः, एष सर्वत्र वर्तमानः शूरो निखिलदोषविशरणकर्ता पवमानः सर्वेषां पावयिता सोमः परमात्मा सत्त्वभिरनुकरणीयैरुदात्तगुणैर्यन्नुपासकसन्निधौ गच्छन्। विश्वानि सर्वाणि वार्या वार्याणि वरणीयानि सत्यसदाचारादीनि तत्त्वानि सिषासति इव विभजतीव। अयमाशयः। भक्तः सदा ध्यायति परमेश्वरो मम सविध आगच्छति मदीयान्यभिलषितानि सर्वाण्येव वस्तूनि समादायैष आयाति तेन सहाहं मया च सह स वार्तालापं करोतीति। इदमेव ध्यातं वस्तूपासकः सदा जाग्रत्स्वप्नश्च साक्षादुपलाभ्यमानमिव मन्यते। एवं चात्र मदीयः परमेश्वरः सर्वान् विघ्नान् निरस्य सर्वैरेव प्राप्तव्यगुणैरयमायातीत्येवमुपासको मन्यते ॥ ३।२ ॥

१२५९. एष देवो रथर्यति पवमानो दिशस्यति[1]।
आविष्कृणोति वग्वनुम् ॥ ४।२ ॥ (ऋ० ९।३।५)

एष देव इति। ऋष्यादय उक्ताः, एष देवः पवमानः परमात्मा रथर्यति रथं कामयते भक्तं प्रत्यागन्तुम्। रथर्यतीति नैरुक्तो धातुः। दिशस्यति भक्तसमीपमागत्य तदभिलषितं दातुं कामयते। दिश अतिसर्जने। वग्वनुं वाचं च आविष्कृणोति आविर्भावयति। भक्तेन सह वाचं मिश्रयतीतिभावः ॥ ४।२ ॥

---

[1] दशस्यतीत्यृक्पाठः।

१२६०. एष देवो विपन्युभिः पवमान ऋतायुभिः ।
हरिर्वाजाय मृज्यते ॥ ५।२ ॥ (ऋ० ९।३।३)

एष देव विपन्युभिरिति । ऋष्यादय उक्ताः, पवमानः सर्वान्पुनान एष हरिः सर्वदोषनिवारको देवः परमेश्वरः । विपन्युभिर्मेधाविभिः । विपन्यव इति मेधाविनाम (निघ० ३,१६,१७) । विपूर्वः स्तुत्यर्थः पनधातुः । कत्युच् प्रत्ययः (उ० ३,४८) । ऋतायुभिः सत्यकामैः । वाजाय वलाय, आध्यात्मिकवलमवाप्तुमितिभावः । मृज्यते मृग्यत इत्यर्थः ॥ ५।२ ॥

१२६१. एष देवो विपा कृतोऽपि ह्वरांसि धावति ।
पवमानो अदाभ्यः ॥ ६।२ ॥ (ऋ० ९।३।२)

एष देव विपेवि । ऋष्यादय उक्ताः, अदाभ्यः केनापि कदाप्यहिंसितोऽहिंस्यो वा । दभ्नोतिर्वधकर्मा (निघ० २,१९,१) । एष पवमानो देवः विपा वाचा, विप प्रेरणे, सम्पदादित्वात् क्विप् । कृतः प्रेरितः प्रार्थनावाग्भिरितिभावः । प्रसन्नः कृत इति वा । ह्वरांसि क्रोधान् क्रोधपात्राणीतिभावः । दुर्जनानिति तात्पर्यम् । अति धावति हन्तुं धावति ह्वरस् इति क्रोधनाम (निघ० २,१३,७) ह्वृ कौटिल्ये । असुन्प्रत्ययः ॥ ६।२ ॥

१२६२. एष दिवं वि धावति तिरो रजांसि धारया ।
पवमानः कनिक्रदत् ॥ ७।२ ॥ (ऋ० ९।३।७)

एष दिवमिति । ऋष्यादयः उक्ताः, पवमानः एष परमात्मा । धारया भक्तवाचा भक्तानां प्राथनावचसा । धारेति वाङ्नाम (निघ० १,११,२), राजांसि तमांसि । रज इति रात्रिनाम (निघ० १,७,१२), लक्षणया तमोऽत्र गृह्यते । तिरस्तिरस्कुर्वन् दूरीकुर्वन्नितिभावः । विनाशयन्निति तात्पर्यम् । कनिक्रदत् शब्दाय-

मानो 'मा भैषी' इति शब्दं कुर्वन् दिवं दिव्यजनं प्रति । वि धावति विशेषेण धावति शीघ्रमेव तं प्राप्नोतीतिभावः ॥ ७।२ ॥

१२६३. एष दिवं व्यासरत्तिरो रजांस्यस्तृतः† ।

पवमानः स्वध्वरः ॥ ८।१ ॥ (ऋ० ९।३।८)

एष दिवं व्येति । ऋष्यादय उक्ताः, एष परमेश्वरो दिवं दिव्यजनं व्यासरद् विशेषेण गच्छति प्राप्नोति । किं भूतः ? अस्तृतोहिंसितः । स्तृञ् हिंसायाम् । स्वध्वरः शोभना अहिंसका उपासकायस्य सः, ध्वरतिर्हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः, रजांसि रात्रीस्तमांसि तिरस्तिरस्कुर्वन् । रज इति रात्रिनाम ॥ ८।२ ॥

१२६४. एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः ।

हरिः पवित्रे अर्षति ॥ ९।२ ॥ (ऋ० ९।३।९)

एष प्रत्नेनेति । ऋष्यादय उक्ताः, प्रत्नेन पुराणेन प्राचीनेन । जन्मना देवेभ्यो देवैः । तृतीयार्थे चतुर्थी पञ्चमी वा । सुतो निष्पादितः प्राप्तो वा एष देवो हरिः परमात्मा । पवित्रे पवित्रेषु भक्तेषु अर्षति गच्छति ॥ ९।२ ॥

१२६५. एष उ स्य पुरुव्रतो जज्ञानो जनयन्निषः ।

धारया पवते सुतः ॥ १०।२ ॥ (ऋ० ९।३।१०)

एष उ स्य इति । ऋष्यादय उक्ताः, पुरुव्रतो बहुसंकल्पो बहुकर्मा वा । व्रतमिति कर्मनाम (निघ० २,१,७), व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः इति यास्कः (नि० २,१२), जज्ञानः प्राकट्यमाप्नुवन्निव । इष इष्टानि वस्तूनि जनयन्नेष परमात्मा । धारया प्रार्थनावचसा भक्तानामितिशेषः । सुतः परमेश्वरं निष्पादितवतः

† रजांस्यस्पृत इत्यृक्पाठः ।

प्राकट्यं नीतवतो भक्तान् प्रति पवते गच्छति। पवतिर्गत्यर्थः। सुत इति द्वितीया वहुवचनम् ॥ १०।२ ॥

इति प्रथमः खण्डः



अथ द्वितीयः खण्डः

१२६६. एष धिया यात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः।
गच्छन्निन्द्रस्य निस्कृतम् ॥ १।३ ॥ (ऋ० ९।१५।१)

एष धियेति। असितः काश्यपो देवलो वर्षिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। इन्द्रस्य परमात्मनः। निष्कृतं नितरां कृतं स्थानमुत्तमं स्थानमित्यर्थः। गच्छन्गमिष्यन् एष शूरः सर्वविकारविशरणकर्ता सोमो जीवः शान्तः। आशुभिः शीघ्रगमनशीलैः रथेभीरमणीयैरिन्द्रियैः साधनभूतैः। अण्व्या सूक्ष्मया धिया बुद्धया हेतुना। व्यवहारबुद्धि परित्यज्य परमात्मवुद्धये यर्थः। याति गच्छति निष्कृतमेवेत्यर्थः ॥ १।३ ॥

१२६७. एष पुरू धियायते बृहते देवतातये।
यत्रामृतास आशत† ॥ २।३ ॥ (ऋ० ९।१५।२)

एष पुर्विति। एष सोम उपासक बृहते देवतातये महते यज्ञाय भक्तिरूपाय पुरु बहुलं। धियायते कर्मेच्छति। धीति कर्मनाम। यकारोपजनः। यत्र यस्मिन्भक्तियज्ञे। अमृतासः परमात्मानुभवितारो, ज्ञानिनः। आशत आसत तिष्ठन्ति वसन्ति ॥ २।३ ॥

---

† यत्रामृतास आसते इत्यृक्पाठः।

१२६८ एतं मृजन्ति मर्ज्यमुप द्रोणेष्वायवः ।
प्रचक्राणं महीरिषः ॥ ३।३ ॥ (ऋ० ९।१५।७)

एतमिति । ऋष्यादय उक्ताः, आयवो मनुष्याः । 'आयोरयनस्य मनुष्यस्येति यास्क' (नि० १०,४१), सद्भावभाविताः । द्रोणेषु मनुष्येषु । द्रवन्ति परदुःखेन स्वदुःखेन वा । परदुःखेन द्रुता दयालव उच्यन्ते । स्वदुःखेन द्रुता विवेकिन उच्यते । अत्र द्रोणा विवेकिपुरुषाः । तेषु मध्ये महीर्महतीरिप इष्टीः । प्रचक्राणं कुर्वाणम् । एतमुपस्थितम् । मर्ज्यं शोधनीयं परमात्मना महात्मभिर्वा । उपासकम् । मृजन्ति शोधयन्ति ॥ ३।३ ॥

१२६९. एष हितो वि नीयतेऽन्तः शुन्ध्यावता† पथा ।
यदी तुञ्जन्ति भूर्णयः ॥ ४।३ ॥ (ऋ० ९।१५।३)

एष हित इति । ऋष्यादय उक्ताः, यदि यदा भूर्णयो विद्वांसो महात्मानो वा । विभ्रतीतिभूर्णयः, धारणकर्तारः, केचिद्बलेन-किञ्चिद्धारयन्ति केचिच्च ज्ञानेन किञ्चिद्धारयन्ति । विद्वांसः स्वज्ञानेन स्वानुभवेन वा नूतनानुपासकान् धारयन्ति मार्गं दर्शयन्ति । तुञ्जन्ति ददति स्वानुभवं नूतनेभ्य उपासकेभ्यः । तुञ्जतिर्दानार्थः (निघ० ३,२०,९), तदा एष वर्तमानो हितः स्वहितकारक उपासकः । शुन्ध्यावता शुद्धिमता पथा मार्गेण । अन्तः परमात्मनि वि नीयते विशेषेण नीयते ॥ ४।३ ॥

१२७०. एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः ।
पतिः सिन्धूनां भवन् ॥ ५।३ ॥ (ऋ० ९।१५।५)

---

† शुम्भावतेत्य पाठः ।

एष रुक्मीति । एष सोम उपासकः, रुक्मिभिः सत्यसदाचाराहिंसादिप्रकाशमद्भिर्विद्वद्भिः । सहार्थे तृतीया । तैः सह ईयते गच्छति स्वकालं यापयति । कीदृशः स ? वाजी वेगवान् बलवान् वा । नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो भवति । शुभ्रेभिः शोभनैः । अंशुभिः प्रकाशैः । विशिष्ट इत्यध्याहार्यम् । किं च सिन्धूनां रसानां पतिः स्वामी भवन् । परमेश्वरे रसे सर्वे रसा निविष्टा इति सर्वरसानामधिष्ठाता सः ॥ ५।३ ॥

१२७१. एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो३ वृषा ।
नृम्णा दधान ओजसा ॥ ६।३ ॥ (ऋ० ९।१५।४)

एष शृङ्गेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । एष उपासकः, ओजसा सामर्थ्येन सदाचारपालनजन्येन । नृम्णा नृम्णानि बलानि मानसिकबलानि । दधानो धारयन् । यूथ्यो यूथार्हः । स्वानुयायिरक्षणसामर्थ्योपेतः । वृषा सर्वानुयायिविघ्ननिवारकः । शिशीते शिशीतानि तीक्ष्णानि शृङ्गाणि हिंसासाधनानि हिंसकान् दुर्जनान् रागादिवृत्तिसमुदायान्वा । दोधुवत् धूनोति कम्पयति । नायतीत्यर्थः ॥ ६।३ ॥

१२७२. एष वसूनि पिब्दनः† परुषा ययिवाँ अति ।
अव शादेषु गच्छति ॥ ८।३ ॥ (ऋ० ९।१५।६)

एष वसूनीति । ऋष्यादय उक्ताः, एष पिब्दनः पिहितमव्यक्तं वदतीति पिब्दनः । पृषोदरादित्वान्निष्पन्नः । मनसा परमेश्वरस्मरणशील एष उपासकः । परुषा परुषाणि कठोराणि । वसूनि आच्छादकान्यावरणानि । अति ययिवानतिक्रम्य गच्छति । शादेषु शातनकारिणः । द्वितीयार्थे सप्तमी, अव गच्छति जानाति । जानाति तत एव ताननतिक्राम्यति । उपसर्गवशात्क्रियाध्याहारः ॥ ८।३ ॥

---

† पिब्दना इत्यृक्पाठः ।

१२७३. एतमु त्यं दश क्षिपो हरिं† हिन्वन्ति यातवे ।
स्वायुधं मदिन्तमम् ॥ ९१३ ॥

एतमु त्यमिति । ऋष्यादय उक्ता,: दश दशसंख्याकाः क्षिपोऽङ्गुलयः । प्रणामाञ्जलय इत्यर्थः । स्वायुधं शोभनानामायूनां मनुष्याणां धारकं पोषकम् । मदिन्तमम् मादयितृतमम् एतं तं हरि परमात्मानम् । यातवे यातूनां दुर्जनानां निवृत्तये । मशकाय धूम इतिवत्प्रयोगः । हिन्वन्ति प्रेरयन्ति । साञ्जलिर्यदा भक्तः परमेश्वरं प्रार्थयते तदा स सर्वान्विघ्नान्निवारयितुमुपक्रमत इति भावः ॥९१३॥

इति द्वितीयः खण्डः

अथ तृतीयः खण्डः

१२७४. एष उ स्य वृषा रथोऽव्या वारेभिरव्यत‡ ।
गच्छन्वाजं सहस्रिणम् ॥ १४ ॥ (ऋ० ९।३८।१)

एष उ स्य इति । राहूगण आङ्गिरस ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । सहस्रिणमनन्तम् । वाजं बलम् । भक्तेभ्यो दातुम् । अव्या अव्यान् रक्षितव्यान् भक्तान् । गच्छन् । एष स्य एष स वृषा सेचको मनोरथानाम् । रथो रमणीयः वारेभिर्वारैः क्रमश इति यावत् । अव्यत भक्तान् अवति ॥ १४ ॥

१२७५. एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ २४ ॥ (ऋ० ९।३८।२)

† मृजन्ति सप्त धीतय इत्यपपाठः । ‡ रर्षतीत्यपपाठः ।

एतमिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । एतम् त्रितस्य आधिव्याध्युपाधीनां त्रयस्य योषणो विनाशकम् । युष हिंसायाम् । द्वितीयार्थे प्रथमा । इन्दुं परमैश्वर्यं क्लिन्नं वा । हरिं सर्वपापहर्तारं परमेश्वरम् । इन्द्राय भक्त्यैश्वर्यसम्पन्नस्य जीवात्मनः । चतुर्थी षठ्यर्थे । पीतये रक्षणाय । अद्रिभिर्दृढैः संकल्पैरितिशेषः । आचार्या हिन्वन्ति प्रेरयन्ति ॥ २।४ ॥

१२७६. एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति ।
गच्छं† जारो न योषितम् ॥ ३।४ ॥ (ऋ० ९।३८।४)

एष स्य इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । एष स्यः सोमः परमात्मा । श्येनो न शंसनीयमनूकूलं गच्छन्निव । श्येनः शंसनीयम् गच्छतीति यास्कः (नि० ४,२४), मानुषीषु विक्षु प्रजासु मनुष्याणां गृहेषु वा । सीदत्युपविशति । क इव योषितं परमेश्वरेण सहात्मानं मिश्रयितारम् । यु मिश्रणामिश्रणयोः । भक्तं प्रति गच्छन् जारः परमेश्वरः । जॄ हिंसायाम् । सर्वकालुष्यविनाशयिता । यथा परमेश्वरो भक्तगृहे सीदति तथैवान्यासु प्रजास्वपि स आनुकूल्यं गच्छन्निव सीदत्येव ॥ ३।४ ॥

१२७७. एष स्य मद्यो रसोऽव चष्टे दिवः शिशुः ।
य इन्दुर्वारमाविशत् ॥ ४।४ ॥ (ऋ० ९।३८।५)

एष स्य मद्य इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । य इन्दुः परमात्मा । वारं वरणीयं प्रियं भक्तमाविशत् आविशति स्य स एष पुरो वर्तमानः । रसो रस्यो रसरूपो वा । दिवः दिव्यस्य भक्तस्य । शिशुः सर्वार्थपूरकः । शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दान-

† गच्छञ्जार इत्यन्यपाठः ।

कर्मण इति यास्कः (नि० १०,३९), मद्यो मादकः प्रहर्षयिता, अव चष्टे सर्वान् पश्यत्येव ॥ ४।४ ॥

१२७८. एष स्य पीतये सुतो हरिरर्षति धर्णसिः ।
क्रन्दन्योनिमभि प्रियम् ॥ ५।४ ॥ (ऋ० ९।३८।६)

एष स्य पीतये इति । ऋष्यादय उक्ताः, धर्णसिः सर्वेषां धारकः । पीतये भक्तिरसपानाय । सुतः प्रार्थनाभिरभिमुखीकृतः । एष स्य हरिः एष स परमेश्वरः । क्रन्दन् मा भैषीर्मा भैषीरिति शब्दं कुर्वन् । प्रियं प्रेमाधारम् । योनिं पात्रं प्रेमरसनिष्यन्दन-पात्रमुपासकम् । अभि अर्षति अभिगच्छति ॥ ५।४ ॥

१२७९. एतं त्यं हरितो दश मर्मृज्यन्ते अपस्युवः ।
याभिर्मदाय शुम्भते ॥६।४ ॥ (ऋ० ९।३८।३)

एतं त्यमिति । ऋष्यादय उक्ताः, अपस्युवः परमात्मानं प्राप्तुमिच्छवः । एतं त्यं प्रत्यक्षमिव प्रतीयमानमुपासनाकाले तं परमेश्वरम् । लब्धमिति शेषः । दश हरित इन्द्रियाणि । मर्मृज्यन्ते शोधयन्ति पुनः पुनः । हरन्ति विषयेषु मनः इति हरितः । याभिर्हरिद्भिरिन्द्रियैरिन्द्रियवृत्तिभिर्वा । मदाय प्रमोदाय मादयित्रे परमात्मने परमात्मार्थमितिभावः । शुम्भते प्रकाशन्ते । वचनव्यत्ययः यदेन्द्रियाण्युपासकः शोधयति तदा परमानन्दस्वरूपस्य परेशस्य प्राप्तये स योग्यो भवतीयाशयः ॥ ६।४ ॥

इति तृतीयः खण्डः



अथ चतुर्थः खण्डः

१२८०. एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः।
अव्यं † वारं वि धावति ॥ १।५ ॥ (ऋ० ९।२८।१)

एष वाजीति। प्रियमेध आङ्गिरसः ऋषिः, सोमो देवता, गायत्री छन्दः। एष वाजी बलवान्। नृभिरुपासकैर्जनैर्हितो निहितो मनसि। विश्ववित्सर्ववित्। मनसस्पतिरुपासकानां मनसः स्वामी। उपासकैः स्वमनः परमात्मनि समर्पितं भवति ततस्तस्य स्वामी परमात्मैव। अव्यं रक्षणीयं वारं वरणीयमुपासकं प्रति विधावति विशेषेण धावति ॥ १।५ ॥

१२८१. एष पवित्रे अक्षरत्सोमो देवेभ्यः सुतः।
विश्वा धामान्याविशन् ॥ २।५ ॥ (ऋ० ९।२८।२)

एष पवित्र इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। विश्वा विश्वानि सर्वाणि धामानि तेजांसि लोकान्वा। आविशन् प्रविष्टो व्यापकः। देवेभ्यो देवैः पवित्रैर्भक्तैः। तृतीयार्था चतुर्थी। सुतः साक्षात्कृतः। एष सोमः शान्तः परमात्मा। पवित्रे पवित्रान्तःकरणे अक्षरत्क्षरति ॥ २।५ ॥

१२८२. एष देवः शुभायतेऽधि योनावमर्त्यः।
वृत्रहा देववीतमः ॥ ३।५ ॥ (ऋ० ९।२८।३)

एष देव इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। वृत्रहा पापघ्नः, देववीतमः देवेषु प्राप्ततमः, अमर्त्योऽमरणधर्मा। एष देवः सोमः परमात्मा। योनौ स्वस्थाने पवित्रान्तःकरणे अधि शुभायते अधिकं शोभते ॥ ३।५ ॥

---

† अव्य इत्यन्यपाठः।

१२८३. एष वृषा कनिक्रदद्दशभिर्जामिभिर्यतः ।
अभि द्रोणानि धावति ॥ ४।५ ॥ (ऋ० ९।२८।४)

एष वृषेति । ऋष्यादय उक्ताः, दशभिर्दशसंख्याकैर्जामिभिरिन्द्रियैः । जमु अदने । अदन्ति विषयान्यैस्तानि । यतो नियतो वशीकृतः । एष वृषा सर्वेच्छासन्तर्पकः परेशः । कनिक्रदच्छब्दं कुर्वन् । द्रोणानि द्रुतानि हृदयानि अभिधावति ॥ ४।५ ॥

१२८४. एष सूर्यमरोचयत्पवमानो अधि† द्यवि ।
पवित्रे‡ मत्सरो मदः* ॥ ५।५ ॥ (ऋ० ९।२८।५)

एष सूर्यमिति । पवित्रे शुद्धेन्तःकरणे मत्सरो मादनशीलो मद आनन्दस्वरूपः । पवमानः पुनानः सर्वान् । एष परमात्मा । द्यवि प्रकाशितेन्तःकरणे । सूर्यं परमात्मानं प्रतिसरणशीलं जीवम् । अधि अरोचयत् अधिकं दीपयति ॥ ५।५ ॥

१२८५. एष§ सूर्येण हासते संवसानो£ विविस्वता ।
पतिर्वाचो अदाभ्यः ॥ ६।५ ॥

एष सूर्येणेति । सूर्येण परमात्मानं प्रति सरणशीलेन विवस्वता मनुष्येण । विवस्वन्तो मनुष्याः (निघ० २,३,२४), संवसानः परिवेष्टितः एष परमेश्वरः । हासते हास्यते परिच्याव्यते

---

† विचर्षणिरित्यृक्पाठः । ‡ विश्वा धामानि विश्वविदित्यृक्पाठः । * पवमानो अधि द्यवि । पवित्रे मत्सरो मद इति पाठ ऋग्वेदे ९।२७।५ इत्यत्रास्ति । § प्रथमः पादः ऋ० ९।२७।५ इत्यत्रास्ति । £ संवसानोविवस्वतेत्यस्य स्थाने 'संवसान' विवस्वत इति पाठः ऋ० ९।२६।४ इत्यत्रास्ति । पतिर्वाचो अदाभ्य इत्यस्य स्थाने पतिं वाचो अदाभ्यम् इति पाठः ऋग्वेदे ९।२६।४ इत्यत्रास्ति ।

स्वस्थानात् । स्वस्थानमानाय्यत इति भावः । कीदृशः सः ? वाचो वेदानां पतिः । आद्योपदेशक इत्यर्थः । अदाभ्यः केनाप्यहिंस्यः । यद्यप्युपासकहृदयमेव तस्य स्वस्थानं न च ततश्च्याव्यते स तथापि तस्य किञ्चिद्विशिष्टं स्थानं परिकल्प्येदं वचनम् । अथवा व्यापकत्व-रूपस्थानात्स्वहृदयरूपाल्पदेशं प्रति तस्य स्थापनमेव स्वस्थानच्युतिः ॥ ६।५ ॥

इति चतुर्थः खण्डः



अथ पञ्चमः खण्डः

१२८६. एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधि तोशते ।
पुनानो घ्नन्नप द्विषः† ॥ १।६ ॥ (ऋ० ९।२७।१)

एष कविभिरिति । नृमेध आङ्गिरसः ऋषिः पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । एष सोमः परेशः पुनानो जनान्, अपघ्नन् हिंसन् द्विषः शत्रून्मनोविकारान् । कविअभि क्रान्तदर्शीभिः स्तुतः पवित्रे जने अधि तोशते अवशिष्टं दोषं निहन्ति । तोशते नैरुक्तो धातुः । यद्यपि निघण्टौ (२,२०) नितोशते इति निपूर्वकः पाठ-स्तथापि इन्दुरिन्द्राय तोशते, नितोशते (ऋ० ७, ५, २१, ११) सुनासीरा हविषा तोषमानाः इतिपाठदर्शनात् न नावाग्रह इति प्रतीयते । अतोधिपूर्वकोपि एष तमेव अर्थमभिदधाति ॥ १।६ ॥

१२८७. एष इन्द्राय वायवे स्वर्जित्परि षिच्यते ।
पवित्रे दक्षसाधनः ॥ २।६ ॥ (ऋ० ९।२७।२)

---

† स्त्रिध इत्यृक्पाठः ।

एष इन्द्रायेति। ऋष्यादय उक्ताः, दक्षसाधनो दृढोपकरणः। स्वर्जित् स्वर्गजित् सर्वजिद्वा एष सोमः परमेश्वरः। पवित्रे पवित्राय। विभक्तिव्यत्ययः। वायवे गतिशीलाय परमेश्वरमभिलक्ष्य। इन्द्राय जीवात्मने उपासकाय। परि षिच्यते परिक्षरति सर्वं ददातीति भावः ॥ २।६ ॥

१२८८. एष नृभिर्वि नीयते दिवो मूर्धा वृषाः सुतः।
सोमो वनेषु विश्ववित् ॥ ३।६ ॥ (ऋ० ९।२७।३)

एष नृभिरिति। ऋष्यादय उक्ताः, दिवो दिव्यजनस्य मूर्धा प्रधानाङ्गम्। "मूर्धा मूर्तमस्मिन्धीयते मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवती"ति यास्कः (नि० ७,२७)। "मूर्धनि प्रधानाङ्गे" इति यास्कः (नि० ९,३१), वृषा सर्वमनोरथपूरकः। वनेषु वननीयेषु संभजनीयेषु जीवेषु सुतः प्रादुर्भूतः। विश्ववित्सर्ववित् एष सोमः परमेश्वरः नृभिरुपासकैर्विनीयते विशेषेण नीयते। स्वात्मनीतिशेषः ॥ ३।६ ॥

१२८९. एष गव्युरचिक्रदत्पवमानो हिरण्ययुः।
इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥ ४।६ ॥ (ऋ० ९।२७।४)

एष गव्युरिति। ऋष्यादय उक्ताः, अस्तृतोविनाशी। स्तृञ् हिंसायाम्। सत्राजित्सर्वजित्। इन्दुः प्रकाशरूपः। हिरण्ययुरुपासकेभ्यः परमोत्तमं धनं सदाचाररूपमिच्छन्। गव्युर्ज्ञानमिच्छन्नुपासकेभ्यः सर्वेभ्यो वा। पवमानः पुनानः सर्वानेष परमेश्वरः। अचिक्रदच्छब्दं करोति 'मदीये मार्गे गच्छन्न रिष्यसी'ति ॥ ४।६ ॥

१२९०. एष शुष्म्यसिष्यदन्तरिक्षे वृषा हरिः।
पुनान इन्दुरिन्द्रमा ॥ ५।६ ॥ (ऋ० ९।२७।५)

एष शुष्म्येति। ऋष्यादयः उक्ताः, शुष्मो बलवान्। वृषा सर्वमनोरथवर्षकः। हरिर्दोषनिवर्तकः। एष इन्दुः परमैश्वर्यं परमेश्वरः, इन्दुं जीवम्। आ पुनानः समन्ताच्छोधयन्। अन्तरिक्षे अन्तःकरणे सदाचारिणाम्। असिष्यदत् स्यन्दते ॥ ५।६ ॥

१२९१. एष शुष्म्यदाभ्यः सोमः पुनानो अर्षति।
देवावीरघशंसहा ॥ ६।६ ॥ (ऋ० ९।२७।६)

एष शुष्मदेति। ऋष्यादय उक्ताः, शुष्मी परमसमर्थः। अदाभ्यः केनाप्यहिंसितः। पुनानः सर्वान्। देवावीरुपासकानामविता। अघशंसहा अघान् शंसन्ति ये तेषां निहन्ता। एष सोमः परमात्मा अर्षति गच्छति भक्तानुद्दिश्य ॥ ६।६ ॥

इति पञ्चमः खण्डः



अथ षष्ठः खण्डः

१२९२. स सुतः पीतये वृषा सोमः पवित्रे अर्षति।
विघ्नन्रक्षांसि देवयुः ॥ १।७ ॥ (ऋ० ९।३७।१)

स सुत इति। राहूगण आङ्गिरस ऋषिः, सोमो देवता, गायत्री छन्दः। देवयुर्देवकामः सतामिच्छुः। वृषा कामानां वर्षकः। सुतः प्रादुर्भूतः प्रादुर्भावितो वा मुमुक्षुभिरुपासकैः। सोमः स परमेश्वरः। रक्षांसि विघ्नान् विघ्नन् निवारयन्। पीतये पानाय भक्तान्रसं पाययितुमित्यर्थः पवित्रेऽन्तःकरणेऽर्षति गच्छति ॥ १।७ ॥

१२९३. स पवित्रे विचक्षणो हरिरर्षति धर्णसिः।
अभि योनिं कनिक्रदत् ॥ २।७ ॥ (ऋ० ९।३७।२)

स पवित्र इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । विचक्षणो विशेषेण सर्व-वस्तुद्रष्टा । धर्णसिः सर्वेषां धारकः । स हरिः परमात्मा । कीनक्रदत् शब्दं कुर्वन् प्रसन्नो भवन्नित्यर्थः । योनिं स्वनिवासस्थानमभि अभिलक्ष्य । उपसर्गवशाद्धातोराक्षेपः । जीवान् प्रति मया गन्त-व्यमित्यवधार्य । पवित्रे शुद्धेन्तःकरणेऽर्षति गच्छति निवसती-त्यर्थः ॥२।७॥

१२९४. स वाजी रोचनं† दिवः पवमानो वि धावति ।
रक्षोहा वारमव्ययम् ॥ ३।७ ॥ (ऋ० ९।३७।३)

स वाजीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । वाजी बलवान् । दिवो दिव्य-जनस्य, रोचनं रोचकः, प्रकाशको हर्षदः । पवमानः पुनानः सर्वान् । रक्षोहा विघ्ननिवारकः, स परमेश्वरः । अव्ययमविनाशिनं नित्यं वारं वरणीयम् । जीवम् प्रति विधावति वेगेन गच्छति । अव्ययपदं जीवस्य नित्यत्वानुग्राहकम् ॥ ३।७ ॥

१२९५. स त्रितस्याधि सानवि पवमानो अरोचयत् ।
जामिभिः सूर्यं सह ॥ ४।७ ॥ (ऋ० ९।३७।४)

स त्रितस्येति । ऋष्यादय उक्ताः, त्रितस्य चिदचिदीश्वरेति-त्रितयस्य अधि सानवि सानुनि प्राधान्यमधि अधितिष्ठन् । चिद-चिदीश्वराणामीश्वर एव प्रधानमिति सर्वेषां मतम् । पवमानः पुनानः सर्वान् । स परमेश्वरः, जामिभिः सर्वप्रलयापादिनीभिः शक्तिभिः, सह साकम् । सूर्यं परमेश्वरं प्रति सरणशीलं जीवा-त्मानम् । अरोचयत् रोचयति प्रकाशयति । जीवो हि तमसाविष्टः । तमोनिवृत्त्यर्थं प्रलयङ्कर्यः शक्तय एवापेक्षिताः इति जामिभिरि-त्युक्तम् ॥ ४।७ ॥

---

† रोचना इत्यन्यपाठः ।

१२९६. स वृत्रहा वृषा सुतो वरिवोविददाभ्यः ।
सोमो वाजमिवासरत् ॥ ५।७ ॥ (ऋ० ९।३७।५)

स वृत्रहेति । ऋष्यादय उक्ताः, वृत्रहा पापनिवर्तकः । वृषा सर्वसन्मनोरथपूरकः । सुतः प्रादुर्भावित उपासनाकाल उपासकैः । वरिवोविद् ज्ञानधनलम्भकः, वरिव इति धननाम (निघ० २, १०,५), वृञ् वरणे । यङ्लुगन्तादसुनि बाहुलकादिलोपः । विदिति विद्लृ लाभ इत्यस्य । अदाभ्योदम्भनीयः । स सोमः परमेश्वरः । जीवं प्रति वाजं न वाजमिव धनमिवासरत् सरति । यथा कश्चिद्धनमुद्दिश्य धावति तथैव परमेश्वरः स्वस्वभूतं परमप्रियं भक्तजीवं प्रति सरति धावति ॥ ५।७ ॥

१२९७. स देवः कविनेषितो३ऽभि द्रोणानि धावति ।
इन्दुरिन्द्राय मंहयन्† ॥ ६।७ ॥ (ऋ० ९।३७।६)

स देव इति । ऋष्यादय उक्ताः, कविना कवयित्रा स्तोत्रपाठिनेतिभावः, परमभक्तेन, इषितः प्रेरितः । स्तुतिं श्रुत्वा स आर्द्रहृदयो भवतीतिभावः । स इन्दुः देवः परमैश्वर्यो देवः परमेश्वरः । द्रोणानि द्रुतानि भक्त्या भक्तहृदयानि, मंहयन् वर्धयन् । इन्द्राय जीवाय जीवकल्याणायेत्यर्थः । अभि धावति अतिशयवेगेन गच्छति ॥ ६।७ ॥

इति षष्ठः खण्डः



---

† मंहना इत्यृक्पाठः ।

अथ सप्तमः खण्डः

१२९८ यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥ १।८ ॥

(ऋ० ९।६७।३१)

यः पावमानीरिति । पवित्र आङ्गिरसो वा वसिष्ठो वा उभौ वा ऋषिः, पवमानाध्येता देवता, अनुष्टुप् छन्दः । य उपासकः, पावमानीः पवमानः परमेश्वरस्तत्सम्बन्धिनीः स्तुतीः । अध्येति स्मरति । मनसा पठति, अधीते वा । ऋषिभिस्तत्त्ववेत्तृभिर्ऋग्रचयितृभिर्यत्र रसं संभृतं रसः संभृतः । लिङ्गव्यत्ययो विभक्तिव्यत्ययो वा छान्दसः । सोऽध्येता पूतं पवित्रं परमात्मानम् । अश्नाति भुङ्क्ते अनुभवतीयर्थः । किं भूतं परमात्मानम् ? मातरिश्वना मातर्यन्तरिक्षेऽन्तःकरणरूपे श्वयति वर्धते स मातरिश्वा । यस्यान्तःकरणं मनोतिवृद्धं तत्त्वदर्शि जातं स मातरिश्वेत्युच्यते । तेन स्वदितमास्वादितम् ॥ १।८ ॥

१२९९. पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥ २।८ ॥

(ऋ० ९।६७।३२)

पावमानीरिति । ऋष्यादय उक्ताः, पूर्वार्धं व्याख्यातम् । तस्मै पावमानीरधीयानाय सरस्वती वाग्देवी । सरस्वतीति वाङ्नाम (निघ० १,११,२२) । क्षीरं दुग्धं सर्पिर्घृतं मधूदकं मधुरं जलं च दुहे दोग्धि ददाति । सर्वमिष्टं सम्पादयतीतिभावः । परमेश्वरस्तुत्या हि फलमेतत् शुद्धान्तःकरणेभ्य एव प्राप्यते नान्यस्मै वञ्चकाय दम्भादरायेति ॥ २।८ ॥

१३००. पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुघा हि घृतश्चुतः ।
ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम् ॥ ३।८ ॥
(ऋग्वेदे नास्ति)

पावमानीः स्वस्त्येति । ऋष्यादय उक्ताः, पावमान्यः परमेश्वरस्तुतयः स्वस्त्ययनीः कल्याणाकराः । सुदुघाः सर्वफलप्रदाः । घृतश्चुतो दीप्तिच्यावयित्र्यः । घृ क्षरणदीप्त्योः । सन्तीतिशेषः । कुतः पावमान्य ईदृश्यः सन्ति ? तत्रर्षिभी रस आस्वाद आनन्दप्रदः संभृतः पूरितः । ताश्च स्तुतयो ब्राह्मणेषु ब्रह्मवित्सु सदाचारसम्पन्नेषु हितं गतम् । हि गतौ, गताः सत्यः, लिङ्गव्यत्ययः । अमृतममृताय मोक्षाय भवन्ति ॥ ३।८ ॥

१३०१. पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम् ।
कामान्त्समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः ॥ ४।८ ॥
(ऋग्वेदे नास्ति)

पावमानीर्दधेति । इमाः पावमान्यः परमेश्वरस्तुतयो नोस्मभ्यमुपासकेभ्यः । इमं लोकम् अथो अमुं परलोकं च दधन्तु धारयन्तु रक्षन्त्वितिभावः । देवैर्विद्वद्भिः समाहृताः संगृहीतास्ता देवी देव्यो नोस्माकं कामान्मनोरथान् समर्धयन्तु वर्धयन्तु समृद्धान्कुर्वन्तु ॥ ४।८ ॥

१३०२. येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ।
तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥ ५।८ ॥
(ऋग्वेदे नास्ति)

येन देवा इति । येन पवित्रेण परमशुद्धेन परमात्मदर्शनेन देवाः सदाचारसम्पन्ना विद्वांस उपासकाः । आत्मानं स्वं सदा

पुनते पावयन्ति तेन सहस्रधारेणानन्तधारेण परमात्मदर्शनेन पावमानीः पावमान्यो नोस्मान् पुनन्तु पावयन्तु ॥ ५।८ ॥

१३०३. पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम् ।
पुण्यांश्च भक्षान्भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ॥ ६।८ ॥

(ऋग्वेदे नास्ति)

पावमानीः स्वस्त्ययनीरिति । इमाः पावमान्य ईश्वरस्तुतयः स्वस्त्ययनीः स्वस्त्ययनभूताः कल्याणाधाराः । ताभिर्हेतुना लोको नान्दनं परमानन्दपरमात्मधाम । नन्दयतीति नन्दनः । नन्दनस्य धाम नान्दनम् । गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । किं च नान्दनं गत्वा पुण्यान् पवित्रान्स्वरूपत एव । भक्षान् भोज्यान् भगवद्रत्यादि-रूपान् भक्षयति अमृतत्वं चामरणधर्मत्वं च गच्छति ॥ ६।८ ॥

इति सप्तमः खण्डः



अथाष्टमः खण्डः

१३०४. अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः
स्वे दुरोणे । चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं
विश्वतः प्रत्यञ्चम् ॥ १।९ ॥ (ऋ० ७।१२।१)

अगन्मेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, अग्निर्देवता, त्रिष्टुप् छन्दः । योग्निः सर्वव्यापकः परमात्मा स्वे दुरोणे गृहे । दुरोणेति गृहनाम (निघ० ३,४,७) रास्नासास्नासुम्नद्युम्न० (भो० सू० २,२,१८४) इति सूत्रे आदिग्रहणादस्य सिद्धिः । दुरवा भवन्ति दुस्तर्पा इति यास्कः (नि० ४,५) । परमात्मनः स्वगृहं भक्तहृदयम् । तस्मिन् समिद्धः संदीप्तः सन् दीदाय दीप्यते । तं

महा महता नमसा नमस्कारेण । अगन्म वयमुपगच्छामः । कीदृशं तम् ? यविष्ठं युवतमं न कदापि वृद्धम् । चित्रभानुमाश्चर्यप्रदप्रकाशम् । उर्वी उर्व्योर्महत्यो रोदसी द्यावापृथिव्याः । अन्तर्मध्यें व्यापकमितिशेषः । स्वाहुतं सुष्ठु हृदयाय दत्तं भवतैः । हु दानादनयोः । विश्वतः सर्वतः प्रत्यञ्चं प्रतिपूजितम् ॥ १।९ ॥

१३०५. स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्नि। ष्टवे दम आ
जातवेदाः । स नो रक्षिषद्दुरितादवद्यादस्मान्गृणत
उत नो मघोनः ॥ २।९ ॥ (ऋ० ७।१२।२)

स मह्नेति । ऋष्यादय उक्ताः, मह्ना महत्त्वेन स्तवे यत्रोपासकैः स्तूयते तस्मिन् दमे गृहे ऽन्तःकरणे । दमेति गृहनाम (निघ० ३, ४,१२) । दम उपशमे, दाम्यते शीतादरनेन । घञ् । नोदात्तोपदेशस्येतिवृद्धिप्रतिषेधः । विश्वा विश्वानि दुरितानि पापानि दुःखानि वा । साह्वान् अभिभवन् । जातवेदा जातं जातं वेत्ति यः सः, अग्निः परमात्मा । नोस्मान्दुरितात्पापाद् आ रक्षिषद् समन्ताद्रक्षतु । अवद्यान्निन्दिताच्च कर्मणो रक्षिषद्रक्षतु । गृणतः स्तुवतोस्मान् रक्षतु । मघोन उत नः धनवतोप्यस्मान् रक्षतु । न हि लौकिकं धनं रक्षायै भवतीति सूचितम् ॥ २।९ ॥

१३०६. त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्व-
सिष्ठाः । त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात
स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३।९ ॥ (ऋ० ७।१२।३)

त्वं वरुण इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, त्वं वरुणो वरणीयोसि । उत अपि च मित्त्रः सर्वेषां प्रमीतान्मरणात्

। साह्वानग्निरित्यपपाठः ।

त्रातासि। प्रमीतशब्दस्य मिद्भावः। किं च वसिष्ठाः संयमिनो महात्मानः। मतिभिर्विद्वद्भिः करणैः। मतय इति मेधाविनाम (निघ० ३,१५,२२)। त्वां वर्धन्ति वर्धयन्ति। मेधाविनो विदुषः परमार्थमार्गे संयमिनः प्रेरयन्ति तेन परमात्मनो वृद्धिर्भवति। परमात्मनो वृद्धिरित्यस्य मदीयाः पुत्रा मदाज्ञापालने सन्मार्गे च निरता इति हर्षातिशय इत्यर्थः। हे परमेश्वर त्वे त्वयि स्थितानि वसु वसूनि धनानि सुषणनानि सुविभजनीयानि सन्तु। नह्यपात्रेषु तानि वितरणीयानीत्यभ्यर्थना। एकस्मिन्नपि वरुणो मित्रोऽग्निरिति त्रीणि रूपाणि परिकल्प्य काल्पनिकं पार्थक्यमङ्गीकृत्य यूयमित्युक्तिः। यूयमग्निमित्रवरुणाः स्वस्तिभिराशीर्वचनैर्नोऽस्मान् सदा पात रक्षत॥ ३।९॥

१३०७. महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे॥ १।१०॥ (ऋ० ८।६।१)

महानिति। वत्सः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः। वृष्टिमान् जलवान् पर्जन्यो मेघ इव य इन्द्रः परमात्मा। ओजसा तेजसा सहिष्णुना बलेन महानस्ति स वत्सस्य प्रियतमभक्तस्य अस्य मन्त्रस्य द्रष्टुरृषेर्वत्सस्य वा स्तोमैः स्तोत्रैर्वावृधे वर्धते प्रसीदति॥ १।१०॥

१३०८. कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम्।
जामि ब्रुवत आयुधा[1]॥ २।१०॥ (ऋ० ८।६।३)

कण्वा इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। कण्वा मेधाविनः। काण्व इति मेधाविनाम (निघ० ३,१५,७)। कण निमीलने। काणयति निमीलयति स्वतेजसा परानिति। स्तोमैः स्तोत्रैः। इन्द्रं परमेश्वरम्। यत्

[1] आयुधमित्यृक्पाठः।

यदा यज्ञस्योपासनारूपयज्ञस्य साधनं करणम् अक्रत अकृषत तदा आयुधा आयुधानि कामादिशत्रुभिः सहयोधनसाधनानीन्द्रियसंयमादीनि जामि बालिशानि निरर्थकानीति भावः। ब्रुवते वदन्ति। अतिरेकबालिशसमानजातीयानां वाचको जामिशब्द इति देवराजः। संयमादयः साधनमीश्वरप्राप्तौ। यदोपासनकाले परमेश्वरः साक्षादनुभूतो भवति तदा संयमादयो नैरर्थक्यं व्रजन्तीतिभावः॥ ३११०॥

१३०९. प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः।

विप्रा ऋतस्य वाहसा॥ ३११०॥ (ऋ० ८।६।२)

प्रजामृतस्येति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। प्रजा मनुष्यादीन् पिप्रतः पालयत ऋतस्य परमसत्यस्य परमात्मनो यत् तेज इतिशेषः। वह्नय उपासकाः। वहन्ति परमेश्वरतेजो हृदयं प्रापयन्तीति वह्नयः। वह प्रापणे। भरन्त भरन्ति पोषयन्ति धारयन्ति वा हृदये। ऋतस्य तत्तेजो विप्रा मेधाविनो वाहसा परमेश्वरवाहकेणान्तःकरणेन भरन्ति॥ ३११०॥

इत्यष्टमः खण्डः



अथ नवमः खण्डः

१३१०. पवमानस्य जिघ्नतो† हरेश्चन्द्रा असृक्षत।

जीरा अजिरशोचिषः॥ ३१११॥ (ऋ० ९।६६।२५)

पवमानस्येति। शतं वैखानस ऋषिः। पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः। जिघ्नतो विनाशयतो दुर्गुणान्दुर्जनांश्च। हरेरखि

† "जङ्घ्नतो" इत्यन्यपाठः।

लमनोहरस्य । अजिरशोचिषः सर्वव्यापकतेजस्कस्य, अज गतौ । पवमानस्य पुनानस्य सर्वान् परमात्मनो जीराः क्षिप्रगमनशीलाः । जीरा इति क्षिप्रनाम (निघ० २,१५,५) । जु गतौ । 'जोरी च' (उ० २,२५) इति सूत्रेण पूर्वस्मादनुवर्तमानो रक् प्रत्ययो भवति, ईकारश्चान्तादेशः । चन्द्रा आह्लादयित्र्यः कृपादृष्टयः । असृक्षत सृज्यन्ते, भक्ताः कृपादृष्टिविषया भवन्ति ॥ १।११ ॥

१३११. पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः ।
हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः ॥ २।११ ॥ (ऋ० ९।६६।२६)

१३१२. पवमान† व्यश्नुहि रश्मिभिर्वाजसातमः ।
दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥ ३।११ ॥ (ऋ० ९।६६।२७)

पवमानो रथीतम इति, पवमानो व्यश्नुहीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे पवमान सर्वपावक पवमानः पुनानो भक्तान् । रथीतमोतिरमणोतिवेगो वा । शुभ्रशस्तमोतिप्रकाशः । हरिर्मनोहरः । चन्द्र आह्लादकः । मरुद्गणो मरुतां देवानामथवा रूपाणां रूपिणामित्यर्थः । गणयिता समये नाशयिता । वाजसातमोतिशयेन बलस्य दाता । ईदृशस्त्वं सुवीर्यमतिशयबलं दधद्धारयन् स्तोत्रे स्तुतिकर्तरि मयि शुभ्रेभिरतिप्रकाशैः रश्मिभिस्तेजोभिर्व्यश्नुहि व्याप्नुहि ॥ २,११ ॥ ३,११ ॥

१३१३. परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः ।
दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्व१न्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥ १।१२ ॥ (ऋ० ९।१०७।१)

---

† पवमानो व्यश्नवद् इत्यृक्पाठः ।

परीत इति। सप्तर्षय ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, प्रगाथश्छन्दः (बृहती)। यः सोम उमेन परमेश्वरेण सह वर्तमान, जीवः स उत्तमं हविः पवित्रं वस्तु। अग्नौ हूयमानं वस्तु हविरित्युच्यते। अत्र लक्षणया पवित्रं वस्त्वति गृह्यते। उमेनेत्यत्रो अव रक्षणे। मन् प्रत्ययः स च कित्। अवति रक्षतीत्युमः परमात्मा। तं पवित्रवस्तुरूपं सुतमैश्वर्ययुक्तमाचार्येणानुज्ञातं वा। षु प्रसवैश्वर्ययोः। प्रसवोभ्यनुज्ञानम्। परीतः परीतं परौ परमात्मनीतं गतं स्थितं परमात्मनिष्ठमिति भावः। पृ पालनपूरणयोः। इन् प्रत्ययः (उ० ४,१२६)। पिपर्तीति परिः परमेश्वरः। द्वितीयार्थे प्रथमा छान्दसी। सिञ्चत वर्धयत ज्ञानोपदेशेन। विद्वांस इति सम्वोधनपदमध्याहार्यम्। यः सोमो नर्यो मनुष्यहितकारकः। अप्सु अन्तःकरणे। आप्यन्त इत्यपः। वहुवचनं शब्दस्वाभाव्यात्। अन्तरभ्यन्तरे। अन्तःकरणाभ्यन्तर इत्यर्थः। अन्तर् पदमन्तरेणापि सप्तम्या एवाभ्यन्तरमित्यर्थो लभ्यत एव तथापि तदर्थद्योतनार्थमेवान्तरिति कृपापूर्णया श्रुत्योक्तम्। दधन्वान् ईश्वरं धारयति सः। अद्रिभिरदीर्णसङ्कल्पैः सोममन्यान् सोमान् परमेश्वरभक्तान् सुषावोत्पादयति॥ ११२॥

१३१४. नूनं पुनानोऽविभिः परि स्रवादब्धः सुरभिन्तरः।
सुते चित्त्वाप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गोभि-
रुत्तरम्॥ २।१२॥ (ऋ० ९।१०७।२)

नूनमिति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः सतो बृहती। हे परेश, सुरभिन्तरः अतिशयेन शोभनारम्भः। अदब्धोविनाशो। अविभी रक्षणैः। पुनानोऽस्मान्। नूनं परि स्रव अस्मास्वार्द्रो भव। सुते ऐश्वर्यशालिनि त्वयि परिस्रुते वयमुपासका, अप्स्वन्तःकरणे

उत्तरमुत्कृष्टतरं त्वा त्वामन्धसा चित् ध्यानेनैव गोभिर्वचनैः प्रार्थनावचनैश्च श्रीणन्तो विशेषेणार्द्रयन्तः। मदामः माद्यामो मादयामश्च त्वामपि ॥ २।१२ ॥

१३१५. परि स्वानश्चक्षसे† देवमादनः क्रतुरिन्दुर्विचक्षणः ॥ ३।१२ ॥ (ऋ० ९।१०७।३)

परि स्वान इति। ऋषिदेवते उक्ते, भुरिग् द्विपदा विराट्। स्वानः सुवान ऐश्वर्यशाली सन् देवमादनः सतां मादयिता। क्रतुः सर्वकर्ता। इन्दुः प्रकाशमानः। ञि इन्धी दीप्तौ, विचक्षणो विशेषण द्रष्ट सर्वेषाम्। चक्षसे स्वोपासकान्द्रष्टुमनुकम्पितुमितियावत्। परिस्रवति दयार्द्रो भवति ॥ ३।१२ ॥

१३१६. असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत्। पुनानो वारमत्येष्यव्ययं‡ श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत्* ॥ १।१३ ॥ (ऋ० ९।८२।१)

असावीति। वसुर्भारद्वाजऋषिः, पवमानः सोमो देवता, जगती छन्दः। अरुषो रोषरहितः। वृषा सर्वकामसेचकः। हरिरखिलदोषनिवर्तकः, सोमः परमात्मा। असावि भक्तैः साक्षादकारि। स च सोमः, दस्मः सर्वदुःखनिवारकः। दसु उपक्षये। 'इषियुधिन्धिदसि··' (उ० १,४५) इत्यनेन मक्। राजेव गाः शब्दानचिक्रदत् शब्दं करोति 'मा भैषीरिति। अव्ययमविनाशिनं वारं वरणीयं भक्तं पुनानः। अत्येषि अत्यन्तं गच्छति। पुरुषव्यत्ययश्छन्दसः। श्येनः श्यायते देहाद्देहान्तरं गच्छतीति श्येनो

† सुवान इत्यृक्पाठः।

‡ वारं पर्येष्यव्ययमित्यृक्पाठः। * मासदमित्यृक्पाठः।

जीवात्मा। घृतवन्तं दीप्तिमन्तं योनिं परमात्मरूपं स्थानमासदत् प्राप्नोत्। घृ क्षरणदीप्त्योः ॥ १।१३ ॥

१३१७. पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या
गिरिषु क्षयं दधे। स्वसार आपो अभि गा उदा-†
सरन्त्सं ग्रावभिर्वसते‡ वीते अध्वरे ॥ २।१३ ॥

(ऋ० ९।८२।३)

पर्जन्य इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। पर्णिनः परमेश्वरवतः। पिपर्ति पालयति पूरयति वा इति पर्णः परमात्मा। पृ पालनपूरणयोः 'धापृवस्य' (उ० ३,६) इति न प्रत्ययः। सोस्त्युपास्यत्वेन यस्य स पर्णी। तस्य पर्णिनः। महिषस्य महतः। महिष इति महन्नाम (निघ० ३,३,८)। यतः स परमात्मवांस्तेनैव स महान्। पिता पाता। पर्जन्यः परमेश्वरः। तर्पयतीति तृप्। जनाय हितो जन्यः। तृप् चासौ जन्यश्च। तृप्शब्दस्य पर्भावः इति देवराजयज्वा पृषु सेचने। षस्य ज इति भट्टाजिदीक्षितः। पर्जन्यः (उ० ३,९६) इत्यनेन निपातितोयं शब्दः। सर्वेषां तर्पको जनहितश्च परमेश्वरः। इत्थं भूतो जीवः पृथिव्या नाभा नाभौ नाभिभूतेषु गिरिषु परमेश्वरस्तावकेषु। गृणातिः स्तुतिकर्मेति यास्कः (नि० ३,५)। 'कॄ गॄ' (उ० ४,१३८) इति इ प्रत्ययः। ऋत इद्धातोरितीत्वम्। गृणन्ति स्तुवन्तीति गिरयः। 'गिरिर्ना नेत्ररुग्भिदि। अद्रौ गिरीजके योषिद्गोर्णौ पूज्ये पुनस्त्रिषु' इति मेदिनीप्रामाण्येन लोकेपि गिरिशब्दः पूज्यार्थे प्रसिद्धः। क्षयं निवासं दधे दधाति। नाभिः सन्नहनात्। परमेश्वरस्तोतारः पृथिवीं संनह्यन्ति दध्नन्ति स्वधर्ममाहात्म्येनेति नाभिभूताः। लौकिकनाभिरपि गर्भं संनह्यति। तस्य

† उत।सरन्नित्यृक्पाठः। ‡ नसते इत्यृक्पाठः।

सुखेनानायासेनास्यन्ति नीचैरिरिति, असु क्षेपणे, तथाभूताः, आपो मनोवृत्तयः। आप्लृ व्याप्तौ। व्याप्नुवन्ति पदार्थानिति आपः। 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च' (उ० २,५८) इति क्विप्, ह्रस्वत्वं च। गा वेदोपदेशवचनानि। अभि अभिलक्ष्य उदासरन् उत्कर्षेण सरन्ति गच्छन्ति। किं च वीते कान्ते। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। अध्वरे सरले परमात्मनि। ध्वृ कौटिल्ये। न ध्वरति कौटिल्यं न करोति न दधाति वा अध्वरः परमात्मा। ग्रावभिरीश्वरस्तोतृभिः गृणातिः स्तुतिकर्मा। तस्मात् क्वनिप् (पा० ३,२,७५) अडागमश्च, पृषोदरादिः। संवसते सम्यगाच्छादयन्ति स्वास्ता मनोवृत्तयः। स्तोतृभिः सह निवसन्तीतिभावः। मनोवृत्तय ईश्वरस्ताविकाः संजायन्ते इति तात्पर्यम् ॥ २।१३ ॥

१३१८. कविर्वेधस्या पर्येषि माहिनमत्यो न मृष्टो अभि
वाजमर्षसि। अपसेधन्दुरिता सोम नो मृड† घृता‡
वसानः परि यासि निर्णिजम् ॥ ३।१३ ॥ (ऋ० ९।८२।२)

कविरिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सोम परमेश्वर, त्वं कविर्विज्ञानपूर्णः सन्। वेधस्या अन्येपि मेधाविनः स्युरितीच्छया। वेधा इति मेधाविनाम। माहिनं महनीयं स्वतेजः पर्येषि व्याप्नोषि स्मरसीतिभावः। अत्योतिगमनशीलः। मृष्टो भक्तिजलैः संशोधितः। वाजं वजति परमात्मानमिति स्वभक्तम्। अभि अर्षसि अभिगच्छसि। अस्माकं भक्तानां दुरिता दुरितानि दोषानपसेधन्निवारयन् नोस्मान् मृड मृडय सुखय। घृता घृतानि प्रकाशसमूहं वसान आच्छादयन् अथवा धारयन् निर्णिजं परिशुद्धं भक्तात्मानं परि यासि परिगच्छसि ॥ ३।१३ ॥

इति नवमः खण्डः

† मृडयेत्यक्पाठः। ‡ घृतमित्यृक्पाठः।

अथ दशमः खण्ड

१३१९. श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत। वसूनि
जातो† जनिमान्योजसा‡ प्रति भागं न दीधिमः ॥ १।१४ ॥
(ऋ० ८।९९।३)

श्रायन्त इति। नृमेध आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता। प्रगाथश्छन्दः (बृहती), व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।१४ ॥

१३२०. अर्लर्षिऽ रातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इ द्रस्य रातयः।
योऽ अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय
चोदयन् ॥ २।१४ ॥ (ऋ० ८।९९।४)

अलर्षीति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः सतो बृहती, अलर्षि-रातिमित्येकपदत्वं भ्रान्त्येति मन्ये। अलर्षीति क्रियापदं 'दाधर्ति-दर्धर्तिः (पा० ७,४,६२) इत्यत्र निपातितमियतेर्लटि रूपम्। रातिमिति पृथक् पदम्। हे उपासक, रातिं दानमीश्वरकृतम्। अलर्षि गच्छसि जानासीतिभावः। वसुदां धनदातारं तम् उप स्तुहि। इन्द्रस्य परमेश्वरस्य रातयो दानानि भद्रा भद्राणि कल्याण कराणि। दानाय जीवेभ्य इतिशेषः। मन इच्छां स्यकीयां चोदयन् प्रेरयन्। विधतः परिचरतः। परमेश्वरम् विधधातुः परिचरणकर्मा (निघ० ३,५,२)। विधतिर्दानकर्मेति यास्कः (नि० १०,२३) अस्योपासकस्य। काममिच्छां संकल्पं वा। न रोषति न हिनस्ति।

---

† जाते इत्यृक्पाठः। ‡ जनिमान ओजसा इत्यृक्पाठः।
* पूर्वार्चिके २६७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
§ अनर्शरातिमित्यृक्पाठः। ऽ सो इत्यृक्पाठः।

रुष हिंसायाम् । ईश्वरस्य मनः सदा दानप्रवणम् । उपासकस्य कामं तु न कदापि स न हिनस्ति, पूरयत्येव ॥ २।१४॥

१३२१. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि । मघवञ् छग्धि तव तन्न ऊतये† वि द्विषो वि मृधो जहि ॥ १।१५ ॥

(ऋ० ८।६१।१३)

यत इन्द्र इति । भर्गः प्रागाथ ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (बृहती, छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः ‡ ॥ १।१५ ॥

१३२२. त्वं हि राधसस्पते* राधसो महः क्षयस्यासि विधर्ता§ । तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वणः सुतावन्तो हवामहे ॥ २।१५ ॥

(ऋ० ८।६१।१४)

त्वं हीति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः सतो बृहती । हे मघवन् धनवन् गिर्वणो गीर्भिर्वननीय स्तोतव्य, हे राधसस्पते धनस्वामिन्, त्वं हि महो महतो राधसो धनस्य महत्याः शक्तेर्वा । क्षयस्य सततनिवासस्य नित्यनिवासस्येतिभावः । विधर्ता विशेषेण धारणकर्तासि । सुतावन्तः साक्षात्कर्तारो वयं तं त्वा परमेश्वरं हवामहे आह्वयामः ॥ २।१५ ॥

इति दशमः खण्डः



---

† 'ऊतिभिर्वि' इत्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके २७४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

* रासस्पते इत्यृक्पाठः । § विधर्ता इत्यृक्पाठः ।

अथैकादशः खण्डः

१३२३. त्वं सोमासि धारयुर्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे।
पवस्व मंहयद्रयिः ॥ १।१६ ॥　　(ऋ० ९।६७।१)

त्वं सोमेति। भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। हे सोम परमेश्वर, त्वमध्वरेऽस्माकं भक्तियज्ञे सर्वथा हिंसावर्जिते। धारयुर्विद्याकामो भवसि। अस्माकमुपासकानामुपासनविद्या त्वत्स्वरूपविद्या च प्राप्ता स्यादिति त्वं कामयसे। धारेति वाङ्नाम। वाक्छब्देनात्र विद्योपलक्षिता। किं भूतस्त्वम् ? मन्द्रो मादयिता हर्षयिता। ओजिष्ठोतिशयेनौजस्वी च। मंहयद्रयिर्वर्धमानदानः। इत्थंभूतस्त्वं पवस्वागच्छास्मत्सन्निधाविति भावः ॥ १।१६ ॥

१३२४. त्वं सुतो मन्दितमो† दधन्वान्मत्सरिन्तमः‡।
इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥ २।१६ ॥　　(ऋ० ९।६७।२)

त्वं सुत इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे परमेश्वर, त्वं सुतो महैश्वर्यः। षु प्रसवैश्वर्ययोः। मदिन्तमो मद्रतमः कल्याणतमः। बाहुलकाद्रेफलोपः। दधन्वाञ्जगतो धारकः। मत्सरिन्तमो हृष्टतमः। इन्दुः प्रकाशकः सर्वेषां प्रकाशस्वरूपो वा, इन्धी दीप्तौ। सत्राजित्सर्वजित्। अस्तृतोहिंसितोसि ॥ २।१६ ॥

१३२५. त्वं सुष्वाणो अद्रिभिरभ्यर्ष कनिक्रदत्।
द्युमन्तं शुष्ममा* भर ॥ ३।१६ ॥　　(ऋ० ९।६७।३)

† नृमादन इत्यृक्पाठः।　　‡ इन्द्राय सूरिरन्धसेत्यृक्पाठः।
* मुत्तममित्यृक्पाठः।

त्वं सुष्वाण इति । ऋष्यादय पूर्ववत् । हे परमेश्वर, सुष्वाणो भक्त्योपस्थापितस्त्वं कनिक्रदच्छब्दं कुर्वन्, मा भैषीरिति ब्रुवन् । अद्रिभिरविनाशिभिर्भक्तैः सह अभ्यर्ष अभिगच्छ । द्युमन्तं प्रकाशवत् शुष्मं बलं तेज इति भावः । आ भर आहर ॥ ३।१६ ॥

१३२६. पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ॥ १।१७ ॥
(ऋ० ९।१०६।७)

पवस्वेति । मनुराप्सव ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, उष्णिक् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।१७ ॥

१३२७. तव द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रं मदाय वावृधुः ।
त्वां देवासो अमृताय कं पपुः ॥ २।१७ ॥
(ऋ० ९।१०६।८)

तवेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे सोम परमेश्वर, तव उदप्रुतो हृदयान्निस्सरन्तः, उन्दी क्लेदने । उन्दयति क्लेदयति आर्द्रयति भक्तानित्युदम् हृदयम् । भगवतो हृदयं हि भक्तान्विरहसन्तप्तान्त्सान्त्वयति । तस्मात्प्रवमानाः । द्रप्सा रसाः । द्रु गतौ । प्सा भक्षणे । उभाभ्यां धातुभ्यां निष्पन्नोयं शब्दः । द्रुता भक्ष्याश्चेत्यर्थः । अत्र रसो गृह्यते । इन्द्रं जीवात्मानं तव भक्तम् । मदाय प्रमदाय हर्षाय वावृधुर्वर्धयन्ति । अथवा मदेन वावृधुः । चतुर्थी तृतीयार्थे । त्वं भक्तान्वर्धयसि तत एव देवासो देवा विद्वांसः । अमृतायामरणाय कं सुखस्वरूपं त्वां पपुः पिबन्ति ॥ २।१७ ॥

---

† पूर्वार्चिके ५०१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः

१३२८. आ नः सुतास इन्दवः पुनाना धावता रयिम् ।
वृष्टिद्यावो रीत्यापः स्वर्विदः ॥ ३।१७ ॥
(ऋ० ९।१०६।९)

आ न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सुतास ऐश्वर्यशालिनो महात्मानः, नोऽस्मभ्यं रयिं धनं ज्ञानरूपमा धावत आगमयत । कीदृशो यूयम् ? इन्दवः प्रकाशवन्तः । इन्धी दीप्तौ । पुनानाः सर्वान् विज्ञानदानेन पावयन्तः । वृष्टिद्यावो वृष्टिरभिवर्षणमभिषेचनं सर्वेषां तृप्तिकरणम् । तद् द्युवन्ति अभिगच्छन्तीति वृष्टिद्यावः । सर्वांस्तर्पयितुं गमनस्वभावाः । रीत्यापो रीतिं कर्मक्षयमाप्नुवन्तीति रीत्यापः । रीङ् क्षये । भक्तिबलेन सर्वकर्मक्षपयितारः । स्वर्विदः । स्वः सुखविशेषं मोक्षमितियावत् विन्दन्ते इति स्वर्विदः । उपासका उपासनायज्ञे वर्तमानानां भक्तिक्षपितकर्मणां महाभक्तानां प्रपन्नानां वा पुरस्तादित्थं प्रार्थयन्ते ॥ ३।१७ ॥

१३२९. परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
यो देवान्विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ १।१८ ॥
(ऋ० ९।९८।७)

परि त्यमिति । अम्बरीषो वार्षागिर ऋजिश्वा भारद्वाजश्च ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, अनुष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।१८ ॥

१३३०. द्विर्यं पञ्च स्वयशसं सखायो‡ अद्रिसंहतम् ।
प्रियमिन्द्रस्य काम्यं *प्रस्नापयन्त ऊर्मयः ॥ २।१८ ॥
(ऋ० ९।९८।६)

---

† पूर्वार्चिके ५५२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ स्वसार इत्यृक्पाठः । * प्रस्नापयन्त्यूर्मिणमित्यृक्पाठः ।

द्विर्यमिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । द्विः पञ्च द्विरावृत्ताः पञ्च दशेत्यर्थः । सखायः सहयायीनीन्द्रियाणि ऊर्मयो जलधारा इव । स्वयशसं स्वमिव धनमिव यशः (प्रियं) यस्य तम् । अथवा यश एव स्वं यस्य स्वयशास्तम् । छान्दसः स्वस्य पूर्वभावः । अद्रिसंहतमतिदृढं कथमपि केनापि कदापि च न विचाल्यम् । इन्द्रस्य परमेश्वरस्य काम्यं कमनीयं प्रियं हृद्यमुपासकमितिभावः । प्रस्नापयन्ते स्नपयन्ति; इन्द्रियाणि स्वयं शुद्धानि सन्ति परमेश्वरस्य प्रियं भक्तं शोधयन्तीति तात्पर्यम् ॥ २।१८ ॥

१३३१. इन्द्राय सोम पातवे वृत्रघ्ने परि षिच्यसे ।
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ॥ ३।१८ ॥
(ऋ० ९।९८।१०)

इन्द्रायेति । ऋष्यादय उक्ताः । हे सोम उपासक जीवात्मन्, वृत्रघ्ने सर्वपातकविनाशकस्य । इन्द्रायेन्द्रस्य परमेश्वरस्य । सर्वत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । नरे त्रे नुरित्यर्थः, सन्मार्गे नेतुरितिभावः । दक्षिणावते सामर्थ्यवतः । दक्षिणा दक्षतेरिति यास्कः (नि० १,७) वीराय वीरस्य शत्रुक्षपणसमर्थस्य सदनासदे सदनसदो हृदयमन्दिरे निवसतः परमेश्वरस्य पातवे पानाय परमेश्वररसपानायेत्यर्थः । परि षिच्यसे त्वं रक्ष्यसे । परमेश्वरमेव प्रसादयेति तात्पर्यम् ॥ ३।१८ ॥

१३३२. पवस्व सोम महे† दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी
धनाय ॥ १।१९ ॥ (ऋ० ९।१०९।१०)

पवस्व सोमेति । अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वरा देवता ऋषयः, पवमानः सोमो देवता, द्विपदा विराट् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।१९ ॥

† क्रतवे सत्यधनाः । ‡ पूर्वार्चिके ४९० संख्याके मन्त्रे द्रष्टव्यः ।

१३३३. प्र† ते सोतारो रसं मदाय पुनन्ति सोमं महे
द्युम्नाय ॥ २।१९ ॥ (ऋ० ९।१०९।११)

प्र त इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे सोम जीवात्मन्, सोतारस्त्वच्छिक्षयितार आचार्याः। भगवद्रसोत्पादनमेवाभिषवः। षूञ् अभिषवे। ते तव महे महते द्युम्नाय यशसे सोमं शान्तं रसं प्र पुनन्ति प्रकर्षेण साधयन्ति। पूञ् सिद्धयर्थे ॥ २।१९ ॥

१३३४. शिशुं जज्ञानं हरिं मृजन्ति पवित्रे सोमं देवेभ्य
इन्दुम् ॥ ३।१९ ॥ (ऋ० ९।१०९।१२)

शिशुमिति। ऋष्यादय उक्ताः, आचार्या इत्यध्याहार्यम्। पवित्रे विशुद्धे कामक्रोधादिमालिन्यरहिते हृदये देवेभ्यो दिव्यगुणेभ्यो भक्तेभ्यो भक्तार्थमिति यावत्। शिशुं पापनाशकम्। शो तनुकरणे। श्यति तनुकरोति नाशयति पापानि स शिशुः। 'शः कित्सन्वच्च' (उ० १,२०) इत्युः प्रत्ययः। जज्ञानं जायमानं प्रत्यक्षीक्रियमाणम्। हरिं मनोहरमिन्दुं स्वप्रकाशं सोमं शान्तं परमेश्वरं मृजन्ति मार्जयन्ति। प्रार्थनया परमेश्वरेण भक्तान् मार्जयन्तीतिभावः। परमेश्वर एव सर्वेषां शोधकः ॥ ३।१९ ॥

१३३५. उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥ १।२० ॥ (ऋ० ९।६१।१३)

उपो ष्विति। अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः व्याख्यातोयं मन्त्रः ‡ ॥ १।२० ॥

† तमित्यृक्पाठः।

‡ पूर्वार्चिके ४८७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१३३६. तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं सं शिश्वरीरिव ।
य इन्द्रस्य हृदं† सनिः ॥ २।२० ॥ (ऋ० ९।६१।१५)

तमिद्वेति । ऋष्यादय उक्ताः, शिश्वरी, शिश्वर्यो शिशुं वर्धयितुकामा धेनवो वत्समिव नोऽस्माकं गिरो वाचः स्तुतिरूपास्तमित् तमेव परमेश्वरं वर्धन्तु वर्धयन्तु य इन्द्रस्य जीवस्य हृदं हृदां हृदयानां सनिः संभक्तास्ति परमेश्वरस्य वर्धनं नाम तदाज्ञानुसारेण स्वजीवनयापनम् । हृदयानां संभक्तेत्यस्य विषयेभ्यो हृदयं निवर्त्य स्वाज्ञाया योजनम् ॥ २।२० ॥

१३३७. अर्षा नः‡ सोम शं गवे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम् ।
वर्धा समुद्रमुक्थ्य* ॥ ३।२० ॥

अर्षा न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सोम परमेश नोस्माकं गवे विद्यायै ज्ञानाय शम् शिवम् अर्ष अर्षय प्रापय । ऋषी गतौ । ण्यर्थः । किं च पिप्युषीं रक्षणसमर्थम् इषमिष्टं ज्ञानं वा सदाचारादिकं वा धुक्षस्व धुक्ष्व । हे उक्थ्य प्रशस्य स्तुत्य परेश, समुद्रं सम्यगुन्दयति क्लेदयति मन इति, श्रद्धां वर्धा वर्धय ॥ ३।२० ॥

इत्येकादशः खण्डः



अथ द्वादशः खण्डः

१३३८. आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ १।२१ ॥ (ऋ० ८।४५।१)

---

† हृदंसनिरित्यृक्पाठः । ‡ ण इत्यृक्पाठः ।

* समुद्रमुक्थ्यमित्यृक्पाठः ।

आ घेति । त्रिशोकः काण्वः ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।२१ ॥

१३३९. बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्त्रं‡ पृथुः स्वरुः ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ २।२१ ॥ (ऋ० ८।४५।२)

बृहन्निदीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । येषामुपासकानां युवा सर्वसामर्थ्यमिश्रयिता । इन्द्रः परमात्मा सखा सहायः । एषां तेषां पुर उपस्थितानां बृहन् महान् इध्मः प्रकाशः । भूरि बहु शस्त्रं स्तवनम् । पृथुर्विशाला महती स्वरुः अर्चा पूजा । स्वरतिरर्चाकर्मा (निघ० ३,१४,४१) । च भवतीतिशेषः ॥ २।२१ ॥

१३४०. अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ ३।२१ ॥ (ऋ० ८।४५।३)

अयुद्धेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । इत् यदि सः शूरः अयुद्ध युध्यते, प्रयतते युधा योद्धृभिः काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यादिभिर्वृतमाच्छादितमावृत्तं वा स्वमनः सत्वभिर्बलैः । आ अजति दूरं क्षिपति नमयतीतिभावः । स कः? येषामिन्द्रो युवा सखेति ॥ ३।२१ ॥

१३४१. य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ।
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ १।२२ ॥
(ऋ०१।८४।७)

य एक इति । गोतमो राहूगण ऋषिः, इन्द्रो देवता, उष्णिक् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।२२ ॥

---

† पूर्वार्चिके १३३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः । ‡ शस्तमित्यृक्पाठः ।
* पूर्वार्चिके ३८९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१३४२. यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।
उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥ २।२२ ॥

(ऋ० १।८४।९)

यश्चिद्धीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । बहुभ्यो जनेभ्यः श्रेष्ठो यश्चित् हि यः कोपि सुतावान् ऐश्वर्यवान् सन् आविवासति त्वा त्वां परमेश्वरं परिचरति । विवासतिः परिचरणकर्मा (निघ० २,५,१०) । तत् तस्मै परिचारकाय । उग्रं श्रेष्ठं शवः बलं प्रत्यते प्राप्यते । अङ्गेति क्षिप्रनाम (निघ० ५,१७) ॥ २।२२ ॥

१३४३. कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ३।२२ ॥

(ऋ० १।८४।८)

कदेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । अराधसमनाराधकं परमेश्वरस्य । मर्तं मनुष्यम् । इन्द्रः परमेश्वरः । कदा यस्मिन् कस्मिन्नपि काले पदा पादेन क्षुम्पमिव अहिच्छत्रकमिव स्फुरत् स्फुरति हन्ति । लडर्थे लङ् । अडभावो वाहुलकः । स्फुरतिर्वधकर्मा (निघ० २,१९,१५) । किं च स इन्द्रो नोस्माकं गिरः प्रार्थनावचांसि कदा अङ्ग क्षिप्रं शुश्रवत् श्रोष्यति नु । अयं मन्त्रो यास्काचार्येणेत्थं व्याख्यातः—"कदा मर्तमनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति कदा नः श्रोष्यति च गिर इन्द्रो अङ्ग । अङ्गेति क्षिप्रनाम । अञ्चितमेवाञ्चितं भवति" (निघ० ५,१७) ॥ ३।२२ ॥

१३४४. गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ १।२३ ॥

(ऋ० १।१०।१)

गायन्तीति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः, इन्द्रो देवता, अनुष्टुप् छन्द । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।२३ ॥

१३४५. यत्सानोः ‡सान्वारुहो भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् ।

तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ॥ २।२३ ॥

(ऋ० १।१०।२)

यत्सानोरिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । यद्यदा, उपासकः सानोः सान्वारुहः एकस्याः स्थितेरपरां स्थितिमारोहति, भूरि वहु च कर्त्वं कर्म । कर्त्वमिति कर्मनाम (निघ० २,१,१७) । अस्पष्ट स्पृष्टवान् कृतवानित्यर्थः । तत् तदा, इन्द्रः परमेश्वरः । अर्थं प्रयोजनं जीवस्येतिभावः । चेतति जानाति । क्रमेणायं मामवाप्तुमिच्छतीति जानातीतिभावः । ज्ञात्वा च यूथेन सत्यसदाचारादिकर्तव्यगणेन सह स वृष्णिर्मनोरथप्रदः । एजति कम्पते मनोरथं पूरयितुं संकल्पत इत्यर्थः ॥ २।२३ ॥

१३४६. *युङ्क्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ।

अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर ॥३।२३॥

(ऋ० १।१०।३)

युङ्क्ष्वेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सोमपा उपासकरक्षणकर्तः इन्द्र परमेश्वर हरी वात्सल्यानुग्रहौ, हृञ् हरणे । हरणं प्रापणम् । वात्सल्यं तज्जन्योनुग्रहश्च परमात्मनो जीवं परमात्मसविधे प्रापयतः । युङ्क्ष्वा हि योजयावश्यम् । कीदृशौ हरी ? केशिना केशिनौ । केशा रश्मयः । तद्वन्तौ प्रकाशस्वरूपावित्यर्थः । यथा परमेश्वरः

† पूर्वार्चिके ३४२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ सानुमारुहदित्यृक्पाठः ।

* युक्ष्वेत्यृक्पाठः ।

प्रकाशस्वरूपस्तथैव तस्य सर्वे गुणा अपि प्रकाशस्वरूपाः । वृषणा वृषणौ । वृषु सेचने । सर्वमनोरथपूरयितारौ । कक्ष्यप्रा कक्ष्यप्रौ कक्षं बाहुतलप्रदेशो भवति । कक्षे भवः कक्ष्यः । लक्षणया समीपस्थः । उपासका हि सर्वे भगवत्समीपस्था एव अत एव कक्ष्याः । तान् प्रातः पूरयतो नैर्बल्यापहारेण बलप्रदानेन चेति कक्ष्यप्रौ । परमेश्वरस्य वात्सल्यमनुग्रहश्च सर्वदोपासकान् पूरयत एव । अथ ततः परं वात्सल्यानुग्रहयोजनानन्तरं हे इन्द्र गिरामुपासकवचनानां प्रार्थना-रूपाणाम् उपश्रुतिं श्रवण चर कुरु ।। ३।२३ ।।

इति द्वादशः खण्डः

इति पञ्चमप्रपाठके द्वितीयोर्धः पञ्चमप्रपाठकः समाप्तश्च

इति दशमोऽध्यायः

अथ एकादशोध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठके प्रथमोर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१३४७. सुषमिद्धो† न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते ।
होतः पावक यक्षि च ॥ १।१ ॥ (ऋ० १।१३।१)

सुषमिद्ध इति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः, इध्मः समिद्धोग्निर्वा-देवता, गायत्री छन्दः । हे अग्ने परमात्मन् , त्वं सुषमिद्धः परमेद्धः परमप्रकाशोसि । प्रकाशशब्देन शक्तिरुच्यते । यतस्त्वं परमशक्तिस्ततो नोऽस्मासु हविष्मते त्वां परमात्मानं यजमानाय समर्चते देवान् विदुषो यजमानोत्साहज्ञानवर्धकान् आ वह कृपया प्रापय । हे पावक सर्वेषां शोधक होतः सर्वाघौघादनसमर्थ यक्षि च प्रसीद च । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । अत्र देव इति पूजेति च पृथक् पदम् । देवार्थकयजधातो रूपमिदम् । देवार्थाश्च क्रीडाविजिगीषा-व्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इत्यादयः । देवपूजेत्ये-काथस्वीकारे कर्मणो धातुनैवाक्तत्वात्तस्मिन्नर्थे यजधातोरकर्मकत्वं स्यात्ततश्च देवं यजतोति न स्यात् ॥ १।१ ॥

१३४८. मधुमन्तं तनूनपाद्यज्ञं देवेषु नः कवे ।
अद्या ‡कृणुहचूतये ॥ २।१ ॥ (ऋ० १।१३।२)

---

† सुसमिद्ध इत्यृक्पाठः ।

‡ कृणुहि वीतय इत्यृक्पाठः ।

मधुमन्तमिति। ऋषिच्छन्दसी उक्ते, देवता तनूनपात्। हे कवे क्रान्तदर्शिन्, त्वं तनूनपात् तनूं न पातयति तथाभूतोऽसि नित्यो निर्विकारश्चासि। ततो नोऽस्माकं मधुमन्तं ज्ञानप्रधानम्। मनु ज्ञाने। 'फलिपाटि·····' (उ० १,१८) इत्यनेन उः प्रत्ययो धकारश्चान्तादेशः। यज्ञं भक्तिज्ञानरूपं यज्ञमितिभावः। अद्य ऊतये अस्माकं रक्षायै क्रियमाणम्। देवेषु विद्वद्भक्तेषु कृणुहि कुरु। तेष्वपि यज्ञमिमं प्रचारयेत्यर्थः॥ २।१॥

१३४९. नराशंसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञ उप ह्वये।

मधुजिह्वं हविष्कृतम्॥ ३।१॥ (ऋ० १।१३।३)

नराशंसेति। ऋषिच्छन्दसी उक्ते, देवता नराशंसः। हे अग्ने परमेश्वर, इह प्रवर्तमाने भक्तियज्ञे ज्ञानयज्ञे वा। नराशंसं नराणां शंसं प्रशंसकं प्रशंसापूर्वकभक्तिवर्धकम्। प्रियमाचारेण विचारेण च सर्वेषां प्रीतिकरम्। मधुजिह्वं ज्ञानरूपः परमेश्वरो जिह्वायां यस्य तम्। मधुरभाषिणं वा। हविष्कृतं परमेश्वराय तुभ्यं स्वहृदयसमर्पकम्। उप ह्वये आह्वयामि। तान् प्रापयेति तात्पर्यम्। अथवा अस्मिन् यज्ञे त्वां परमेश्वरमुपह्वये। कीदृशं त्वाम्? नराशंसं उपासकानां नराणां त्वत्प्रवणतां दृट्वा तेषां स्तावकम्। प्रियमतिहृद्यम्। मधुजिह्वंवत्स सुष्ठु करोषीतिमधुरं वचनं जिह्वायां यस्य तम्। हविष्कृतं हृदयस्य ग्रहीतारम्॥ ३।१॥

१३५०. अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईडित आ वह।

असि होता मनुर्हितः॥ ४।१॥ (ऋ० १।१३।४)

अग्ने सुखेति। ऋषिच्छन्दसी पूर्ववत्। देवता इडः, हे अग्ने परमेश्वर, त्वम् ईडितः स्तुतः सन् देवान् विद्वद्भक्तान् सुखतमेतिशयेन सुखदायिनि रथे रमणीये मम भक्तियज्ञे। आ वह प्रापय। कुतो मयेत्थं प्रार्थ्यसे? यतस्त्वं मनुर्हितो मनुषा मनूना मनुष्याणां

हितो हितकारको होता दाता चासि। अथवा त्वं मनुर्ज्ञानी हितश्चासि ॥ ४।१ ॥

१३५१. यदद्य सूर उदिते ऽनागा मित्रो अर्यमा।
सुवाति सविता भगः ॥ १।२ ॥ (ऋ० ७।६६।४)

यदद्येति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, आदित्यो देवता, गायत्री छन्दः। यत् ज्ञानं प्रकाशो वापेक्षितोस्माकं तज्ज्ञानं तं प्रकाशं वा अद्य इदानीमेव सूरे ज्ञानविशेषे भक्तिविशेषे वा। षू प्रेरणे। प्रकर्षेण सुवति प्रेरयति जीवान् विशुद्धे मार्गे गन्तुं स तस्मिन्। 'सुसूधा·····' (उ० २,२७) इति क्रन्। उदिते प्राप्ते आगते सति वा। आगमनं प्रादुर्भावः। अनागा निर्दोषः सर्वविकाररहितः मित्रः स्निग्धः सर्वत्र अर्यमा सर्वैरर्यते प्राप्यते इति सर्वप्राप्य इत्यर्थः। सविता सर्वप्रकाशसर्जकः। भगः परमैश्वर्यस्वरूपः परमात्मा सुवाति सुवति प्रेरयति ददातीतिभावः। ज्ञानमिति शेषः ॥ १।२ ॥

१३५२. सुप्रावीरस्तु स क्षयः प्र नु यामन्त्सुदानवः।
ये नो अंहोऽतिपिप्रति ॥ २।२ ॥ (ऋ० ७।६६।५)

सुप्रावीरेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। ये सुदानवः शोभनदानदातारो ज्ञानिमहापुरुषाः। नोस्माकमंहः पापं दोषं वा अतिपिप्रति अतिगमयति। पृ पालनपूरणयोः। अत्र दूरीकरणमर्थः, स तेषाम्। षष्ठ्यर्थे प्रथमा। वचनमविवक्षितम्। क्षयो निवासः, क्षि निवासे, नु क्षिप्रम्। सुप्रावीः सुरक्षितः, अस्तु भवतु, कदा, प्र यामन् प्राप्तौ सत्याम्। यदा ते प्राप्ता भवन्तीहास्माकमुपदेशाय तदा ते स्थिरनिवासा भवन्तु विद्वांस इति प्रार्थना ॥ २।२ ॥

१३५३. उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये।
महो राजान ईशते ॥ ३।२ ॥ (ऋ० ७।६६।६)

उत स्वराज इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । उत अपि च ये विद्वांसः । स्वराजः स्वयम्प्रकाशस्य, परमात्मनः सम्बन्धिनोऽदब्धस्याहिंसितस्य अखण्डस्य व्रतस्य संकल्पस्य । अदितिरखण्डकाः सन्ति । अदितिरित्येकवचनं छान्दसम् । ते राजानो दीप्यमानाः महस्तेज इशते, तेजसः स्वामिनो भवन्तीत्यर्थः । गृहीतस्य भगवत्सम्बन्धिव्रतस्य ये त्यागं न कुर्वन्ति तेजस्विनो भवन्तीतिभावः ॥ ३।२ ॥

१३५४. उत्त्वा† मदन्तु सोमाः‡ कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १।३ ॥ (ऋ० ८।६४।१)

उत्त्वेति । प्रगाथः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।३ ॥

१३५५. पदा पणीनराधसो§ नि बाधस्व महाँ असि ।
नꣳ हि त्वा कश्चनऽ प्रति ॥ २।३ ॥ (ऋ० ८।६४।२)

पदेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्रः परमेश्वर, आराधसोभक्तान् । पणीन् भक्तिपणनकर्तॄन् वञ्चकान् पदा पादेन नि बाधस्व नितरां पीडय निवर्तयेत्यर्थः । यतस्त्वं महान् असि । कश्चन त्वा प्रति प्रतिकूलः सन् स्थातुं नहि नार्हति । 'पणिर्वणिग्भवति । पणिः पणनात्' इति (नि० २,१७) । यास्कवचनेन यद्यपि पणिर्वणिक्

† उ त्वेति औंघपाठे पूर्वार्चिकेतु उत्त्वेत्येव ।
‡ स्तोमा इत्यृक्पाठः ।
* पूर्वार्चिके १९४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
§ पणींरराधस इत्यृक्पाठः ।
ꣳ 'नहि' इत्यृक्पाठः ।
ऽ कश्च न प्रतीत्यौंघपाठः ।

तथापि वणिज इव भक्तेः केवलं व्यवहारकर्तात्रोच्यते। नास्ति वस्तुतो भवतः, न चाराध्नोति भक्तिं भगवतीं तथापि भक्तिमाचरामीति वदन् पणिरित्युच्यते ॥ २।३ ॥

१३५६. त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम्।
त्वं राजा जनानाम् ॥ ३।३ ॥ (ऋ० ८।६४।३)

त्वमीशिष इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्द्र परमेश्वर त्वं सुतानां त्वद्भक्तिज्ञानरूपैश्वर्यशालिनां भक्तानामित्यर्थः, ईशिषे, एवं त्वमसुतानामभक्तानामपीशिषे। षु प्रसवैश्वर्ययोः, यतस्त्वं जनानां सर्वेषां मनुष्याणां पशूनां पक्षिणां च जनिमतां राजा स्वाम्यसि ॥ ३।३ ॥

इति प्रथमः खण्डः

अथ द्वितीयः खण्डः

१३५७. आ जागृर्विप्र ऋतं† मतीनां सोमः पुनानो असदच्चमूषु। सपन्ति यं मिथुनासो निकामा अध्वर्यवो रथिरासः सुहस्ताः ॥ १।४ ॥ (ऋ० ९।९७।३७)

आ जागृविरिति। पराशरः शाक्त्य ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः। जागृविर्जागरणशीलः कः किं करोतीति सर्वज्ञाता। मतीनां मेधाविनाम्। मतिरिति मेधाविनाम (निघ० ३,१५,२२)। ऋतं सत्यं पुनानः पवित्रयन्। विप्रो ज्ञानन्यूनतापूरकः सोमः परमेश्वरः। चमूषु भगवद्भक्त्यास्वादपरायणेषु

† 'ऋता' इत्यृक्पाठः।

जोवेषु भक्तेष्वित्यर्थः। चमु अदने, आ असदत् सुखेन तिष्ठति। स परमात्मेतिशेषः। स कीदृशः ? यं परमेश्वरं मिथुनासः परस्परं मिलिताः। निकामा अतिशयप्रीतिमन्तः। रथिरासो रथिनो भक्तिरूपरथशालिनः। सुहस्ताः हस्ताभ्यां पवित्रकर्मकर्तारः। अध्वर्यवोऽहिंसामयभक्तियज्ञनिर्वाहका विद्वांसः। सपन्ति समवयन्ति प्राप्नुवन्ति। स्पृशन्ति वा। सपतिः स्पृशतिकर्मेतियास्कः (नि० ५,१६)। स्पर्शनमिह तत्परता ॥ ११४ ॥

१३५८. स पुनान उप सूरे दधान† ओभे अप्रा रोदसी ‡वी
ष आवः। प्रिया चिद्यस्य प्रियसास ऊती सतो*
धनं कारिणे न प्र यंसत् ॥ २१४ ॥ (ऋ० ९।९७।३८)

स पुनान इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। सः सोमः परमात्मा सूरे जीवे परमेश्वरानुभवितरि। उप उपगच्छति। उपसर्गवशाद्गच्छतीत्यध्याहार्यम्। किं कुर्वन् ? पुनानः पावयंस्तं सूरम्। दधानो हृदये कृपां धारयन्। कि भूतः सः ? उभे द्वे एव रादसी द्यावापृथिव्यौ आ अप्राः समन्तात् पूरयति आत्मना। किं च ष स वी आवः, आत्मानं तस्मै विवृणोति प्रकाशयति। वृञ् वरणे। चिदिति समुच्चये। यस्य प्रियस्य परमेश्वरस्य सतो नित्यस्य प्रयसासोत्यन्तप्रियाः स्वभक्ता ऊती ऊतये रक्षाये भवन्ति रक्षार्हा रक्षिता वा भवन्तीति भावः। किं च कारिणे न भृतकायेव धनं प्र यंसत् प्रयच्छतु। यथा भृतकाय वेतनेन कर्मकर्त्रे कर्मकारयिता भृतकं धनं प्रयच्छति तथैव स परमात्मा स्वभक्तेभ्यो यथायोग्यं धनं शमदमोपरत्यादिकं प्रयच्छति ॥ २१४ ॥

† न धातोभे इत्यृक्पाठः। ‡ 'वि' इत्यृक्पाठः।
* स तु इत्यृक्पाठः।

१३५९. स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो †ज्योतिषावीत् । यत्र‡ नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा *अद्रिमिष्णन् ॥ ३१४ ॥ (ऋ० ९।९७।३९)

स वर्धितेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । वर्धिता वर्धयिता स्वभक्तानां नित्यशः शमदमादिवृद्ध्या । पूयमानः पुनानस्तानेव भक्तान् । वर्धनः स्वयं सदावृद्धः । वर्धमानो वा भक्तानां सदाचारदर्शनेन । मीढ्वान् सतामिच्छासन्तर्पकः । स सोमः परमात्मा । नोस्मान् ज्योतिषा स्वतेजसा अभि अभित आवीदभिरक्षति । यस्मिन् परमात्मनि नोस्माकं स्वर्विदः परमानन्दानुभविनः, पदज्ञाः पदं गन्तव्यस्थानं तस्याभिज्ञाः, पूर्वे पूर्वजाः पितरः, अभि वाचं पारमेश्वरीमभिलक्ष्य अनुसृत्येतिभावः । अद्रिं न द्रियते तं मोक्षमितियावत् । इष्णन् इच्छन्ति इच्छन्ति स्म च ॥ ३१४ ॥

१३६०. मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत । इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥ ३१५ ॥ (ऋ० ८।१।१)

मा चिदन्येति । प्रगाथः घौरः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः§ ॥ ३१५ ॥

१३६१ अवक्रक्षिणं वृषभं यथा£ जुवं गां न चर्षणीसहम् । विद्वेषणं संवननमुभयङ्करं☡ मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ ३१५ ॥ (ऋ० ८।१।२)

† ज्योतिषाविदित्यृग्पाठः । ‡ येनेत्यृक्पाठः ।
* अद्रिमुष्णन् इत्यृक्पाठः ।
§ पूर्वार्चिके २४२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः । £ यथाजुरमित्यृक्पाठः ।
☡ संवननोभयङ्करमित्यृक्पाठः ।

अवक्रक्षिणमिति। ऋषिदेवते पूर्ववत्। छन्दः समा सतो वृहती। पूर्वस्मिन्मन्त्रः इन्द्रं स्तुतेति प्रकृतम्। तत्र पुनरपीन्द्रमेव विशिनष्टि। इन्द्रस्तु परमात्मैवेति न विस्मर्तव्यम्। किं भूतमिन्द्रम् ? अवक्रक्षिणं सर्वेषां कामक्रोधादिरिपूणामवकर्षकम्। वृषभं वर्हणशीलम्। वृहि वृद्धौ। बाहुल्कादभचि हकारस्य षकारः। जुवं यथा सर्वत्र जुवं गमनशीलं चर्षणीसहं चर्षणीनां मनुष्याणामनाज्ञाकारिणां सोढारम्। गां न पृथिवीमिव। यथा पृथिवी सर्वान्विषहते तथैव परमेश्वरोपि सर्वान् विषहते। विद्वेषणं विद्वेष्टारं पापिनाम्। संवननं सम्यक् संभजनीयम्। वनु संभक्तौ। उभयङ्करमैहिकामुष्मिकसुखकरम्। मंहिष्ठमतिशयेन महान्तम्। दातारं वा। मंहतिर्दानकर्मा (निघ० ३,२०,१०)। उभयाविनं इहलोकपरलोकयोर्हितकरं रक्षकं। वा शंसतेत्यध्याहार्यम् ॥ २१५ ॥

१३६२. उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा*
इव ॥ ११६ ॥ (ऋ० ८।३।१५)

उदुत्य इति। मेध्यातिथिः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा वृहती) छन्दः। हे इन्द्र त्ये ते तवोपासकाः स्तोमासः स्तुतिकर्तारः, मधुमत्तमा अतिशयेन मधुरा गिरो वाचः स्तुतिरूपा ईरते उच्चारयन्ति। कथंभूतास्ते ? सत्राजितः संभूय कामादानां शत्रूणां जेतारः। धनसाः धनानां सत्यसदाचारादीनां संभक्तारः, षण संभक्तौ, विट्, आत्वम्। अक्षितोतयः अक्षिता अविनाशिन्यस्त्वत्कृता ऊतयो रक्षा येषां ते। वाजयन्त इव वाजं धनं वलं वा ज्ञानरूपमिच्छन्त इव, अत एव रथा रमणीयाः। रमु क्रीडायाम् ॥ ११६ ॥

* रथाइवेत्यूक्पाठः।

१३६३. कण्वा† इव भृगवः सूर्या इव‡ विश्वमिद्धीतमाशत* ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो
अस्वरन् ॥ २।६ ॥ (ऋ० ८।३।१६)

कण्वा इवेति । ऋषिदेवते पूर्ववत् । छन्द समा सतो बृहती । कण्वा इव मेधाविन इव, भृगव इव महातेजस्विन इव । भ्रस्ज पाके । प्रथिम्रदिभ्रस्जाम् (उ० १,२७) इति उप्रत्ययः सम्प्रसारणं सलोपश्च । सूर्या इव निरन्तरं परमात्मसन्निधौ सरणशीला इव । इवद्वयं समुच्चयार्थकम् । विश्वमित् विश्वं मिनातीति विश्वव्यापकम् अथवा विश्वमित् विश्वमेव धीतमाध्यातं परमेश्वरमाशतोपासत इत्यर्थः । किं च तमेवेन्द्रमायवो मनुष्याः । प्रियमेधासः प्रिया मेधा येषां ते नतु निर्बुद्धयः । स्तोमेभिः स्तोत्रैर्महयन्तः पूजयन्तः अस्वरन्नस्तुवन् स्तुवन्ति ॥ २।६ ॥

१३६४. पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे§ ॥ १।७ ॥
(ऋ० ९।११०।१)

पर्यू ष्विति । त्र्यरूपस्त्रैवृष्ण ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । पिपीलिकामध्या अनुष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः$ ॥ १।७ ॥

१३६५. अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः ।
गोजीरया रंहमाणः पुरन्ध्या ॥ २।७ ॥ (ऋ० ९।११०।२)

---

† कण्वाइवेत्यृक्पाठः । ‡ सूर्याइवेत्यृक्पाठः ।
* मानशुरित्यृक्पाठः । § ईयसे इत्यृक्पाठः ।
$ पूर्वार्चिके ४२८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

अजीजन इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे पवमान परमेश्वर, त्वं शक्मना स्वशक्त्या विधारे निराधारे निःसहाये साहाय्यं प्रतीक्षमाणे उपासके। चतुर्थ्यर्थे सप्तमी। निराधाराय साहाय्यं प्रतीक्षमाणायेत्यर्थः। पयः पयसि रात्रौ निस्सहायावस्थायाम् पय इति रात्रिनाम (निघ० १,७,२१)। सूर्यं प्रेरकमुपदेशकमितियावत्। षु प्रेरणे, हि खलु, अजीजन उत्पादयसि। किं भूतस्त्वम्? गोजीरया गवां वाचां विद्यानामित्यर्थः। जीरया जीवयित्र्या। जीव प्राणधारणे। पुरन्ध्या बहुधिया रंहमाणः सर्वत्र विचरन्॥२।७॥

१३६६. अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये।
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे॥ ३।७॥ (ऋ० ९।११०।३)

अनु हीति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥३।७॥

१३६७. परि प्र धन्वं‡ इन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे
भगाय॥ १।८॥ (ऋ० ९।१०९।१)

परि प्रेति। अग्नयौ धिष्ण्या ऐश्वरा ऋषयः, पवमानः सोमो देवता, द्विपदा विराट् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।८॥

१३६८. एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्यः
पीयूषः॥ २।८॥ (ऋ० ९।१०९।३)

एवामृतायेति। ऋष्यादय उक्ताः, हे सोम उपासक जीव, त्वं शुक्रो दीप्तिमान्। दिव्यो दिव्यगुणोपेतः। पीयूषः पेयः संग्राह्य इत्यर्थः परमात्मनेति शेषः, असि, स त्वम् अमृताय नित्याय महे महते क्षयाय निवासाय मोक्षायेति यावत्। अर्ष गच्छ॥ २।८॥

---

† पूर्वार्चिके ४३२ सङ्ख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ धन्वेन्द्रायेत्यृक्पाठः।

* पूर्वार्चिके ४२७ सङ्ख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१३६९. इन्द्रस्ते सोम सुतस्य पेयात्क्रत्वे† दक्षाय विश्वे च
देवाः ॥ ३१८ ॥ (ऋ० ९।१०९।२)

इन्द्रस्त इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे सोम उपासकजीव, सुतस्यैश्वर्योपेतस्य कृतपरमेश्वरसाक्षात्कारस्य ते तव परमानन्दरसमिति शेषः । विश्वे च अन्ये चापि सर्वे देवा विद्वांसो दक्षाय सामर्थ्याय ऋत्वे क्रतवे ज्ञानाय च पेयात् पिबन्तु । उपासकस्तुतिरत्र । यादृशमानन्दरसं स पिबति, अन्येपि पिबन्त्विति वक्तव्यम् ॥ ३१८ ॥

इति द्वितीयः खण्डः



अथ तृतीयः खण्डः

१३७०. सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुतः‡
साकमीरते । तन्तुं ततं परि सर्गास आशवो नेन्द्रा-
दृते पवते धाम किं चन ॥ ३१९ ॥ (ऋ० ९।६९।६)

सूर्यस्येवेति । हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, जगती छन्दः । द्रावयित्नवो द्रवणशीला मत्सरासो मदिनः । प्रसुतः भक्त्यैश्वर्यशालिनः, सर्गासो वेगवन्तः, सर्गो वेगः, अर्श-आदित्वादच् । आशवः सर्वत्र व्याप्ताः उपासका विद्वांसो वा सूर्यस्य दिवाकरस्य रश्मयः किरणा इव । ततं विस्तृतं तन्तुं तन्वते इति तन्तुर्यत्रं भक्तिरूपम् । साकं सहैव, परि ईरते परिगच्छन्ति । यतः इन्द्रात्परमात्मन ऋते किं चन किमपि धाम तेजो न पवते पुनाति लोकान् ॥ ३१९ ॥

† पेया इत्यृक्पाठः । ‡ प्रसुप इत्यृक्पाठः ।

१३७१. उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधु मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि। पवमानः सन्तनिः सुन्वतामिव† मधुमान्द्रप्सः परि वारमर्षति ॥ ३१८ ॥ (ऋ० ९।६९।२)

उपो मतिरिति। ऋष्यादय उक्ताः, उपासकेन मतिः स्वबुद्धिः सोमे परमात्मनि उप पृच्यते संनिधीयते। पृची संपर्के। मधु मननं ज्ञानं सिच्यते तस्यैव मननं क्रियत इत्यर्थः। मन्द्राजनी मन्द्रस्यानन्दस्याजनी धारा, अज गतिक्षेपणयोः। आसनि मुख इव अन्तः चोदते प्रेर्यते, अनुभूयत इति भावः। सन्तनिः सर्वत्र सम्यग्विस्तृतो व्यापक इति भावः। मधुमान् परममधुरः। द्रप्सः प्सानीयः। द्रप्सः संभृतः प्सानीयो भवतीति यास्कः (नि० ५,१४)। पवमानः परमात्मा। सुन्वतामुपासकानां मध्ये वारं वरणीयमनन्योपासकम्। परि अर्षति परिगच्छति ॥ ३१८ ॥

१३७२. उक्षा मिमेति‡ प्रति यन्ति धेनवो देवस्य देवीरुप यन्ति निष्कृतम्। अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्ययमत्कं न निक्तं परि सोमो अव्यत ॥ ३१९ ॥

(ऋ० ९।६९।४)

उक्षेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। उक्षा महान् सोमः परमात्मा मिमेति मिमीते शब्दायते वेदद्वारोपदिशति भक्तजीवानित्यर्थः। उक्षेति महन्नाम (निघ० ३,३,११)। धेनवो वाचो जीवानामुपासकानाम्। प्रति यन्ति तं परमेश्वरं प्रति गच्छन्ति। स यथा वदति तथैवोपासकाः कुर्वन्तीत्याशयः। धेनुरिति वाङ्नाम (निघ० १,

† सुन्वतामिवेत्यृक्पाठः। ‡ मिमातीत्यृक्पाठः।

१२,५२) देवीर्देव्यौ द्यावापृथिव्यौ देवस्य परमात्मनो निष्कृतं परिष्कृतमुत्कृष्टं स्थानमुप यन्ति उपगच्छतः। सर्वलोकस्था भक्तास्तमनुसरन्तीतिभावः। स उक्षा वारं वरणीयमव्ययमविनाशिनमर्जुनं परमात्मप्रापकम्। अर्ज अर्जने। अर्जयति परमेश्वरमित्यर्जुनः। तम्। अत्यक्रमीदतिशयेनाक्रमीत् उपैतीतिभावः। पश्चात् नित्यं शुद्धमत्कं वज्रयिव तं सोमः परेशोव्यत अवति, अत्क इति वज्रनाम (निघ० २,२०)। अथवा अत्कमतनशीलं परमेश्वरावाप्तये प्रयत्नशीलमितिभावः ॥ ३।९ ॥

१३७३. अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं† जनयत‡ प्रशस्तम्। दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम्* ॥ १।१० ॥

(ऋ० ७।१।१)

अग्निमिति। वसिष्ठो मैत्रावरुणि ऋषिः, अग्निर्देवता, विराट् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः§ ॥ १।१० ॥

१३७४. तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित्। दक्षाय्यो यो दम आस नित्यः ॥ २।१० ॥

(ऋ० ७।१।२)

तमग्निमिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। वसवो वसन्ति परमात्मनि ये ते उपासकास्तमग्निं परमात्मानम्। कुतश्चिद्यस्मात्कस्माद्वा भयात् शत्रोर्वा, अवसे रक्षणाय, अस्ते गृहे। अस्तमिति गृहनाम (निघ० ३,४,५)। न्यृण्वन् नितराम् ऋण्वन्ति गमयन्ति स्थापयन्तीति भावः, ऋण गतौ। किंभूतं तम्? सुप्रतिचक्षं सुप्रति-

† हस्तच्युतीत्यृक्पाठः। ‡ जनयन्तेत्यृक्पाठः।
* ···मथर्युमित्यृक्पाठः। § पूर्वार्चिके ७२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

दर्शनीयम् । यो नित्यः परमात्मा दक्षाय्यो वर्धमानो दमे गृहे । दमेति गृहनाम (निघ० ३,४,१२) । आस बभूव भवतीत्याशयः । अयमाशयः परमेश्वरः स्वगृहे पूजार्थमुपासनार्थं वा स्थापनीयः । गृह एव स्थितः स सर्वस्माद्विघ्नादुपासकं रक्षति ॥ २।१० ॥

१३७५. प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ ।
त्वां शश्वन्त उप यन्ति वाजाः ॥ ३।१० ॥

(ऋ० ७।१।३)

प्रेद्ध इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे यविष्ठ नित्ययुवन् अग्ने ब्रह्मन् प्रेद्धः समिद्धस्त्वम् नोस्माकं पुरः पुरस्तात् । अजस्रया अविनाशिन्या सूर्म्या शोभना उर्मयो यस्यां सा तयानुकम्पया । परमेश्वरानुकम्पायां बहवस्तरङ्गा भवन्ति क्वचिद्रक्षणं क्वचिद्धननं क्वचिदौदास्यमित्यादयः । हननौदास्यादयोपि परमेश्वरस्य कृपैवेति सर्वविदितम् । दीदिहि दीप्यस्व । नैरुक्तो धातुः, शश्वन्तो बहवः । शश्वदिति बहुनाम (निघ० ३,१,५) । टुओश्वि गतिवृद्धयोः । संश्चत्तृम्पत्……(उ० २,७९) इत्यादिना निपातितोयं शब्दः । वाजा वजनशीला व्रजनशीला उपासकाः । वज गतौ । त्वाम् उपयन्ति त्वां प्रपद्यन्त इति भावः ॥ ३।१० ॥

१३७६ आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १।११ ॥ (ऋ० १०।१८९।१)

आयं गौरिति । सार्पराज्ञी ऋषिका, आत्मा सूर्यो वा देवता, गायत्री छन्दः । अयम् अन्तरितिस्त्रिंशद्धामेति च त्रयोपि मन्त्रा व्याख्याताः† ॥ १।११ ॥

† पूर्वार्चिके ६३०, ६३१, ६३२ संख्याका मन्त्रा द्रष्टव्याः ।

१३७७. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ २।११ ॥

१३७८. त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते ।
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥ ३।११ ॥

अन्तश्चरतीति त्रिंशद्धामेति च मन्त्रयोरपि ऋष्यादयः पूर्ववत् । इमावपि व्याख्यातौ ॥ २।३।११ ॥

इति तृतीयः खण्डः

इति षष्ठप्रपाठके प्रथमोर्धः

इत्येकादशोऽध्यायः



अथ द्वादशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठके द्वितीयोऽर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१३७९. उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ।

आरे अस्मे च शृण्वते ॥ १।१ ॥ (ऋ० १।७४।१)

उपप्रयन्त इति । गोतमो राहूगण ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । अध्वरं हिंसारहितं भक्तियज्ञम् उपप्रयन्तो गच्छन्तो वयमुपासकाः, आरे दूरे । आरे इति दूरनाय (निघ० ३,२६,४) । चकारात्समीपे । शृण्वते आकर्णयते । अग्नये सर्वागाय कल्याणस्वरूपाय वा परमेश्वराय । मन्त्रं स्तुतिरूपं वोचेमोच्चारयेम । भक्तिमार्गं प्रविष्टानां परमेश्वरस्य नैकट्यं प्रविविक्षूणां च दूरत्वं वेद्यम् ॥ १।१ ॥

१३८०. यः स्नीहितीषु पूर्व्यः संजग्मानासु कृष्टिषु ।

अरक्षद्दाशुषे गयम् ॥ २।१ ॥ (ऋ० १।७४।२)

यः स्नीहितीष्विति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । स्नीहितीषु प्राणहारिणीषु कृष्टिसु प्रजासु संजग्मानासु सम्मिलितासु । स्नेहयतिर्वधकर्मा (निघ० २,१९,१३) । कृष्ट्यो मनुष्याः (निघ० २,३,७) यः पूर्व्यः समातनः परमेश्वरो दाशुषे परमेश्वराय हृदयं दत्तवते भक्ताय गयं स्थानं शरणमिति यावत् अरक्षत् रक्षति ॥ २।१ ॥

१३८१. स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु शन्तमः† ।

उतास्मान्पात्वंहसः ॥ ३।१ ॥ (ऋ ७।१५।३)

---

† विश्वत इत्यृग्पाठः ।

स न इति । छन्दोदेवते उक्ते । ऋषिर्वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । सोग्निः परमेश्वरः शन्तमः कल्याणतमः । नोस्माकं वेदो ज्ञानम् । विद्यते परमेश्वरो येन तत् । अमात्यमन्तःस्थम् । अमा गृहवचनः । (निघ० ३,४,११) । तच्च गृहमन्तःकरणमेव । तत्र भवममात्यम् । अव्ययात्त्यप् । ज्ञानं यद्यप्यात्मनि तिष्ठति न त्वन्तःकरणे तथापि सामान्यतो ज्ञानशब्देन बुद्धिरुच्यते । बुद्धिश्चान्तःकरणेष्वन्यतमा । तथापि न समाधानम् । बुद्धिरेवज्ञानं तर्हि कथं बुद्धौ ज्ञानम् ? सत्यम् । बुद्धिरिह केवलमन्तःकरणम् । अथवा बुद्धिर्ज्ञानसाधनम् । बुद्धया जानातीतिप्रयोगात् । एवं च बुद्धौ ज्ञानमिति नासङ्गतम् । रक्षतु, उत किं च अस्मान् भक्तान् अंहसः पापात्पातु । मा वयं पापे रतिमन्तो भवेमेति ॥ ३।१ ॥

१३८२. उत ब्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि ।
धनञ्जयो रणेरणे ॥ ४।१ ॥ (ऋ० १।७४।३)

उत ब्रुवन्त्विति । ऋष्यादयः प्रथमद्वितीयमन्त्रवत् । रणेरणे कामादिशत्रुभिः सह जायमानेयु सर्वेषु संग्रामेषु धनञ्जयः शत्रूणां सामर्थ्यस्य विजेता । वृत्रहा सर्वेषामावरणानां विनाशकः । वृञ् आवरणे । अग्निः प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः । उद् अजनि प्रादुर्भवति, उत अतः, जन्तवो भक्ताः । ब्रुवन्तु स्तुवन्तु तमिति शेषः ॥ ४।१ ॥

इति प्रथमः खण्डः

अथ द्वितीयः खण्डः

१३८३. अग्ने युङ्क्ष्वा† हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्त्याशवः‡ ॥ १।२ ॥ (ऋ० ६।१६।४३)

अग्न इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । हे देव दिव्यगुण अग्ने प्रकाशस्वरूप, ये अश्वासोऽश्वास्त्वय्येव व्याप्ता निरता इति यावत् । साधवः परकार्यसाधका लोकाः सन्तीतिशेषः । युङ्क्ष्व तान् याजयास्माकं साहाय्यकर्मणीति शेषः । हिर्निश्चयार्थकः । यत आशवस्त्वयि निरता अरमलं वहन्ति प्रेरयन्ति नयन्ति वा ॥ १।२ ॥

१३८४. अच्छा नो याह्या वहाभि प्रयांसि वीतये ।
आ देवान्त्सोमपीतये ॥ २।२ ॥ (ऋ० ६।१६।४४)

अच्छा न इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे अग्ने परमेश्वर, अच्छ आभिमुख्येन नोऽस्मानायाहि आगच्छ । वीतये पानाय त्वदनुभवानन्दरसस्य । प्रयांसि अभि ज्ञानध्यानदर्शनादीनि तर्पकाणि अभिलक्ष्य । प्रीञ् तर्पणे । आ वहास्मान्प्रापय । देवान् उत्तमाञ् जनान् अपि सोमपीतये शान्तरसानुभवाम आ वह प्रापय भक्तियज्ञ इति भावः ॥ २।२ ॥

१३८५. उदग्ने भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत् ।
शोचा वि भाह्यजर ॥ ३।२ ॥ (ऋ० ६।१६।४५)

उदग्न इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे भारत भरणकर्तः अग्ने परमेश्वर, उत् शोच उद्दीप्यस्व । प्राकट्यमाप्नुमहि । अजस्रेण अनवरतेन द्युमत् द्युमता प्रकाशवता तेजसा दविद्युतत् अतिशयेन

---

† युक्ष्वेत्यृक्पाठः । ‡ वहन्ति मन्यवे इत्यृक्पाठः ।

दीप्यमानस्त्वं हे अजर जरा रहित वि भाहि अस्मानपि विदीपय प्रकाशय ॥ ३।२ ॥

१३८६ प्र सुन्वानायान्धसो† मर्तो न वष्ट‡ तद्वचः ।

अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ १।३ ॥

(ऋ० ९।१०१।१३)

प्र सुन्वानेति । प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वर्षि, पवमानः सोमो देवता, अनुष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।३ ॥

१३८७. आ जामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः ।

सरञ्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम् ॥ २।३ ॥

(ऋ० ९।१०१।१४)

आ जामिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । जामिर्बालिशोज्ञोज्ञातब्रह्म-तत्त्वः । जाम्यतिरेकनाम वालिशस्य वा समानजातीयस्य वेति यास्कः (नि० ४,२०) । अत्के सर्वत्रातनशीले व्यापके परमेश्वरे आ अव्यत समन्ताद् गच्छति परमात्मनः शरणं गच्छतीत्यर्थः । वी गतौ । न यथा पुत्रो बाल ओण्योर्दुःखापनयनसमर्थयोर्मातापित्रो-र्भुजे बाहौ त्राणार्थं गच्छति । जामिः शरणार्थं परमेश्वरं प्राप्नोति ततः सोमः परमेश्वरः । योषणां यूपणानां हिंसकानां दुर्जनानाम् । यूष हिंसायाम् । उपधागुणश्छान्दसः, योनिं स्थानम् । योनि-रिति गृहनाम (निघ० ३,४,१४) । आसदमासत्तुं प्राप्तुं सरत् सरति गच्छति । कीदृशः सोमः ? जारः शत्रूणां दुर्जनानां च जर-यिता, वरो वरणीयः, नकारद्वयं समुच्चयार्थे ॥ २।३ ॥

† सुन्वानस्येत्यृक्पाठः । ‡ 'वृत' इत्यृक्पाठः ।

* पूर्वार्चिके ५५३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१३८८. स वीरो दक्षसाधनो वि यस्तस्तम्भ रोदसी।
हरिः पवित्रे अव्यत वेधा न योनिमासदम् ॥ ३।३ ॥
(ऋ० ९।१०१।१५)

स वीर इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। यः सोमः परमात्मा रोदसी द्यावापृथिव्यौ वितस्तम्भ विष्टभ्नाति स वीरो विशेषेणेरयिता शत्रूणाम्। दक्षसाधनः दक्षाणि समर्थानि साधनानि यस्य सः। वेधा न मेधावी आचार्य इव। हरिर्दुःखहर्ता। योनिं स्थानं मलस्थानं स्वलोकमित्यर्थः, आसदमासादयितुम्। पवित्रे कामादिरहिते जने अव्यत गच्छति, वि गतौ ॥ ३।३ ॥

१३८९ अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १।४ ॥ (ऋ० ८।२१।१३)

अभ्रातृव्य इति। सोभरिः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः—विषमा ककुप् छन्दः, व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।४ ॥

१३९०. न‡ की रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते
सुराश्वः। यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव
हूयसे ॥ २।४ ॥ (ऋ० ८।२१।१४)

न की रेवन्तमिति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः प्रगाथः—समा सतो वृहती। हे इन्द्र परमेश्वर, रेवन्तं धनवन्तं सख्याय मित्रभावाय नकिर्न विन्दसे न तुभ्यं स रोचत इत्यर्थः। धनवन्तः सुराश्वः सुरया अभिमानमदिरया वृद्धाः अतिप्रमत्ता इत्यर्थः। टु ओ श्वि गतिवृद्धयोः, ते त्वाम्। पीयन्ति हिंसन्ति। पीयतिर्हिंसाकर्मा

† पूर्वार्चिके ३९९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ नकी इत्यपपाठः।

(निघ० ४,२५) । यदा त्वं नदनुं संग्रामम् । नदनुरिति संग्रामनाम (निघ० २,१७,४) । कृणोषि करोषि, समूहसि समूहयसि अयमीश्वरो महापराक्रम इति तान् वितर्कयसि तदा पिता इव पाता इव आत् हूयसे आहूयस एव । अत्र धनिनः स्वभावो वर्णितः । ते धनमदोन्मत्तास्तिष्ठन्ति । परमेश्वरस्य वैमुख्यं साधयन्ति । भगवद्भक्तान् पीडयन्ति तेनेश्वरस्य पीडा भवति, स एव वधः । यदेश्वरो दण्डं दधाति तेषु तदा ते सरला भूत्वा हे ईश्वर पाहीति वदन्ति । अन्यदप्युक्तम् । परमेश्वरो हि दीनानां बन्धुर्न धनिनाम् । दानदयादरहिता धनिनस्तस्मै न रोचन्ते ॥ २१४ ॥

१३९१. आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये । ब्रह्मयुजो
हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥ १५ ॥

(ऋ० ८।१।२४)

आत्वेति । मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वावृषी, इन्द्रो देवता, बृहती छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १५ ॥

१३९२. आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या । शितिपृष्ठा
वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये ॥ २१५ ॥

(ऋ० ८।१।२५)

आ त्वा रथ इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्र परमैश्वर्य परमेश्वर, मयूरशेप्या मयूरशेपौ कामक्रोधादिकं भिनाती हिनस्तीति मयूरः (उ० १,६७) । ज्ञानं विवेको वा । तत् तं वा शपतः स्पृशत इति मयूरशेपौ । शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मण इति यास्कः (निघ० ३,२१) । हरी हरति परमात्मानमिति हरिर्मनः, हरति दोषानिति हरिर्बुद्धिः । मयूरशेपे ते उभे मनोबुद्धी इति यावत् ।

† पूर्वार्चिके २४५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

हिरण्यये हिरण्मये निर्दोष इति भावः। रथे शरीरे हृदये इति भावः। त्वा त्वां परमेश्वरम् आ वहतामानयताम्। कीदृशौ मनोबुद्धी? शितिपृष्ठा शिति तीक्ष्णं पृष्ठमङ्गं ययोस्ते। शीघ्रतत्त्वग्राहिण्यौ इति भावः। किमर्थमावहनम्? विवक्षणस्य वक्तुमिष्टस्य प्रार्थनावचनस्य मध्वो मधुरस्य अन्धसो आध्यानीयस्य रसस्य पीतये पानाय भक्तिरसपानायेत्यर्थः॥ २।५॥

१३९३. पिबा त्व३स्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा† इव।
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते॥ ३।५॥
(ऋ० ८।१।२६)

पिबेति। ऋष्यादय उक्ताः, कृपापरवश आचार्यः शिष्याय परमेश्वरं प्रार्थयन्ते, हे गिर्वणः गीर्भिः स्तुतिरूपाभिर्वननीय संभजनीय परमेश्वर, सुतस्य भक्त्यैश्वर्यस्य परिष्कृतस्य संशोधितस्य सर्वदुर्गुणरहितस्य रसिनस्त्वद्रसानन्दानुभाविनोस्य पुर उपस्थितस्य तवोपासकस्य भक्तिरसं भक्त्यानन्दमितिशेषः। पूर्वपा इव सर्वेभ्यः पूर्वं पिबतीति पूर्वपा अत्यन्तातुर इव पिब, इयं चारू रसवती। आसुतिर्निष्पन्ना धारा मदाय तवापि हर्षाय पत्यते। पत्यतिरैश्वर्यकर्मा (निघ० २,२१,२)। नैरुक्तो धातुः। हर्षस्येष्ट इत्यर्थः॥ ३।५॥

१३९४. आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम्।
वनप्रक्षमुदप्रुतम्‡॥ १।६॥ (ऋ० ९।१०८।७)

आ सोतेति। ऋजिश्वा भारद्वाज ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, विषमा ककुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः*॥ १।६॥

† पूर्वपाइवेत्यृक्पाठः। ‡ वनक्रक्षेत्यृक्पाठः।
* पूर्वार्चिके ५८० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१३९५. सहस्रधारं वृषभं पयोदुहं† प्रियं देवाय जन्मने ।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं
बृहत् ॥ २१६ ॥ (ऋ० ९।१०८।८)

सहस्रधारमिति । ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरस ऋषिः, पवमानः सोमो देवता । समा सतो बृहती छन्दः । सहस्रधारं सहस्राणि धारा वाचो वेदरूपा यस्य तम् । वृषभं सर्वेच्छापूरयितारम् । पयोदुहं रसदोग्धारम् । प्रियं प्रीतिकरं राजानं परमात्मानं देवाय जन्मने पवित्राय जन्मने भूयो यदि जन्म स्यात्पवित्रे गृहे कुले च स्यादितिहेतवे स्तुतेतिशेषः । यः परमात्मा ऋतजातः सत्यस्थितिः । जनिरत्र सत्तायाम् । अथवा जातं प्रादुर्भूतमृतं सत्यं यस्मात् । सत्यस्वरूपमिति तात्पर्यम् । य ऋतस्य जनकः स सत्यस्वरूप एव स्यात् । राजा दीप्तिमान् । देवः स्तुत्यः, स ऋतेन विवावृधे सत्येन विशेषेण वर्धते । यतः स बृहत् महान् ऋतं सत्यः ॥ २१६ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

अथ तृतीयः खण्डः

१३९६. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्द्रविणस्युर्विपन्यया ।
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ २१७ ॥ (ऋ० ६।१६।३४)

अग्निर्वृत्राणीति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः, अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ २१७ ॥

---

† पयोवृधमित्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके ४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१३९७. गर्भे मातुः पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षरे।
सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ २।७ ॥ (ऋ० ६।१६।३५)

गर्भे मातुरिति। ऋष्यादय उक्ताः, द्यौर्वः पिता पृथिवी माता (ऋ० १,१९१,४) इति श्रुतेरत्र मातृशब्देन पृथिवी गृह्यते पितृशब्देन च द्यौः। मातुः पृथिव्या अक्षरे गर्भे मध्ये विदिद्युतानो विशेषेण दीप्यमानः, पितुर्दिवो द्युलोकस्य पिता पालयिता। सीदन् तिष्ठन् ऋतस्य सत्यस्य योनि मूलकारणं स्वम्। आ आगमयति। उपसर्गबलाद्धातोरध्याहारः ॥ २।७ ॥

१३९८. ब्रह्म प्रजावदा भर जातवेदो विचर्षणे।
अग्ने यद्दीदयद्दिवि ॥ ३।७ ॥ (ऋ० ६।१६।३६)

ब्रह्मेति। ऋष्यादय उक्ताः, हे जातवेदो जातं जातं वेत्तीति जातवेदाः। सम्बुद्धौ जातवेदः। विचर्षणे विद्रष्टः। विचर्षणिः पश्यतिकर्मा (निघ० ३,११,६)। अग्ने परमेश्वर, प्रजावत् प्रजाः सन्ति अस्य तत् ब्रह्म ज्ञानं प्रजासहितम् आ भर पूरय। यद् ज्ञानम्। दिवि द्युलोके देवलोके विद्वन्मध्ये इति भावः। दीदयद् दीप्यते ॥ ३।७ ॥

१३९९. अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।
सुतः पवित्रं पर्येति रेभन्मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥१।८॥
(ऋ० ९।९७।१०)

अस्य प्रेषेति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।८ ॥

† पूर्वार्चिके ५२६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१४००. भद्रा वस्त्रा समन्या३ वसानो महान्कविर्निवचनानि शंसन् ।
आ वच्यस्व चम्वोः पूयमानो विचक्षणो जागृविर्देववीतौ
॥ २।८ ॥ (ऋ० ९।९७।२)

भद्रा वस्त्रेति । ऋष्यादयः उक्ताः, हे सोम परमेश्वर, भद्रा भद्राणि कल्याणकराणि वस्त्रा वस्त्राणि आच्छादकानि । वस् आच्छादने भक्तानामुपासकानामावरणभूतानि रक्षार्थं । समन्या समन्यानि युद्धयोग्यानि तेजांसीत्यध्याहार्यम् । समनमिति संग्रामनाम (निघ० २,१७,१६) । अथवा समनमविक्लवः । षम ष्टम अवैकल्ये । समनस्य योग्यानि समन्यानि विक्लवहराणि तेजांसि वसानो धारयन् । निर्वचनानि परमेश्वरमाहात्म्यप्रतिपादकानि वचनानि शंसन् स्तुवन् । महाँल्लोकोत्तरः कविः क्रान्तदर्शी । पूयमानः पुनानः सर्वान् । विचक्षणो विद्रष्टा विशेषेण सर्वेषां लोकानां द्रष्टा । जागृविर्भक्तरक्षार्थं जागरूकः । देववीतौ देवानां शुद्धान्तःकरणानां गतिर्यस्मिंस्तस्मिन् भक्तियज्ञे । वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु, चम्वोः, चमु अदने । चमतो विषयानत्त इति चम्वौ तयोर्मनोवुद्धयोः । आवच्यस्व समन्तात् गच्छ प्रविशेतिभावः । यद्यपि चमूरिति द्यावापृथिव्योर्नाम (निघ० ३,३०,१६) तथापि सोर्थं उपेक्षितोत्र । वचिर्गत्यर्थः । वञ्चु गतौ, प्रवेशोपि गमनमेव । विकरणव्यत्ययश्छान्दसः ॥ २।८ ॥

१४०१. समु प्रियो मृज्यते सानो अव्ये यशस्तरो यशसां क्षैतो अस्मे ।
अभि स्वर धन्वा पूयमानो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः
॥ ३।८ ॥ (ऋ० ९।९७।३)

समु प्रिय इति । ऋष्यादय उक्ताः, भक्तिकाले परमात्माप्युपस्थितः, अन्ये महान्तो भक्ता अप्युपस्थिता इति परिकल्प्यास्य

मन्त्रस्यार्थो निर्वचनीयः। तथा हि—सानो सानौ सानुनि महोत्तमे अव्ये रक्षणीये कान्ते वा हृदये। अव रक्षणार्थोपि कान्त्यर्थोपि। क्षैतः क्षितौ भवः प्रार्थनयोपस्थापितो भूमौ। यशसां यशस्विनां यशस्तरो यशस्वितरः। प्रियः प्रियकरः परमात्मा, अस्मे अस्मदर्थमस्माकं कल्याणाय। सम् मृज्यते संस्नप्यते, उपस्थापित आहूतो देवः स्नपनीय इति सदाचारः। भक्तिजलेनैव स्नानं वेदितव्यम्। एवं च पूयमानः स्नप्यमानस्त्वं परमात्मन् धन्वा धन्वन्यन्तरिक्षेन्तःकरणाकाशे। धन्वेत्यन्तरिक्षनाम (निघ० १,३,५)। अभि स्वर ब्रूहि आशिषं ब्रूहीत्यर्थः। परमात्मानं प्रार्थ्योपस्थितान् भक्तान् प्रार्थयन्ते—हे सद्भक्ता स्वस्तिभिः कल्याणवचनैर्यूयं नोस्मान् सदा पात रक्षत॥ ३।८॥

१४०२. एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं †शुद्धैराशीर्वान्ममत्तु॥ १९॥
(ऋ० ८।९५।७)

एतो न्विन्द्रमिति। तिरश्चोराङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, अनुष्टुप् छन्दः। अस्मिन्मन्त्रे कश्चन परमभागवतमीश्वरभक्तमुद्दिश्य लोकानामुक्तिः। एत आगच्छत। शुद्धेन साम्ना स्यति दोषाणामन्तं करोतीति साम मन्त्रविशेषः। शुद्धेन मन्त्रेण। इन्द्रं जीवमुपासकम्। स्तवाम, नु, क्षिप्रम्। शुद्धैरुक्थैः स्तोत्रैर्लौकिकैश्चापि तं स्तवामेतिसम्बन्धः। कीदृशमिन्द्रम्? शुद्धैः पवित्रैराचारैरिति शेषः। वावृध्वांसं वर्धमानम्। आशीर्वान् आशीर्भिरालोडितः स उपासको ममत्तु माद्यतु प्रसीतु। व्याख्यातोपि व्याख्यात इहायं मन्त्रः‡॥ १९॥

† शुद्ध आशीर्वानित्युक्पाठः।

‡ पूर्वार्चिके ३९० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१४०३. इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः ।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्य† ॥२१९॥
(ऋ० ८।९५।८)

इन्द्र शुद्ध इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्र जीव त्वं शुद्धाभिः पवित्रैरूतिभी रक्षणैः शुद्धोसि । परमत्मकृतं रक्षणं शुद्धमेव स्यात् । शुद्धसाधनैः कृतं रक्षणं शुद्धमशुद्धसाधनैः कृतं रक्षणमशुद्धमिति-व्यवहारः । एवं च शुद्धः संस्त्वं नोस्मान् प्रत्यागच्छ । आगत्य किं कर्तव्यम् ? तत्राह, त्वं शुद्धोसि ततोस्मासु रयिं धनं ज्ञानरूपं भक्ति-रूपं वा । नि धारय निधेहि । रयिरिति धननाम रातेर्दानकर्मण इति यास्कः (नि० ४,१७) । किं च हे सोम्य शान्त उपासक, ममद्धि माद्य हृष्य । ज्ञानदानेनान्येषामज्ञाननिरोधद्वारा ज्ञान-सम्पादनेनोचित एव हर्षः ॥ २१९ ॥

१४०४. इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥ ३१९ ॥
(ऋ० ८।९५।९)

इन्द्र शुद्धो हीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । पूर्वस्मिन्मन्त्रेस्मिन्नपि जीव एवेन्द्रशब्देनोच्यते । उपासनया शुद्धभूतं जीवं तुरस्कृत्येय-मुक्तिः । हे इन्द्र साधनसम्पन्न उपासक जीव, त्वं शुद्धः पवित्रः । हि खलु । अतो नोस्मभ्यं रयिं धनं ज्ञानरूपं देहीत्यध्याहारः । दाशुषे परमेश्वराय हृदयं समर्पयते भक्ताय रत्नानि रमणीयानि वस्तूनि सत्यसदाचारज्ञानदयादाक्षिण्यादिरूपाणि देहीतिसम्बन्धः । त्वं स्वयं शुद्धोसि, अत इमानि शुद्धानि वस्तूनि दातुमर्हसि । त्वं

† सोम्यः इत्यन्यपाठः ।

शुद्धोस्यत एव वृत्राणि पापानि दोषान् सिघ्नसे हंसि । शुद्धश्च त्वं वाजं बलमात्मिकं धनं वा ज्ञानरूपं सिपाससि दातुमिच्छसि ॥३।९॥

इति तृतीयः खण्डः

अथ चतुर्थः खण्डः

१४०५. अग्ने स्तोमं मनामहे सिध्रमद्य दिविस्पृशः ।
देवस्य द्रविणस्यवः ॥ १।१० ॥ (ऋ० ५।१३।२)

अग्ने स्तोममिति । सुतम्भर आत्रेय ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । द्रविणस्यवो द्रविणं ज्ञानरूपं धनमिच्छन्तो दिविस्पृशः दिव्यपरमेश्वरस्पृशः परमेश्वरसम्बन्धिनो वयम् । देवस्य दिव्यस्य आनन्दस्वरूपस्य वा अग्नेः परमात्मनः । अद्य सिध्रं साधकं सर्वेषां मनोरथानाम् । स्तोत्रं स्तोमं मनामहे मनामः । म्ना अभ्यासे ॥ १।१० ॥

१४०६. अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेष्वा ।
स यक्षद्दैव्यं जनम् ॥ २।१० ॥ (ऋ० ५।१३।३)

अग्निरिति । ऋष्यादय उक्ताः, होता सत्यवादिनां पवित्रान्तःकरणानां जनानां य होता आह्वाता भक्तियज्ञ उपस्थापयिता । योग्निः परमात्मा मानुषेषु भक्तजनेषु आ वसतीत्यध्याहार्यम् । स नोस्माकं गिरः प्रार्थनारूपा वाचो जुषत जुषतां सेवताम् श्रृणोतु श्रुत्वा प्रीतश्च भवतु । जुषी प्रीतिसेवनयो । किं च सोग्निः परमात्मा दैव्यं देवसम्बिन्धिनं देवजुष्टगुणजुष्टमित्यर्थः । यक्षत् यजतु प्रीणयतु ॥ २।१० ॥

१ अग्निरितिसन्धिरहितः पाठ ऋग्वेदे ।

१४०७. त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः ।
त्वया यज्ञं वि तन्वते ॥ ३।१० ॥ (ऋ० ५।१३।४)

त्वमग्न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने सर्वेषामग्रणीः परमेश्वर, त्वं सप्रथा सर्वतः पृथुः । सप्रथाः सर्वतः पृथुरिति यास्कः (नि० ६,७) । जुष्टो विद्वद्भि सेवितो होता सर्वेष्टप्रदाता । हु दानादनयोः । वरेण्यो वरणीयोसि । त्वया तव साहाय्येनोपासका यज्ञं पवित्रं कर्म वि तन्वते विस्तारयन्ति कुर्वन्तीतिभावः । अथवा भक्तास्त्वया तव । षष्ठ्यर्थे तृतीया, यज्ञं वितन्वन्ति ॥ ३।१० ॥

१४०८. अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्तवाणीः† ।
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि‡ रत्नधा दयते वार्याणि
॥ १।११ ॥ (ऋ० ९।९०।२)

अभि त्रिपृष्ठमिति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥१।११ ॥

१४०९. शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाञ्जेता पवस्व सनिता धनानि ।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाढः साह्वान्पृतनासु शत्रून्
॥ २।११ ॥ (ऋ० ९।९०।३)

शूरग्राम इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे पवमान सोम परमेश्वर त्वं शूरग्रामः शूराणां हिंसकानां प्रजाविनाशकानां खलानां ग्रामो ग्रसिता अत्ता असि, ग्रसु अदने । ग्रसेरा च (उ० १,१४३) इति मन् प्रत्ययः । सर्ववीरः सर्वेषु वीरः सर्वेभ्यो वा वीरः सर्ववीरः । सर्वान्विशेषेणेरयिता वा । सहावान् सहनवान् सहनशक्तिसम्पन्न

† मांगूषाणामवा' 'इत्यृक्पाठः ।
‡ 'सिन्धूंन्वि' इत्यृक्पाठः ।
* पूर्वार्चिके ५२८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

इत्यर्थः। जेता विजेता सर्वेषाम्। धनानि सनिता धनानां संभक्तेत्यर्थः। धनं च ज्ञानरूपादिकमेव। तिग्मायुधस्तिग्मानां तीक्ष्णनां क्रूराणामायुधः सम्प्रहारकः। आयुधमायोधनादितियास्कः (नि० १०,६)। क्षिप्रधन्वा दुर्जनानां दूरं क्षेप्त्री धन्व गतिर्यस्य तथा। धविर्गत्यर्थः। समत्सु शुभानि भक्षयत्सु दूर्जनेषु। सम्पूर्वाद् अत्तेः क्विप्। अषाढः असोढः, पृतनासु मनुष्येषु, पृतना इति मनुष्य नाम (नि० २,३,२५)। शत्रून् जनानां शातयतः। साह्वान् अभिभवन्। अभिभावक इति भावः। इत्थंभूतस्त्वं पवस्वास्मान्प्रत्यागच्छ। अथवा पुनीहि। विकरणव्यत्ययः॥ २।११॥

१४१०. उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन्त्समीचीने आ पवस्वा पुरन्धी।
अपः सिषासन्नुषसः स्व३र्गाः सं चिक्रदो महो अस्मभ्यं
वाजान्॥ ३।११॥ (ऋ० ९।९०।४)

उरुगव्युतिरिति। ऋष्यादय उक्ताः, उरुगव्यूतिरुरु गव्यूतिर्गमनं यस्य सः, व्यापक इत्यर्थः, पुरन्धी द्यावापृथिव्यौ समीचीने सुखसमृद्धिपूर्णे कुर्वन्। अभयानि स्वोपासकेभ्योन्येभ्यश्च कुर्वन्। हे सोम परमेश्वर आ पवस्व आ क्षर आगच्छ वा। उषसः प्रातःकालस्य अपः कर्म स्वर्जलम् गाः भूमिं च सिषासन् संभक्तुमिच्छन्, महो महान्ति वाजान् ज्ञानानि चास्मभ्यमुपासकेभ्यः सिषासन् सं चिक्रदः संक्रन्दसे शब्दं करोषि। ब्राह्ममुहूर्ते शयनादुत्थातव्यमिति तात्कालिकं कर्म च कर्तव्यमिति सूचयितुमुषसोपश्चेत्युक्तम्। उषसि स्नानमवश्यं विधेयमिति स्मारयितुं स्वरित्युक्तम्। स्वर्जलनाम (निघ० १,१२,८६)। मलोत्सर्गादिकं जले न कर्तव्यम् उचितं स्थानं च तदर्थमन्वेष्टव्यमिति शिक्षयितुं गा इत्युक्तम्। उषस्युत्थाय स्नानध्यानादिना ज्ञानसमृद्धिर्भवतीत्यपि सूचितम्॥ ३।११॥

१४११. त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः† ।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक ‡इत्पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः
॥ १।१२ ॥ (ऋ० ८।९०।५)

त्वमिन्द्रेति । नृमेधपुरुषमेधावाङ्गिरसौ ऋषी, इन्द्रो देवता, प्रगाथश्छन्दः (विषमा बृहती) । हे इन्द्र प्रकाशस्वरूप परमेश्वर त्वं यशा यशस्वी ऋजीषी सर्वरक्षासंहारशक्तिमान् । "ऋजीषी सोमः । 'यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तद् ऋजीषम्, अपार्जितं भवति तेनर्जीषी सोमः । अथाप्यैन्द्रौ निगमो भवति ऋजीषी वज्री" इति यास्कः (नि० ५,१२) । न हि सर्वशक्तेः परमेश्वरस्य वज्रो नाम किञ्चिदायुधं भवितुमर्हति । अत ऋजीषमिहार्जितः संरक्षितः कश्चिच्छक्तिविशेषः । सोस्ति यस्य स ऋजीषी । ऋज अर्जने । अर्जेर्ऋज च (उ० ४,२८), इतीषन् प्रत्ययः । शवसस्पतिराध्यात्मिकबलस्वामी । त्वमेक इत् एक एव न नराणां न वा वानराणां साहाय्यं गृहीत्वेति भावः । अप्रतीनि कैश्चिदपि अप्रगतानि वृत्राणि सन्मार्गविरोधकानि पापानि पपांश्च । हंसि निवारयसि । कीदृशस्त्वम् ? पुर्वनुत्तः पुरुभिर्बहुभिर्न कदाप्यनुत्तः पराजितः । णुद प्रेरणे । चर्षणीधृतिश्चर्षणीनां मनुष्याणां धृतिर्धारणकर्ता ॥ १।१२ ॥

१४१२. तमु त्वा नूनमसुर प्रचेतसं राधो भागमिवेमहे ।
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो
अश्नवन् ॥ २।१२ ॥ (ऋ० ८।९०।६)

तमु त्वेति । समा सतो बृहती छन्दः, ऋषिदेवते उक्ते, हे असुर असून् प्राणान् राति ददातीत्यसुरः, सम्बुद्धौ रूपम् । प्राण-

---

† शवस्पते इत्यृक्पाठः । ‡ इदनुत्ता चर्षणीधृतेत्यृक्पाठः ।

दातः परमेश्वर, प्रचेतसं प्रकृष्टज्ञानवन्तम्। राधः सर्वमनोरथ-साधकः, राध संसिद्धौ। भगं भजनीयम्। उ नूनम् इवेत्यादयः सर्वे समानार्था इहावधारणबलप्रदातारः। तं सर्वथा प्रसिद्धं त्वामेव। ईमहे याचामहे। ईमहे याच्ञाकर्मा (निघ० ३,१९,१) ते तव कृत्तिर्यशो महीव विस्तृतं महत्। कृत्तिः कृन्ततेर्यशो वान्नं वेति यास्कः (नि० ५,२२) हे इन्द्र ते तव सुम्ना सुखानि। तव शरणमागतानां नोस्मान् प्र अश्नवन् प्राप्नुवन्तु। तव शरणमागतानामस्माकं तव सुखस्वरूपतास्मानपि प्राप्ता भवत्विति प्रार्थना ॥ २।१२॥

१४१३. यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १।१३ ॥ (ऋ० ८।१९।३)

यजिष्ठमिति। सोभरिः काण्व ऋषिः, अग्निर्देवता। काकुभः प्रगाथः (विषमा ककुप्) छन्दः। हे अग्ने सर्वव्यापक परमेश्वर, त्वा त्वां ववृमहे वृणीमहे रक्षकत्वेन स्वीकुर्महे वयमुपासकाः। कीदृशं त्वाम्? यजिष्ठं परमदातारम्। दानार्थे यजिः। देवत्रा देवेषु। देवं दिव्यगुणोपेतम्। होतारं सर्वप्रलयकर्तारम्। हु दाना-दनयोः। अमर्त्यममरणधर्माणम्। अस्य वर्तमानभक्तियज्ञस्य सुक्रतुं सुष्ठु सम्पादकम् ॥ १।१३ ॥

१४१४. अपां† नपातं सुभगं सुदीदितिमग्निमु‡ श्रेष्ठशोचिषम्।
स नो मित्रस्य वरुणस्य सो अपामा सुम्नं यक्षते दिवि
॥ २।१३ ॥ (ऋ० ८।१९।४)

अपा नपातमिति। ऋषिदेवते उक्ते, प्रगाथः (सामा सतो-बृहती) छन्दः। अस्मिन्मन्त्रेऽग्निदेवतेत्यनेनोपासकः परमेश्वरस्य

---

† ऊर्जोनपातमित्यृक्पाठः। ‡ ....मग्निमित्यृक्पाठः।

गृहीतः। अपामाप्नोति सर्वं प्राप्नोतीति परमात्मा तस्य। अपामित्यत्र वहुवचनं शब्दमाहात्म्यात्। परमेश्वरस्य न पातं न पातयितारं न विस्मर्तारमितियावत्। सुभगं सदैश्वर्यम्। तच्चैश्वर्यं सत्यसदाचारादिरूपम्। सुदीदितिमतिशयेनात्मानं दीपयितारम्। श्रेष्ठशोचिषं परमोत्तमतेजस्कम्। अग्निमु प्रकाशवन्तमुपासकं परमेश्वरस्य स्तुम एव। कुतस्तस्य स्तवः? यतो नोस्माकं मध्ये स उपासको मित्त्रस्य स्निग्धस्य सर्वेषु। वरुणस्य वरणीयस्य सर्वैविद्वद्भिः। अपाम् परमेश्वरस्य सुम्नं सुखम्। दिवि दिव्ये स्वहृदये यक्षते यजति अनुभवति। यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु। संगतिकरणमिहानुभवः॥ २।१३॥

इति चतुर्थः खण्डः



अथ पञ्चमः खण्डः

१४१५. यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः।
स यन्ता शश्वतीरिषः॥ १।१४॥ (ऋ० १।२७।७)

यमग्न इति। शुनः शेप आजीगर्तिर्ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः। हे अग्ने हे परमात्मन्। यं मर्त्यं मनुष्यं त्वं पृत्सु कामादिशत्रुभिः सह युध्यमानेषु युद्धेषु अवा अवसि, वाजेषु बलेष्वाध्यात्मिकेषु धनेषु वा सत्यसदाचारादिरूपेषु यं मनुष्यं जुनाः गमयसि प्रेरयसि, जुङ् गतौ। स मनुष्य शश्वतीर्वह्वीरिषः इच्छाः, कामानाम्। षष्ठ्यर्थे द्वितीया छान्दसी। यन्ता नियन्ता भवति॥ १।१४॥

१४१६. न† किरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् ।
वाजो अस्ति श्रवाय्यः ॥ २।१४ ॥ (ऋ० १।२७।८)

न किरस्येति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सहन्त्य सर्वेषामभिभवितरग्ने, कयस्य चित् कस्यचिदस्य त्वदुपासकस्य ! कयस्येत्यत्र यकारोपजनश्छान्दसः । पर्येता आ क्रमिता न किः नास्ति । यतोस्य वाजो बलमाध्यात्मिकं श्रवाय्यः श्रवणीयमस्ति लोकोत्तरमस्तीति-तात्पर्यम् ॥ २।१४ ॥

१४१७. स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता ।
विप्रेभिरस्तु सनिता ॥ ३।१४ ॥ (ऋ० १।२७।९)

स वाजमिति । ऋष्यादय उक्ताः, विश्वचर्षणिर्विश्वे चर्षणयो मनुष्या धार्यत्वेन पाल्यत्वेन च यस्य सः, अग्निः परमेश्वरः । अर्वद्भिः संसारस्य पारं प्रापयद्भिर्विद्वद्भिर्महापुरुषैः, सहैव । ऋ गतिप्रापणयोः । 'स्नामदिपद्यर्ति·····' (उ० ४,१०९) इति वनिप् । अन्तर्भावितण्यर्थः । अर्पयति गमयति संसारपारमिति । वाजं कामादिभिः सह जायमानं प्रात्यहिकं संग्रामं तरुता तारयिता । अस्तु । विप्रेभिर्मेधाविभिः सहैव सनिता शमदमोपरतितितिक्षादीनां दाता चास्तु । षणु दाने ॥ ३।१४ ॥

१४१८. साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः ।
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी
॥ १।१५ ॥ (ऋ० ९।९३।१)

साकमुक्ष इति । नोधा गोतम ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।१५ ॥

† न किरस्येत्यक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके ५३८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१४१९ सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारो अद्भिः। मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन्त्सं गच्छते कलश उस्रियाभिः ॥ २।१५ ॥ (ऋ० ९।९३।२)

सं मातृभिरिति। ऋष्यादय उक्ताः, मातृभिर्जननीभिः। वावशानो दुग्धं कामयमानाः, वश कान्तौ, कान्तिरिच्छा। शिशुर्न शिशुरिव। वृषा भक्तिजलेनात्मानं सेचयिता पुरुवारः पुरुभिर्बहुभिर्वरणीयः, भक्तः। अद्भिः परमात्मना सं दधन्वे संधार्यते। धविर्गत्यर्थः। आपः परमात्मेत्युक्तं पूर्वम्। बहुवचनमपि समाहितम्। मर्यो मनुष्यः, साधारणः। योषामभि न परमेश्वरार्चकान् यथा अभिगच्छति तथा। यौतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३,१४,२७)। स रक्षित उपासको निष्कृतं परिष्कृतं स्थानं परमेश्वरधाम यन् गच्छन् गन्तुं कामयमान इतिभावः। उस्रियाभिर्वासनाभिः। वसन्ति भविकभोगादिकामा यत्र, वस निवासे, सह कलशे परमात्मनि। कलशः कस्मात् ? कला अस्मिञ्छेरते मात्राः इति यास्कः (नि० ११,१२)। संगच्छते परात्मनैकीभवतीतिभावः ॥ २।१५ ॥

१४२०. उत प्र पिप्य ऊधरघ्न्याया इन्दुर्धाराभिः सचते सुमेधाः। मूर्धानं गावः पयसा चमूष्वभि श्रीणन्ति वसुभिर्न निक्तैः ॥ ३।१५ ॥ (ऋ० ९।९३।३)

उत प्रेति। ऋष्यादय उक्ताः, अघ्न्याया अहन्तव्यायाः संविद ऊधो वाहकम्, वहतीत्यूधः, वह प्रापणे। सम्प्रसारणं दीर्घत्वं धकारश्चान्तादेशः। सत्यसदाचारादि। प्र पिप्ये सोमः प्रकर्षेण प्यायते वर्धयति। ततः सुमेधाः सद्बुद्धिः सन्निन्दुर्दीप्तिमान्। त्रिइन्धी दीप्तौ। धाराभिर्विद्याभिः। धारेतिवाङ्नाम (नि० १,११,२)। इह विद्या गृहीता। सचते समवेतो भवति, षच समवाये। अथवा धाराभिः परमात्मानं सेवते, षच सेवने। ततो गावो विद्या ब्रह्म-

विद्या इति यावत्। चमूषु परमात्मानमनुभवत्सु, चमु अदने। अदनमिहानुभावः। उपासकेषु भूर्धानं मूर्धन्यं श्रेष्ठम्। निक्तैः प्रक्षालितैर्वसुभिर्वस्त्रैरिव। वस आच्छादने। पयसा प्राप्त्या, पय गतौ, अभि श्रीणन्ति आश्रयन्ते, श्रिञ् सेवायाम्। विकरणव्यत्ययश्छान्दसः ॥ ३।१५ ॥

१४२१. पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः।
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे३ऽस्मां अवन्तु ते धियः ॥
॥१।१६॥ (ऋ० ८।३।१)

पिबा सुतस्येति। मेध्यातिथिः, काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१६ ॥

१४२२. भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा न स्तरभिमातये।
अस्मां‡ चित्राभिरवतादभिष्टिभिरा नः सुम्नेषुयामय ॥
॥ २।१६ ॥ (ऋ० ८।३।२)

भूयाम त इति। ऋषिदेवते उक्ते:, समा सतो बृहती (प्रगाथः) छन्दः। हे इन्द्र परमात्मन्, ते तव सुमतौ शोभनायां वुद्धौ आज्ञायामित्यर्थः। वर्तमाना इत्यध्याहार्यम्। वयं वाजिनो ज्ञानवन्तो भूयाम भवेम। अभिमातये त्वमस्माकं स्वामीत्यभिमातुमभिमानं कर्तुं प्रयतमानान्नो मा स्तर्मा हिंसीः। तुमर्थाच्च भाववचनात् (पा० २,३,१५) इति चतुर्थी। अभिलाषमस्माकं पूरयेति भावः। किं च चित्राभिराश्चर्यप्रदाभिः। अभिष्टिभिरभीष्टिभिरभिलषितवस्तुभिः। अस्मानुपासकान्। अवतात् अव रक्ष, किं च

† पूर्वार्चिके २३९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ अस्माञ्चित्राभिरित्यृक्पाठः।

नोस्मान् सुम्नेषु सुखेषु आ यामय प्रवर्धय। सुखसमृद्धान्नः कुर्वितिभावः ॥ २।१६ ॥

१४२३. त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे† सत्यामाशिरं परमे‡ व्योमनि।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत
॥ १।१७ ॥ (ऋ० ९।७०।१)

त्रिरस्मा इति। रेणुर्वैश्वामित्र ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, जगती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।१७ ॥

१४२४. स भक्षमाणो§ अमृतस्य चारुण उभे द्यावा काव्येना वि शश्रथे।
तेजिष्ठा अपो मंहना परि व्यत यदी देवस्य श्रवसा सदो विदुः
॥ २।१७ ॥ (ऋ० ९।७०।२)

स भक्षमाण इति। ऋष्यादय उक्ताः, स सत्त्वज्ञानी चारुणो मनोहरस्य कल्याणप्रदस्य वा अमृतस्य मरणरहितस्य परमात्मनः। आनन्दमितिशेषः। भक्षमाणो भजमानः। काव्येन क्रान्तिदर्शित्वेन मनोहरशब्दराशिना वा। उभे द्यावा द्यावापृथिव्यौ। द्यावादेशस्य द्वन्द्वाभावेऽसंभवादत्र द्वन्द्वः स्वीकार्यः। स च द्वन्द्वः पृथिवीशब्देनैव। सर्वत्र तथैव दर्शनात्। वि शश्रथे विमोचयति। ते मुक्ते करोतीतिभावः। तेनानुभूयमान आनन्दस्तेनैव वर्ण्यते। तच्च वर्णनं श्रुत्वा तदानन्दे निरते ते द्वे मुक्ते भवतः। द्यावापृथिवीशब्देन तद्गतमनुष्या ग्राह्याः। किं च स तत्त्ववित् तेजिष्ठा अपस्तेजिष्ठं परमात्मानम्। अप्शब्दः परमात्मवाचीति निरूपित-

† दुदुह्रे इत्यृक्पाठः। ‡ पूर्व्ये इत्यृक्पाठः।

* पूर्वार्चिके ५६० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

§ भिक्षमाण इत्यृक्पाठः।

मुपरिष्टात्। मंहना महत्त्वेन तत्त्वविस्त्वरूपेण। परि व्यत परित्तो गच्छति आवृणोति स्ववशं करोतीत्यर्थः। यदी यदा देवस्य परमेश्वरस्य श्रवसा श्रवणहेतुना सदः, सीदन्ति तिष्ठन्तीति सदः उपवेष्टारः, तदा तेपि विदुर्विद्युर्ब्रह्मानन्दमित्यन्तर्हितम् ॥ २।१७ ॥

१४२५. ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवो ऽदाभ्यासो जनुषी उभे अनु।
येभिर्नृम्णा च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनना अगृभ्णत
॥ ३।१७ ॥ (ऋ० ९।७०।३)

ते अस्येति। ऋष्यादय उक्ताः, अस्य सोमस्य परमेश्वरस्य। अमृत्यवो मृत्युमतिक्रम्य स्थातारः। अदाभ्यासोऽहिंस्याः। ते केतवः पूजका उपासकाः। चायृ पूजानिशामनयोः। उभे द्वे जनुषी जन्मनी द्यावापृथिव्याविति तात्पर्यम्। उभयोर्लोकयोर्द्यावापृथिव्योः। अनु अनुदिनं सन्तु। येभिः केतुभिर्हेतुभिः। देव्या देव्यानि देवयोग्यानि नृम्णा निम्णानि वलान्याध्यात्मिकानि स परमात्मा, पुनते ददादि। धातवोऽनेकार्था भवन्ति। आदित् तदनन्तरम्। मनमा मननीया विद्वांसो राजानं दीप्यमानं परमेश्वरम् अगृभ्णत गृह्णन्ति समादरवुद्धया। भक्तपुञ्जं हेतूकृत्य परमेश्वरो देव्यानि स्तोतव्यानि धनानि भक्तेभ्यः प्रयच्छति। तद्दृष्ट्वान्ये विद्वांसः पूज्य वुद्धया परमात्मानं गृह्णन्ति ॥ ३।१७ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

अथ षष्ठः खण्डः

१४२६. अभि वायुं वीत्यर्षा गृणानो३ऽभि मित्रावरुणा पूयमानः।
अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम् ॥१।१८॥
(ऋ० ९।९७।४९)

अभिवायुमिति। कुत्स आङ्गिरस ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः। हे सोम उपासक, वीत्यै कान्त्यै ब्रह्मतेजःप्राप्तय इत्यर्थः। वायुं सर्वत्रगमनशीलं परमेश्वरम् अभिमर्ष अभिगच्छ। पूयमानः आत्मनेतिशेषः। गृणानः स्तूयमानः सर्वैरितिशेषः। मित्रावरुणौ मित्रं सर्वस्निग्धं वरुणं वरणीयं च परमेश्वरमभ्यर्ष वीतय एव। किं च नरं नेतारं सर्वेषाम्। धीजवनं मनोजवम्। धीशब्दो मन आह। रथेष्ठां रमणीयेषु हृदयेषु स्थितम्। रमु क्रीडायाम्। क्थन् (उ० २,२) प्रत्ययः। इन्द्रं परमैश्वर्योपेतं वृषणं सर्वमनोरथपूरकम्। वज्रबाहुं व्रज्र इव शत्रूणां बाधकस्तम्। अभिगच्छ। अस्मिन्मन्त्रे परमेश्वरस्य बहूनि गुणबोधकनामानि माहात्म्यद्योतनार्थमुक्तानि। मित्रावरुणौ इतिपदं समस्तमेव दृश्यत इति समस्तमेव न्यस्तम्॥ १।१८॥

१४२७. अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाभि धेनूः सुदुघाः पूयमानः।
अभि चन्द्रा भर्तवे नो हिरण्याभ्यश्वान्रथिनो देव सोम
॥ २।१८॥ (ऋ० ९।९७।५०)

अभिवस्त्रेति। ऋष्यादय उक्ताः, हे सोम उपासक, देव दिव्यगुण। वस्त्रा वस्त्राणि अभि अर्ष अभिगच्छ, सुवसनानि सुनिवासस्थानि अभि अर्ष, पूयमानः आचारेण विचारेण चात्मानं पुनानस्त्वं सुदुघाः शोभना दुग्धदात्रीर्धेनूर्गा अभि अर्ष। किञ्च चन्द्रा चन्द्राणि अह्लादकानि, चदि आह्लादे। हिरण्या हिरण्यानि

सौवर्णानि पात्राणि अभि अर्ष। रथिनो रथे युक्तानश्वान् अभि अर्ष। परमात्मानं कामयमानानामुपासकानां किमर्थमेतान्पदार्था-नवाप्तुमिच्छा जातेति प्रश्नं समादधान आह नो भर्तवे, अस्माकं परमेश्वरमार्गे प्रयियासतां जनानां भर्तवे भरणाय पोषणाय। अयं भावः। नहि सांसारिकाः कामाः सर्वथा हेयाः। हेया अपि पूर्व-मादेया एव। तेषामुपभोगेनोपयोगेन च तद्दोषदर्शनान्तरमेव वैराग्यं जायते। ततश्च पारमेश्वरोनुराग उदेति। अतो हे परमेश्वरभक्त प्रथममेतत्सर्वमुपपादयास्माकमुपयोगायेति ॥ २।१८ ॥

१४२८. अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः।
अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः ॥ ३।१८ ॥
(ऋ० ९।९७।५१)

अभी न इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सोम परमेश्वर, परमे-श्वरोपासक वा, दिव्या दिव्यानि वसूनि धनानि नोस्मभ्यम् अभि अर्ष अभिगमय, किं च पूयमानः पुनानो वा विश्वा विश्वानि पार्थिवा पार्थिवानि वसूनि नोभि अर्ष। येन साधनेन द्रविणं धन-मश्नवाम तत् साधनमभि अर्ष। किं च नोस्मभ्यम्, जमदग्निवत् येषामग्नयो न कदाचिदपि शान्ता भवन्ति ते जमदग्नयः। तथा ह्याह यास्कः जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवतीति (नि० ७,२४)। जमदग्नेभ्य इवास्मभ्यमपि आर्षेयमृषिषु भवं तेजो धर्मं वा अभि अर्ष ॥ ३।८ ॥

१४२९. यज्जायथा अपूर्व्य मघवन्वृत्रहत्याय।
तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम्† ॥ १।१९ ॥
(ऋ० ८।८९।५)

† द्यामित्यृक्पाठः।

यज्जायथा इति। नृमेधपुरुमेधावाङ्गिरसावृषी, इन्द्रो देवता, अनुष्टुप् छन्दः। हे मघवन् धनवन् अपूर्व्य न पूर्व्यो यस्य तथाभूत परमेश्वर, यद्यदा वृत्रहत्याय पापनाशाय जायथा जायसे तत्तदा पृथिवीं पार्थिवलोकमप्रथयः प्रथयसि वर्धयसि दुष्टानां विनाशेन। तत्तदानीमेव दिवम् उत दिवमपि अस्तभ्नाः स्तभ्नासि। येन केनापि रूपेण त्वमागत्य प्रजारक्षणं करोषीतिभावः॥ १।१९॥

१४३०. तत्ते यज्ञो अजायत तदर्क उत हस्कृतिः।
तद्विश्वमभिभूरसि यज्जातं यच्च जन्त्वम्॥ २।१९॥

(ऋ० ८।८९।६)

तत्ते यज्ञ इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। तत्तदा त्वदागमनानन्तरमेव ते तव त्वत्प्रसादनार्थमितियावत्। यज्ञो यागः, अजायत प्रवृत्तोभूत्। तत् उत तदानीमेव हस्कृतिस्व मनोरञ्जनार्थम् अर्को मन्त्राजायत। यच्च विश्वं जातमुत्पन्नमासीत्, यच्च जन्त्वं जननीयमासीत् अस्ति वा, तत्सर्वम् अभि भूः अभिभूतवान् असि। अत्र यज्ञमन्त्रादिनिर्माणकालोभिव्यञ्जितः॥ २।१९॥

१४३१. आमासु पक्वमैरय आ सूर्यं रोहयो दिवि।
धर्मं न सामं† तपता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत्॥३।१९॥

(ऋ० ८।८९।७)

आमास्विति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दो बृहती, हे इन्द्र परमेश्वर, हे आम सर्वग महोपदेशक वा। अम गतिशब्दसंभक्तिषु। अमित्यव्ययं वा। अर्थस्तु स एव। अस्मासूपासकेषु पक्वं बलिष्ठम् असु प्राणम्। छान्दसो लिङ्गव्यत्ययो वचनव्यत्ययश्ज। बलिष्ठान्

† [illegible] ।

प्राणानैरय आ ईरय प्रेरय। दिवि हृदये चास्माकं सूर्यम् प्रकाशम् आ रोहय: आरोहय प्रकाशयेत्यर्थः। पूर्वार्धेन परमात्मनं प्रार्थ्योत्तरार्धेन कश्चिदाचार्यो मन्त्रर्षिर्वा ब्रूते शिष्यानुपासकान—गिर्वणसे गीर्भि: प्रार्थनावचोभिर्वननीये। सप्तम्यर्थे चतुर्थी छान्दसी। गीर्वणस इत्यत्र दीर्घाभावश्छान्दसः। सुवृक्तिभिः स्तुतिभिः (नि० २,२४)। जुष्टं सेवितं स्तुतिस्तुत्यमित्यर्थः। बृहन्महान्तं धर्मं यज्ञम्। धर्म इति यज्ञनाम (निघ० ३,१७,१५)। घृ क्षरणदीप्त्योः। मप्रत्ययः। 'धर्मग्रीष्मौ' (उ० १,१४९) इत्यनेन निपातितः। सामन् साम्नि सामनिमित्तम्, साम परमात्मा। षोन्त कर्मणि, स्यति लयं प्रापयति सर्वान् पदार्थान् सः। 'सातिभ्यां मनिन्मनिणौ' (उ० ४,१५३)। साम्नीत्यत्र 'निमित्तात्कर्मयोगे' इति सप्तमी। निमित्तमिह फलं योगः संयोगसमवायात्मकः। अत्र फलं परमात्मा। यज्ञेन कर्मणा परमात्मनः समवायः। सर्वे पदार्थाः परमात्मनि समवायसम्बन्धेनैव तिष्ठन्ति। समवायसम्बन्धमेव विशिष्टाद्वैतवादिनोपृथक्सिद्धिसम्बन्ध इत्याहुः। तपत यज्ञं कुरुतेतिभावः ॥ ३।१९ ॥

१४३२. मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः। वृषा ते
वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥ १।२० ॥ (ऋ० १।१७५।१)

मत्स्यपायीति। अगस्त्यो मैत्रावरुणऋषिः, इन्द्रो देवता, स्कन्धोग्रीवी बृहती छन्दः। हे हरिवः पापतापादिहरणशक्तिसम्पन्न इन्द्र परमेश्वर, पात्रस्य इव पात्रस्य मध्ये स्थितमिव ते तव महस्तेजः। अपायि मया पीतम्। तेन मत्स मां मादयसि। यतस्त्वं मदो मदस्वरूप आनन्दस्वरूपो मत्सरो मादयिता चान्येषामसि। हे वृष्णे सर्वमनोरथपूरक परमेश्वर, ते त्वम्। वृषा सर्वानन्दसेचकः इन्दुः परमदीप्तिः वाजी बलवान् ज्ञानधनवान् वा, सहस्रसातमोपरिमितदानकर्तृतमश्चासि ॥ १।२० ॥

१४३३. आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः ।
सहावाँ इन्द्र सानसिः पृतनाषाडमर्त्यः ॥ २।२० ॥
(ऋ० १।१७५।२)

आ नस्त इति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दोनुष्टुप् । नोस्माकम् । मत्सरो मादयिता वृषा सर्वमनोरथपूरकः । मद आनन्दस्वरूपः । वरेण्यो वरणीयः, ते त्वम् । आ गन्तु आगच्छ अस्मान्प्राप्तो भव । हे इन्द्र, परमेश्वर, त्वम् सहावान् बलवान् सानसिः संभजनीयः, पृतनाषाट् सर्वशत्रुविजेता, अमर्त्योमृत्युरहितश्चासि ॥ २।२० ॥

१४३४. त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम् ।
सहावान्दस्युमव्रतमोषः पात्रं न शोचिषा ॥ ३।२० ॥
(ऋ० १।१७५।२)

त्वं हि शूर इति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दोनुष्टुप् । हे इन्द्र त्वं हि शूरः । शत्रूणां विशरणकर्ता खलु । सनिता मोक्षादिप्रदाता च । त्वं मनुषो मनुष्यस्य रथं रसं चोदयः प्रेरयसि । 'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोस्मिस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा रसतेर्वा' इति यास्कः (नि० ९।११) । सहावान् सामर्थ्यवाँश्चासि । अतः, अव्रतम् असंयमिनम् पवित्राचारं दस्युमुपक्षयकर्तारम् । दसु उपक्षये, दुर्जनम् । पात्रं न अपात्रम् । रक्षानर्हम् । अत्र न इवार्थो न, किन्तु नञ् । शोचिषा तेजसा । ओष ओष दह, उष दाहे ॥ ३।२० ॥

इति षष्ठः खण्डः

इति षष्ठप्रपाठके द्वितीयोर्धः ।

इति द्वादशोध्यायः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठके तृतीयोऽर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१४३५. पवस्व वृष्टिमा सु नोऽपामूर्मिं दिवस्परि ।
अयक्ष्मा बृहतीरिषः ॥ १।१ ॥ (ऋ० ९।४९।१)

पवस्वेति । कविर्भार्गव ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । हे सोम परमेश्वर, नोऽस्मभ्यम् । वृष्टिम् आ पवस्व वृष्टिमा क्षर । एतदेव प्रपञ्चयति दिवो द्युलोकात् अपाम् जलानाम् ऊर्मिं संघातं सु आ पवस्व सुष्ठु आक्षर । वर्षयेतिभावः । अयक्ष्मा यक्ष्मादिरोगरहितानि बृहतीरधिकानि इषोऽन्नानि च आ पवस्व ॥ १।१ ॥

१४३६. तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन् ।
जन्यास उप नो गृहम् ॥ २।१ ॥ (ऋ० ९।४९।२)

तया पवस्वेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे परमेश्वरः तया धारया वेदवाचा पवस्व पुनीह्यस्मान् यया साधनभूतया जन्यासः पश्चाज्जाता मनुष्यैर्विद्वद्भिरुद्भाविता गावो विद्या इह नोऽस्माकं गृहं गृह्यतेऽस्मिन् हृदयम् उप आगमन् उपागच्छेयुः ॥ २।१ ॥

१४३७. घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः ।
अस्मभ्यं वृष्टिमा पव ॥ ३।१ ॥ (ऋ० ९।४९।३)

घृतमिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे परमेश्वर, देववीतमोऽत्यन्तं देवान् कामयमानस्त्वमस्मभ्यम् त्वदाज्ञामनुवर्तिभ्यो भक्तेभ्यो भाग-

वेभ्यः कविभ्यो वर्षिभ्यो यज्ञेषु शुभकर्मसु भक्तियज्ञेषु ज्ञानयज्ञेषु वा । घृतं दीप्तिं प्रकाशं धारया स्वकीयया वाचा पवस्व क्षर देहीति यावत् । अस्मभ्यं वृष्टिं वर्षं च आ पव क्षर ॥ ३।१ ॥

१४३८. स न ऊर्जे व्य ३ व्ययं पवित्रं धाव धारया ।
देवासः शृणवन् हि कम ॥ ४।१ ॥   (ऋ० ९।४९।४)

स न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सोम परमेश्वर, स त्वं धारया वेदवाचा । नोस्माकमूर्जे बलाय । अव्ययमविनाशिनं पवित्रं पावनं त्वां वि धाव विशेषेण गमय प्रापयेतिभावः । देवासोन्ये विद्वांसोपि हि कं सुखं त्वत्प्राप्तिरूपं शृणवन् शृण्वन्तु अनुभवन्त्वितितात्पर्यम् ॥ ४।१ ॥

१४३९. पवमानो असिष्यदद्रक्षांस्यपजङ्घनत् ।
प्रत्नवद्रोचयन्रुचः ॥ ५।१ ॥   (ऋ० ९।४९।५)

पवमानः इति । ऋष्यादयः पूर्ववत्, प्रार्थनानन्तरं भक्तः कल्पनयानुभवति—रक्षांसि दुष्टान् अपजङ्घनत् अपघ्नन् रुचः स्वीयाः प्रत्नवत् प्राचीना इव स पवमानः पुनानः सर्वान् परमेश्वरः, असिष्यदत् स्यन्दते । यथा पुरातनेषु भक्तेषु पुरातना रुचोरस्यन्दत तथेदानीमप्यस्मासु स्यन्दते इति तात्पर्यम् ॥ ५।१ ॥

१४४०. प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर ।
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चादध्वने† नरः‡ ॥ १।२ ॥
(ऋ० ६।४२।१)

प्रत्यस्मा इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः, इन्द्रो देवता, अनुष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।२ ॥

† दघ्वने इत्यृक्पाठः ।   ‡ नरे इत्यृक्पाठः ।
* पूर्वार्चिके ३५२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१४४१. एमेनं प्रत्येतन सोमेभिः सोमपातमम् ।
अमत्रेभिर्ऋजीषिणमिन्द्रं सुतेभिरिन्दुभिः ॥ २।२ ॥
(ऋ० ६।४२।२)

एमेनमिति । ऋष्यादयः पूर्ववत्, कश्चिदाचार्यः शिष्यानुपदिशति–यूयमुपासका एनमिन्द्रं प्रति परमप्रकाशं परमेश्वरं प्रति सोमेभिरन्यैः सोमैः शमदमादियुक्तैरुपासकैः सह आ एतन ईम् आगच्छतैव, कीदृशैः सोमैः ? अमत्रेभिरमत्रैरहिंसितैरबाधितैर्दुर्जनैः । सुतेभिर्धर्मैश्वर्यशालिभिरिन्दुभिः प्रकाशशालिभिः । कीदृशमिन्द्रम् ? सोमपातमं शान्तजनानामतिशयेन पातारं रक्षकम् । ऋजीषिणं वज्रिणं महाबलिनं महासमर्थम् । "अथाप्यैन्द्रो निगमो भवति 'ऋजीषी वज्री' इति यास्कः (नि० ५,१२) । अथवा सर्वाघौघभर्जनम् । ऋजी भर्जने ॥ २।२ ॥

१४४२. यदी सुतेभिरिन्दुभिः सोमेभिः प्रतिभूषथ । वेदा विश्वस्य मेधिरो धृषत्तन्तमिदेषते ॥ ३।२ ॥ (ऋ० ६।४२।३)

यदि सुतेभीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । यदी यदि यूयं सुतेभिरिन्दुभिः सोमेभिरुपासकैः । इन्द्रं प्रतिभूषथ परमेश्वरं प्रतिगच्छत । भू सत्तायामिह गत्यर्थकः । तदा स मेधिरो विद्वान् सर्वज्ञः । धृषत् । विघ्नबाधादीनां धर्षकः । तं तम् इत् एषते तं तमेव कामं गमयति प्रापयति, इष गतौ । यतः स विश्वस्य विश्वं सर्वं वेद जानाति । द्वितीयार्थे षष्ठी ॥ ३।२ ॥

१४४३. अस्मा अस्मा इदन्धसोऽध्वर्यो प्र भरा सुतम् ।
कुवित्समस्य जेन्यस्य शर्धतोऽभिशस्तेरवस्वरत् † ॥४।२॥
(ऋ० ६।४२।४)

† ....रवस्परदित्यृक्पाठः ।

अस्मा इति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दो बृहती। हे सोम उपासक, हे अध्वर्यो हिंसारहितभक्तियज्ञनिरत। अस्मै अस्मै इत् अस्मा इन्द्रायैव। अन्धसस्तमसोऽज्ञानस्य सुतमैश्वर्यं स्वस्य महदज्ञानमित्यर्थः। प्र भर सर्वथा समर्पय। स एव परमेश्वरः, समस्य सर्वस्य जेन्यस्य जेतव्यस्य शर्धत उत्सहमानस्य। अभिशस्तेर्दुःखदस्य तस्य तमसः। सर्वत्र षष्ठी द्वितीयार्थे। कुवित् सर्वथा तत्तमोवस्वरत् अवतापयिष्यति। स्वृ शब्दोपतापयोः॥ ४।२॥

इति प्रथमः खण्डः

अथ द्वितीयः खण्डः

१४४४. बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय दिविस्पृशे।
सोमाय गाथमर्चत॥ १।३॥ (ऋ० ९।११।४)

वभ्रव इति। असितः काश्यपो देवलो वर्षिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। हे उपासकाः सोमाय परमशान्ताय परमेश्वराय। गाथं स्तुतिसमूहम् अर्चत ब्रूतेति तात्पर्यम्। कीदृशे सोमाय? वभ्रवे भरणकर्त्रे। डुभृञ् धारणपोषणयोः। 'कुर्भ्रश्च' (उ० १,२२) इत्यनेन कुः प्रत्ययो द्वित्वं च। स्वतवसे स्वबलाय बलस्वरूपायेतिभावः। अरुणाय सर्वव्यापकाय। ऋ गतौ। 'अर्तेश्च' (उ० ३,६०) इत्युनन् प्रत्ययः। दिविस्पृशे परमदिव्याय॥ १।३॥

१४४५. हस्तच्युतेभिरद्रिभिः सुतं सोमं पुनीतन।
मधावा धावता मधु॥ २।३॥ (ऋ० ९।११।५)

हस्तच्युतेभीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हस्तच्युतेभिर्हस्तच्युतैर्हस्त्यैरर्हिंसितैर्वा । हस्तो हन्तेः । वधे शीघ्रकारिभिश्च्युतैः रक्षितैः । अद्रिभिः सुदृढैः । भक्तैः सह सुतं सोमं परमेश्वरं पुनीतन पवध्वं गच्छत : । मधौ ज्ञानस्वरूपे परमेश्वरे मधु मधुं ज्ञानरूपमात्मानम् । आ धावत प्रापयत एकीकुरुतेतिभावः ॥ २।३ ॥

१४४६. नमसेदुप सीदत दध्नेदभि श्रीणीतन ।
इन्दुमिन्द्रेदधातन ॥ ३।३ ॥ (ऋ० ९।११।६)

नमसेदुपेति । ऋष्यादय उक्ताः, कश्चिदृपि कांश्चिदुपासकान् व्यवहारं शिक्षयति—तं परमेश्वरोपासकं नमसा इत् नमस्कारेणैवोपसीदत उपगच्छत । दध्ना इत् धृत्यैव । डुधाञ् धारणपोषणयोः । अभि श्रीणीतन अभिश्रीणीत परिपचतात्मानम् । इन्द्रे जीवात्मनि इन्दुमैश्वर्यं ज्ञानप्रकाशं वा दधातन धत्त । अयं भावः । भक्तानां प्रपन्नानां च सविधे गत्वा पूर्वं तं प्रणमेत् । ततः परं तेषामनुसरणं कृत्वात्मानमपि तथैव परिपक्वं भक्तिमार्गे कुर्यात् । तेन चात्मनि तेजो दध्यादिति ॥ ३।३ ॥

१४४७. अमित्रहा विचर्षणिः पवस्व सोम शं गवे ।
देवेभ्यो अनुकामकृत् ॥ ४।३ ॥ (ऋ० ९।११।७)

अमित्रहेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे सोम परमेश्वर, त्वममित्रहा सर्वशत्रुनिवर्तको विचषर्णिर्विविधद्रष्टा देवेभ्यो देवानाम् अनुकामकृत् सर्वमनोरथसाधकश्चासि । तेन गवेऽस्माकं ज्ञानाय शं कल्याणं पवस्व क्षर । यथास्माकं ज्ञानं निर्बाधं तिष्ठेत्तथा कुर्वितिभावः ॥ ४।३ ॥

१४४८. इन्द्राय सोम पातवे मदाय परि षिच्यसे ।
मनश्चिन्मनसस्पतिः ॥ ५।३ ॥ (ऋ० ९।११।८)

इन्द्रायेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सोम परमेश्वर त्वं सर्वेषां मनश्चिद् मनोविज्ञाता । मनश्चिनोतीति । चिञ् चयने । चयनमिह ज्ञानम् मनसस्पतिर्मनोधिष्ठाता चासि । अत इन्द्राय इन्द्रस्य जीवस्य परमेश्वरोपासकस्य मदाय तत्प्रसादाय च परिषिच्यसे परि सिच्यसे परितः सर्वमपेक्षितं सिञ्च पूरयेति भावः ॥ ५।३ ॥

१४४९. पवमान सुवीर्यं रयिं सोम रिरीह णः† ।
इन्दविन्द्रेण नो युजा ॥ ६।३ ॥ (ऋ० ९।११।९)

पवमानेति । ऋष्यादय उक्ताः, पवमान परमेश्वर, हे सोम शान्त, नोस्मभ्यं सुवीर्यं शोभनवीर्यं रयिं ज्ञानधनं च रिरीह राहि देहि, रा दाने, हे इन्दो परमैश्वर्य, नोस्मानिन्द्रेण परमात्मना त्वया युज योजय ॥ ६ । ३ ॥

१४५०. उद्धेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् ।
अस्तारमेषि सूर्य ॥ १।४ ॥ (ऋ० ८।९३।१)

उद्धेदभीति । सुकक्ष आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रोः‡ ॥ १।४ ॥

१४५१. नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा ।
अहिं च वृत्रहावधीत् ॥ २।४ ॥ (ऋ० ८।९३।२)

नव य इति । ऋष्यादय उक्ताः, य इन्द्रः परमात्मा बाह्वोजसा सर्वेषां दुर्जनानां वाधकेनौजसा तेजोविशेषेण । पुरः पूरकान्संवत्सरान् । पॄ पालनपूरणयोः । संवत्सरा एवायूंषि पूरयन्ति क्रमेग । नव नवतिमेकोनशतसंख्याकान् बिभेद व्यत्यायत्, वृत्रहा सर्वपापघ्नश्च यः परमेश्वरोहिं जन्म, इण् गतौ ।

† न इत्यूक्पाठः ।
‡ पूर्वार्चिके १२५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

'इन् (सार्वधातुभ्यः) (उ० ४,१२६) इतीन् प्रत्ययः' । गुण अयादेशश्च । यकारस्य हकारो व्यत्येन । एति गच्छतीति अहिः । जन्मापि गच्छत्येव । अथवा, अहि गतौ, इत्यस्मादिन् । आगमानित्यत्वान्नुमभावः । अथवा "आङि श्रीहनिभ्यां ह्रस्वश्च" (उ० ४,१४७) इतीण् प्रत्ययः, डित् । पूर्वपदस्य ह्रस्वः । आघ्नत इत्यहिः । जन्मापि जीवमाघ्नत एव । अवधीत् अहन् ॥२।४॥

१४५२. स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमद्यवमत् ।

उरुधारेव दोहते ॥ ३।४ ॥ (ऋ० ८।९३।३)

स न इति । ऋष्यादय उक्ताः, स पूर्वोक्त इन्द्रः परमात्मा । नोऽस्मभ्यं ज्ञानं दोहते दोग्धु । कीदृशं ज्ञानम् ? अश्ववत् अश्वो व्याप्तिः । अश्ववद्व्याप्तिमत् । ज्ञानस्य स्वरूपमिदम् । व्यापकं हि ज्ञानम् । गोमद्रश्मिमत् । गौ रश्मिः । लक्षणया प्रकाश उच्यते । इदमपि ज्ञानस्वरूपम् । ज्ञानमेव सर्वं प्रकाशयति । यवमत् यवः पृथग्भावस्तद्वत् । यु मिश्रणामिश्रणयोः । ज्ञानं हि सत्यादनृतं पृथक् करोति । कीदृश इन्द्रः शिवः कल्याणस्वरूपः । सर्वाधारो वा । शेतेऽस्मिन्सर्वं जगदिति । सखा समानख्यातिमान् । केव ? उरुधारा गौरिव । यथा बहुपयोधारा गौर्दुग्धं दोग्धि तथा स परमेश्वरोऽस्मभ्यं पूर्वोक्त ज्ञानं दोग्धु ॥ ३।४ ॥

इति द्वितीयः खण्डः



अथ तृतीयः खण्डः

१४५३. विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपताव- विह्रुतम्। वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्ति† बहुधा‡ वि राजति ॥ १५ ॥ (ऋ० १०।१७०।१.

विभ्राडिति। विभ्राट् सौर्य ऋषिः, सूर्यः देवता, जगती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १५ ॥

१४५४. विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मं§ दिवो धरुणे सत्य- मर्पितम्। अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा ॥ २५ ॥ (ऋ० १०।१७०।२)

विभ्राडिति। ऋष्यादय उक्ता, अस्मिन्मन्त्रे भगवान् भास्करो वर्ण्यते। ज्योतिस्तेजः सौरमित्यर्थादायातम्। जज्ञे जायते प्रादुर्भवति। कीदृशं ज्योति ? विभ्राड् विशेषेण भ्राजमानम्। बृहन्महत्। सुभृतं सुधृतं सुपुष्टं वा। वाजसातमं वाजस्यान्नस्य शारीरिकबलस्य वा दातृतमम्। उदिते हि भगवति दिवाकरे शरीराण्यन्नानि च बर्धन्त इति तत्त्वविदः। धर्मं जगतो धारकम्। सत्यं सृष्टि यावदविनश्वरम्। दिवो द्युलोकस्य धरुणे धारके सूर्यमण्डले अर्पितं स्थापितमिव। यथा सूर्यो भूलोकं धारयति स्वरश्मिभिस्तथैव द्युलोकमपि। अमित्रहा अमित्रं तमस्तस्य हन्तृ वृत्रहा वृत्रमावारकं तस्य हन्तृ दस्युहन्तमं दस्यूनामुपक्षयकर्तृणां रोगादीनां हन्तृतमम्। असुरहा सुरान् हन्तीति सुरहा। न सुरहा असुरहा सुराणां रक्षितृ। सपत्नहा सर्वविधशत्रूणां हन्तृ ॥ २५ ॥

---

† पुपोषेत्यृक्पाठः। ‡ पुरुधेत्यृक्पाठः।

* पूर्वार्चिके ६२८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः। § धर्मन्नित्यृक्पाठः।

१४५५. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते
बृहत् । विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे
सह ओजो अच्युतम् ॥ ३।५ ॥ (ऋ० १०।१७०।३)

इदं श्रेष्ठमिति । ऋष्यादय उक्ताः, इदं सौरं ज्योतिः श्रेष्ठं प्रशस्यतमम् । ज्योतिषां चन्द्रग्रहनक्षत्रादीनामपि ज्योतिः प्रकाशकम् । उत्तममुत्कृष्टम् । विश्वजित् सर्वजित् । धनजिद्धनस्य जेतृ वर्षाद्यानयनद्वारा । बृहन्महदुच्यते सर्वैरितिभावः । तज्ज्योतिराधारः सूर्यश्च पप्रथे प्रथते विस्तीर्णो भवति क्रमशः । कीदृशः सूर्यः । विश्वभ्राट् सर्वस्य विभ्राजकः । भ्राजो भ्राजमानः । महि महान् । उरु विस्तारवान् । सहः अभिभवितृ तमसो रोगादीनां चेत्यर्थः । ओज ओजस्वी । अच्युतमविनाशी । अथवा अच्युतम् उरु सह ओजः दृशे दर्शनाय । प्रथते प्रथयतीति योजना ॥ ३।५ ॥

१४५६. इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिर
शीमहि ॥ १।६ ॥ (ऋ० ७।३२।२६)

इन्द्र इति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।६ ॥

१४५७. मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो ३ माशिवासोऽवक्रमुः‡ ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूरतरामसि ॥ २।६ ॥
(ऋ० ७।३२।२७)

† पूर्वार्चिके २५९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ अव क्रमुरित्यृक्पाठः ।

मा न इति। ऋषिदेवते पूर्वोक्ते, छन्दः प्रगाथः (समा सता बृहती)। हे इन्द्र परमेश्वर, अज्ञाताः प्रच्छन्नगमनशीला, वृजना हिंसकाः। वृजी वर्जने। क्युः (उ० २,७६) प्रत्ययः। वर्जयन्ति प्राणान् सर्वेषाम्। दुराध्यो दुराध्यानीया नोस्मान्मा अब क्रमुरवक्राम्येयुः। अशिवासोकल्याणस्वरूपा दुर्जना नो मा अवक्रमीहुः। हे शूर दुर्जनानां विशरणकर्तः, त्वया वयं प्रवतः प्रकर्षेण रक्षिताः प्रगता इति वा। प्रवत उद्वतो निवत इति, अवतिर्गतिकर्मेति यास्कः (नि० १०,२०) शश्वतीर्वह्वीरप आधिव्याधिनदीः। अति तरामसि अतितरेम ॥ २१६ ॥

१४५८. अद्याद्या श्वःश्व इन्द्र त्रास्व परे च नः।
विश्वा च नो जरितॄन्सत्पते ऊहा दिवा नक्तं च
रक्षिषः ॥ १।७ ॥ (ऋ० ८।६१।१७)

अद्याद्येति। प्रागाथो भर्ग ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। हे इन्द्र, अद्याद्य अद्य वर्तमानदिने श्वः श्व आगामिनि दिने। परे च परेषु च दिवसेषु नोस्मांस्त्रास्व त्रायस्व, हे सत्पते। सतां पालक, विश्वा विश्वानि अहा अहानि विश्वेष्वहःस्वित्यर्थः। दिवा दिनेषु नक्तं च रात्रिषु च नोस्मान् जरितॄनुपासकान्स्तावकान् वा रक्षिषो रक्ष ॥ १।७ ॥

१४५९. प्रभङ्गी शूरो मघवा तुवीमघः सम्मिश्लो विर्यायकम्।
उभा ते बाहू वृषणा शतक्रतो नि या वज्रं मिमिक्षतुः
॥ २१७ ॥ (ऋ० ८।६१।१८)

प्रभङ्गीति। ऋषि देवते पूर्ववत्, छन्दः प्रगाथः समा सतो बृहती। इन्द्रः परमेश्वरः प्रभङ्गी सर्वेषामखिलापदपवारकः। शूरः सर्वेषां विघ्नानां विशरणकर्ता। मघवा ऐश्वर्यवान्। तुवीमघो

अत्यन्तपूजायोग्यः। तुवीति बहुनाम (निघ० ३,१,२)। संमिश्लः सम्यङ्मिश्रितः सर्वेष्वोतः प्रोतश्च। वीर्याय वीर्यवत इत्यर्थः। कं सुखं ददाति। एवं परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमाह, हे शतक्रतो अपरिमित-कृतिशालिन् अथवा अपरिमितप्रज्ञ। क्रतुरिति कर्मनाम (निघ० २,१,१०) प्रज्ञानामापि (निघ० ३,९,५)। ते तव उभा उभौ बाहू वृषणौ सर्वकामपूरणसमर्थौ स्तः। या यौ वज्रं वजति परमात्मान-मिति वज्रः शरणागतस्तम्। नि मिमिक्षतुः रक्षत इत्यर्थ ॥ १७ ॥

इति तृतीयः खण्डः



अथ चतुर्थं खण्डः

१४६०. जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः।

सरस्वन्तं हवामहे ॥ १८ ॥ (ऋ० ७।९६।४)

जनीयन्त इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, सरस्वान् देवता, गायत्री छन्दः। जनीयन्तः, जायते इति जनिः प्रादुर्भावो ज्ञानस्य। तमिच्छन्तः। पुत्रीयन्तः पुत्रा इवाचरन्तः। सुदानवः पवित्रदानाः। अग्रवः परमात्मानं प्रति गमनशीलाः। अगि गतौ। एवं वयं सरस्वन्तं कृपाजलवन्तम्। सर इतिवाङ्नाम (निघ० १,१२,५५) तद्वन्तम्। सर्वज्ञम्। सृ गतौ, असुन् प्रत्ययः। गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः। हवामहे आह्वयामः ॥ १८ ॥

१४६१. उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा।

सरस्वती स्तोम्या भूत् ॥ १९ ॥ (ऋ० ६।६१।१०)

उत न इति। भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः। सरस्वती देवता। गायत्री छन्दः। उत अपि च, नोऽस्माकं प्रियासु प्रिया अति-

प्रियेत्यर्थः। सप्तस्वसा मेधा बुद्धि-स्मृति-वाक्-चातुर्यूहशक्ति-सत्यनिष्ठेत्यादयः सप्तसंख्याका स्वसारो यस्याः सा। सुजुष्टा शोभनैर्विद्वद्भिः सेविता सरस्वती स्तोम्या स्तुत्या भूत् भवतु ॥१।९॥

१४६२. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १।१० ॥ (ऋ० ३।६२।१०)

तत्सवितुरिति। विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः, सविता देवता। गायत्री छन्दः। सवितुर्जगदुत्पादकस्य परमैश्वर्यस्य वा देवस्य दिव्यगुणविशिष्टस्य परमप्रकाशस्य वा। परमेश्वरस्य 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा।' इति यास्कः (नि० ७,१५)। तद्भर्गः सर्वदोषदाहनिपुणं तेजः। तच्च ब्रह्मात्मकमेव। धीमहि ध्यायेम वयम्। षष्ठी विभक्तिरिहाभेदबोधिका। 'आम्रस्य वृक्षः' 'राहोः शिर' इतिवत्। सवितृभर्गसोरैक्यादेव य इति पुंलिङ्गनिर्देश। यः सविता देवः। अथवा छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः। यद् भर्गं इति। नोस्माकं धियः सत्कर्माणि। धीरितिकर्मनाम (निघ० २,१,२१)। अथवा सत्कर्मस्वित्यध्याहार्यम्। यः सविता यद्भर्गो वा सत्कर्मसु अस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयेत्। कीदृशं भर्गः ? वरेण्यं वरणीयं स्तुत्यं वा। वरेण्यमित्यत्रापि लिङ्गव्यत्ययः। वरेण्यो वरणीयः स्तुत्या वा सविता ॥ १।१० ॥

१४६३. सोमानां† स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।

कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ २।१० ॥ (ऋ० १।१८।१)

सोमानामिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्, व्याख्यातोऽयं मन्त्रः‡। ॥ २।१० ॥

---

† सोमानमित्यृक्पाठः। ‡ पूर्वार्चिके १३९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१४६४. अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः ।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ ३।१० ॥ (ऋ० ९।६६।१९)

अग्न आयूंषीति । ऋष्यादयः पूर्ववत, व्याख्यातोयं मन्त्र† ॥ ३।१० ॥

१४६५. ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य ।
महि वां क्षत्रं देवेषु ॥ १।११ ॥ (ऋ० ५।६८।३)

ता न इति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।११ ॥

१४६६. ऋतमृतेन सपन्तेषिरं दक्षमाशाते ।
अद्रुहा देवौ वर्धेते ॥ २।११ ॥ (ऋ० ५।६८।४)

ऋतमृतेनेति । ऋष्यादय उक्ताः, ऋतं सत्यम् । इषिरमिच्छावन्तं परमेश्वरप्राप्तेरितिभावः । दक्षमुत्साहवन्तं निपुणं कुशलम् उपासकम् । ऋतेन सत्येन परमात्मना । सपन्ता सपन्तौ योजयन्तौ गुरुपरमेश्वरौ, षप समवाये, समवायः सम्बन्धः सम्यगवबोधो वेति दीक्षितः । आशाते व्याप्नुतो हर्षेण । यतोद्रुहा परस्परमद्रोहं सम्पादयन्तौ । देवौ ईश्वर उपासकश्च वर्धेते वृद्धि प्राप्नुतः । अयं भावः । कस्यचिदाचार्यस्योक्तिरियम् । आचार्यो यदा कञ्चिदुपासकं जीवं जीवं परमेश्वरेण सह योजयते तदा सोपि परमेश्वरोपि प्रसन्नो भवतति । उभावेव हर्षेण व्यापृतौ भवतः । यद्युभौ देवौ जीव उपासकः परमेश्वरश्च परस्परं द्रोहं न कुर्वाते वर्धेते द्वौ । यदि जीवोज्ञानवशात्परमेश्वरेश्रद्धालुर्भवति तदा तस्य परमेश्वरं प्रति द्रोहो भवति । अश्रद्धालुं जनं परमेश्वरस्त्यजतीति जीव-

† पूर्वार्चिके ६२७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ पूर्वार्चिके १२४५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

मुपासकं प्रति तस्य द्रोहो भवति। ततो यद्युभौ स्वरीत्या वर्तेते तदा द्वयोर्वृद्धिर्भवति। जीवस्य परमात्मसाक्षात्कारहेतोर्वृद्धिराध्यात्मिकी। परमेश्वरस्य वृद्धिस्तु जीवस्य सन्मार्गगमननिमित्तिका ॥ २।११ ॥

१४६७. वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः।
बृहन्तं गर्तमाशाते ॥ ३।११ ॥

वृष्टिद्यावेति। ऋष्यादय उक्ताः, वृष्टिद्यावा। वृष्टिरभिवर्षणं सेचनम्। तच्च मनोरथस्य। एवं च सेचनमुद्दिश्य द्यौर्गमनं प्रस्थानं ययोस्तौ, रीत्यापा, रीतिर्गमनम्। री गतौ, श्रवणं वा, रीङ् श्रवणे। गमनेन श्रवणेन वा आपा आप्तिर्ययोस्तौ। इषस्पती इच्छायाः स्वामिनौ, दानुमत्या दानुमती। प्रथमार्थे षष्ठी, दानौ दाने मतिर्ययोस्तौ। इत्थंभूतौ जीवेश्वरौ बृहन्तं महान्तं गर्तं गृहं परं धामेत्यर्थः। आशाते व्याप्नुतः। गर्त इति गृहनाम (निघ० ३,४,३)। अयं भावः। जीवः परमेश्वरश्चापि सेचनमभिलष्य गमनं कुरुतः। ममाभिलापसेचनं भविष्यतीतिधिया जीवस्य परमेश्वरं प्रति गमनम्। मम भक्तस्याभिलाषसेचनं करिष्यामीतिधिया परमेश्वरस्य जीवं प्रति गमनम्। संकल्प एव पारमेश्वरं गमनम्। एवं गमन संकल्पानन्तरं यदि जीवो गच्छति परमात्मानं प्रति तदा स तं प्राप्नोति। परमात्मा च महता हर्षेण तमायान्तं दृष्ट्वा तं प्रति गच्छति तदा स तं प्राप्नोति। अतो गमनेनैव उभयोः प्राप्तिः। इच्छायाः पती अप्युभावेव। जीवेच्छाया जीवः पतिः। ईश्वरेच्छाया ईश्वरः पतिः। उभावपि दानमतौ। एकस्य हृदयदाने मतिरपरस्याश्रयदाने मतिः ॥ ३।११ ॥

१४६८. युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १।१२ ॥ (ऋ० १।६।१)

युञ्जन्तीति। शतं वैखानसा ऋषयः, अग्निः पवमानो देवता, गायत्री छन्दः। इन्द्रं परमप्रकाशं परमेश्वरं परि परितस्तस्थुषोव-स्थिताः सर्वेषु लोकेषु भुवनेषु चावस्थिता जना युञ्जन्ति आत्मना सह तेन सह वात्मानं योजयन्ति। सर्वे जनास्तस्य सम्बन्धं स्वीकुर्वन्तीत्याशयः। दिवि द्युलोकेन्तरिक्षलोके वा रोचना रोचनानि प्रकाशाः सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्रादिरूपास्तत्सम्बन्धेनैव रोचन्ते दीप्यन्ते कीदृश-मिन्द्रम् ? ब्रध्नं महान्तम्। ब्रध्न इति महन्नाम (निघ० ३,३,२)। अरुषमकोपं शान्तमित्यर्थः ॥ १।१२ ॥

१४६९. युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ २।१२ ॥ (ऋ० १।६।२)

युञ्जन्त्येति। ऋष्यादय उक्ताः, परमेश्वरस्यैको रथः कल्प-नीयः। तस्मिन्नस्य रथे हरी द्वावश्वौ युञ्जन्ति योजयन्ति विद्वदु-पासकाः। कौ तौ ? निग्रहोऽनुग्रहश्च। किंभूतौ तौ ? काम्या काम्यौ। विपक्षसा विपक्षसौ विविधाः पक्षा निग्राह्या अनुग्राह्या ययोस्तौ। काम्या काम्यौ कमनीयौ एष्टव्यौ वा। शोणा शोणौ वर्णवन्तौ। निग्रहस्य वर्णो रक्तः। अनुग्रहस्य च शुक्लः। धृष्णू घर्षणशीलौ। निग्रहोनुग्रहश्चापि धृष्णुत एव विघ्नान्विपक्षान्वा। नृवाहसा मनुष्याणां वाढारौ। निग्रहेण शत्रूणां पराभवः। अनु-ग्रहेण सर्वेषां वशीकरणम्। ताभ्यानेव सर्वेषां नृणां सर्वे व्यवहाराः सिध्यन्तीति नृवाहसावित्युक्तम् ॥ २।१२ ॥

१४७०. केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे।
समुषद्भिरजायथाः ॥ ३।१२ ॥ (ऋ० १।६।३)

केतुमिति। ऋष्यादय उक्ताः, हे मर्या मनुष्याः, स इन्द्रः परमेश्वरः, अकेतवे अकेतोरज्ञानस्य केतुं ज्ञानं कुर्वन् दद-दित्यर्थः। अपेशसे अपेशसो रूपरहितस्य पेशो रूपं कुर्वन्।

पेश इति रूपनाम (निघ० ३,७,१०) । उषद्भिः उषसीव जायमानैः सह अजायथाः अजायत । पुरुषव्यत्यः । अयं भावः । सर्गारम्भे सर्वं एवाज्ञानास्तिष्ठन्ति रूपहीनाश्च । परमेश्वर एव सर्वान्रूपवतो ज्ञानवतश्च करोति । उषसि प्रातःकाले जायमान इव प्रतीयते । उषद्भिरिति तृतीया सप्तम्यर्थे । इत्थं कुर्वन् स प्रथमदर्शनमुगत इति भावः ।। ३।१२ ।।

इति चतुर्थः खण्डः

•

अथ पंचमः खण्डः

१४७१. अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि ।
त्वं ह यं चकृषे त्वं ववृष इन्दुं मदाय युज्याय सोमम्
।। १।१३ ।। (ऋ० ९।८८।१)

अयं सोम इति । यजत आत्रेय ऋषिः, मित्रावरुणौ देवते, हे इन्द्र अयं सोमः शान्त उपासकस्तुभ्यं त्वत्सेवायैं सुन्वे सूयते निष्पाद्यते तुभ्यं त्वदर्थमेव पवते पूयते । यत एवमस्ति ततस्त्वं परमात्मा अस्येमम् । द्वितीयार्थे षष्ठी । पाहि रक्ष । त्वं ह यं सोमं जीवात्मनमिन्दुं सैश्वर्यं चकृषे स्वीयं करोषि त्वं ह यं ववृषे वृणोषि रक्ष्यत्वेन, स मदाय हर्षाय युज्याय च भवति । स मदी सन् सायुज्यमाप्नोतीति भावः ।। १।१३ ।।

१४७२. स ईं रथो न भुरिषाडयोजि महः पुरूणि सातये वसूनि ।
आदीं विश्वा नहुष्याणि जाता स्वर्षाता वन ऊर्ध्वा नवन्त
।। २।१३ ।। (ऋ० ९।८८।२)

स ईमिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। रथो न रथ इव स ईम् स एव भुरिपाट् भूरिपाट् बहूनां सर्वेषामिति यावत् सोढा महो महान् परमात्मा पुरूणि बहूनि वसूनि वसून्धनानि सत्यसदाचारादीनि। सातये दातुं जीवेभ्यः। अयोजि युक्त उद्युक्तोस्ति। आत् ईम् तत्सकाशात्सत्यसदाचारादीँल्लब्ध्वा विश्वानि नहुष्याणि मनुष्यसम्बन्धीनि। नहुष इति मनुष्यनाम (निघ० २,३,९)। णह बन्धने। उषन् प्रत्ययः (उ० ४,७५)। बन्धनानि। ऊर्ध्वा ऊर्ध्वानि उन्मुखानि तीव्राणीति यावत्। वने वननीये स्वर्षाता स्वर्षातौ बन्धनान्युन्मोचयितुं प्रारब्धे मानसिकसंग्रामे। स्वर्षातिरिति संग्रामनामेति माधवः। नवन्त गच्छन्तु अपगच्छन्त्विति। यावात् नवत इति गतिकर्मा (निघ० २,१४,२९)॥ २।१३॥

१४७३. शुष्मी शर्धो न मारुतं पवस्वानभिशस्ता दिव्या यथा विट्।

आपो न मक्षू सुमतिर्भवा नः सहस्राप्साः पृतनाषाण्न यज्ञः

॥ ३।१३॥ (ऋ० ९।८८।७)

शुष्मीति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। शुष्मी शुष्मेति बलनाम। तद्वान् हे परमेश्वर त्वं मारुतं मरुत्सम्बन्धि शर्धो बलमिव। शर्ध इति बलनाम। यथा वायवं बलं पदार्थान् पुनाति तथास्मान् पवस्व पुनीहि। यथा येन विट् प्रजा अनभिशस्ता अनिन्दनीया अतो दिव्या पूज्या प्रशस्या वा स्यात्। आपो न जलमिव। यथा स्नानानन्तरमेव शान्तिः सात्त्विकभावश्चानुभूयेते तेन जलं यथास्माकं सुमतये भवति तथैव त्वं मक्षू मक्षु सपद्येव नोस्माकं सुमतिः सद्बुद्धिप्रेरयिता भव। अपि च त्वं सहस्राप्सा अपरिसंख्येयरूपः। अप्स इति रूप नाम (निघ० ३,७,६)। पृतनाषाट् सर्वेषां शत्रूणां निवर्तकः, नेति समुच्चयार्थे, यज्ञः पूज्यश्च॥ ३।१३॥

१४७४. त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ १।१४ ॥ (ऋ० ६।१६।१)

त्वमग्न इति । मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१४ ॥

१४७५. स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः ।
आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥ २।१४ ॥ (ऋ० ६।१६।२)

स न इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । सोग्निः परमात्मा नोस्माकमध्वरे हिंसाविरहिते यज्ञे ज्ञानरूप उपासनारूपे वा मन्द्राभिः प्रसन्नाभिः । मदी हर्षे । जिह्वाभिर्वाग्भिः । जिह्वेति वाङ्नाम (निघ० १,११,२५) । महो महतो देवान् विदुषः । यज संगतान् करोतु । यज देव-पूजा-संगतिकरणदानेषु । प्रेरयत्वत्रागन्तुं विदुष इति भावः । शब्दान्तरेण पुनः पुनस्तदेवाह हे ईश्वर, तान् आ वक्षि आवह यक्षि च सङ्गतांश्च कुरु ॥ २।१४ ॥

१४७६. वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा ।
अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो ॥ ३।१४ ॥ (ऋ० ६।१६।३)

वेत्थेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे वेधः जगतो वेदादीनां च विधातः परमेश्वर, देव, हिर्निश्चये, त्वमध्वनः पारलौकिकमार्गान् । पथश्च लौकिकमार्गांश्च । अञ्जसा सौष्ठवेन वेत्थ जानासि । हे अग्ने प्रकाशस्वरूप सुक्रतो सुज्ञान सत्कर्मन् वा परमेश्वर, यज्ञेषु सत्कर्मसु प्रेरयास्मान् ॥ ३।१४ ॥

१४७७. होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया ।
विदथानि प्रचोदयन् ॥ १।१५ ॥ (ऋ० ३।२७।७)

† पूर्वार्चिके २ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

होतेति । उशना: काव्य ऋषि:, पवमान: सोमो देवता, गायत्री छन्द: । होता सर्वमनोरथानां दाता । हु दानादनयो: । देव: प्रकाशस्वरूप: । अमर्त्योमरणधर्मा परमेश्वर: । मायया ज्ञानेन विदथानि यज्ञान् कर्तव्यानि कर्माणि वा प्रचोदयन् बोधयन् बोधयिष्यन्नितिभाव: । पुरस्ताद्येनकेनापि रूपेण समक्षमेति प्राप्नोति ॥ १।१५ ॥

१४७८. वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्र णीयते ।

विप्रो यज्ञस्य साधन: ॥ २।१५ ॥ (ऋ० ३।२७।८)

वाजीति । पूर्वोक्ता ऋष्यादय:, स सोम: परमेश्वर: वाजी बलवानस्ति, अतो वाजेषु बलकर्मसु बलसाध्येषु कर्मसु वा धीयते चिन्त्यते । अध्वरेषु भक्तियागेषु स प्रणीयते स्थाप्यते परमेश्वर इहोपस्थितोस्तितीति मनसा कल्प्यत इत्यर्थ: । यत: स विप्रो मेधावी विशेषेणापूर्णस्य पूरको वा यज्ञस्य साधन: सिद्धिकर्तास्ति ।।२।१५।।

१४७९. धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे ।

दक्षस्य पितरं तना ॥ ३।१५ ॥ (ऋ० ३।२७।९)

धियेति । ऋष्यादय: पूर्ववत् । स वरेण्य: सोम: परमात्मा धिया भक्तिरूपेण कर्मणा ध्यानेन वा चक्रे सर्वत्रागत इवोपस्थित इव कल्प्यते । स भूतानां प्राणिनां गर्भं स्तुतिम् । गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे इति यास्क: (नि० १०,२३) । आदधे आधत्ते स्वीकरोतीत्यर्थ: । किं च स दक्षस्य उपासनाकुशलस्य जीवस्य पितरमाचार्यम् । यो यं किञ्चिद् शिक्षयति स तस्य पितैव भवति । तना धनेन शक्तिरूपधनेनेत्यर्थ: । पुष्णातीतिशेष: । तनेतिधननाम (निघ० २, १०,१९) ॥ ३। १५ ॥

इति पञ्चम: खण्ड:

अथ षष्ठः खण्डः

१४८०. आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम् ।
रसा दधीत वृषभम् ॥ १ । १६ ॥ (ऋ० ८।७२।१३)

आ सुत इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । हे अग्ने परमेश्वर, सुते निष्पादिते सज्जीकृतेस्मिन्नुपासकजीवे श्रियं शोभां लक्ष्मीं तेजो वा सिञ्चत सिञ्च । रोदस्योर्द्यावापृथिव्योरपि श्रियं सिञ्च । सिञ्चतेति बहुवचनं छान्दसम् । रसा पृथिवीयं वृषभमिममात्ममनोरथवर्धकमुपासकम् । दधीत धारयेत्पुष्णीयाद्वा । रोदस्योः श्रियः सिञ्चनेन परमेश्वरोपासकेष्वपि श्रीः संचरेत्, विघ्नाभावश्च स्यात् । धृतिमपि वृषभं रसा धारयेत्तभित्युक्तौ रसाया रसवत्वमभिप्रेयते । तथा सत्येवोपासकस्य मनसि शान्तिस्तृप्तिश्च स्याताम् । तथा चोपासकेपि तत्साहचर्याद्रसः प्रवर्धेत ॥ १।१६ ॥

१४८१. ते जानत स्वमोक्यं ३ सं वत्सासो न मातृभिः ।
मिथो नसन्त जामिभिः ॥ २।१६ ॥ (ऋ० ८।७२।१४)

ते जानातेति । ऋष्यादय उक्ताः, वत्सासो न मातृभिर्यथा वत्सा मातृभिर्गोभिः सह स्वं निजमोक्यं स्थानं निवासं वा जानन्ति तथैव ते परमेश्वरभक्ताः स्वं ओक्यं स्वं निवास परमेश्वरेण सहास्तीति जानत जानन्तु । जामिभिः सम्बन्धिभिर्भगवद्भक्तैः सह मिथः परस्परम् । सं नसन्त संनसन्त संगच्छन्ताम् ॥ २।१६ ॥

१४८२. उप स्रक्वेषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि ।
इन्द्रे अग्ना नमः स्वः ॥ ३।१६ ॥ (ऋ० ८।७२।१५)

उप स्रक्वेष्विति । ऋष्यादय उक्ताः, स्रक्वेषु ओष्ठप्रान्तेषु बप्सतो भक्षयतो नाम स्तुतीर्वा परमेश्वरस्य । नाम गृह्णत इति

भावः। यो जनः परमेश्वरस्य नाम गृह्णाति ओष्ठव्यापारेण सह। तस्य धरणं धारणं निवासमिति यावत्। दिवि द्युलोके प्रकाशमय-लोके मोक्षधामनीत्यर्थः। कृण्वते करोति परमात्मेति विज्ञेयम्। इन्द्रे परमैश्वर्ये। अग्नौ प्रकाशस्वरूपे च ब्रह्मणि नमो वज्रः स्वर्द्यौ-रादित्यश्च धृताः सन्ति। यः परमात्मा वज्रं धारयति द्यामादित्यं च धारयति स परमसमर्थः स्वकीये लोके स्वनाम गृह्णन्तं धारयतीति परम आश्वासः। नमः इति वज्रनाम (निघ० २,२०,९) ॥३।१६॥

१४८३. तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे
मदन्त्यूमाः ॥ १।१७ ॥ (ऋ० १०।१२०।१)

तदिदासेति। विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। तद् इन् आस तदेवासीद् भुवनेषु भूर्भुवःस्वरादिलोकेषु ज्येष्ठमादिभूतम्। तद् ब्रह्म, यतो यस्माद् उग्रस्तीक्ष्णः। त्वेष-नृम्णः प्रदीप्तधनः प्रकाशधनः सूर्य इत्यर्थः। नृम्णमिति धननाम। त्विष दीप्तौ, जज्ञे जातः। जज्ञानो जायमानः सद्यस्तत्कालमेव शत्रून् प्रजाविरोधिनो नि रिणाति नितरां नाशयति नाशयाञ्चकार। री गतिरेषणयोः। अनु पश्चात् विश्वे ऊमाः प्राणिनः। अव इच्छा-याम्। स्वेष्टपदार्थप्राप्तीक्षाः, यम् सूर्यम्। दृष्ट्वा मदन्ति प्रसी-दन्ति स्म ॥ १।१७ ॥

१४८४. वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु
॥ २।१७ ॥ (ऋ० १०।१२०।२)

वावृधान इति। ऋष्यादय उक्ताः, सूर्यादीनामुत्पादकः शवसा बलेन वावृधानः। नित्यसिद्धबलोऽपि वर्धमान इव लक्ष्यमाणः।

भूर्योजाः प्रभूततेजाः। शत्रुः शातयिता दुरितानाम्। दासाय उपक्षयकर्त्रे, दसु उपक्षये, भियसं भियं दधाति, अव्यनत्। अन प्राणने, विशेषेण अनिति श्वसिति तद् व्यनत् जङ्गमम्। न व्यनदव्यनत् स्थावरम्। स्थावरा ये पदार्था ये च जङ्गमाः सर्वे एव तेन ब्रह्मणा सस्नि स्नपिता अभवन्। कृपादृष्ट्या सर्वेषां वर्धनं तेनाकारि, तत एव, प्रभृताः प्रकर्षेण भृता रक्षिताः पोषिता वा ते मदेषु हर्षेषुवर्तमानाः सं नवन्त परमात्मानं प्रतिगच्छन्ति स्तुवन्ति ॥ २।१७ ॥

१४८५. त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि
योधीः ॥ ३।१७ ॥ (ऋ० १०।१२०।३)

त्वे क्रत्विति। ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्र परमेश्वर, विश्वे अपि सर्वेपि लोकाः। त्वे त्वयि, क्रतुं कर्म कम्यानि कर्माणि वृञ्जन्ति त्यजन्ति। त्वां प्राप्य त्वत्प्राप्त्यर्थे वा काम्यानां कर्मणां ते त्यागं कुर्वन्ति। कदा? यद् यदा एते ऊमा मनुष्याः। द्विभवन्ति स्त्रीरूपेण पुंरूपेण च भवन्ति। यदा च एते त्रिर्भवन्ति त्रिवारं भवन्ति पत्नीरूपेण पतिरूपेण पुत्ररूपेण च। 'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी' (तै० ब्रा० ३,३,३) इति श्रुतेः पत्न्यपि पतिरूपैव। पतिरपि पत्नीरूप एव। पुरुषस्यार्धो भागः पुंरूपः, अर्धश्च पत्नीरूपः। एवम् 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (श० ब्रा० १४,९,४,२६) इतिश्रुतेः पुत्ररूपोपि पितैव। एवं च मनुष्या उद्वाहानन्तरं द्विवारं भवन्ति पुत्रोत्पादनानन्तरं त्रिवारं भवन्ति। पुत्रोत्पादनानन्तरं संसारमुपभुज्य वीतरागाः सन्तो मनुष्या परमात्मनि सर्वाण्येव काम्यानि कर्माणि सन्यसन्ति तस्मिन्नेव निरताश्च भवन्तीत्यभिप्रायः। वृजी वर्जने। कर्माणि वर्जयन्ति त्यजन्ति। तर्हि हे परमेश्वर

स्वादोः स्वादुपदार्थनिचयादपि स्वादीयो वस्तु त्वमसि। स्वादुना स्वादीयसा त्वया सह सं सृज सम्मिश्रय संयोजय भक्तात्मानम्। अदो दूरे वर्तमानं त्वत्तो मधु जीवरूपम्। मधुना मधुरेण त्वया सह सु सुष्ठु। अभि योधीरभिमिश्रय। प्रसङ्गादौचित्याच्च युधधातोरर्थान्तरे स्थितिः॥ ३।१७॥

१४८६. त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत्सोममपिबद्विष्णुना† सुतं यथावशम्‡। स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यइन्दुः* सत्यमिन्द्रम् ॥ १।१८॥ (ऋ० २।२२।१)

त्रिकद्रुकेष्विति। हर्यतः प्रागाथ ऋषिः, अग्निर्हवींषि वा देवता, अष्टिश्छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः § ॥ १।१८॥

१४८७. साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः। दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु प्रचेतन ∠ सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥ ॥ २।२।१८॥ (ऋ० २।२२।३)

साकं जात इति। ऋषिदेवते पूर्वोक्ते, छन्दोतिशक्वरी। स इन्द्रः परमेश्वरः क्रतुना ज्ञानेन साकं सार्धं जातः। ज्ञानवान्सन् सोजायतेत्यर्थः। यदा जीवैरनुभूतस्तदैव स जात इति परिगण्यते ओजसा बलेन परपराभवकारिण्या शक्त्या वा साकं स जातः। साकं सहैव तत्कालमेव जायमानानेव पदार्थान् स ववक्षित उवाह। सन् आर्षः। वृद्धोतिप्राचीनः, पूज्यो वा। मृधो हिंसकान्दुरात्मनो

† तृपादित्यृक्पाठः। ‡ यथावशदित्यृक्पाठः।
* सत्यमिन्द्रं सत्यमिन्दुरित्यृक्पाठः।
§ पूर्वार्चिके ४५७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः। ∠ नैतत्पदमिह ऋग्वेदे।

वीर्यैः पराक्रमैः सासहिः, तेषां पराभवकर्तेत्यर्थः। विचर्षणिर्विविध-दृष्टिवान् सर्वेषां द्रष्टा वा। स्तुवते स्तुतिं कुर्वते उपासकाय राधः इष्टसाधकं काम्यं कमनीयं वसु धनं ज्ञानरूपं दाता। स सत्य इन्दुर्भक्त्यैश्वर्यो ज्ञानैश्वर्यो वा देवः स्तोता। सत्यो जीवः एनं सत्यं त्रिकालाबाधितमिन्द्रं परमात्मनं देवं सश्चद् गच्छति सेवत इत्यर्थः। सश्चतिर्गत्यर्थः ॥ २।२।१८ ॥

१४८८. अध त्विषीमाँ अभ्योजसा कृविं† युधाभवदा रोदसी अपृणदस्य मज्मना प्र वावृधे। अधत्तान्यं जठरे प्रेमरिच्यत प्र चेतय सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यं‡ इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥ ३।१८ ॥ (ऋ० २।२२।२)

अधेति। ऋष्यादय उक्ताः, अध अथ त्विषीमान् दीप्तिमान् कान्तिमान्वेन्द्रः परमेश्वरः। ओजसा बलेन कृविं। 'कृविघृष्वि....' (उ० ४,५८) कूपम्। कृविं हिंसकम्। (निघ० ४,५८)। देव-राजयज्वमते क्रिविरित्यपि। तत्रेन्प्रत्ययो रिदादेशश्च निपात्यते। ऋग्वेदपाठस्याप्यानुकूल्यम्। कृञ् हिंसायाम्। कृविरित्यत्र ह्रस्व-त्वमार्षम्। युधा यांधनेन। अभि अभवत् पराभवत्। अस्य स्वस्य मज्मना वलेन (निघ० २,१०,२३)। रोदसी द्यावापृथिव्यौ। आ पृणत् आपूरयत्। ततः प्र ववृद्धे ख्यातिं गतः। अन्यं क्रिविं जठरे उदरे। अधत्त निचिक्षेप। सर्वानेव हतवानित्यर्थ। ईम् एनं हिंस-कम। प्र अरिच्यत प्रकर्षेण पृथगभावयत्। सर्वानेव हिंसकान् भये-नेतस्ततो गतानकरोत्। इत्थं भूतं परमेश्वरं, हे उपासक त्वं प्र चेतय प्रजानीहि विचिन्तय वा। सैनमित्यादिव्याख्यातमुपरिष्टात् ॥ ३।१८ ॥

इति षष्ठः खण्डः

इति षष्ठप्रपाठके तृतीयोर्धः षष्ठः प्रपाठकश्च समाप्तः इति त्रयोदशोध्यायः

† क्रिविमित्यृक्पाठः। ‡ सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुरित्यृक्पाठः।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

अथ सप्तमप्रपाठके प्रथमोर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१४८९. अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।

सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ १।१ ॥ (ऋ० ८।६९।४)

अभि प्रेति। प्रियमेध आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।१ ॥

१४९०. आ हरयः ससृजिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।

यत्राभि सं नवामहे ॥ २।१ ॥ (ऋ० ८।६९।५)

आ हरय इति। ऋष्यादय उक्ताः, अधि बर्हिषि, मनसि! अधीति सप्तम्यर्थमनुवदति। वृहि वृद्धौ। इसिः प्रत्ययः (उ० २,१०२)। बृंहति वर्धतेनेनेति। मनसैव मनुष्याणां वृद्धिः। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। मनसोवनतिरुन्नतिरिति द्वे अवस्थे। अवनत्या मनुष्याणामवनतिरुन्नत्या चोन्नतिरिति। अरुषीः शान्ताः, रुष रोषे, हरयो दोषनिवारका विचारा भावा वा। आ ससृजिरे आसृज्यन्त स्थाप्यन्तामुत्पाद्यन्तामिति यावत्। यत्र यान् भावान् विचारान् वा अभि सं नवामहे वयमभिसंस्तुमः। आचार्यः शिष्यानुपदिशति ॥ २।१॥

१४९१. इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।

यत्सीमुपह्वरे विदत् ॥ ३।१ ॥ (ऋ० ८।६९।६)

---

† पूर्वार्चिके १६८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

इन्द्रायेति। ऋष्यादय उक्ताः, यद्यदा, सीम् सवतः। सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा।······प्रासृजदिति वा प्रासृजत्सर्वंत इति वेति यास्कः (नि० १,७) उपह्वरे समीपे हृदये इति यावत्। विदल्लभते परमेश्वरमित्यर्थः, तदा गावो विद्या गुरुप्रदत्ताः। वज्रिणे सर्वतो गमनशीलाय इन्द्राय जीवाय आशिरं न शीर्यंत इत्यशिरमशिरमेवाशिरं स्थायि मधु मननं ज्ञानमित्यर्थः दुदुह्रे दुहन्ति ददति॥ ३।१॥

१४९२. आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं† समत्सु भूषत।

उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन्परमज्या‡ ऋचीषम*॥ १।२॥

(ऋ० ८।९०।१)

आ न इति। नृमेध पुरुषमेधावाङ्गिरसा ऋषीः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः§ ॥१।२॥

१४९३. त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत्।

तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः

॥ २।२॥ (ऋ० ८।९०।२)

त्वं दातेति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः प्रगाथः (समा सतो-बृहतो)। हे इन्द्र परमेश्वर, त्वं राधसां संसिद्धीनाम्। प्रथमोपूर्वो दाता असि। ईशानकृत् ईशानान् समर्थान् स्वभक्तान् करोतीति ईशानकृदसि। सत्यो नित्यः कालाबाधितश्चासि। तुविद्युम्नस्य बहुप्रकाशस्य पुत्रस्य पुन्नाम्नो नरकाद्रक्षितुः शवसो बलस्वरूपस्य सर्वंगस्य वा। टु ओश्वि गतिवृद्धयोः। तव परमेश्वरस्य। मह-

† इन्द्र इत्यृक्पाठः। ‡ वृत्रहेत्यृक्पाठः। * ऋषीषमः इत्यृक्पाठः।

§ पूर्वार्चिके २६९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

स्तेजः। युज्यास्त्वयि संलग्ना वयमुपासकाः। वृणीमहे याचामहे ॥ २।२ ॥

१४९४. प्रत्नं† पीयूषं पूर्व्यं यदुक्थ्यं महो गाहाद्दिव आ निरधुक्षत्।
इन्द्रमभि जायमानं समस्वरन् ॥ १।३ ॥

(ऋ० ९।११०।८)

प्रत्नमिति। त्र्यरुणस्त्रैवृष्ण ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, ऊर्ध्वा बृहती छन्दः। परमेश्वरोपासकाः। महो महतो गाहाद् विलोडनात्। दिवो दिव्यात्पवित्रात्। हृदयादिति भावः। यद्यदा प्रत्नं प्राचीनं पुराणम्। पूर्व्यं सर्वस्मात्पूर्वभवम्। उक्थ्यं प्रशस्यम्। पीयूषं पेयं रस्यमितियावत्। परमेश्वरम् आ निरधुक्षत आनिर्दुहन्ति प्रत्यक्षीकुर्वन्ति तदा जायमानमाविर्भवन्तमिन्दुं परमैश्वर्यं तम्। समस्वरन् सर्वे संस्तुवन्ति ॥ १।३ ॥

१४९५. आदीं केचित्पश्यमानास आप्यं वसुरुचो दिव्याअभ्यनूषत।
दिवो‡ न वारं सविता व्यूर्णुते ॥२।३॥ (ऋ० ९।११०।६)

आदीमिति। ऋष्यादय उक्ताः, दिव्या दिवि भवाः। विग्रहप्रदर्शनमेतत्। वस्तुतो दिव्या दिव्यगुणविशिष्टा जनाः। वसुरुचस्तत्त्वज्ञानिनः। वसू रात्रिरन्धकार इति यावत्। तस्य रुचः प्रकाशका अज्ञानतिमिरविनाशका इत्यर्थः। वसुरिति रात्रिनाम (निघ० १,८,२३)। आप्यं प्राप्यमीम् एवं परमात्मानं पश्यमानासः पश्यन्तः केचित् अभ्यनूषत स्तुवन्ति। दिवो दिनस्य प्रकाशस्य वारमावरणमन्धकारम्। सविता सूर्यः, न यथा, व्यूर्णुते विनाशयति तथा जीवाज्ञानं परमात्मा वारयति ॥ २।३ ॥

---

† दिव इत्यृक्पाठः। ‡ वारं न देवः सवितेत्यृक्पाठः।

१४९६. अध यदिमे पवमान रोदसी इमा च विश्वा भुवनाभि मज्मना । यूथे न निष्ठा† वृषभो विराजसि‡ ॥ ३१३ ॥
(ऋ० ९।११०।९)

अध यदिम इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे पवमान, अध अथ च यद् यदा त्वमिमे रोदसी द्यावापृथिव्यौ मज्मना बलेन । मज्मन्निति बलनाम (निघ० २,९,२३) । टु मस्जी शुद्धौ, औणादिको मनिन् (उ० ४,१४०) । मज्जयति शत्रूनिति बलम् । अभि तिष्ठसि तदैव इमा च विश्वा विश्वानि भुवनानि इमांश्च लोकान्सर्वान् अभितिष्ठसि । यूथे समाजे निष्ठा स्थितो वृषभो न, यथा वृषभो विराजते शोभते तथा त्वमपि यूथे मनुष्यसमाजे स्थितः शोभस इत्यर्थः ॥ ३१३ ॥

१४९७. इमभू षु त्वमस्माकं सनि गायत्रं नव्यांसम् ।
अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥ ३१४ ॥ (ऋ० १।२७।४)

इमम् ष्विति । शुनःशेप आजीगर्तिऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ ३१४ ॥

१४९८. विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ ।
सद्यो दाशुषे क्षरसि ॥ ३१४ ॥ (ऋ० १।२७।६)

विभक्तासीति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर चित्रभानो विचित्रतेजस्क त्वं सिन्धोः स्यन्दनशीलस्य द्रुतहृदयस्य भक्तस्य, स्यन्दू प्रस्रवणे । 'स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च' (उ० १,११) इत्युः प्रत्ययः । ऊर्मा ऊर्मि रात्रिम् अन्धकारम् । ऊर्मिरिति रात्रि

† निः ष्ठाः इत्यृक्पाठः । ‡ तिष्ठसे इत्यृक्पाठः ।
* पूर्वार्चिके २८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

नाम (निघ० १,७,५) । ऊर्णोतिः, अर्तेवा रूपसिद्धिः । उपाके समीपे एवाविलम्बेन । उपाके इति समीपनाम (निघ० २,१६,७) । आ एवकारार्थकः, विभक्तासि पृथक्कर्तासि नाशयितासीतिभावः । सद्यस्तत्कालमेव दाशुषे हृदयं तुभ्यं दत्तवते भक्ताय क्षरसि कृपाशीलो भवसीति भावः ॥ २१४ ॥

१४९९. आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु ।
शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ॥ ३१४ ॥ (ऋ० १।२७।५)

आ न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, परमेषु सर्वोत्कृष्टेषु वाजेषु धनेषु ज्ञानधन इत्यर्थः । बहुवचनमार्षम् । नोस्मान् । आ भज सर्वथा प्रापयेत्यर्थः । मध्यमेषु ततोपकृष्टेषु वाजेष्वपि नः प्रापय । तथा, अन्तमस्य अन्तिकतमस्य समीपस्थस्य भूतलस्थस्य वस्वः वसून् सदाचार्यान् विदुषो महात्मन नोस्मभ्यं शिक्ष देहि । शिक्षतिर्दानार्थः (निघ० ३,२०,८) ।

१५००. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह† ।
अहं सूर्य‡ इवाजनि ॥ १।५ ॥ (ऋ० ८।६।१०)

अहमिद्धीति । वत्सः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।५ ॥

१५०१. अहं प्रत्नेन जन्मनाऽ§ गिरः शुम्भामि कण्ववत् ।
येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ॥ २।५ ॥ (ऋ० ८।६।११)

अहमिति । ऋष्यादय उक्ताः, अहं प्रत्नेन पुरातनेन जन्मना ज्ञानेन गिरो वाचः । शुम्भामि अलङ्करोमि । मम विद्या नास्मिन्नेव

† 'जग्रभ' इत्यृक्पाठः । ‡ सूर्यइवाजनीत्यृक्पाठः ।
* पूर्वार्चिके १५२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः । § मन्मना इत्यृक्पाठः ।

जन्मन्युपार्जिता किन्तु प्राग्जन्मन्युपार्जितापि फलत्यत्र। कण्ववत् मेधावीव। यथा मेधावी पुरुषः स्ववाचोलङ्करोति तथाहमप्यलङ्करोमि यत्, तत् पूर्वस्मिञ्जन्मनि सम्पादिताया विद्याया अपि फलमवगन्तव्यमित्याशयः। येन हेतुना अनेन हेतुनेति भावः। इन्द्रो जीवः। शुष्मं बलम्। इत् दधे धारयत्येव। बलधारणं सत्यसदाचारादिसेवनम् ॥ ३१५ ॥

१५०२. ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः।
समेद्वर्धस्व सुष्टुतः ॥ ३१५ ॥ (ऋ० ८।६।१२)

ये त्वामिन्द्रेति। ऋष्यादय उक्ताः, ऋषिर्वत्सः कथयति, हे इन्द्र परमेश्वर, ये ऋषयस्त्वां न तुष्टुवुः नास्तुवन् न वा स्तुवन्ति, ये च त्वां तुष्टुवु, तेषु त्वं प्रसन्न आसीन्नवेति नास्ति विचारणात्र। मम मया सुष्टुतः सम्यक् स्तुतः। वर्धस्व इत् प्रसीदेव ॥ ३१५ ॥

इति प्रथमः खण्डः

●

अथ द्वितीयः खण्डः

१५०३. अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्जोषि ब्रह्म सहस्कृत।
ये देवत्रा य आयुषु तेभिर्नो महया गिरः ॥ ३१६ ॥
(ऋग्वेदे नास्त्ययं मन्त्रः)

अग्न इति। अग्नस्तापस ऋषिः, विश्वेदेवा देवताः, अनुष्टुप छन्दः। हे अग्ने प्रकाशस्वरूप सहस्कृत सहसा बलेन तितिक्षादिना तपसा कृतोत्पादित ब्रह्म परमेश्वर, विश्वेभिर्विश्वैः सर्वैरग्निभिर्यागादिजनकैः। जोषि अहं त्वां सेवितवान्। अतस्त्वां प्रार्थये देवत्रा देवेषु ये धर्मा ज्ञानादयः, ये च आयुषु मनुष्येषु धर्मास्तेभिस्तै-

नोस्माकं गिरो वाचो महय वर्धय । अस्माकं वाचो धर्मपूर्णा भवेयुरितिप्रार्थना ।। १।६ ।।

१५०४. प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्निः स यस्य वाजिनः ।
तनये तोके अस्मदा सम्यङ्वाजैः परीवृतः ।।२।६।।

(ऋग्वेदेनास्ति)

प्र स इति । ऋष्यादय उक्ताः, यस्य वाजिनो विद्याधनवतस्तपोबलवतो वा मनुष्यस्य विश्वेभिः सर्वैरग्निभिर्गार्हपत्यादिभिः । सः अग्निः प्र प्रकर्षेण जुष्ट इति शेषः, सोग्निः, अस्मद् अस्माकं तनये पुत्रे तोके पौत्रादौ वाजैर्धनैर्विद्यारूपैः, आ सर्वतः, सम्यङ् सुष्टुतया, परिवृतः परीवृतस्तिष्ठतु । तेषु विद्यासदाचारादीन् वितरत्वितिभावः ।। २।६ ।।

१५०५. त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ।। ३।६ ।।

(ऋ० १०।१४१।६)

त्वं न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, अग्निभिरग्निसदृशैस्तेजस्विभिविद्वद्भिरुपासकैः । नोस्माकं ब्रह्मज्ञानं यज्ञं ज्ञानार्थं क्रियमाणं साधनं सत्कर्मादि च वर्धय । किं च स्वम् देवतातये देवाय । सर्वदेवात्तातिल् (पा० ४,४,१४२) । भगवद्भक्ताय । एकवचनमनपेक्षितम् । भक्तेभ्य इत्यर्थः । दानाय दातुं रायो धनानि ज्ञानसत्यसदाचारादीनि चोदय प्रेरय ।। ३।६ ।।

१५०६. त्वे सोम प्रथमा वृक्तबर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः ।
स त्वं नो वीर वीर्याय चोदय ।। १।७ ।। (ऋ० ९।११०।७)

त्वे सोमेति । त्र्यरुणस्त्रैवृष्ण ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । ऊर्ध्वा बृहती छन्दः । हे सोम शान्त परमेश्वर, वृक्तबर्हिषस्त्यक्त-

यज्ञयज्ञसाधनाः। प्रथमा प्रथमे पूर्वजाः। महे महते वाजाय धनाय मुक्तिरूपाय। श्रवसे श्रेयसे कल्याणाय च। वाजेति श्रव इति च धननाम निघण्टौ। त्वे त्वयि धियं वुद्धिं दधुः धारयामासुः दधति वा। इत्थंभूतः स त्वं हे वीर परमसमर्थ, नोस्मान् वीर्याय बलप्राप्तये चोदय प्रेरय ॥ १।७ ॥

१५०७. अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कं चिज्जनपानमक्षितम्।
शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः ॥ २।७ ॥ (ऋ० ९।११०।५)

अभ्यभीति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सोम परमेश्वर, गभस्त्योर्हस्त्योः शर्याभिरङ्गुलिभिरञ्जलिभिरित्यर्थः। गभस्तिरिति बाहुनाम (निघ० २,४,६)। शर्या इत्यङ्गुलिनाम (निघ० २,५,५) भरमाणो न भरमाण इव विभ्राण इव त्वां श्रवसा धनेन ज्ञानेन। श्रूयत इति श्रवः। कर्मण्यसुन् प्रत्ययः। श्रुत्वैव ज्ञानमुपलभ्यते। अभि हि ततर्दिथ अभि हिनस्सि राशिमज्ञानस्य, तत्र दृष्टान्तः। अक्षितम्। क्षि निवासे, जनैरनुषितम्। कंचित् जनपानं यत्र जना जलं पिबन्ति तम् उत्सं कूपं यथा कश्चित्तृणत्ति तद्वत्। अयमाशयः यथा सजलमपि कूपमसेवितमपीतजलं तत एव रोगकरं स्वास्थ्यहरं कंचित्कश्चिद् विनासयति तथैव भक्तैरनपेक्ष्यं मनोविकृतिसम्पादकमज्ञानं परमेश्वरो हिनस्ति। तृदिर्हिंसायाम् ॥ २।७ ॥

१५०८. अजीजनो अमृत मर्त्याय† कमृतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः।
सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥३।७॥ (ऋ० ९।११०।४)

अजीजन इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे अमृत अमरणधर्मन् सोम परमेश्वर, चारुणः सुन्दरस्य। अमृतस्य न मृतस्य ऋतस्य सत्यस्य तव कमानन्दम्। धर्मन् धर्मणि धारके हृदये मनुष्याणाम्

† 'मर्त्येष्वा ऋतस्य' इत्यृक्पाठः।

मर्त्याय मनुष्यहिताय। त्वम् अजीजनः जनयसि। किं च वाजं बलमाध्यात्मिकम् अच्छा अभिलक्ष्य, सनिष्यदत् स्यन्दनशीलः, सदा सर्वदा असरः सरसि गच्छसि ॥ ३।७ ॥

१५०९. एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु।
प्र राधांसि† चोदयते‡ महित्वना ॥ १ । ८ ॥

(ऋ० ८।२४।१३)

एन्दुमीति। विश्वमना वैयश्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, उष्णिक् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।८ ॥

१५१०. उपो हरीणां पतिं राधः॥ पृञ्चन्तमब्रवम्।
नूनं श्रुधि स्तुवतो अश्व्यस्य ॥ २।८ ॥ (ऋ० ८।२४।१४)

उपो हरीणामिति। ऋष्यादय उक्ताः, राधो बलं सिद्धिं वा। पृञ्चन्तं सम्पर्चयन्तं प्रजा इति शेषः। हरीणां मनुष्याणाम्। हरयो मनुष्याः (निघ० २,३,१०)। पतिं पातारं स्वामिनं वा त्वां हे सोम। उपो अब्रवम् समीपस्थो भवन् ब्रवीमि प्रार्थये। अश्व्यस्यः अश्वः सर्वव्यापकः परमात्मा त्वमेव। तस्य तव सम्बन्धिनः स्तुवतः स्तुतिं कुर्वाणस्य मे नूनमवश्यम्। श्रुधि शृणु प्रार्थनामितिभावः ॥ २।८ ॥

१५११. न ह्य१ङ्ग पुरा च॰ न जज्ञे वीरतरस्त्वत्।
नμ की राया नैवथा न भन्दना ॥ ३।८ ॥

(ऋ० ८।२४।१५)

---

† राधसा इत्यृक्पाठः। ‡ चोदयाते यत्यृक्पाठः।
* पूर्वार्चिके ३८६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः। ॥ दक्षमित्यृक्पाठः।
॰ चनेत्यृक्पाठः। μ नकी इत्यृक्पाठः।

न ह्य ३ ङ्गेति। ऋष्यादय उक्ताः, हे अङ्ग प्रिय इन्द्र पुरा पूर्वम्। त्वत्त्वत्तो वीरतरो महावीरः सर्वेषां दुर्जनानामीरयिता। न हि जज्ञे उत्पेदे खलु। चकारादिदानीमपि न कश्चित्तथा जातः। रायो धनेन ज्ञानेन नकिर्नकोपि अविद्यत विद्यते वा। एवथा भक्तानामवनकर्ता। अवरक्षणादिषु। छान्दस एकारोकारस्य। अथच् प्रत्ययः, त्वत्तोन्यो न विद्यते। भन्दना कल्याणकारकोपि त्वत्तोधिको नास्ति, न बभूव॥ ३।८॥

१५१२. नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम्।
पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि॥ १९॥
(ऋ० ८।६९।२)

नदमिति। प्रियमेध आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, उष्णिक् छन्दः। अत्रेन्द्रो जीवः, हे इन्द्र जीवात्मन्। ओदतीनामुषसाम्। नदं शब्दम्। योयुवतीनां कार्ये लोकान्मिश्रयन्तीनां योजयन्तीनामुषसमिव नदं शब्दमिषुध्यसि याचसे याचस्वेत्यर्थः। उषसां शब्दश्रवणमित्यस्यैव स्पष्टीकरणं योयुवतीनां नदमिति। उषसां शब्दं श्रुत्वोत्थाय शय्यां परित्यज्य परमात्मनः स्मरणं कृत्वा नित्ये नैमित्तिके वा कार्ये संलग्नो भवेत्यर्थः। किं च वो युष्माकं धेनूनां प्रसूतानामघ्न्यानामहन्तव्यानां गवां पतिं पातारं च इषुध्यसि याचस्व। दिवा गवां चारणाय रक्षको नियोक्तव्य इत्यर्थः। ओदतीत्युषोनाम (निघ० १,८,४)। इषुध्यतिर्याच्ञाकर्मा (निघ० ३,१९,१४) ॥१९॥

इति द्वितीयः खण्डः

अथ तृतीयः खण्डः

१५१३. देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम्† ।
उद्वासिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१।१०॥
(ऋ० ७।१६।११)

देवो वेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, अग्निर्देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।१० ॥

१५१४. तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत ।
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥
॥ २।१० ॥ (ऋ० ७।१६।१२)

तं होतारमिति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः प्रगाथः (समा सतो बृहती) । देवा विद्वांसः । तं प्रचेतसं प्रकृष्टज्ञानं वह्निं सर्वेषां वोढारं परमात्मानमेव अध्वरस्य हिंसाविरहितस्य भक्तियज्ञस्य होतारं मुख्ययाजकम् अकृण्वत अकुर्वन् कुर्वन्ति च । स परमात्मा भक्तियज्ञस्य होता विधते हृदयमर्पयते । विधतिर्दानकर्मेति यास्कः (नि० १०,२३) । परिचरणार्थ इति सायणः । रत्नं रमणीयं वस्तु स्वदर्शनरूपं दधाति ददाति । स च अग्निः प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरो दाशुषे सर्वस्य दात्रे परमेश्वरचरणेषु समर्पयित्रे जनाय जीवाय सुवीर्यं शोभनमाध्यात्मिकं बलं ददाति ॥ २।१० ॥

१५१५. अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्नि नक्षन्तु* नो गिरः ॥१।११॥
(ऋ० ८।१०३।१)

---

† विवष्ट्यासिचमित्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके ५५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः । * नक्षन्तेत्यृक्पाठः ।

अदर्शीति। सौभरिः काण्वः ऋषिः, अग्निर्देवता, बृहती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।११ ॥

१५१६. यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वतः।
सहस्रसां मेधसाताविव त्मनाग्निं ‡धीभिर्नमस्यत ॥ २।११ ॥
(ऋ० ८।१०३।३)

यस्माद्रेजन्तेति। ऋष्यादय उक्ताः, यस्माद्धेतोः, चर्कृत्यानि स्वकर्तव्यानि कर्माणि कृण्वतः कुर्वतो जनान्। कृष्टयः मनुष्याः स्वकर्तव्यविमुखाः रेजन्ते वेपन्ते। भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोरितियास्कः (नि० ३,२१)। तस्मात् हे मानवाः, मेधसातौ यज्ञे सहस्रसामनन्तानामपेक्षितपदार्थानां दातारम्। षणु संभक्तौ, अग्निं परमात्मानम्। अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः इति यास्कः (नि० ७,१४)। धीभिः सत्कर्मभिर्वुद्धिभिर्वा, त्मना आत्मना नमस्यत इव पूजयत एव। इव एवार्थः ॥ २।११ ॥

१५१७. प्र दैवोदासो अग्निर्देव* इन्द्रो§ न मज्मना।
अनुमातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि£
॥ ३।११ ॥ (ऋ० ८।१०३।२)

प्र दैवोदास इति। ऋष्ययादयः पूर्ववत्। व्याख्यातोयं मन्त्रः$ ॥ ३।११ ॥

† पूर्वार्चिके ४७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ धोभिः सपर्यतेत्यृक्पाठः। * ···देवाँ इत्यृक्पाठः।
§ अच्छाइत्यृक्पाठः। £ सानवि इत्यृक्पाठः।
$ पूर्वार्चिके ५१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१५१८. अग्न आयूंषि पवस †आसुवोर्जमिषं च नः ।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ १।१२ ॥ (ऋ० ९।६६।१९)

अग्न इति। शतं वैखानस ऋषिः अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।१२ ॥

१५१९. अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः ।
तमीमहे महागयम् ॥ २।१२ ॥ (ऋ० ९।६६।२०)

अग्निरिति। ऋष्यादयः उक्ताः, ऋषिः सर्वद्रष्टा सर्वव्यापको वा, ऋषी गतौ, सर्वत्र गतिर्यस्य। पवमानः पुनानः सर्वान्। पाञ्चजन्यः पञ्चजनेषु भवः। के पञ्चजनाः ? 'गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः इति यास्कः (नि०)। अस्य मन्त्रस्यर्षिः पञ्चजनशब्देन किमिष्टवानिति ज्ञातुं नास्ति साधनम्। केनचित्किमपि निर्दिष्टम्. केनचिदन्यन्निर्दिष्टम्। एतदेव ज्ञापयति नायं पाञ्चजन्यशब्दः स्पष्टार्थः, कात्यायनोपि केवलं पञ्चजनशब्दमुच्चारयति न निर्दिशत्यर्थम्। 'बहिर्देव पञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इतिवार्तिकं महाभाष्ये तु नावलोकितम्। निघण्टौ (२,३,२५) पञ्चजन इति मनुष्यनाम। पञ्चभिर्भूतैर्जाताः पञ्चजना इति क्षीरस्वामी। पञ्चभिर्भूतैर्जन्यत इति भानुजिदीक्षितः। भवन्तु नाम ये केपि पञ्चजनाः। सर्वत्रैवोपास्यत्वेन वा रक्ष्यत्वेन वा सत्त्वेन वा परमात्मा भवत्येव। पुरोहितः पुरा हितं दधाति यः सः। एवंभूतोग्निः परमात्मा ज्ञायते। तं महागयं महाधनं वा महागृहं वा महापत्यं वा परमात्मानमीमहे याचामहेस्माकम्मनोरथं पूरयेति ॥ २।१२ ॥

१५२०. अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् ।
दधद्रयिं मयि पोषम् ॥ ३।१२ ॥ (ऋ० ९।६६।२१)

† आ सुवो इत्यृक्पाठः। ‡ पूर्वार्चिके ६२७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

अग्ने इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, मय्यस्मासु रयिं धनं ज्ञानरूपं पोषं रक्षणं च दधत्। स्वपाः शोभनान्यपांसि कर्माणि यस्य स त्वमस्मे अस्मासु वर्चस्तेजः सुवीर्यमतिशयसामर्थ्यं च पवस्व क्षर देहीति यावत्॥ ३।१२॥

१५२१. अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया।
आ देवान्वक्षि यक्षि च॥ १।१३॥ (ऋ० ५।२६।१)

अग्ने पावकेति। वसूयव आत्रेय ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः। हे अग्ने प्रकाशक हे पावक शोधक हे देव दिव्यगुण, रोचिषा कान्तिमत्या मन्द्रया आह्लादयित्र्या जिह्वया वाचा देवान् वक्षि वद उपदिश यक्षि च प्रसादय च। वच् परिभाषणे। अथवा वह प्रापणे। आवह भक्तिकर्मणि॥ १।१३॥

१५२२. तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्।
देवाँ आ वीतये वह॥ २।१३॥ (ऋ० ५।२६।२)

तं त्वेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे घृतस्नो दीप्तिप्रसारक। घृ क्षरणदीप्त्योः। ष्णु प्रस्रवणे। हे चित्रभानो विचित्ररश्मे। स्वर्दृशं स्वः सुखं तस्य दर्शयितारं तं प्रसिद्धं त्वां परमेश्वरम्। ईमहे याचामहे। किं याच्यवे ? वीतये गतये मोक्षाय ज्ञानाय वा देवान् सत्पुरुषाना वह आ प्रापयास्मत्सन्निधाविति॥ २।१३॥

१५२३. वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि।
अग्ने बृहन्तमध्वरे॥ ३।१३॥ (ऋ० ५।२६।३)

वीतिहोत्रमिति। ऋष्यादय उक्ताः, हे कवे क्रान्तदर्शिन् वेदानामुपदेष्टर्वा अग्ने परमेश्वर, वीतिहोत्रं रमणीयोपकारं द्युमन्तं तेजस्विनम्। बृहन्तं महान्तं व्यापकं वा त्वाम् अध्वरे भक्तियज्ञे समिधामहे सन्दीपयामः प्रकाशयामः। ञि इन्धी दीप्तौ॥ ३।१३॥

इति तृतीयः खण्डः

अथ चतुर्थः खण्डः

१५२४. अवा नो अग्न ऊतिभिर्गायत्रस्य प्रभर्मणि ।
विश्वासु धीषु वन्द्य ॥ १।१४ ॥ (ऋ० १।७९।७)

अवा न इति । गोतमो राहूगण ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । विश्वासु सर्वासु धीषु कर्मसु बुद्धिषु वा वन्द्य वन्दनीय हे अग्ने परमात्मन् , गायत्रस्य स्तुतिव चनस्य । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मण इति यास्कः (नि० १,८) । गायतिरर्चतिकर्मेति निघण्टुः (३,१४,२) ऊतिभिर्बलैः रक्षाभिर्वा, प्रभर्मणि पोषणकर्मणि । नोस्मानव रक्ष ॥ १।१४ ॥

१५२५. आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम् ।
विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् ॥ २।१४ ॥ (ऋ० १।७९।८)

आ नो अग्न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, सत्रासाहं सत्यपराक्रमम् । सत्रेति सत्यनाम (नघ० ३,१०,३) । वरेण्यं वरणीयं, विश्वासु सर्वासु पृत्सु रागादिशत्रुभिः सह जायमानेषु सर्वेषु संग्रामेषु दुष्टरं दुर्गं नोस्मभ्यं रयिं धनम् सामर्थ्यम् । आ भर आहर ॥ २।१४ ॥

१५२६. आ नो अग्ने शुचेतुना रयिं विश्वायुपोषसम् ।
मार्डीकं धेहि जीवसे ॥ ३।१४ ॥ (ऋ० १।७९।९)

आ नो अग्ने सुचेतुनेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, नोस्माकं जीवसे जीवनाय मार्डीकं सुखहेतुभूतम् । मृडीकं सुखम् । विश्वायुपोषसं विश्वेषां सर्वेषामायुनां मनुष्याणां पोषसं रक्षकं रयिं धनं सामर्थ्यं सुचेतुना शोभनेन ज्ञानेन सह धेहि ॥ ३।१४ ॥

१५२७. अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु ।
तेन जेष्म धनंधनम् ॥ १।१५ ॥   (ऋ० १०।१५६।१)

अग्निमिति । केतुराग्नेय ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । आजिषु युद्धेषु यथा सारथयः आशुं शीघ्रगामिनं सप्तिमश्वं हिन्वन्ति प्रेरयन्ति तथा नोस्माकं धियः कर्माणि विचारा वा अग्निं परमेश्वरम् । हिन्वन्तु प्रेरयन्तु, तेन धनंधनं सर्वंधनं जेष्म वयं जयेम ॥ १।१५ ॥

१५२८. यया गा आ करामहै सेनयाग्ने तवोत्या ।
तां नो हिन्व मघत्तये ॥ २।१५ ॥

(ऋ० १०।१५६।२)

यया गा इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर यया तव सेनया समानगत्या । सेना सेश्वरा (स+इन) समानगतिर्वेति यास्कः (नि० २,११) । ऊत्या रक्षया गा विद्या आकरामहै लभामहै तामूर्तिं नोस्माकं मघत्तये ज्ञानधनलाभाय हिन्व प्रेरय ॥ २।१५ ॥

१५२९. आग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम् ।
अङ्ग्धि खं वर्तया पविम् † ॥ ३।१५ ॥   (ऋ० १०।१५६)

अग्न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, स्थूरं स्थिरम् । पृथुं विस्तीर्णम् । गोमन्तं गोयुक्तम् । अश्विनमश्वयुक्तम् । रयिं ज्ञानधनम् । आ भर आहर, खमन्तःकरणाकाशम् । अङ्ग्धि शोधय, पविं वाचम् । पविरिति वाङ्नाम (निघ० १,११,१५) । वर्तय समृद्धां कुरु ॥ ३।१५ ॥

† पणिरित्यूहगानः ।

१५३०. अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि ।
दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः ॥ ४।१५ ॥ (ऋ० १०।१५६।४)

अग्ने न क्षेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । परमेश्वरं स्तौति । हे अग्ने परमेश्वर, जनेभ्यो लोकेभ्यो ज्योतिः प्रकाशं दधत् ददत् नक्षत्रं सततगमनशीलम् । नक्षतिर्गत्यर्थः । अजरं जरारहितम् । सूर्यं दिवि द्युलोकेन्तरिक्षे आ रोहयः अस्थापयः । ईदृगुपकारकस्त्वमिति भावः ॥ ४।१५ ॥

१५३१. अग्ने केतुर्विशामसि प्रेष्ठः श्रेष्ठः उपस्थसत् ।
बोधा स्तोत्रे वयो दधत् ॥ ५।१५ ॥ (ऋ० १०।१६५।५)

अग्ने केतुरिति । ऋष्यादयः उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, त्वं विशां प्रजानां केतुः प्रज्ञासि । केतुरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३, ९,२) । अथवा निवासयितासि, कित निवासे । अत एव प्रेष्ठः प्रियतमः श्रेष्ठः प्रशस्यतमश्चासि । उपस्थसदुपस्थे सपीये सीदतीति । समीपस्थः सन् स्तोत्रे स्तुतिकर्त्रे उपासकाय वयः कान्ति तेजोवादधत् बोध बोधयोपदिशोपासकानेवेत्यर्थादायातम् ॥ ५।१५ ॥

१५३२. अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥ १।१६ ॥ (ऋ० ८।४४।१६)

अग्निर्मूर्धेति । विरूप आङ्गिरस ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१६ ॥

१५३३. ईशिषे वार्यस्य हि दात्रस्याग्ने स्वःपतिः‡ ।
स्तोता स्यां तव शर्मणि ॥ २।१६ ॥ (ऋ० ८।४४।१८)

† पूर्वार्चिके २७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्य । ‡ स्वर्पतिरित्यृक्पाठः ।

ईशिष इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, वार्यस्य वरणीयस्य दात्रस्य देयस्य ज्ञानादेर्लौकिकधनादेर्वा। ईशिषे हि स्वामी भवसि । किं च स्वःपतिः शर्मणः सुखस्यापि त्वं स्वामी। शर्मणि शर्मणे शर्मप्राप्त्यर्थं तव शर्मस्वामिनः स्तोता स्तुतिकर्ता स्याम् ॥ २।१६ ॥

१५३४. उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
तव ज्योतींष्यर्चयः ॥ ३।१६ ॥ (ऋ० ८।४४।१७)

अदग्न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, तव शुचयः पवित्राः, शुक्रा वीर्यवत्यः भ्राजन्तो दीप्यमानाः, अर्चयः प्रभाः। तव ज्योतींषि तेजांसि उत् ईरते प्रेरयन्ति ॥ ३।१६ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

इति सप्तम प्रपाठके प्रथमोर्धः

इति चतुर्दशोध्यायः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

अथ सप्तमप्रपाठके द्वितीयोर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१५३५. कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः।

को ह कस्मिन्नसि श्रितः ॥ १।१ ॥ (ऋ० १।७५।३)

कस्त इति। गोतमो राहूगण ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः। हे अग्ने परमेश्वर, जनानां मनुष्याणां मध्ये ते जामिर्बन्धुः सदृशः कः? न कोपि तव सादृश्यं धत्ते इति भावः, जमु अदने। जमति सार्धं स जामिः। समाना एव समानपङ्क्तौ भोजनं कुर्वन्ति। को वा दाश्वध्वरो दाशुर्दाता कर्ता अध्वरस्य भक्तियज्ञस्य यः स कः? न कोपि याथार्थ्येन तव प्रीयते हिंसाविरहितं भक्तियज्ञं कर्तुं समर्थ इत्यर्थः। को ह त्वं कोसीति न शक्यसे ज्ञातुम्। कस्मिन् वस्तुनि त्वं श्रित आश्रित स्थितोसि? न कस्मिन्नपीतिभावः। अतस्त्वं सर्वश्रेष्ठः अतर्क्योनाश्रितः सर्वाश्रयश्चासीति भावः ॥ १।१ ॥

१५३६. त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।

सखा सखिभ्य ईड्यः ॥ २।१ ॥ (ऋ० १।७५।४)

त्वं जामिरिति। ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, त्वं जनानां मनुष्याणां जामिर्बन्धुः सम्बन्धी वासि। मित्रः स्निग्धः प्रियः प्रियकरश्चासि। त्वं सखिभ्यः सर्वेभ्य ईड्यः स्तुत्यः सखा चासि। तव न कोपि बन्धुर्न वा मित्रं न वा सखा। त्वं च

सर्वेषां बन्धुर्मित्रं सखा चेति। मित्रं केवलं स्निग्धः। सखा च समानख्यातिकः ॥ २।१ ॥

१५३७. यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत्।
अग्ने यक्षि स्वं दमम् ॥ ३।१ ॥ (ऋ० १।७५।५)

यजेति। ऋष्यादय उक्ताः, आचार्यः शिष्यमुपदिशति। हे अग्ने नोऽस्माकं हे शिष्य। "त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः, इताद् अक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्। स खलु एतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः" इति यास्कः (नि० ७,१४)। एतेर्गमनमर्थः। गकारस्य म्रक्षणमर्थो दाहो वा। नयतेः प्रापणमर्थः। एवं च यो जीवो तत्त्वज्ञानार्थमाचार्योपसदनं करोति, आत्मानमाचार्योक्तोपायैः शोधयति परमात्मानं प्रति च प्रापयति सोऽग्निरुच्यते शिष्यः, त्वं मित्रावरुणौ मित्रभूतं वरणीयं च परमात्मानं यज पूजय, देवान् विदुषः, वृहत् ऋतं परमसत्यम्। यज। स्वं स्वकीयं दमं पूजास्थानमुपासनागृहं हृदयं वा मनो वा यक्षि पूजय, दम उपशमने। परमात्मन आज्ञापालनं तत्पूजनम्। आत्मनः शुद्धिरात्मपूजनम् देवान् प्राप्य तेभ्यो ज्ञानसम्पादनं विद्वत्पूजनम्। हृदये वा मनसि वा उपासनास्थाने वा रागादिवर्जनं दमपूजनम् ॥ ३।१ ॥

१५३८. ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः।
समग्निरिध्यते वृषा ॥ १।२ ॥ (ऋ० ३।२७।१३)

ईडेन्य इति। विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः। अग्निः समिध्यते समिध्यताम् प्रज्वल्यताम्। कीदृगग्निः? ईडेन्यः स्तुत्यः, ईड स्तुतौ, कृत्यार्थे केन्यः प्रत्ययः। नमस्यो नमस्कार्यः, तामांसि अन्धकारान् अज्ञानरूपान्। तिरस्,

तिरस्कुर्वन् । दर्शतो दर्शनायः, वृषा सर्वकामानां सेचकः, सर्वेच्छा-पूरक इतिभावः ॥ १।२ ॥

१५३९. वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः ।
तं हविष्मन्त ईडते ॥ २।२ ॥ (ऋ० ३।२७।१४)

वृष इति । ऋष्यादय उक्ताः, वृषः सर्वफलप्रदाता । अश्वो व्यापकः सर्वत्र, अशूङ् व्याप्तौ, देवानां विद्वद्भक्तानां वाहनो वोढा पालयिता वा । अग्निः प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः समिध्यते प्रज्वाल्यते प्रादुर्भाव्यते वा । हविष्मन्तः पूजनसामग्री सहिता लोकास्तम् परमेश्वरमेव ईडते स्तुवते ॥ २।२ ॥

१५४०. वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि ।
अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥ ३।२ ॥ (ऋ० ३।२७।१५)

वृषणमिति । ऋष्यादय उक्ताः, हे वृषन् सर्वकामानां पूरक, अग्ने परमेश्वर, वृषण तवानुकम्पया स्वमनोरथं पूरयितारो वय-मुपासकाः । बृहन्महान्तं दीद्यतं द्योतमानं वृषणं सर्वेच्छापूरकं त्वा त्वां समिधीमहि स्वान्तःकरणेषु प्रकाशयामः ॥ ३।२ ॥

१५४१. उत्ते बृहन्तो अर्चयः समिधानस्य दीदिवः ।
अग्ने शुक्रास ईरते ॥ १।३ ॥ (ऋ० ८।४४।४)

उत्ते बृहन्त इति । विरूप आङ्गिरस ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । हे दीदिवः दीप्तिमन् अग्ने परमेश्वर, समिधानस्य समिध्यमानस्य सन्दीप्यमानस्य ते तवार्चयः पूज्यभावाः, बृहन्तो महान्तिः शुक्रासस्तेजांसि च उद् ईरते प्रेरयन्ति प्रक्षिपन्ति वा दोषानुपासकानाम् । परमात्मनः समिन्धनं शुद्धबुद्ध्या उपासकैः समुपासनमेव ॥ १।३ ॥

१५४२. उप त्वा जुह्वो ३ मम घृताचीर्यन्तु हर्यत ।
अग्ने हव्या जुषस्व नः ॥ २।३ ॥ (ऋ० ८।४४।५)

उपत्वेति । ऋष्यादय पूर्ववत् । हे हर्यत परमशोभ, हर्य-गतिकान्त्योः, अतच् (उ० ३,१०३) । मम घृताचीघृतमञ्चन्ति तथाभूताः, घृतं दीप्तिः, दीप्तिमत्य इत्यर्थः, जुह्वो मनोवृत्तयः। हूयते दीयतेऽग्नौ निक्षिप्यते वानयेति जुहूर्मनोवृत्तिः । मनोवृत्त्यैवः परमेश्वराग्नौ जीवेन स्वपापानि निक्षिप्यन्ते मनोवृत्त्यैवोपासकः स्वं परमेश्वराङ्के ददाति, त्वा त्वामुपयन्तु प्राप्नुवन्तु, नोस्माकम् । हव्या हव्यानि समर्प्यमाणानि मनोवुद्धिशरीरादीनि जुषस्व सेवस्व स्वीकुरुष्वेत्यर्थः ॥ २।३ ॥

१५४३. मन्द्रं होतारमृत्विजं चित्रभानुं विभावसुम् ।
अग्निमीडे स उ श्रवत् ॥ ३।३ ॥

(ऋ० ८।४४।६)

मन्द्रमिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । मन्द्रं मादयितारं प्रसादयितारं, होतारं निखिलवस्तुप्रदातारम्, ऋत्विजमृतावृतौ काले काले प्रतिकालं प्रतिक्षणमित्यर्थं, इज्यत इति ऋत्विक् सर्वदा पूज्यमित्यर्थः, चित्रभानुं लोकोत्तरप्रकाशं विभावसुं विभा प्रभा एव वसु धनं यस्य तं प्रकाशस्वरूपमित्यर्थः । अग्निं परमात्मानमीडे स्तुवे, स उ श्रवत् शृणोतु स मम स्तुतिमिति । उरेवकारार्थः, शृणोत्वेव ॥ ३।३ ॥

१५४४. पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥ १।४ ॥

(ऋ० ८।६०।९)

पाहि न इति। भर्गः प्रागाथ ऋषिः, अग्निर्देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।४ ॥

१५४५. पाहि विश्वस्माद्रक्षसो अराव्णः प्र स्म वाजेषु नो ऽव।
त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं न क्षामहे वृधे ॥ २।४ ॥
(ऋ० ८।६०।१०)

पाहीति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः प्रगाथः (समा सतो बृहती)। हे अग्ने परमेश्वर, विश्वस्मात्सर्वस्माद्रक्षसो दुर्जनात्। दुर्व्यसनाद्वा, रक्षो रक्षितव्यमस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षत इति वे'ति यास्कः (नि० ४,१८) अराव्णोदातुनिर्दयादित्यर्थः दयालुर्हि दाता भवति, नोस्मान् पाहि त्रायस्व, वाजेषु कामक्रोधादिभिः सह जायमानेषु युद्धेषु च नः प्र अव रक्ष। स्मेति छन्दोजीवनार्थम्। हि यस्मात् कारणात्, देवतातयेस्माभिरनुष्ठीयमानस्य भक्ति ज्ञानयज्ञस्य सिद्धये, वृधे वृद्धये च, त्वाम् इत् त्वामेव नेदिष्ठमतिसमीपस्थमापिं बन्धुम्। आप्यते दुःख इति, नक्षामहे गच्छामः प्राप्नुम इत्यर्थः ॥ २।४ ॥

इति प्रथमः खण्डः

अथ द्वितीयः खण्डः

१५४६. इनो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुषुमाँ अदर्शि।
चिकिद्वि भाति भासा बृहतासिक्नीमेति रुशतीमपाजन् ॥ १।५ ॥ (ऋ० १०।३।१)

---

† पूर्वार्चिके ३८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

इन इति । त्रित आप्त्य ऋषिः, अग्निर्देवता, त्रिष्टुप् छन्दः । हे राजन् दीप्तिमन् , त्वमिनः ईश्वरोसि सर्वेषां स्वाम्यसि । परोक्ष-रीत्याह अरतिः सर्वत्र गन्ता सर्वव्यापको वा, ऋ गतौ, समिद्धो देदीप्यमानः, रौद्रः स्तोतृसम्बन्धी, रुद्र इति स्तोतृनाम (निघ० ३,१६,१२) । सुषुमान् सुष्ठु सूते निष्पादितः सुषुः परमेश्वरनिष्ठ उपासकः, तद्वान् परमेश्वरो दक्षाय कल्याणाय अदर्शि दृश्यते भक्तैः । चिकित् सर्वं जानन् स परमात्मा वृहता महता भासा प्रकाशेन वि भाति भासति । किं च स रुशतीं प्रकाशमानां दिनश्रियम् अपाजन् परित्यजन् । अज गतौ, असिक्नीं रात्रिमेति गच्छति । असिक्नी अशुक्ला असिता । सितमिति वर्णनाम । तत्प्रतिषेधोसितम्' इति यास्कः (नि० ९ २६) । रात्रिरप्यसिता भवति । असितशब्दस्य तकारस्य वर्णादनुदात्तात् ( ) इति नकारे प्राप्ते तं बाधित्वा तकारस्थाने 'छन्दसि क्नमेके' इति वार्ति-केण क्नमादेशो ङीप् च । एवमसिक्नीमपाजन् रुशतीमेति । पर-मेश्वरो दिवाप्यस्ति नक्तमप्यस्तीतिभावः । अनेन त्रिकालाबाधि-तत्वं तस्य प्रतिपादितम् ॥ १५ ॥

१५४७. कृष्णां यदेनीमभि वर्पसाभूज्जनयन्योषां बृहतः पितुर्जाम् ।
ऊर्ध्वं भानुं सूर्यस्य स्तभायन्दिवो वसुभिररतिर्वि
भाति ॥ २१५ ॥ (ऋ० १०।३।२)

कृष्णामिति । ऋष्यादय उक्ताः, वृहतो महतः पितुः सर्वो-त्पादकस्य स्वस्य जां जातामपत्यभूताम् । जा इत्यपत्यनाम (निघ० २,२,९) । योषां विद्याम् । यु मिश्रणामिश्रणयोः । अमिश्रं करोति पृथक् करोति सर्वपदार्थजातमज्ञानं च जीवात् । योषा यौतेरिति-यास्कः (नि० ३,१५) जननयन्प्रादुर्भावयन् सोग्निः परमात्मा यदा कृष्णामसितामेनीं यतीं सङ्गमानां वर्पसा रूपेण स्वरूपेण

ज्ञानेनेत्यर्थः। अभि अभूदभिभवति तदा अरतिः सर्वत्र गमनशीलो व्यापक इत्यर्थः। अग्निः परमेश्वरः, दिवो द्योतमानस्य स्वस्य वसुभिर्धनभूतैस्तेजोभिः सूर्यस्य सरणशीलस्याज्ञानस्य, सूर्यः सरतेर्वा, सुवतेर्वा, स्वीर्यतेर्वा इति यास्कः (नि० २,१२,१४)। भानुं तेजः। ऊर्ध्वम् उपरि पृथग्वा स्तभायन् स्तम्भयन् विभाति शोभते ॥ २।५ ॥

१५४८. भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति
पश्चात्। सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिः वर्णैरभि
राममस्थात् ॥ ३।१५ ॥ (ऋ० १०।३।३)

भद्र इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। भद्रो भन्दनशीलः कल्याणःकारी परमात्मा, भद्रया स्वशक्त्या सचमानः समवयन् आगात् प्रादुर्भवति। पश्चात् जारो जारयिता नाशयिता स्वस्याज्ञानस्य जीव उपासकः। स्वसारं स्वं जीवं सारयति नयति मोक्षलोकं तां विद्याम्। अभ्येति अभिगच्छति, तदा द्युभिः प्रकाशवद्भिः, रुशद्भिः श्वेतैः, वर्णैः सुप्रकेतैर्ज्ञानैः, केत इति प्रज्ञानाम (निघ० ३,९,१) सह तिष्ठन् विराजमानः। अग्निः परमात्मा, रामम् स्वरमयितारमुपासकं भक्तम्। अभि अस्थात् अभितिष्ठति अभ्येत्य तिष्ठति ॥ ३।१५ ॥

१५४९. कया ते अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम्।
वराय देव मन्यवे ॥ १।६ ॥ (ऋ० ८।८४।४)

कया त इति। उशना काव्य ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः। हे अङ्गिरः सर्वव्यापक, अगि गतौ, 'अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च' (उ० ४,२४१) इति सूत्रेण असि प्रत्ययः, धातोरिः। प्रत्ययस्य रुडागमः। अङ्गति सर्वत्र गच्छतीत्यङ्गिराः। दयानन्दाचार्यैस्तु अङ्गिरा (द० पा० उ० ९,९५) इति निपातितः, व्यापकः।

हे ऊर्जो नपात् बलस्याध्यात्मिकस्य पातादवरोधक, देव दिव्य गुणविशिष्ट अग्ने परमेश्वर, वराय श्रेष्ठाय वरणीयाय वा मन्यवे ज्ञानस्वरूपाय, मनु ज्ञाने, ते तव, उपस्तुतिं कया रीत्या करोम्यहमितिशेषः । नाहं तव स्तुतिकरणसमर्थो यतस्तवापारान् गुणान् ज्ञातुमहमसमर्थोस्मि ॥ १।६ ॥

१५५०. दाशेम कस्य मनसा यज्ञस्य सहसो यहो ।
कद्‌ वोच इदं नमः ॥ २।६ ॥ (ऋ० ८।८४।५)

दाशेमिति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सहसो बलस्य सामर्थ्यस्य च यहो प्रापक आह्वातश्च । यातेर्ह्वयतेश्च मृगय्वादित्वात् कुप्रत्ययः । निपातनाद् यह्वुरिति सिध्यति । हे परमेश्वर, यज्ञस्य यजनीयस्य कस्य सुखरूपस्य तव । चतुर्थ्यर्थे षष्ठी । यजनीयस्य सुखस्वरूपाय ते तुभ्यं मनसा दाशेम मनसा सहात्मानं मनश्च स्वं चापीत्यर्थः, प्रयच्छेम, इति कत् कदा, उ प्रश्नार्थे । इदं वोचे इदं पूर्वोक्तं वक्ष्यामि ? नमः नमस्कारं च कदा वोचे वक्ष्यामि ॥ २।६ ॥

१५५१. अधा त्वं हि नस्करो विश्वा अस्मभ्यं सुक्षितीः ।
वाजद्रविणसो गिरः ॥ ३।६ ॥ (ऋ० ८।८४।६)

अधा त्वमिति । ऋष्यादय उक्ताः, अधा अथ, हे परमेश्वर, त्वं हि त्वमेव, नोस्मभ्यम् । विश्वा विश्वानि करः कुरु । लेटि रूपम् । किम् किम ? अस्मभ्यं सुक्षितीः सुक्षितिं सुनिवासं परमधामेत्यर्थः । वाजद्रविणसो वाजानि पूज्यानि द्रविणानि । सत्यसदाचारादीनि, वाजयतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३,१४,३६) । गिरो नामानि वेत्ति ॥ ३।६ ॥

१५५२. अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे
॥ १।७ ॥ (ऋ० ८।६०।१)

अग्न इति । भर्गः प्रागाथ ऋषिः, अग्निर्देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । हे अग्ने परमेश्वर, अग्निभिस्तेजस्विभिरुपासकैः सह वयम् होतारमिष्टदातारं त्वा त्वां वृणीमहे स्वीकुर्महे । अत आ याहि आगच्छ । यजिष्ठं पूज्यतमं त्वाम् बर्हिर्बर्हिषि त्वद्भक्तिहेतुना महति मनसि । आसदे असादयितुम् । प्रयता नियता हविष्मती हविर्जलम् । हविरिति जलनाम (निघ० १;१२,६५) तच्च श्रद्धारूपं भक्तिरूपं वा । तद्वती मनोवृत्तिः । आ अनक्तु सर्वतः शोभयतु । परमेश्वरस्य शोभा सत्यादिभिर्भवति प्राकट्यमेतु वेति ॥ १।७ ॥

१५५३. अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥ २।७ ॥
(ऋ० ८।६०।२)

अच्छा हीति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः प्रगाथः (समा सतोबृहती) । हे सहसो बलस्य सूनो उत्पादक सुनोतीति सूनुः । पूञ् प्राणिगर्भविमोचने । अङ्गिरो व्यापक परमेश्वर, अच्छ आभिमुख्येन अध्वरे हिंसारहिते भक्तियज्ञे । स्रुचो मनोवृत्तयः स्रु गतौ । स्रवन्तीति स्रुचः, स्रुवश्चिक् (उ० २,६३) इति चिक् प्रत्ययः । त्वा त्वां प्रति गच्छन्ति हि, यज्ञेषु सत्कर्मसु पूर्व्यं सर्वस्मात्पूर्वं पूजनीयम् । ऊर्जो नपातमाध्यात्मिकबलस्य न पातयितारं रक्षकमितिभावः । घृतकेशं घृता दीप्ताः प्रसृता वा केशा रश्मयो यस्य तं प्रसृतरश्मिकम् । त्वामग्निं परमेश्वरमीमहे याचामहे ॥ २।७ ॥

१५५४ अच्छा नः शीरशोचिषं गिरो यन्तु दर्शतम्।
अच्छा यज्ञासो नमसा पुरूवसुं पुरुप्रशस्तमूतये ॥ १।८ ॥
(ऋ० ८।७१।१०)

अच्छा न इति। सुदीतिपुरुमीढावृषी तयोरन्यतरो वा, अग्निर्देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। शरशोचिषं व्यापकतेजस्कम्। अनुशयिनर्मिति वाशिनर्मिति वेति यास्कः (नि० ४,१४) शीताधो रकि प्रत्ययेश्नोतेर्वा रकिप्रत्यये शीभावे च कृतेः रूपसिद्धिः। दर्शतं दर्शनीयं त्वां नोस्माकं गिरः स्तुतिवाचः। अच्छ आभिमुख्येन यन्तु गच्छन्तु। यज्ञासोस्माकं भक्तियज्ञाश्च नमसा अस्मत्कृतनमस्कारेण सह पुरूवसुं पुरूणां वहूनां सर्वेषामितियावत्, वासयितारं निवासप्रदातारम्। पुरुप्रशस्तं पुरुभिर्बहुभिः प्रशस्तं प्रशस्यम्, त्वाम्, ऊतये रक्षानिमित्तम् अच्छ यन्तु ॥ १।८ ॥

१५५५. अग्निं सूनुं सहसो जातवेदसं दानाय वार्याणाम्। द्विता यो
भूदमृतो मर्त्येष्वा होता मन्द्रतमो विशि ॥ २।८ ॥
(ऋ० ८।७१।११)

अग्निमिति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः प्रागाथः (सामा सतो बृहती)। सहस आध्यात्मिकबलस्य सूनुमुत्पादकं जातवेदसं प्रत्येकपदार्थवेत्तारम् अग्निं प्रकाशस्वरूपं परमात्मानं वार्याणां वरणीयानामुपासकानामिष्टस्य दानाय—इष्टं ददातु स इति हेतोः—नो गिरो यन्त्विति पूर्वेणान्वयः। यः परमेश्वरो द्विता द्वैतं भूदभूत। कथं द्वैतमभूत् ? अमृतोमरणधर्मा सन्नपि स्वरूपेण स्थितः सन्नपि मर्त्येषु मनुष्येष्वपि अभूत्। 'मर्त्येष्वित्युपलक्षणम्। सर्वेषु चराचरेषु अभूदतिष्ठत् तिष्ठति च। केवलं स्वरूपं चिदचिद्विशिष्टं च रूपम्, इदमेव द्वैतम्। विशि चराचरात्मिकायां प्रजायाम्। मन्द्रतमः

प्रसन्नतम आ होता समन्तादिष्यमाणपदार्थानां वितरणकर्ता च अभूदित्यन्वयः ।। २।८ ।।

इति द्वितीयः खण्डः

अथ तृतीयः खण्ड

१५५६. अदाभ्यः पुरएता विशामग्निर्मानुषीणाम् ।
तूर्णी रथः सदा नवः ।। १।९ ।। (ऋ० ३।११।५)

अदाभ्य इति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । अग्निरयं परमेश्वरः, अदाभ्यः केनाप्यहिंस्यः, मानुषीणां विशां प्रजानां पुरएता पुरोगन्ता सन्मार्गप्रदर्शनायेतिभावः । तूर्णिः शीघ्रगतिको दयादानादावविलम्बकारीतिभावः । रथो रमणीयो स्वदेशं प्रति नेता वा । सदा नवः पुराणोप्यपुराणोऽस्ति ।। १।९ ।।

१५५७. अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वाँ अश्नोति मर्त्यः ।
क्षयं पावकशोचिषः ।। २।९ ।। (ऋ० ३।११।७)

अभि प्रयांसीति । ऋष्यादय उक्ताः, दाश्वाँ दाश्वान् दाता मनसो हृदयस्य चात्मनः परमेश्वराय । मर्त्यो मनुष्यः । वाहसा मनसा, वहति परमात्मानं प्रति, वह प्रापणे, मनसैव विजानीयादित्युपनिषत् । प्रयांसि तृप्तीः, प्रीञ् तर्पणे, असुन् । अभि अश्नोति अभ्यश्नुते प्राप्नोति, पावकशोचिषः पवित्रतेजस्कस्य परमेश्वरस्य क्षयं गृहं धाम चाभ्यश्नुते ।। २।९ ।।

१५५८. साह्वान्विश्वा अभियुजः क्रतुर्देवानाममृक्तः ।

अग्निस्तुविश्रवस्तमः ।। ३।९ ।। (ऋ० ३।११।६)

साह्वानिति । ऋष्यादय उक्ताः, अग्निः परमात्मा, ईदृगस्ति कीदृक् ? विश्वाः सर्वाः । अभियुजोभियोक्त्रीर्बाधा विघ्नांश्च । साह्वान् सोढा निवर्तयिता पराभविता वा । देवानां विदुषां क्रतुः कर्ता धारयिता पोषयिता वा । अमृक्तोमरणधर्मा । तुविश्रवस्तमः । तुवीति बहुनाम (निघ० ३,१,२) । श्रवः कीर्तिः । श्रु श्रवणे । श्रूयत इति । तुवि श्रवो यस्य स तुविश्रवो महायशाः । अतिशयेन तुविश्रवास्तुविश्रवस्तमः ॥ ३।९ ॥

१५५९. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः भद्रा उत प्रशस्तयः ॥ १।१० ॥ (ऋ० ८।१९।१९)

भद्र इति । सोभरिः काण्वः ऋषिः, अग्निर्देवता, काकुभः प्रगाथः (विषमा ककुप्) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१० ॥

१५६०. भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहिः‡ । अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभि-*ष्टये ॥ २।१० ॥ (ऋ० ८।१९।२०)

भद्रं मनः इति । ऋषिदेवते पूर्वोक्ते, छन्दः काकुभः प्रगाथः (सभा सतो बृहती) । हे अग्ने परमेश्वर, वृत्रतूर्ये पापनाशकर्मणि । वृत्रं शत्रुः पापं वा । तूरी गतीत्वरणहिंसयोरितिधातोस्तूर्यं इति । भद्रं समीचीनं मनः कृणुष्व निधेहीत्यर्थः । येन हेतुना समत्सु पापनाशकर्मसु । त्वं सासहिः अभिभविता शत्रूणां भविष्यसि । षह मर्षणे । अत्राभिभवः । किं च शर्धतामुत्सहमानानां रागद्वेषादि-महाशत्रूणां भूरि भूरीणि बहूनि स्थिरा स्थिराणि सत्त्वानीत्याशयः ।

† पूर्वार्चिके १११ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ सासह इत्यृक्पाठः ।

* अभिष्टिभिरित्यृक्पाठः ।

अव तनुहि, क्षणु, अभिष्टयेऽभीष्टये मनोर्थसिद्धये, ते त्वाम् । वनेम याचामहे ॥ २।१० ॥

१५६१. अग्ने वाजस्य गोतम ईशानः सहसो यहो ।

अस्मे देहि† जातवेदो महि श्रवः ॥ १।११ ॥

(ऋ० १।७९।४)

अग्ने वाजस्येति । गोतमो राहूगण ऋषिः, अग्निर्देवता, उष्णिक् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।११ ॥

१५६२. स इधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा ।

रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ २।११ ॥ (ऋ० १।७९।५)

स इधान इति । ऋष्यादय उक्ताः । सोग्निः इधान इन्धानो दीप्यमानः । वसुर्वासयिता सर्वेषां लोकानाम् । कविः क्रान्तदर्शी । गिरा वाचा प्रार्थनारूपया स्तुतिरूपया वा ईडेन्यः स्तुत्यः, अस्ति । एवंभूत हे पुर्वणीक अनीकं प्राणाः । अनिति यैः । अथा पुरवो वहवोन्यते प्राण्यन्ते येन सः । सर्वेषां जीवयितः अग्ने । अस्मभ्यमुपासकेभ्यो रेवत् । रयिर्यस्यास्तीति मतुपि, सम्प्रसारणम् । "संज्ञायामि"ति वत्वम् । सर्वेषां धनानामीशितृत्वं यथा प्रकाशितं स्यात्तथा दीदिहि प्रकाशस्व । दीदेतिर्दीदयत्तिर्वा नैरुक्तो धातुः (निघ० १,१६,४ । नि० १०,१९) ॥ २।११ ॥

१५६३. क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः ।

स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३।११ ॥

(ऋ० १।७९।६)

---

† धेहीत्यक्पाठः ।

‡ पूर्वाचिके ९९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

क्षप इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे राजन् राजमान अग्ने परमेश्वर, त्मना आत्मना। वस्तोरिति न पञ्चमी। एवमेव सर्वविभक्त्यर्थकं पदम्। यथा कुह स्विद्दोषा "कुह वस्तोरिति"। अत्र पञ्चम्यर्थको द्वितीयार्थको वा अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। वस्तोर्दिनादारभ्य। अथवा यावद्दिनम्। उत उषसः उषःपर्यन्तम्। उषस इति रात्र्युपलक्षणम्। रात्रिन्दिवमित्यर्थः। क्षपः विनाशय विघ्नान्। उतापि च स त्वं हे तिग्मजम्भ तीक्ष्णदन्त, रक्षसो दुर्जनान्प्रति दह प्रातिकूल्येन प्रज्वलय ॥ ३।११ ॥

इति द्वीतीयः खण्डः



अथ चतुर्थः खण्डः

१५६४. विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्। अग्निं वो
दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥ १।१२ ॥

(ऋ० ८।७४।१)

विशोविश इति। गोपवन आत्रेय ऋषिः, अग्निर्देवता। अनुष्टुम्मुखः प्रगाथः (अनुष्टुप् छन्दः)। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१२ ॥

१५६५. यं जनासो हविष्मन्तो मित्रं न सर्पिरासुतिम्।
प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः ॥ २।१२ ॥ (ऋ० ८।७४।२)

यं जनास इति। ऋषिदेवते उक्ते, गायत्री छन्दः। हविष्मन्तो दुरितापवारणप्रस्तुताः। हूयत इति हविः। दुरितमपि परमेश्वरे हूयते। हुते सति तस्य नाशो भवति। एवं च हवेरित्यस्य दुरित-

† पूर्वार्चिके ८७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

नाश इत्यर्थः, तद्वन्तः, जनासो जना लोकाः। मित्रं न मित्रमिव, सर्पिरासुतिमिव सर्पिर्गमनशीलं पापम्। पापमेव गच्छति। धर्मस्तु तिष्ठत्येव। असुतिं विनाशकम्। षूङ् प्राणिगर्भविमोचनयोः। पापनाशकमिव तं परमात्मानं प्रशस्तिभिः स्तुतिभिः प्रशंसन्ति स्तुवन्ति कीर्तयन्ति वा ॥ २।१२ ॥

१५६६. पन्यांसं जातवेदसं यो देवतात्युद्यता।
हव्यान्यैरयद्दिवि ॥ ३।१२ ॥ (ऋ० ८।७४।३)

पन्यांसमिति। ऋषिदेवते उक्ते, प्रगाथः गायत्री छन्दः। देवताति देवतातौ भक्तियज्ञे उद्यता उद्यताति उद्यतान्। दिवि दिव्यलोके मोक्षधामनि। हव्यानि हव्यान् होतव्यान् मोक्षधामनि प्रक्षेप्तव्यान् जीवान् ऐरयदीरयति प्रेरयति तमित्यध्याहार्यम्। पन्यांसं स्तोतव्यम्। वैदिकः प्रयोगः। जातवेदसं सर्वज्ञं परमेश्वरं स्तुम इति शेषः ॥ ३।१२ ॥

१५६७. समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे ध्रुवम्। विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं कविं सुम्नैरीमहे जातवेदसम् ॥ १।१३ ॥ (ऋ० ६।१५।७)

समिद्धमेति। प्रयोगो भार्गव ऋषिः, भारद्वाजो बार्हस्पत्यो वा। अग्निर्देवता, जगती छन्दः। अग्निं परमात्मानं गृणे स्तुवे। कीदृशं परमात्मानम्? समिधा समुत्तेजिकया गिरा स्तुत्या। समिद्धं समुत्तेजितम्। शुचिं पवित्रं दुरात्मनः प्रति शोककर्तारं वा। पावकं पावनकर्तारम्। अध्वरे हिंसाविरहिते भक्तियज्ञे पुरः पुरस्थितम् ध्रुवमविचलं नित्यमिति यावत्। विप्रं विशेषेण सर्वेषां ज्ञानस्य पूरयितारम्। होतारं सर्वेष्टप्रदातारम्। पुरुवारं पुरुभिर्बहुभिर्वरणीयम्। अद्रुहं कस्मा अपद्रुह्यन्तम्। कविं क्रान्तदर्शिनम्।

जातवेदसं जातानामुत्पन्नानामुत्पद्यमानानामुत्पत्स्यमानानां च वेत्तारम् । सुम्नैः सुखैर्हेतुभिस्तमीमहे च याचामहे च । सुखप्राप्ति याचामह इत्यर्थः । सुम्नमिति सुखनाम (निघ० ३,६,१६) 'रास्ना सास्नासुम्न....' इति भोजसूत्रेण ( ) निष्पन्नम् ।। १।१३ ।।

१५६८. त्वां दूतमग्ने अमृतं युगेयुगे हव्यवाहं दधिरे पायुमीड्यम् ।
देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा
निषेदिरे ।। २।१३ ।। (ऋ० ६।१५।८)

त्वां दूतेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे अग्ने परमेश्वर, देवासो देवा विद्वांसो मनुष्याः । मर्तासश्च साधारणाश्च मनुष्याः । अमृतममरणधर्माणम् । युगेयुगे कालेकाले हव्यवाहं हव्यानां जीवानां वोढारं स्वलोक इतिभावः । पायुं पालकम् । ईड्यं स्तोतव्यम् । दूतं दुर्जनोपतापकं वेगवन्तं वा भक्तार्तवचनैः शीघ्रं द्रवन्तं वा दुर्जनान् निवारयन्तं वा । दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वेति-यास्कः (नि० ५,१) । ईदृशं त्वां दधिरे धारयन्ति हृदयदेशे । किं च जागृविं जागरणशीलं जाग्रदाद्यवस्थात्रयरहितम् । भक्तानां रक्षणे जागरूकं वा । विभुं व्यापकं सर्वस्वरूपं वा । विश्पतिं विशां प्रजानां पातारं त्वां नमसा नमस्कारेण । नि षेदिरे नितरां गच्छन्ति । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु ।। २।१३ ।।

१५६९. विभूषन्नग्न उभयाँ अनु व्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे ।
यत्ते धीतिं सुमतिमावृणीमहेऽध स्मनस्त्रिवरूथः शिवो
भव ।। ३।१३ ।। (ऋ० ६।१५।९)

विभूषन्नेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, उभयान्देवान विदुषो मर्त्यान् साधारणांश्च मनुष्यात् । विभूयषन् विभूषयन्नात्मीयत्वेन तेषामाङ्गीकारेणेतिभावः । दूतो दुर्जनानामुपतापकः

सन् टुदु उपतापे। दीर्घत्वंछान्दसम्। देवानां भक्तमनुष्याणाम्। व्रता व्रतानि सत्कर्माणि। अनु अनुदृश्य। रजसी द्यावापृथिव्यौ समीयसे सम्यग् गच्छसि। नास्ति ते सर्वगस्य प्रतिवन्धः। अध अथ। यद्यस्य ते तव धीतिं ध्यानं कर्म वा। सुमतिं शोभनां बुद्धिं वा आवृणीमहे संभजामहे। त्रिवरूथस्त्रीणित्रयो लोकाः वरूथानि ग्रहा यस्य स त्वं नोस्मभ्यम् शिवः। कल्याणकर्ता भव ॥ ३।१३ ॥

१५७०. उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः।

वायोरनीके अस्थिरन् ॥ १।१४ ॥ (ऋ० ८।१०२।१३)

उप त्वेति। प्रयोगो भार्गव ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१४ ॥

१५७१. यस्य त्रिधात्ववृतं बर्हिस्तस्थावसन्दिनम्।

आपश्चिन्नि दधा पदम् ॥ २।१४ ॥ (ऋ० ८।१०२।१४)

यस्येति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। यस्य त्रिधातु त्रिधातोस्त्रयो धावतो यस्मिन् स त्रिधातुः। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः। यद्यपि धातुभ्योग्निशब्दो जायते नत्वग्न्यर्थस्तथापि शव्दार्थयोरभेदं स्वीकृत्योक्तिरियम्। अथवा त्रयाणां धातूनामर्थाः संगच्छन्ते यस्मिन् सः। ते च धातव इण् गतौ। अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु। णीञ् प्रापणे। सर्वं प्रपञ्चितं पूर्वं तेनेह नोच्यते। त्रिधात्वित्यविभक्तिकं पदम्। नेयं च तत् षठ्याम्। अथवा सामासिकं पदम्। त्रिधातुना अवृतमनङ्गीकृतः। बर्हिरात्मा जीवः। असन्दिनम्। दीङ् क्षये, नक् प्रत्ययः (उ० ३,२)। असंक्षीणः असंक्षीणपाप इत्यर्थः। प्रथमार्थे द्वितीया। यस्थौ तिष्ठति। परमात्मा न स्वीकारोति यं तस्य पापानि न नश्यन्तीतिभावः।

---

† पूर्वार्चिके १३ संख्यको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

चित् चेत् । आप आप्नोति परमात्मानमिति । पदं निदधौ परमेश्वरस्य धामनि पदं निदधाति ॥ २।१४ ॥

१५७२. पदं देवस्य मीढुषोऽनाधृष्टाभिरूतिभिः ।
भद्रा सूर्य इवोपदृक् ॥ ३।१४ ॥　　(ऋ० ८।१०२।१५)

पदं देवस्येति । ऋष्यादय उक्ताः, मीढुषः सेक्तुः कामानाम् । देवस्य दिव्यगुणविशिष्टस्य । अग्नेः परमात्मनः । पदं स्थानं परं पदमित्यर्थः । अनाधृष्टाभिः केनापि अतिरस्कृताभिरूतिभी रक्षाभिः सुरक्षितं विद्यतेतमामितिभावः । किं चास्य देवस्य उपदृगपि उपदृष्टिरपि भद्रा कल्याणकारी । केव ? सूर्यः सूर्यस्य । उपदृगिव । यथा सूर्यस्योपदृष्टिरूपदर्शनं प्रातःकालिकमितिभावः । अनेकान् रोगान्निवर्त्य कल्याणं जनानां दृक्छक्तिदेहारोग्यान्नसम्पत्तिप्रवर्धनद्वारा यथा भगवान् सूर्यो विदधाति तथैव परमेश्वरस्योपदृष्टिर्जनानां कल्याणाय भवति । ननु का नामोपदृष्टिः परमेश्वरस्य ? इदमत्र रहस्यम् । नहि परमात्मनो लौकिकानामिव काचिद्दृष्टिरस्ति । दृष्टिमन्तरेणापि स सर्वं याथार्थ्येन पश्यति । पश्यतिर्न केवलं चक्षुर्व्यापारे निरूढः, ज्ञानेपि । ज्ञानद्वारा स सर्वं विश्वं पश्यति । दृक्स्थानीयोपदृग् भवति । अथवाल्पार्थे उप इति । अल्पापि तस्य दृष्टिः श्रेयसे भवतीतिभावः ॥ ३।१४ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

इति सप्तमप्रपाठके द्वितीयोर्धः

इति पञ्चदशोऽध्यायः

अथ षोडशोऽध्यायः

अथ सप्तमप्रपाठके तृतीयोर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१५७३. अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥ १।१ ॥
(ऋ० ८।३।७)

अभि त्वेति । मेध्यातिथिः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥१।१॥

१५७४. अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ॥ २।१ ॥
(ऋ० ८।३।८)

अस्येदीति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती, सुतस्य भक्तैश्वर्यस्य, अस्य इत् अस्यैवोपासकस्यैव विष्णवि व्यापके मदे हर्षे सति । इन्द्रः परमेश्वरः वृष्ण्यं कामपूरणसमर्थं शवो बलं वावृधे वर्धयाञ्चकार वर्धयति च । अद्य अद्यापि, अस्य परमेश्वरस्य, तं महिमानं महत्त्वम् । आयवो मनुष्याः, पूर्वथा पूर्वस्मिन् काल इव अनुष्टुवन्ति अनुदिनं स्तुवन्ति ॥ २।१ ॥

१५७५. प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः ।
इन्द्राग्नी इष आ वृणे ॥ १।२ ॥ (ऋ० ३।१२।५)

† पूर्वार्चिके २५६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

प्र वामेति । विश्वामित्रो गाथिनः ऋषिः, इन्द्राग्नी देवते, गायत्री छन्दः । अत्रेन्द्रोग्निश्चेति न द्वे देवते । सनानार्थकौ द्वौ शब्दौ परमात्मानमेवाहतुः । हे इन्द्र परमैश्वर्य, हे स्वयंप्रकाश परमेश्वर, उक्थिनो भाषाणपटवः । नीथाविदो नीतिविदः । जरितारः स्तोतारोर्चयितारो । वा जरतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३,१४,७) । स्तुत्यर्थोप्येषः (निघ० ४,१,५२) । जरितेति स्तोतृनाम (निघ० ३,१६, २) । वाम् इन्द्राख्यमग्न्याख्यं च परमात्मानं प्र अर्चन्ति पूजयन्ति । इषे इष्टलाभायाहमपि वृणे त्वां स्वीकरोमि । अहं विश्वामित्रः ॥१।२॥

१५७६. इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम् ।
साकमेकेन कर्मणा ॥ २।२ ॥ (ऋ० ३।१२।६)

इन्द्राग्नी इति । ऋष्यादय उक्ताः, इन्द्राख्योग्न्याख्यश्च परमेश्वरः । एकेन कर्मणा मनःसङ्कल्परूपेण । दासपत्नीर्दासाः उपक्षपयितारः कामादयः पतयो यासां ताः । 'दासाच्छन्दसि' (प० ४,१,३५) इतिगणसूत्रेण नकारादेशः । नवतिं नवं तन्वन्तीति नवतयः । छान्दसमेकवचनम् । नवतीरित्यर्थः । पुरोन्तः करणवृत्तीः । साकं सहैव न क्रमेणेत्यर्थः । अधूनुतम् धुनोतीत्यर्थः ॥ २।२ ॥

१५७७. इन्द्राग्नी अपसस्पर्युप प्र यन्ति धीतयः ।
ऋतस्य पथ्या ३ अनु ॥ ३।२ ॥ (ऋ० ३।१२।७)

इन्द्राग्नी इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्र हे अग्ने हे परमेश्वर, ऋतस्य सत्यस्य तव । पथ्या पथो मार्गो ननु अनुसृत्य । कृतानि धीतयः कर्माणि । दधति फलानीति । अपसः परि कृतस्यक्रियमाणस्य करिष्यमाणस्य च कर्मणः सर्वतः । उप प्र यन्ति समीपेप्रयन्ति गच्छन्ति । अयं भावः । यत्किञ्चिदस्माभिः सुफलं लभ्यते तत्सर्वं सत्यस्वरूपेण परमात्मनोपदिष्टेन मार्गेण कृतानां कर्मणामेव माहात्म्यम् ॥ ३।२ ॥

१५७८. इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च ।

युवोरप्तूर्यं हितम् ॥ ४।२ ॥ (ऋ० ३।१२।८)

इन्द्राग्नी इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्राग्नी परमेश्वर, वां तव तविषाणि महान्ति । तविष इति महन्नाम (नि० ३,३,७) । प्रयांसि प्रदानानि तर्पणानि । प्रीञ् तर्पणे । असुन् । तर्पयन्तीति । दानानि तर्पयन्त्येव, तर्पणानि, तृप्तिकराणि वस्तून्यपि तर्पयन्ति । बलानि दानानि च सधस्थानि सहस्थानि त्वया सहैव स्थितानीत्यर्थः अविलम्बेनैव त्वं कर्मफलदातेतिभावः । युवोर्युवयोस्त्वयीत्यर्थः । अप्तूर्यमप्तार्यं भवसागरजलात्तार्यं तारणीयत्वं हितं निहितम् ॥४।२॥

१५७९. शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः । भगं न हि

त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥ १।३ ॥

(ऋ० ८।६१।५)

शग्ध्यू३षु इति । भर्गः प्रगाथ ऋषिः, इन्द्रोदेवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।३ ॥

१५८०. पौरो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः ।

न‡ कर्हिं दानं परि* मर्धिषत्त्वे यद्यद्यामि तदा भर

॥ २।३ ॥ (ऋ० ८।६१।६)

पौर इति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती । हे इन्द्र परमेश्वर, त्वम् अश्वस्य नास्ति नियतं श्वो यस्य तस्य जीवस्य जगतो वा पौरः पूरयिता न्योन्यापहर्तासि । गवां विद्यानां पुरुकृद्बहुकृदसि । हे देव त्वं हिरण्ययो हिरण्मयः प्रकाशमयश्चिन्मय इत्यर्थः । उत्स

† पूर्वार्चिके २५३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ नकीर्हीत्यृक्पाठः । * परिमर्धिषत्त्वे इत्यौंधग्रन्थपाठः ।

उत्सरणशील उत्सारणशीलो वा, उत्कृष्टगतिर्वासि, उत्पूर्वात्सर्तेः सदेर्वा उप्रत्ययः। न किः हि नूनं न कोपि दानं त्वया दत्तं परिमर्धिषत् विनाशयति, मृधु उन्दने, इह हिंसार्थः। त्वे त्वति यद् यद् यामि याचामि। यामीति याच्ञकर्मा (निघ० ३,१९,२)। तद् आ भर आहर॥ २।३॥

१५८१. त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये।
उद्वावृषस्व मघवन्गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये॥ १।४॥

(ऋ० ८।६१।७)

त्वं ह्येहीति। भर्गः प्रागाथ ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।४॥

१५८२. त्वं पुरू सहस्राणि शतानि च यूथा दानाय मंहसे।
आ पुरन्दरं चकृम विप्रवचस इन्द्रं गायन्तोऽवसे
॥ २।४॥ (ऋ० ८।६१।८)

त्वमिति। ऋषि देवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती, हे इन्द्र परमेश्वर त्वं पुरूणि बहूनि शतानि शतसंख्याकानि सहस्राणि सहस्रसंख्याकानि च यूथा यूथानि दानायास्मादृशांमंहसे प्रयच्छसि। मंहतिर्दानकर्मा (निघ० ३,२०,१०)। तं पुरन्दरं पुरां सर्वेषां शरीराणां योनीनां वा दारयितारमिन्द्रं परमेश्वरं त्वाम्। अवसे अस्माकं रक्षणाय, गायन्तः स्तुवन्तः। विप्रवचसो विविधानि प्रकृष्टानि वचांसि येषां ते वयमुपासकाः। आ आनन्दयितारं चकृम कुर्महे॥ २।४॥

† पूर्वार्चिके २४० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१५८३. यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये† ॥ १५ ॥
(ऋ० ८।१०३।६)

यो विश्वा इति । सोभरिः काण्व ऋषिः, अग्निर्देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १५ ॥

१५८४. अश्वं न गीर्भी रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः ।
उभे तोके तनये दस्म विश्पते पर्षि राधो मघोनाम्
॥ २१५ ॥ (ऋ० ८।१०३।७)

अश्वमिति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती । हे दस्म दुर्जनार्दन, दसु उपक्षये, मक् (उ० १,१४५) । हे विश्पते विशां प्रजानां रक्षक, सुदानवः शोभनदानाः । देवयवो देवो भवितुमिच्छवः, गीर्भिः स्तुतिवचनैः, रथ्यं रमणीयम् । अश्वं व्यापकं त्वां मर्मृज्यन्ते समर्चन्ति, त्वं तोकेपुत्रे तनये पौत्रे उभे उभयस्मिन् मघोनां ज्ञानिनां महतां वा, राधो धनम् । पर्षि प्रयच्छ, पृषु सेचने ॥ २१५ ॥

इति प्रथमः खण्डः

•

अथ द्वितीयः खण्डः

१५८५. इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय ।
त्वामवस्युरा चके ॥ १६ ॥ (ऋ० १।२५।१९)

---

† यन्त्यग्नये इत्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके ४४ संख्यको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

इममिति । शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः, वरुणो देवता, गायत्री छन्दः । हे वरुण वरणीय परमात्मन्, इमं मे मम हवमाह्वानं श्रुधि श्रृणु, अद्येदानीमेव मृडय सुखय च । अवस्युरात्मनो रक्षां कामयमानोहं त्वाम् आ चके समन्तात् कामये ॥ ११६ ॥

१५८६. कया त्वं न ऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन् ।
कया स्तोतृभ्य आ भर ॥ ११७ ॥ (ऋ० ८।९३।१९)

कयेति । सुकक्ष आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । हे वृषन् सर्वमनोरथपूरक इन्द्र परमेश्वर, कया सुखवत्या । ऊत्या रक्षया । त्वम् नोस्मान् अभि प्र मन्दसे अभितः प्रकर्षेण आनन्दयसि । किं च कया शिवस्वरूपया रक्षया स्तोतृभ्य उपासकेभ्य आ भर आहरेष्टं वस्तु ॥ ११७ ॥

१५८७. इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥ ११८ ॥
(ऋ० ८।३।५)

इन्द्रमिति । मेध्यातिथिः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ ११८ ॥

१५८८ इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्र सूर्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास‡
इन्दवः ॥ २१८ ॥ (ऋ० ६८।३)

इन्द्र इति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती, इन्द्रः परमेश्वरः । मह्ना महत्त्वेन माहात्म्येनात्मनः । रोदसी द्यावा-

† पूर्वार्चिके २४९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ सुवानास इत्यृक्पाठः ।

पृथिव्यौ। पप्रथत् अप्रथयत्। स इन्द्र एव शवः शवसा आत्मनः एव सूर्यमरोचयत्प्राकाशयत्। इन्द्रे ह परमात्मन्येव विश्वा विश्वानि भुवनानि येमिरे उपरमन्ति प्रलयकाले, स्वानासः सुवनासः ऐश्वर्यशीला इन्दवो दीप्तिमन्तो जीवा उपासका अपि इन्द्रं रमन्ते नियम्यन्ते वा ॥ २।८ ॥

१५८९. विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व त.वं† ३
स्वा हिते। मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं
मघवा सूरिरस्तु ॥ १९ ॥ (ऋ० १०।८१।६)

विश्वेति। विश्वकर्मा भौवन ऋषिः, विश्वकर्मा देवता, त्रिष्टुप् छन्दः। हे विश्वकर्मन् निखिल जगन्निर्माणसमर्थ परमेश्वर, हविषा अस्मत्कृतभक्तिरूपेण, वावृधानो वर्धमानस्त्वं स्वयमात्मना ते तव स्वा स्वां तन्वं तनुं यजस्व पूजय हि। सर्वमेव जगत् तस्य परमात्मनस्तनुभूतम्। अतः स्वतनो रक्षा परमात्मनैव कर्त्तव्येति। अन्ये परमेश्वरोपासनाविरहिणो जनासो जनाः। अभितः सर्वतो मुह्यन्तु मोहं प्राप्नुवन्तु, वयं तूपासका अतोस्माकं तु इह मघवा महान् परमात्मा। सूरिः सरणशीलोस्तु भवतु, स इहागच्छत्विति भावः ॥ १९ ॥

१५९०. अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति संयुग्वभिः
सूरो न संयुग्वभिः‡ धारा पृष्ठस्य* रोचते पुनानो अरुषो
हरिः। विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः§ सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः
॥१।१०॥ (ऋ० ९।१११।१)

† पृथिवीमुत द्याम् इत्यृक्पाठः। ‡ स्वयुग्वभिरित्यृक्पाठः।
* सुतस्येत्यृक्पाठः। § परियात्यृक्वभिरित्यृक्पाठः।

अया रुचेति। अनानतः पारुच्छेपिर्ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, अत्यष्टिश्छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१० ॥

१५९१. प्राचीमनु प्रदिशं याति चेकितत्सं रश्मिभिर्यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथः। अग्मन्नुक्थानि पौंस्येन्द्रं जैत्राय हर्षयन्। वज्रश्च यद्भवथो अनपच्युता समत्स्वनपच्युता ॥ २।१० ॥ (ऋ० ९।१११।३)

प्राचीमेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। चेकितत्संजानानः। किती संज्ञाने परमात्मनः स्वस्य च रूपं नित्यमनित्यं वा जानान इत्यर्थः। उपाशकः, प्राचीं पूर्वां प्रदिशमनुयाति। पूर्वां दिशं गच्छतीत्यस्य पूर्वदिग्गमने नास्ति तात्पर्यम्। किन्तु उत्कृष्टां दिशं स्थितिमनुयाति। परमेश्वरमनुगच्छतीतिभावः। ततः परं दर्शतो दर्शनीयः, रथो रमणीयः, रमु क्रीडायाम्। दैव्यो रथ इव वा, स सोमः परमात्मा रश्मिभिः प्रकाशैर्ज्ञानैरित्यर्थः। सं यतते सम्यक यत्नं कुरुते तमुपासकमधिकाधिकामुन्नतपदवीं प्रापयितुम्। पुनर्दर्शतो रथस्तस्य परमेश्वरस्यातीवरामणीयकं द्योतयितुम्। पौंस्यानि समर्थानि, उक्थानि स्तोत्राणि कृतान्युपासकैरिन्द्रं परमात्मानमग्मन् गच्छन्ति। कीदृशानि स्तोत्राणि ? जैत्राय जयाय हेतवे जयार्थानीतिभावः। जना उपासका भवन्ति परमेश्वरस्येत्येव तस्य जयः। तस्मादित्यर्थः। तानि स्तोत्राणि तं हर्षयन् हर्षयन्ति, यद् यस्मात् वज्रो व्रजतीति गमनशील इत्यर्थः। परमात्मा, चकारात्स उपासकः, तौ समत्सु सांसारिकयुद्धेषु अनपच्युता अनपच्युतावपराजितौ भवथो भवतः। पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः । पुनरनपच्युतेति दार्ढ्यं द्योतयितुम् ॥ २।१० ॥

† पूर्वार्चिके ४६३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१५९२. त्वं ह त्यत्पणीनां विदो वसु सं मातृभिर्मर्जयसि स्व आ दम ऋतस्य धीतिभिर्दमे। परावतो न साम तद्यत्रा रणन्ति धीतयः। त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥ ३।१० ॥ (ऋ० ९।१११।२)

त्वं हेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे सोम उपासक, त्व ह पणीनां भक्तानाम्। पण व्यवहारे स्तुतौ च, स्तुतिकर्तॄणामर्चयितॄणां वा, पणतिरर्चार्थः (निघ० ३,१४,३२)। त्यत्प्रसिद्धं वसु धनं परमेश्वरप्रसादरूपम्। विदो लभसे। ऋतस्य सत्यं सत्यस्वरूपं परमेश्वरम्। द्वितीयार्थे षष्ठी छान्दसी, स्वे स्वकीये दमे गृहेन्तःकरणरूपे मातृभिर्याञ्चारूपैः। मायतिर्याच्ञार्थो नैरुक्तो धातुः। धीतिभिः कर्मभिः। मर्जयसि पूजयसि, द्वितीयं दमेइतिपदं पूर्वंदमपदस्य विशेषणम्। दान्ते दमे अन्तःकरणे इत्यर्थः। कथंभूते दमे ? यत्र यस्मिन् परावतो दूरप्रदेशात् इव धीतयो ध्यातारस्तत्साम तं शान्तं परमेश्वरम्। रणन्ति शब्दयन्ति आह्वयन्ति, तेन रोचमानो दीप्यमानः परमात्मा, अरुषीभी रोषरहिताभिस्त्रिधातुभि स्त्रयाणां लोकानां धातुभिर्धारयित्रीभिः शक्तिभिः। वयः कान्ति तेज इत्यर्थः। वी गतिप्रजननकान्त्यशनखादनेषु, दधे धारयत्युपासके, पुनर्वयो दधे इत्यत्र वयः शब्दो गत्यर्थः, तस्य गतिं धारयति आश्रयं ददाति मोक्षं वा ददातीत्याद्यर्थः ॥ ३।१० ॥

इति द्वितीयः खण्डः

अथ तृतीयः खण्डः

१५९३. उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत ।
नृवत्कृणुह्यूतये ॥ ११ ॥ (ऋ० ६।५३।१०)

उत न इति । भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः, पूषा देवता, गायत्री छन्दः । हे पूषन् सर्वेषां पोषक परमात्मन्, ऊतये रक्षणार्थम् । नोऽस्माकम् । धियं बुद्धिमीदृशीम् । कृणुहि कुरु, कीदृशीम् ? गोषणिं गवां वाचां विद्यानामित्यर्थः, सनित्रीं दात्रीम् । षणु दाने, अश्वसामश्नुवतां वृद्धिं गच्छतामश्नतां बुभुक्षूणां वा जनानां सनित्रीं दात्रीम् । वृद्धिं प्राप्नुवतां लोकानां वर्द्धनसामग्रीदात्रीं भुञ्जानानां लोकानां भोजनदात्रीम् । वाजसाम् उत निर्बलानां च बलदात्रीम् । किंवत् नृवत् । यथा नीतिमतां सज्जनानां तादृशीं बुद्धिं करोषि तद्वत् ॥ ११ ॥

१५९४. शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः ।
विदा कामस्य वेनतः ॥ १२ ॥ (ऋ० १।८६।८)

शशमानस्येति । गोतमो राहूगण ऋषिः, मरुतो देवता, गायत्री छन्दः । हे नरः सन्मार्गं नेतारो जनान्, सत्यशवसः सत्यमेव शवो बलं येषामीदृशो हे मरुत ऋत्विजो भक्तियज्ञसंचालकाः, मरुदिति ऋत्विङ् नाम (निघ० ३,१९,६) । शशमानस्य पीड्यमानस्य । शम्नातिर्वधकर्मा (निघ० २,१९,२६) । स्वेदस्य मुक्तस्य त्यक्तस्य सहायकैः । ञिष्विदा स्नेहनमोचनयोः । वेनतः कामयमानस्य यत्किञ्चिदपूर्वम् । वेनतिः कान्तिकर्मा (निघ० २,६,४) । ममोपासकस्य, कामस्य कामम् । द्वितीयार्थे षष्ठी, विदो लम्भय । विद्लृ लाभे ॥ १२ ॥

१५९५. उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये।
सुमृडीका भवन्तु नः ॥ १३ ॥ (ऋ० ६।५२।९)

उप न इति। ऋजिश्वा भारद्वाज ऋषिः, विश्वे देवताः, गायत्री छन्दः। हे अमृतस्यामरणधर्मणो नित्यस्य परमेश्वरस्य सूनवः पुत्राः सन्ति, परमेश्वरप्रियाः सन्तीतिभावः। ते नोस्मांकं गिरो वचांसि उपशृण्वन्तु आकर्णयन्तु, नोस्माकं ते सुमृडीकाः सुसुखकरा भवन्तु ॥ १३ ॥

१५९६. प्र वां महि द्यवी अभ्युपस्तुतिं भरामहे।
शुचो उप प्रशस्तये ॥ १।१४ ॥ (ऋ० ४।५६।५)

प्र वामिति। वामदेवो गौतम ऋषिः, द्यावापृथिवी देवता, गायत्री छन्दः। हे द्यवी द्योतमाने द्यावापृथिव्यौ, वां युवयोरुपस्तुतिं महि महतीम् अभि प्र भरामहे अभितः प्रकर्षेण कुर्मः। शुचि शुद्धे युवां प्रशस्तये प्रशस्तिप्राप्तये श्रेयस उप गच्छामः। उपोपसर्गबलाद् योग्यक्रियाध्याहारः। अत्र द्यवी इति विशेषणबलात् न द्योवापृथिव्योः स्तुतिरिष्टा न वा तत्समीपे प्रशस्तिप्राप्तये गमनमिष्टम्। किन्तु द्यावापृथिव्योरधिष्ठातुः परमात्नो विदुषां वा तदन्तर्वासिनां स्तुतिरत्र एष्टव्या। न हि द्यावापृथिव्योः समीपे गमनं शक्यम्? पृथिव्यां नु निवास एवास्माकं कथं तर्हि तत्समीपगमनं कर्तव्यम्? द्यौस्तु नास्माभिर्गन्तव्या। अतस्तधिष्ठातुरेवात्रस्तुतिस्तत्समीपगमनं वा वेद्यम्। विदुषामपि स्तुतिः समोपगमनं च नायुक्तम् ॥ २।१४ ॥

१५९७. पुनाने तन्वा मिथः स्वेन दक्षेण राजथः।
ऊह्याथे सनादृतम् ॥ २।१४ ॥ (ऋ० ४।५६।६)

पुनाने इति। ऋष्यादय उक्ताः। तन्वा शरीरेण स्वकीयेन स्वेन

स्वीकीयया दक्षेक्ष शक्त्या मिथः परस्पर पुनानै धारयन्त्यावित्यर्थः द्यावापृथिव्यौ राजथः शोभेथे, वर्तेथे वा, सनात् सर्वदा ऋतं सत्यम् उद्द्याथे वहेथे, दिविष्ठः सूर्यः स्वाकर्षणशक्त्या पृथिवीं धारयति पृथिवी च स्वाकर्षणशक्त्या सूर्यं धारयतीत्युक्तम् । एतां सनातनरीतिं तौ सदा धारयतः अत्र द्यौः सूर्य एव नान्तरिक्षम् ॥ २।१४ ॥

१५९८. मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम् ।
परि यज्ञं नि षेदथुः ॥ ३।१४ ॥ (ऋ० ४।५६।७)

मही मित्रस्येति । ऋष्यादय उक्ताः, हे मही महत्यौ द्यावापृथिव्यौ, ऋतं सत्यं परमात्मानम् तरन्ती अवगाहमाने पिप्रती लोकान पालयन्त्यौ मित्रस्य परमस्निग्धस्य परमेश्वरस्य यज्ञं संगतिकरणरूपं महत् पुण्यं कार्यम् । साधथो युवां साधयथः यज्ञं परि संगतिकरणरूपकार्यं परितो नि षेदथुः निषीदथस्तस्मिन्ननारतं निरते स्थ इति भावः । आभ्यां मन्त्राभ्यां परस्यैश्वर्यं द्योत्यते ॥ ३।१४ ॥

१५९९. अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ १।१५ ॥ (ऋ० १।३०।४)

अयमु इति । शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्द । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१५ ॥

१६००. स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते ।
विभूतिरस्तु सूनृता ॥ २।१५ ॥ (ऋ० १।३०।५)

† पूर्वार्चिके १८३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

स्तोत्रमिति। ऋष्यादय उक्ताः, हे राधानां सिद्धीनां पते, गिर्वाहो गार्भिरुह्यमान स्तूययान वीर विकाराणां कम्पक इन्द्र परमेश्वर, यस्य ते तव स्तोत्रं स्तुतिः सर्वत्र प्रवर्तते तस्य तव विभूतिरैश्वर्यं सूनृता सूनृतं सत्यं प्रियं चास्तु वर्तताम् ॥ २।१५ ॥

१६०१. ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो।
समन्येषु ब्रवावहै ॥ ३।१५ ॥ (ऋ० १।३०।६)

ऊर्ध्व इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे शतक्रतो अनन्तकर्मन् परमेश्वर, अस्मिन्वाजे संग्रामे कामक्रोधादिमहारिभिः सह जायमाने। नोस्माकमूतये रक्षायै, ऊर्ध्वः सन्नद्धस्तिष्ठ वर्तस्व, अन्येष्वपि जनेषु सं ब्रवावहै कथयामो यूयमपि सर्वे संनद्धाः स्थ महद्भिश्च योधैः सह युष्मामियोद्धव्यमस्तीति ॥ ३।१५ ॥

१६०२. गाव उप† वदावटे मही यज्ञस्य रप्सुदा।
उभा कर्णा हिरण्यया ॥ १।१६ ॥ (ऋ० ८।७२।१२)

गाव इति। हर्यतः प्रगाथ ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।१६ ॥

१६०३. अभ्यारमिदद्रयो निषिक्तं पुष्करे मधु।
अवटस्य* विसर्जने ॥ २।१६ ॥ (ऋ० ८।७२।११)

अभ्यारभीति। ऋष्यादय उक्ताः, अद्रयो न दीर्यन्ते ते भक्तजीवाः। पुष्करे पोषणकरे परमेश्वरं, निषिक्तं नितरां सिक्तं स्वभावतः स्थितम्। मधु मधुरमानन्दमिति यावत्। अवटस्य

† उपावतावतमित्यृक्पाठः।
‡ पूर्वार्चिके ११७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
* अवतस्येत्यृक्पाठः।

कूपस्य संसाररूपस्य विसर्जने त्यागे त्यागकाले त्यागानन्तरं वा, अभ्यारम् इति अभिगत्यैव कृतार्था भवन्तीति शेषः ॥ २।१६ ॥

१६०४. सिञ्चन्ति नमसावटमुच्चाचक्रं परिज्मानम्।
नीचीनबारमक्षितम् ॥ ३।१६ ॥ (ऋ० ८।७२।१०)

सिञ्चन्तीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । उपासकाः इन्द्रं परमात्मानं नमसा नमस्कारपरम्परया सिञ्चन्ति तोषयन्ति, कीदृशभिन्द्रम् ? अवटम् अवगत्य 'अटतीति अवटस्तम् । अवगच्छन् कस्योद्धारसमय इति, उद्धार्यसमीपे अटित, उच्चाचक्रम् उच्चं महती चक्रं क्रिया यस्य तं महापाराक्रममद्भुतकर्माणं वा, परिज्मानं परितः सर्वेषामुत्पादकम् । जनी प्रादुर्भावे, "श्वन्नुक्षन्०" (उ० १,१५५) इति सूत्रेण निपातितः । नीचीनबारं नीचीनबालम्, रलयोरैक्यम्, वालो बलवतीतियास्कः (नि० ९,१०) नीचीनेषु निकृष्टमार्गे प्रयातेषु जनेषु बलेन वर्तते इति नीचीनबालम् । निम्नगान् बलात्स उपर्यानयति, अक्षितमविनष्टम् ॥ ३।१६ ॥

इति तृतीयः खण्डः



अथ चतुर्थः खण्डः

१६०५. मा भेम मा श्रमिष्मोग्रस्य सख्ये तव।
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृतं पश्येम तुर्वशं यदुम् ॥ १।१७ ॥
(ऋ० ८।४।७)

मा भेमेति । देवातिथि काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । हे इन्द्र सर्वेश्वर्य, उग्रस्यासह्यप्रतापस्य तव सख्ये सखित्वे वर्तमाना वयं मा भेम मा भैष्म, मा श्रमिष्म

मा श्राम्याम, यतो वृष्णः सर्वमनोरथानां वर्षितुस्ते तव कृतं कर्म महन्महनीयम्। अभिचक्ष्यमभितः प्रख्यापनीयम्। तूर्वशः कामः, सोस्ति अस्येति तुर्वशः। पृषोदरादित्वाद् ह्रस्वत्वम्। यदुमुपरतं शान्तमुभयविधं मनुष्यं, पश्येम तुर्वश इति यदुरिति च मनुष्यनाम (निघ० २,३,१५;१८)। ये च कामिनो ये च विरक्तास्तव सख्ये पतितास्तेषां भयमपगतं पश्येम पश्याम इत्यर्थः॥ १।१७॥

१६०६. सव्यामनु स्फिग्यं वावसे वृषा न दानो अस्य रोषति।
मध्वा संपृक्ताः सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब
॥ २।१७॥ (ऋ० ८।४।८)

सव्यामिति। ऋषि देवते पूर्वोक्ते, छन्दः समा सतो बृहती। वृषा कामानां सेचकस्तर्पक इन्द्रः परमेश्वरः सव्यं स्तोतव्यमुपादयितव्यम्। रक्षितव्यमिति यावत्, स्फिग्यम्, स्फिट हिंसायाम्। निपातनाट्टस्य चः, हिंस्यमित्यर्थः। उभयमेव अनु वावसे अनुवस्ते आच्छादयति, सर्वं व्याप्य तिष्ठतीत्यर्थः। दानोवखण्डयिता सर्वेषां जनानामपि कश्चित्, अस्येमम्। द्वितीयार्थे षष्ठी, न रोषति न हिनस्ति, रुष हिंसायाम्। सारघेण सारप्रदेन, सारं जिघर्ति क्षरति इति सारघम्। बाहुलकाड्डः, मध्वा मधुना ज्ञानेन, मन्यत इति मधु, मनु ज्ञाने, संपृक्ताः संश्लिष्टा धेनवः वाचः स्तुतिरूपा उच्यत इति शेषः। द्रव कृपापरवशो भव, तूयमेहि शीघ्रमागच्छ, पिब शृणुतानुभवेतिभावः॥ १।१७॥

१६०७. इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैर-
नूषत॥ १।१८॥ (ऋ० ८।३।३)

इमा उ त्वेति। मेध्यातिथिः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता। प्रगाथ (विषमा बृहती) छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१८ ॥

१६०८. अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्र-
राज्ये ॥ २।१८ ॥ (ऋ० ८।३।४)

अयं सहस्रेति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती। अयमिन्द्रः परमात्मा, सहस्रं सहस्रैर्ऋषिभिर्ज्ञानिभिः सहस्कृतः सहसा बलेन सह कृतः प्रतिष्ठासमृद्धः सम्पादित इत्यर्थः। समुद्र इव पप्रथे सागर इव अगाधो बभूव, अस्य परमेश्वर स महिमा योवर्ध्यत महर्षिभिः स सत्य एव, अस्य शवस्तत्सहो बलं माहात्म्यमित्यर्थः। यज्ञेषु भक्तियज्ञेषु विप्रराज्ये विद्वत्समूहे गृणे स्तूयते मेधाविभिः ॥ २।१८ ॥

१६०९. यस्यायं विश्व आर्यो दास शेवधिपा अरिः।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सा अज्यते
रयिः ॥ १।१९ ॥ (ऋ० ८।५१।९)

यस्यायमिति। बालखिल्य ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। यस्य इन्द्रस्य परमेश्वरस्य अयं विश्वः सकल आर्यः श्रेष्ठवर्गोयं दासः शूद्रवर्गोयं शेवधिपाः शेवधिर्धनं तत्पातीति वैश्यवर्गः। अयम् अरिः अच्छंति शत्रुसम्मुखं गच्छंतीत्यरिः क्षत्रवर्गः। एते सर्वे यस्य परमेश्वरस्य शासने वर्तन्ते सः, तं तुभ्येत् तुभ्यति हिनस्ति य रुशमे रोचमाने गुणिनि पवित्रे वा अर्ये स्वामिनि। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा०) । तिरश्चित्

† पूर्वार्चिके २५० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

तिरः प्रातिकूल्यं चिनोतीति, प्रतिकूलवर्तीत्यर्थः। पवीरवि पवेर्वज्रस्य रवः शब्दः पवीरवः, सोऽस्ति यस्येति पवीरवी कर्कश भाषीत्यर्थः। छान्दसः प्रयोगः। किं च स इन्द्रो रयिर्दाता सन् अज्यते गम्यते सर्वैः॥ १।१९॥

१६१०. तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः।

अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे स्वानास इन्दवः

॥ २।१९॥ (ऋ० ८।५१।१०)

तुरण्यव इति। ऋषिदेवते उक्ते, समा सतो बृहती छन्दः। तुरण्यवः शीघ्रमश्नुवानाः परमात्मानम्। विप्रासो मेधाविनः। मधुमन्तं ज्ञानस्वरूपम्। घृतश्चुतं घृतं दीप्तिं श्चोतते क्षरतीति घृतश्चुत्तं प्रभाप्रदम्। अर्कमर्चनीयमिन्द्रं परमात्मानमानृचुरर्चन्ति। किमर्थं तेर्चन्ति? अस्मेस्मासु रयिर्धनं ज्ञानरूपं दानशक्तिर्वा पप्रथे प्रथताम्, वृष्ण्यं रक्षणसमर्थं शवो बलं प्रथताम्। स्वानासः सुवानाः सूयमाना उत्पाद्यमानाः इन्दवः ऐश्वर्यवन्तः सदाचारिण इत्यर्थः शिष्या अस्मेस्मासु भवन्त्विति॥ २।१९॥

१६११. गोमन्न इन्दो अश्ववत्सुतः सुदक्ष धनिव†।

शुचिं च‡ वर्णमधि गोषु धारय*॥ १।२०॥

(ऋ० ९।१०५।४)

गोमेति। पर्वतनारदावृषी, पवमानः सोमो देवता, उष्णिक छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः§॥ १।२०॥

१६१२. स नो हरीणां पत इन्दो देवप्सरस्तमः।

सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव॥ २।२०॥ (ऋ० ९।१०५।५)

---

† धन्वेत्यृक्पाठः। ‡ ते इत्यृक्पाठः।

* दीधरमित्यृक्पाठः। § पूर्वार्चिके ५७४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

स न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे हरीणां ह्रियमाणानां भवीयैर्वस्तुभिः जीवानां पते स्वामिन्, हे इन्दो परमैश्वर्य, देवप्सरस्तमः । प्सरं रूपम् । (निघ० ३,७,१२) । देवो दिव्यम् । दिव्यं रूपं यस्य स देवप्सरः । अतिशयेन देवप्सरो देवप्सरस्तमः । आतशयदिव्यरूपसम्पन्नः स त्वम् । नर्यः नृणां हितः सन् । सखा सख्ये इव यथा मित्रं मित्राय रुचे प्रीतये भवति तथास्माकं रुचे प्रीतये दीप्तये तेजसे वा भव ॥ २।२० ॥

१६१३. सनेमि त्वमस्मदा† अदेवं कं चिदत्रिणम् ।
साह्वाँ इन्दो परि बाधो अप द्वयुम् ॥ ३।२० ॥
(ऋ० ९।१०५।६)

सनेमीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे सोम शान्त परमेश्वर, त्वमस्मदस्मान् । सनेमि सनातनं पुरातनं वा, सनेमीति पुराणनाम (निघ० ३,२७,४) मित्रमसीतिशेषः । आ अतः, कञ्चित् अदेवं दुर्जनम् । अत्रिणं अद् भक्षणे, 'अदेस्त्रिनिश्च' (उ० ४,६८) इति त्रिप् । भक्षयितारं विनाशयितारम् । पापमितियावत् । अप अपगमय, साह्वान् सर्वाभिभवसमर्थस्त्वम् । बाधोस्माकं पीडयितॄन् परि परितो जहि, द्वयुं द्वाभ्यां सत्यानृताभ्यां युक्तं शठमपि अप अपगमय, परि, अपेत्युपसर्गदर्शनात् उचितक्रियाध्याहारः ॥३।२०॥

१६१४. अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते‡ ।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्ययावाः पशुमप्सु*
गृभ्णते ॥ १।२१ ॥ (ऋ० ९।८६।४३)

---

† त्वमस्मदाँ इत्यृक्पाठः ।

‡ मधुनेत्यृक्पाठः । * पशुमास्वित्यृक्पाठः ।

अञ्जत इति। अत्रिर्भौम ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, जगती छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।२१ ॥

१६१५. विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धारात्यन्धो अर्षति।
अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरद्वृषा
हरिः ॥ २।२१ ॥ (ऋ० ९।८६।४४)

विपश्चित इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे शिष्याः, विपश्चिते विविधज्ञानसम्पन्नाय पवमानाय सर्वान् पुनानाय परमेश्वराय गायत स्तुतिं कुरुत, स मही महती महत्या धारा धारया वाचावेदवाचा, तृतीयार्थे प्रथमा, अन्धस्तमोज्ञानम्। अर्षति गमयति दूरीकरोत्येव, न एवार्थे, अहिः न जुर्णम् यथा सर्पो जूर्णां जीर्णां त्वचम् अति सर्पति मुञ्चति तथैव सोपि जीर्णां त्वचम् अतिप्राचीनं पापावरणमज्ञानावरणम् अति सर्पति अत्यन्तं गमयति, स वृषा कामानां वर्षको हरिः पापहर्ता परमेश्वरः। अत्यो न अश्व इव क्रीडन् रममाणः। असरत् जीवान् अग्रे सारयति नयतीत्यर्थः। जीवानां कल्याणं विधातुं तस्य नास्ति श्रम इतिभावः ॥ २।२१ ॥

१६१६. अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नां भुवनेष्वर्पितः।
हरिर्घृतस्नुः सुदृशीको अर्णवो ज्योतीरथः पवते राय
ओक्यः ॥ ३।२१ ॥ (ऋ० ९।८६।४५)

अग्रेग इति। ऋष्यादय उक्ताः, स परमात्मा तविष्यते वर्धयिष्यते युष्मानुपासकान्। कीदृशः सः? अग्रेगः सर्वेषामग्रगन्ता सर्वश्रेष्ठ इत्यर्थः। राजा राजमानः। अप्यः आप्यः प्राप्यः। अह्नां

† पूर्वार्चिके ५६४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

प्रकाशकपदार्थानाम् । ओहाक् त्यागे, जहाति पृथक्करोत्यन्धकार-मिति । 'नञि जहातेः' (उ० १,१५८) इति सूत्रेण कनिन् प्रत्ययः । विमानो विशेषण निर्माता । भुवनेषु लोकेषु अर्पितः स्थितः । हरिः सर्वाघौघनिवर्तकः । घृतस्नुः दीप्तिदायकः । सुदृशीकः सुदर्शनः । अर्णवः समुद्र इव विस्तीर्णः । ज्योतीरथः प्रकाशमयो रथो यस्य सः ज्योतिस्वरूप इत्यर्थः । ओक्यो निवासाय हितः । निवासयोग्य-इत्यर्थः । राये धनाय ज्ञानाय दानाय वा पवते गच्छति निरन्तरम् । पवतिर्गत्यर्थः ॥ ३।२१ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

इति सप्तमप्रपाठकस्य तृतीयोर्धः, सप्तमः प्रपाठकश्च समाप्तः

इति षोडशोध्यायः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अथाष्टमप्रपाठके प्रथमोर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१६१७. विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः ।

चनो धाः सहसो यहो ॥ १।१ ॥ (ऋ० १।२६।१०)

विश्वेभिति । शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । हे यहो प्राप्यत आहूयत इति यहुः । सम्बुद्धौ यहो, हे प्राप्त हे आहूत अग्ने परमेश्वर, विश्वेभिः सर्वैरग्निभिरग्नितुल्य-प्रकाशयुक्तैरुपासकैः । इमं प्रस्तूयमानं यज्ञं भक्त्यनुष्ठानरूपं शुभं कर्म पश्य । इदं स्तुतिरूपं वचश्च शृणु । योग्यक्रियाध्याहारः । चना उ, चनेति दर्शननाम । दर्शनं सहसः सहो बलं च धा धेहि देहि । सहस इति द्वितीयार्थे षष्ठी ॥ १।१ ॥

१६१८. यच्चिद्धि शश्वता तना देवंदेवं यजामहे ।

त्वे इद्धूयते हविः ॥ २।१ ॥ (ऋ० १।२६।६)

यच्चिद्धीति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, यत् चित् यद्यपि शश्वता बहुना । शश्वदिति बहुनाम (निघ० ३,१,५) तना धनेन । तनेति धननाम (निघ० २,१०,१९) । देवंदेवं प्रतिवेदं प्रत्येकं विद्वांसं यजामहे पूजयामस्ताथापि हविर्हृदयं त्वे इत् त्वय्येव हूयते दीयते ॥ २।१ ॥

१६१९. प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः ।

प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥ ३।१ ॥ (ऋ० १।२६।७)

प्रिय इति। हे परमेश्वर, परोक्षवचनम्। विश्वपतिः विशां प्रजानां पतिः पालकः। होता सर्वदाता, मन्द्रो मादयिया, वरेण्यो वरणीयः परमात्मा। नोस्माकं प्रियः प्रीतिपात्रं भवतु। स्वग्नयः शोभना अग्नयो भक्ता येषु ते वयमपि प्रियास्तव स्यामेति।।३।१।।

१६२०. इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः।
अस्माकमस्तु केवलः।। १।२।। (ऋ० १।७।१०)

इन्दं व इति। मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः। हे शिष्याः वयमाचार्याः, विश्वतस्परि विश्वस्मात् जगतो दूरे स्थितम् इन्द्रं परमात्मानं वो युष्माकं कृते हवामहे आह्वयामः। स केवलः स एव, अस्माकमस्तु भवतु। अन्ये लौकिकाः स्वार्थपरायणाः। स्वार्थसिद्धयनन्तरं स्वार्थहानौ वा परित्यज्य नः पलायिष्यन्ते। परमात्मा तु न कञ्चित्स्वार्थं धत्ते। अतः स एवास्माकं भवत्वितिभावः।।१।२।।

१६२१. स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि।
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः।। २।२।। (ऋ० १।७।६)

स न इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे वृषन् सर्वमनोरथपूरक, हे सत्रादावन् सर्वेषामिष्टपदार्थानां सहैव प्रदातः परमेश्वर। स त्वं नोस्माकममुमिदम्। चरुमाचरणं भक्तिविधानम्। अप वृधि उपवर्धयः। यतस्त्वमस्माकं भक्तानामप्रतिष्कुतोप्रतिष्कृताप्रतिस्खलितो (निघ० ६,१६) वासि। न हि कदापि त्वं भवतान् पराङ्मुखान् निराशान् करोषीतिभावः।। २।२।।

१६२२. वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा।
ईशानो अप्रतिष्कुतः।। ३।२।। (ऋ० १।७।८)

वृषेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । वृषा सर्वेच्छापूरकोप्रतिष्कुतो-प्रत्याख्यानकुशल ईशानः सर्वेश्वरः । ओजसा तेजसा द्वारा कृष्टी-र्मनुष्यानियर्ति प्राप्नोति वंसगो यूथ इव । वंसगो वृषभ इति सायणः । यथा यूथानि गोयूथानि प्राप्नोति तथा । याचमानं न प्रत्याख्याति सोप्रतिष्कृत उच्यते । परमेश्वरोप्रतिष्कृत इति कृत्वा याचमानान् मनुष्यान् स्वयमुपैति तेषां मनोरथान् पूरयति चेति-तत्त्वम् ॥ ३।२ ॥

१६२३. त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः
॥ १।३ ॥ (ऋ० ६।४८।९)

त्वां नश्चित्र इति । शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः, अग्निर्देवता, प्रगाथः (वृषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।३ ॥

१६२४. पर्षि तोकं तनयं पर्तृभिष्ट्वमदब्धैरप्रयुत्वभिः ।
अग्ने हेडांसि दैव्या युयोधि नोऽदेवानि
ह्वारांसि च ॥ २।३ ॥ (ऋ० ६।४८।१०)

पर्षीति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती । हे अग्ने परमात्मन् । त्वम् अदब्धैरखण्डितैः । अप्रयुत्वभिमिश्रितैः संहतै-रित्यर्थः । यौतिर्मिश्रणार्थः । पर्तृभिः पालनकर्तृभिः साधनैः स्तोकं पुत्रं तनयं पौत्रादिकं च पर्षि पिपूर्हि पालय, किं च दैव्या देवेभ्य आगतानि आगतान् हेडांसि क्रोधान् अनादरान् वा, हेड इति क्रोध-नाम (निघ० २,१३,१) । डलयोरैक्यात्क्वचिद् हेल इत्यपि दृश्यते । नोस्मत् अस्मत्सकाशादित्यर्थः । युयोधि पृथक्कुरु । अदेवानि दुर्म-नुष्यसम्बन्धीनि ह्वरांसि कौटिल्यानि च पृथक्कुरु ॥ २।३ ॥

† पूर्वाचिके ४१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१६२५. किमित्ते विष्णो परिचक्षि† नाम‡ प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥ १४ ॥ (ऋ० ७।१००।६)

किमित्त इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, विष्णुर्देवता, त्रिष्टुप् छन्दः। हे विष्णो व्यापक परमेश्वर, किमित् किमर्थं ते तव नाम नामधेयमेवं परिचक्षि ब्रूषे यत् प्र ववक्षे यत्त्वं कथयसि शिपिविष्टः अस्मि इति। शिपयो रश्मयः। शिपिविष्टिरस्मीत्यस्य निर्वेष्टितोस्मीत्यर्थः। अप्रतिपन्नरश्मिरित्यर्थः। त्वमात्मनो नाम विष्णुरित्यनाख्याय शिपिविष्ट इति नाम प्रब्रूषे इति किम्? किमर्थमेतत्क्रियते? अस्मत् अस्मत्ता वर्पो रूपमेतत् मा गूह मा गोपय। यद् यस्मात् त्वमन्यरूपः रश्मिसम्पन्नः सन् समिथे संग्रामे समाजे वा बभूथ भवसि दृश्यसे वा। अयं मन्त्रो निरुक्ते यास्काचार्यैरपि व्याख्यातः। तत्र औपमन्यवस्यास्मिन्मन्त्रे काचिद्विप्रतिपत्तिः स्फोरिता। तथाहि—"शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः। कुत्सीतार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः। किं ते विष्णोऽप्रख्यातमेतद् भवत्यप्रख्यापनीयं यन्नः प्रब्रूषे शेप इव निर्वेष्टितोस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः। अपि वा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात् किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद्भवति प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः। शिपयोत्र रश्मय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवति। 'मावपों अस्मदप गूह एतत्'। वर्प इति रूपनाम। वृणोतीति सतः। यदन्यरूपः समिथे संग्रामे भवसि संयतरश्मिः।" शेपो गृहीत्वा हास्यं कृतम्। शेपः शिश्नम्। अत एव कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्युक्तम्। वस्तुतो नात्र शेपो गृह्यते। यद्गृह्यते तद्यास्कैरेवोक्तम्। अग-

† परिचक्ष्यमित्यृक्पाठः।

‡ भूत इत्यृक्पाठः।

मन्त्राकूतः। भक्तः परमात्मानं प्रार्थयमान आवेशवशादुच्यते प्रभो, किमर्थं त्वं कथयसि 'नाहं समर्थस्त्वामुद्धारयितुमिति।' भवतु नाम भवतो नाम शिपिविष्टिरिति अप्रतिपन्नरश्मिरिति। परन्तु मया तु सम्यग् ज्ञायते युद्धेषु त्वं प्रतिपन्नरश्मिर्भवसीति, कथं त्वदीयं स्वरूपमस्मत्तः प्रच्छादयसीतिकाकुः ॥ १।४ ॥

१६२६. प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट हव्यमर्यः† शंसामि वयु-
नानि विद्वान्। तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्ष-
यन्तमस्य रजसः पराके ॥ २।४ ॥ (ऋ० ७।१००।५)

प्र तत्त इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे शिपिविष्ट रश्मिभिरावेष्टित विष्णो, अर्य आर्यः श्रेष्ठोहं वयुनानि वेत्तव्यानि सर्वाणि ज्ञानानि विद्वान् जानानः। नाहमनार्यो येन त्वत्स्वरूपं न जाने। अत एव अद्येदानीम्। ते तुभ्यं तत् प्रसिद्धं हृदयरूपं हविस्त्वयि होतव्यं वस्तु प्रशंसामि प्रयच्छामीतिभावः। 'अर्थो नित्यः परीक्ष्येत न संस्कारमाद्रियेदिति ध्येयम्। अस्य रजसो रात्रेरन्धकारादज्ञानात्। रज इति रात्रिनाम (निघ० १।७।१२)। पराके दूरे। पराक इति दूरनाम (निघ० ३।२६।२)। क्षयन्तं निवसन्तम्। तवसं महान्तम्। तवस इति महन्नाम (निघ० ३।३।६)। तवति वृद्धयर्थः। असच् (उ० ३,११३) प्रत्ययः, तं प्रसिद्धं त्वा त्वाम्। अतव्यान् अतवीयानसमर्थः स्वं रक्षितुम्। गृभ्णामि गृह्णामि शरणं यामीत्यर्थः स्तौमीति वा ॥ २।४ ॥

१६२७. वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट
हव्यम्। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात
स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३।४ ॥ (ऋ० ७।१००।७)

---

† नामार्यं इत्यन्यपाठः।

वषट् त इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे विष्णो व्यापक परमेश्वर आस आस्येन ते तुभ्यं वषट् आ कृणोमि हृदयार्पणं करोमि । हे शिपिविष्ट रश्मिसमवेत, तन्मया दीयमानं हव्यं हृदयरूपम् । जुषस्व सेवस्वाङ्गीकुरुष्व । मे मम सुष्टुतयः शोभनाः स्तुतयः सन्ति यासु, ता गिरो वाचस्त्वा वर्धन्तु वर्धयन्तु प्रसादयन्तु । स्वस्तिभिः कल्याणैः कल्याणसाधनैर्वा । नोस्मान् सदा यूयं त्वं पात पाहि । वहुवचनं छान्दसम् ॥ ३१४ ॥

इति प्रथमः खण्डः



अथ द्वितीयः खण्डः

१६२८. वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रं दिविष्टिषु ।
आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ॥ ३१५ ॥
(ऋ० ४।४७।१)

वायविति । वामदेवो गोतम ऋषिः, वायुर्देवता, अनुष्टुप् छन्दः । हे वायो सर्वत्र गमनशील परमेश्वर, वा गतिगन्धनयोः । दिविष्टिषु दिव्य लौकैषणासु जातासु सतीषु । दिविशब्दोपपदात् इषेः करणे क्तिन् । द्यौर्गम्यते इष्यते वा याभिस्ताः । शुक्रः पवित्रोहं मध्वो मधु अग्रं श्रेष्ठं भक्तिरत्नं ते तुभ्यम् । अयामि आययामि प्रापयामि ददामीतिवार्थः । हे देव त्वं मम स्पार्हः स्पृहणीयोसि । अतो नियुत्वता नियौति नितरां मिश्रयति भक्तान् परमानन्देनेति नियुत् दया । सा अस्ति अस्येति नियुत्वान् । दयालुरित्यर्थः । अत्र केवलं दयापेक्षिता न मतुबर्थः । दययेत्यर्थः । दयां कृत्वा सोमपीतये भक्तिरसपानाय आ याहि आगच्छ ॥ ३१५ ॥

१६२९. इन्द्रश्च वायवेषां सोमानां पीतिमर्हथः । युवां हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक् ॥ २।५ ॥ (ऋ० ४।४७।२)

इन्द्रश्चेति । ऋषिच्छन्दसी उक्ते, देवते इन्द्रवायू । हे वायो परमेश्वर, सर्वत्रगमनशील इन्द्रः सर्वैश्वर्यसम्पन्नश्च त्वमेषां सोमनां भक्तिरसानां पीतिं पानमर्हथः अर्हसि । इन्दवः सर्वे हि ज्ञानध्यानाद्यैश्वर्यशालिनो जनाः । युवां हि त्वामेव यन्ति गच्छन्ति निम्नं निम्नप्रदेशम् । आपो न सध्र्यक् । यथा जलानि सध्र्यक् जध्र्यञ्चि सहभूतानि संगतानि सन्ति गच्छन्ति । अत्र अर्हथ इत्यत्र युवामित्यत्र च द्विवचनम् इन्द्रवायूशब्दावपेक्ष्य । न वस्तुतस्तौ द्वौ देवौ स्तः । मित्रावरुणयोरित्यत्र या रीतिरस्माभिः प्रदर्शिता तयैवार्थः संगमनीयः ।। २।५ ॥

१६३०. वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती ।
नियुत्वन्ता न ऊतय आ यातं सोमपीतये ।। ३।५ ।।
(ऋ० ४।४७।३)

वायवीति । ऋषिच्छन्दसी उक्ते, देवते इन्द्रवायू । हे वायो त्वमिन्द्रः परमैश्वर्यः सन् शुष्मिणौ शुष्मी बलवान् शवसस्पती बलानां स्वामी । नियुत्वन्ता नियुत्वान् दयालुर्नोऽस्माकं भक्ताना-मूतये रक्षायै सोमपीतये भक्तिरसपानाय च सरथं रथेन सहेति सरथं यथा स्यात् तथा, शीघ्रमितियावत् । आ यातं आयाहि । द्विवचनं पूर्ववत् ।। ३।५ ।।

१६३१. अध क्षपा परिष्कृतो वाजाँ अभि प्र गाहसे† ।
यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे ।। १।६ ।।
(ऋ० ९।९९।२)

† गाहते इत्युक्पाठः ।

अधेति। रेभसूनू काश्यपावृषी, पवमानः सोमो देवता, अनुष्टुप् छन्दः। स पवमानः सोमः पवित्र ईश्वरः। क्षपा क्षपायाः। अधे अनन्तरम् प्रातःकाल इत्यर्थः। परिष्कृतः पूजादिभिः संस्कृतः। वाजान् अभि भक्तानभिलक्ष्य। वजन्ति व्रजन्ति परमेश्वरमिति वाजाः। प्र गाहसे प्रगाहते प्रकर्षेण गच्छति। पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः। कदा ? यदि यदा विवस्वतो मनुष्यस्य। विवस्वानितिमनुष्यनाय (निघ० २।३।२४)। धियो बुद्धयः कर्माणि वा पवित्राणि। यातवे गमनाय। हरिं सर्वपापहर्तारं परमेश्वरं प्रति हिन्वन्ति प्रेरयन्ति तदा ॥ १।६ ॥

१६३२. तमस्य मर्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः।
यं गाव आसभिर्दधुः पुरा नूनं च सूरयः ॥ २।६ ॥
(ऋ० ९।९९।३)

तमस्येति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। अस्य पवमानस्य सर्वान् पुनानस्य सोमस्य शान्तस्य परमेश्वरस्य तमानन्दं मजयामसि मृज्मः शोधयामः। यो मदो रसः आनन्दो वा इन्द्रपातम इन्द्रस्य जीवस्य अतिशयेन पाता रक्षिता। गावो गमनशीला वोढारो वा सूरयो विद्वांसः स्तोतारो वा (निघ० ३।१६।८)। पुरा पूर्वस्मिन् काले च अधुनापि नूनमासभिरासनैः सुखासनैः सुखासीनेषूपविश्य दधुः पपुः पिबन्ति च परमेश्वरस्य आनन्दस्य शोधनं नाम स्वशुद्धिपूर्वकं तदनुभवः। यथा पवित्रमपि गङ्गाजलं पवित्रे पात्रे निक्षिप्तं पवित्रमित्युच्यते तथा ॥ २।६ ॥

१६३३. तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत।
उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः ॥ ३।६ ॥
(ऋ० ९।९९।४)

तं गाथयेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे उपासकाः पुनानं सर्वान् पवित्रयन्तं तं सोमं परमात्मानम् । पुराण्या प्राचीनया गाथया स्तुत्या वेदरूपया । अभ्यनूषत अभिष्टुवन्तु । नाम नमनं प्रणामं विभ्रतीर्बिभ्रत्यो देवानामुत विदुषामपि धीतयोऽङ्गुलयोञ्जलय इति यावत् कृपन्त कल्पन्ते समर्था भवन्ति । सर्व एव विद्वांसस्तस्मिन् प्रणामैरेव स्वां श्रेयः सम्पादयन्तीतिभावः ॥ ३।६ ॥

१६३४. अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः ।
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥ १।७ ॥ (ऋ० १।२७।१)

अश्वमिति । शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्र† ॥ १।७ ॥

१६३५. स घा नः सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः ।
मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात् ॥ २।१ ॥ (ऋ० १।२७।२)

स घेति । ऋष्यादय उक्ताः, नोस्माकं सूनुरुत्पादकः । सूते इति सूनुः । सूङ् प्राणिगर्भविमोचने । नुः प्रत्ययः (उ० ३,३५) । शवसा शक्त्या पृथुप्रगामा प्रकर्षेण बहुदूरगामी । स घ स परमेश्वर एव सुशेवः शोभनं सुखकरो भवत्त्वितिशेषः । किं च सोस्माकं मीढ्वान् सर्वकामानां वर्षको दाता बभूयात् भूयात् ॥ २।१ ॥

१६३६. सनो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः ।
पाहि सदमिद्विश्वायुः ॥ ३।७ ॥ (ऋ० १।२७।३)

स न इति । हे अग्ने परमेश्वर, त्वं विश्वायुः विश्वस्मिन् अयनशीलोसि, अय गतौ, स त्वम् अघायोः पापभिलाषिणो मर्त्या-

† पूर्वार्चिके १७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

न्मनुष्याद् दूरात् च, आसादासन्नाच्च नोस्मान् । सदम् इत् सदैव । नि पाहि नितरां रक्ष । मा दुर्जनानां सांनिध्यं दा इत्यर्थः ॥ ३।७ ॥

१६३७. त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि† त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥ १।८ ॥
(ऋ० ८।९९।५)

त्वमिन्द्रेति । नृमेध आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । हे इन्द्र परमेश्वर, त्वं प्रतूर्तिषु सर्वेष्वेव कामक्रोधादिमहारिभिर्जयमानेषु संग्रामेषु । तुर्वी हिंसार्थः । विश्वाः सर्वान् । स्पृधः प्रतिस्पर्धिनः अस्माभिः सह युद्धयमानान्वा । स्पृध इति संग्रामनाम (निघ० २,१७,१९) । स्पर्द्ध संघर्षे, क्विप्, पषोदरादित्वात्सकलेष्टसिद्धिः । अभि असि अभिभवसि पराजयसे । हे तूर्य विघ्नानां नाशक, त्वमशस्तिहा अनिष्टानां दुरितानां वा हन्तासि । जनिता सर्वासां शस्तीनामुत्पादयिता चासि । वृत्रतूः असि वृत्राणि पापानि तुर्वति हिनस्तीति वृत्रतूः सर्वपापविघातकोसीतिभावः । तरुष्यतो लोकान् विनाशयतस्त्वं निवारयसि । तरुष्यतिर्नैरुक्तो धातुः । व्याख्यातोपि* व्याख्यातः ॥ १।८ ॥

१६३८. अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि
॥ २।८ ॥ (ऋ० ८।९९।६)

अनु त इति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती । हे इन्द्र परमेश्वर, तुरयन्तं तुरयत् शत्रून् कामादीन हिंसात् ते तव

† विश्वतूरसीत्यृक्पाठः ।
* पूर्वार्चिके ३११ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

शुष्मं बलं शक्तिपुञ्जम्। क्षोणी द्यावापृथिव्यौ। क्षोणी इति द्यावापृथिवीनाम। अनु ईयतु अनुगच्छतः सर्वं एव लोकास्त्व-त्साहाय्यं विदधत इत्यर्थः। मातरा शिशुं न मातरा मातरौ पितरा-वित्यर्थः। शिशुं न यथा शिशुं स्तनन्धयं बालमनुगच्छन्ति साहा-य्याय तथा। यत् त्वं वृत्रं पापं तुर्वसि हिनस्सि तेन ते विश्वाः सकलाः स्पृधः स्पर्द्धिन्यः प्रजाः। मन्यवे तव मन्योः क्रोधात् श्नथयन्त श्रथयन्त शिथिला भवन्तीतिभावः॥ २१८॥

इति द्वितीयः खण्डः

●

अथ तृतीयः खण्डः

१६३९. यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि॥ ११९॥ (ऋ० ८।१४।५)

यज्ञ इति। गोषूक्तयश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ऋषी, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ ११९॥

१६४०. व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना।
इन्द्रो यदभिनद्वलम्‡ ॥ २१९॥ (ऋ० ८।१४।७)

व्य१न्तरिक्षेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। यद् यदा इन्द्रो जीवो वलं संवृतिमावरणमित्यर्थः। अज्ञानावरणमितिभावः। वल संव-रणे। अभिनद् भिनत्ति तदा सोमस्य शान्तस्वरूपस्य परमेश्वरस्य। रोचना कान्तिरिच्छा प्रकाशो वा। मदे, जीवोद्धारसमय उपस्थित

† पूर्वार्चिके १२१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ अभिनद्वलमियोविपुस्तकपाठः।

इति मदे हर्षे जाते। अन्तरिक्षम् अन्तर क्षाययति वासयति सर्वा-नित्यन्तरिक्षं परमेश्वरमेव, इकारोपजनः। अथवा सर्वेषामन्तर-मीक्षत इत्यन्तरिक्षम्। ईकारस्य ह्रस्वत्वं छान्दसम्। वि अतिरतद् विशेषेण प्लावयति वर्धयतीतिभावः। तॄ प्लवनसंतरणयोः। प्लवनं प्लुतिर्वृद्धिरित्यर्थः, अयं भावः। यदा जीवः परमेश्वरकरुणया स्वकीयेन पुरुषार्थेन च सर्वाण्येव बन्धनानि निराकरोति तदा पर-मात्मन आमोदो हृदि न माति॥ २।९॥

१६४१. उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः।
अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्॥ ३।९॥ (ऋ० ८।१४।८)

उद्गा इति। ऋष्यादय उक्ताः, यदा स उपासको वलमाव-रणम्। अर्वाञ्चमधोमुखं कृत्वा तिरस्कृत्येतिभावः। नुनुदे नुदति दूरं क्षिपति तदा गुहा गुहायामविद्यायाम्। गूहते संवृणोति स्वरूप-मिति गुहा, सतीर्वर्तमाना, गा विद्या ज्ञानमितिभावः। अङ्गिरोभ्यो ज्ञानिभ्य उपासकेभ्यः। औचित्यादुपासकाय। अगि गतौ, अङ्गेरसिः (उ० ४।२३६) इत्यसिः, रुडागमश्च, अङ्गन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति जानन्तीति वा अङ्गिरसः। आविष्कृण्वन् आवि र्भावयन् परमेश्वरः उद् आजत् उद्गच्छति परमहर्षसम्पन्नो भव-तीतिभावः। मायां तिरस्कृत्य यः परमेश्वरं शरणं गच्छति प्रसन्नः स तदा तस्मै ज्ञानप्रकाशं ददातीतिभावः॥ ३।९॥

१६४२. त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम्।
आ च्यावयस्यूतये॥ १।१०॥ (ऋ० ८।९२।७)

त्यमु व इति। श्रुतकक्षः सुकक्षो वा अङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः। हे उपासका, यो युष्माकम्। विश्वासु सर्वासु गीर्षु स्तोत्ररूपासु वाक्षु, आयतं विस्तृतं नियतं ग्रथितं वा सत्रासहम्। सत्रेति सत्यनाम (नि० ३।१०।३) सत्रा सत्यमेव

बहूनां दुर्जनानां सोढारमभिभवितारम्। त्यम् उ तमेवेन्द्रं परमैश्वर्यं परमेश्वरम्। ऊतयै रक्षायै आ च्यावयसि आच्यावयत प्रापयत। च्युङ् गतौ, वचनलकारयोर्व्यत्ययश्छान्दसः ॥ १।१० ॥

१६४३. युध्मं सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम्।
नरमवार्यक्रतुम् ॥ २।१० ॥ (ऋ० ८।९२।८)

युध्ममिति। हे उपासकाः, युध्मं सर्वदोषेषु सम्यक् प्रहारकर्तारम्। सन्तं त्रिकालाबाधितं सर्वदा विद्यमानमित्यर्थः। अनर्वाणं न केनापि प्रत्यृतं प्रतिगतम्। ऋ गतौ, सोमपां सोमानामीश्वरभक्त्यैश्वर्याणां महात्मनां पातारम्। अनपच्युतं न क्वचिदप्यपच्युतं पराहतम्। अवार्यक्रतुं न वारयितुं योग्यं क्रतुः कर्म यस्य स तम् अनपहतगतिकं कर्तव्यं कर्तुं सर्वथा समर्थम्। नरं नेतारं तमिन्द्रं परमेश्वरमेव यूयं रक्षायै प्रापयतेत्यादिपूर्ववत् ॥ २।१० ॥

१६४४. शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वाँ ऋचीषम।
अवा नः पार्ये धने ॥ ३।१० ॥ (ऋ० ८।९२।९)

शिक्षा ण इति। ऋषयादयः पूर्ववत्। हे इन्द्र परमेश्वर, विद्वान् सर्वं जानानः। ऋचीषमः ऋती स्तुतिः। तया समः। यथा स्तुतिभिः स्तूयते तथैव सः, ततोप्यधिको वा, न्यूनः। तत्सम्बुद्धौ, नोस्मभ्यम्। पुरु पुरूणि रायो धनानि ज्ञानरूपाणि, आ शिक्ष समन्ताद् देहि, नोस्माकं पार्ये पार्य्याणि पूरणीयानि रक्षणीयानि वा घने धनानि सत्यसदाचारादिरूपाणि। अव रक्ष ॥ ३।१० ॥

१६४५. तव त्यदिन्द्रियं बृहत्तव दक्षमुत† क्रतुम्।
वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ १।११ ॥ (ऋ० ८।१५।७)

† शुष्ममुतेत्यृक्पाठः।

तव त्यदीति। गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनावृषो, इन्द्रो देवता, उष्णिक् छन्दः। हे इन्द्र परमेश्वर, धिषणा बुद्धिः, अथवा वाक् स्तुतिरूपा, तव परमेश्वरस्य त्यत्तद् इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गं परमेश्वरत्वमित्यर्थः। तव वृहद् दक्षं बलमुत्साहं वा दीनानां रक्षाकर्मणि, उत अपि च क्रतुं महत्कर्म कर्मकरणसामर्थ्यं वा, वरेण्यं प्रशंसनीयं वज्रं दुष्टनिराकरणशक्तिम्। वज गतौ, निपातनाद् रप्रत्ययः (उ० २,२७)। शिशाति तीक्ष्णीकरोति, स्तुत्या तव सामर्थ्यं वर्धते इत्यर्थः। स्तुतिं श्रुत्वा दयालुत्वं सामर्थ्यं च दर्शयसीतिभावः ॥ १।११ ॥

१६४६. तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः।
त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २।११ ॥ (ऋ० ८।१५।८)

तवेति। ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्र परमेश्वर, तव पौंस्यं पुरुषार्थं द्यौर्द्युलोको वर्धते वर्धयति। पृथिवी पार्थिवलोकः श्रवो यशो वर्धयति, आपो जलानि गङ्गायमुनासरय्वादीनि, पर्वतासश्च पर्वताश्च हिमवदादयः। त्वां हिन्विरे प्रथयन्तीतिभावः। परमेश्वरस्य पौंस्यं द्यौरिवागाधं, कीर्तिः पृथिवीव विपुला, पावित्र्यं पवित्रकरणसामर्थ्यं वा गङ्गादिनदीभ्योधिकं, स्थैर्यं च पर्वतेभ्योप्यधिकमितिभावः ॥ २।११ ॥

१४४७. त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः।
त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥ ३।११ ॥ (ऋ० ८।१५।९)

त्वामिति। ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्र परमेश्वर, त्वां विष्णुरिति सर्वव्यापक इति, बृहन्निति, महानिति, क्षयः इति सर्वनिवासस्थानमिति, मित्र इति सर्वेषां सखेति, वरुण इति वरणीय इति गृणाति निखिलो वेदो विद्वद्वर्गश्च। किं च मारुतं मरुत्सम्बन्धि

शर्धो वलं त्वामनुमदति त्वया दीयमानेन बलेनैव मारुतोपि माद्यतीतिभावः । सर्वे देवास्तववशगा इत्यर्थः ॥ ३।११ ॥

इति तृतीयः खण्डः

●

अथ चतुर्थः खण्डः

१६४८. नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः ।
अमैरमित्रमर्दय ॥ १।१२ ॥ (ऋ० ८।१५।१०)

नमस्त इति । विरूप आङ्गिरस ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१२ ॥

१६४९. कुवित्सु नो गविष्टयेऽग्ने संवेषिषो रयिम् ।
उरुकृदुरु णस्कृधि ॥ २।१२ ॥ (ऋ० ८।७५।११)

कुवित्स्वति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने प्रकाशस्वरूप परमेश्वर, गविष्टये गौर्विद्या, तस्या इष्टिरेषणम् । विद्याप्राप्तय इत्यर्थः । नोस्माकं कुविद् वहु, कुविदिति वहुनाम (निघ० ३,१,१२) । सु रयिं सुधनं भक्तिरूपम् श्रद्धारूपं वा, भक्त्या श्रद्धया वा, विद्याप्राप्तिर्भवति, संवेषिषः संवेष्टितं कुरु, विष्लृ व्याप्तौ । अस्मभ्यं भक्ति श्रद्धां वा देहीत्यर्थः । किं च हे उरुकृत् महापराक्रमकारिन्, नोस्माकं ज्ञानं तद्विषयकं पराक्रमं वा, उरु महन्महान्तं कुरु ॥ २।१२ ॥

१६५०. मा नो अग्ने‡ महाधने परा वर्ग्भारभृद्यथा ।
संवर्गं सं रयिं जय ॥ ३।१२ ॥ (ऋ० ८।७५।१२)

---

† पूर्वार्चिके ११ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ नास्मिन्नस्त्यृक्पाठः ।

मा न इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर, यथा भारभृद् भारवाहकः । भारं वृणक्ति त्यजति तथा त्वम् महाधनेस्मिन्महासंग्रामे सांसारिकीभीर्वृत्तिभिः सह प्रवृत्ते नोस्मानुपासकानसहायान् । मा परा वर्क मा परा वृङ्क्था मा परिहासीः । संवर्गं कामक्रोधलोभादिभिः शत्रुभिर्मदीयं संवृक्तमाच्छिन्नमाछिद्यमानं वा रयिं शमदमादिरूपं सं जय सम्यक् जय, जयं कृत्वा देहीति भावः ॥ ३।१२ ॥

१६५१. समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥ १।१३ ॥ (ऋ० ८।६।४)

समस्येति । वत्सः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१३ ॥

१६५२. वि चिद्वृत्रस्य दोधतः‡ *शिरो बिभेद वृष्णिना ।
वज्रेण शतपर्वणा ॥ २।१३ ॥ (ऋ० ८।६।६)

वि चिद्वृत्रेति । ऋष्यादय उक्ताः, इन्द्रः परमात्मा, वृत्रस्यावरकस्य ज्ञानविवेकयोः । दोधतः कम्पयतो लोकान् । शिरः विशारणशक्ति, शॄ विशरणे, वृष्णिना सर्वेषामिच्छापूरकेण । शतपर्वणा असंख्यातपालनशक्त्या वज्रेण स्वगत्या स्वप्राप्त्या बिभेद भिनत्ति ॥ २।१३ ॥

१६५३. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ ३।१३ ॥ (ऋ० ८।६।५)

---

† पूर्वार्चिके १३७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ दोधतो वज्रेण शतपर्वणेत्यृक्पाठः ।

* शिरो बिभेद वृष्णिभेत्यृक्पाठः ।

ओज इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। अस्येन्द्रस्य परमात्मनस्तत्प्रशिद्धम् ओजो वलं तित्विषे त्वेषते दीप्यते येनौजसा इन्द्रः परमात्मा, उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ चर्मेव समवर्तयत् संवर्तयति, यथा कश्चिच्चम मृगादीनां संकोचयति प्रसारयति च स्वेच्छयोभे कर्मणो करोति तथैव परमेश्वरः स्वेच्छया सर्जनरूपं प्रसारणं विसर्जनरूपं संकोचनं च जगतः करोति ॥ ३।१३ ॥

१६५४. सुमन्मा वस्वी रन्ती सूनरी ॥ १।१४ ॥

(अयं मन्त्रः नर्ग्वेदे न यजुर्वेदे नाथर्वणि)।

सुमन्मेति। ऋषिदेवते न प्रतीयेंते, सुमन्मा मननं मत् ज्ञानम्। शोभनं मत्सुमत्। सुमदस्ति अस्येति सुमन्मा शोभनज्ञानः परमात्मज्ञानवान् वस्वी धनवान् शान्तः रन्ती रमणवान् आनन्दी, सूनरी शोभनाः सुशीला नराः सम्बन्धिनो यस्य तथा भवति ॥ १।१४ ॥

१६५५. सरूप वृषन्ना गहीमौ भद्रौ धुर्यावभि।
ताविमा उप सर्पतः ॥ २।१४ ॥

(अयं मन्त्रो न क्वापि त्रिषु वेदेषु)।

सरूपेति। ऋषिदेवते नोक्ते, छन्दो गायत्री, उह्यतेचेत् वृषा देवता। कश्चित्तत्त्वज्ञानी परमात्मानं प्रार्थयते कौचिद्द्वावुपासकावधिकृत्य। हे सरूप समानरूप, न हि ज्ञानिनो रूपं परमेश्वराद्भिन्नं भवतीति सरूपेत्युक्तम्। हे वृषन् सर्वमनोरथपूरक परमात्मन्, इमौ भद्रौ कल्याणौ धुर्यौ धुरि अग्रे यन्तारौ श्रेष्ठावित्यर्थः। अभि आ गहि आगच्छ, इमौ भक्तौ अभिलक्ष्यागच्छेत्यर्थः। यतस्तौ मया निर्दिष्टौ, इमौ उपस्थितावत्र। उप सर्पतस्त्वां प्रति गच्छत इत्यर्थ ॥ २।१४ ॥

१६५६ नीव शीर्षाणि मृढ्वं मध्य आपस्य तिष्ठति ।
शृङ्गेभिर्दशभिर्दिशन् ॥ ३।१४ ॥

(अयं मन्त्रो न क्वापि त्रिषु वेदेषु) ।

नीवेति । कश्चित्परमेश्वरं प्रार्थयते, अयमुपासकः, आपस्य परमेश्वरस्य तव, आप्यते प्राप्यत इत्यापः । मध्ये तिष्ठति, मध्य इति सप्तम्यर्थद्योतकः । परमेश्वरे तिष्ठतीतिभावः । अस्य शीर्षाणि सत्त्वरजस्तमोरूपाणि मृड्ढ्वं मृड्ढि शोधयेत्यर्थः । सर्वेषां भौतिकगुणानामभावं सम्पादयेत्यर्थः । नीव पालयेमम् । णीव सेचने सेवने वा, किं कुर्वन् ? दशभिर्दशसंख्याकैः शृङ्गेभिः शृङ्गैरिन्द्रियैः । शॄ हिंसायाम् । 'शृणातेर्ह्रस्वश्च' (उ० १,१२५) इति गन् । किच्च नुट् च, शृङ्गाणि हिनस्तीति सर्वसाक्षिकम् । इन्द्रियाण्यपि कुपथगामीनि सन्ति कल्याणं हिंसन्त्येव । संगमिति शेषः । दिशन्नतिसृजन् त्याजयन्नित्यर्थः ॥ ३।१४ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

इत्यष्टमप्रपाठके द्वितीयोर्धः

इति सप्तदशोध्यायः

अथाष्टादशोध्यायः

अथाष्टमप्रपाठके द्वितीयोऽर्धः

प्रथमः खण्डः

१६५७. पन्यंपन्यमित्स्तोतार आ धावत मद्याय ।
सोमं वीराय शूराय ॥ १।१ ॥ (ऋ० ८।२।२५)

पन्यंपन्यमिदिति । मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरस ऋषी, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१ ॥

१६५८. एह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम् ।
इन्द्रं‡ गीर्भिर्गिर्वणसम् ॥ २।१ ॥ (ऋ० ८।२।२७)

एह हरि इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । ब्रह्मयुजा ब्रह्मयुजौ परमेश्वरलीनौ, शग्मा सुखकरौ, शग्ममिति सुखनाम (निघ० ३,६,१२) शमुपपदे गमेः कः । उपधालोपः । पृषोदरादित्वाच्छमो मलोपः । शक्लृ शक्तौ, इत्यस्माद्वा बाहुलकान्मक् प्रत्ययः, ककारस्य गकारः, सशक्तौ, वा, हरी हरतः परमेश्वरं हृदय इति हरी उपासकौ गुरुशिष्यौ, इह उपासनामन्दिरे सखायं समानख्यातिं चेतनत्वेनात्मत्वेन नित्यत्वेन च, गिर्वणसं गीर्भिः स्तोत्रैः वननीयं संभजनीयमिन्द्रं परमेश्वरम् । गीर्भिः स्तोत्रवाग्भिः आ । वक्षत आ वहत आह्वयत इत्यर्थः ॥ २।१ ॥

---

† पूर्वार्चिके १२२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ गीर्भिः श्रुतं गिर्वणसमित्यृक्पाठः ।

१६५९. पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नारे अस्मत् ।
नि यमते शतमूतिः ॥ ३।१ ॥ (ऋ० ८।२।२६)

पातेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । सुतमैश्वर्योपेतं भक्तं पाता रक्षिता, वृत्रहा पापघ्नः । आ घ गमन् आगच्छतु एव मम समीप इति शेषः । अस्मत् अस्मत्तु आरे दूरे मा गच्छत्वित्यध्याहार्य्यम् । शतमूतिः बहुभिः प्रकारैरूती रक्षणं यत्कृतं सः बहुविधरक्षक इत्यर्थः, परमेश्वरो नि यमते नियमयति सर्वमिति भावः ॥ ३।१ ॥

१६६०. आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।
न त्वामिन्द्राति रिच्यते ॥ १।२ ॥ (ऋ० ८।९२।२२)

आत्वेति । श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।२ ॥

१६६१. विव्यक्थ महिना वृषन्भक्षं सोमस्य जागृवे ।
य इन्द्र जठरेषु ते ॥ २।२ ॥ (ऋ० ८।९२।२३)

विव्यक्थेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे वृषन् सर्वकामप्रद, जागृवे जगद्रक्षानिमित्तं जागरूक सावधान, इन्द्र परमेश्वर, त्वं सोमस्य शान्तोपासकस्य भक्षं भक्तिम् । भज सेवायाम् । बाहुलकात् सप्रत्ययः । महिना स्वमाहात्म्येन । विव्यक्थ व्याजीकरोषि । रक्षा तु कर्तव्यैव, भक्तिं व्याजीकृत्योपासकं रक्षसीतिभावः । यो भक्तस्ते तव जठरेषु प्रजासूत्पादितासु । जायन्ते इति जठराः । 'जनेरर ठः' (उ० ५,३९) इति सूत्रेण अरप्रत्ययो धातोश्च ठान्तादेशः । अन्यतम इति शेषः ॥ २।२ ॥

१६६२. अरं त इन्द्र कुक्षये सोमो भवतु वृत्रहन् ।
अरं धामभ्य इन्दवः ॥ ३।२ ॥

† पूर्वार्चिके १९७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

अरमिति । हे इन्द्र परमैश्वर्य वृत्रहन् पापघ्न परमेश्वर, सोम उपासकः । एकोपि, ते तव कुक्षये निष्कर्षणाय साक्षात्करणाय । कुष निष्कर्षे । क्सिः (उ० ३,१५५) प्रत्ययः । अरमलं भवतु भवति, इन्दव दीप्ता ज्ञानेन भक्त्या चान्ये उपासकाः । तव धामभ्यो जन्मभ्योवतारेभ्यः अरमऽम् । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीतीतियास्कः (नि० ९,२८) ॥ ३।२ ॥

१६६३. जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ १।३ ॥ (ऋ० १।२७।१०)

जराबोधेति । शुनःशेप आजीगर्तिर्ऋषिः, अग्निर्देवता गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।३ ॥

१६६४. स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः ।
धिये वाजाय हिन्वतु ॥ २।३ ॥ (ऋ० १।२७।११)

स न इति । ऋष्यादयः पूर्वंत् । महान् महीयान् । अनिमानोपरिच्छेदानर्हः । धूमकेतुः सर्वाज्ञाननिवर्तकज्ञानः । धुनोति कम्पयत्यज्ञानमिति धूमः । धूञ् कम्पने, मक् प्रत्ययः (उ० १,१३१) । पुरुश्चन्द्रोत्याह्लादकोग्निः प्रकाशस्वरूपः सर्वव्यापको वा स परमेश्वरः । धिये सत्कर्मणे वाजाय बलाय धनाय वा आध्यात्मिकाय । नोस्मान् हिन्वतु हिनोतु प्रेरयतु ॥ २।३ ॥

१६६५. स रेवाँ इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः ।
उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः ॥ ३।३ ॥ (ऋ० १।२७।१२)

स रेवानिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । विश्पतिः प्रजापतिः । दैव्यो दिव्यो दिव्यानां सतां वा हितः । केतुः प्राज्ञः प्रज्ञावान् ।

† पूर्वार्चिके १५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

बृहद्भानुर्वृहन्तो वृहन्ति भानवस्तेजांसि यस्य स महातेजा इत्यर्थः। अग्निर्व्यापकः परमेश्वरः। रेवान् इव कश्चिद्धनपतिः इव। नोऽस्माकमुक्थैरुक्थानि स्तोत्राणि, तृतीया छान्दसी, शृणोतु यथा कश्चिद्भाग्यशाली धनाढ्यः स्वस्तोतुर्वचनानि शृणोति तद्वत् ॥ ३।३ ॥

१६६६. तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने।
शं यद्गवे न शाकिने ॥ १।४ ॥ (ऋ० ६।४५।२२)

तद्व इति। शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।४ ॥

१६६७. न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः।
यत्सीमुपश्रवद्गिरः ॥ २।४ ॥ (ऋ० ६।४५।२३)

न घेति। ऋष्यादय उक्ताः, यद्यदि वसुः सर्वेषां वासयिताश्रयः स इन्द्रः सीम् इमाः। सीमिति परिग्रहार्थीयः। अनेकेर्था अस्य, गिरः स्तुतीरस्मत्कृताः। उप श्रवदुपशृणुयात् तदा स गोमतो विद्यावतो विद्यासहितस्य वाजस्य आध्यात्मिकान्नस्याध्यात्मिकबलस्य च दानम्। न घ नैव, नि यमते नियच्छेत् ॥ २।४ ॥

१६६८. कुवित्सस्य प्र हि व्रजं‡ गोमन्तं दस्युहा गमत्।
शचीभिरप नो वरत् ॥ ३।४ ॥ (ऋ० ६।४५।२४)

कुवित्सस्येति। ऋष्यादय उक्ताः, दस्युहा दस्यूनामुपद्रवकारिणां हन्ता इन्द्रः परमेश्वरः। कुवित्सस्य, कु कुत्सितम्, विद् वेदनं ज्ञानम्। कुवित्कुत्सितं ज्ञानम्। तत्स्यति नाशयतीति कुवित्सो महान् विद्याचार्यः। तस्य परमविद्याचार्यस्य, गोमन्तं विद्यावन्तं व्रजं

† पूर्वार्चिके ११५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ वज्रमित्योघपाठः।

व्रजन्ति विद्यार्थिनो यत्र तमालयं विद्यालयमित्यर्थः । हि प्र गमद-वश्यं प्रकर्षेण गच्छति । शचीभिः प्रज्ञाभिः प्रज्ञोपदेशैरित्यर्थः । नोस्माकम् । अप वरत् अविद्यामपवृणोति अपाकरोतीत्यर्थः । यत्र ज्ञानचर्चा तत्र परमेश्वरस्तिष्ठत्येव प्रेरणया ज्ञानं च वर्धयति ॥३।४॥

इति प्रथमः खण्डः



अथ द्वितीयः खण्डः

१६६९. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुले† ॥ १।५ ॥ (ऋ १।२२।१७)

इदमिति । मेधातिथिः काण्व ऋषिः, विष्णुर्देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।५ ॥

१६७०. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् ॥ २।५ ॥ (ऋ० १।२२।१८)

त्रीणीति । ऋष्यादय उक्ताः, अदाभ्योहिंस्योहिंसितो वा गोपाः पृथिवीपालकः । विष्णुः सर्वव्यापकः परमात्मा, त्रीणि त्रिसंख्याकानि पदा पदानि स्थानानि उपरिलोकमध्यलोकाधोलोकरूपाणि, वि चक्रमे विक्रान्तवान् । सर्वे लोका विष्णुनाक्रान्ता इति भावः । किं कुर्वन् ? अत एषु, सार्वविभक्तिकस्तसिः । त्रिषु लोकेषु धर्माणि सच्चारित्रा-दीन् धर्मान् धारयन्रक्षयन् ॥ २।५ ॥

१६७१. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३।५ ॥ (ऋ० १।२२।१९)

---

† पांसुरे इत्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वाचिके २२२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

विष्णोरिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । विष्णोः परमात्मनः । कर्माणि सर्जनपालनसंहाररूपाणि महाश्चर्यप्रदानि सामर्थ्यानि पश्यत विचारयत, यतो यैः कर्मभिर्व्रतानि नियमान् स पस्पशे स्पृशति ग्रथ्नाति, स्पर्शनं ग्रन्थनम् । स्पर्श बन्धनस्पर्शनयोः । इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य तस्य विष्णोर्यो युज्यो योज्यः संसृष्ट इत्यर्थः । स तस्य सखा समानख्यातिर्भवति ॥ ३।५ ॥

१६७२. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥ ४।५ ॥ (ऋ० १।२२।२०)

तद्विष्णोरिति । ऋष्यादय उक्ताः, दिवि दिव्यलोके, आततं व्याप्तम् । चक्षुः सर्वदर्शनसमर्थम् । ज्ञानरूपमित्यर्थः । विष्णोः परमात्मनस्तत् प्रसिद्धम् परमं सर्वोत्कृष्टम् । पदं स्थानम् । पद्यत इति पदम् । सूरयो विद्वांसः । विष्णुस्तोतारो वा विष्णुभक्ता इत्यर्थः । सदा नियतम् । पश्यन्ति प्राप्नुवन्ति, अथवा विष्णोरिति षष्ठी अभेदार्था, राहोः शिर इतिवत् । एवं च आततं चक्षुः तत् विष्णुरूपं परमंपद सूरय एव पश्यन्तीति योजना, एवं सति आततं चक्षुरिति च विशेषणद्वयं निराबाधं भवति ॥ ४।५ ॥

१६७३. तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।

विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ५।५ ॥

(ऋ० १।२२।२१)

तद्विप्रास इति । ऋष्यादय उक्ताः, यत् विष्णोर्विष्णुरूपं परमं सर्वोत्कृष्टं पदं पद्यं गम्यं प्राप्यमस्ति, तत् जागृवांसः सत्याहिंसासदाचारादिरूपधर्मेवहिताः । विपन्यवः परमेश्वरस्तोतारश्च विप्रासो मेधाविनः । समिन्धते समिन्धयन्ति प्रकाशयन्ति प्राप्नुवन्तीत्याशयः ॥ ५।५ ॥

१६७४. अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
पृथिव्या अधि† सानवि ॥ ६।५ ॥ (ऋ० १।२२।१६)

अतो देवा इति । ऋष्यादय उक्ताः, यतो यस्मात्स्थानात् परमपदाख्यात् यस्मिन् परमपदाख्ये स्थाने स्थित्वेत्यर्थः । विष्णुस्त्रींल्लोकानाक्रमितुं विचक्रमे विक्रमं कृतवान् । तत् पृथिव्या अधि सानवि पृथिव्या उपरि वर्तमानं स्थानम् । देवा विद्वांस आचार्याः । अतोस्माद्भूप्रदेशात् । नोस्मान् अवन्तु प्रापयन्तु । अव गत्यादिषु । अधिः सप्तम्यर्थानुवादकः । सानुरूर्ध्वप्रदेशः । 'दृसनिजनि' (उ० १।३) इति ञुण् ॥ ६।५ ॥

१६७५. मो षु त्वा वाघतश्च‡ नारे अस्मिन्नि रीरमन् ।
आरात्ताद्वा* सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप
श्रुधि ॥ १।६ ॥ (ऋ० ७।३२।१)

मो षु त्वेति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः£ ॥ १।६ ॥

१६७६. इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ॥ २।६ ॥
(ऋ० ७।३२।२)

इमे हीति । ऋषिदेवते पूर्ववत् । छन्दः समा सतो बृहती (प्रगाथः) । हे इन्द्र परमेश्वर, इमे पुरस्तात्स्थिताः । ब्रह्मकृतः । ब्रह्म वेदः । तत्कृतो वेदकर्तारो वेदाध्येतार इत्यर्थः । सुते निष्पादिते

† सप्तेत्यृक्पाठः ।
‡ वा....श्चनारे इत्यृक्पाठः । * आरात्ताच्चित्सध....इत्यृक्पाठः ।
£ पूर्वार्चिके २८४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

सोमे शान्त उपासके मधौ मधुरे मक्षे शुद्धे। टुमस्ज शुद्धौ। बाहुलकात् षक् प्रत्ययः। आसते हि उपविशन्ति हि। नेति काकुद्यातनार्थम्। नासते? आसत एवेति। इन्द्रे परमेश्वरे रथे रमणीये त्वयि। कामं सर्वा वासनाः। जरितारो जारयितारः। वसूयवस्त्वयि निवासं कामयमानाः। पादम् आ दधुः पदमादधति त्वय्येवेतिभावः। अत्र नकार एवार्थकः॥ २१६॥

१६७७. अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत॥ ११७॥
(ऋ० ८।५२।९)

अस्तावीति। वालखिल्यम् (आयुः काण्व) ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। हे आचार्याः, भवद्भिः पूर्व्यं श्रेष्ठं मन्म मननीयं ब्रह्म परमेश्वरः अस्तावि स्तूयते। तद् ब्रह्म। इन्द्राय जीवायोपासकायागताय। वोचत ब्रुवन्तु। ऋतस्य सत्यस्वरूपस्य परमेश्वरस्य पूर्वीः पूर्वकालभवाः। बृहतीर्महतीः स्तुतीरनूषत पूर्वतनाः। स्तोतुः स्तुतिकर्तुर्मेधाश्च नवनवोन्मेषशालिनीर्बुद्धीश्च असृक्षत असृजन्॥ ११७॥

१६७८. समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी समु सूर्यम्।
सं शुक्रासः शुचयः सं गवाशिरः सोमाः इन्द्रममन्दिषुः
॥ २१७॥ (ऋ० ८।५२।१०)

समिन्द्र इति। ऋषिदेवते उक्ते, समा सतो बृहती छन्दः, इन्द्रः परमेशः। बृहती बहूनि रायो धनानि सम् अधूनुत उदपादयदित्यर्थः। क्षोणी द्यावापृथिव्यौ, सूर्यम् उ सूर्यं च समधूनुत उदपादयत्। तमिन्द्रं परमेश्वरम्। शुक्रासो वीर्यवन्तः। शुचयः पवित्राः। गवाशिरः गच्छतां परमेश्वरं प्रति जनानाम् आशिरः

प्राशंसावचनानि येषां ते सोमा उपासकाः । च सम् अमन्दिषुर्मादयन्ति ॥ २।७ ॥

१६७९. इन्द्राय सोम पातवे वृत्रघ्ने परि षिच्यसे ।
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ॥ १।८ ॥

(ऋ० ९।९८।१०)

इन्द्रायेति । अम्वरीषो वार्षागिर ऋषिः, पवमानः सोमो देवता अनुष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।८ ॥

१६८०. तं सखायः पुरूरुचं‡ वयं यूयं च सूरयः ।
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम् ॥ २।८ ॥

(ऋ० ९।९८।१२)

तं सखाय इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सखायः समानधर्माण उपासकाः, सूरयो विद्वांसो यूयं वयं च रूरुचपुमतिकान्ति, वाजगन्ध्यं मानसिकवलसम्वन्धिस्थानमुपासनास्थानमित्यर्थः । अश्याम अश्नुमहि गच्छामेत्यर्थः । वाजपस्त्यं ज्ञानगृहं च सनेम संभजेमहि सेवेमहि ॥ २।८ ॥

१६८१. परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
यो देवान्विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ ३।८ ॥

(ऋ० ९।९८।७)

परि त्यमिति । ऋष्यादय उक्ताः, व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥३।८॥

---

† उत्तरार्चिके १३३१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ पुरोरुचमित्यृक्पाठः ।

* पूर्वार्चिके [illegible] संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१६८२. कस्तमिन्द्र त्वा† वसवा मर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा हि‡ ते मघवन्पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति
॥ ११९ ॥ (ऋ० ७।३२।१४)

कस्तमिति । वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ ११९ ॥

१६८३. मघोनः स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु ।
तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥ २१९ ॥
(ऋ० ७।३२।१५)

मघोन इति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती (प्रगाथः) । हे इन्द्र परमेश्वर, ये जना वृत्रहत्येषु पापहननेषु मघोनो मघोने तुभ्यं प्रिया प्रियाणि मातापितृपुत्रकलत्रादीनि वसूनि वासयितव्यानि वस्तूनि ददति त्वदर्थं त्यजन्तीति यावत् । ताँश्चोदय प्रेरय त्वन्मार्गं नय । हे हर्यश्व मनोहरगतिक, तव प्रणीती प्रणीत्या प्रकृष्टया नीत्या दीनोद्धारणरूपया सूरिभिरन्यैरुपासकैः सह, विश्वा-विश्वानि सर्वाणि दुरिता दुरितानि तरेम पारयेम ॥ २१९ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

---

† त्वावसुमेत्यृक्पाठः । ‡ इत्तेइत्यृक्पाठः ।

* पूर्वार्चिके २८० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

अथ तृतीयः खण्ड

१६८४. एदि मधोर्मदिन्तरं† सिञ्चाध्वर्यो‡ अन्धसः ।

एवा हि वीरः स्तवते सदावृधः ॥ १।१० ॥

(ऋ० ८।२४।१६)

एदीति । विश्वमना वैयश्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, उष्णिक् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।१० ॥

१६८५. इन्द्र स्थातर्हरीणां न किष्टे पूर्व्यस्तुतिम् ।

उदानंश शवसा न भन्दना ॥ २।१० ॥ (ऋ० ८।२४।१७)

इन्द्रेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे हरीणां मनुष्याणां स्थातः स्थापयितः, अथवा मनुष्याणां मध्ये स्थातः स्थितिकर्त्तः इन्द्र परमेश्वर, ते तव पूर्व्यस्तुतिं पूर्व्यैः पूर्वभवैः कृतां स्तुतिं न किः नकोप्युदानंश व्याप्नोति प्राप्नोतीतिभावः । न शवसा बलेन न भन्दना कल्याणेन । त्वं बलप्रदः कल्याणप्रद इति त्वदीयां स्तुतिं न कोपि प्राप्नोति नातिक्राम्यति वा, हरयो मनुष्याः (निघ० २,३,१०) ॥ २।१० ॥

१६८६. तं वो वाजानां पतिमह्वमहि श्रवस्यवः ।

अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥ ३।१० ॥

(ऋ० ८।२४।१८)

तं व इति । ऋष्यादय उक्ताः, वो युष्माकं श्रवस्यवः श्रुत्यर्थज्ञानेच्छवो वयम् । युष्माकं श्रुतिप्रतिपादितार्थस्य परमेश्वरस्य सम्यग्

---

† मध्वो इत्यृक्पाठः । ‡ सिञ्चवाध्वर्यो इत्यृक्पाठः ।

* पूर्वार्चिके ३८५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

ज्ञानं स्यादितीच्छावन्तो वयमाचार्याः । अप्रायुभिः । यन्ति इत्यायवो मनुष्याः । प्रकर्षेण यन्तीति प्रायवश्चश्चलमनुष्याः । अप्रायवश्चाञ्चरहितमनुष्याः स्थिरवृत्तय इत्यर्थः । एतादृशैर्मनुष्यैर्युक्तैर्यज्ञैः सत्कर्मभिः । येषां यज्ञानां सत्कर्मणामनुष्ठातारः स्थिराः सन्ति तादृशैर्यज्ञैर्द्वारभूतैः । वावृधेन्यं वर्धनीयं सन्तोषणीयं प्रसादनीयमतियावत् । वाजानां ज्ञानानां पतिं स्वामिनं तं परमेश्वरम् अह्वमहि आह्वयामः शिष्यान् प्रत्याचार्यवचनम् ॥ ३।१० ॥

१६८७. तं गूर्द्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे ।

देवत्रा हव्यमूहिषे† ॥ १।११ ॥　　(ऋ० ८।१९।१)

तं गूर्द्धयेति । सोभरिः काण्व ऋषिः, अग्निर्देवता, काकुभः प्रगाथः (विषमा ककुप्) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।११ ॥

१६८८. विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीडिष्व यन्तुरम् ।

अस्य मेधस्य सोमस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥ २।११ ॥

(ऋ० ८।१९।२)

विभूतरातिमिति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः समा सतो बृहती (प्रगाथः) । हे सोभरे, सुभरः परमात्मा, तस्मिन्भक्तिरस्येति सौभरिरुपासकः । तत्सम्बुद्धौ सौभरे, वृद्धयभाव आर्षः । विप्र मेधाविन्, अध्वराय भक्तियागाय भक्तय इत्यर्थः । पूर्व्यं श्रेष्ठं पूर्वभवम् । अस्य मेधस्य वर्तमानस्य भक्तियज्ञस्य, यन्तुरम् गन्तारं द्रष्टारं मुख्यं वस्तु, विभूतरातिं प्राप्तधनमाप्तकाममित्यर्थः । चित्रशोचिषं लोकोत्तरप्रकाशम् । ईम् एनम् । अग्निं सर्वव्यापकं परमात्मानम् । प्र ईडिष्व प्रकर्षेण स्तुहि, सायणाचार्यं सोभरिशब्दे-

---

† मोहिरे इत्यन्यपाठः ।

‡ पूर्वार्चिके १०९ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

नास्या ऋच ऋषिरेव गृह्यते। स च स्वं सम्बोध्य स्वस्मै इदं सर्वं कथयति ॥ २।११ ॥

१६८९. आ सोम स्वानो† अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे ॥१।१२॥
(ऋ० ९।१०७।१०)

आ सोमेति। सप्तर्षयः, पवमानः सोमो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।१२ ॥

१६९०. स मामृजे तिरो अण्वानि मेष्यो मीढ्वांत्सप्तिर्नवाजयुः।
अनुमाद्यः पवमानो मनीषिभिः सोमो विप्रेभिर्ऋक्वभिः
॥ २।१२ ॥ (ऋ० ९।१०७।११)

स मामृज इति। ऋषिदेवते उक्ते, समा सतो बृहती छन्दः, मनीषिभिर्विद्वद्भिः ऋक्वभिः। स्तोतृभिः। विप्रेभिः पूर्णज्ञानैः पृकृष्टज्ञानैर्वा, अनुमाद्यः प्रसाद्यः। अण्वानि अण्यानि अण्यः प्राण्यो जीवनीयः सदा स्मर्तव्य इति भावः। अण प्राणने, अथवा कर्तरि-ण्यत्। जीवकः। तिरस्तारकः। तृ प्लवनसंतरणयोः। मेष्यः सेच्यो भक्तिजलेन सेव्यो वा, मिषु सेचने, मीढ्वान् सर्वेच्छातर्पकः। पवमानः पुनानः सर्वान्। सोमः शान्तः। स परमात्मा। मामृ-जे मामृज्यते परिशोध्यते, स्वयं शुद्धः स शोध्यत इत्यर्थः। अथवा सेव्यत इत्यर्थः। धातूनामनेकार्थत्वात्। क इव? वाजयुर्धनजेता

† सुवान इत्यृक्पाठः। ‡ दधिषे इत्यृक्पाठः।
* पूर्वाचिके ५१३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
§ मीढ इत्यृक्पाठः।

युद्धविजेता वा सप्तोश्व इव, यथा विजयकामैर्बलवानश्वः सेव्यते तद्वत् ॥ २।१२ ॥

१६९१. वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् ।
तस्मा उ अद्य सवने† सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥ १।१३ ॥
(ऋ० ८।६६।७)

वयमेनेति । कलिः प्रागाथ ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।१३ ॥

१६९२. वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।
सेमं न स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया
॥ २।१३ ॥ (ऋ० ८।६६।८)

वृकश्चिदेति । ऋषिदेवते उक्ते, समा सतो बृहती छन्दः । वृकः स्तेनः । वृक इति स्तेननाम (निघ० ३,२४,१४) चित् अपि । स्तेनोपि । दुष्टोपीत्यर्थः । उरामथिः आच्छादकानां बाधकानां विघ्नानां मथिता पीडयितापि, सज्जनोपीत्यर्थः । उरामथिरुरणमथिः । उरण ऊर्णावान् भवति, ऊर्णा पुनर्वृणतेरूर्णोतेर्वेति यास्कः (निघ० ५,२१) । वारणो वरणकर्ता परमेश्वरस्य रक्षकत्वेन स्वामित्वेन वा । अस्य परमात्मनो वयुनेषु प्रज्ञासु, वयुनमिति प्रज्ञानाम (निघ० ३,९,१०) । जायमानास्वित्यर्थः । आ भूषति आ शोभते । आत्मानं विभूषयति वा, दुर्जनः सज्जनश्चोभावेवात्मानं परमात्माश्रयणेन भूषयत इति भावः । स त्वं हे इन्द्र परमेश्वर, इमं प्रस्तूयमानं स्तोमं स्तोत्रं जुजुषाणः सेवमानः ।

---

† समनाइत्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके २७२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

चित्रयाश्चर्यकर्या धिया बुद्ध्या आ गहि आगच्छ प्र गहि प्रकर्षेण-गच्छ प्राप्नुहि ॥ २।१३ ॥

१६९३. इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः ।
तद्वां चेति प्र वीर्यम् ॥ १।१४ ॥ (ऋ० ३।१२।९)

इन्द्राग्नी इति । विश्वामित्रः प्रागाथ ऋषिः, इन्द्राग्नी देवते, गायत्री छन्दः । हे इन्द्राग्नी, इन्द्र परमैश्वर्य अग्ने ज्योतिस्वरूप परमेश्वर, अत्रापि न स्तो द्वे देवते इन्द्रश्चाग्निश्चति, एक एव परमेश्वरोत्र इन्द्राग्निशब्दाभ्यामुपवर्णितः । त्वं दिवो दिव्यलोकस्य सतां समूहस्य, रोचना रोचनः प्रकाशकः शोभा वा, वाजेषु ज्ञानेषु ज्ञानिष्वित्यर्थः । परि भूषथः शोभसे वां युवयोस्तव तद्वीर्यं वलं पौरुषं सामर्थ्यं प्र चेति प्रकर्षेण ज्ञापयति त्वामितिशेषः । चिती संज्ञाने ॥ १।१४ ॥

१६९४. इन्द्राग्नी अपसस्पर्युप प्र यन्ति धीतयः ।
ऋतस्य पथ्या३ अनु ॥ २।१४ ॥ (ऋ० ३।१२।७)

इन्द्राग्नी अपेति । ऋष्यादय उक्ताः, व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ २।१४ ॥

१६९५. इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि पयांसि च ।
युवोरप्तूर्यं हितम् ॥ ३।१४ ॥

(ऋ० ३।१२।८)

इन्द्राग्नी तवोति । ऋष्यादय उक्ताः, व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ ३।१४ ॥

---

† उत्तरार्चिके १५७७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

‡ पूर्वार्चिके १५७८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१६९६. क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।

अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥१।१५॥

(ऋ० ८।३३।७)

क ईं वेदेति । मेध्यातिथिः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, बृहती छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१५ ॥

१६९७. दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।

न किष्ट्वा नि यमदा सूते गमो महाँश्चरस्योजसा ॥२।१५॥

(ऋ० ८।३३।८)

दानेति । ऋष्यादय उक्ताः, दानो दाता, वारणो निरोद्धा सर्वेषां विघ्नानाम् । त्वं हे इन्द्र परमेश्वर, मृगो न मृग इव स्वभक्तानामन्वेषक इव, पुरुत्रा पुरुषु बहुषु स्थानेषु चरथं चरणं विहरणं दधे धारयसि, न किः न कोपि त्वां नि यमत् नियमयति नियच्छति वा, सुते भक्त्यैश्वर्यपूर्णभक्ते आगमः आगच्छ । त्वम् ओजसा तेजसा महान् संश्चरसि सर्वत्र व्याप्नोषि ॥ २।१५ ॥

१६९८. य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः ।

यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥३।१५॥

(ऋ० ८।३३।९)

य उग्र इति । ऋष्यादय उक्ताः, य उग्र उद्गमनो भयङ्करो दुर्जनानामितियावत् । 'ऋज्रेन्द्र.....' (उ० २,३१) इति सूत्रेण उत्पूर्वाद्गमधातोर्निपातितः । सन् अनिःष्टृतः केनापि अनिस्तीर्णोऽहिंसित इति यावत् । स्थिरो दृढः । रणाय शब्दाय शब्दैरुपदेशायेतियावत् । संस्कृतः सुसज्जितः । एतादृशो मघवा इन्द्रः

† पूर्वार्चिके २९७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

परमेश्वरो यदि स्तोतुर्भक्तस्य हवमाह्वानं शृणवच्छृणुयात्तर्हि न योषत्यन्यत्र न गच्छेत्। योषतिर्गतिकर्मा (निघ० २,१४,५७)। आ गमत् भक्तसविध एवागच्छेत् ॥ ३।१५ ॥

इति तृतीयः खण्डः

अथ चतुर्थः खण्डः

१६९९. पवमाना असृक्षत सोमाः शुक्रास इन्दवः।
अभि विश्वानि काव्या ॥ १।१६ ॥ (ऋ० ९।६३।२५)

पवमाना इति। निध्रुविः काश्यप ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। पवमानाः पूयमानः पवित्रैजनैः पुनाना वान्याञ्जनान्। इन्दवो भक्तैश्वर्यशोभिताः : शुक्रास उज्ज्वलाः सत्कर्मभिः। सोमाः शान्ता उपासकाः। विश्वानि सर्वाणि बहुविधानि वा काव्यानि स्तोत्ररूपाणि अभि असृक्षत अभितः सृजन्ति, विविधैः स्तोत्रैः परमेश्वरं प्रसादयन्तीतिभावः ॥ १।१६ ॥

१७००. पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत।
पृथिव्या अधि सानवि ॥ २।१६ ॥ (ऋ० ९।६३।२७)

पवमाना दिवेति। ऋष्यादय उक्ताः, पवमानाः पवित्रा उपासकाः। दिवो द्युलोकाद् अन्तरिक्षात् अन्तरिक्षलोकात् पृथिव्याश्च अधि सानवि उच्चैः स्थाने, अधिः सप्तम्यर्थानुवादकः। परि असृक्षत परितः सृज्यन्ते। परमेश्वरोपासकाः सर्वानेव भौतिकाँल्लोकानतिक्रम्य सर्वश्रेष्ठं पारमेश्वरं लोकं गच्छन्ति ॥ २।१६ ॥

१७०१. पवमानास आशवः शुभ्रा असृग्रमिन्दवः।

घ्नन्तो विश्वा अप द्विषः ॥ ३।१६ ॥ (ऋ० ९।६३।२६)

पवमानास इति । ऋष्यादय उक्ताः, विश्वा विश्वान्सर्वान् द्विषो द्वेष्टॄन् दुरात्मनोऽपघ्नन्तो हिंसन्तः पवमानासः पवित्राः पुनाना वा लोकान् आशवः पारमेश्वरमानन्दमैश्वर्यं वः भुञ्जाना उपासकाः । शुभ्रा दीप्ता देदीप्यमानाः । इन्दवः परमैश्वर्याः असृग्रम् सृज्यन्ते, भगवद्भक्ताः परमैश्वर्या भवन्तीतिभावः ॥ ३।१६ ॥

१७०२. तोशा वृत्रहणा हुवे सजित्वानापराजिता ।
इन्द्राग्नी वाजसातमा ॥ १।१७ ॥ (ऋ० ३।१२।४)

तोशा इति । विश्वामित्रः प्रगाथ ऋषिः, इन्द्राग्नी देवता, गायत्री छन्दः । हे इन्द्र परमैश्वर्य हे अग्ने सर्वव्यापक, परमेश्वर, तोशौ दुष्टविनाशकम् । तोशतिर्वधकर्मा (निघ० ३,१९,२९)। वृत्रहणौ पापनिवारकम् । सजित्वाना सजित्वानं समानजेतारम् । इन्द्रो वा अग्नि र्वा मघवा वा वरुणो वा वायुर्वा सर्वाण्येवेमानि पारमेश्वराणि नामानि, येन केनापि नाम्ना स्मृतः स एव स्मर्यते । सर्वं एव जेतारः । नामभेदेन व्यक्तिभेदं विधाय सजित्वेत्यत्र सहार्थो बहुव्रीहिरुपपद्यते, अपराजिता अपराजितम् । वाजसातमा वाजसातममतिशयेन ज्ञानधनदातारं त्वां हुवे आह्वयामि । वाजसातमेत्यत्र षणु दाने इत्यस्मात् विट्, आत्, तमप् ॥ १।१७ ॥

१७०३. प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः ।
इन्द्राग्नी इष आवृणे ॥ २।१७ ॥ (ऋ० ३।१२।५)

प्र वामेति । ऋष्यादय उक्ताः, व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ २।१७ ॥

१७०४. इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम् ।
साकमेकेन कर्मणा ॥ ३।१७ ॥ (ऋ० ३।१२।६)

† उत्तरार्चिके १५७५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

इन्द्राग्नी इति। ऋष्यादय उक्ताः, व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥३।१७॥

१७०५. उप त्वा रण्वसंदृशं प्रयस्वन्तः सहस्कृत ।

अग्ने ससृज्महे गिरः ॥ १।१८ ॥ (ऋ० ६।१६।३७)

उप त्वेति। भरद्वाजो वार्हस्पत्य ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः। हे अग्ने परमात्मन्, हे सहस्कृत सहसा उदकेनाश्रुजलेन कृत उत्पादित साक्षात्कृत, प्रीञ् तर्पणे, प्रयस्वन्तस्तृप्तिमन्तो-लौकिकैः पदार्थैः वयं रण्वसंदृशं रमणीयदर्शनं त्वा त्वाम् उप प्रति गिरः प्रार्थनावाचः ससृज्महे सृजाम उच्चारयाम इत्यर्थः ॥ १।१८ ॥

१७०६. उप च्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम् ।

अग्ने हिरण्यसन्दृशः ॥ २।१८ ॥ (ऋ० ६।१६।३८)

उप च्छायेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्, हे अग्ने परमात्मन्, हिरण्यसन्दृशो हितस्य रमणीयस्य च संदृशस्य सुरूपस्याश्रयभूतस्य घृणेर्दीप्यमानस्य च ते तव शर्म शरणं वानन्दं वा, शर्मेति गृहनाम सुखनाम च (निघ० ३,४,२१; ३,६,४)। छायामिव यथा घर्मार्तश्छायामाश्रयते तथा; वयमुपासका उप अगन्म उपगच्छामः। अथवा तवच्छायामाश्रयमिव. छायेति गृहनाम (निघ० ३,४,२०)। तव शर्माण्यानन्दमपि वयमुपगच्छेमेति प्रार्थना ॥ २।१८ ॥

१७०७. य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृङ्गो न वंसगः ।

अग्ने पुरो रुरोजिथ ॥ ३।१८ ॥ (ऋ० ६।१६।३९)

य उग्र इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे अग्ने तेजस्वरूप परमेश्वर, यस्त्वमनुग्रोपि उग्र इव भयङ्कर इवासि, तथा शर्यहा

† उत्तरार्चिके १५७५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

शर्यैरङ्गुलिभिरेव हन्ति दुष्टान् महादुष्टानपि स शर्यहा अपरिश्रमेणैव दुर्जनसंघातघातकः। शर्य इत्यङ्गुलिनाम (निघ० २,५,५)। शॄ विशरणे, तिग्मश्रृङ्गो न प्रचण्डदीप्तिरिव शान्तप्रकाशोपि दुष्टेभ्यस्त्वं तथाभूतो भवसि। वंसग त्वत्साहाय्यं याचमानं प्रतिगमनशीलस्त्वमसि, एवं भूतोसि तत एवास्माकं पुरः शरीराणि भविष्यति काले कर्मफलैर्जनिष्यमाणानि रुराजिथ अभनक्। तव भक्त्या तवानुकम्पया च वयं शरीरान्ते मुक्ता भविष्याम एवेति विश्वासप्रदर्शनम् ॥ ३।१८ ॥

१७०८. ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्।
अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १।१९ ॥ (अथर्व० ६।३६।१)

ऋतावानमिति। ऋतावानं सत्यवन्तं सत्यस्वरूपं त्रिकालाबाधितमितियावत्। वैश्वानरं विश्वेषां मनुष्याणां हितम्। ऋतस्य सत्यस्य ज्योतिषः प्रकाशस्य तेजसश्च पतिं स्वामिनम्। अजस्रमविनाशिनम्। जसु उपक्षये, ईदृशं घर्मं तेजस्विनं परमात्मानमीमहे याचामहे श्रेय इति शेषः ॥ १।१९ ॥

१७०९. य इदं प्रतिपप्रथे यज्ञस्य स्वरुत्तिरन्।
ऋतूनुत्सृजते वशी ॥ २।१९ ॥

[स विश्वा प्रतिचाक्लृप ऋतूरुत्सृजते वशी।
यज्ञस्य वय उत्तिरन्नित्यथर्ववेदपाठः (६।३६।२)]।

य इति। यः परमात्मा यज्ञस्य सुकृतस्य स्वः सुखं फलस्वरूपम्। उत्तिरन् उत्तारयन् ददादित्यर्थः। इदं दृश्यमानं जगत्। प्रतिपप्रथे प्रथयामास स वशी स्वाधीनः। ऋतून् कालान् कालोद्भवान् पदार्थान्वा उत्सृजते उत्कृष्टरूपेण सृजति ॥ २।१९ ॥

१७१०. अग्निः प्रियेषु† धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको विराजति ॥ ३।१९ ॥ (अथ० ६।३६।३)

अग्निरिति । प्रियेषु धामसु स्थानेषु नामसु जन्मस्विति त्रिषु भूतस्य जातस्य भव्यस्य जनिष्यमाणस्य च कामः शुभं कामयमानः । एकः केवलः । सम्राड् सम्यग् राजमानः—अद्वितीयः शासकः । अग्निः परमतेजस्वी परमात्मा, विराजति विराजते ॥ ३।१९ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

इत्यष्टमप्रपाठके द्वितीयोर्धः

इत्यष्टादशोध्यायः

† परिष्वित्यथर्ववेदपाठः ।

अथैकोनविंशोऽध्यायः

अथाष्टमप्रपाठके तृतीयोऽर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१७११. अग्निः प्रत्नेन जन्मना† शुम्भानस्तन्वं३ स्वाम् ।
कविर्विप्रेण वावृधे ॥ १।१ ॥ (ऋ० ८।४४।१२)

अग्निरिति । विरूप आङ्गिरस ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । अग्निः सर्वव्यापकः कविः क्रान्तदर्शी परमेश्वरः । प्रत्नेन प्राचीनेन जन्मना प्रादुर्भावेण, स्वां स्वकीयाम् । तन्वं तनुं जगद्रूपाम् । शुम्भानो दीपयन् प्रकाशयन् । विप्रेण मेधाविना ज्ञानिना वावृधे ववृधे प्रवृद्धो भवति, अयमाशयः । परमेश्वरस्य प्रादुर्भावो नार्वाचीनः । न केनचिज्ज्ञायते कदा स प्रादुर्भूतः । यदा केनचित्सोनुभूतः स एव तस्य प्रादुर्भावः । इदं सर्वं जगत् तस्य तनुभूतम् । स एवास्य प्रकाशकः संस्थापकः । योनोत्तभिता भूमिरिति रीतिः स्मर्तव्या, तं च परमेश्वरं ज्ञानी पुरुष एव वर्धयति ख्यापयति । सर्वत्र ख्यातिरेव तस्य वृद्धिः ॥ १।१ ॥

१७१२. ऊर्जो नपातमा हुवेऽग्निं पावकशोचिषम् ।
अस्मिन् यज्ञे स्वध्वरे ॥ २।१ ॥ (ऋ० ८।४४।१३)

ऊर्ज इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । ऊर्जो बलस्याध्यात्मिकस्य नपात न पातयितारम् । पावकशोचिषं शोधकदीप्तिम् । अग्निं पर-

† मन्मना इत्यृक्पाठः ।

मात्मानम् । अस्मिन् स्वध्वरेत्यन्तर्हिसाविरहिते यज्ञे भक्तिरूपे, आ हुवे आह्वयामि ॥ २।१ ॥

१७१३. स नो मित्रमहस्त्वमग्ने शुक्रेण शोचिषा ।
देवैरा सत्सि बर्हिषि ॥ ३।१ ॥

स न इति । हे मित्रमहो मित्र्त्राणां स्निग्धजनानां पूजनीय अग्ने परमेश्वर, त्वं शुक्रेणोज्ज्वलेन प्रकाशितेन शोचिषा तेजसा देवैर्भक्तजनैः सह बर्हिषि अज्ञेस्मिन् आ सत्सि आसीद ॥ ३।१ ॥

१७१४. उत्ते शुष्मासो अस्थू रक्षो भिन्दन्तो अद्रिवः ।
नुदस्व याः परिस्पृधः ॥ १।२ ॥ (ऋ० ९।५३।१)

उत्त इति । अवत्सारः काश्यप ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । हे अद्रिवः न दीर्यन्ते ते अद्रयो दृढा उपासकाः । ते सन्ति अस्येति अद्रिवन् । सम्बुद्धौ अद्रिवः दृढोपासक परमेश्वर, रक्षो दुर्जनगणं भिन्दन्तो विदारयन्तस्ते शुष्मासः पुरुषार्थाः । उद् अस्थुः उत्तिष्ठन्ति तानधःकृत्य तिष्ठन्तीतिभावः । याः परिस्पृधः परितः स्पर्धमानाः स्पर्धां कुर्वाणा दुष्प्रजा अस्मान् बाधन्ते ता नुदस्व दूरं नय ॥ १।२ ॥

१७१५. अया निजघ्निरोजसा रथसङ्गे धने हिते ।
स्तवा अबिभ्युषा हृदा ॥ २।२ ॥ (ऋ० ९।५३।२)

अयेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे सोम परमेश्वर, अया अनेनौजसा सामर्थ्येन त्वं निजघ्निः नितरां शत्रूणां भक्तबाधकानां हन्ता, एतादृशं त्वच्छीलम् । तं त्वाम् । अबिभ्युषा अभयेन हृदा हृदयेन मनसा हिते हितकारके, घने घनभूते, अस्मिन्, रथसङ्गे रमणीये समूहे भक्तानामितिभावः । स्तवैः स्तौमि ॥ २।२ ॥

१७१६. अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूढ्या ।
रुज यस्त्वा पृतन्यति ॥ ३।२ ॥

अस्य व्रतानीति । ऋष्यादय उक्ताः, अस्य पवमानस्य सर्वान् पूनानस्य सोमस्य परमेश्वरस्य, व्रतानि कर्माणि, दूढ्या दूढ्यानि दुःखेन ध्यातव्यानि, न आधृषे, न तानि कोप्यतिक्रमितुं शक्नोतीतिभावः । ईदृश हे परमेश्वर यस्त्वां पृतन्यति त्वया सह युद्धं कामयसे तवाज्ञां प्रतिकूलयितुमुद्यतस्तां रुज पीडय नाशयेत्यर्थः ॥३।२॥

१७१७. तं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम् ।
इन्दुमिन्द्राय मत्सरम् ॥ ४।२ ॥ (ऋ० ९।५३।४)

तं हिन्वन्तीति । ऋष्यादय उक्ताः, विद्वांसः परमभक्ताः । मदच्युतमानन्दस्य च्यावयितारम् । हरिं सर्वपापनिवारकम् । वाजिनं ज्ञानवन्तम् । इन्दुं प्रकाशरूपम् । मत्सरमानन्दस्वरूपं तं परमात्मानम् । नदीषु अव्यक्तशब्दकारिणीषु आज्ञासु प्रजासु मध्ये, इन्द्राय जीवायोपासकाय मानवाय, उपासकार्थमितिभावः । हिन्वन्ति प्रेरयन्ति ॥ ४।२ ॥

१७१८. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिन्नि येमुरिन्न† पाशिनोऽति धन्वेव
ताँ इहि ॥ १।३ ॥ (ऋ० ३।४५।१)

आ मन्द्रैरिति । विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः, इन्द्रो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।३ ॥

† यमन्नि न इत्यृक्पाठः ।
‡ पूर्वार्चिके २४६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१७१९. वृत्रखादो वलंरुजः पुरां दर्मो अपामजः ।
स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रो दृढा
चिदारुजः ॥ २।३ ॥ (ऋ० ३।४५।२)

वृत्रखाद इति । ऋष्यादय उक्ताः, वृत्राणां दुर्जनानां पापानां वा खादः खादको भक्षको नाशयितेत्यर्थः । वलंरुज आच्छादकानामावरणकर्तृणां विघ्नानामितियावत् । रुजो भञ्जकः । वलो वृणोतेरिति यास्कः (निघ० ६,२) । रुजो भङ्गे, पुरां भविष्यत्तनूनां स्वधामप्रापणद्वारा दर्मो दारकः । अपाम् अपां प्राप्याणामजो दायकः। आप्यन्ते इत्यापः । अज गतिक्षेपणयोः । अजति क्षिपति ददातीति गमयतीति वा अजः । रथस्य गतिशीले शरीरे मनसि वा स्थाता स्थितिकर्ता, रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रयतेर्वा रसतेर्वेति यास्कः (नि० ९,११) । हर्योः मनोबुद्ध्योः । हरतः परमात्मनमिति, शुद्धं मनः शुद्धा च बुद्धिः परमेश्वरं हरत एव, तयोरभिस्वरे आह्वाने, यदा ते आह्वयतस्त्वां परमेश्वरम् तदा, इन्द्रः परमसमर्थस्त्वम्, दृढा चित् दृढानामपि विघ्नानामासमन्ताद् भञ्जको नाशको भवसि ॥ २।३ ॥

१७२०. गम्भीराँ उदधींरिव क्रतुं पुष्यसि गा इव ।
प्र सु गोपा यवसं धेनवो यथा ह्रदं कुल्या
इवाशत ॥ ३।३ ॥ (ऋ० ३।४५।३)

गम्भीराननिति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । गम्भीराननगाधानुदधीन् समुद्रानिव गा पृथिवीरिव च क्रतुं ज्ञानिनमुपासकं पुष्यसि । उदधयो न कदाप्यल्पजला भवन्ति न वा पृथिव्यः स्वल्पा भवन्ति । तव रक्षाया एवैतत्फलम् । एवं ज्ञान्यपि त्वद्विदपि न कदाप्यज्ञान-

पङ्के पुनः पततीत्यपि त्वया कृताया रक्षाया एव फलम् । धेनवो गावो यथा यवसं तृणादिकमाशत प्राप्नुवन्ति, कुल्याः कृत्रिमाः सरितो नहरइतिपदवाच्याः । कुल्या इति नदीनाम (निघ० १,१३, २२) । केदारा वा, क्षेत्रसेकार्था निर्मिता कृत्रिमजलप्रवाहाः । ह्रदं महाजलाशयं यथा आशत प्राप्नुवन्ति तथा सुगोपाः सुष्टु गा इन्द्रियाणि पान्ति रक्षन्तीति सुगोपा महासंयमशालिनस्त्वामिन्द्रं परमेश्वरमाशत प्राप्नुवन्ति ॥ ३।३ ॥

१७२१. यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु
सचा पिब ॥ १।४ ॥ (ऋ० ८।४।३)

यथा गौर इति । देवातिथिः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।४ ॥

१७२२. मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्दवो राधोदेयाय सुन्वते ।
आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद्दधिषे
सहः ॥ २।४ ॥ (ऋ० ८।४।४)

मन्दन्त्विति । ऋषिदेवते पूर्वोक्ते, समा सतो बृहती (प्रगाथः) छन्दः । हे मघवन्नैश्वर्यशालिन् इन्द्र परमेश्वर, इन्दवो भक्त्यैश्वर्ययुता भक्ताः । त्रि इन्धी दीप्तौ, इदि परमैश्वर्ये, त्वा त्वां मन्दन्तु मादयन्ति प्रसादयन्ति, राधोदेशाय राधः संसिद्धिर्बलं वा, देयाय दातव्याय, त्वया देयं बलमाप्तुमित्यर्थः । देयराधसे इति वक्तव्ये राधोदेयमितिवचनं परमेश्वरस्यानियन्त्रणसूचकम् । सुन्वते त्वां प्रादुर्भावयन्ति साक्षात्कारायेतियावत् । हे चमू चमु सर्वभक्षक प्रलयकर्तरितियावत् । सुतं संस्कृतमाचार्यैः शमदमादिसम्पन्नं

† पूर्वार्चिके २५२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

कारितं वा सोमं भक्त्यैश्वर्यसम्पन्नमुपासकम् । आमुष्य सर्वेषु मनुष्येषूपासकमेव बलाद् गृहीत्वा । अपिबः पासि । पा रक्षणे, पिबादेशश्छान्दसः । तत् तेन स्वकीयानां रक्षणं बलादपि करोषि तत एव त्वं ज्येष्ठं श्रेष्ठं महदितियावत् सहो बलं दधिषे दधासि अथवा तत् तदथमेवोत्तमबलं धारयसि ।। २।४ ।।

१७२३. त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठः मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ।। १।५ ।।

(ऋ० १।८४।१९)

त्वमङ्गेति । गोतमो राहूगण ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ।। १।५ ।।

१७२४. मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदा चना दभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ।।२।५।।

मा ते राधांसीति । ऋषिदेवते उक्ते । छन्दः समा सतो बृहती (प्रगाथः) । हे वसो सर्वेषां वासयितः इन्द्र परमेश्वर, ते तव राधांसि शक्तयः । अस्मान् कदाचन कदापि मा दभन् मा हिंसन्तु, ते तव ऊतयो रक्षणसामर्थ्यान्यपि मा अस्मान् दभन् नाशयन्तु, तव रक्षणपराङ्मुखता हि नाशकारणम् । रक्षणपराङ्मुखता च जीवानामीश्वरनिरपेक्षता हेतुः । एवं च मा वयं त्वयि निरपेक्षाः स्यामेति प्रार्थनाहृदयम् । तेन त्वमस्मान्सर्वदा रक्षिष्यस्येति तात्पर्यम् । हे मानुष मनुष्याणां हितकर, चर्षणिभ्यो मनुष्येभ्यो नोस्मभ्यं विश्वा वसूनि ज्ञानानि हितकराणि च सर्वाणि वस्तूनि साधनानि वा, आ समन्ततः । उपमिमीहि प्रापयेत्यर्थः ।। २।५ ।।

इति प्रथमः खण्डः

† पूर्वार्चिके २४७ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

अथ द्वितीयः खण्डः

१७२५. प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः ।
दिवो अर्दाशि दुहिता ॥ १।६ ॥ (ऋ० ४।५२।१)

प्रति ष्येति । वामदेवो गौतम ऋषिः, उषा देवता, गायत्री छन्दः । परमेश्वरस्य नास्ति कापि जातिर्न वा लिङ्गम् । पुंस्त्वं स्त्रीत्वं क्लीबत्वं च सर्वं शब्दाश्रयं तस्मिन्कल्प्यते, अत एव स परमेश्वरः, सा देवी, तद् ब्रह्मेत्यादिव्यवहाराः कल्पन्ते, एषु मन्त्रेषु स्त्रीत्वेन परमात्मानं निदिश्य तद्वर्णनम् । सूनरी सुष्ठु नेत्री जनानाम् । जनी जनिकोत्पादिका सर्वेषां पदार्थानाम् । व्युच्छन्ती विवासिका ज्ञानराशेः । स्वसुः सुष्ठु आसकस्य निरासकस्य, असु प्रक्षेपणे । सुपूर्वादस्मात् ऋन् प्रत्ययः (उ० २,९६) । दिवः प्रकाशस्य, दुहिता दोग्ध्री उषाः सर्वदुःखदाहसमर्था शक्तिः । परि परितः उपासकान् । प्रति प्रत्येकं समये अर्दाशि दृश्यते ॥ १।६ ॥

१७२६. अश्वेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी ।
सखा भूदश्विनोरुषाः ॥ २।६ ॥ (ऋ० ४।५२।२)

अश्वेवेति । ऋष्यादय उक्ताः, अश्वा, इवाशुगमन इव, न स गमनं करोति, व्यापकत्वात् । तथापि यत्र दृश्यते तत्रैव तत्प्रतीतिरिति आशुगमनं तस्य कल्प्यते, चित्रा आश्चर्यंकरी, चायनीया वा, चित्रं चायनीयं मंहनीयमिति यास्कः (नि० १२।६) । अरुषी रोचमाना । आङ्पूर्वात् रुच दीप्तौ इत्यस्माद् बाहुलकाद् डुषच् । ढिलोपः । आङो ह्रस्वः । अथवा इयर्ति अर्पयति उपासकानैश्वर्यादि या सा । ऋ गतिप्रापणयोः । उषन् प्रत्ययः (उ० ४।७४) । पिप्पल्यादेराकृतिगणत्वादीकारः । गवां विद्यानां वेदानां रश्मीनां ब्रह्मतेजसां वा । माता निर्मात्री । ऋतावरी सत्यवती ।

अश्विनोर्द्यावापृथिव्योः सूर्याचन्द्रमसोर्वा । सखा सहायकः । समानख्यातो वा । सूर्याचन्द्रमसावपि प्रकाशकर्तारौ परमात्मापि प्रकाशकर्तेति समानख्यातिः । द्यावापृथिव्यावपि लोकधरित्र्यौ परमात्मापि लोकानां धर्तेतिसमानख्यातिः । "अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो, ज्योतिषान्यः । अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः । तत्कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्यावित्येके । अहोरात्रावित्येके । सूर्याचन्द्रमसावित्येके । राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः ।" इति यास्कः (नि० १२,१) । अभूत् भवति अस्ति । एतादृशी सोषा अस्ति ॥ ३१६ ॥

१७२७. उत सखास्यश्विनोरुत माता गवामसि ।
उतोषो वस्व ईशिषे ॥ ३१६ ॥ (ऋ० ४।५२।३)

उत सखेति । ऋष्यादय उक्ता, उत अपि च हे उषः सर्वपापदाहिके देवि वस्वो धनस्य ज्ञानरूपस्य त्वमीशिषे ईश्वरा भवसि । अन्यद्व्याख्यातम् ॥ ३१६ ॥

१७२८. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः ।
स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥ ३१७ ॥ (ऋ० १।४६।१)

एषो उषा इति । प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः । अश्विनौ देवता । गायत्री छन्दः । एषा उ एषैव । अपूर्व्या न किञ्चित्पूर्व्यं पूर्वभवं यस्याः सा । दिवो द्योतमानस्य ज्ञानिनः प्रिया प्रियकरी प्रेमपात्रं वा । व्युच्छति तमोज्ञानरूपं व्यपोहति । हे अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ वां युवां बृहद् यथा तथा स्तुषे स्तौमि । पुरुषव्यत्ययः । ननु अत्रोषस एव वर्णनं पुरस्कृतं तर्हि को नाम हेतुरश्विनोस्तवस्य ? सत्यम् । अश्विशब्देनात्र द्यावापृथिव्यावपेक्षिते । न स्यातामेते द्वे तर्हि कस्यामुषसः परमशक्तेः प्रत्ययः । प्रत्ययस्थानमेते एव । ततस्तयोः स्तुतिः ॥ ३१७ ॥

१७२९. या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम् ।
धिया देवा वसुविदा ॥ २।७ ॥   (ऋ० १।४६।२)

या दस्रेति । ऋष्यादय उक्ताः, तावश्विनौ द्यावापृथिव्यौ कीदृशौ ? या ये दस्रा दस्रे दर्शनीये, दस्रौ दर्शनीयाविति यास्कः (नि० ६।२६) । सिन्धूनां भक्त्या प्रस्पन्दमानानां द्रुतहृदयानामिति यावत् । मातरौ जनन्यावुत्यादिके इति यावत् । मनोतरा मनोतरे मनसा मलिनेनातरा अतरे तरीतुमशक्ये । न हि कश्चिन्मलिनमनाः संसारं तरीतुं शक्नोतीतिभावः । द्यावापृथिव्यौ संसारस्य प्रतिनिधी, किं च रयीणां धनानां धिया कर्मणा धनसाध्येन कर्मणेति यावत् । मनोतरा मनसापि न पारयितुं शक्ये । देवा देव्यौ दिव्यगुणविशिष्टे, अथवा भौतिकपदार्थानां दात्र्यौ । दानाद्देव इति यास्कः । वसुविदौ वसूनां धनानां लम्भके, विद्लृ लाभे । एतादृशौ द्यावापृथिव्यौ स्तौमोति पूर्वत आयाति ॥ २।७ ॥

१७३०. वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि ।
यद्वां रथो बिभिष्पतात् ॥ ३।७ ॥   (ऋ० १।४६।३)

वच्यन्ते इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ, जूर्णायां जीर्णायां तनौ, जॄष वयोहानौ । अधि विष्टपि मोक्षे लोके यदा वां युवयो रथो विभिरात्मभिर्युक्तैः सह मुक्तानादायेत्यर्थः । ष्टभि प्रतिबन्धे, यत्र जनिमृत्योः सर्वथा प्रतिबन्धो भवति स लोको विष्टप् । पताद् गच्छति तदा ककुहासो महान्त आत्मानो मुक्ता जीवा इति यावत् । ककुह इति महन्नाम (निघ० ३।४।१९) । वां युवयोः । अधिवच्यन्ते अधिब्रुवन्ति गुणान् उपकारान् वा । वच्यन्ते वचन्तीति वा, वच परिभाषणे । अयमन्तिपरो न प्रयुज्यत इति सिद्धान्तो लोके न तु वेदे । उपकारस्मरणमात्रमेतद् उपकारवर्णनमात्रं वा ॥ ३।७ ॥

१७३१. उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति ।
येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ १।८ ॥ (ऋ० १।९२।१३)

उष इति । गोतमो राहूगण ऋषिः, उषा देवता, उष्णिक् छन्दः । अत्रापि स्त्रीत्वेन परमात्मा प्रार्थ्यते, हे वाजिनीवति सुखशान्तिप्रदक्रियावति परमेश्वरे उषः, त्वमस्मभ्यमुपासकेभ्यस्तच्चित्रं विलक्षणं चायनीयं वा वस्तु ज्ञानरूपं वा भक्तिरूपं वा सत्यसदाचारादिरूपं वा, आ भर आहर येन हेतुना तोकं पुत्रं तनयं पौत्रादिकं च धामहे दध्महे, सर्वांस्तारयामेत्यर्थः । डुधाञ् धारणपोषणयोः ॥ १।८ ॥

१७३२. उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि ।
रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति ॥ २।८ ॥ (ऋ० १।९२।१४)

उष इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे गोमति विद्यावति प्रकाशवति वा, हे अश्वावति वेगवति, हे विभावरि प्रभावति, हे सूनृतावति सत्यवति उषः सर्वदुःखदाहिके परमेश्वरे, अस्मे अस्माकम् । रेवत् दानवत् दानयुक्तं यथा तथा व्युच्छ विवासय तमोज्ञानम् । ज्ञानदानपूर्वकं तमो वारयेत्यर्थः ॥ २।८ ॥

१७३३. †युङ्क्ष्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अद्यारुणाँ उषः ।
अथ नो विश्वा सौभगान्या वह ॥ ३।८ ॥
(ऋ० १।९२।१५)

युङ्क्ष्वेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे वाजिनीवति सुखशान्तिप्रदक्रियावति उषः, अद्येदानीम् । हिर्निश्चये, अरुणान् आरोचनान् । 'अरुण आरोचन' इति यास्कः (नि० ५।२१) अश्वान् पारमार्थिके-

† युक्ष्वेत्यृक्पाठः ।

मार्गे शीघ्रगतीञ् जीवान् युङ्क्ष्व योजय त्वयीतिशेषः। अथ अन्यच्च विश्वानि सर्वाणि सौभगानि सौभाग्यानि नोस्मभ्यम् आवह आनय ॥ ३।८ ॥

१७३४. अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद्दस्रा हिरण्यवत् ।
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम् ॥ १९ ॥ (ऋ० १।९२।१६)

अश्विनेति । गोतमो राहूगण ऋषिः, अश्विनौ देवता। उष्णिक् छन्दः । हे अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ, युवामस्मदस्माकं वर्तिर्निवासस्थानमाश्रय इत्यर्थः । सूर्यस्तपति वर्षं पातयति अन्नादीनुत्पादयति तेन जीवा जीवन्ति, इत्येवं स आश्रयः । चन्द्रोपि स्ववर्त्यमृतधारया ओषध्यादीन् वनस्पतीन् वर्धयति रसवच्च करोति तेन च जीवाः स्वास्थ्यसमृद्धि लभन्ते चन्द्रदर्शनेनाह्लादं चानुभवन्तीत्यसावपि आश्रयः । आश्रयः कीदृशः ? गोमन् गोमान् । यत्र गावोपि सन्ति ज्ञानान्यपि सन्ति, गावोपि जीवन्ति सूर्यरश्मिसूर्यदत्तजलादिभिरिति स गोमान् । हिरण्यवत् हिरण्यवान् स हितोप्यस्ति रमणीयोप्यस्ति, हिरण्यं हितं रमणीयं च भवति, युवां कीदृशौ ? दस्रा दस्रौ अस्वास्थ्यादीनामहितानां वस्तूनां क्षेप्तारौ नाशयितारौ, समनसा समनसौ समानं मनो ययोस्तौ । युवामुभावपि ऐकमत्येन प्राणिनामुपकारं विधत्थ इति । एवंभूतौ युवाम् अर्वाक् अर्वाचीनमस्माकं रथं शरीररूपमा नि यच्छतं समन्तान्नियमयतमित्यर्थः । नायं रथः कुपथगामी स्यादिति युवाभ्यामेव द्रष्टव्यम् । शरीररक्षा युष्मदधीनेत्यर्थः ॥ १९ ॥

१७३५. एह देवा मयोभुवा दस्रा हिरण्यवर्तनी ।
उषर्बुधो वहन्तु सोमपीतये ॥ २१९ ॥ (ऋ० १।९२।१८)

एहेति । ऋष्यादय उक्ताः, देवौ दिव्यौ, मयोभुवौ सुखोत्पादकौ, मयः सुखं भावयत इति, दस्रावनारोग्यस्य क्षेप्तारौ,

हिरण्यवर्तनी हिरण्यं हिता रमणाया च वर्तनिः स्थितिर्ययोस्तौ, उषर्बुध उषसि जागरणशीला युवां सोमपीतये भक्तिरसपानाय इह उपासनामन्दिर आ वहन्तु प्रापयन्तु। सूर्यागमनानन्तरमेव प्रातरुपासना चन्द्ररुगमनानन्तरमेव सायमुपासना प्रवर्तत इति तयोरागमने औत्सुक्यं प्रदर्श्यते ॥ २।९ ॥

१६३६. यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रथुः।
आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवम् ॥ ३।९ ॥

(ऋ० १।९२।१७)

यावित्थेति। ऋष्यादय उक्ताः, यौ युवामश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ। दिवो द्युलोकादाकाशात् इत्था इत्थम् श्लोकं प्रशस्तं ज्योतिः प्रकाशं जनाय जनकल्याणाय चक्रथुः कुरुतः, तौ युवम् युवाम्। नोस्मभ्यम्। ऊर्जं बलं साहसं वा आ वहतं प्रापयतम्। ज्योतिर्बलस्य कारणमिति सूचितम् ॥ ३।९ ॥

इति द्वितीयः खण्डः



अथ तृतीयः खण्डः

१७३७. अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवाऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ १।१० ॥ (ऋ० ५।६।१)

अग्निं तमिति। वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः, अग्निर्देवता, पंक्तिश्छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१० ॥

† पूर्वार्चिके ४२५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१७३८. अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः ।
अग्नी राये स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिषं स्तोतृभ्य
आ भर ॥ २।१० ॥ (ऋ० ५।६।३)

अग्निर्हीति । ऋष्यादयः पूर्वोक्ताः विश्वचर्षणिः सर्वद्रष्टा अग्निः परमेश्वरः । हिर्निश्चयार्थे, विशे प्रजाभ्यः । एकवचनमविवक्षितम् । वाजिनं धनं ज्ञानरूपं ददाति, यद्यपि वाज इति धननाम अन्ननाम च, वाजिनमित्यस्य धनवन्तमन्नवन्तं वेति स्यादर्थस्तथापीह वृत्तौ वाजार्थ एव युक्तः । अथवा वाजिनं ज्ञानिनं शिष्यादिकं पुत्रादिकं वा ददाति, प्रीतः प्रसन्नः सोग्निः । स्वाभुवं स्वत एवाभुवं जातम् । अथवा स्वस्मिन् परमात्मनि आभुवं संलग्नमुपासकम् । राये दानाय ज्ञानस्येत्यर्थः । याति प्राप्नोति, हे अग्ने त्वमेवमसि ततो वार्यं वरणीयं श्रेष्ठमिषं धनं ज्ञानरूपम् । स्तोतृभ्य उपासकेभ्य आ भर आहर ॥ २।१० ॥

१७३९. सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः ।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरय इषं स्तोतृभ्य
आ भर ॥३।१०॥ (ऋ० ५।६।२)

सो अग्निरिति । ऋष्यादय उक्ताः, योग्निः परमेश्वरो वसुर्वासयिता आश्रयदाता सर्वेषाम् । सं गृणे स्तूयते, यं धेनवो वाचः प्रार्थनारूपाः स्तुतिरूपाश्च सम् आयन्ति प्राप्नुवन्ति, अर्वन्तः परमात्मानं प्रतिगन्तार उपासकाः । रघुद्रुवः शीघ्रगतिकाः । न विलम्बं सहन्ते भक्ताः परमेश्वरदर्शनस्य । यं समायन्ति सुजातासः सुष्ठु प्रकृतिमन्तः । सूरयो विद्वांसो यं सम् आयान्ति स त्वं हे अग्ने स्तोतृभ्य इषमाभरेति व्याख्यातम् ॥ ३।१० ॥

१७४०. महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती। यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥१।११॥

(ऋ० ५।७९।१)

महे न इति। सत्यश्रवा आत्रेय ऋषिः, उषादेवता, पङ्क्तिश्छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।११ ॥

१७४१. या सुनीथे शौचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिवः।
सा व्युच्छ सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते
अश्वसूनृते ॥ २।११ ॥ (ऋ० ५।७९।२)

या सुनीथ इति। ऋष्यादय उक्ता, हे सुनीथे रमणीयस्तुते शोभना नीथा स्तुतिर्यस्याः सा। सम्बुद्धौ। हे दिवः प्रकाशस्य ज्ञानस्य दुहितर्दोग्घ्रि, या त्वं शौचद्रथे खिन्नदेहे खिन्नमनसि वा, रथस्थानीयं हि मनः। मन आरुह्य जीव इतस्ततो भ्राम्यति, अथवा शौचद्रथः कस्यचिच्छुचद्रथस्य पुत्रः। तस्मिन्वर्तमानं तमोज्ञानं व्यौच्छौ व्युच्छितवती विवासितवती तथैव सा त्वं सहीयदि वलवति सहनशीले वा स्थितं तमो व्युच्छ विवासय। अन्यन्पूर्वार्चिके व्याख्यातम्‡ ॥ २।११ ॥

१७४२. सा नो अद्याभरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिवः।
यो व्यौच्छः सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते
अश्वसूनृते ॥ ३।११ ॥ (ऋ० ५।७९।३)

---

† पूर्वार्चिके ४२१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ पूर्वार्चिके ४२१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

सा न इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। सा उषा अद्येदानीं नोस्मभ्यम् वसु वसूनि आभरत् आहरतु। शिष्टं स्पष्टम् †॥ ३।११॥

१७४३. प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।

स्तोता वामश्विनावृषिः ‡स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ १।१२॥ (ऋ० ५।७५।१)

प्रतिप्रियेति। अवस्युरात्रेय ऋषि, अश्विनौ देवता, पङ्क्तिश्छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः *॥ १।१२॥

१७४४. अत्यायातमश्विना तिरो विश्वा अहं सना।

दस्रा हिरण्यवर्तनो सुषुम्णा§ सिन्धुवाहसा माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ २।१२॥ (ऋ० ५।७५।२)

अत्यायातेति। ऋष्यादय उक्ताः, ननु कावत्राश्विनौ? न सूर्याचन्द्रमसौ न वा द्यावापृथिव्यौ, अति आयातमितिक्रियाया अनुपपत्तेः। न वा कौचित्स्ववैद्यो तयोरप्यागमनासिद्धेः। सत्यम्। अश्विनौ इतिपदं परमेश्वरमेवाभिधत्ते। द्विवचनं तु प्रसिद्धिनियन्त्रितम्। हे अश्विनौ परमेश्वर, अति आयातं सर्वानेव मद्विरुद्धव्यवहारान् अति अतीत्य विस्मृत्य आयातमायाहि, तिरः प्राप्तान्याचार्योपदिष्टानि विश्वा विश्वानि सर्वाण्येव कर्माणि। अहमनुतिष्ठामीत्यर्थः। योग्यक्रियाध्याहारः। किंभूतस्त्वम्? सना सनातनः। दस्रा दस्रः सर्वदोषनिराकर्ता। हिरण्यवर्तनी हिरण्यवर्तनिर्हितं रमणीयं च वर्तनं यस्य सः। सुषुम्णा सुन्दरं सुसुम्नः

---

† पूर्वार्चिके ४२१ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

‡ 'स्तोमेन प्रतिभूषति माध्वी.....' इत्यृक्पाठः।

* पूर्वार्चिके ४१८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

§ सुषुम्नेत्यृक्पाठः।

सुखं यस्य सः। रास्नासास्ना' 'इति भोजसूत्रेण (२,२,१८४) निपातितः। सुद्युनिषु माङो ङिच्चेति सुपूर्वकान्माङो निष्पन्नः शब्दः। सिन्धुवाहसा सिन्धुवाहः सिन्धूनां स्पन्दनशीलाना द्रुतहृद-यानां भक्तानां वाहकः स्वधाम प्रापकः। माध्वी मधुनो मधु-रस्य माधुर्यस्य वा सम्वन्धिन् परमेश्वर, मम हवमाह्वानं श्रुतं शृणुहि ॥ २।१२ ॥

१७४५. आ नो रत्नानि बिभ्रतावश्विना गच्छतं युवम् ।
रुद्रा हिरण्यवर्तनी जुषाणा वाजिनीवसू माध्वी मम
श्रुतं हवम् ॥ ३।१२॥ (ऋ० ५।७५।३)

आ न इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे अश्विना परमेश्वर, नोस्मभ्यं रत्नानि रमणीयवस्तूनि सत्यशमदमसदाचारादीनि बिभ्रतौ विभ्रद् युवं त्वम्। आ गच्छतमागच्छ, कीदृशस्त्वम् ? रुद्रा रुद्रो दुष्टान्रो-दयसीति, अथवा रुद्रः स्तोता (निघ० ३,१६,१२)। सज्जनान्स्तौ-षीति, हिरण्यवर्तनी, व्याख्यातम्। जुषाणा जुषाणः प्रीतः। आनन्दस्वरूप इति भावः। प्रीणयन्वा भक्तान्। वाजिनीवसू ज्ञानिन एव वसु यस्य सः। माध्वी इत्यादि व्याख्यातम् ॥ ३।१२ ॥

इति तृतीयः खण्डः



अथ चतुर्थः खण्डः

१७४६. अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ
॥ १।१३ ॥ (ऋ० ५।१।१)

अवोध्यग्निरिति। वुधगविष्ठिरावात्रेयौ ऋषी, अग्निर्देवता, त्रिष्टुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः † ॥ १।१३ ॥

१७४७. अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्निः सुमनाः प्रातरस्थात्। समिद्धस्य रुशददर्शि पाजो महान् देवस्तमसो निरमोचि ॥ २।१३ ॥ (ऋ० ५।१।२)

अवोधीति। ऋष्यादय उक्ताः, होता सर्वपदार्थप्रदाता। अग्निः परमात्मा। देवान् भक्तानुपासकान्। यजथाय यष्टुं प्रसादयितुम्। देवार्थो यजिः। देवार्थश्च क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगत्यादिः। अवोधि बोध्यते भक्तैः। प्रतिबोधितः सम्प्रार्थित इत्यर्थः। सोग्निः सुमनाः शोभनमनस्कः सन् प्रातः उर्ध्वः अस्थात् उत्तिष्ठति भक्तसंनिहितो भवतीत्यर्थः। समिद्धस्य सन्दीप्तस्य प्रार्थनादिभिरतिभव्यस्य तस्य रुशत् रोचमाना पाजः शक्तिरदर्शि दृश्यतेऽनुभूयते भक्तैः। पश्चात् स महान् देवः परमेश्वरः। भक्तांस्तमसोज्ञानात् संसारदुःखाच्च निरमोचि निर्मोचयति ॥ २।१३ ॥

१७४८. यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्निः। आद्दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्युत्तानामूर्ध्वो अधयज्जुहूभिः ॥ ३।१३ ॥ (ऋ० ५।१।३)

यदीमिति। ऋष्यादय उक्ताः, यत् यदा। ईम् अयमाग्निः परमेश्वरः। गणस्य मनुष्यलोकस्य भक्तगणस्येति युक्तम्। रशनामङ्गुलिं हस्तमितियावत्। रशनेत्यङ्गुलिनाम (नि० २,५,६)। बन्धनं वा। अजीगः गृह्णाति गिरति वा तदा शुचिभिः पवित्रा-

† पूर्वार्चिके ७३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

भिर्गीर्भिः परमेश्वरोक्तसान्त्वनवाग्भिः शुचिर्दीप्तः प्रकाशितो हृष्टः सन् । अङ्क्ते सर्वं व्यक्तं पश्यति भक्तगणः । सत्यासत्यधर्माधर्मादिस्वरूपं स्पष्टतो जानातीत्याशयः । आत् अनन्तरम् । वाजयन्त्या ज्ञानदित्सन्त्या दक्षिणा दक्षिणया शक्त्या समर्द्धयित्र्या । दक्षिणा दक्षते समर्धयतिकर्मण इति यास्कः (नि० १,७) । युज्यते युक्तो भवति । उत्तानां उत्कृष्टाम् तां दक्षिणाम् । ऊर्ध्वं उन्नतः सन् स गणः । जुहूभिर्मनोभिः । जुह्वत्यात्मानं याभिस्ताजुह्वः । मनांसीति यावत् । अधयद्धयति पिबत्यनुभवतीत्यर्थः ॥ ३।१३ ॥

१७४९. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा । यथा प्रसूता सवितुः †सवायैवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥ १।१४ ॥ (ऋ० १।११३।१)

इदं श्रेष्ठमिति । कुत्स आङ्गिरस ऋषिः, उषा देवता, अर्धचस्य रात्रिर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । ज्योतिषां ग्रहनक्षत्रादीनां ज्योतिः प्रकाशकः । इदं श्रेष्ठं ज्योतिरयं श्रेष्ठः प्रकाशः । आगात् संप्राप्तः । संप्राप्ते तस्मिन् चित्र आश्चर्यकरं प्रकेतो ज्ञानं तच्च विभु व्यापकं सर्वत्र व्यापनशीलम् । आ अजनिष्ट प्रादुर्भवति । सवितुर्जगदुत्पादकात् परमेश्वरात् प्रसूता जाता रात्री आनन्दः । राति ददाति सुखमिति रात्री आनन्दः । ङीप् । उषसे दग्धाज्ञानवते सवाय चारित्रवते । षु प्रसवैश्वर्ययोः । उपासकाय, योनिम् स्थानमानन्दस्थानमिति यावत् । आ अरैक् आरिणक्ति कल्पयतीत्यर्थः ॥ १।१४ ॥

१७५०. रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः । समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥ २।१४ ॥ (ऋ० १।११३।२)

† सवाय एवेत्यन्यपाठः ।

रुशद्वत्सेति। ऋष्यादय उक्ताः, रुशद्वत्सा रोचमाना वत्सा यस्याः सा विद्या। रुशती स्वयं रोचमाना। श्वेत्या श्वेतवर्णा निस्तमाः। आगादागच्छति तदा कृष्णा कृष्णवर्णा अविद्या। अस्या अस्यै विद्यायै सदनानि स्थानानि आरैक् उ कल्पयति। रिचिर् विरेचने। समानवन्धू समानो वन्धुर्ययोस्ते उषा रात्रिश्च। परमात्मानमेवाश्रित्य ज्ञानं तिष्ठति तमेवाश्रित्याज्ञानमपीति समान आश्रय उभयोः। ननु ज्ञानस्वरूपं परमात्मानमविद्या कथमाश्रयतीतिचेत्, सर्वेषामाश्रयः परमेश्वर एवेतिसर्वतन्त्रसिद्धान्तः। ननु अविद्या तु विद्याभावरूपा। कथमभावस्य स्थितिरिति चेत् न, अविद्या अनादिः सती भावरूपा नाभावरूपास्ति। अमृते अमरणधर्माणौ। ननूदितायां विद्यायामविद्याया नाशः श्रूयते तर्हि कथममरणधर्मा सेति चेत् न, चिरकालवर्तितामाश्रित्य तस्या अमरणधमत्वं ख्यायते। किं च एकस्या अविद्याया नाशेपि तत्सजातीयानामन्यासामस्तित्वं तिष्ठत्येवेत्यतोपि सा अमरणधर्मा। अनूची अन्वञ्चन्त्यौ। अविद्यायाः पश्चाद्विद्यागच्छत्येव। विद्यानन्तरमविद्यापि दृश्यते। अतः परस्परमनुगच्छन्त्यौ। द्यावा द्योतमाने एकस्या ज्ञानरूपा द्युतिरपरस्या अज्ञानरूपा। नन्वज्ञानं तु तमोरूपं भवति कथं तस्य द्युतिरिति चेत्, द्युतिर्नेह सूर्यादिप्रकाशवद्ग्राह्या, किन्तु पदार्थसत्ताग्राहित्वमेव। अज्ञानमपि घटपटमठादिकं द्योतयत्येवेति तस्यापि द्युतिरस्त्येव। इत्थम्भूते विद्याविद्ये वर्णं वर्ण्यं वर्णनीयत्वेन भासमानं जगत्। आमिनाने हिंसन्त्यौ चरतो वर्तेते। अज्ञानं सत्यं हिनस्ति ज्ञानं चासत्यमितिमिथो हिंसनमुभयोः। श्रीयास्काचार्या अपि व्याख्यन्नेतं मन्त्रम्। सा व्याख्या निरुक्ते (२,२०) द्रष्टव्या ॥२॥१४॥

१७५१. समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।

न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥ ३॥१४ ॥ (ऋ० १।११३।३.)

समान इति । ऋष्यादय उक्ताः, स्वस्रोः स्वसृत्वेन प्रतीयमानयोर्विद्याविद्ययोः । अध्वा गमनमार्गः । समानस्तुल्यः । अनन्तश्च । चिरकालस्थायित्वादविद्यामार्गोऽप्यनन्त इवैवेति । देवशिष्टे भाग्यविहिते ते द्वे तं मार्गम् अन्यान्या एकैका चरतः क्रमेण वर्तेते । विद्याया अनन्तरमविद्या, अविद्याया अनन्तरं विद्या प्रवर्तत इति । ते द्वे अपि न मेथेते परस्परं न हिंस्तः । मिथृ मेथृ मेधाहिंसयोरित्येके । न तस्थतुः न च समानाश्रये तिष्ठतः । किंभूते ते ? सुमेके । मिह सेचने । मेहनं मेकः । शोभनो मेको–मेहो ययोस्ते । विद्याप्यात्मानं स्वरूपेण सिञ्चति । अविद्यापि संसारसांसारिकव्यवहाराणां कल्पितत्वेऽपि यावज्ज्ञानोदयमयं ब्राह्मणोयं क्षत्रिय इत्यादिरीत्या वर्णधर्मं सिञ्चति । मातापित्रित्यादिव्यवहारोपि सुष्ठुतयैवाविद्यया परिषिच्यते । नक्तोषासा नक्तोषासाविव । नक्तं रात्रिः । उषाः सूर्योदयात्प्राक्कालः । नक्तं जगदन्धयति । उषाश्च प्रकाशयति । अविद्यापि जगदन्धयति । विद्या तत्प्रकाशयति स्वरूपप्रकटनद्वारा । समनसा समनसौ समानमनस्के उभयोरपि मनः समानमेव । यावन्नावाप्तिर्विद्यायास्तावन्मातापितृगुर्वादीनां शास्त्रक्रमेण परिचरणमुपदिशन्ती विद्या साध्वेव कारयति । उदीयाना च विद्या जगत्सर्वं तिरोधाय सत्यं परमात्मानं प्रकाशयन्ती साधु कारयत्येव । विरूपे विपरीतरूपे एका प्रकाशस्वरूपा परा च तमःस्वरूपेति । ननु पूर्वमुक्तमविद्या विद्या च समानाश्रया, अत्रोच्यते न च ते समानाश्रये तिष्ठत इति । तच्च विरुद्धम् ? उच्यते । दृढज्ञानोदयात्परं न समानाश्रयतेति तात्पर्यम् ।। ३।१४ ।।

१७५२. आ भात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणां देवया वाचो अस्थुः ।
अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्ममच्छ
।। ३।१५ ।। (ऋ० ५।७६।१)

आ भात्येति । अत्रिर्भौम ऋषिः, अश्विनौ देवता, त्रिष्टुप् छन्दः । अग्निः प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः । उषसां सर्वदोषदहन-प्रवृत्तिशालिनां भक्तानाम् । अनीकं समूहम् । आ भाति आभा-पयति प्रकाशयतीतिभावः । विप्राणां मेधाविनाम् । विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३,१५,१) । देवया द्युतिकामा वाचः स्तुति-रूपाः परमेश्वरस्य । अस्थुरुत्तिष्ठन्ति । हे अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ, अर्वाञ्चा अर्वाञ्चौ अस्मासु प्रसन्नौ । रथ्या रथ्यौ रमणीयाविति-भावः । पीपिवांसं वृद्धं समृद्धम् । ओप्यायी वृद्धौ । धर्मं यज्ञम् । धर्म इति यज्ञनाम (निघ० ३,१७,१५) । घृ क्षरणदीप्त्योः । क्षरति भक्तिं दीपयति वा सदाचारम् । दीपयति भक्तं वा ज्ञानं वा । भक्तियज्ञस्थानमिति यावत् । अच्छ आभिमुख्येन । इह इदानीम् । आ यातमागच्छतम् । सूर्याचन्द्रमसोरागमनप्रार्थनं केवलमुपासना-कालद्योतनार्थम् । सूर्ये उदिते प्रातःप्रार्थनाकालः, उदिते च चन्द्रे सायंप्रार्थनाकाल इति बोध्यम् । प्रातःसायमुपासका उपासते परमे-श्वरं तदानीमेवोपासकाः परमोत्तमाः स्तुतीः कुर्वन्तीति ।। १।१५ ।।

१७५३ न संस्कृतं प्र मिमीतो गमिष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह ।
दिवाभिपित्वेऽवसागमिष्ठा प्रत्यवर्तिं दाशुषे शम्भविष्ठा
।। २।१५ ।। (ऋ० ५।७६।२)

न संस्कृतमिति । ऋष्यादय उक्ताः, सूर्याचन्द्रमसावेव स्तौति नूनमवश्यम् । अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ । संस्कृतं सम्यक्कृतमनुष्ठितं भक्तियज्ञं न प्र मिमीतः नोपेक्षेते । मीञ् हिंसायाम्, अत्रोपेक्षणार्थः । अन्ति अन्तिके यज्ञसमीपे च गमिष्ठा गमनशीलौ इह तद्यज्ञे च उपस्तुता उपस्तुतौ भवतः इतिशेषः । दिवा दिवसस्य अभिपित्वे प्राप्तौ दिवारम्भे इति यावत् । अभिपित्वमभिप्राप्तिम् इति यास्कः (नि० ३,१५) । अवसा रक्षणेन । हेतौ तृतीया । रक्षणार्थमिति

यावत् । अर्वाति प्रति न वर्त्तते मनस्यन्यत्किञ्चिद्यत्र तं यज्ञं प्रति । आगमिष्ठा आगन्तृतमौ अतिशयेनागन्तारौ । दाशुषे दत्तवते हृदयं परमेश्वराय । उपासकायेति यावत् । शम्भविष्ठा अतिशयेन शं कल्याणं भावयितारौ भवताम् ॥ २।१५ ॥

१७५४. उता यातं संगवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य ।
दिवा नक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान
॥ ३।१५ ॥ (ऋ० ५।७६।३)

उता यायमिति । ऋष्यादय उक्ताः उत अपि च हे अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ, आ यातमागच्छतम् । कदा ? संगवे संगच्छन्ते गावो गोष्ठे यदा तदा । सायङ्काल इत्यर्थः । सूर्यस्य उदिता उदितौ सूर्योदय इत्यर्थः । प्रातः प्रातःकाले । अह्नो दिवसस्य मध्यन्दिने मध्यकाले इति यावत् । त्रयः काला ऋषीणां वने वसतां गृह-निरपेक्षाणां वीतचिन्तानां वनजफलमूलाशनेन शमितोदराग्नीनां परमेश्वरोपासायै दिवसे । ततस्त्रिषु कालेषु सूर्याह्वानम् । नह्याहूतः सूर्यो वा चन्द्रो वा आगच्छति । समये तावुपतिष्ठत एव । प्रार्थना कालोपलक्षणमेतदिति पूर्वमुक्तम् । सूर्योदये सूर्य आगच्छत्वित्य-स्यापि प्रार्थनाकाल-सूचन एव तात्पर्यम् । दिवा दिवसे सूर्यः, नक्तं रात्रौ चन्द्रः, शन्तमेन परमसुखदेन अवसा रक्षणेन हेतुना चायातम् । द्विवचनक्रियां पृथक्कृत्य योजना कर्तव्या । हे सूर्य, त्वं प्रातःकाले आयाहि, हे चन्द्र त्वं रात्रौ आ याहीति । इदानीम् इदानीमपि अद्यपर्यन्तमुपासकः पीतिं पानं जलपानादिकं न ततान नाकरोत् । यावदुपासना न सम्पादिता भवति तावन्नैवोपासका जलं फलं वा गृह्णन्तीतिभावः ॥ ३।१५ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

अथ पञ्चमः खण्डः

१७५५. एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते । निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः ॥ १।१६ ॥ (ऋ० १।९२।१)

एता इति । गोतमो राहूगण ऋषिः, उषा देवता, जगती छन्दः । उषोवर्णनमत्र । एतास्त्यास्ता प्रतिप्रभातं दृश्यमाना उषसः । केतुं सर्वप्रज्ञापकं प्रकाशम् । अक्रत कुर्वन्ति । रजसोऽन्तरिक्षस्य । रजसी द्यावापृथिव्योः (निघ० ३।३०।८) । अत्र केवलं द्यौर्ग्राह्या । सा चान्तरिक्षम् । यास्कस्तु रजो रजतेः, ज्योती रज उच्यते इत्याह (नि० ४।१९) । पूर्वे अर्धे अन्तरिक्षस्य पूर्वार्धे । भानुं भानुना प्रकाशेन । तृतीयार्थे द्वितीया । अञ्जते समञ्जते समक्ता भवन्तीत्यर्थः । क इव ? धृष्णवो धर्षणशीला वीराः । आयुधानि इव । यथा आयुधानि समञ्जते तथा । एवं प्रति प्रत्यहम् । गावो गमनशीलाः प्रातरुषोरश्मयो वा अरुषीः आरोचमानाः । मातरो नद्य इवेतिशेषः । यन्ति गच्छन्ति । अथवा मातरो मातृभूताः सूर्यस्य सूर्यरश्मीनां वोत्पादकतया । गच्छन्ति ॥ १।१६ ॥

१७५६. उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत । अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः ॥ २।१६ ॥ (ऋ० १।९२।२)

उदपप्तेति । ऋष्यादय उक्ताः, अरुणा रोचमाना भानवो दीप्तयः । भा दीप्तौ । उषस इतिभावः । वृथा सहसा उदपप्तन् उत्पतन्ति निस्सरन्ति प्रसरन्तीतिभावः । स्वायुजः सु सुष्ठु आयुजः आयोक्तुं शक्या अरुषीर्दीप्यमाना गा रश्मीन् अयुक्षत भानवः प्रयुञ्जन्ति लोके । भानुभ्यो रश्मयो जायमानाः सत्यः सर्वतः

प्रसरन्तीतिभावः। ततः परमुषसः पूर्वथा पूर्वमिव पूर्वेषु कालेष्विव, वयुनानि ज्ञानानि सर्वेषाम् अक्रन् अकार्षुः कुर्वन्तीतिभावः। तदनन्तरं ता उषसः अरुषीः रोचमानाः सत्यः। रुशन्तं रोचमानं दीप्यमानं भानु सूर्यमशिश्रियुराश्रयन्ते। प्रथममुषास्ततस्तद्भानवः। ततस्तेषां भानूनां प्रसृतिः। सा एव सूर्योदयः। परं प्राणिनां स्वस्वकर्तव्ये नियोजनम्। अन्ते उषसः सूर्ये विलय इति दैनन्दिनक्रमः॥ २।१६॥

१७५७. अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः समानेन योजनेना परावतः। इषं वहन्तीः सुकृते सुदानवे विश्वेदह यजमानाय सुन्वते॥ ३।१६॥ (ऋ० १।९२।३)

अर्चन्तीति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। नारीः सर्वेषां प्राणिनां नेत्र्यः उषसः। समानेन एकेन। न एव। योजनेन उद्योगेन। आ परावतो दूरदेशपर्यन्तम्। परावत इति दूरनाम (निघ० ३। २६।५)। विष्टिभिर्व्यापिकाभिः स्वप्रभाभिः। विष्लृ व्याप्तौ। सह अपसः कर्माणि अर्चन्ति सम्मानयन्ति योजयन्तीतिभावः। प्रभोदयानन्तरमेव सर्वे कर्मनिरता भवन्तीत्याशयः। किं कुर्वत्य उषसः? सुकृते सदाचारिणे। सुदानाय सुपात्रेषु दरिद्रेषु शोभनं दानं कुर्वते यजमानाय परमेश्वरप्रवणाय। सुन्वते भक्तैश्वर्यशालिने। विश्वा इत् अह विश्वं सर्वमेव इषमिष्टं वहन्त्यो धारयन्त्यः॥ ३।१६॥

१७५८. अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्यु३षाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा। आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत्पृथक्॥ १।१७॥ (ऋ० १।१५७।१)

अबोध्यति। दीर्घतमा औचथ्य ऋषिः, अश्विनौ देवते,

जगती छन्दः । अग्निः प्रातर्होमाग्निः । अबोधि: प्रवुद्धः । कीदृशोग्निः ? ज्मः, ज्मा पृथिवी (निघ० १।१।३) । तत्सम्बन्धी । जमु धातोर्वा जनीधातोर्वा अञ्जधातोर्वा निपातितः (उ० १।१५५) । सूर्य उदेति । चन्द्रा आह्लादिका । मही महतो । उषाः । अर्चिषा तेजसा । वि आवः विवासयति । वसेर्लुङि । छान्दसश्च्लेर्लुक् । छान्दस एवाडागमः । हे अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ । अत्र केवलं सूर्यस्य ग्रहणम् । हे सूर्य यातवे जगद्भ्रमणाय । रथम् आयुक्षाताम् रथमायुङ्ग्धि । गमनाय सज्जो भवेतिभावः । सविता देवः परमात्मदेवः । जगद् गच्छतीति जगत् जङ्गममिति यावत् । पृथक् भिन्नभिन्नं कर्म कर्तुं प्रा सावीत् प्रसूतवान् ॥ १।५७ ॥

१७५९. यद्युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना
क्षत्रमुक्षतम् । अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतं वयं
धना शूरसाता भजेमहि ॥ २।१७ ॥ (ऋ० १।१५७।२)

यद्युञ्जाथे इति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । हे अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ, यद् यदा वृषणं सर्वेषामिष्टप्रदं रथं युञ्जाथे युवां योजयथः । रथयोजनं कार्यप्रवृत्तिः । यदा युवां स्वस्वनिष्पाद्येषु कार्येषु प्रवर्त्तेथे इत्यर्थः । तदा मधुना मधुरेण घृतेन तेजसा नोस्माकं क्षत्त्रं धनम् । क्षत्त्रमिति धननाम । उक्षतं उक्षथो वर्धयथः । अस्माकं ब्रह्मवर्चस्तेजो वा । पृतनासु मनुष्येषु मध्ये । जिन्वतं प्रीणयथः । वयं शूरसाता क्षूरसातौ वीरयोग्ये संग्रामे धना धनानि पोषणानि विजयमिति यावत् । भजेमहि प्राप्नवाम ॥ २।१७ ॥

१७६०. अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनोर्यातु
सुष्टुतः । त्रिबन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शं न आ
वक्षद्द्विपदे चतुष्पदे ॥ ३।१७ ॥ (ऋ० १५७।३)

अर्वाङ्ङिति। ऋष्यादय उक्ताः, अश्विनोः सूर्यस्य रथः। अर्वाङ् अस्मानुपलक्ष्य यातु यातुमुत्सहतामित्यर्थः। कीदृशो रथः? त्रिचक्रो वर्तमानभूतभविष्यत्कालास्त्रीणि चक्राणि यस्य सः। अथवा प्रातर्मध्याह्नसायमितिकालविशेषास्त्रीणि चक्राणि यस्य सः। मधुवाहनो मधुररसवाहकः। जीराश्वो वेगवन्तोश्वा यस्य सः। सुष्टुतः सुष्ठु स्तुतः सर्वैः। त्रिवन्धुरस्त्रिषुस्थानेषुनिम्नोन्नतः। प्रातर्निम्नः। मध्याह्न उन्नतः। सायं पुनर्निम्नः। मघवा धनदाता। विश्वसौभगो विश्वस्य सौभाग्यरूपः सर्वसौभाग्यसंयुतो वा। ईदृश् रथः। नोस्माकं द्विपदे मनुष्येभ्यः। चतुष्पदे पशुभ्यश्च। शम् आ वक्षत् सुखमावहतु ॥ ३।१७॥

१७६१. प्र ते धारा असश्चतो दिवो न यन्ति वृष्टयः।

अच्छा वाजं सहस्रियम् ॥ १।१८ ॥ (ऋ० ९।५७।१)

प्र त इति। अवत्सारः काश्यप ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः। हे सोम परमेश्वर, ते तव। असश्चतः परस्पराश्रिता धाराः अखण्डकृपाः। असश्चन्ती इति असज्ज्यमाने इति वाऽव्युदस्यन्त्याविति वेति यास्कः (नि० ५,२)। दिवो द्युलोकात्। वृष्टयः न वृष्टय इव। सहस्रिणं सहस्रसंख्याकं वाजं धनं लौकिकधनं पारलौकिकधनं च। अच्छा आभिमुख्येन। अस्मदभिमुखमित्यर्थः। यन्ति प्रगच्छन्ति प्रापयन्तीतिभावः ॥ १।१८॥

१७६२. अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चक्षाणो अर्षति।

हरिस्तुञ्जान आयुधा ॥ २।१८ ॥ (ऋ० ९।५७।२)

अभि प्रियाणीति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हरिः पापसंहारकः परमात्मा। आयुधा आयुधानि आयुधैः। तृतीयार्थे द्वितीया। संकल्परूपैः। तुञ्जानो हिंसन् दुर्जनान्। विश्वा विश्वानि विश्वे-

षामित्यर्थः। प्रियाणि सर्वप्रियकराणि कव्यानि वेदोपदेशान् चक्षाणो ब्रुवाणोऽभि अर्षति अभितो गच्छति ॥ २।१८ ॥

१७६३. स मर्मृजान आयुभिरिभो राजेव सुव्रतः।
श्येनो न वंसु षीदति ॥ ३।१८ ॥ (ऋ० ९।५७।३)

स इति। ऋष्यादय उक्ताः, सुव्रतः शोभनानि व्रतानि कर्माणि यस्य सः। आयुभिर्मनुष्यैरुपासकैः। मर्मृजानो गम्यमानो रम्यमाणोवा। मर्जयन्त गमयन्त रमयन्त इति यास्कः (नि० १२,४३)। इभ इतभयो निर्भय इति यावत्। इभेन गतभयेनेति यास्कः (नि० ६,१२)। राजा इव राजमान इव। श्येनः शंसनीयं गच्छन् परमेश्वरः। वसु वननीयेषु भक्त्यादिभिः कान्तेषु जनेषु। सीदति न तिष्ठतीव। नेति अव्ययं नामयोग्यपि क्रियापदान्वय्यत्र ॥ ३।१८ ॥

१७६४. स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि।
पुनान इन्दवा भर ॥ ४।१८ ॥ (ऋ० ९।५७।४)

स न इति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्दो परमैश्वर्य परमेश्वर, स त्वम्। दिवः अधि द्युलोके स्थितानि। उत अथवा। पृथिव्या अधि पृथिव्यां स्थितानि। अधीति सप्तम्यर्थबोधकम्। वसु वसूनि विश्वा सर्वाणि। नोस्मभ्यमाभर आहर। किं कुर्वन् पुनानः सर्वान्। नहि कश्चिदुपासकः परमेश्वरस्य, परमेश्वरं क्षुद्रं लौकिकं धनं याचते। अतोत्र वसुशब्दः परमात्मचरणनिवासप्रदज्ञानरूपधनवाचकः ॥ ४।१८ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

इत्यष्टमप्रपाठके तृतीयोर्धः; अष्टमप्रपाठकश्च समाप्तः

इत्येकोनविंशोध्यायः

अथ विंशोध्यायः

अथ नवमप्रपाठके प्रथमोर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१७६५. प्रास्य धारा अक्षरन्वृष्णः सुतस्यौजसः† ।
देवाँ अनु प्रभूषतः ॥ १।१ ॥ (ऋ० ९।२९।१)

प्रास्येति । नृमेध आङ्गिरस ऋषि, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । वृष्णः सर्वमनोरथपूरकस्य । सुतस्यैश्वर्यस्वरूपस्य । ओजस ओजस्विनः । देवान् विदुषः । अनु प्रभूषतः प्रभवितुमिच्छतः विद्वांसो मम मार्गमनुसरेयुरितीच्छतः । अस्य सोमस्य शान्तस्य परमेश्वरस्य धारा वाचः । धारेति वाङ्नाम । प्र अक्षरन् प्राक्षरन्ति प्रसरन्ति ॥ १।१ ॥

१७६६. सप्ति मृजन्ति वेधसो गृणन्तः कारवो गिरा ।
ज्योतिर्जज्ञानमुक्थ्यम् ॥ २।१ ॥ (ऋ० ९।२९।२)

सप्तिमिति । ऋष्यादय उक्ताः, वेधसो मेधाविनः, वेधा इति मेधाविनाम (निघ० ३,१५,६) । कारवः स्तोतारः परमात्मनः । कारुरिति स्तोतृनाम (निघ० ३,१६,३) । गिरा वाचा स्तुतिरूपया । ज्योतिर्ज्योतिस्स्वरूपम् । जज्ञानं भक्तानां सन्तोषाय जायमानमिव प्रतीयमानम् । उक्थ्यं स्तुत्यम् । सप्ति समवेतं

† स्यौजसा इत्यृक्पाठः ।

सर्वदा समीपे वर्तमानम् । सोमं परमात्मानम् । मृजन्ति अर्चन्ति ॥ २।१ ॥

१७६७. सुषहा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो ।
वर्धा समुद्रमुक्थ्य† ॥ ३।१ ॥ (ऋ० ९।२९।३)

सुषहेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे प्रभूवसो महाधन सोम परमेश्वर, पुनानाय सर्वानेव पवित्रान् कुर्वतः । षठ्यर्थे चतुर्थी । ते तव । तानि स्वरूपभूतानि तेजांसि दयादाक्षिण्यादीनि । सुषहा सुषहाणि शोभनम् बिरोधिनां पराभवितॄणि । तत् हे उक्थ्य स्तुत्य कामादिदोषविवजित । समुद्र सम्यक् क्लेदनीयं दयनीयमिति यावत् । उपासकं वर्ध वर्धय कृतार्थयेति भावः ॥ ३।१ ॥

१७६८ एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥ १।२ ॥
(न ऋग्वेदे दृश्यते)

एष ब्रह्मेति । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।२ ॥

१७६९. त्वामिच्छवसस्पते यन्ति गिरो न संयतः ॥ २।२ ॥
(न ऋग्वेदे दृश्यते)

त्वामिति । हे शवसो बलस्याध्यात्मिकस्य पते स्वामिन्, संयतो न संयमिनः पुरुषस्य वाच इव सर्वा गिरो वाचस्त्वामित् त्वामेव यन्ति प्राप्नुवन्ति । उपासकानामितिशेषः ॥ २।२ ॥

१७७० वि स्रुतयो यथा पथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥ ३।२ ॥
(न ऋग्वेदे दृश्यते)

---

† मुक्थ्यमित्यृक्पाठः ।

‡ पूर्वार्चिके ४३८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

वि स्तुतय इति । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ ३।२ ॥

१७७१. आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि ।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं‡ शविष्ठ सत्पतिम् ॥ १।३ ॥

(ऋ० ८।६८।१)

आ त्वेति । प्रियमेध आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, प्रगाथः (अनुष्टुप्) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ १।३ ॥

१७७२. तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते ।
आ पप्राथ महित्वना ॥ २।३ ॥ (ऋ० ८।६८।२)

तुविशुष्मेति । ऋषिदेवते उक्ते, गायत्री छन्दः । हे तुविशुष्म महाबल । तुवीति बहुनाम (निघ० ३,१,२) । तुविक्रतो बहुकर्मन् बहुप्रज्ञ वा । क्रतुरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम च । हे शचीवः बहुवाक्सम्पन्न । शचीति वाङ्नाम (निघ० १,११,४९) कर्मनाम (निघ० २,१,२२) । शची इति प्रज्ञानाम (निघ० ३,९,८) । वाक्छब्देनात्र विद्या ग्रहीतव्या । मते मेधाविन् । मतिरिति मेधाविनाम (निघ० ३,१६,२२) । विश्वया जगद्व्यापिना । महित्वना महत्त्वेन । आ पप्राथ सर्वं पूरितवान् ॥ २।३ ॥

१७७३. यस्य ते महिना महः परि ज्मायन्तमीयतुः ।
हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ॥ ३।३ ॥ (ऋ० ८।६८।३)

यस्येति । ऋष्यादय उक्ताः, यस्य ते तव गुणा उक्तास्तस्य महो महतस्ते तव महिना महत्त्वेन महान्तौ वा । हस्ता हस्तौ

---

† पूर्वार्चिके ४५३ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ मिन्द्र इत्यन्यपाठः ।
* पूर्वार्चिके ३५४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

ज्मायन्तं पृथिव्यां व्याप्नुवन्तम् । ज्मा इति पृथिवीनाम् । हिरण्ययं हितरमणीयवन्तं वज्रं भयवारणसाधनम् । ईयतु गृह्णीतः ॥ ३।३ ॥

१७७४. आ यः पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो३नार्वा ।
सूरो न रुरुक्वाँ† छतात्मा ॥ १४ ॥ (ऋ० १।१४९।३)

आ य इति दीर्घतमा औचथ्य ऋषिः, अग्निर्देवता । विराट् छन्दः । अत्यो गम्यः । कविः क्रान्तदर्शी । नभन्योभेद्यः । अर्वा न आकाशमिव । इर्यति सर्वत्रेत्यर्वा । सूरो न सूर्य इव रुरुक्वान्-दीप्तिमान् शतात्मा अनन्तात्मा । योग्निः प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः । नार्मिणीं सुखकरीं पुरं मोक्षपुरीम् आ अदीदत् आदीपयति प्रकाशयति ॥ १।४ ॥

१७७५. अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो
अस्थात् । होता यजिष्ठो अपां सधस्थे ॥ २।४ ॥
(ऋ० १।१४९।४)

अभि द्विजन्मेति । ऋष्यादय उक्ताः, द्विजन्मा भक्त्या ज्ञानेनेतिद्वाभ्यां जन्म साक्षात्कारो यस्य सः । त्री त्रीणि रोचनानि सूर्याग्नीन्दुरूपाणि । विश्वा विश्वान् रजांसि लोकान् शुशुचानो दीपयमानः । होता दाता । यजिष्ठोतिशयेन दीप्यमानः पूजनीयो वा । परमात्मा । अपां जीवनाम् । आप्नुवन्ति परमिति । सधस्थे सहस्थाने भक्तिमन्दिरे अभि अस्थात् अभितिष्ठति । सर्वदा तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २।४ ॥

१७७६. अयं स ‡होता द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या ।
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥ ३।४ ॥ (ऋ० १।१४९।५)

---

† रुरुक्वाञ्छतात्मेत्यृक्पाठः ।

‡ होता यो द्विजन्मेत्यृक्पाठः ।

अयं स होतेति । ऋष्यादय उक्ताः, द्विजन्मा भक्तिज्ञानजातो होता सर्वप्रदाता । सोयमग्निः परमेश्वरः । श्रवस्या श्रवस्यया धनेप्सया वार्याणि वरणीयानि विश्वा विश्वानि वस्तूनि तस्मै सुतुकः सुतुके सदपत्याय । तुगित्यपत्यनाम (निघ० २,२,१) दधे धारयति यो मर्तो मनुष्यः अस्मै परमात्मने ददाश ददात्यात्मानम् समर्पयतीतिभावः ॥ ३।४ ॥

१७७७. अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् ।
ऋध्यामा त ओहैः ॥ १।५ ॥ (ऋ० ४।१०।१)

अग्ने इति । वामदेवो गौतम ऋषिः, अग्निर्देवता, पदपङ्क्तिश्छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।५ ॥

१७७८. अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः ।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ २।५ ॥ (ऋ० ४।१०।२)

अधा ह्येति । ऋष्यादय उक्ताः, हे अग्ने परमेश्वर । अधा हि अद्यैव । अस्माकं बृहतो महतः । ऋतस्य सत्यस्य दम्भरहितस्येत्यर्थः । साधोः सर्वमनोरथसाधकस्य । दक्षस्य श्रेयःसाधनकुशलस्य । भद्रस्य भन्दनशीलस्य । क्रतोर्यज्ञस्य भक्तिरूपस्य ज्ञानरूपस्य वा । रथीर्नेता बभूथ भव ॥ २।५ ॥

१७७९. एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ्क्स्वर्ण‡ ज्योतिः ।
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥ ३।५ ॥ (ऋ० ४।१०।३)

एभिरिति । ऋष्यादय उक्ता, हे स्वर्ण शोभनतया प्राप्य । ऋ गतौ । अर्यते प्राणिभिरिति । यद्यपि 'उदके नुट् च (उ०

† पूर्वार्चिके ४३४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।
‡ अर्वाङ्स्व २र्णोति ऋक्पाठः ।

४,१९२) इति सूत्रेणोदकार्थं एव नुड् विहितस्तथापि बाहुलकाद-नुदकेपि । हे ज्योतिः ज्योतिःस्वरूप । अग्ने परमेश्वर । विश्वेभिः सर्वैः । अनीकैः प्राणनसामर्थ्यैः । अन प्राणने । ईकन् (उ० ४,२३) प्रत्ययः । सुमनाः शोभनमनस्को भवन् । एभिः क्रिय-माणैर्नोस्माकमर्कैः स्तोत्रैः । त्वं नोस्माकम् । अर्वाङ् अभिमुखो भव ।। ३।५ ।।

इति प्रथमः खण्डः

●

अथ द्वितीयः खण्डः

१७८० अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।

आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ।। १।६ ।।

(ऋ० १।४४।१)

अग्ने इति । प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः, अग्निर्देवता, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ।। १।६ ।।

१७८१. जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्व-

राणाम् । सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि

श्रवो बृहत् ।। २।६ ।।

जुष्टो हीति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः प्रगाथः (समा सतो बृहती) । हे अग्ने परमेश्वर, जुष्टः सेवितः सर्वैः । दूतो दुर्जनानां वारयिता । दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वेति यास्कः (नि० ५,१) हव्यवाहनो हव्यानां सत्याहिंसादीनां प्रापकः । अध्वराणां

† पूर्वार्चिके ४० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

पवित्रकर्मणाम् । रथीर्नेता चासि । अश्विभ्यां सूर्याचन्द्रमोभ्या-मुषसा च सजूः सहितो भूत्वा । अस्मे अस्मासु सुवीर्यं महतीं शक्तिं बृहत् महच्च श्रवः ज्ञानं धेहि निधेहि । सूर्यस्य चन्द्रस्य च वैज्ञानिकसेवनेनानेकेषां रोगाणां निवृत्तिः शरीरसौन्दर्यं बलवृद्धिश्च भवति । उषसि जागरणेन स्वजीवनपर्यालोचनेन त्यागसंग्रहाभ्यां ज्ञानं वर्धते ॥ २।६ ॥

१७८२. विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः
समान ॥ १।७ ॥ (ऋ० १०।५५।५)

विधुमिति बृहदुक्थो वामदेव्य ऋषिः, इन्द्रो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।७ ॥

१७८३. शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः
सनादनीडः । यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु
स्पार्हमुत जेतोत दाता ॥ २।७ ॥ (ऋ० १०।५५।६)

शाक्मनेति । ऋष्यादयः पूर्ववत् , यः शाक्मना शक्मना शक्त्या । शाकः शक्तः । स्वशक्त्यैव सर्वं कर्तुं स शक्तः । न ब्रह्मा-दीनां सर्जनादौ साहाय्यं सोपेक्षत इत्यर्थः । अरुणः आरोचनः प्रकाशक इत्यर्थः । सुपर्णः सुष्ठु पालनकर्ता । महो महांस्तेजस्वी वा । शूरः सर्वोपद्रवविशरणकर्ता । सनात् सनातनः । अनोडो-निकेतः । स परमेश्वर आ आगच्छत्विति भावः । उपसर्गवशाद् योग्यक्रियाध्याहारः । स परमात्मा यत् चिकेत जानाति तत् सत्यम् इत् सत्यमेव । न मोघं व्यर्थं मिथ्येतिभावः । स स्पार्हं स्पृहणीयं

† पूर्वार्चिके ३२५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

वसु धनं ज्ञानरूपम् । उत जेता च । उत दाता प्रदाता च । स्पृहणीयं वस्तु ज्ञानादिकं लौकिकं धनादिकं च स जयति सद्भ्यो ददाति चेतिभावः । जयनं दानं च स्वाभाविकं तस्य ।। २।७ ।।

१७८४. ऐभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद्वृत्रहत्याय वज्री ।
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋतेकर्ममुदजायन्त
देवाः ।। ३।७ ।। (ऋ० १०।५५।७)

ऐभिरिति । ऋष्यादय उक्ताः, एभिर्यैर्हेतुभिः । स इन्द्रः परमेश्वरः । वृष्ण्या वृष्ण्यानि सर्वेच्छानिर्वर्तकानि पौंस्यानि सामर्थ्यानि । आ ददे गृह्णाति । समर्थोस्तीतिभावः । येभिर्यैश्च । वृत्रहत्याय पापबाधायै वज्री सन् गतिशीलः सन् औक्षत् कृपावृष्टि करोति । ये यैश्च हेतुभिः । क्रियमाणस्य जनैः सम्पाद्यमानस्य कर्मणः सतः । मह्ना महत्त्वेन । देवा विद्वांसः । उद् अजायन्त उत्कृष्टाः सन्तो जायन्त इत्यर्थः । ते हेतवः के ? तत्राह ऋतेकर्मम् ऋतं कर्म । सत्यं कर्म । निर्दम्भं क्रियमाणानि कर्माण्येव ते हेतवः । सन्ति कर्माणि कारयितुमेव तस्य सामर्थ्यं देवानां विदुषां जनिश्चेतिभावः ।। ३।७ ।।

१७८५. अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।
उत स्वराजो अश्विना ।। १।८ ।। (ऋ० ८।९४।४)

अस्तीति । बिन्दुः पूतदक्षोवा आङ्गिरस ऋषिः, मरुत् देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ।। १।८ ।।

१७८६. पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूतस्य वरुणः ।
त्रिषधस्थस्य जावतः ।। २।८ ।। (ऋ० ८।९४।५)

---

† पूर्वार्चिके १७४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्य ।

पिबन्तीति। ऋष्यादय उक्ताः, सोमं परमशान्तं परमेश्वरं पूतस्य पवित्रस्य त्रिषधस्थस्य त्रिषुकालेषु सह सीदन्त्युपासका यत्र तस्य। जावतः सज्जनवतः। जायन्त इति जाः अपत्यानि। जा इत्यपत्यनाम (निघ० २,२,९)। भक्तियज्ञस्य। तना तनेन धनेन समृद्धयेत्यर्थः। तनेति धननाम (निघ० २,१०,१९)। मित्रो मित्रं। स्निग्धो जनः। अर्यमा गमनशीलो जनो नापङ्गुः। वरुणो वरणीयः श्रेष्ठः। एते सर्वे पिबन्ति परमात्मानमनुभवन्तीति-भावः॥ ३१८॥

१७८७. उतोन्वस्य जोषमा† इन्द्रः सुतस्य गोमतः।
प्रातर्होतेव मत्सति॥ ३१८॥ (ऋ० ८।९४।६)

उतो इति। ऋष्यादय उक्ताः, उतो अपि च, इन्द्रः परमात्मा। गोमतो विद्यावतो विदुष इति यावत्। सुतस्य ऐश्वर्यशीलस्य। अस्योपासकस्य। जोषं सेवां परमेश्वरसेवामितियावत् तां च भक्तिरूपाम्। प्रातः आ आकलय्य। होता इव महान् दाता इव मत्सति माद्यति प्रसीदति॥ ३१८॥

१७८८. बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि। महस्ते सतो
महिमा ‡पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि॥ ३१९॥
(ऋ० ८।१०१।११)

बण्महानिति। जमदग्निर्भार्गव ऋषिः, सूर्यो देवता। प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः* ॥ ३१९॥

---

† जोषमां इत्यृक्पाठः।

‡ पनस्यतेऽद्धा देवेत्यृक्पाठः।

* पूर्वार्चिके २७६ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१७८९. वट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि ।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥२।९॥
(ऋ० ८।१०१।१२)

वट् सूर्य इति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः (समा सतो बृहती) प्रगाथः । हे सूर्य, सर्वत्र सरणशील, परमेश्वर, ब्रट् सत्यं त्वं श्रवसां श्रूयत इति श्रवः कीर्तिस्तया । महान् असि । हे देव दिव्य-गुणयुक्त, देवानां विदुषां सूर्यचन्द्रादीनां वा मध्ये महानसि इत्यपि सत्रा सत्यम् । बडिति सत्रेति च सत्यनाम (निघ० ३,१०,१७३) । असुर्योऽसुराणां दुर्जनानां नाशकश्चासि । पुरोहितः सर्वेषां पुराग्रे हितं दधाति तथा त्वमसीति । किं च त्वं विभु व्यापकं ज्योति-ज्योतिःस्वरूपमदाभ्यमहिंस्यं च परं ब्रह्मासि ॥ २।९ ॥

इति द्वितीयः खण्डः



अथ तृतीयः खण्डः

१७९०. उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते ।
उप नो हरिभिः सुतम् ॥ १।१० ॥ (ऋ० ८।९३।३१)

उप न इति । सुकक्ष आङ्गिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१० ॥

१७९१. द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः ।
उप नो हरिभिः सुतम् ॥ २।१० ॥ (ऋ० ८।९३।३२)

† पूर्वार्चिके १५० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

द्वितेति। ऋष्यादय उक्ताः, वृत्रहन्तमः पापानामतिशयेन हन्ता। शतक्रतुः शतकर्मानन्तकर्मानन्तप्रज्ञो वा। य इन्द्रः परमैश्वर्यःपरमेश्वरः। द्विता द्वयोर्भावः। विदे ज्ञायते। रक्षको महात्मनां नाशकश्चदुरात्मनामिति तस्य रूपस्य द्वित्वं ज्ञायते। स परेशः। हरिभिर्भव्यैर्महात्मभिः सह भव्यैः सत्यसदाचारादिभिर्देयैः सह वा सुतं भक्तियज्ञम् आगच्छतु॥ २।१०॥

१७९२. त्वं हि वृत्रहन्नेषां पाता सोमानामसि।
उप नो हरिभिः सुतम्॥ ३।१०॥ (ऋ० ८।९३।३३)

त्वं हेति। ऋष्यादयः उक्ताः, हे वृत्रहन् वृत्राणां पापानामावरकाणां हन्तः परमेश्वरः, त्वं हि अवश्यमेव त्वम् एषां सोमानामुपासकानां तव परमभक्तानां सत्यसदाचारयुक्तानां पाता रक्षकोसि। उप न इत्यादि गतम्॥ ३।१०॥

१७९३. प्र वो महे †महेवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः॥ १।११॥
(ऋ० ७।३१।१०)

प्र व इति। वसिष्ठो मैत्रावरुणि ऋषिः, इन्द्रो देवता, विराट् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः‡॥ १।११॥

१७९४. उरुव्यचसे महिने सुवृक्तिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः।
तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः॥ २।११॥
(ऋ० ७।३१।११)

---

† महिवृधे इत्यृक्पाठः।

‡ पूर्वार्चिके ३२८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

उरुव्यचस इति। उरुव्यचसे बहुच्छद्मने बहुशरीरधारिणे इत्यर्थः। नास्ति शरीरी आत्मा, किन्तु कर्मफलभोगाय तस्य बहूनि शरीराणि भवन्ति, यन्नास्ति तत्प्रदर्श्यते चेत् तच्छद्म भवति, शरीरं नास्ति प्रदर्श्यते चेति शरीरधारणमेव च्छद्म, महिने महते महत्त्वपूर्णाय। इन्द्राय जीवात्मने, विप्रा मेधाविनः। सुवृक्ति सम्यग् वर्जनं मायिकपदार्थानाम्, ब्रह्म परमात्मानं च जनयन्त जनयन्ति, प्राप्नुवन्ति, तस्य ब्रह्मद्रष्टुर्व्रतानि कर्माणि नियमान् वा धीराः मेधाविनः (निघ० ३,१५,४)। न मिनन्ति मिमते न मातुं पारयन्तीतिभावः। माङ् माने, विकरणव्यत्ययश्छान्दसः॥ २।११॥

१७९५. इन्द्रं वाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै।
हर्यश्वाय बर्हया समापीन्॥ ३।११॥

(ऋ० ७।३१।१२)

इन्द्रमिति। ऋष्यादय उक्ताः, वाणीः स्तुतयो बहुभिर्विद्वद्भिः कृताः। अनुत्तमन्युरनुत्तो मन्युर्यस्य तमनिवार्यफलक्रोधमित्यर्थः। णुदिर् प्रेरणे, राजानं दीप्यमानमिन्द्रं परमैश्वर्यं परमात्मानमेव सहध्यै सर्वानिवेष्टाननिष्टानि च सोढुं परिभवितुमित्यर्थः। सत्रा सत्यं दधिरे धारयन्ति, हे उपासक त्वमपि हर्यश्वाय हरिर्मनोहरोऽश्वः प्राप्तिर्यस्य तस्मै मनोहरप्राप्तये परमेश्वराय। आपीन् बन्धून् सम्बन्धिन् इत्यर्थः। सं बर्हय संवर्धय, आप्यन्त इति आपयः सम्बन्धिनः॥ ३।११॥

१७९६. यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय। स्तोतारमिद्धिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम्॥ १।१२॥

(ऋ० ७।३२।१८)

यदिन्द्रेति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः, प्रगाथः (विषमा बृहती) छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१२॥

१७९७. शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे रायं आ कुहचिद्विदे।
न हि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता च‡ न
॥ ३।१२॥ (ऋ० ७।३२।१९)

शिक्षेयेति। ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः प्रगाथः (समा सतो बृहती)। कुहचित् कुत्रचित् विदे विद्यमानाय दिवेदिवे प्रतिदिनं महयते मां पूजयते जनायोपासकाय। रायो दानानि सत्यसदाचारादीनां शिक्षेयम् इत् दादाम्येव, शिक्षतिर्दानकर्मा (निघ० ३,२०,८)। इति परमेश्वरस्य प्रतिज्ञां श्रुत्वाहोपासकः—हे मघवन् परमैश्वर्य, त्वदन्यत् त्वत्तोन्यत्। आप्यं प्राप्यम्। सम्बन्धीत्यर्थः। न अस्ति, वस्यो वासनीय आक्षयणीय इत्यर्थः। नास्ति पिता च न पालकश्च न हि अस्ति विद्यते ॥ ३।१२॥

१७९८. श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेर्बोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम्।
कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा ॥ १।१३॥ (ऋ० ७।२२।४)

श्रुधीति। वसिष्ठो मैत्रावरुणिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता, विराट् छन्दः। हे इन्द्र परमेश्वर, विपिपानस्य विशेषेण पिबतो भक्तिरसमास्वदमानस्य। अद्रेरविचाल्यस्य मम हवमाह्वानं प्रार्थनां श्रुधि शृणु। अर्चतस्त्वां पूजयतो विप्रस्य मनीषिणो मनीषां मननशक्ति बुद्धिं वा बोध बोधय प्रदीपय। इमा इमानि अन्तमा अन्तमानि अन्तिकतमानि दुवांसि परिचरणानि सेवनानि तव। सचा सहा-

† पूर्वार्चिके ३१० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।
‡ चनेत्यृक्पाठः।

स्माभिः। अस्माभिः सह स्थायीनीति यावत्। कृष्व कुरुष्व। सदा वयं त्वां परिचरेमेतिभावः॥ १।१३॥

१७९९. न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान्।
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि॥ २।१३॥
(ऋ० ७।२२।५)

न त इति। ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्र परेश, तुरस्य सर्वेषां भवसागरात्तारकस्य! तुर इति यम नाम तरतेर्वा त्वरतेर्वा त्वरया तूर्णंगतिरिति यास्कः (नि० १२,१४)। असुर्यस्य असून् राति ददातीत्यसुरस्तस्य भावस्यासुर्यस्य। वृत्तावपीह असुर एवार्थः। असुरस्येत्यर्थः। तव सुष्टुतिं शोभनां स्तुतिं विद्वान् सर्वत्र तव स्तुतिर्भवतीति जानन्। अहं ते तव गिरः स्तुतिरूपाः। न अपि नैव मृष्ये नैव त्यक्ष्यामि, किं च तव स्वयशः स्वेन त्वयैवोत्पादितं यशः, नाम च नमनं नमस्कारं च सदा विवक्मि वच्मि वक्ष्यामि वा॥ २।१३॥

१८००. भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित्।
मारे अस्मन्मघवञ्ज्योक्कः॥ ३।१३॥ (ऋ० ७।२२।६)

भूरीति। ऋष्यादय उक्ताः, हे मघवन् ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर, मानषेषु मनुष्येषु ते तव सम्बन्धीनि सवना सवनानि यज्ञाः सत्कर्माणीति यावत्। भूरि हि भूरीणि बहूनि सन्ति। तव प्रसादनार्थं मनुष्या बहूनि कर्माणि कुर्वन्तीतिभावः। मनीषी विद्वान् त्वाम् इत् त्वामेव भूरि अधिकं हवते आह्वयति। अतः, अस्मत् अस्मत्सकाशात्। आरे दूरे। ज्योक् चिरकालं मा कः मा कुरुः आत्मानमिति शेषः। चिरकालं यावदस्मत्तो दूरे मा तिष्ठेत्यर्थः। शीघ्रमेवास्माननुकम्पयेतिभावः॥ ३।१३॥

इति तृतीयः खण्डः

अथ चतुर्थः खण्डः

१८०१. प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत। अभीके
चिदु लोककृत्सङ्गे समत्सु वृत्रहा†। अस्माकं
बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि
धन्वसु ॥ १।१४ ॥ (ऋ० १०।१३३।१)

प्रो ष्वस्मा इति। सुदाः पैजवन ऋषिः, इन्द्रो देवता, शक्वरी छन्दः। हे उपासका, अस्मै अस्य। इन्द्रायेन्द्रस्य। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। पुरोरथमग्रे स्थिरं स्थातारम्। रथः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्येति यास्कः (नि० ९,११)। शूषं वलम् (निघ० २,९,१३)। सामर्थ्यम्। प्र उ सु अर्चत प्रकर्षेण सुष्टु अर्चत पूजयत प्रशंसत आत्मन्यानीय स्थापयतेत्यर्थः। तादृग्वरुवन्तो यूयमपि भवतेति भावः। समत्सु कामक्रोधादिभिर्जायमानेषु संग्रामेषु। अभीके चित् उ समीपेपि, सङ्गे शरीरस्पर्शे। स वृत्रहा पापघ्नः। लोककृत् अस्माकं दर्शनदाता। लोकृ दर्शने, साहाय्यप्रदानावसरे साहाय्यदातेत्यर्थः। चोदितास्माकं साहसानामुत्साहानां च प्रेरयिता स भवतीत्यर्थः। बोधि चास्माकं हार्दं च सोवबुध्यते। अन्यकेषां कुत्सितानामन्येषाम्। कुत्सार्थे कः। दुरितानां दुर्जनानां च। ज्याकाः कुत्सिता ज्याः। अथवा प्रिया ज्याः। प्रियार्थे कः। धन्वसु धनुष्ष्वपिता एव। अधि नभन्तामधिकं नश्यन्तु। णभ तुभ हिंसायाम्। विकरणव्यत्ययः॥ १।१ ॥

१८०२. त्वं सिन्धूंरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम्।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि †वार्यम्।

† वृत्रहास्माकमित्यखण्डपाठ ऋग्वेदे।
† वार्यं तं त्वेत्याद्यखण्डपाठ ऋग्वेदे।

तं त्वा परिष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका
अधि धन्वसु ॥ २।१ ॥ (ऋ० १०।१३३।२)

त्वं सिन्धूनिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्द्र परमेश्वर, अहिं व्यापकं सर्वत्र गतं रिपूणां षड्वर्गम्। अहन् हंसि। अतोधराचो निम्नाञ्चनशीलान् मनुष्यान् सिन्धून् स्पन्दनशीलान् भक्तिद्रुतहृदयान् अवासृजः अवसृजसि करोषि, किं च त्वमशत्रुर्नास्ति शत्रुर्यस्य स तथाभूतस्त्वं जज्ञिषे जायसेसीतिभावः। विश्वं सकलं वार्यं वरणीयं रक्ष्यत्वेन स्वीकरणीयम्। पुष्यसि रक्षसि, तमीदृशं, त्वा महादयालुं महासमर्थं च त्वां परि ष्वजामहे आलिङ्गामः नभन्तामित्यादि व्याख्यातम् ॥ २।१ ॥

१८०३. वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति†।
या ते रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि
धन्वसु ॥ ३।१४ ॥ (ऋ० १०।१३३।३)

वि षु विश्वेति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। हे इन्द्र परमात्मन्। विश्वाः सर्वाः। अर्यः आगन्त्र्यः। अरातयः अदात्र्यः सुखस्य याः काश्चित् ताः सर्वाः सु सुखेन अनायासेन सुष्ठु वा वि विगच्छन्तु विलयं प्राप्नुवन्तु, विरित्युपसर्गवशाद्योग्यक्रियाध्याहारः। किं च नोस्माकं धियो बुद्धयस्त्वयि नशन्त व्याप्नुवन्तु। नशतिर्व्याप्त्यर्थः (निघ० २,१८,८)। यः कोपि शत्रुर्भूत्वा नोस्मान् जिघांसति हन्तुमिच्छति पराबुभूषति तस्मै शत्रवे। वधं हननसाधनम्। अस्ता असि प्रयोक्तासि। या ते रातिर्दानं दानशक्तिर्रातियावत्। सा वसु धनं ददिर्दाता भवत्वस्मभ्यमितियावत्। न लोकेति षष्ठ्यभावः।

† जिघांसति या ते इत्यादिसंघात पाठ ऋग्वेदे।

नभन्तामित्यादि गतम् । 'नभन्तामन्यके समे' इति सिद्धान्तकौमुद्याः पाठः क्वाचित्कः ॥ ३।१४ ॥

१८०४. रेवाँ इन्द्रेवत् स्तोता स्यात्त्वावतो मघोनः ।
प्रेदु हरिवः सुतस्य† ॥ १।१५ ॥ (ऋ० ८।२।१३)

रेवानिति । मेधातिथिः काण्वः प्रियमेध आङ्गिरसश्च ऋषी । इन्द्रो देवता, गायत्री छन्दः । हे हरिवः सर्वपापहरणशक्ते परमेश्वर, यस्य कस्यापि रेवतो धनवतः स्तोता स्तुतिकर्ता । रेवान्धनवान् भवति । त्वावतस्त्वत्सदृशस्य मघोनः परमधनवतः । सुतस्यैश्वर्यवतः स्तोता तु । प्र इत् उ प्रकृष्टो धनवान् स्यादेवेति किं वक्तव्यम् ॥ १।१५ ॥

१८०५. उक्थं चन शस्यमानं‡ नागो रयिरा चिकेत ।
न गायत्रं गीयमानम् ॥ २।१५ ॥ (ऋ० ८।२।१४)

उक्थं चेति । ऋष्यादय उक्ताः । व्याख्यातोयं मन्त्रः*॥२।१५॥

१८०६. मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः ।
शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥ ३।१५ ॥
(ऋ० ८।२।१५)

मा न इति । हे इन्द्र परमेश्वर, पीयत्नवे हिंसकाय । पीयतिर्हिंसाकर्मेति यास्कः (नि० ४,२५) । नोस्मान् भक्तान् । मा परा दाः मा त्यज । एवं च शर्धते उत्साहवते बलवत इत्यर्थः । अस्मान् मा परा दाः मा परित्यज । हे शंचीवः शक्तिमन्, शचीभिः

---

† श्रुतस्येत्यृक्पाठः । ‡ मानमगोररिरा चिकेतेत्यृक्पाठः ।
* पूर्वार्चिके २२५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

प्रज्ञाभिः। शची इति प्रज्ञानाम (नि० ३,९,८)। शिक्ष देहि प्रज्ञां न इतिभावः ॥ ३।१५ ॥

१८०७. एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम्।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ १।१६ ॥
(ऋ० ८।३४।१)

एन्द्रेति। नीपातिथिः काण्व ऋषिः, इन्द्रो देवता, अनुष्टुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१६ ॥

१८०८. अत्रा वि नेमिरेषामुरां न धूनुते वृकः।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ २।१६ ॥
(ऋ० ८।३४।२)

अत्रा वीति। ऋष्यादय उक्ताः, एषां पापनामत्रास्मिन् भक्तियज्ञे। नेमिरानयनम्। णीञ् प्रापणे। वि धूनुते एषां हृदयम्। नहि पापाः सत्कर्मसु प्रवर्तन्त इत्याशयः। वृक उरां न वृको यथा उरां पशुविशेषम्। मेषीमिति सायणः। धूनुते कम्पयति। पापानां सत्कर्मस्थान आगमनं तेषां हृदयं कम्पयति। अमुष्यामुष्मिन् प्रार्थयितरि उपासके। दिवो दिवम्। शासतः शासति सति। हे दिवावसो ज्ञानधन, दिवं यय गच्छ। तवेव यदायमुपासको ज्ञानराज्यं शास्ति ज्ञानसम्पन्नो भवति तदा त्वया गन्तव्यमित्यर्थः। अयं भावः। उपासकोपि यदा ज्ञानस्वरूपो भवेन्न च स्यादुपासनायाः प्रयोजनं तदा त्वं गच्छ। तदा त्वं गच्छेत्यस्याप्ययमाशयः। तदा स उपास्य एव न भविष्यति। उपास्योपासकयोर्यावद्द्वैतं तावदेव तयोः स्थितिः। सम्पन्ने ज्ञाने विपन्ने च द्वैते नोपास्यो न वोपासक इति भावः ॥ २।१६ ॥

† पूर्वाचिके ३४८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

१८०९. आ त्वा ग्रावा वदन्निह सोमी घोषेण वक्षतु ।†
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ३।१६ ॥

आ त्वेति । ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्र परमेश्वर, सोमी सोमः परमेश्वरः । तद्वान् सोमी । ईश्वरभक्त इत्यर्थः । ग्रावा हन्यमानो दुर्जनैः । हन्ते क्वनिप् । पृषोदरादित्वाद् धातोर्ग्रादेशः । अथवा स्तोता । गृणातिः स्तुतिकर्मा (नि० ३,५) । क्वनिप् । अडागमः । घोषेण विशब्दनेन दुःखाक्रन्दनेनेत्यर्थः । वदन् ब्रुवन् । त्वा त्वाम् । इह भक्तिस्थाने । आवक्षतु आवहतु । अन्यत् व्याख्यातम् ॥ ३।१६ ॥

१८१०. पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः ॥ १।१७ ॥
(ऋ० ९।६७।१६)

पवस्वेति । जमदग्निर्भार्गव ऋषिः, पवमानः सोमो देवता, गायत्री छन्दः । हे सोम परमेश्वर, मधुमत्तमः अतिशयेन मधुररसवांस्त्वं मन्दयन् सर्वानेव हर्षयन् । इन्द्रायोपासकजीवाय पवस्व क्षर करुणापूर्णो भवेति ॥ १।१७ ॥

१८११. ते सुतासो विपश्चितः‡ शुक्रा वायुमसृक्षत ॥२।१७॥
(ऋ० ९।६७।१८)

ते सुतास इति । ऋष्यादय उक्ताः, ते सुतासो भक्तियज्ञैर्भक्त्यैश्वर्ययुक्ताः । विपश्चितो विविधद्रष्टारः । शुक्रा वीर्यवन्तो ब्रह्मचारिणो वायुम् परमात्मानं सर्वगम् । असृक्षत अपश्यन् । वायुर्वातेर्वा वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः इतियास्कः (नि० १०।१) ॥ २।१७ ॥

---

† यक्षत्वित्युक्पाठः ।

‡ मन्दितमा इत्युक्पाठः ।

१८१२. असृग्रं† देववीतये वाजयन्तो रथ इव ॥ ३।१७ ॥
(ऋ० ९।६७।१७)

असृग्रमिति। ऋष्यादय उक्ताः, एते उपासकाः। वाजयन्तो जिज्ञासवो देववीतये देवः परमेश्वरस्तस्य प्राप्तये। असृग्रन् व्यसृज्यन्त। क इव रथा इव। यथा किञ्चिदवाप्तुं रथा विसृज्यन्ते तदा ॥ ३।१७ ॥

इति चतुर्थः खण्डः



अथ पञ्चमः खण्डः

१८१३. अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः‡ सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्। य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा। घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष* आजुह्वानस्य सर्पिषः ॥ १।१८ ॥
(ऋ० १।१२७।१)

अग्निमिति। परुच्छेपो दैवोदासिर्ऋषिः, अग्निर्देवता। अत्यष्टिश्छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः§ ॥ १।१८ ॥

१८१४. यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः। परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम्। शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः ॥ २।१८ ॥ (ऋ० १।१२७।२)

† असृग्रन्नित्यृक्पाठः।   ‡ असुमित्यृक्पाठः।
* वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिष इत्यृक्पाठः।
§ उत्तरार्चिके ४६५ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

यजिष्ठमिति । ऋष्यादय उक्ताः, हे विप्र मेधाविन् । विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३,१५,१) । टु वप् बीजसन्ताने । (उ० १,२७) निपातितोयं शब्दः । उप्यते मेधास्मिन् । अथवा वयति ज्ञानबीजं जनेषु । अथवा विशेषेण प्राति पूरयति ज्ञानं यः सः । हे शुक परमपवित्र । ई शुचिर् पूतीभावे । यजमानाः पूजयमानास्त्वां वयमुपासकाः । यजिष्ठमतिशयेन यष्टतमम् । अङ्गिरसामङ्गन्ति गच्छन्ति अवगच्छन्ति वा तेङ्गिरसो जीवाः । तेषु ज्येष्ठम् । यदा जीवानां परमेश्वरज्ञानं जातं ततोपिपूर्वत एव तस्य विद्यमानत्वाज्ज्येष्ठत्वम् । चर्षणीनां मनुष्याणां परिज्मानं परितो गच्छन्तम् । द्यां दिव्यं होतारं दातारम् । शोचिष्केशं प्रदीप्तरश्मिं वृषणं सर्वमनोरथसाधयितारम् । यं त्वां विशः प्रविष्टाः । त्वय्याधारे स्थिताः । इमा विशः प्रजाः । जूतये स्वार्थसिद्धये । प्रावन्तु प्रकर्षेण अवन्ति गच्छन्ति । तं त्वा त्वाम् । मन्मभिर्मननसाधनैः । विप्रेभिर्विशेषेण ज्ञानपूरकैर्मन्मभिर्मन्त्रैर्वेदानाम् । हुवेम आह्वयामः ॥ २।१८ ॥

१८१५. स हि पुरु चिदोजसा विरुक्मता दीद्यानो भवति द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः । वीडु चिद्यस्य समृतौ श्रुवद्वनेव यत्स्थिरम् । निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते ॥ ३।१८ ॥ (ऋ० १।१२७।२)

स हीति । ऋष्यादयः पूर्ववत् । स हि स एव परमात्मा । विरुक्मता विशेषेण रोचनवता । ओजसा तेजसा । पुरुचित् अधिकमेव । दीद्यानो दीप्यमानः । द्रुहन्तरो द्रोहवतां तारयिता निवारयितेत्यर्थः । परशुर्वज्र इव द्रुहन्तरः । भवति । यस्य परमात्मनः समृतौ संगतौ । सम्+ऋ गतौ । वीडु चित् सबलमपि । वीडु इति बलनाम (निघ० २,९,१५) । वीलयतिः संस्तम्भकर्मा । श्रुवत् शीर्णं भवति । श्रृ हिंसायाम् । यत् स्थिरमचलं तदपि श्रुवत् शीर्णं

भवति। किमिव? वना इव वनमुदकमिव। यथा जलमुष्णकाले वा वह्निसंयोगे वा नष्टं भवति तथा। निष्षहमाणो नितरां सहमानोग्निः परमात्मा। यमते उपरमति। सर्वं नाशनीयं दृढमपि प्रतिकूलं वस्तु नाशयित्वा शान्तो भवतीत्यर्थः। न अयते न गच्छति भक्तान् परित्यज्य। धन्वासहा न धनुर्धर इव। न अयते न गच्छति ॥ ३।१८ ॥

इति नवमप्रपाठके प्रथमोर्धः



अथ नवमप्रपाठके द्वितीयोर्धः

१८१६. अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यां ३ दधासि दाशुषे कवे
॥ १।१ ॥　　(ऋ० १०।१४०।१)

अग्ने तवेति। अग्निः पावकः ऋषिः, अग्निर्देवता, विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः। हे अग्ने हे विभावसो प्रकाशधन, परमेश्वर, तव श्रवः कीर्तिः। वयो धनम्। अर्चयः प्रकाशाः। महि महद्यथा तथा भ्राजन्ते शोभन्ते। हे बृहद्भानो महादीप्ते, हे कवे क्रान्तदर्शिन्, शवसा तेजसा, शक्त्या वा त्वं दाशुषे त्वदर्थं मनोबुद्ध्याद्यर्पणं कुर्वते भक्ताय। उक्थ्यं प्रशस्यं वाजं धनं ज्ञानरूपं दधासि धारयसि ॥ १।१ ॥

१८१७. पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥ २।१ ॥
(ऋ० १०।१४०।२)

पावकवर्चा इति । ऋष्यादय उक्ताः, पावकवर्चाः पवित्रतेजाः । शुक्रवर्चास्तीव्रतेजाः । अनूनवर्चाः पूर्णतेजाः । अग्निः परमेश्वरः । भानुना दीप्त्या तेजसा वा उदियर्षि सदोदितोस्तीतिभावः । छान्दसः पूरुषव्यत्ययः । अथवा एवंभूतस्त्वं हे परमेश्वर उदियर्षि उदितोसीतिभावः । विचरन् विशेषेण चरन् समर्थो भवन्नित्यर्थः । पुत्रो मातंराविव भक्तान् सर्वान् उपावसि रक्षसि । उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ च पृणक्षि रक्षसि । पृची सम्पर्के । इह रक्षणार्थः ॥ २।१ ॥

१८१८. ऊर्ज्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वे इषः सं दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥ ३।१ ॥
(ऋ० १०।१४०।३)

उर्ज्ज इति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः सतो बृहती । हे ऊर्ज्जो बलस्य नपात् नपातयितः, जातवेदः जातंजातं वेत्ति एवंभूत, सुशस्तिभिः प्रशस्तैः । धीतिभिः कर्मभिरस्माभिर्भक्तैः क्रियमाणैः । मन्दस्व प्रसीद हृष्टो भव । भूरिवर्पसो बहुविधाः । वर्पस इति रूपनाम । बहुरूपा इत्यर्थः । चित्रोतयश्चित्रा विचित्रा लोकोत्तरा ऊतयो रक्षा याभिस्ताः । वामजाता वामं रमणीयं जन्म यासां ताः । इष इच्छाः । त्वे त्वयि सन्दधुर्विद्वांस उपासकाः । त्वयि तैर्निधीयमानानामभिलाषाणां फलं तैरभिलष्यत इतिभावः ॥ ३।१॥

१८१९. इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य ।
स दर्शतस्य वपुषो वि राजसि पृणक्षि दर्शतं क्रतुम्
॥ ४।१ ॥ (ऋ० १०।१४०।४)

इरज्यन्निति । ऋष्यादय उक्ता, अग्ने प्रकाशस्वरूप, अमर्त्य अमरणधर्मन् परमात्मन्, जन्तुभिर्जातिजातेभ्यः । कामक्रोधादिभ्य

इति शेषः । इरज्यन् ईर्ष्यन् । अस्मे अस्मासु । रायो धनानि सत्याहिंसावैराग्यादिरूपाणि । प्रथयस्व विस्तारय । स त्वम् । दर्शतस्य दर्शनीयस्य वपुषः शरीरस्य जगद्रूपस्य धारणेनेति शेषः । वि राजसि विशेषेण शोभसे । दर्शतं दर्शनीयं क्रतुं कर्म च पृणक्षि पवित्रैः कर्मभिस्तव सम्पर्को भवतीतिभावः । पृची सम्पर्के ॥ ४।१ ॥

१८२०. इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः ।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम्
॥ ५।१ ॥ (ऋ० १०।१४०।५)

इष्कर्तरिति । ऋष्यादयः उक्ताः, अध्वरस्य सर्वहिंसाविरहितस्य भक्तस्य । इष्कर्तारं निष्कर्तारं दुखेभ्यः पारयितारम् । निसो नकारस्य लोपश्छान्दसः । प्रचेतसं प्रकृष्टज्ञानम् । महो महत्याः । राधसः शक्त्याः । क्षयन्तमीश्वरम् । क्षयतिरैश्वर्यकर्मा (निघं० २, २१,३) । वामस्य वननीयस्य सुदरस्य वा पदार्थस्य । रातिं दातारम् । त्वां परमात्मानं ध्यायाम इतिशेषः । त्वं सुभगां शोभनैश्वर्ययुक्ताम् । महीं महतीम् । इषं जीवैरिष्टां शक्ति दधासि धारयसि सानसिं संभजनीयां रयिं सम्पत्ति च दधासि ॥ ५।१ ॥

१८२१. ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो
जनाः । श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा
युगा ॥ ६।१ ॥ (ऋ० १०।१४०।६)

ऋतावानमिति । ऋषिदेवते उक्ते, छन्दः उपरिष्टाज्ज्योतिः । जना विद्वांस उपासकाः । सुम्नाय सुखावाप्तये । ऋतावानं सत्यवन्तं सत्यमित्यर्थः । महिषं महान्तं महनीयं वा । विश्वदर्शतं सर्वैर्दर्शनीयम् । अग्निं प्रकाशस्वरूपं परमेश्वरं पुरः पुरस्ताद् दधिरे पूर्वम् । किं च मानुषा मानुषाणि । युगा युगानि युग्मानि स्त्रीपुंसयोः ।

श्रुत्कर्णं शृण्वन्तौ कर्णौ यस्य तं सप्रथस्तममतिशयेन प्रसिद्धम्। दैव्यं देवसम्बन्धिनं त्वा त्वाम्। गिरा स्तुतिवचनेनेदानीमपि दधते॥ ६।१॥

इति पञ्चमः खण्डः

अथ षष्ठः खण्डः

१८२२. प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति† वाजकर्मभिः‡।
यस्य त्वं सख्यमाविथ*॥ १।२॥ (ऋ० ८।१९।३०)

प्र स इति। सोभरिः काण्व ऋषिः। अग्निर्देवता। काकुभः प्रगाथः (विषमा ककुप्) छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः§॥ १।२॥

१८२३. तव द्रप्सो नीलवान्वाश ऋत्विय इन्धानः सिष्णवा ददे।
त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि॥ २।२॥
(ऋ० ८।१९ ३१)

तव द्रप्स इति। ऋषिदेवते उक्ते। सतो बृहती छन्दः। हे सिष्णो परमेश्वरं सेवामान उपासक। सिष ध तुः सेवार्थश्छान्दसः। अग्निः द्रप्सः संभृतः। नीलवान् गृहवान्। नीलमिति गृहनाम (निघ० ३,४,८.)। वाशः कान्तो रमणीयः। ऋत्विय ऋतुषु भवः सार्वदिक इत्यर्थः। इन्धानो दीप्यमानः। ञि इन्धी दीप्तौ। एवंभूतः परमात्मा तव समीपे पुरो वा। आ ददे आदीयते स्वाप्यत इत्यर्थः।

† तिरते इत्यृक्पाठः। ‡ ''''भर्मभिरित्यृक्पाठः।
* ''''मावर इत्यृक्पाठः।
§ पूर्वार्चिके १०८ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

त्वं कीदृशः ? महीनां महतीनां महितानां वोषसां प्रियोसि । उषः-काले परमात्मोपासने निरतो भवसीति उषसः प्रियत्वम् । किं च क्षपः प्रेरकस्य परमात्मनः । क्षपः प्रेरणे । वस्तुषु प्रसादकेष्विति शेषः । कर्मस्विति परमार्थः । राजसि शोभसे ॥ २।२ ॥

१८२४. तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः ।
तमित्समानं वनिनश्च वीरुधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा ॥ १।३ ॥ (ऋ० १०।९१।६)

तमोषधीरिति । अरुणो वैतहव्य ऋषिः । अग्निर्देवता । सतोबृहती छन्दः । तम् अग्निं परमात्मानम् । ओषधीरोषधयः । ओषं दाहकं सन्तापकं कामक्रोधादिं धयन्तीत्योषधयः । उपासका जीवाः । दधिरे हृदये दधति । कीदृशं परमात्मानम् ? गर्भं गृह्यत इति गर्भः, ग्रहणीयमितियावत् । अथवा प्रसिद्धा ओषधयस्तं गर्भं गर्भे स्वान्तर्दधति । ऋत्वियं सर्वकालप्राप्यम् तमग्निं परमात्मानम् । आपः समुद्रादयः । मातरो नद्यश्च जनयन्त प्रत्यक्षं कारयामासुः । तम् इत् तमेव । समानं संजीवकम् । अन प्राणने । परमात्मानम् । वनिनो वृक्षादयः । वीरुधो लतादयश्च । विश्वहा विश्वान्यहानि । सर्वदेत्यर्थः । सुवते च जनयन्ति प्राकट्यं नयन्ति । कीदृशो वीरुधः ? अन्तर्वतीः अन्तर्वत्यः पुष्पगर्भा इत्यर्थः । ओषधयः समुद्रा गङ्गाद्या नद्यो वृक्षा लताश्चैते सर्वं एव परमात्मनो दर्शनं कारयन्ति । एतान् सर्वान्दृष्ट्वा परमात्मनि प्रत्ययो जायत इत्यर्थः ॥ १।३ ॥

१८२५. अग्निरिन्द्राय पवते दिवि शुक्रो वि राजति ।
महिषीव वि जायते ॥ १।४ ॥ (ऋग्वेदे नास्ति मन्त्रोयम्)

अग्निरिति । अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः । अग्निः परमात्मा । इन्द्राय जीवाय पवते क्षरति कल्याणं स्रावयति । स शुक्रस्तेजस्वी दिवि दिव्येषु परमपवित्रेषु जनेषु वि राजति विशेषेण शोभते ।

महिषी इव महिष्या महत्या स्वशक्त्या । इव एव । नि जायते विविधैः रूपैः प्रादुर्भवति ॥ १४ ॥

१८२६. यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु
सामानि यन्ति । यो जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥ १५ ॥ (ऋ० ५।४४।१४)

यो जागारेति । अवत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवादेवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । यो मनुष्यः । जागार सर्वदा जागरूकस्तिष्ठति । तम ऋचः कामयन्ते । यो जागार तम् उ तमेव सामानि यन्ति । यो जागार तमयं सोमः परमेश्वर आह कथयति—अहं तव जागरूकस्य संयमिनः सख्ये न्योकाः निवसनशीलः । अस्मि इति ॥१५ ॥

१८२७. अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु
सामानि यन्ति । अग्निर्जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्येन्योकाः ॥ १६ ॥ (ऋ० ५।४४।१५)

अग्निरिति । ऋष्यादय उक्ताः । अग्निशब्देनेह परमसंयमी परमेश्वरोपासको ग्राह्यः । अन्यत्सर्वं स्पष्टम् ॥ १६ ॥

१८२८. नमः सखिभ्यः पूर्वसद्भ्यो नमः साकंनिषेभ्यः ।
युञ्जे वाचं शतपदीम् ॥ १७ ॥

(नास्त्ययं मन्त्रो ऋग्वेदे)

नमः सखिभ्यः इति । अस्य तृचस्य अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । पूर्वसद्भ्यः पूर्वजेभ्यः । सखिभ्यः समानख्यातिभ्यो जनेभ्यो भक्तेभ्यो नमः । साकंनिषेभ्यः सहनिषद्भ्यो वर्तमानेभ्यः सखिभ्यो भक्तेभ्यो नमः । शतपदीं बहुलां वाचं स्तुतिं युञ्जे प्रयुञ्जे तेभ्यः परमेश्वरोपासकेभ्यः ॥ १७ ॥

१८२९. युञ्जे वाचं शतपदीं गाये सहस्रवर्तनि ।
गायत्रं त्रैष्टुभं जगत् ॥ २।७ ॥

युञ्जे वाचमिति । शतपदीं वाचं युञ्जे । गायत्रं गायत्रीछन्दोयुक्तं त्रैष्टुभं त्रिष्टप्छन्दोयुक्तं जगत जागतं जगतीछन्दोयुक्तं स्तोत्रं सहस्रवर्तनि असंख्यैमार्गैः । प्रकारैर्वा । गाये गायामि परमेश्वरभक्तेभ्य इति भावः ॥ २।७ ॥

१८३०. गायत्रं त्रैष्टुभं जगद्विश्वा रूपाणि सम्भृता ।
देवा ओकांसि चक्रिरे ॥ ३।७ ॥

गायत्रमिति । गायत्रं गायत्रीछन्दोनिबद्धं त्रैष्टुभं त्रिष्टुप्छन्दोनिबद्धं जगज्जगतीछन्दोनिबद्धं स्तोत्रम् । विश्वा रूपाणि विश्वैर्बहुभी रूपैः सम्भृता सम्भृतानि स्तोत्राणि । देवा विद्वांस ओकांसि स्वकीयानि स्थानानि विश्रामस्थानानि चक्रिरे कुर्वन्ति । यथाकथञ्चित् श्रान्तं मनः एभिः स्तोत्रैः प्रसादयन्तीतिभावः ॥ ३।७ ॥

१८३१. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः ।
सूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः ॥ १।८ ॥

(नास्त्ययं मन्त्र ऋग्वेदे)

अग्निरिति । अस्य तृचस्य अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । अग्निः सर्वत्र गमनशीलो व्यापकः । ज्योतिः सर्वेषां प्रकाशको । ज्योतिःस्वरूपः परमेश्वरः । अग्निरग्नेः पावकस्य ज्योतिः प्रकाशकः । षष्ठ्यर्थे प्रथमा । सर्वत्रगमनशीलो व्यापक इत्यर्थः । इन्द्रः परमैश्वर्यो ज्योतिः सर्वेषां पदार्थानां प्रकाशको ज्योतिस्वरूपः परमेश्वरः । इन्द्र इन्द्रस्य ऐश्वर्योपेतस्य । षष्ठ्यर्थे प्रथमा । ज्योतिः प्रकाशकः । सूर्यः सर्वत्र सरणशीलो व्यापकः । ज्योतिर्ज्योतिस्स्वरूपः परमात्मा सूर्यः सूर्यस्य दिवाकरस्य । षष्ठ्यर्थे प्रथमा । ज्योतिःप्रकाशकोस्ति ॥१।८॥

१८३२. पुनरूर्जा निवर्तस्व पुनरग्न इषायुषा ।
पुनर्नः पाह्यंहसः ॥ २।८ ॥

पुनरूर्जेति । कश्चिदुपासकः परमेश्वर आ..त्य गत इति परिकल्प्य ब्रूते, हे अग्ने परमेश्वर, ऊर्जा बलेन शक्त्या सह । इषा मद्वाञ्छितवस्तुना आयुषा चिरकालजीवितेन च सह । पुनः निवर्तस्व । हे परमेश्वर, नोस्मान् अंहसः पापात् पुनः पाहि रक्ष ॥ २।८ ॥

१८३३. सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ ३।८ ॥

(नास्त्ययमृग्वेदे)

सह रय्येति । हे अग्ने परमेश्वर, रय्या राया ज्ञानेन सह नि वर्तस्व नितरां वर्तस्वास्मत्सविध इत्यर्थः । धारया वाचा सान्त्वनवाचा । पिन्वस्व तर्पयास्मान् । कीदृश्या धारया ? विश्वतः सर्वतः सर्वेषामित्यर्थः । परि उपरि भूत्वा विश्वप्स्न्या विश्वस्य दुःखस्य भक्षयित्र्या शमयित्र्या ॥ ३।८ ॥

इति षष्ठः खण्डः

●

अथ सप्तमः खण्डः

१८३४. यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोसखा† स्यात् ॥ १।९ ॥ (ऋ० ८।१४।१)

यदीति । गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ऋषी । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः‡ ॥ १।९ ॥

---

† गोषखेत्यृक्पाठः । ‡ पूर्वार्चिके १२२ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः ।

१८३५. शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥ २।९ ॥　　　(ऋ० ८।१४।२)

शिक्षेयमिति । यद् यदि । अहम् । गोपतिर्विद्यापतिः स्यां भवेयं तर्हि । हे शचीपते हे वाक्पते विद्यापते । शचीति वाङ्नाम । अस्मै पुर उपस्थिताय । मनीषिणे संयमिने । शिक्षेयं शिक्षेयोपदिशेयं दित्सेयं च आध्यात्मिकबलं दातुमिच्छेयं चेति ॥ २।९ ॥

१८३६. धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते ।
गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥ ३।९ ॥　　　(ऋ० ८।१४।३)

धेनुष्ट इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे इन्द्र परमेश्वर, ते तव सूनृता सत्या हितकारिणी । धेनुर्वाक् धेनुरिति वाङ्नाम (निघ० १,११,५२) । उपदेशरूपा वाक् । यजमानाय त्वां पूजयते भक्ताय । सुवन्ते ऐश्वर्यं ददाति । विकरणव्यत्ययः । पिप्युषी, ओप्यायी वृद्धौ । वर्धयित्री भक्तं वर्धयितुकामेत्यर्थः । सा वाक् । गां विद्यामश्वं शीघ्रगामि मनश्च दुहे प्रपूरयति ॥ ३।९ ॥

१८३७. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १।१० ॥　　　(ऋ० १०।९।१)

आपो हीति । त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीप आम्बरीषो वा ऋषिः । आपो देवता । गायत्री छन्दः । आपः परमात्मा । आप्यते प्राप्यत इति । बहुवचनं स्त्रीत्वं च शब्दमाहात्म्यात् । परमात्मंस्त्वम् । हि मयोभुवो मयसः सुखस्य भावयित्र्य उत्पादयित्र्यः स्थ सुखोत्पादकोसि । ताः स त्वम् नोस्मान् ऊर्जे बलाय मनोबलाय । दधातन धेहि । महे महते रणाय रमणीयाय (नि० ४,८) । चक्षसे दर्शनाय तत्त्वज्ञानायेति यावत् नो धेहीत्यन्वयः ॥ १।१० ॥

१८३८. यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २।१० ॥ (ऋ० १०।९।२)

यो व इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे आपः प्राप्य परमेश्वरः, यः । वस्तव । बहुवचभाप इत्यपेक्ष्य । शिवतमः कल्याणस्वरूपः । रस आनन्दः । तस्य तम् । नोस्मान् । इह संसारे । भाजयत भाजय अनुभावयेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । उशतीरुशत्यः वत्सवृद्धिं कामयमानाः । मातर इव गाव इव । यथा गावः स्वरसं स्वदुग्धं पाययित्वा वत्सान् वर्धयन्ति तथा त्वं स्वानन्दरसपानेनास्मान् वर्धयेत्यर्थः ॥ २।१० ॥

१८३९. तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३।१० ॥ (ऋ० १०।९।३)

तस्मा इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे आपः परमात्मन्, त्वम् यस्य पापस्य क्षयाय क्षयेन । तृतीयार्थे चतुर्थी । नोस्मान् जिन्वथ प्रीणयसि । तस्मै पापाय । तत्पापनिवृत्यर्थमेव । वस्त्वाम् । अरं गमाम अलं गच्छामः प्राप्नुमः । मशकाय धूम इतिवत् तस्मै इत्यत्र चतुर्थी । नोस्माकं । जनयथ जनय पापक्षयमिति यावत् ॥ ३।१० ॥

१८४०. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र न[¹] आयूंषि तारिषत् ॥ १।११ ॥ (ऋ० १०।१८६।१)

वात आ वात्विति । उलो वातायन ऋषिः, वायुर्देवता । गायत्री छन्दः । व्याख्यातोयं मन्त्रः[‡] ॥ १।११ ॥

१८४१. उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा ।
स नो जीवातवे कृधि ॥ २।११ ॥ (ऋ० १०।१८६।२)

---

१ 'ण' इत्युक्पाठः । ‡ पूर्वाचिके १८४ संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्य ।

उत वातेति । ऋष्यादयः उक्ताः । हे वात सर्वगत परमेश्वर, त्वं नोस्माकं पितासि जनकोसि । उत अपि च मातासीति संग्राह्यः प्रथमेनोतेन । उत अपि च भ्राता बन्धुरसि । उत अपि च नोस्माकं सखा मित्रमसि । सत्वं नोस्मान् । जीवातवे जीवनलाभाय । पवित्रजीवनलाभायेत्यर्थः । कृधि कुरु ॥ २।११ ॥

१८४२. यददो वात ते गृहे†ऽमृतं निहितं गुहा ।
तस्य‡ नो धेहि जीवसे ॥ ३।११ ॥ (ऋ० १०।१८६।३)

यदद इति । ऋष्यादय उक्ताः, हे वात परमेश्वर, ते गृहे त्वयीत्यर्थः । नास्ति वस्तुतः परमात्मनः किञ्चिद्गृह लौकिकानामिव । गुहायां गुप्ते स्थाने । यद् अदः अमृतम् । मोक्ष इति यावत् । विद्यत इति शेषः । तस्य तदमृतम् । द्वितीयार्थे षष्ठी । नोस्माकं जीवसे जीवनाय नित्यजीवनाय मोक्षायेति यावत् । धेहि । अथवा तस्येति सप्तम्यर्थे । तस्मिन् अमृते । जीवसे नित्यजीवनाय जनिमृतिरहितजीवनाय । धेहि स्थापय नोस्मान् ॥ ३।११ ॥

१८४३. अभि वाजी विश्वरूपो जनित्रं हिरण्ययं बिभ्रदत्कं सुपर्णः ।
सूर्यस्य भानुमृतुथा वसानः परि स्वयं मेधमृज्रो जजान
॥ १।१२ ॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

अभिवाजीति । वेनो भार्गव ऋषिः अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । विश्वरूपो विश्वं रूपं यस्य सः समदर्शीत्यर्थः । सुपर्णः शोभनपतनः परमात्मानमभिलक्ष्य पततीति शोभनपतन इत्युच्यते । अतिशयेन पूर्णः । वाजी जिज्ञासुः । अत्कमतनशीलं सर्वत्र । व्यापकमित्यर्थः । हिरण्ययं हितरमणीयम् । जनित्रमुत्पादकं जगतः । परमात्मानम् । अभि इत्यधिकरणमाह-हृदये इति यावत् । बिभ्रद्धारयन् । ऋतुथा

† गृहे ३ मृतस्य निधिर्हित इत्युक्पाठः । ‡ ततो नो देहीत्युक्पाठः ।

ऋतौ ऋतौ सर्वदेत्यर्थः। सूर्यस्य सर्वत्र सरणशीलस्य परमेश्वरस्य मेधं मेध्यम्। भानुं दीप्तिं तेजः। वसान आच्छादयन् धारयन्नित्यर्थः। स्यतम् ऋज्रः सर्वकर्मदोषभर्जकः। ऋषी भर्जने। सुभूषितो वा। ऋज्जतिः प्रसाधनकर्मा (निघ० ४,३,९१ ; नि० ६,२१ । परि जजान सर्वथा संजायते ॥ १।१२ ॥

१८४४. अप्सु रेतः शिश्रिये विश्वरूपं तेजः पृथिव्यामधि यत्संबभूव।
अन्तरिक्षे स्वं महिमानं मिमानः कनिक्रन्ति वृष्णो अश्वस्य रेतः ॥ २।१२ ॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

अप्सु रेत इति। जगती छन्दः। विश्वरूपं विश्वान्येव रूपाणि यस्य तत्। रेतः प्रस्रवणभूतम्। अप्सु जलेषु शिश्रिये स्थितम्। तेजो भवत्। अधि वह्नौ। शिश्रिये स्थितम्। अधीत्यधिकरणग्राहकम्। यत्पृथिव्यां भूमौ। संबभूव अस्ति। स्वं महिमानं महत्त्वम्। मिमानः सूचयत्। माङ् माने। अन्तरिक्षे आकाशे च स्थितमस्ति। वृष्णः सर्वमनोरथपूर्वकस्य। अश्वस्य व्यापकस्य परमेश्वरस्य। तद्रेतः कनीक्रन्ति शब्दं करोति लोकाः सन्मार्गे तिष्ठतेत्यादिम् ॥ २।१२ ॥

१८४५ अयं सहस्रा परि युक्ता वसानः सूर्यस्य भानुं यज्ञो दाधार।
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा धर्ता दिवो भुवनस्य विश्पतिः ॥ ३।१२ ॥ (नायमृग्वेदे)

अयमिति। त्रिष्टुप्। सहस्रा सहस्राणि। युक्ता तेन सह युक्तानि। तस्मिन्स्थितानीति यावत्। वस्तूनि वसान आच्छादयन् व्याप्नुवन्नित्यर्थः। अयं यज्ञः परमेश्वरः। इज्यते इति। सूर्यस्य भानुं तेजो भानुमन्तं सूर्यमित्यर्थः। दाधार धारयति। किं भूतोयम्? सहस्रदाः शतदा लोकापेक्षितानेकवस्तुप्रदाता। भूरिदावा प्रभूतप्रदाता। दिवो द्युलोकस्य भुवनस्य पृथिव्याश्च धर्ता धारणकर्ता। विश्पतिर्विशां पतिः स्वामी ॥ ३।१२ ॥

१८४६. नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा। हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनंभुरण्युम् ॥ १।१३ ॥ (ऋ० १०।१२३।६)

नाक इति। वेनो भार्गव ऋषिः। वेनो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। व्याख्यातोयं मन्त्रः† ॥ १।१३ ॥

१८४७. ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्प्रत्यङ् चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि। वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्वा३र्ण नाम जनत प्रियाणि ॥ २।१३ ॥ (ऋ० १०।१२३।७)

ऊर्ध्वं इति। ऋष्यादय उक्ताः। अस्य मन्त्रस्यर्षिरपि वेनो देवतापि वेनः। या तेनोच्यते सादेवतेतिनैरुक्तसिद्धान्तानुसारेण स वेन ऋषिरेव देवतेह स्यात्। न हि वेन इति ऋषेरेव नाम स्यादित्यस्ति कश्चन नियमः। अतो भवतु नाम वेननामा ऋषिः। परमात्मनोपि वेन इति नाम। वेन इति मेधाविनाम (निघ० ३,१५,५)। अजतेर्नः प्रत्ययः (उ० ३,६) वीभावश्च। अजति सर्वत्र गच्छति व्याप्नोति सर्वमितिभावः। अथवा। वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः (नि० १०,३८)। वेनतिः कान्तिकर्मा (निघ० २,६,४)। कान्तिरिहेच्छा। इच्छति सर्वस्य कल्याणमिति वेनः। अथवा गतिकर्मणः (निघ० २,१४,१४)। गच्छति सर्वत्र व्याप्नोति सर्वमिति। अथवा अर्चतिकर्मणः (निघ० २,१४,४२)। अर्च्यते सर्वैरिति। एवं च ऊर्ध्वं उपरि स्थितः। गन्धर्वो गवां रश्मीनां धारकः। वेनः सर्वव्यापकः परमात्मा। अस्य स्वस्य प्रत्यङ् प्रत्यञ्चि दुष्टानां प्रतिकूलमञ्चन्ति तथा भूतानि। चित्रा चित्राणि चयनीयानि आश्चर्यकराणि वा। आयुधानि सङ्कल्परूपाणि। अन्येष्वायुधेषु

† पूर्वार्चिके ३२० संख्याको मन्त्रो द्रष्टव्यः।

नास्ति किमपि वैचित्र्यम् । विभ्रद्धारयन् । अधि नाके परमसुखास्पदे स्वलोके । कं सुखम् । तस्याभावोकम् । नास्ति अकं यत्र स नाको दुःखात्यन्ताभाववति दिव्यलोके । अधिरिति सप्तम्यर्थमनुवदति । अध्यात् तिष्ठति । सुखस्वरूपे तिष्ठति । सुखस्वरूपो हि स इत्युक्तं भवति । किं कुर्वन् ? अत्कं सर्वत्र व्याप्तं सुरभि रमणीयं रूपम् । वसान आच्छादयन् धारयन्नित्यर्थः । किमर्थम् ? दृशेदर्शनाय । प्रियाणि स्वकीयाः प्रियाः प्रजा लोकान्द्रष्टुं दृष्ट्वा च रक्षितुं तस्य संकल्पधारणं सुखस्वरूपता च । स वेनः । स्वः न स्वर्ग इव सुखदम् । नाम नमनोयं कं सुखम् । जनत जनयतु ।। २।१३ ।।

१८४८. द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन् ।
भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतोये चक्रे रजसि प्रियाणि
।। ३।१३ ।। (ऋ० १०।१२३।८)

द्रप्स इति । ऋष्यादय उक्ताः । विधर्मन् विधर्मणि प्राकृतलोकेभ्यो विरुद्धस्वरूपे लोके स्थितः । द्रप्सः । द्विधातुजोयं शब्दः । द्रा गतौ । प्सा भक्षणे । दुर्मार्गे निरतानां भक्षणशीलो विनाशक इत्यर्थः । चक्षसा तेजसा शक्त्या । गृध्रस्य गृधं स्वमभिकाङ्क्षतो लोकान् । षष्ठी एकवचनं च छान्दसे । पश्यन्नवलोकमानः । यद् यदा समुद्रं भक्तिरसेन सम्यक् क्लिन्नन् । अभि जिगाति सम्मुखमाभिगच्छति । स भानुः प्रकाशवान् । शुक्रेण उज्ज्वलेन प्रदोप्तेनेत्यर्थः । शोचिषा तेजसा । चकानः शोभमानः । तृतोये रजसि लोके नाधोलोके न मध्यलोके किन्तूर्ध्वलोके प्रियाणि प्रियजनान् भक्तान् चक्रे करोति नयतोत्यर्थः ।। ३।१३ ।।

इति सप्तमः खण्डः

इति नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोर्धः

इति विंशोध्यायः

अथैकविंशोऽध्यायः

अथ नवम प्रपाठके तृतीयोऽर्धः

अथ प्रथमः खण्डः

१८४९. आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् । सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः ॥ १।१ ॥ (ऋ० १०।१०३।१)

आशुरिति । अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । इन्द्रः सर्वैश्वर्ययुक्तः परमात्मा । शतं सेनाः अनन्तानि बन्धनानि । षिञ् बन्धने । साकं सहैव एकेनैव दृष्टिपातेन । अजयत् जयति विलोपयतीत्यर्थः । कीदृश इन्द्रः ? आशुः सर्वत्र व्यापनशीलः । शिशानस्तीक्ष्णो दुष्टेभ्यः । वृषभः सर्वमनोरथपूरकः । भीमो भयङ्कर इव । नासौ भीमप्रदः परमानन्दरूपस्तथापि दुर्जनास्तस्माद्बिभ्यत्येवेति भीमः । घनाघनः घातकः सर्वेषां कामादीनां शत्रुणाम् । हन्तेः पचाद्यच् । "हन्तेर्घत्वं च" इतिवार्तिकेन घत्वमभ्यासस्य । उत्तरस्य त्वभ्यासाच्चेति कुत्वम् । चर्षणीनां क्षोभणः संचालकः प्रेरयिता सन्मार्गेषु । क्षुभ संचालने । संक्रन्दनः सम्यक् क्रन्दयिता दुरात्मनाम् । अनिमिषोऽस्पर्द्धनीयः मिष स्पर्द्धायाम् । एकवीरोऽद्वितीयवीरः ॥ १।१ ॥

१८५०. संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना । तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥ २।१ ॥ (१०।१०३।२)

संक्रन्दनेनेति । ऋष्यादयः उक्ताः । हे युधः भविकबन्धनैर्योद्धारः, नरो नेतारोन्येषाम् । भक्ताः, ईदृशेन । संक्रन्दनेन रोदयित्रा दुष्टानाम् । अनिमिषेण अस्पर्धनीयेनानुपमेन । जिष्णुना जयनशीलेन । युत्कारेण यवनं युत् मिश्रीकरणं तस्य कारेण कर्त्रा सकलजगन्निर्मात्रा । दुश्च्यवनेन केनाप्यधर्ष्येण । धृष्णुना दुष्टानां धर्षकेण । इषुहस्तेन इषव इष्टा हस्ते पदार्था अधिकारे यस्य तेन । वृष्णा सर्वेच्छातर्पकेण । इन्द्रेण परमेश्वरेण । परमेश्वरसाहाय्येन । तद्भौतिकं युद्धं जयत तत्सहध्वं तद्युद्धमभिभवत ।। २।१ ।।

१८५१. स इषुहस्तैः सनिषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध
इन्द्रो गणेन । संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्यू॒† ३
ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ।। ३।१ ।। (ऋ० १०।१०३।३)

स इषुहस्तैरिति । ऋष्यादय उक्ताः । उपर्युक्तं युद्धमिन्द्रेण जयतेति । अत्रेन्द्रं विशिनष्टि । स इन्द्रः । इषुहस्तैः इष्यन्ति हिंस्यन्ते कामादयो दोषा यैस्त इषवः शमदमादयः । त एव हस्ताः । 'ईषेः किच्च' (उ० १,१३) इत्युः प्रत्ययः आदेरिच्च । इषवो हस्ताः साधनानि यस्य ते इषुहस्तास्तैः शमदमादियुक्तैरित्यर्थः । सनिषङ्गिभिर्निषज्जन्ते परमेश्वरे ते निषङ्गास्तैः परमेश्वरभक्तैः । युक्त इति शेषः । बहवो भक्तास्तत्सन्निधौ सन्ति । तत्सहितस्य परमेश्वरस्य सङ्गमे सर्वान्द्विषो जयतेति भावः । वशी स्वाधीनः स्वतन्त्रः । युधो युद्धकर्ता । युध्यते इति युधः । कः प्रत्ययः । स इन्द्रो गणेन भक्तगणेनेत्यर्थः । संस्रष्टा एकीभूतः । संसृष्टजित्—ये तेन संसृष्टा भक्तिद्वारा, ताञ्जयति स्ववशे स्थापयतीति संसृष्टजित् । सोमपा सोमान् शान्ताँल्लोकान् पातीति तथाभूतः । बाहुशर्धी बाहुर्बाधन-

† ऋग्वेदे १ प्रधन्वेत्युक्पाठः ।

शीलं शर्धो बलं बाहुशर्धम् । तदस्ति यस्य । शत्रुबलबाधकबलवानित्यर्थः । उग्रधन्वा उग्रं ज्ञानधनुर्यस्य सः । प्रतिहिताभिः हितेषु प्रतिकूलास्ताः प्रतिहिताः प्रजाः । उन्मार्गगामिन्यः । तासाम् । षष्ठ्यर्थे तृतीया । अस्ता प्रतिक्षेप्ता निवारयितेत्यर्थः । ईदृशेनेन्द्रेण परमात्मना संगत्य यूयं सर्वं जयतेतिभावः ॥ ३।१ ॥

१८५२. बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः । प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥ १।२ ॥ (ऋ० १०।१०३।४)

बृहस्पत इति । अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । हे बृहस्पते बृहतां महतां स्वामिन् । त्वं रक्षोहा रक्षसां दुर्जनानां निहन्तासि । अतः, अमित्राननुकूलान् अपबाधमानः निवारयन् हिंसन वा । रथेन संकल्पेन परि दीय परिगच्छास्मान् प्रति । दीयदीयतिर्गतिकर्मा (निघ० २।१४,६९) । किं च सेना बन्धनानि अस्माकम् । षिञ् बन्धने । प्रभञ्जन् प्रमृद्नन् । प्रमृतः प्रकर्षेण हिंसन् । मृण हिंसायाम् । युधा युधान् योधञ् जयन् काम-क्रोधादिशत्रून् योद्धन् विजयमानः । अस्माकं रथानां शरीराणाम् । अविता रक्षक एधि भव ॥ १।२ ॥

१८५३. बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः । अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित् ॥ २।२ ॥ (ऋ० १०।१०३।५)

बलविज्ञाय इति । ऋष्यादय उक्ताः । हे इन्द्र परमेश्वर, त्वं बलविज्ञायः सर्वेषां बलस्य ज्ञाता । स्थविरो महान् । प्रवीरः प्रकृष्टो वीरो विशेषेण ईरयिता दूरे प्रक्षेप्ता विरोधिनाम् । सहस्वान् अभिभविता सर्वेषाम् । वाजी बलवान् । सहमानः सर्वान् प्रतिकूलान्

जनान् परिभवन्। उग्र उद्गूर्णबलः। सर्वत्र समवेतो वा। उच समवाये। 'ऋज्रेन्द्र' (उ० २।२८) इत्यनेन उग्रशब्दो निपातितः। अभिवीरः अभितः सर्वतो वीराः स्वकीया यस्य सः। अभिसत्त्वा पमबलः। सहोजा सह उ जा सहैव जात इव। सर्वतः पूर्वं विद्यमानोपि सर्वैः सहैव जात इव प्रतीयमानः। गोवित्सर्वविद्याविशारद। जैत्रं जयनशीलं रथं भक्तरूपमा तिष्ठ। यो हि भक्तः कामादीना विजेता स्यात्तस्मिंस्तिष्ठेतितात्पर्यम्॥ २।२॥

१८५४. गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्त-
मोजसा। इमं सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रं सखायो
अनु सं रभध्वम्॥ ३।२॥ (ऋ० १०।१०३।६)

गोत्रभिदमिति। ऋष्यादय उक्ताः। गां वाचं विद्यां त्रायत इति गोत्रो विद्वान्। तस्मै भिनत्ति कण्टकानिति गोत्रभिद् तम्। गोविदं विद्यां लभमानं विद्वांसं वा। वज्रबाहुं दृढबाधनशक्तिम्। अज्म संग्रामम्। जयन्तम्। ओजसा तेजसा प्रमृणन्तं हिंसन्तं दुष्टान्। इममिन्द्रं परमात्मानम्। हे सजाता सहजाता इव सखायः समानख्यातयः भक्ता यूयम्। अनुवीरयध्वं परमेश्वरमेव पुरः स्थापयित्वा पूर्वं तस्य संकल्पो युष्माकं जयाय गच्छेत् ततो यूयं वीरकर्म दोषनिवारणरूपम् कुरुध्वं कुरुत। अनु संरभध्वम् पूर्वं स एव संरभमाचरेत् तदनु यूयं संरभध्वम् शैघ्र्यं कुरुध्वम्॥ ३।२॥

१८५५. अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शत-
मन्युरिन्द्रः। दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽ३स्माकं
सेना अवतु प्र युत्सु॥ ३।३॥ (ऋ० १०।१०३।७)

अभि गोत्राणीति। अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः, इन्द्रो देवता त्रिष्टुप् छन्दः। इन्द्रोऽस्माकमुपासकानां सेना विवेकवैराग्यषट्-

सम्पत्तिरूपाः। युत्सु संग्रामेषु कामक्रोधादिभिर्महाभटैर्जयमानेषु। प्र अवतु प्रकर्षेण रक्षतु। कीदृश इन्द्रः? गोत्राणि गौर्ज्ञानं त्रायते येभ्यस्तानि गोत्राणि दुर्जनान् मूर्खांश्च सहसा बलेन। अभिगाहमानो विलोडयन्। अदयः कठोरः। वीरो विशेषेणेरयति कम्पयति दुर्जनान् सः। सतमन्युर्महाक्रोधः। दुश्च्यवनोविचाल्यः। पृतनाषाट् कामादीनां सेनाया अभिभविता। अयुध्यो योद्धुमशक्यः ॥ १।३ ॥

१८५६. इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्
॥ २।२३ ॥ (ऋ० १०।१०३।८)

इन्द्र इति। ऋष्यादय उक्तः। इन्द्रः परमेश्वरः। आसामस्माकं सेनानाम्। नेता। स एवेन्द्रः परमेश्वरो बृहस्पतिर्बृहतां पतिः। स एव दक्षिणा उत्साहप्रदात्री शक्तिः। दक्षतेरुत्साहकर्मणः। दाशतेर्वा स्यात्। शत्रुसेनानां विनाशयित्री। स एव यज्ञः शक्तिप्रदाता। स एव सोमो रक्षकः। अवनमुमा। तया सह वर्तमानः सोमः। स आसामस्मदीयानां पुर एतु अग्रगामितां भजतु। किं च अस्माकं देवसेनानाम्। अभिभञ्जतीनां मर्दयन्तीनां जयन्तीनां विजयमानानां च शत्रुसेनाः। मरुतो विद्वांसो ज्ञानिनोग्रं यन्त्वागच्छन्तु। मरुतो मितराविणो वामितरोचिको वा महद्द्रवन्तीति वेति यास्कः (नि० ११।१३)। मितभाषिणो महातेजसो महादयालवश्च ज्ञानिन एव भवन्ति ॥ २।३ ॥

१८५७. इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्। महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥ ३।३ ॥ (ऋ० १०।१०३।९)

इन्द्रस्येति। ऋष्यादय उक्ताः। वृष्णः सर्वकामपूरकस्य। वरुणस्य वरणीयस्य। आदित्यानामविनाशिनाम्। मरुतां विदुषां च राज्ञ इन्द्रस्य परमेश्वरस्य। शर्धो बलम्। उग्रं भयङ्करमस्ति। महामनसां मनस्विनामुदारमनसां वा। भुवनच्यवानां शापेन भुवनानां च्यावयितॄणाम्। जयतां दुर्जनेषु विजयं लभमानानाम्। देवानां विदुषां पवित्रभक्तानाम्। घोषः शब्दः। उदस्थादुत्तिष्ठति ॥ ३।३ ॥

१८५८. उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि।
उद्वृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु
घोषाः ॥ १।४ ॥ (ऋ० १०।१०३।१०)

उद्धर्षयेति। ऋष्यादय उक्ताः। हे मघवन् ज्ञानधन परमेश्वर, आयुधानि आयुध्यन्ते यैः साधनैस्तानि साधनानि शमदमादिरूपाणि। उद् हर्षय उत्तेजयेत्यर्थः। मामकानां मदीयानां सत्वनां प्राणिनां सहायकानां सहधर्मिणां भक्तानां वा। मनांसि उद्हर्षय उत्कर्षेण प्रसादय हे वृत्रहन् पापघ्न, वाजिनां ज्ञानिनाम्। वाजिनानि वेगाः। उद्यन्तु उदुच्छन्तु। ज्ञानिनो ज्ञानमार्गं वर्धेरन्नित्यर्थः। जयतां विजयमानानां रथानां रमणीयानां भक्तानाम्। घोषा प्रसादशब्दा उद्यन्तु उद्गच्छन्तु ॥ १।४ ॥

१८५९. अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु
॥ २।४ ॥ (ऋ० १०।१०३।११)

अस्माकमिति। ऋष्यादयः पूर्ववत्। अस्माकं परमेश्वराज्ञामनुसरताम्। समृतेषु सम्यगृतेषु परमसत्येषु ध्वजेषु व्यापारेषु भक्तिरूपेषु। ध्वज गतौ। इन्द्रः परमेश्वरः। प्रसीदतु। अस्माकं या इषव इच्छाः सन्मार्गगमनेच्छाः। ता जयन्तु सफला भवन्त्वि-

त्यर्थः । अस्माकं वीरा अनुयायिनः परमेश्वरभक्ताः । उत्तरे भवन्तु सर्वोपरि भवन्तु । उ अपि च हे देवाः सज्जनाः । हवेषु आह्वानेषु कृतेषु सत्सु अस्मान् । अवत रक्षत ॥ २।४ ॥

१८६०. असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथैतेषामन्यो अन्यं न जानात्
॥ ३।४ ॥ (नास्त्यमृग्वेदे)

असाविति । मरुतो देवाः । अन्यत्समानम् । हे मरुतः, अमितं रोचमाना ज्ञानिमहापुरुषाः, असौ दूरे दृश्यमाना या परेषां कामक्रोधादीनां सेना । ओजसा तेजसा स्पर्धमाना स्पर्धां कुर्वाणा । नोस्मान् । अभ्येति अभिगच्छति । ताम् । अपव्रतेन प्रतिकूलकर्मणा । तमसा तमोगुणोपेतेन । गूहत आवृणुत । दूर एव स्थापयतेतिभावः । यथा एतादृशेन तमसा कर्मणा गूहत येन अन्यः कामादिष्वन्यतमः अन्यं तेष्वेव अन्यतमं न जानात् न जानीयात् । अन्योन्यं यदि ते न जानीयुस्तर्हि तेषां बलमपगतं भवेदिति । यदि कामः क्रोधं न जानीयात्क्रोधो वा कामं न जानीयात् तर्हि कामोपि नश्येत्क्रोधोपि नश्येत् । कामहानौ क्रोधः कार्यं साधयति । न स्य द्यदि क्रोधः कामो निस्सहायः स्यात् । कामो न स्यात् तर्हि क्रोधोपि न स्यात् । यदि रागो न स्याद्द्वेषोपि न स्यात् । रागो द्वेषं जनयति, द्वेषश्च रागम् । लोभो मोहं जनयति मोहश्च लोभम् । मदा मात्सर्यं जनयति, मात्सर्यं च मदः । यद्येतेषु न कोपि कमपि पश्येत्, जीवानां श्रेयः. सिद्धिमाश्रयेत् । नात्र परस्पराश्रयदोष उद्भावनीयः ॥ ३।४ ॥

१८६१. अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे. परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा
सचन्ताम् ॥ १।५ ॥ (ऋ० १०।१०३।१२)

अमीषामिति । अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । अप्वादेवी देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । हे अप्वे दुरितानां प्राणानपवात्रि अपनेत्रि देवि परमेश्वरे, परमेश्वरः स्त्रीत्वेन सम्बोधितोत्र । अमीषां कामादीनां चित्तं प्रतिलोभयन्ती प्रतिकूलं लोभयन्ती । मत्तोन्यत्र लोभयित्वा गमयन्ती । अङ्गानि रागद्वेषादीनि । कामो ह्यङ्गी । रागद्वेषादय स्तदङ्गानि । गृहाण वशे कुरु । परेहि परागमय च । अभि प्रेहि अभिप्रायं कुरु संकल्पं कुर्वित्यर्थः । ततश्च तेषां हृत्सु हृदयानि शोकैः पश्चात्तापैः । निर्दह नितरां दह । यद्यपि कामादीनां नास्ति हृदयं तथापि तेषां वित्तहृदयप्राणादयः केवलं कल्प्यन्ते । कल्पनाहेतुस्तु विवेकवैराग्यादिकं विरोधाधिक्यं च । लोके द्विष्टं जनं खण्डशश्छि- नत्ति द्वेष्टेति दृष्टम् । अयं विरोधस्य चरमः प्रतीकारः । कामादयोपि द्विष्टा एव । तेष्वपि तथाविध एव प्रतीकारः सेवनीय इति हार्दम् । अमित्राः शत्रवः । अन्धेन तमसा गाढान्धकारेण सचन्तां समवयन्तु ॥ १५ ॥

१८६२. प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥ २१५ ॥
(ऋ० १०।१०३।१३)

प्रेतेति । अप्रतिरथ ऐन्द्रो ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । हे उपासका नरो जनाः, प्रेत गच्छत । जयत कामादीन् । इन्द्रः परमात्मा । वो युष्मभ्यम् । शर्म सुखं श्रेयो वा यच्छतु ददातु । वो युष्माकम् । बाहवः उग्रा उद्‌गूर्णबलाः शत्रुबाधन- क्षमाः । अनाधृष्याः परैरनभिभवनीयाः । सन्तु । यथा यूयमसथ अनभिभवनीया स्थ तथा युष्माकं बाहवोपि स्युः । पृथक्कृत्य वच- नमङ्गाङ्गिनोर्भेदमपेक्ष्य । अथवात्मानमपेक्ष्य । वैदिकसम्प्रदाये भवन्त्येवात्मानो धर्मिणः । एवं च आत्मा देही । कायादयस्तस्य

स्वत्वम्। बाहव इति बहुवचनं सर्वेषां बाहून् संपिण्डयति बोध्यम् ॥ २।५ ॥

१८६३. अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
गच्छामित्रान्प्र पद्यस्व मामीषां कञ्चनोच्छिषः ॥ ३।५ ॥

(ऋ० ६।७५।१६)

अवसृष्टा इति। पायुर्भारद्वाज ऋषिः। इषवो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। हे शरव्ये हिंसाकुशले ब्रह्मसंशिते ब्रह्मज्ञानेन तीक्ष्णीकृते इषो, ममोपासनालब्धशक्तिरूपे, इतोवसृष्टा विसृष्टा क्षिप्ता अमित्रान्छत्रून् कामादान् परा पत गच्छ, प्र पद्यस्व प्राप्नुहि। अमीषां कंचन सम्बन्धिनं मा उच्छिष मा अवशेषय। कात्स्न्र्येन विनाशय ॥ ३।५ ॥

१८६४. कङ्काः सुपर्णा अनु यन्त्वेनान्गृध्राणामन्नमसावस्तु सेना।
मैषां मोच्यघहारश्च नेन्द्र वयांस्येनाननु संयन्तु सर्वान् ॥ १।६ ॥

(नायमृग्वेदेऽन्यत्र वा)

कङ्का इति। ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। कङ्काः कं कां च गच्छामेति ब्रुवन्तीति कङ्काः सुपर्णाः शोभनं पालनं पूरणं वा येषां ते उपासका भक्ताः। एनान् कामादीन्। अनुयन्तु अनुगच्छन्तु हन्तुमिति अर्थादायातम्। असौ सेना कामस्य क्रोधादिरूपा। गृध्राणां विषयाभिकाङ्क्षमाणानामन्नं भक्ष्यं भोज्यं सेवनीयमिति यावत्। अस्तु भवतु। हे इन्द्र परमेश्वर, एषां कामादीनामघहारश्च पापप्रापकः कामोपि न मोचि मा मुञ्च। कामस्य क्रोधरागद्वेषलोभमोहमदमत्सरादिरूपा सेनापि हन्तव्या, कामोपि हन्तव्य इत्यारम्भः। एनान् सर्वान् शत्रून् वयांसि कूपाः। अनुसंयन्तु पश्चाद् गच्छन्तु। एत शत्रवः कूपेषु पतन्त्विति भावः ॥ १।६ ॥

१८६५. अमित्रसेनां मघवन्नस्माँ शत्रुयतीमभि ।
उभौ तामिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ २।६ ॥
(ऋग्वेदे नास्ति)

अमित्रसेनामिति । अप्रतिरथ ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । अनुष्टुप् छन्दः । हे मघवन् हे वृत्रहन् अस्माञ् शत्रुयतीं अभि शत्रुभिः परिवेष्टिताम् अमित्रसेनां कामसेनाम् । तां प्रख्याताम् । उभौ युवां हे इन्द्र त्वं च अग्निश्च प्रतिदहतम् । त्वं वृत्रघ्नोपि तेजःस्वरूपोपि, अत उभाभ्यामेव स्वरूपाभ्यां कामसेनां दहति तात्पर्यम् ॥ २।६ ॥

१८६६. यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
तत्र नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा
शर्म यच्छतु ॥ ३।६ ॥ (ऋ० ६।७५।१७)

यत्र वाणा इति । पायुर्भारद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । पङ्क्तिश्छन्दः । यत्र विशिखाः कुमारा इव शिखाहीनाः कुमाराः शिशव इवाह्लादकाः । वाणाः शब्दा वेदशब्दाः । वण शब्दे । सम्पतन्ति उपतिष्ठन्ति तत्र अदितिरविनाशी ब्रह्मणस्पतिः परमात्मा नोस्मभ्यं शर्म सुखं यच्छतु ददातु । यथा शिशवो जनानाह्लादयन्ति तथा निर्दोषा मनोहरा वेदशब्दा अपि विज्ञेयाः इति भावः । विश्वाहा सततं सर्वदा शर्मं यच्छतु । द्विरुक्तिः शर्मोत्कण्ठां द्योतयितुम् ॥ ३।६ ॥

१८६७. वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ १।७ ॥
(ऋ० १०।१५२।३)

वि रक्ष इति । शासो भारद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । हे इन्द्र परमेश्वर, रक्षो राक्षसकुलमुपद्रविकुलं वि जहि

विनाशय। मृधो हिंसकान् वि जहि विनाशय। वृत्रस्य पापस्य। हनू हनुं हिंसाम् तत्कृतां हिंसामित्यर्थः। वि रुज विभङ्ग्धि। रुजो भङ्गे। हे वृत्रहन् पापघ्न, अभिदासत उपक्षयतोस्मान् पीडयतः। अमित्रस्य शत्रोः। मन्युं क्रोधं वि जहि विनाशय ॥ १।७ ॥

१८६८. वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्मां अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥ २।७ ॥
(ऋ० १०।१५२।४)

वि न इति। ऋष्याद्य उक्ताः। हे इन्द्र परमेश्वर, नोस्माकं मृधो हिंसकान् क्रूरान् विजहि विनाशय। पृतन्यतः पृतनाः सेना आत्मन इच्छतो युयुत्समानानित्यर्थः। नीचा नीचानं पराजयमित्यर्थं। यच्छः प्रापय। यः कोप्यस्मानुपासकानभिदासति अभितः पीडयति तम्। अधरं निकृष्टं तमो गमय मृत्युं प्रापयेत्यर्थः ॥ २।७ ॥

१८६९. इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रतीकावसह्यौ।
तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते याभ्यां जितमसुराणां
सहो महत् ॥ ३।७ ॥ (ऋग्वेदे नास्ति)

इन्द्रस्येति। अप्रतिरथ ऋषिः। इन्द्रो देवता। विराट् जगती छन्दः। इन्द्रस्य परमात्मनस्तौ प्रसिद्धौ बाहू निग्रहानुग्रहरूपौ। योगेवसर आगते प्राप्ते युञ्जीत उपयुञ्जीत। कीदृशौ बाहू? स्थविरौ स्थिरौ। युवानौ शत्रुभिः सह मिश्रणक्षमौ। अनाधृष्यौ कैरप्यनभिभवनीयौ। सुप्रतीकौ सुदर्शनौ। प्रतीकं प्रयुक्तं भवति प्रतिदर्शनमिति वा (नि० ७।३१)। असह्यौ असोढव्यौ। प्रथमौ श्रेष्ठौ। याभ्यां बाहुभ्यामसुराणां सुरविरोधिनां महदसह्यं सहो

बलं जितम्। लोकाः परमेश्वरस्य साहाय्यं सचिनुयुरिति-तात्पर्यम् ॥ ३।७ ॥

१८७०. मर्माणि ते वर्मणा च्छादयामि सोमस्त्वा राजा-
मृतेनानु वस्ताम्। उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं
त्वानु देवा मदन्तु ॥ १।८ ॥ (ऋ० ६।७५।१८)

मर्माणीति। पायुर्भारद्वाज ऋषिः। कवचसोमवरुणा देवताः। त्रिष्टुप् छन्दः। हे परमेश्वर, ते तव मर्माणि मर्मस्थानानि वर्मणा तव वरणेन आच्छादयामि। अनु तदनन्तरं राजा राजमानः सोमः सुरक्षितो भक्तः। त्वा त्वाममृतेन वस्ताम् आच्छादयतु। वरुणस्ते तव उरोर्वरीयो महत्तमं सुखमिति शेषः। कृणोतु करोतु। जयन्तं त्वा त्वां देवा भक्ताः सत्पुरुषाश्च। अनु मदन्त्वनुहृष्यन्तु। अयं भावः। यदि कश्चिज्जीवः पारमेश्वरमनुशासनं तिरस्कृत्यान्यथा वर्तते तदा तस्य महान् परितापो भवति। तदेव मर्म। तन्मर्म परमेश्वरस्य वरणेन स्वीकारेण तदज्ञानुसरणेन आच्छादितं भवति। मर्माच्छाद्यते परन्तु तत्र जात आघातः केन निवारणीयः? भक्त्यानन्यया शोभमानो भक्तस्तं निवारयति अमृतेन नित्येन भक्तिरूपेण तत्स्वीकारेण। ततः परमात्मना स वृतो भक्तस्त स्य महत्सुखं रचयति। ततः परमेश्वरस्य विजयो भवति भक्ताश्च ततो हृष्यन्ति ॥ १।८ ॥

१८७१. अन्धा अमित्रा भवताशीर्षाणोऽहय इव। तेषां वो
अग्निनुन्नानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २।८ ॥
(ऋग्वेदे नास्ति)

अन्धा इति। हे अमित्राः शत्रवः स्नेहरहिताः, यूयम् अशीर्षाण-श्छिन्नशिरस्का अहय सर्पा इव अन्धा निर्बुद्धयो भवत। छिन्न-

शिरस्काः सर्पा यथा किमपि अनिष्टं कर्तुं न शक्नुवन्ति तथा यूयमपि कामादयो भवत। अग्निनुन्नानां ज्ञानाग्निदग्धानां तेषां वो युष्माकं विघ्नानां वरं वरं प्रियं प्रियं श्रेष्ठं श्रेष्ठं वा इन्द्रः परमात्मा हन्तु। विघ्नानामुत्तमं मध्यममधमं च सर्वमेव स विनाशयत्वित्यर्थः ॥ २।८ ॥

१८७२. यो नः स्वो†ऽरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरं शर्म‡ वर्म
ममान्तरम् ॥ ३।८ ॥ (ऋ० ६।७५।१९)

यो न इति। पायुर्भारद्वाज ऋषिः। देवा ब्रह्म च देवताः। पङ्क्तिश्छन्दः। यः स्व आत्मीयः किन्तु सम्बन्धरहितः। यश्च निष्ट्यो दूरस्थितोसन्वन्धी चण्डालादिर्नोस्मान् जिघांसति हन्तुमिच्छति तं क्रूरं सर्वे देवा धूर्वन्तु हिंसन्तु। धुर्वी हिंसायाम्। दीर्घश्छान्दसः। मम आन्तरमन्तः स्थितं ब्रह्म महान् देवो वर्म रक्षकं भवतु। ममान्तरं यच्छर्म परमेश्वररूपं तद्वर्म त्राणं भवतु। द्विरुक्तिर्ब्रह्माणि दृढविश्वासं द्योतयति ॥ ३।८ ॥

१८७३. मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था
परस्याः। सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्
ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ १।९ ॥ (ऋ० १०।१८०।२)

मृगोनेति। जय ऐन्द्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। हे इन्द्र परमेश्वर त्वं कुचरः कदाचारो गिरिष्ठा न पर्वतस्थो नर इव भीमोदुर्जनेभ्यो भाषयिता भयङ्करः। स त्वं परस्याः परावतो दूरस्थप्रदेशादपि दूरात् आ जगन्थ आगच्छ। अदृश्यो हि दूरतमो

† स्वो अरण इत्यृक्पाठः। ‡ शर्मेत्यादि पाठो नात्यृग्वेदे।

भवति । परमात्मापि लौकिकैरदृश्योतो दूरदूरस्थः । आगत्य च सृकं सरणशीलं तिग्मं तीक्ष्णं पविर्ज्ञानम् । पूयतेनेनेति पविः । संशाय सम्यक शातं कृत्वा । शो तनूकरणे । इह तीक्ष्णी करणे । शत्रून् कामादीन् वि ताडि विशेषेण ताडय । मृधो हिंसाप्रवृत्तीन् । मृधु हिंसायाम् । वि नुदस्व विशेषेण दूरमपगमय ॥ १९ ॥

१८७४. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि† देवहितं यदायुः
॥ २१९ ॥ (ऋ० १।८९।८)

भद्रमिति । गोतम ऋषिः, विश्वेदेवा देवताः, त्रिष्टप् छन्दः । परमेश्वरं याचन्ते भक्ताः । वयं देवा दानादिगुणविशिष्टा यजत्राः सदाचारादिसेवनेन सर्वेषां पूज्याश्च सन्तः कर्णेभिः कर्णैभद्रं कल्याणकरं वचनमेव शृणुयाम । अक्षभिश्चक्षुभिर्भद्रं शुभमेव पश्येम नाशुभम् । स्थिरैर्दृढैः स्वस्थैर्नीरोगैरङ्गैः हस्तपादादिभिस्तनूभिः सर्वैरिव शरीरैर्युक्तास्तुष्टुवांसः परमात्मानं स्तुवन्तो वयं देवहितं देवानां हितं कल्याणकरं येन सदा सज्जनानां हितं स्याद्देवंभूतं यदायुः । अथवा देवेन परमात्मना हितं निहितं दत्तं यदायुः शतशरत्प्रमाणं ततोप्यधिकप्रमाणं वा व्यशेमहि व्यशिषीष्महि । आशीर्लिङ् ॥ २१९ ॥

१८७५. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ३१९ ॥
(ऋ० १।८९।६)

† व्यशेमेत्यन्यपाठः ।

स्वस्तीति । गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । विराट् छन्दः । वृद्धश्रवा वृद्धं श्रवो ज्ञानं यस्य सः इन्द्रः परमेश्वरः । नोस्मासु । सप्तम्यर्थे षष्ठी । स्वस्ति अविनाशं दधातु धारयतु । स्वस्तीत्यविनाशनाम (नि० ३।२१) । पूषा पोषणकर्ता परमात्मा । नोस्मासु स्वस्ति दधातु । विश्ववेदाः सर्वज्ञः परमात्मा नोस्मासु स्वस्ति दधातु । तार्क्ष्यः । परमवेगो व्यापक इत्यर्थः । परमात्मा । तूर्णमश्नुते सर्वमिति तार्क्ष्यः । तूर्णशब्दात् अश्नोतेश्च निष्पन्नोयं शब्दः पृषोदरादिः । अरिष्टनेमिः न रिष्टो दग्धो नष्टो नेमिर्नयनं, मोक्षलोके जीवानां प्रापणं यस्य सः । रुष रिष दाहे । नयतेर्मिप्रत्यये (उ० ४।४३) । नेमिरिति सिद्धम् । इत्थंभूतः परमात्मा नोस्मासु अविनाशं दधातु । बृहस्पतिर्बृहतां पतिः सर्वेश्वरः परमात्मा नोस्मासु स्वस्ति दधातु । द्विरुक्तिः समाप्त्यर्था ॥ ३।९ ॥

इति नवमप्रपाठकस्य तृतीयोर्धः

नवमः प्रपाठकश्च समाप्तः

इत्येकविंशोध्यायः इत्युत्तरार्चिकः समाप्तः

इति श्री सामवेदसंहिता समाप्ता

प्रशस्तयः

नमोस्तु सामवेदाय मत्कृते विवृतात्मने ।
वेदरत्नाय गम्याय संयमक्षितिभूभृताम् ॥ १ ॥

आराधितोसि भगवन्मनसा मनस्वी,
श्रद्धाभरेण रुचिरेण मया चिरेण ।
स्याच्चेदनल्पतनुरल्पतनुश्च वा स्यात्,
काचिद्‌त्रुटिः सदय तां कृपया क्षमस्व ॥ २ ॥

त्वत्स्पर्शतो मम जनिः सफलात्मिकाभूत्,
पूतं मनस्तव वचश्चयचिन्तनेन ।
प्राप्ता गुरोश्चरणरेणुकणप्रसादाद्,
विद्यानवद्यगतिकाभवदद्य देव ॥ ३ ॥

प्रज्ञा जपस्तप उपास्तिरथ स्तुतिस्ते,
सर्वाणि देव फलितानि ममाद्य भाग्यात् ।
तत्रापि तेतिकरुणा करुणानिधेस्ति,
हेतुर्महानिति हि तां प्रणमामि पुण्याम् ॥ ४ ॥

सामश्रुते तव सुचारुसमर्चयाद्य,
सन्तर्पिता मम मया पितरोखिलास्ते ।
ये ब्रह्मवित्पदमवाप्य समाप्य लीला,
लीलातनोरनुभवन्ति परप्रसादम् ॥ ५ ॥

मारकक्षीं मातरं दिव्यां गङ्गादत्तत्रिपाठिनम् ।
पितरं मनसा स्तौमि सामभाष्यप्रसादितौ ॥ ६ ॥

वेदरक्षापरं दृष्ट्वा सूनुं सर्वजितं स्वकम् ।
श्रीमद्भगवदाचार्यं ताभ्यां किं न जितं भवेत् ॥ ७ ॥

गुरुपादाः प्रसीदन्तु महासारस्वता हि ते ।
येषामेवानुकम्पातोतरं विद्यामहानिधिम् ॥ ८ ॥

सामसंस्कारभाष्यं सच्छुद्धबुद्धिप्रदायकम् ।
विरचय्य यथाप्रज्ञं साम्न एव समर्पये ॥ ९ ॥

तुष्यताद्भगवान्सामवेद एनेन कर्मणा ।
श्रीमद्भगवदाचार्यं इत्यभ्यर्थयते नतः ॥ १० ॥

श्रीमद्रामप्रसादस्य वंशे राममनोहरः ।
प्रसादान्तो महाप्राज्ञः प्रापदाचार्यतां सुधीः ॥ ११ ॥

तस्यैवाहं कृपापात्रं शरण्यस्य दयानिधेः ।
श्रीमद्भगवदाचार्यः सर्वविद्याविशारदः ॥ १२ ॥

विप्रतिपन्नतां यातां राममन्त्रपरम्पराम् ।
विशोध्य रामानुजतो रामानन्दान्व्याच्छिदम् ॥ १३ ॥

सामवेदे च वेदान्तदर्शनोपनिषत्स्वपि ।
सुभगं भाष्यमाभाष्य सम्प्रदायमशोभयम् ॥ १४ ॥

रामानन्ददिग्विजयं ख्याताख्यानपुरस्सरम् ।
प्राचकाशं विनिर्माय रामानन्दयशःश्रियम् ॥ १५ ॥

श्रीमन्महात्मनो गांधेः प्रशस्यं चरितं महत् ।
सहस्रैः पञ्चभिः श्लोकैरधिकैश्चाप्यचीकरम् ॥ १६ ॥

अन्यानपि बहून् ग्रन्थान्पश्चसप्ततितोधिकान् ।
विरचय्य देवभाषासेवामबिभरं मुदा ॥ १७ ॥

सप्तसप्ततितमे म आयुषो वत्सरे शुभे ।
भाष्यमेतदतनिषि सामवेदोत्तरार्चिके ॥ १८ ॥

वेदब्रह्मनभोनेत्रमिते २०१४ विक्रमवत्सरे ।
श्रावणे शुक्लसप्तम्यां भाष्यमेतदपूरयम् ॥ १९ ॥

इति श्री सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण परमहंसपरिव्राजकेन काशीपण्डित-
सभासमर्पित—'पण्डितराजे'त्युपाधिकेन स्वामि-
श्रीभगवदाचार्येण कृतं सामवेदसंहिताया-
उत्तरार्चिके सामसंस्कारभाष्यं समाप्तम्



स्वामीजी के सभी पुस्तकों का प्राप्ति स्थान :-

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली : वाराणसी : पटना